हिन्दुस्तान की कहानी

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-११०००१
•
चौथी बार १९८८
मूल्य रु० ४० ००
•
मुद्रक
विजयलक्ष्मी प्रिंटिंग वर्क्स,
के-६ लक्ष्मी नगर दिल्ली-११००९२

" · जब कि मधुर मौन-विचार के अवसरों पर
मैं पुराने विचारों की सुधि जगाता हूँ।"

हिंदी में भी इसका बहुत अच्छा स्वागत हुआ है। पहला संस्करण कुछ ही समय में समाप्त हो गया था और दूसरा और तीसरा संस्करण भी जल्दी ही निकल गये थे। पुस्तक काफी समय से अप्राप्य थी। हमें हर्ष है कि पाठकों को अब इसका नया संस्करण सुलभ हो रहा है। अंग्रेजी से यह अनुवाद श्री रामचन्द्र टंडन ने और कुछ अंश का श्री महेश शर्मा ने किया है। हम इनके आभारी हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पिछले संस्करण में अनुवाद पुनः देख लिया गया था और कई नक्शे तथा चित्र इसमें जोड़ दिये गये थे।

इस पुस्तक का संक्षिप्त संस्करण भी 'मंडल' से प्रकाशित हुआ है और उसकी कई आवृत्तियां हो चुकी हैं।

हमें आशा है, पिछले संस्करणों की भांति यह संस्करण भी पाठकों को पसंद आयेगा और वे इसे चाव से पढ़ेंगे।

—मंत्री

प्रस्तावना

यह किताब मैंने अहमदनगर किले के जेलखाने में, अप्रैल से सितंबर १९४४ के पांच महीनों में लिखी थी। मेरे कुछ जेल के साथियों ने इसका मसविदा पढ़ने की और उसके बारे में कई क़ीमती सुझाव देने की कृपा की थी। जेलखाने में, किताब को दुहराते हुए, मैंने इन सुझावों से फ़ायदा उठाया और कुछ बातें और जोड़ दीं। यह बताने की ज़रूरत नहीं कि जो कुछ मैंने लिखा है, उसके लिए कोई दूसरा ज़िम्मेदार नहीं, न यही लाज़िमी है कि दूसरा उससे सहमत हो। लेकिन अहमदनगर किले के अपने साथी क़ैदियों का मैं उन चर्चाओं और आपस के बहस-मुबाहसों के लिए बड़ा एहसानमंद हूं, जो हम लोगों के बीच हुए और जिनसे हिंदुस्तान के इतिहास और संस्कृति के बारे में अपने ख़याल को सुलझाने में मुझे बड़ी मदद मिली। थोड़ी मुद्दत तक भी रहने के लिए जेलखाना कोई ख़ुशगवार जगह नहीं है, न तब कि जब लंबे सालों तक वहां रहना पड़े। लेकिन यह मेरी ख़ुशक़िस्मती थी कि आला क़ाबलियत और तहज़ीब के और अस्थायी भावनाओं से ऊपर इन्सानी मामलों पर व्यापक दृष्टि रखनेवाले लोगों के बहुत नज़दीक रहने का मुझे मौक़ा मिला।

अहमदनगर किले के मेरे ग्यारह साथी हिंदुस्तान के विभिन्न भागों का एक दिलचस्प नमूना पेश करते थे, वे न महज़ राजनीति की नुमाइंदगी करते थे, बल्कि हिंदुस्तानी इल्म की—पुराने और नये इल्म की—और आज-कल के हिंदुस्तान के मुख़्तलिफ़ पहलुओं की भी नुमाइंदगी करते थे। क़रीब-क़रीब सभी ख़ास-ख़ास जीती-जागती हिंदुस्तानी बोलियों के बोलनेवाले वहां मौजूद थे और उन पुरानी भाषाओं के जाननेवाले भी थे, जिन्होंने हिंदुस्तान पर पुराने या नये ज़माने में असर डाला है और जिनमें क़ाबलियत का दरजा ख़ासा ऊंचा था। पुरानी भाषाओं में संस्कृत और पाली, अरबी और फ़ारसी थीं, मौजूदा ज़बानों में हिंदी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी, तेलगू, सिंधी और उड़िया थीं। मेरे सामने इतनी दौलत थी, जिससे मैं फ़ायदा उठा सकता था और अगर कोई रुकावट थी तो वह मेरी ही इन सबसे फ़ायदा उठाने की क़ाबलियत की कमी थी। अगरचे मैं अपने सभी साथियों का एहसानमंद हूं, फिर भी मैं ख़ासतौर पर नाम लेना चाहूंगा मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का, जिनकी आला क़ाबलियत को देखकर हमेशा जी ख़ुश होता

था और कभी-कभी तो हैरत होती थी। इसके अलावा मैं गोविन्द वल्लभ पंत, नरेंद्रदेव और आसफअली का खासतौर पर एहसानमंद हूं।

इस किताब के कुछ हिस्से पुराने पड़ गये हैं, और जबसे यह लिखी गई है, बहुत-सी बातें गुजर चुकी हैं। इसमें कुछ जोड़ने की और इसे दुहराने की अक्सर ख्वाहिश हुई है, लेकिन मैंने इस ख्वाहिश को रोका है। सच तो यह है कि इसके अलावा कोई दूसरी सूरत न थी, क्योंकि क़ैदखाने से बाहर की जिंदगी का ताना-बाना ही कुछ दूसरा होता है और सोच-विचार करने और लिखने की फुरसत ही नहीं होती। शुरू मे मैंने इसे पूरा-पूरा अपने हाथ से लिखा, मेरे कैद से छूटने के बाद यह टाइप किया गया। टाइप किया हुआ मसविदा देखने का मुझे वक्त नहीं मिल रहा था और किताब की छपाई मे देर हो रही थी। ऐसी हालत मे मेरी बेटी इंदिरा ने हाथ बटाया और मेरे कंधे से यह बोझ अपने ऊपर ले लिया। किताब उसी शक्ल मे है, जिस शक्ल मे यह जेल मे तैयार हुई थी, कुछ जोड़ा या घटाया नहीं गया है, सिवा इसके कि आखिर मे एक 'ताजा कलम' जोड़ दिया गया है।

मैं नहीं जानता कि दूसरे लेखक अपनी रचनाओ के बारे मे कैसा खयाल करते हैं, लेकिन जब मैं अपनी किसी पुरानी चीज को पढ़ता हूं, तो हमेशा एक अजीब-सा एहसास मुझे होता है। इस एहसास मे और भी अनोखापन उस वक्त आ जाता है, जब रचना जेल के बंधे हुए और ग़ैर-मामूली वातावरण मे हुई हो और पढ़ने का मौक़ा बाहर आने पर मिला हो। मैं उस रचना को पहचान जरूर लेता हूं, लेकिन पूरी-पूरी तरह नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि किसी दूसरे की लिखी हुई, लेकिन परिचित रचना पढ़ रहा हूं—ऐसे शख्स की, जो मुझसे करीब जरूर है, लेकिन है दूसरा ही। शायद यह फर्क उतना होता है, जितना खुद मुझमे इस बीच आ गया होता है।

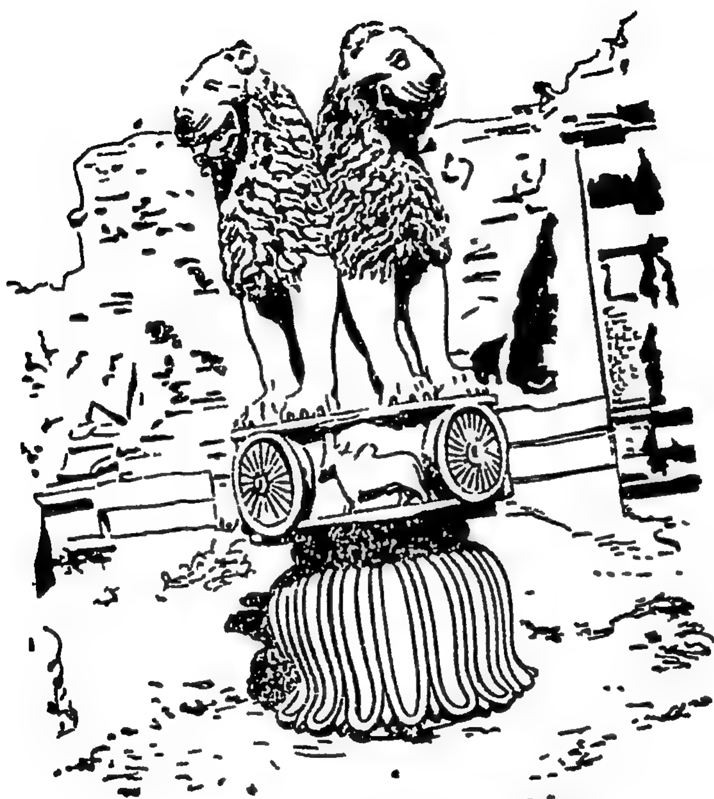
इसी तरह का खयाल इस किताब के बारे मे भी मुझमें पैदा हुआ है। यह मेरी है, लेकिन आज जो मेरी हालत है, उसे देखते हुए बिल्कुल मेरी नहीं है, बल्कि यह मेरे किसी पुराने व्यक्तित्व की नुमाइंदगी करती है, जो उन व्यक्तित्वों के लंबे सिलसिले मे शामिल हो चुका है, जो कुछ वक्त तक क़ायम रहकर मिट गये हैं और अपनी महज एक याद छोड़ गये हैं।

जवाहरलाल नेहरू

आनंद भवन इलाहाबाद
दिसंबर २९, १९४५

विषय-सूची

हिन्दुस्तान की कहानी



साँची के अशोक-स्तंभ का शीर्ष

: १ :

अहमदनगर का किला

१ : बीस महीने

अहमदनगर का किला : तेरह अप्रैल, उन्नीससौ चवालीस

बीस महीने से ज्यादा हो गए कि हम लोग यहा लाये गए। ये बीस महीने से ज्यादा मेरी नवीं कैद की मुद्दत के हैं। हमारे यहा पहुचने पर अधियाले आसमान में झिलमिलाते हुए दूज के नये चाद ने हमारा स्वागत किया। बढती हुई चद्रकला के साथ उजाला पाखवारा शुरू हो गया था। तबसे बराबर नये चाद का दर्शन मुझे इस बात की याद दिलाता रहा है कि मेरी कैद का एक महीना और बीता। यही बात मेरी पिछली जेल-यात्रा में हुई थी, जो दिवाली के दीपोत्सव के ठीक बादवाले दूज के चाद के साथ शुरू हुई थी। चाद, जो जेल में हमेशा से मेरा साथी रहा है, नजदीकी परिचय के कारण मुझसे और भी हिल-मिल गया है। यह मुझे याद दिलाता है दुनिया के सौंदर्य की, जिंदगी के ज्वार-भाटे की और इस बात की कि अधेरे के बाद उजाला आता है, मृत्यु और पुनर्जीवन, एक-दूसरे के बाद, अनत क्रम से चलते रहते हैं। सदा बदलते रहते और फिर भी सदा एक-से इस चाद को मैंने अनेक अवस्थाओं में, अनेक कलाओं के साथ देखा है—सध्या के समय, रात के मौन घटो में, जबकि छाया सघन हो जाती है और उस वक्त, जबकि उषा की मद समीर और चहक आनेवाले दिन की सूचना लाते हैं। दिन और महीनों के गिनने में चाद कितना मददगार होता है, क्योंकि चाद का रूप और आकार (वह दिखाई पडता हो, तो) महीने की तिथि बहुत-कुछ ठीक-ठीक बता देते हैं। वह एक आसान जत्री है—अगरचे इसे समय-समय पर सुधारते रहने की जरूरत है—और खेत में काम करनेवाले किसान के लिए तो दिनों के जाने और क्रमशः ऋतुओं के बदलने की सूचना देनेवाली सबसे ज्यादा सुभीते की जत्री है।

बाहरी दुनिया के सभी समाचारों से अलग, हमने यहा तीन हफ्ते बिताये। उससे हमारा किसी तरह का सपर्क नही था। मुलाकातें बद थी, खत और अखबार नही मिलते थे, न रेडियो का प्रबध था। यहा पर हमारी मौजूदगी भी एक राजकीय भेद की बात समझी जाती थी, जिसकी जानकारी

उन अफसरो के सिवा, जिनके हवाले हम लोग थे, और किसीको न थी। यह एक निकम्मा-सा राज था, क्योंकि सारा हिंदुस्तान जानता था कि हम कहा हैं। इसके बाद अखबार मिलने लगे, और कुछ हफ्तो के बाद नजदीकी रिश्तेदारो के खत भी, जो घरेलू बातो के बारे में होते थे। लेकिन इन बीस महीनो मे कोई मुलाकातें न हुई और न कोई दूसरे सपर्क ही हो पाए।

अखबारो की खबरें बुरी तरह कटी-छटी होती। फिर भी उनसे हमे युद्ध की रफ्तार का, जो दुनिया के आधे से ज्यादा हिस्से को भस्म कर रहा था, कुछ अदाजा लग जाता था, और इस बात का कि हिंदुस्तान में अपने लोगो पर कैसी बीत रही है। हा, अपने लोगो के बारे मे हम इससे ज्यादा न जान पाते थे कि बीसियो हजार आदमी, बिना जाच या मुकदमे के, क़ैद मे या नजरबद हैं, हजारो गोली से मार डाले गए, दसियो हजार स्कूलो और कालिजो से निकाल दिये गए, जगी कानून-जैसी हालत सारे देश में फैल रही है, आतक और डर सब जगह छाया हुआ है। जो बीसियो हजार लोग बिना किसी तरह की जाच के कैद कर लिये गए थे, उनकी हालत, हमारी हालत के मुकाबले मे कही बुरी थी, क्योंकि न सिर्फ उनकी मुलाक़ातें बद थी, बल्कि उन्हें खत या अखबार भी नही मिलते थे और पढने के लिए किताबें भी बहुत कम मिल पाती थी। बहुतेरे पुष्टिकर खाना न मिलने की वजह से बीमार पडे, कुछ हमारे प्रियजन सही तीमारदारी और इलाज न हो सकने के कारण मर गए।

हिंदुस्तान में, इस वक्त, युद्ध के कई हजार कैदी—ज्यादातर इटली के—बस रहे थे। हम उनकी हालत का अपने देशवासियो की हालत से मुक़ाबला करते थे। हमें बताया जाता था कि जिनेवा के शर्तनामे के अनुसार उनके साथ बर्ताव हो रहा है। लेकिन हिंदुस्तानी कैदियो और नजरबदो के लिए कोई शर्तें या कानून-कायदा नही था, सिवा उन आर्डिनेंसो के, जो मनमाने ढग से हमारे अग्रेज़ हाकिम समय-समय पर जारी करते रहते थे।

२ : अकाल

अकाल पडा—भीषण, दहलानेवाला, ऐसा घोर कि बयान से बाहर! मलाबार मे, बीजापुर मे, उडीसा मे, और सबसे बढ़कर बगाल के हरे-भरे और उपजाऊ सूबे मे, आदमी, औरतें, नन्हें बच्चे, हजारो की तादाद मे, रोज खाना न मिलने के कारण मरने लगे। कलकत्ते के महलों के सामने लोग मरकर गिर पडते। उनकी लाशें बगाल के अनगिनत गावों की मिट्टी की झोपडियो मे और देहातो में सडको पर और खेतो में पडी थीं। आदमी

दुनिया में सभी जगह मर रहे थे और जंग में एक-दूसरे को मार रहे थे। आमतौर से ये मौतें आनन-फानन की मौतें होतीं, अक्सर बहादुरी की मौतें होतीं। किसी मक़सद, किसी दावे को लेकर ये मौतें होतीं और ऐसा जान पड़ता था कि इस पागल दुनिया में ये मौतें होनेवाली घटनाओं का निष्ठुर परिणाम हैं, इनसे अंत है उस जीवन का, जिन पर हमारा वस नहीं, जिसे हम टाल नहीं सकते। मौत सब जगह साधारण-सी बात हो रही थी।

लेकिन यहां, मौत के पीछे न कोई मक़सद था, न कोई हेतु, न उसकी कोई जरूरत ही थी। यह आदमी के निकम्मेपन और कठोरता का नतीजा था। यह इन्सान की पैदा की हुई थी। यह एक धीमी, भयानक, जू की चाल से रेंगकर आनेवाली चीज थी, और इसमें परितोष का कोई पहलू न था। बस जिंदगी का मौत में मिलना और उसमें समा जाना था। ऐसा था कि मौत धसी हुई आंखों से और क्षीण कंकालों में जीवन रहते-रहते झांक रही थी। और इसलिए यह ठीक और उचित न समझा जाता था कि इसकी चर्चा की जाय। अप्रिय प्रसंगों के बारे में बातें करना या लिखना भला नहीं समझा जाता था। ऐसा करना एक अभागी परिस्थिति को 'नाटकीय ढंग से दिखाना' हो जाता। हिंदुस्तान और इंग्लिस्तान के हाकिमों की तरफ से झूठी खबरें निकलतीं। लेकिन लाशों की ओर से आंखें नहीं मूंदी जा सकती थीं, वे असली हालत उजागर कर रही थीं।

जब नरक की ज्वाला बंगाल के और दूसरी जगहों के लोगों को भस्म कर रही थी, उस वक्त बड़े अधिकारियों ने हमें यह बताया कि जंग की वजह से हिंदुस्तान का किसान खुशहाल है और उसके यहां खाने की कमी नहीं है। बाद में यह कहा गया कि जो हालत पैदा हुई, उसमें प्रांतीय स्वराज का कुसूर है, और हिंदुस्तान की सरकार, या लंदन का इंडिया आफिस संविधान के अनुसार सूबों के मामलों में दखल नहीं दे सकते। दरअसल यह संविधान मौकूफ़ था, टूट चुका था, ठुकराया जा चुका था, या यों कहिये कि वाइसराय के बिना अंकुश के अधिकार से जारी किये गए नित नये आर्डिनेंसों के जरिये बदलता रहता था। यह संविधान, आखिरकार, एक अकेले शख्स की बेलगाम हुकूमत बन गया था—ऐसे शख्स की, जिसे दुनिया के किसी भी तानाशाह से ज्यादा अधिकार हासिल थे। इस संविधान को स्थायी सर्विस के कर्मचारी, खासतौर पर सिविल सर्विस और पुलिस के लोग चला रहे थे और वे लोग उत्तरदायी थे गवर्नर के प्रति, जो वाइसराय का मुख्तार था, और वह मंत्रियों को—जहां कहीं भी वे थे—नजर-अंदाज कर सकता था। मंत्री लोग, भले हों या बुरे, मौन अनुमति के कारण अपने पदों पर

बने हुए थे। ऊपर से आये हुए हुक्मो को टालने की उनमें ताब न थी, और वे सर्विस के लोगो तक की आजादी मे—जो दरअसल उनके मातहत होते थे—दखल देने का साहस न कर सकते थे।

आखिरकार कुछ करना ही पडा। थोडी-बहुत मदद पहुचाई गई। लेकिन इस बीच दस लाख, या बीस लाख, या तीस लाख आदमी मर चुके थे। कोई नही जानता कि उन भयानक महीनो मे भूख के मारे या रोग से कितने लोग मरे। कोई नही जानता कि कितने लाख लडके और लडकिया और नन्हे बच्चे मौत से तो बच गए, लेकिन जिनकी बाढ मारी गई और तन से और आत्मा मे जो टूट गए। और अब भी व्यापक अकाल और रोग का भय देश पर मडरा रहा है।

प्रेसिडेंट रूजवेल्ट की चार आजादिया। अभाव से आजादी। फिर भी खुशहाल इग्लिस्तान और उससे भी ज्यादा खुशहाल अमरीका ने शरीर की उस भूख की तरफ ध्यान न दिया, जो हिंदुस्तान में करोडो आदमियो को मारे डाल रही थी—उसी तरह, जिस तरह कि उन्होंने आत्मा की उस प्यास का तिरस्कार किया, जो हिंदुस्तान के निवासियो को सता रही थी। बताया गया कि धन की जरूरत नही है और खाना पहुचानेवाले जहाज लडाई की जरूरतों के कारण मिल नहीं रहे हैं। लेकिन बावजूद सरकारी रोक के, और बगाल की भयानक घटनाओ को कम करके दिखाने की इच्छा के, इग्लिस्तान और अमरीका और दूसरी जगहो के दिल रखनेवाले और हमदर्द लोगों ने—मर्दों और औरतो ने—हमारी मदद की। सबसे ज्यादा मदद की चीन और आयरलैंड की सरकारो ने, जिनके साधन थोडे थे, जिनके सामने अपनी बडी कठिनाइया थी, लेकिन जो खुद अकाल और दुख का तीखा अनुभव रखते थे और जिन्होंने पहचाना कि हिंदुस्तान के तन और आत्मा को क्या बात पीडित कर रही है। हिंदुस्तान की याददाश्त लबी है, लेकिन और चाहे वह जो कुछ भूले या याद रखे, दोस्ती और हमदर्दी के इन सलूको को वह कभी न भूलेगा।

३ : लोकतंत्र के लिए लड़ाई

एशिया, यूरोप और अफ़रीका मे, पैसिफ़िक, अटलांटिक और हिंद महासागरों के बडे हिस्सो पर, जग अपनी पूरी भीषणता से जारी है। चीन में करीब सात साल से लडाई हो रही है, और साढे चार साल से ज्यादा हो गए यूरोप और अफ़रीका में, और इस ससार-व्यापी युद्ध के भी दो वर्ष चार महीने बीत चुके। फासिस्त और नात्सी-मत के खिलाफ़ और दुनिया पर अधिकार हासिल करने की कोशिश के खिलाफ़ लडाई लड़ी जा रही है।

पेश किया करते थे और साथ ही उसी सरकार को हर तरह की गालियाँ सुनाया करते थे। अब यह बात नहीं रही, क्योंकि मौसम बदल गया है। सरकार के और राज के ये ठेकेदार हैं और फ़ासिस्ट तथा नात्सी-विरोधी उनकी बातों पर उन्हें फ़ख़्र है, और लोकतन्त्रवाद तक की चर्चा करते हैं। लेकिन इसी नाम से, मानो यह कोई अच्छी चीज़ हो, पर दूर-दराज़ की है। मुझे कभी-कभी यह ख़्याल होता है कि लड़ाई ने कोई दूसरा ही रुख लिया होता, तो उस हालत में ये लोग क्या करते! लेकिन सच यह है कि सवाल की गुंजाइश नहीं, क्योंकि जो भी कभी हुकूमत हो, उन्हीं के साथ फिरना और उन्हीं के आगे ये हाथ-बाँधे बराबर हाज़िर होंगे।

जंग से बरसों पहले से मेरे दिमाग़ में, आनेवाली जंग की बातें घूम रही थीं। मैं उनके बारे में विचार करता। तक़रीरें करता और लिखता था, और मैंने अपने को, अपनी ओर से, इसके लिए तैयार कर लिया था। मैं चाहता था कि आज़ादी के साथ हिन्दुस्तान इस बड़े संघर्ष में अपना हिस्सा ले। मैं अनुभव करता था कि इसमें अच्छे उसूलों की बाज़ी लगेगी और इस कश-मकश का नतीजा यह होगा कि हिन्दुस्तान में और दुनिया में बड़ी और इन्क़लाबी तब्दीलियाँ होंगी। उस वक़्त मैं नहीं समझता था कि हिन्दुस्तान को फ़ौरन कोई ख़तरा है या उस पर हमले का इमकान है। फिर भी मैं चाहता था कि हिन्दुस्तान इसमें पूरा-पूरा हिस्सा ले। लेकिन मुझे यक़ीन था कि सिर्फ़ एक आज़ाद मुल्क ही, बराबरी की हैसियत से, इस तरह हिस्सा ले सकता है।

यही नज़रिया नेशनल कांग्रेस का भी था, जो हिन्दुस्तान का अकेला ऐसा संगठन रहा है, जिसने फ़ासिज़्म और नात्सी-मत का उसी तरह विरोध किया है, जिस तरह कि साम्राज्यवाद का। इसने गणतान्त्रिक स्पेन, चेकोस्लोवाकिया और चीन का बराबर समर्थन किया था।

और अब क़रीब दो साल से कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गई है। क़ानूनी हिमायत की यह हक़दार नहीं रही, और किसी सूरत में भी यह अपना काम नहीं कर पा रही है। कांग्रेस जेलख़ाने में है। सूबों की विधान-सभाओं के सदस्य, इन सभाओं के अध्यक्ष, इनके पुराने वज़ीर, कांग्रेसी मेयर, इसकी म्युनिसिपैलिटियों के सभापति—सब जेल में हैं।

इस बीच, जंग जारी है—लोकतन्त्र और अटलांटिक चार्टर और चार आज़ादियों के नाम पर।

४ : जेल के दिन : काम के लिए उमंग

जान पड़ता है कि जेलख़ाने में वक़्त अपना स्वभाव बदल देता है। मौजूदा वक़्त का वजूद मुश्किल से कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसी भावना

या एहसास करता नहीं, या उसे गुजरे वक्त में पूरा कर गई। जेल के बाहर की सरगर्म, जीती और चलती हुई दुनिया भी मुझे ऐसी जान पड़ती है, मानो कुछ सपने-जैसी असार हो, उसमें अजीब भीनी-सी जड़ता और गैर-तस्वीरी-सी होती है। बाहरी, स्वाभाविक वक्त रुक नहीं जाता, सोचने की चेतना बनी रहती है, लेकिन वह भी कम रह जाती है, सिवाय इसके कि जब उसे गुजरा मौजूदा वक्त में दूसरा बीते हुए या आनेवाले वक्त में किसी [illegible] का अनुभव करने लगता है। जैसाकि आगस्ट काम्टे ने कहा है, "हम अपने गुजरे हुए जमाने में लिपटे हुए मरे हुए आदमी की-सी जिंदगी बिताते हैं। लेकिन यह बात खासतौर पर जेल में लागू होती है, जहां हम बीते वक्त की याद, या आनेवाले वक्त की कल्पना से अपने बेदम और कैद जज्बों के लिए कुछ खुराक हासिल करते हैं।"

गुजरे हुए वक्त में एक शांति और सदा कायम रहनेवाली वस्तु की भावना है। यह बदलता नहीं, पायदार है, जैसेकि रंगी हुई तस्वीर या संगमरमर या कांसे की मूर्ति हो। मौजूदा वक्त के तूफानों और उथल-पुथल से असर न लेते हुए वह अपनी शान और इतमीनान को बनाये रहता है, और दुखी आत्मा और सताये हुए मन को अपनी समाधि-गुफा की तरफ पनाह लेने के लिए खींचता रहता है। यहां शांति और इतमीनान है, और यहां आदमी को एक रूहानी पैकियत का भी आभास मिल जायगा।

लेकिन जबतक हम उसमें और मौजूदा वक्त में, जहां इतनी कश-मकश है और हल करने के लिए इतने मसले हैं, एक जीती-जागती कड़ी न कायम कर सकें, तबतक इस जिंदगी को हम जिंदगी नहीं कह सकते। यह 'कला कला के लिए' जैसी एक चीज बन जाती है, जिसमें कोई उत्साह नहीं, काम करने की उमंग नहीं, जो जिंदगी का सार है। इस उत्साह और उमंग के बगैर, उम्मीद और ताकत रफ्ता-रफ्ता जाती रहती है, हम जिंदगी की एक नीची सतह पर आकर ठहर जाते हैं, यहांतक कि चुपके-चुपके मिट जाते हैं। हम गुजरे हुए जमाने के हाथों कैदी बन जाते हैं और उसकी बे-हिसी का कुछ हिस्सा हममें चिमटकर रह जाता है। तबीयत की यह हालत जेलखाने में आसानी से पैदा हो जाती है, क्योंकि वहां हमें काम करने की आजादी नहीं रहती और हम जेल के कायदों और वहां की दिन-चर्या के गुलाम बन जाते हैं।

फिर भी, गुजरा हुआ जमाना तो हमारे साथ ही रहता है—हम जो कुछ हैं, हमारे पास जो कुछ है, वह गुजरे हुए जमाने से ही हासिल हुआ है। हम उसके बनाये हुए हैं और उसीमें गर्क होकर जीते हैं। इस बात को न समझना और यह खयाल करना कि यह कोई ऐसी चीज है, जो हमारे भीतर

पड़ता है—अगरचे हो सकता है कि यह बरताव भी कुछ पिछली घटनाओं का नतीजा हो।

मैं अपने दिमाग पर, आमतौर से, ऐसे दिमागी सवालों और आधिभौतिक मसलों का बोझ नहीं डालता, जिनका कि हल न हो। कभी-कभी ये आप ही अनजाने में पैठ कर लेते हैं और मौन क्षणों में मुझे सताने लग जाते हैं, और कभी-कभी तो उन गम्भीर मसलों में भी, जब मैं काम में लगा होता हूं। इनके आने के साथ ही मैं एक अजनबी अहसास करने लगता हूं, या अगर ये विचार ऐसे लम्हों में आयें, जब मैं दुखी हूं, तो इनसे मुझे शान्ति मिलती है। लेकिन आमतौर से काम या काम के विचार ही मेरे दिमाग में जगह पाते हैं, और जब कभी मुझे काम करने की आजादी नहीं रहती, तब मैं खयाल करने लगता हूं कि काम की तैयारी कर रहा हूं।

बहुत दिनों से मैंने काम के लिए बुलाहट का अनुभव किया है, ऐसे काम के लिए नहीं, जो विचार से अलग-अलग हो, बल्कि ऐसे काम के लिए, जो एक सिलसिले के साथ, विचार से पैदा होता हो। और जब दोनों में, यानी काम और विचार में, सामंजस्य पैदा हो गया है—विचार ने काम करने की प्रेरणा दी है और काम से जाकर वह पूरा उतरा है, या काम ने विचार पैदा किया है और बातों को ज्यादा अच्छी तरह समझने का मौका दिया है—तब मैंने जिंदगी को भरी-पूरी पाया है और जिंदगी के उस क्षण में मैंने एक झलकती हुई गहराई पाई है। लेकिन ऐसे क्षण विरले, बहुत विरले रहे हैं। होता यह है कि आमतौर से काम और विचार, इनमें से एक, दूसरे से आगे बढ़ जाता है, इस तरह दोनों में सामंजस्य नहीं हो पाता, और दोनों को मिलाने में, फिजूल कोशिशें सर्फ होती हैं। सालों पहले की बात है—एक जमाना था कि मैं काफी अरसों तक किसी-न-किसी भाव के आवेश में रहा करता था, जिस काम में लगा होता, उसी में ग़र्क रहता। ऐसा जान पड़ता है कि मेरी जवानी के वे दिन बहुत पीछे छूट गए। सिर्फ़ इसलिए नहीं कि एक जमाना गुजर गया, बहुत-कुछ इसलिए कि उनके और आज के दरमियान तजुरबे और पुरदर्द खयालों का एक समुंदर आ गया है। पुराना जोश अब बहुत धीमा पड़ गया है, वे आवेग जो मुझे बे-काबू कर देते थे, अब नरम पड़ गए हैं। अपने जज्बों और भावों पर मुझे अब ज्यादा क़ाबू हो गया है। हां, विचारों का बोझ अब अकसर काम में रुकावट डालता है और दिमाग़ में जहां यकीन रहा करता था, अब दबे-पांव संदेह आकर खड़ा हो जाता है। शायद यह उम्र का तकाजा है, या हो सकता है कि वक्त का आम मिजाज ही ऐसा हो।

और फिर भी, अबतक काम में लगने की बुलाहट मेरे अंदर अजीब

पर असर भी डाला है, इसलिए इतिहास की सब छोटी-मोटी सिलसिले की बातों से मसाला भरने में मुझे दिलचस्पी नहीं हुई है और मैं अपने को उनसे कुछ अलगाव तक महसूस करता हूँ।

इतिहास से मेरा परिचय देर से हो पाया, और वह भी उस सीधे रास्ते से नहीं, जिससे बहुत-सी घटनाओं और तारीखों की जानकारी हासिल कर उनसे ऐसे नतीजे निकाले जाते हैं, जिनका अपनी जिंदगी से ताल्लुक न हो। जबतक मैं यह करता रहा हूं, तबतक इतिहास का मेरे लिए कोई महत्व नहीं रहा। दैवी घटनाओं और आध्यात्मिक सिद्धांतों के समझने में मेरी दिलचस्पी और भी कम रही है। विज्ञान और मौजूदा जमाने के मसलों और अपनी आजकल की जिंदगी में मेरी कहीं अधिक दिलचस्पी रही है।

विचारों, भावनाओं और प्रेरणाओं के किसी मेल-जोल के कारण, जिसका मुझे एक धुंधला एहसास-भर रहा है, मुझमें काम करने के लिए उमंग पैदा हुई है; और काम करने ने मुझे विचार की तरफ पलटाया है और मुझमें मौजूदा जमाने की जड़ें, बीते हुए जमाने में थीं, इसलिए मैंने बीते जमाने की खोजें शुरू कीं और उसमें जहां कहीं भी मुमकिन हुआ, मौजूदा जमाने को समझने का पता ढूंढता रहा हूं। और पुरानी घटनाओं पर और 'कदीम लोगों के बारे में गौर करते हुए चाहे मैं अपने को कितना भी भूल गया हूं, फिर भी मैं मौजूदा जमाने की गिरफ्त से बाहर नहीं गया हूं। और मैंने कभी यह अनुभव किया है कि मैं एक गुजरे जमाने का आदमी हूं, तो मैंने यह भी अनुभव किया है कि मेरा सारा गुजरा हुआ जमाना सिमटकर मौजूदा वक्त में आ गया है। पुराने जमाने का इतिहास इस जमाने में समा गया, और एक जिंदा हकीकत बन गया है, जिसके साथ सुख और दुख के एहसास गुथे हुए हैं।

अगर गुजरे हुए जमाने में मौजूदा जमाना बन जाने की प्रवृत्ति है, तो मौजूदा जमाना भी कभी-कभी बीते हुए जमाने में समा जाता है, उसीकी तरह बे-हिल और स्थिर जान पड़ता है। काम की सरगरमी के बीच कभी-कभी ऐसी भावना पैदा हो जाती है कि जिस काम में लगे हैं, वह बीते हुए जमाने की कोई घटना है और हम उसे इस तरह देख रहे हैं, जैसे कोई किसी बीते हुए जमाने की चीज को देखता है। गुजरे हुए जमाने को और उसके मौजूदा जमाने के साथ के संबंध को खोजने की इसी कोशिश ने, आज से १२ बरस पहले, अपनी लड़की के नाम लिखे गए खतों की शक्ल में, मुझे 'विश्व-इतिहास की झलक,'[1] लिखने पर आमादा किया था। मैंने कुछ सतही

---

[1]यह पुस्तक हिंदी में सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित हुई है।

—संपादक

यह एक अजीब ढग है। यह ऐसा जन्म-सिद्ध अधिकार है, जिससे किसीने इन्कार नही किया, न कोई कर सकता है, लेकिन जिसे हम भूले रहने, और जबतक हो सके, दूर रखने की कोशिश करते है। फिर भी इस बयान मे एक नयापन और कशिश है। जो लोग जिंदगी की इतने कडुएपन से शिकायत करते रहते हैं, वे अगर चाहें, तो उनके पास बच निकलने का उपाय है। अगर हम जिंदगी पर क़ाबू नही पा सकते, तो कम-से-कम मौत पर अधिकार कर सकते है। यह एक खुश करने वाला विचार है, जो बेबसी के एहसास को कम करता है।

६ . जिंदगी का फिलसफा

छ या सात साल हुए, अमरीका के एक प्रकाशक ने एक सग्रह के लिए, जिसे वह प्रकाशित करने जा रहे थे, मुझसे अपनी जिंदगी के फिलसफ़े पर एक मजमून लिखने के लिए कहा था। यह खयाल मुझे अच्छा लगा, लेकिन मुझे पशोपेश हुआ, और जितना ही मैंने इस बारे में ग़ौर किया, मेरा पशोपेश बढ़ता गया। आखिरकार मैंने वह मजमून नहीं लिखा।

मेरी जिंदगी का फिलसफा क्या है? मुझे मालूम नही। कुछ साल पहले मुझे इतनी दुविधा न होती। उस वक्त मेरे विचारो और मक़सदो दोनो में एक निश्चय था, जो अब रफ्ता-रफ्ता जाता रहा है। हिंदुस्तान, चीन, यूरोप और सारी दुनिया मे होनेवाली चद साल की घटनाए उलझन और परेशानी और कोफ्त पैदा करनेवाली रही हैं, और भविष्य अस्पष्ट और अधियाला हो गया है और उसके बारे मे जो स्पष्टता मेरे दिमाग़ मे पहले थी, अब नहीं रही है।

बुनियादी मामलो के मुताल्लिक शक व शुबहे ने सामने के काम मे मेरे लिए अडचन नही पैदा की—सिवाय इसके कि मेरी सरगरमी की तेज धार कुछ कुद पड गई हो। अपने जवानी के दिनो मे मेरी यह कैफ़ियत थी कि खुद-ब-खुद तीर की तरह अपने चुने हुए निशाने पर पहुचता था और निशाने को छोडकर और सब चीजों को नजर-अदाज़ कर देता था। वैसा मैं अब न कर पाता था। फिर भी काम मे तो लगा ही रहा, क्योंकि काम के लिए जी मे उमग थी और अपने काम और उद्देश्यो मे मैंने असली या खयाली मेल भी पाया था। लेकिन राजनीति का जो रूप मेरे सामने था, उसके खिलाफ मुझमे अरुचि बढती गई और रफ्ता-रफ्ता जिंदगी की जानिब मेरा सारा रुख बदल गया।

जो आदर्श और मक़सद कल थे, वही आज भी हैं, लेकिन उन पर से मानो एक आब जाता रहा है और उनकी तरफ बढ़ते दिखाई देते हुए भी ऐसा

देवता या अनजानी महान शक्ति की कल्पना साकार रूप मे करू और जब बहुत-से लोग बराबर ऐसा करते हुए दिखाई देते हैं, तो मुझे बडी हैरत होती है। एक शख्सी सूरत में ईश्वर का खयाल मुझे बडा अटपटा जान पडता है। अक़ली तौर पर मैं कुछ हद तक एकेश्वरवाद के विचार को समझ सकता हू, और अगरचे मुझे इस बात का दावा नही कि मैं वेदात के अद्वैत मत की सभी बारीकियो और गहराइयो को जानता हू, फिर भी मेरा उसकी तरफ खिचाव रहा है। मैं मानता हू कि बौद्धिक जानकारी इस तरह की बातो में हमे दूरतक नही ले जाती। साथ ही वेदात और इसके-जैसे और रास्ते अनत की अनिश्चित और गोल बातो से मुझे डरा देते हैं। प्रकृति की विविधता और भरा-पूरापन मुझमे उत्साह पैदा करते हैं और उनसे मुझे आत्मिक शाति भी मिलती है, और मैं खयाल करता हू कि पुराने हिंदुस्तान के लोगो या यूनानियो में मैं घुल-मिल सकता था—सिवाय इसके कि देवताओ की कल्पना, जो उनके साथ जुडी हुई है, वह मेरे माफिक न होती।

यह बात मुझे बहुत ही पसद आती है कि ज़िदगी की ओर हमारे रुख का किसी-न-किसी तरह का नैतिक या इखलाकी आधार होना चाहिए। हा, दलील से इसका समर्थन करना मेरे लिए मुश्किल होगा। गाधीजी सही साधनो पर जो ज़ोर देते है, उनकी तरफ मेरा खिचाव रहा है और मेरा खयाल है कि हमारे सार्वजनिक जीवन के लिए गाधीजी की यह सबसे बडी देन है। यह खयाल नया तो नही है, लेकिन एक नैतिक सिद्धात का सार्वजनिक कामो के लिए इतने बडे पैमाने पर बरता जाना यकीनी तौर पर एक अनूठी बात है। इस रास्ते मे बडी दिक्कतें हैं, और शायद उद्देश्य और साधन एक-दूसरे से जुदा नही किये जा सकते, बल्कि दोनो मिलकर एक समूची वस्तु बनते हैं। एक ऐसी दुनिया मे, जहा अकसर सिर्फ उद्देश्यो का खयाल किया जाता है और साधनो को नजर-अदाज़ किया जाता है, साधनो पर इतना ज़ोर देना अनोखी और साथ ही ध्यान देनेवाली बात है। हिंदुस्तान मे इसका प्रयोग कहातक कामयाब रहा है, मैं नही कह सकता। लेकिन इसमे शक नही कि इसने बहुत बडी शुमार मे लोगो पर गहरा और कायम रहनेवाला असर डाला है।

मार्क्स और लेनिन की रचनाओ के अध्ययन का मुझ पर गहरा असर पडा और इसने इतिहास और मौजूदा ज़माने के मामलो को एक नई रोशनी मे देखने मे बडी मदद पहुचाई। इतिहास और समाज के विकास के लम्बे सिलसिले मे एक मतलब और आपस का रिश्ता जान पडा और भविष्य का धुधलापन कुछ कम हो गया। सोवियत यूनियन के अमली कारनामे कुछ कम

दिमाग में कुछ ऐसा गड्ड-मड्ड हो गया कि मैं उन्हें बुद्धि द्वारा स्पष्ट या हल नहीं कर पाता था। एक आम प्रवृत्ति बढ़ती थी कि इन अनिश्चित सवालों पर, जो अपनी पहुंच के बाहर के जान पड़ते हैं, सोचा-विचारा न जाय, बल्कि ज़िंदगी के उन प्रश्नों पर ध्यान दिया जाय, जो हमारे सामने आते हैं और उनके बारे में क्या और किस तरह करना चाहिए, यह सोचा जाय। आख़िर कामयाबी जो भी हो, और उसे पूरी तौर पर या कुछ अंशों में हम हासिल कर सकें या नहीं, यह बात तय है कि मनुष्य के ज्ञान को, चाहे वह आत्मगत ही क्यों न हो, बढ़ाने की और इन्सानी रहन-सहन और सामाजिक संगठन के सुधारने और उसे आगे बढ़ाने की बड़ी ज़रूरत फिर भी रह जाती है।

गुज़रे ज़माने के लोगों में, और किसी हद तक इस ज़माने के लोगों में भी, विश्व की पहेली का उत्तर ढूंढ़ निकालने में लगे रहने की प्रवृत्ति रही है। यह उन्हें आजकल के जाती और सामाजिक मसलों से अलग ले जाती है। और जब वे इन पहेलियों का हल नहीं पाते, तब वे मायूस हो जाते हैं और या तो हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ रहते हैं, या बहुत छोटी-छोटी बातों में अपना वक्त ज़ाया करते हैं, या फिर किसी हठवादी मत में शरीक होकर अपनी तसकीन करते हैं। सामाजिक बुराइयों को, जो ज़्यादातर निश्चय ही दूर की जा सकती हैं, पुराने पाप का नतीजा बताया जाता है, या इस तरह कहा जाता है कि इन्सान की प्रकृति या समाज का संगठन ही ऐसे हैं कि उन्हें बदला नहीं जा सकता, या (हिंदुस्तान में) इन्हें पूर्व जन्म के कर्मों पर मढ़ दिया जाता है। इस तरह आदमी अक्ल और वैज्ञानिक ढंग से विचार करने से दूर रहा, वह अविवेक, अंधविश्वास, बेजा हठ और सामाजिक व्यवहार की शरण लेता है। यह सही है कि अक्ल और वैज्ञानिक विचार भी हमेशा वहांतक नहीं पहुंचाते, जहांतक हम जाना चाहेंगे। घटनाओं के मूल में न जाने कितने कारण और सबब हुआ करते हैं और उन सबको समझ पाना मुमकिन नहीं, फिर भी उनके पीछे जो खास खास ताकतें काम करती हैं, उन्हें हम चुन सकते हैं और बाहरी भौतिक तथ्य पर गौर करके और प्रयोग और व्यवहार के ज़रिये तजुर्बे करते हुए और गलती करते हुए, टटोल-टटोलकर ज्ञान और सचाई का रास्ता पा सकते हैं।

इस काम के लिए और इन हदों के भीतर साधारण मार्क्सवादी रास्ता, चूंकि वह आज के विज्ञान की जानकारी के अनुकूल पड़ता था, मुझे बहुत सहायक जान पड़ा। लेकिन इस रास्ते को कुबूल करते हुए भी उससे जो नतीजे निकलते हैं, वे, और गुज़रे ज़माने की और हाल की घटनाओं की

उसकी व्याख्या, हमेशा साफ न हो पाती। मार्क्स का समाज का साधारण विश्लेषण अद्‌भुत रूप से सही जान पड़ता है, लेकिन वाद के विकास में जो सूरतें उसने अख्तियार की, वे वैसी नहीं हैं, जैसाकि निकट भविष्य के लिए उसने अनुमान किया था। लेनिन ने मार्क्स की प्रतिपत्ति को इन वाद के विकासों पर कामयाबी से लागू किया, लेकिन तबसे और भी परिवर्तन हुए हैं—जैसे फासिस्त और नात्सी-मतों का और उनके साथ लगी हुई सभी बातों का, सामने आना। तकनीक या यंत्र-विज्ञान की तेज़ी से होनेवाली तरक्क़ी और विस्तार के साथ विज्ञान की नई जानकारी के प्रयोग दुनिया का नकशा ही बड़ी तेज़ी से बदल रहे हैं और इसके साथ नये मसले खड़े हो रहे हैं।

इसलिए अगरचे मैंने समाजवादी सिद्धांत की बुनियादी बातों को क़ुबूल कर लिया, फिर भी मैं उसके अनगिनत भीतरी मुबाहसों के फेर में नहीं पड़ा। हिंदुस्तान के गरम दलों से, जो अपनी शक्ति का बहुत हिस्सा आपस के झगड़ों में या बारीकियों को लेकर आपस के बुरा-भला कहने में सर्फ़ करते हैं, मेरी बिलकुल न पट सकी। इन बातों में मेरी ज़रा भी दिलचस्पी नहीं है। ज़िंदगी इतनी जटिल है और जहांतक हम अपने मौजूदा ज्ञान के आधार पर समझ सकते हैं, इतनी तर्क-हीन है कि हम उसे किसी बंधे हुए सिद्धांत की कैद में नहीं ला सकते।

मेरे सामने जो असली मसले रहे हैं, वे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के हैं—किस तरह शांति के साथ रहा जाय, व्यक्ति की बाहरी और भीतरी ज़िंदगी में कैसे संतुलन हो, व्यक्तियों और दलों के बीच के संबंध किस तरह स्थिर किये जायं, किस तरह निरंतर अच्छी और ऊंची स्थिति हासिल की जाय, किस तरह समाज का विकास किया जाय और इन्सान के अनथक जीवट और साहस का मसला। इन मसलों के हल के लिए निरीक्षण, ठीक-ठीक ज्ञान और विज्ञान के तरीकों के मुताबिक पूरी-पूरी दलील का सहारा लेना चाहिए। सत्य की खोज में ये तरीक़े मुमकिन हैं कि हमेशा कारगर न हों, क्योंकि कविता और कला और कुछ आत्मिक अनुभव, ये ऐसे विषय हैं, जो एक दूसरे ही वर्ग के हैं और विज्ञान के तरीके से, जो पदार्थों की जांच पर अवलंबित हैं, ग्रहण नहीं किये जा सकते। इसलिए सहज ज्ञान और सचाई और असलियत को खोजने के दूसरे तरीक़ों को अलग नहीं किया जा सकता। विज्ञान के मैदान में भी इनकी ज़रूरत पड़ती है, फिर भी हमें हमेशा वस्तुगत ज्ञान के लंगर को पकड़े रहना चाहिए, ऐसे ज्ञान के लंगर को, जिसकी जांच बुद्धि द्वारा और उससे भी बढ़कर अनुभव और व्यवहार के द्वारा हो चुकी

बराबर इस बात मे यकीन रखते आये हैं कि दुनिया एकता के सिद्धात पर बनी है, मेरे विश्वासो मे मे सबसे बुनियादी विश्वास यह है कि इस तरह खयाल करना महज बेवकूफी है।" या फिर लीजिये—"आदमी उन कारणों की उपज है, जिन्हे इस बात का कोई पूर्व-ज्ञान नही कि वे किस अत की ओर जा रहे हैं, उसकी उत्पत्ति और वृद्धि, उसकी आशाए और उसके भय, उसके प्रेम और विश्वास परमाणुओं के आकस्मिक मेल का नतीजा है।" लेकिन भौतिक-शास्त्र की नई-से-नई शोधो ने बहुत हद तक प्रकृति की बुनियादी एकता साबित कर दी है। "यह यकीन कि सभी वस्तुए, एक ही पदार्थ से बनी हैं, बहुत पुराना है और तब का है जब से आदमी ने विचार करना शुरू किया है। लेकिन हमारी ही पीढी एक ऐसी पीढी है, जिसने इतिहास मे सबसे पहले प्रकृति की एकता को देखा है—एक बे-बुनियाद अकीदे या नामुमकिन-सी आरजू की सूरत मे नही, बल्कि विज्ञान के एक सिद्धात के रूप में, जिसके सबूत इतने साफ और जाहिर हैं, जितने कि किसी जानी हुई चीज के हो सकते हैं।"[1]

इस तरह का विश्वास अगरचे एशिया और यूरोप मे बहुत पुराना है, फिर भी विज्ञान के कुछ नये-से-नये नतीजो का उन बुनियादी विचारो से मुकाबला, जो अद्वैत वेदात की तह मे हैं, दिलचस्प होगा। वह विचार यह है कि विश्व एक ही द्रव्य से बना है, जिसका रूप निरतर बदलता रहता है और यह कि शक्तियो का कुल-जोड सदा एक समान बना रहता है। यह भी कि 'वस्तुओ की व्याख्या उन्हीकी प्रकृति मे निहित है, और इस विश्व में क्या हो रहा है, इसे समझाने के लिए बाहरी अस्तित्वो का सहारा लेना जरूरी नही, और इन विचारो का हासिल यह है कि विश्व स्वत विकासशील है।'

ये अस्पष्ट मनन आदमी को किस नतीजे पर पहुचाते हैं, इसकी विज्ञान परवा नही करता। इस बीच में अपने खास प्रयोगात्मक ढग से जाच करते हुए, ज्ञान के नक्शे की हदों को बढाते हुए और इस तरह इन्सानी जिंदगी की रविश को बदलते हुए, वह आगे बढ रहा है। हो सकता है कि वह मूल रहस्यों को ढूढ निकालने के नजदीक पहुच गया हो, और यह भी हो सकता है कि इन रहस्यो को वह न भी खोल पाये। फिर भी वह अपने निश्चित रास्ते पर आगे बढता जायगा, क्योंकि इसकी यात्रा का अत नही है। फिलसफे का प्रश्न है 'क्यों?', इसे वह नजर-अदाज करके 'कैसे?', यह पूछता रहेगा,

[1]कार्ल के० डैरो . 'दि रिनेसां ऑव फ़िजिक्स' (न्यूयार्क, १९३६) पृष्ठ ३०१।

और ज्यों-ज्यों उस पर रहस्य का भेद खुलता रहेगा, उनके जरिये जिंदगी ज्यादा मुकम्मिल और पुर-मानी बनती जायगी और शायद 'क्यों ?'—इस सवाल का जवाब देने में भी कुछ हद्तक वह मददगार हो।

या शायद हम इस दीवार को पार न कर सकें और रहस्यमय रहस्यमय ही बना रह जाय, और जिंदगी अपनी तमाम तबदीलियों के साथ अच्छाई और बुराई का एक बंडल, संघर्षों का एक तांता और बेमेल और परस्पर-विरोधी प्रेरणाओं का एक अजीब-ओ-गरीब मजमुआ बनी रहे।

या फिर मुमकिन है कि विज्ञान की तरक्की ही नैतिक नयमों को तोड़कर, शक्ति और विनाश के उन भयानक साधनों को, जिन्हे उसने तैयार किया है, बुरे और स्वार्थी लोगों के हाथों में केंद्रित कर दे—ऐसे लोगों के हाथों मे, जो दूसरों पर अधिकार करने की कोशिश मे रहते हैं—और इस तरह अपने बड़े कारनामों का खुद खात्मा कर दे। इस तरह की कुछ बातें हम आजकल घटित होती हुई देखते हैं, और इस युद्ध के पीछे है मनुष्य की आत्मा का भीतरी संघर्ष।

मनुष्य की आत्मा भी कैसी अद्भुत है! अनगिनत कमजोरियों के बावजूद आदमी ने, सभी युगों मे, अपने जीवन की और अपनी सभी प्रिय वस्तुओं की, एक आदर्श के लिए, सत्य और विश्वासों के लिए, देश और इज्जत के लिए कुरबानी की है। यह आदर्श बदल सकता है, लेकिन कुरबानी की यह भावना बनी हुई है और इसीकी वजह से हम इन्सान की बहुत-सी कमजोरियों को माफ कर सकते हैं और उसकी तरफ से मायूस नही होते। आफ़तों का सामना करते हुए भी उसने अपनी शान निभाई है, जिन चीजों की वह कीमत करता रहा है, उनमे अपना विश्वास कायम रखा है। प्रकृति की महान शक्तियों के कठपुतले, जिसकी हस्ती इस बड़े विश्व मे धूल के एक कण से ज्यादा नहीं, मनुष्य ने मौलिक शक्तियों को ललकारा है और अपनी अक्ल के जरिये, जो इन्कलाब का पालना रहा है, उन्हें अपने वश में करने की कोशिश की है। देवता लोग जैसे भी हों, मनुष्य मे कोई बात देवता-जैसी जरूर है उसी तरह, जिस तरह कि उसमें कुछ शैतान-जैसी भी बात है।

भविष्य अंधेरा है, अनिश्चित है। लेकिन उस तक पहुंचनेवाले रास्ते का हम एक हिस्सा देख सकते हैं और यह याद रखते हुए कि चाहे जो बीते, मनुष्य की आत्मा, जिसने इतने संकटों को पार किया है, दबाई नही जा सकती, हम उस पर साबित-कदमी से चल सकते हैं। हमे यह भी याद रखना है कि जिंदगी में चाहे जितनी बुराइयां हों, आनंद और सौंदर्य भी है और हम सदा प्रकृति की मोहिनी वन-भूमि में सैर कर सकते हैं।

मे कुछ अपनापन है कि दूसरो तक उसका पहुचाया जाना न वाजिब है और न मुमकिन। फिर भी इन निजी और गैर-निजी नपकों की बडी क़ीमत है। वे व्यक्ति पर असर डालते हैं, बल्कि उसे ढालते हैं और जिंदगी और मुल्क और दूसरी क़ौमो के बारे मे उसके खयालो मे तबदीली पैदा करते हैं।

जैसे मैं और जेलो मे किया करता था, वैसे ही अहमदनगर के क़िले मे भी बागवानी शुरू की और रोज़ कई घटे, यहातक कि कडी धूप मे भी, ज़मीन खोदकर क्यारिया तैयार किया करता था। जमीन बडी खराब और पथरीली थी और पिछली इमारतो के ईंट-रोडो से भरी हुई थी। यहा पुरानी इमारतो के अवशेष भी थे, क्योंकि यह एक तारीखी मुक़ाम है, जहा गुजिश्ता जमाने मे बहुतेरी लडाइया हुई हैं और महलो के षड्यत्र चलते रहे हैं। अगर हिंदुस्तान के इतिहास का खयाल किया जाय, तो इस जगह का यह इतिहास बहुत पुराना नही है और व्यापक दृष्टि डाली जाय, तो इतना महत्त्वपूर्ण भी नही है। लेकिन इससे सबध रखनेवाली एक घटना है, जो मार्के की है और जिसकी अब भी याद की जाती है। वह है एक खूबसूरत औरत चादबीबी की बहादुरी, जिसने इस किले की रक्षा की थी और जिसने हाथ मे तलवार लेकर अपने सिपाहियो के साथ अकबर की शाही फौज का सामना किया था। अपने ही आदमियो मे से एक के हाथो उसकी मौत हुई थी।

इस अभागी धरती को खोदते हुए हमे पुरानी दीवालो के हिस्से मिले हैं और जमीन की सतह से बहुत नीचे दबी हुई इमारतो के गुबदो के ऊपरी हिस्से भी। हम इस काम मे ज्यादा आगे नही बढ सके, क्योंकि अधिकारियों ने यह पसद नही किया कि गहरी खुदाई की जाय या पुरातत्त्व के बारे मे खोज की जाय और न हमारे पास इस काम के लिए ठीक साधन ही थे। एक बार हमे पत्थर मे खुदा हुआ एक कमल मिला, जो किसी दीवार के किनारे पर, शायद किसी दरवाजे के ऊपर था।

मुझे याद आई एक दूसरी और कम खुशगवार खोज, जो मैंने देहरादून जेल मे की थी। तीन साल हुए, अपने छोटे-से अहाते मे जमीन खोदते हुए मुझे बीते हुए जमाने का एक अजीब निशान मिला। जमीन की सतह से काफी गहराई पर दो पुराने खभो के बचे हुए हिस्से मिले और हमने इन्हें किसी कदर उत्तेजना के साथ देखा। वे पुरानी सूलियो के टुकडे थे, जो वहा तीस-चालीस साल पहले काम मे लाई जाती थी। यह जेल अब बहुत दिनो से सूली चढाने के काम मे नही लाया जाता था और पुरानी सूलियो के सब जाहिरा निशान हटा दिये गए थे। हमने उसकी जड को पा लिया था और उखाड डाला था और जेल के मेरे सभी साथी, जिन्होने इस काम

बिताया करता था। जी मे न जाने कितनी बातें भरी हुई थी, जिन्हे मैं उनसे कहना चाहता था। लेकिन मुझे अपने को रोकना पड़ता। कभी-कभी हम पुराने दिनो की बातें करते—पुरानी स्मृतियो की, और हिंदुस्तान के आदम के लोगो की। कभी-कभी, जरा लालसा से, आनेवाले दिनो की, और उस वक्त हम लोग क्या करेंगे, यह सोचते। उसकी हालत नाजुक थी, लेकिन उसे जीने की आशा बनी रही। उसकी आखो मे चमक और ताकत कायम थी और उसका चेहरा आमतौर पर खुश रहता। इक्के-दुक्के मित्र, जो उससे मिलने आते, उन्हे कुछ ताज्जुब होता, क्योंकि जैसा उन्होने समझ रखा था, उससे यह अच्छी दिखती। वे लोग उन चमकीली आखो और मुस्कराते हुए चेहरे के धोखे मे आ जाते।

शरद ऋतु की लबी शामें मैं अपने पेन्शन के कमरे मे अकेले बैठकर बिताता, या कभी-कभी खेतो मे होता हुआ मैं जगल की तरफ टहलने निकल जाता। एक-एक करके, कमला के सैकड़ो चित्र और उसके गहरे और अनमोल व्यक्तित्व के सैकडो पहलू मेरे दिमाग मे फिरते रहते। हमारे ब्याह के लगभग २० वर्ष बीत चुके थे, फिर भी न जाने कितनी बार मैं उसके मन और आत्मा के नये रूपो को देखकर अचभे मे आया था। मैंने उसे कितनी ही तरह से जाना था और बाद के दिनो मे तो मैंने उसे समझ पाने की पूरी कोशिश भी की थी। यह बात नही कि मैं उसे बिलकुल पहचान न सका हू। हा, मुझे अक्सर सदेह होता था कि मैंने उसे पहचाना भी या नही। उसमे परियो-जैसी कुछ भेद-भरी बात थी, जो सच्ची होते हुए भी ऐसी थी कि उसे ग्रहण नही किया जा सकता था।

कुछ थोडी-सी स्कूली तालीम के अलावा उसे कायदे से शिक्षा नही मिली थी। उसका दिमाग़ शिक्षा की पगडडियो में से होकर नही गुजरा था। हमारे यहा वह एक भोली लडकी की तरह आई और जाहिरा उसमे कोई ऐसी जटिलताए नही थी, जो आजकल आमतौर से मिलती है। चेहरा तो उसका लडकियों-जैसा बराबर बना रहा, लेकिन जब वह सयानी होकर औरत हुई, तब उसकी आखो मे एक गहराई, एक ज्योति, आ गई और यह इस बात की सूचक थी कि इन शात सरोवरो के पीछे तूफान चल रहा है। वह नई रोशनी की लडकियो-जैसी न थी, न तो उसमे वे आदतें थी, न वह चचलता थी। फिर भी नये तरीको मे वह काफी आसानी से घुल-मिल जाती थी। दर-असल वह एक हिंदुस्तानी और खासतौर पर काश्मीरी लडकी थी—चैतन्य और गर्वीली, बच्चो-जैसी और बडो-जैसी, बेवकूफ और चतुर। अजनबी, लोगो से और उनसे, जिन्हें वह पसद नही करती थी, वह सकोच करती, लेकिन जिन्हें वह

जानती और पसद करती थी, उनसे वह जी खोलकर मिलती और उनके सामने उसकी खुशी फूटी पडती थी। चाहे जो शख्स हो, उसके बारे मे वह झट अपनी राय कायम कर लेती। यह राय उसकी हमेशा सही न होती, और न हमेशा वह इन्साफ की नीव पर बनी होती, लेकिन अपनी इस सहज पसद या विरोध पर वह दृढ रहती। उसमे कपट नाम को न था। अगर वह किसी व्यक्ति को नापसद करती और यह बात जाहिर हो जाती, तो वह उसे छिपाने की कोशिश न करती। कोशिश भी करती तो शायद वह इसमे कामयाब न होती। मुझे ऐसे इन्सान कम मिले हैं, जिन्होंने मुझ पर अपनी साफ-दिली का वैसा प्रभाव डाला हो, जैसाकि उसने डाला था।

२ : हमारा ब्याह और उसके बाद

मैंने अपने ब्याह के शुरू के सालो का खयाल किया, जबकि बावजूद इस बात के कि मैं उसे हद से ज्यादा चाहता था, मैं क़रीब-क़रीब उसे भूल गया था, और बहुत तरह से उसे उस सग से वचित रखता था, जिसका उसे हक था, क्योंकि उस वक्त मेरी हालत एक ऐसे शख्स की-सी थी, जिस पर कि भूत सवार हो। मैं अपना सारा वक्त उस मकसद को पूरा करने मे लगा रहा था, जिसे मैंने अपनाया था। अपनी एक अलग सपने की दुनिया मे रहा करता था और अपने गिर्द के चलते-फिरते लोगो को असार छाया की तरह समझा करता था, अपनी शक्ति-भर मैं काम मे लगा रहता था, मेरा दिमाग़ उन बातों से लबरेज़ रहता, जिनमे मैं लगा हुआ था। मैंने उस मकसद में अपनी सारी ताकत लगा दी थी और उसके अलावा किसी और काम के लिए ताकत बाकी न थी।

लेकिन उसे भूलना बहुत दूर रहा, जब-जब और धधो से निपटकर उसके पास आता, तो मुझे ऐसा अनुभव होता कि किसी सुरक्षित बदरगाह में पहुच गया हू। अगर घर से कई दिनो के लिए बाहर रहता, तो उसका ध्यान करके मेरे मन को शाति मिलती और मैं बेचैनी के साथ घर लौटने की राह देखता। अगर वह मुझे ढाढस और शक्ति देने के लिए न होती और मेरे थके मन और शरीर को नया जीवन न देती रहती, तो भला मैं कर ही क्या पाता ?

वह जो कुछ मुझे दे सकती थी, उसे मैंने उससे ले लिया था। इसके बदले में इन शुरू के दिनो मे मैंने उसे क्या दिया ? जाहिरा तौर पर मैं नाकामयाब रहा, और मुमकिन है कि उन दिनो की गहरी छाप उस पर हमेशा बनी रही हो। वह इतनी गर्वीली और सवेदनशील थी कि मुझसे मदद मागना नहीं चाहती थी, अगरचे जो मदद मैं उसे दे सकता था, वह दूसरा नही दे सकता था। वह राष्ट्रीय लडाई में अपना अलग हिस्सा लेना चाहती थी, महज दूसरे

के आसरे रहकर या अपने पति की परछाईं बनकर वह नहीं रहना चाहती थी। वह चाहती थी कि दुनिया की निगाहों में ही नहीं, बल्कि अपनी निगाहों में वह खरी उतरे। मुझे इससे ज्यादा किसी दूसरी बात से खुशी नहीं हो सकती थी, लेकिन मैं और कामों में इतना फंसा हुआ था कि सतह से नीचे देख ही नहीं पाता था, और वह क्या खोजती थी या इतनी उत्कंठा से क्या चाहती थी, उस ओर से मेरी आंखें बंद थीं। और फिर मुझे इतनी बार जेल जाना पड़ा कि मैं उससे अलग भी रहा, या वह बीमार रही। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक की चित्रा की तरह वह मुझसे यह कहती जान पड़ती थी—"मैं चित्रा हूं, देवी नहीं हूं कि मेरी पूजा की जाय। अगर तुम खतरे और साहस के रास्ते में मुझे अपने साथ रखना मंजूर करते हो, अगर तुम अपनी जिंदगी के बड़े कामों में मुझे हिस्सा लेने की इजाजत देते हो, तो तुम मेरी असली आत्मा को पहचानोगे।" लेकिन उसने यह बात मुझसे शब्दों में नहीं कही। धीरे-धीरे यह संदेश मैं उसकी आंखों में पढ़ पाया।

सन १९३० के शुरू के महीनों में मुझे उसकी इस इच्छा की झलक मिली। फिर हम लोग साथ-साथ काम करते रहे और इस अनुभव में मुझे एक नया आनंद मिला। कुछ वक्त तक हम लोग मानो जिंदगी की तेज धार पर साथ-साथ बहते रहे। लेकिन बादल मंडरा रहे थे और एक कौमी हंगामा सामने था। हमारे लिए ये सुख के महीने थे, लेकिन ये बहुत जल्द खत्म हो गए और अप्रैल के शुरू में मुल्क असहयोग और फिर सरकारी दमन के चंगुल में पड़ गया और मैं फिर जेल चला गया।

हम सब मर्द लोग ज्यादातर जेल में थे। उस वक्त एक हैरत-अंगेज घटना घटी। हमारी औरतें मैदान में आईं और उन्होंने लड़ाई को संभाला। यह सही है कि कुछ औरतें सदा से इस काम में लगी रही हैं, लेकिन अब तो उनके दल-के-दल उमड़ पड़े, जिसकी वजह से न सिर्फ अंग्रेजी सरकार को, बल्कि खुद उनके मर्दों को अचरज हुआ। और हमारे सामने जो नज्जारा था, वह यह था कि ऊंचे और बीच के वर्ग की औरतें, जो अपने घरों में महफूज जिंदगियां बिता रही थीं, किसान औरतें, मजदूर औरतें, अमीर औरतें, गरीब औरतें, दसियों हजार की तादाद में सरकारी हुक्म को तोड़ने और पुलिस की लाठियों का सामना करने के लिए तैयार थीं। साहस और बहादुरी का यह खाली दिखावा नहीं था। इससे भी बड़ी जो बात थी वह यह थी कि उन्होंने संगठन की शक्ति दिखाई।

जब ये खबरें हम तक नैनी जेल में पहुंचीं, उस वक्त हममें जो पुलक पैदा हुई, उसे मैं कभी भूल नहीं सकता। हमारे दिल हिंदुस्तान की औरतों का

को जाहिर करके हम एक-दूसरे को तकलीफ न पहुचायें। लेकिन यह साफ था कि बहुतेरी बातो की वजह से वह बहुत परेशान और दुखी थी और उसका मन शात न था। मैं चाहता कि मैं उसकी कुछ मदद कर सकता, लेकिन जेल मे रहते हुए यह मुमकिन न था।

३ : इन्सानी रिश्तों का सवाल

ये सब और बहुत-से और खयाल मेरे दिमाग़ मे बेडेनवाइलर के तनहाई के लबे घटो मे आते। मैं जेल का वातावरण सहज मे दूर न कर पाता था। बहुत दिनो से मैं इसका आदी हो गया था और इन नई फ़िज़ा ने कुछ ज्यादा तबदीली न पैदा की। नात्सी इलाके मे, उसकी तमाम अनोखी घटनाओ के बीच, जिसे मैं बेहद नापसद करता था, मैं रह रहा था। लेकिन नात्सियो ने मुझसे छेड न की। ब्लैक फ़ॉरेस्ट के एक कोने के इस छोटे-से गाव मे नात्सी-पन के कोई चिह्न नही मिलते थे।

पर शायद ऐसा हो कि मेरे दिमाग मे और ही बातें भर रही थीं। मेरे सामने अपनी बीती हुई जिदगी की तस्वीरे फिर रही थी, और उनमें हमेशा कमला साथ दिखाई देती थी। मेरे लिए वह हिंदुस्तान की महिलाओ, बल्कि स्त्री-मात्र, की प्रतीक बन गई। कभी-कभी हिंदुस्तान के बारे मे मेरी कल्पना मे वह एक अजीब तरह से मिल-जुल जाती, उस हिंदुस्तान की कल्पना मे, जो अपनी सब कमजोरियो के बावजूद हमारा प्यारा देश है, और जो इतना रहस्यमय और भेद-भरा है। कमला क्या थी ? क्या मैं उसे जान सका था, उसकी असली आत्मा को पहचान सका था ? क्या उसने मुझे पहचाना और समझा था ? क्योकि मैं भी एक अनोखा आदमी रहा हू और मुझमे भी ऐसा रहस्य रहा है, ऐसी गहराइया रही हैं, जिनकी थाह मैं खुद नहीं लगा सका हू। कभी-कभी मैंने खयाल किया है कि वह मुझसे इसी वजह से ज़रा सहमी रहती थी। शादी के मामले मे मैं ख़ातिर-ख़ाह आदमी न रहा हू, न उस वक्त था। कमला और मैं, एक-दूसरे से कुछ बातों मे बिलकुल जुदा थे, और फिर भी कुछ बातों में हम एक-जैसे थे। हम एक-दूसरे की कमियो को पूरा नही करते थे। हमारी जुदा-जुदा ताकत ही आपस के व्यवहार में कमजोरी बन गई। या तो आपस में पूरा समझौता हो, विचारो का पूरा मेल हो, नही तो कठिनाइया होंगी ही। हममे कोई भी साधारण गृहस्थी की जिदगी, जैसे भी गुजरे, उसे कुबूल करते हुए, नहीं बिता सकते थे।

हिंदुस्तान के बाज़ारो मे जो बहुत-सी तस्वीरें देखने मे आती, उनमें एक ऐसी थी, जिसमे कमला की और मेरी तस्वीरें साथ-साथ लगाई गई थी और जिसके ऊपर लिखा हुआ था —'आदर्श जोडी'। बहुत-से लोग इसी

रूप मे हमारी कल्पना करते रहे हैं, लेकिन आदर्श को पा लेना और उसे पकड़े रहना बडा कठिन है। फिर भी मुझे याद है कि अपने लका के सफर मे मैं कमला से यह कहा करता था कि वट्टन दिक्कतो और आपस के भेदो के रहते हुए और ज़िंदगी ने हमारे साथ जो चालें चली हैं, उनके बावजूद, हम कितने खुशकिस्मत हैं! ब्याह एक अनोखी घटना होती है और अगरचे ब्याह का हमे हज़ारो साल का तजुरबा हासिल है, यह बात आज भी उतनी ही सच है। हमने अपने गिर्द बहुत-सी शादियो की बरबादी देखी, या जिसे हम इससे बेहतर न कहेंगे, यह देखा कि जो चीज़ सुनहली और आबदार थी, वह मद और फीकी पड गई है। मैं उससे कहा करता कि हम लोग कितने खुशकिस्मत हैं, और इसे वह कुबूल करती, क्योंकि आपस मे हम लडे भले ही हो, एक-दूसरे से नाराज़ भले ही हुए हो, फिर भी हमने उस ज़िदा ज्योति को बुझने न दिया, और ज़िदगी हम दोनो को नये-नये करिश्मे दिखाती रही और एक-दूसरे को नई झलक देती रही।

इन्सानी रिश्तो का मसला कितना बुनियादी है, फिर भी राजनीति और अर्थ-शास्त्र की बहसो मे पडकर हम उसे कितना नज़र-अदाज़ कर देते हैं! चीन और हिंदुस्तान की पुरानी और अक्लमद तहज़ीबो मे इसे नज़र-अदाज़ नही किया गया था। वहा सामाजिक व्यवहार के आदर्शों का विकास हुआ था, जिसमे और जो भी खामिया रही हो, यह खूबी थी कि व्यक्ति को एक सतुलन, एक हम-वज़नीपन, हासिल होता था। यह सतुलन आज हिंदुस्तान मे नही दिखाई पड रहा है, लेकिन पश्चिम के देशो मे ही, जहा और दिशाओ मे इतनी तरक्की हुई है, यह कहा दिखाई पडता है? या यह सतुलन ही दरअसल गतिहीनता है और उन्नतिशील तबदीली का विरोधी है? क्या एक का दूसरे के लिए बलिदान करना ज़रूरी है? यकीनी तौर पर इसे मुमकिन होना चाहिए कि भीतरी सतुलन का बाहरी तरक्की से, पुराने ज़माने के ज्ञान का नये ज़माने की शक्ति और विज्ञान से मेल कायम हो। सच देखा जाय, तो हम लोग दुनिया के इतिहास की एक ऐसी मजिल पर पहुच गए हैं कि अगर यह मेल न क़ायम हो सका, तो दोनो ही का अत और नाश रखा हुआ है।

४ : १९३५ का बडा दिन

कमला की हालत कुछ सुधरी। सुधार कुछ बहुत ज़ाहिर तो नहीं था, लेकिन पिछले हफ्तो की चिता के बाद हम लोगो ने कुछ आराम महसूस किया। वह अपना नाज़ुक वक्त पारकर ले गई थी और उसकी हालत सभली हुई थी और यह एक सुधार था। उसकी यह हालत एक महीने तक जारी रही, और इससे लाभ उठाकर अपनी बेटी इंदिरा के साथ मैं कुछ दिनो के लिए

इंग्लिस्तान हो आया। वहा मैं आठ साल से नही गया था और कई दोस्तो का इसरार था कि मैं उनसे मिलू।

मैं बेडेनवाइलर वापस आया और पुरानी दिनचर्या फिर से शुरू हुई। जाडा आ गया था। जमीन बर्फ मे ढककर सफेद हो रही थी। ज्योंही बडा दिन करीब आया, कमला की हालत साफ तौर पर गिरने लगी। ऐसा जान पडता था कि नाजुक वक्त लौट आया है और उसकी ज़िंदगी एक धागे से लटक रही है। १९३५ के उन अंतिम दिनो मे मैं बर्फ और बर्फ़ानी कीचड के बीच रास्ता काटता रहा, और यह नही जानता था कि वह कितने दिन या घटो की मेहमान है। जाडे का शांत दृश्य, जिस पर बर्फ की सफेद चादर पडी हुई थी, मुझे ठडी मौत की शाति जैसा लगा और मैं अपना पिछला आशावाद खो बैठा।

लेकिन कमला इस सकट-काल से भी लडी और अचरज-भरी शक्ति से उसे पार कर गई। वह अच्छी होने लगी और ज्यादा खुश दिखाई देती। उसने चाहा कि हम लोग उसे बेडेनवाइलर से हटाकर दूसरी जगह ले चलें। वह उस जगह से ऊब गई थी। एक दूसरी वजह, जिससे उसे अब वह जगह अच्छी नही लगती थी, यह थी कि स्वास्थ्य-गृह का एक दूसरा मरीज जाता रहा। वह कमला के पास कभी-कभी फूल भेज दिया करता था और उससे मिलने भी आया करता था। यह मरीज़, जो एक आयरिश लडका था, कमला के मुकाबले में कही अच्छी हालत मे था, यहातक कि उसे टहलने की इजाजत मिल गई थी। उसकी अचानक मौत की खबर मैंने कमला तक पहुचने से रोकनी चाही, लेकिन इसमे हम कामयाब न रहे। मरीजों को, खासकर उन्हे, जिन्हे स्वास्थ्य-गृह में ठहरने का दुर्भाग्य होता है, जान पडता है एक ग़ैबी जानकारी हासिल हो जाती है, और यह उन्हें बहुत-कुछ वे बातें जता देती है, जो उनसे छिपाई जाती हैं।

जनवरी मे मैं कुछ दिनो के लिए पेरिस गया और थोडे वक्त के लिए लदन भी हो आया। जिंदगी मुझे अपनी तरफ फिर खीच रही थी और लदन मे मुझे खबर मिली कि मैं हमारी काग्रेस का दूसरी बार सभापति चुना गया हू और यह काग्रेस अप्रैल मे होनेवाली है। दोस्तो ने मुझे पहले से आगाह कर दिया था, इसलिए यह फ़ैसला एक तरह से जाना हुआ था और इसके बारे मे मैंने कमला से बातचीत की थी। मेरे सामने एक दुविधा आकर खडी हो गई—उसे इस हालत मे छोडकर जाऊ या सभापति के पद से इस्तीफ़ा दे दू। वह नही चाहती थी कि मैं इस्तीफ़ा दू। उसकी हालत जरा सुधरी हुई थी और हम लोगों ने सोचा कि मैं बाद में फिर उसके पास आ सकता हू।

रही थी, लेकिन उसका दिमाग अपने इर्द-गिर्द की चीजों पर कम ठहरता। वह मुझसे पूछती कि कोई उसे बुला रहा है या यह कि उसने किसी शक्ल या आदमी को कमरे में आते देखा, जबकि मैं कुछ न देख पाता था।

२८ फरवरी को, तड़के सवेरे उसने अपनी आखिरी सांस ली। इंदिरा वहां मौजूद थी, और हमारे सच्चे दोस्त और दुख-मुसीबत के निरंतर साथी डाक्टर अटल भी मौजूद थे।

कुछ और मित्र स्विजरलैंड के पास के शहरों से आ पहुंचे और हम उसे लोजान के दाहघर में ले गए। चंद मिनटों में वह सुंदर शरीर और प्यारा मुखड़ा, जिस पर अक्सर मुस्कराहट छाई रहती थी, जलकर खाक हो गया। और अब हमारे पास सिर्फ एक बरतन रहा, जिसमें उस तेज, आबदार और जीवन से लहलहाते प्राणी की अस्थियां हमने भर ली थीं।

६ : मुसोलिनी : वापसी

जिस लगाव ने मुझे लोजान और यूरोप में रोक रखा था, वह टूट गया और अब वहां ज्यादा ठहरने की जरूरत न थी। दरअसल मेरे भीतर की कोई और चीज भी टूट गई थी, जिसका ज्ञान मुझे धीरे-धीरे हुआ, क्योंकि ये मेरे अंधियारे दिन थे और मेरी बुद्धि ठीक-ठीक काम नहीं कर रही थी। कुछ समय एकांत में बिताने के लिए मैं इंदिरा के साथ मांट्रे चला गया।

जिन दिनों मैं मांट्रे में ठहरा हुआ था, लोजान में रहनेवाला इटली का राजदूत मुझसे आकर मिला। वह सिन्योर मुसोलिनी की तरफ से खासतौर पर मेरे दुख में सहानुभूति प्रकट करने आया था। मुझे जरा ताज्जुब हुआ, क्योंकि मैं सिन्योर मुसोलिनी से कभी मिला न था और न मुझसे उनका किसी और ही तरह से संपर्क था। मैंने राजदूत से कहा कि वह मुसोलिनी को बता दें कि इस सहानुभूति के लिए मैं उनका एहसानमंद हूं।

कुछ हफ्ते पहले, रोम से एक मित्र ने मुझे लिखा था कि सिन्योर मुसोलिनी मुझसे मिलना चाहेंगे। उस वक्त मेरे रोम जाने का कोई सवाल न था और मैंने उन्हें यह लिख दिया था। बाद में, हवाई रास्ते से, हिंदुस्तान लौटने की जब मैं सोच रहा था, उस वक्त संदेसा दुहराया गया और इसमें खासतौर पर इसरार और उत्सुकता थी। मैं इस मुलाकात से बचना चाहता था, साथ ही रुखाई दिखाने की भी मेरी कोई इच्छा न थी। आमतौर पर मैं मुलाकात से बचने की इस ख्वाहिश पर काबू पा जाता, क्योंकि मुझे भी यह जानने का कुतूहल था कि मुसोलिनी किस तरह का आदमी है। लेकिन उस वक्त अबीसीनिया की लड़ाई चल रही थी, और मेरे उससे मिलने पर, हो-न-हो, तरह-तरह के नतीजे निकाले जाते और इस मुलाकात का इस्तेमाल

अपनी यात्रा करें जारी। रोम के महल से टेलीफोन से इत्तिला भेज दी गई कि मैं न आ सकूगा।

उसी दिन शाम को मैंने सिन्योर मुसोलिनी के पास खत भेजा, जिसमें मैंने इस बात का अफसोस जाहिर किया कि मैं उनसे मिलने का फायदा न उठा सका और मैंने उनकी सहानुभूति के संदेश के लिए धन्यवाद दिया।

अपना सफर मैंने जारी रखा। काहिरा में कुछ पुराने मित्र मुझसे मिलने आए और इसके बाद और पूरब आने पर पश्चिमी एशिया का रेगिस्तान मिला। बहुतेरी घटनाओं में शामिल और सफर के इतजाम में लगे रहने की वजह से अबतक मेरा दिमाग किसी-न-किसी काम में लगा हुआ था। लेकिन काहिरा छोड़ने के बाद, इन सुनसान रेगिस्तानी प्रदेश के ऊपर से उड़ते हुए मुझपर एक भयानक अकेलापन छा गया। मैंने ऐसा महसूस किया कि मुझमें कुछ रह नही गया है और मैं बिना किसी मकसद का हो गया हू। मैं अपने घर की तरफ अकेला लौट रहा था, उस घर की तरफ, जो अब घर नहीं रह गया था, और मेरे साथ एक टोकरी थी, जिसमें राख का एक बरतन था। कमला का जो कुछ बच रहा था, यही था। और हमारे सब सुख के सपने मर चुके थे और राख हो चुके थे। वह अब नही रही, कमला अब नही रही—मेरा दिमाग यही दुहराता रहा।

मैंने अपने 'आत्म-चरित'[1]—अपनी जिंदगी की कहानी का विचार किया, जिसके बारे में मैंने उससे भुवाली के स्वास्थ्य-गृह में सलाह की थी। जब मैं उसे लिख रहा था, तब कभी एक-दो अध्याय उसे पढ़कर सुनाता भी था। उसने इसका सिर्फ एक हिस्सा देखा या सुना था। वह अब बाकी हिस्सा न देख पायेगी और न अब हम लोग मिलकर जिंदगी की किताब में कुछ और अध्याय लिख पायेंगे।

बग़दाद पहुचकर मैंने अपने प्रकाशकों के पास, जो लदन से मेरा आत्म-चरित निकालने जा रहे थे, एक तार भेजा और उसमें मैंने किताब का 'समर्पण' देने का निर्देश दिया—"कमला को, जो अब नही रही।"

कराची आया और परिचित चेहरों के झुड-के-झुड दिखाई दिए। इसके बाद इलाहाबाद आया और हम लोगों ने राख के उस बरतन को वेग से बहनेवाली गगा तक पहुचाया और फिर इस पवित्र नदी की गोद में उसे प्रवाहित कर दिया। हमारे कितने पुरखों को उसने इस तरह समुदर तक पहुचाया है, हमारे बाद आनेवाले कितने अपनी अतिम यात्रा इसके जल के आलिंगन के साथ करेंगे!

---

[1] 'मेरी कहानी' के नाम से यह सस्ता साहित्य मडल से प्रकाशित है।—सं०



ऐतिहासिक नगर तथा स्मारक

लेकिन जो सवाल मेरे मन मे उठ रहे थे, उनकी तसकीन के लिए इतना काफी न था। अगर हम उसके भौतिक और भौगोलिक पहलुओ को छोड दें, तो आखिर यह हिंदुस्तान है क्या? गुज़रे हुए ज़माने मे इसके सामने क्या मकसद थे, कौनसी ऐसी चीज़ थी, जिससे इसे ताकत हासिल होती थी? किस तरह वह अपनी पुरानी ताकत खो बैठा? और क्या उसने यह ताकत पूरी तौर पर खो दी है? और अलावा इसके कि बहुत बडी शुमार म लोग यहा बसते हैं, क्या कोई ऐसी ज़िदा चीज़ है, जिसकी वह नुमाइदिगी करता है? आज की दुनिया मे उसकी ठीक जगह क्या है?

ज्यो-ज्यो मैने इस बात का अनुभव किया कि हिंदुस्तान का और मुल्कों से अलग-थलग होकर रहना ना-मुनासिब है और गैर-मुमकिन भी, मेरा ध्यान इस मामले के अतर्राष्ट्रीय पहलू की ओर बराबर जाता रहा। आनेवाले ज़माने की जो शक्ल मेरे सामने बनती, वह ऐसी होती, जिसमे हिंदुस्तान और दूसरे मुल्को के बीच राजनीति, व्यवसाय और सस्कृति का गहरा मेल और रिश्ता होता। लेकिन आनेवाले ज़माने की बात तो बाद मे उठनी थी, पहले तो हमारे सामने मौजूदा ज़माना था, और इस मौजूदा ज़माने के पीछे एक लबा और उलझा हुआ अतीत था, जिसने कि मौजूदा ज़माने की रूपरेखा बनाई थी इसलिए, बातो को समझ पाने की गरज़ से मैंने अतीत का सहारा लिया।

हिंदुस्तान मेरे खून मे समाया हुआ था और उसमे बहुत-कुछ ऐसी बात थी, जो स्वभाव से मुझे उकसाती थी। फिर भी, मौजूदा ज़माने की और पुराने ज़माने की बहुत-सी बची हुई चीज़ो को नफरत की निगाह से देखता हुआ मैं जैसे एक विदेशी आलोचक की हैसियत से उस तक पहुचा। अगर कहा जाय कि पच्छिम के रास्ते मैं उस तक पहुचा और मैंने इस तरह देखा, जिस तरह कि कोई पच्छिमवाला दोस्त देखता है, तो बेजा न होगा। मैं इस बात के लिए उत्सुक और फिक्रमद था कि उसके नज़रिये को और उसकी रूपरेखा को बदल दू और उसे हाल के ज़माने का जामा पहनाऊ। फिर भी जी मे सदेह उठते थे। मैं जो उसके अतीत की देन को मिटाने का साहस करने जा रहा था, क्या मैं हिंदुस्तान को ठीक-ठीक समझ सका था? यह सही है कि हमारे सामने बहुत-कुछ ऐसा था, जिसे मिटा देना ही मुनासिब था, लेकिन अगर हिंदुस्तान मे कोई ऐसी चीज़ न होती, जो कायम रहने के काबिल और ज़िदा थी और जिसकी सचमुच कीमत थी, तो यह यकीनी है कि हज़ारो साल तक वह अपनी तहज़ीब और वजूद को कायम न रख सकता था। यह चीज़ क्या थी?

उत्तर पच्छिमी हिंदुस्तान की सिंध-घाटी मे, मोहनजोदडो के एक टीले पर मैं खडा हुआ। मेरे गिर्द इस कदीम शहर के मकान थे और गलिया

थी। कहा जाता है कि यह शहर पाच हजार साल पहले मौजूद था और उस वक्त भी यहा एक पुरानी और विकसित सभ्यता कायम थी। प्रोफेसर चाइल्ड लिखते है—"सिंध-सभ्यता एक खास वातावरण मे आदमी की जिंदगी का पूरा संगठन जाहिर करती है और यह सालहा-साल की कोशिशो का ही नतीजा हो सकता है। यह एक टिकाऊ सभ्यता थी; उस वक्त भी उस पर हिंदुस्तान की अपनी छाप पड चुकी थी और यह आज की हिंदुस्तानी संस्कृति का आधार है।" यह एक बडे अचरज की बात है कि किसी भी तहजीब का इस तरह पाच या छ हजार बरसो का अटूट सिलसिला बना हो और वह भी इस रूप मे नही कि वह स्थिर और गतिहीन हो, क्योकि हिंदुस्तान बराबर बदलता और तरक्की करता रहा है। ईरानियो, मिस्रियो, यूनानियो, चीनियो, अरबो, मध्य-एशियाइयो और भूमध्यसागर के लोगो से इसका गहरा ताल्लुक रहा है। लेकिन बावजूद इस बात के कि उसने इन पर असर डाला और इनसे असर लिया, उसकी तहजीब की बुनियाद इतनी मजबूत थी कि कायम रह सकी। इस मजबूती का रहस्य क्या है? यह आई कहा से?

मैंने हिंदुस्तान का इतिहास पढा और उसके विशाल प्राचीन साहित्य का एक अंश भी देखा। उस विचार-शक्ति का, साफ-सुथरी भाषा का, और ऊंचे दिमाग़ का, जो इस साहित्य के पीछे था, मुझ पर बड़ा गहरा असर हुआ। चीन के और पश्चिमी और मध्य-एशिया के उन महान यात्रियों के साथ, जो बहुत पुराने जमाने मे यहा आये और जिन्होंने अपने सफरनामे लिखे हैं, मैंने हिंदुस्तान की सैर की। पूरबी एशिया, अंगकोर, बोरोबुदुर और बहुत-सी जगहो मे हिंदुस्तान ने जो कर दिखाया था, उस पर मैंने ग़ौर किया, मैं हिमालय मे भी घूमा, जिसका हमारी उन पुरानी कथाओ और उपाख्यानो से संबंध रहा है, जिन्होंने हमारे विचार और साहित्य पर इतना प्रभाव डाला है। पहाडो की मुहब्बत और काश्मीर से अपने संबंध ने मुझे खासतौर पर पहाडो की तरफ खींचा और वहा मैंने न महज़ आज की ज़िंदगी और उसकी शक्ति और सौंदर्य को देखा, बल्कि गुज़रे हुए युगो की यादगारें भी देखी। उन पुर-ज़ोर नदियो ने, जो इस पहाडी सिलसिले से निकलकर हिंदुस्तान के मैदानो मे बहती हैं, मुझे अपनी तरफ खींचा और अपने इतिहास के अनगिनत पहलुओ की याद दिलाई, सिंधु, जिससे हमारे देश का नाम हिंदुस्तान पडा और जिसे पार करके हजारो बरसो से न जाने कितनी जातिया, फ़िरके, क़ाफिले और फौजें आती रही हैं, ब्रह्मपुत्र, जो इतिहास की धारा से अलग रही है, लेकिन जो पुरानी कथाओ मे जीवित है और पूर्वोत्तर पहाडो के गहरे दरारों के बीच से रास्ता बनाकर हिंदुस्तान में आती है और

फिर शातिपूर्वक और मनोहारी प्रवाह के साथ पहाडो और जगलो के बीच के भाग से बहती है, जमुना, जिसके नाम के साथ कृष्ण के रास-नृत्य और क्रीडा की अनेक दत-कथाए जुडी हुई है, और गगा, जिससे बढकर हिंदुस्तान की कोई दूसरी नदी नही, जिसने हिंदुस्तान के हृदय को मोह लिया है और जो इतिहास के आरभ से न जाने कितने करोडो लोगो को अपने तट पर बुला चुकी है। गगा की उसके उद्गम से लेकर सागर मे मिलने तक की कहानी पुराने ज़माने से लेकर आजतक की हिंदुस्तान की सस्कृति और सभ्यता की, साम्राज्यो के उठने की और नष्ट होने की, विशाल और शानदार नगरो की, आदमी के साहस और साधना की, ज़िदगी की पूर्णता की और साथ-ही-साथ त्याग और वैराग्य की, अच्छे और बुरे दिनो की, विकास और ह्रास की, जीवन और मृत्यु की कहानी है।

मैंने अजता, एलोरा, एलीफैंटा और दूसरी जगहो के स्मारको, खडहरो, पुरानी मूर्त्तिया और दीवारो पर बनी चित्रकारी को देखा और आगरा और दिल्ली की बाद के ज़माने की इमारते भी देखी, जिनके एक-एक पत्थर हिंदुस्तान के गुज़रे हुए वक्त की कहानी कहते है।

अपने ही शहर, इलाहाबाद मे, या हरद्वार के स्नानो मे, या कुभ मेले मे मैं जाता और देखता कि वहा लाखो आदमी गगा मे नहाने के लिए आते हैं, उसी तरह, जिस तरह कि उनके पुरखे सारे हिंदुस्तान से हज़ारो बरस पहले से आते रहे है। चीनी यात्रियो के और औरो के तेरह सौ साल पहले के इन मेलो के बयानो को याद करता। उस समय भी ये मेले बडे प्राचीन माने जाते थे और कब से इनका आरभ हुआ, यह कहा नही जा सकता। मैंने सोचा, यह भी कितना गहरा विश्वास है, जो हमारे देश के लोगो को अनगिनत पीढियो से इस मशहूर नदी की ओर खीचता रहा है।

मेरी इन यात्राओ ने, और उनके साथ वे सभी बाते थी, जिन्हें मैंने पढ रखा था, मुझे बीते हुए युग की झाकी दिखाई। अबतक जो एक कोरी दिमाग़ी जानकारी थी, उसमे दिली कद्रदानी शामिल हुई और रफ्ता-रफ्ता हिंदुस्तान की मेरी दिमागी तस्वीर मे असलियत का जान पडने लगी और मुझे अपने पुरखो की भूमि जीते-जागते लोगो से बसी हुई दिखाई पडी—ऐसे लोगो से बसी हुई, जो हँसते भी थे और रोते भी थे, जो मुहब्बत करना जानते थे और दुख सहना भी, और उनमे ऐसे थे, जो ज़िदगी का अनुभव रखनेवाले और उसे समझनेवाले थे, और उन्होने अपनी बुद्धि के ज़रिये एक ऐसी इमारत तैयार की थी, जिसने हिंदुस्तान को एक तहज़ीबी पायदारी दी और वह हज़ारो साल तक कायम रही। इस गुज़रे हुए ज़माने की

सैकड़ों जीती-जागती तस्वीरें हमारे दिमाग में फिर रही थीं, और जब मैं किसी खास जगह जाता, जिससे उनका ताल्लुक होता, तो वे मेरे सामने आ जाती। बनारस के पास, सारनाथ में, मैं बुद्ध को अपना पहला उपदेश देते हुए करीब-करीब देख सकता और उनके वे शब्द, जो लिखे जा चुके हैं, ढाई हजार साल बाद, एक दूर की प्रतिध्वनि की तरह सुनाई दिए। अशोक की लाटें, जिन पर लेख खुदे हुए हैं, अपनी शानदार भाषा में एक ऐसे आदमी का हाल बताती हैं, जो अगरचे वह बादशाह था, फिर भी किसी भी राजा या बादशाह से ऊंची हैसियत रखता था। फतहपुर-सीकरी में, अकबर, अपनी सल्तनत की शान को भुलाकर, सभी मजहबों के आलिमों से कुछ नई बात सीखने और इन्सान की हमेशा-हमेशा की पहेली का हल पाने की गरज से बहस करने बैठता।

इस तरह रफ्ता-रफ्ता, हिंदुस्तान के इतिहास का शानदार नज्जारा सामने आता था और इसमें अच्छे दिन और बुरे दिन, जीत और हार, दोनों ही दिखाई देते थे। पांच हजार साल के इतिहास, हमलों और उथल-पुथल के बीच कायम रहनेवाली इस संस्कृति की परंपरा में मुझे कुछ अनोखापन जान पड़ा—उस परंपरा में, जो आम लोगों में फैली हुई थी और उनपर गहरा असर डाल रही थी। सिर्फ चीन ऐसा मुल्क है, जहां ऐसी अटूट परंपरा और तहजीबी जिंदगी दिखाई देती है। फिर गुजरे हुए जमाने की यह विशाल तस्वीर धीरे-धीरे मौजूदा जमाने की बदनसीबी में बदल जाती है, जबकि हिंदुस्तान अपने बीते दिनों के बड़प्पन के बावजूद एक गुलाम मुल्क है और इंग्लिस्तान का पुछल्ला बना हुआ है और सारी दुनिया एक भयानक और विध्वंसकारी लड़ाई के शिकंजे में है और इन्सान को वहशी बनाये हुए है। लेकिन पांच हजार बरसों की इस कल्पना ने मुझे एक नई निगाह दी और हाल के जमाने का बोझ कुछ हलका जान पड़ने लगा। अंग्रेजी सरकार की एक-सौ-अस्सी साल की हुकूमत हिंदुस्तान की लंबी कहानी की महज एक दुखदाई घटना जान पड़ी। वह फिर संभलने लगा है, और इस अध्याय के आखिरी सफे का लिखा जाना शुरू हो गया है। दुनिया भी इस दहशतनाक हालत को पार करेगी और एक नई नींव पर अपना निर्माण करेगी।

२ : राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता

इस तरह हिंदुस्तान के प्रति मेरी प्रतिक्रिया अकसर एक भावुक प्रतिक्रिया थी, और इसके साथ भी बहुत-सी शर्तें और सीमाएं थीं। यह एक ऐसी प्रतिक्रिया थी, जो राष्ट्रीयता की शक्ल अख्तियार करती है, अगरचे जहांतक और लोगों का वास्ता था, ये पाबंद करनेवाली शर्तें और सीमाएं गैर-

हाज़िर थी। मेरे ज़माने मे हिंदुस्तान मे राष्ट्रीयता की भावना का होना एक अनिवार्य चीज़ थी, और है, क्योकि हरएक गुलाम मुल्क के लिए आज़ादी की ख्वाहिश पहली और सबसे बडी ख्वाहिश होती है, और हिंदुस्तान मे, जहा अपनी विशेषता और गुज़रे हुए बडप्पन पर लोगो को इतना नाज है, यह बात दुगनी सही है।

सारी दुनिया मे होनेवाली हाल की घटनाओ ने इसे साबित कर दिया है कि यह खयाल गलत है कि अतर्राष्ट्रीयता और जनता के आदोलनो के आगे राष्ट्रीयता खत्म हो रही है। सच यह है कि राष्ट्रीयता की भावना लोगो मे अब भी एक ज़ोरदार भावना है और इसके साथ परपरा, मिल-जुलकर रहने और सामान्य मकसद की भावनाए जुडी हुई है। जबकि बीच के वर्ग के विचारशील लोग रफ्ता-रफ्ता राष्ट्रीयता की भावना से अलग छूट रहे है, या कम-से-कम समझते हैं कि हट रहे है, मज़दूर पेशा लोगो के और जनता के आदोलन, जो जानबूझकर अतर्राष्ट्रीयता की नीव पर कायम हुए थे, अब राष्ट्रीयता की तरफ झुकते आ रहे है। और इस युद्ध के जारी होने मे तो सब जगह और सभी को राष्ट्रीयता के जाल मे ढकेल दिया है। राष्ट्रीयता की इस अचरज-भरी उठान ने, या यो कहिये कि एक नई ही शक्ल मे उसे देखने और उसकी अहमियत को जान लेने के कारण ने, नये-नये मसले खडे कर दिए हैं या पुराने मसलो की शक्ल बदल दी है। पुरानी और जमी हुई परपराए आसानी से हटाई या मिटाई नही जा सकती, नाजुक वक्तो मे वे उठ खडी होती है और लोगो के दिमागो पर छा जाती है। और अकसर, जैसाकि हमने देखा है, जानबूझकर इस बात की कोशिश होती है कि उनके ज़रिये लोगो को काम मे लगने के लिए या कुरबानियो के लिए उकसाया जाय। पुरानी परपराओ को बहुत हद तक कुबूल करना पडता है और उन्हे नये विचारो और नई हालतो के मुताबिक लाने के लिए उनमे हेर-फेर करना पडता है। साथ ही नई परपराओ का कायम करना भी ज़रूरी है। राष्ट्रीयता का आदर्श एक गहरा और मज़बूत आदर्श है और यह बात नही कि इसका ज़माना बीत चुका हो और आगे के लिए इसका महत्त्व न रह गया हो, लेकिन और भी आदर्श, जैसे अतर्राष्ट्रीयता और श्रमजीवी वर्ग के आदर्श, जो मौजूदा ज़माने की असलियतो की बुनियाद पर ज़्यादा कायम हैं, उठ खडे हुए हैं, और अगर हम दुनिया की कश-मकश को बद कर अमन कायम करना चाहते हैं, तो हमे इन जुदा-जुदा आदर्शो के बीच एक समझौता कायम करना होगा, आदमी की आत्मा के लिए राष्ट्रीयता का जो आकर्षण है, इसका लिहाज़ करना पडेगा, चाहे उसके दायरे को कुछ सीमित ही करना पडे।

अगर उन देशो मे भी जहा नये विचारो और अतर्राष्ट्रीय ताकतो का ज़ोरदार असर पडा है, राष्ट्रीयता की भावना इतनी आम है, तो हिंदुस्तान के लोगो के दिमागो पर उनका कितना ज्यादा असर होना लाज़िमी है! कभी-कभी हमसे कहा जाता है कि हमारी राष्ट्रीयता इस बात की निशानी है कि हम लोग पिछडे हुए लोग है और हमारे दिल सकुचित हैं। जो लोग हमसे इस तरह की बाते करते हैं, शायद उनका खयाल है कि अगर हम अग्रेज़ी सल्तनत या कामनवेल्थ के भीतर एक छोटे हिस्सेदार की हैसियत कुबूल कर ले, तो सच्ची अतर्राष्ट्रीयता की भावना की जीत होगी। वे यह समझते नही दिखाई पडते कि इस खास किस्म की, और महज़ नाम की अतर्राष्ट्रीयता एक सकुचित अग्रेज़ी राष्ट्रीयता का फैलाव-भर है, और अगर हमने हिंदुस्तान मे अग्रेज़ी राज्य के वे नतीजे न भी देखे होते, जो हमने देख लिये है, तो भी यह हमे पसद नही आ सकती थी। फिर भी, राष्ट्रीयता की भावना चाहे कितनी ही गहरी हो, सच्ची अतर्राष्ट्रीयता को कुबूल करने मे और ससार-व्यापी सगठन और राष्ट्रीय सगठन के बीच मेल कराने, बल्कि राष्ट्रीय सगठन को ससार-व्यापी सगठन के मातहत रखने के मामले में हिंदुस्तान बहुत-सी और कौमो के मुकाबले मे आगे बढ गया है।

३ : हिंदुस्तान की ताकत और कमजोरी

हिंदुस्तान की ताकत और उसके ह्रास या उतार के कारणो की खोज एक लबी और टेढी खोज है। फिर भी इस उतार के कारण काफी ज़ाहिर हैं। तकनीक की दौड मे वह पीछे पड गया, और यूरोप, जो बहुत ज़माने से कई बातो मे पिछडा हुआ था, तकनीकी तरक्की मे नेता बन बैठा। तकनीक की इस तरक्की के पीछे विज्ञान की भावना थी, और थी एक खुदबुदाती हुई ज़िंदगी, जिसने अपने को बहुत-से क्षेत्रो मे और खोज की साहसी यात्राओ मे ज़ाहिर किया था। नई तकनीक की जानकारी ने यूरोप के देशो की फौजी ताकत को बहुत बढाया और उनके लिए यह मुमकिन हो गया कि पूरब मे फैलकर वे वहा के मुल्को पर कब्ज़ा कर सकें। यह सिर्फ हिंदुस्तान की नही बल्कि सारे एशिया की कहानी है।

ऐसा हुआ कैसे, यह बता सकना ज़रा मुश्किल है, क्योकि दिमागी फुर्ती मे और यत्रो के हुनर मे पुराने ज़माने मे हिंदुस्तानी पिछडे न थे। ज्यो-ज्यो सदिया गुज़रती है, हम इस हुनर का रफ्ता-रफ्ता उतार देखते हैं। ज़िंदगी और बडे-बडे कारनामो के लिए उमग घट जाती है, रचनात्मक शक्ति का लोप होता है और उसकी जगह पर नक्काली आ जाती हैं। जहा विजयी और इन्कलाबी विचारो ने कुदरत और दुनिया के राज़ो को भेदने की कोशिश

की थी, वहा अब लफ्फाज़ टीकाकार अपनी टीकाओ और शरहो को लेकर आते हैं। शानदार कला और मूर्त्तियो की जगह पर अब हमे मिलते हैं, पेचीदा खुदाई के काम, जिनमे विस्तार तो बहुत है, लेकिन कल्पना या दस्तकारी की शान नही दिखाई देती है। भाषा की शक्ति, सपन्नता और पुर-ज़ोर सादगी जाती रहती है और उनकी जगह बहुत सवारी हुई और जटिल साहित्यिक रचनाए ले लेती हैं। वह जोशीली ज़िदगी और साहस के लिए उमग, जिसके बूते पर लोग दूर-दराज़ के मुल्को मे हिंदुस्तानी सस्कृति के कायम करने की योजना किया करते थे, एक सकीर्ण कट्टरता बनकर रह जाती है, जो समुदर की यात्रा तक की मनाही कर देती है। जिज्ञासा की तर्कपूर्ण भावना, जिसे हम पुराने ज़माने मे बराबर पाते है, और जिसकी वजह से विज्ञान की और भी तरक्की हो सकती थी, तर्कहीनता और अधविश्वास मे बदल जाती है। हिंदुस्तानी ज़िदगी की धार मद पड जाती है, मुर्दा सदियो के बोझ को जैसे-तैसे ढोते हुए लोग मानो गुज़रे हुए ज़माने मे ही रहते हैं। गुज़रे हुए ज़माने का भारी बोझ उसे कुचल देता है और उस पर एक तरह की बेहोशी छा जाती है। मानसिक मूढता और शारीरिक थकान की ऐसी हालत मे हिंदुस्तान का ह्रास हुआ, यह कोई अचरज की बात नही। और इस तरह वह जहा-का-तहा रह गया, जबकि दुनिया के और हिस्से आगे बढ गए।

फिर भी यह मुकम्मिल या सोलह आने सच्चा नकशा नही है। अगर बीच मे कोई ऐसा लबा ज़माना आया होता, जब घोर जडता या गतिहीनता छा गई होती, तो बहुत मुमकिन है कि इसका नतीजा यह होता कि गुज़रे हुए ज़माने से हमारा ताल्लुक बिलकुल टूट गया होता, एक युग का अत हो जाता और उसके खडहरो पर कोई नई चीज़ तामीर हो गई होती। इस तरह का बिलगाव कभी नहीं हुआ और यकीनी तौर पर एक सिलसिला जारी है। साथ ही समय-समय पर पुनर्जाग्रति की कौंधें उठी हैं और इनमे से कुछ बडी चमकदार और देर तक बनी रहनेवाली रही हैं। सदा इस बात की कोशिश दिखाई दी है कि नये का समन्वय पुराने से किया जाय, कम-से-कम पुराने के उन हिस्सो मे, जो इस लायक हैं कि उनकी हिफाज़त की जाय। अकसर वह जो पुराना दिखता है, महज़ बाहरी रूपरेखा मे पुराना है, एक तरह का प्रतीक है और भीतरी वस्तु बदल गई है। कोई प्रेरणा ऐसी बनी रही है, जो लोगो को ऐसी वस्तु के पीछे ले जाती रही है, जिसे हासिल करना बाकी है और जो हमेशा नये और पुराने के बीच समन्वय कायम करने की कोशिश मे रही है। यही प्रेरणा और ख्वाहिश थी, जो उन्हें आगे बढाती रही और उन्हे इस काबिल बनाती रही कि पुराने विचारो को न छोडते हुए भी नये विचारो

को अपना सके। जीते-जागते और जिंदगी मे भरे-पूरे, या कभी-कभी परेशान नींद की बडबडाहट-जैसी इन युगो मे क्या कोई ऐसी चीज रही है, जिसे हिंदुस्तान का स्वप्न कहा जा सके, मै नही जानता। हर एक जाति और हर एक कौम के लोगो का अपने होनहार के मुताल्लिक कोई विश्वास या कल्पना रही है, और शायद हर एक मे यह विश्वास कुछ हद तक उसके हक मे सच्चा भी है। हिंदुस्तानी होने के नाते खुद मुझ पर इस कल्पना या असलियत का प्रभाव रहा है कि हिंदुस्तान को किसी एक मकसद को पूरा करना है। मैं समझता हू कि जिस वस्तु मे सैकडो पीढियो को निरतर ढालने की शक्ति रही है, उसने अपनी यह कायम रहनेवाली शक्ति, शक्ति के किसी गहरे कुए से हासिल की होगी और उसमे यह सामर्थ्य होगी कि इसे हर युग मे नई कर ले।

क्या शक्ति का ऐसा कोई कुआ है ? और अगर है, तो क्या वह सूख चुका है, या उसमे ऐसे छिपे हुए सोते है, जिनसे वह अपने को बराबर भरता रहता है ? आज का क्या हाल है ? क्या कोई सोते अब भी जारी हैं, जिनसे अपने को तरो-ताजा किया जा सके और नई ताकत हासिल की जा सके ? हमारी कौम एक पुरानी कौम है, या यो कहिये कि बहुत-सी कौमो का एक अजीब मजमुआ है और हमारी कौमी यादें हमे उस जमाने तक पहुचाती हैं, जबकि इतिहास का आरभ हुआ था। क्या हमारा वक्त पूरा हो चुका और हम अपने वजूद की शाम तक पहुच गए है और किसी तरह चैन और नींद हासिल हो, इस ख्वाहिश मे बुड्ढो, अपाहिजो और रचना-शक्ति-हीन लोगो की तरह वक्त टेरते जा रहे है ?

कोई कौम, कोई जाति ऐसी नही, जो तबदील न होती रहती हो। बराबर वह औरो मे घुलती-मिलती और बदलती रहती है। ऐसा हो सकता है कि वह करीब-करीब मुर्दा दिखाई दे, और फिर इस तरह उठ खडी हो, जैसे कोई नई जाति, या पुरानी का नया रूप हो। पुराने और नये लोगो मे बिलकुल ताल्लुक टूट सकता है या यह भी हो सकता है कि विचार और आदर्शो की नई और मजबूत कडिया उन्हें जोडती रहे।

इतिहास मे न जाने कितनी ऐसी मिसालें हैं कि पुरानी और अच्छी तरह से कायम तहजीबे रफ्ता-रफ्ता या यकायक मिट गई हैं और उनकी जगह नई और शक्तिशाली सस्कृतियो ने ले ली है। या यह कोई जीवनी-शक्ति है, ताकत का कोई भीतरी सोता है, जो किसी तहजीब या कौम को जिंदगी देता रहता है और जिसके बगैर सारी कोशिशे बेकार हैं और ऐसी है, जैसे कोई बुड्ढा आदमी किसी युवक का अभिनय कर रहा हो।

आज की दुनिया के लोगो मे मैंने तीन मे इस जीवनी-शक्ति का अनुमान किया है—अमरीकी, रूसी और चीनी लोगों मे, और इनका एक अजीब मेल है। अमरीका के लोग, बावजूद इसके कि उनकी जड़ें पुरानी दुनिया मे मिलती हैं, नये लोग हैं और उनकी नई कौम है और इसमे शक नही कि वे पुरानी कौमो के बोझो और जटिल विचारो से बचे हुए हैं और उनका हद दर्जे का उत्साह आसानी से समझ मे आ जाता है। कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलेंड के लोगो की भी यही दशा है। वे सभी बहुत-कुछ पुरानी दुनिया से अलग-थलग हैं और एक नई ज़िदगी उनके सामने है।

रूसी नये लोग नही हैं, फिर भी उन्होंने बीते हुए युग से पूरी तरह से अपना नाता तोड लिया है, उसी तरह, जैसे मौत नाता तोड देती है। उनका नया जन्म हुआ है—इस रूप मे कि उसकी इतिहास मे कोई मिसाल नही। रूसी फिर जवान हो गए हैं और उनमे एक अद्भुत शक्ति और स्फूर्ति आ गई है। वे अपनी कुछ पुरानी जडो को खोजने लगे है, लेकिन व्यवहार की दृष्टि से वे नये लोग है और उनकी एक नई कौम और एक नई तहज़ीब है।

रूस की मिसाल यह दिखाती है कि अगर कोई कौम पूरी-पूरी कीमत चुकाने के लिए और जनता की दबी हुई ताकत को उकसाने के लिए तैयार हो, तो वह किस तरह फिर से अपने मे नई शक्ति पैदा कर सकती है। बावजूद उसकी भयानकता और डरावनेपन के, शायद इस युद्ध का यह नतीजा हो कि जो जातिया विनाश से बच सकें, वे नई ज़िदगी हासिल कर ले।

चीनी लोग इन सबसे अलग हैं। उनकी कोई नई कौम नही, न उन्हें ऊपर से लेकर नीचे तक परिवर्तन का धक्का सहना पडा है। यह सही है कि सात साल की खूख्वार लडाई ने उन्हें बदल दिया है। कहातक यह इस युद्ध का नतीजा है या दूसरे स्थायी कारणो का या दोनो का मिला-जुला हुआ, मैं नही जानता। लेकिन चीनी लोगो की जीवनी-शक्ति मुझे हैरत मे डाल देती है। मैं इस बात की कल्पना नही कर सकता कि कोई कौम, जिसकी नीव इतनी मज़बूत हो, मर सकती है।

जो जीवनी-शक्ति मैंने चीन मे देखी, वैसी ही कुछ मैंने कभी-कभी हिंदुस्तान के लोगो मे महसूस की है। ऐसा हमेशा नही हुआ है, और हर हालत मे मेरे लिए तटस्थ होकर विचार करना मुश्किल है। शायद मेरी ख्वाहिशें मेरे विचारो को टेढी-मेढी शक्ल दे देती हैं, लेकिन हिंदुस्तान के लोगो के बीच घूमते फिरते हुए मैं बराबर इस चीज़ की तलाश मे रहा हू। अगर हिंदुस्तानियो मे यह जीवनी-शक्ति है, तो उनका कुछ नही बिगडा है,

वे अपना काम पूरा करके रहेंगे। अगर उनमे इसकी कमी है, तो हमारी सारी राजनैतिक कोशिशें और हगामे महज अपने को भुलावे मे डालनेवाली चीजे है और ये हमे बहुत दूर न ले जा सकेंगी। मेरी दिलचस्पी इस बात मे नही है कि हम कोई ऐसी राजनैतिक व्यवस्था पैदा करें, जिससे हम लोग अपना काम, कमो-बेश पहले-जैसा, महज कुछ ज्यादा अच्छी तरह चला सके। मैंने अनुभव किया है कि हमारे लोगो मे एक दबी हुई शक्ति और योग्यता का बड़ा भडार है और मैं चाहता हू कि यह खुल जाये और हिंदुस्तानी अपने में नये जोश और नई फुर्ती का अनुभव करे। हिंदुस्तान ऐसा मुल्क है कि वह दुनिया मे दूसरे दर्जे का काम नही कर सकता। या तो वह बहुत बडा काम करेगा, या उसकी कोई पूछ न होगी। बीच की कोई हालत मेरे लिए कशिश नही रखती। न मैं यही समझता हू कि बीच की कोई हालत अमली सूरत रख सकती है।

हिंदुस्तान की आजादी के लिए पिछली चौथाई सदी की लडाई और अग्रेजी सरकार से मोर्चा लेने मे मेरे मन मे और बहुत-से और लोगो के मन मे जो ख्वाहिश रही है, वह इसकी जीवनी-शक्ति को फिर से जगाने की ख्वाहिश रही है। हमने समझा कि कोशिशो और खुशी-खुशी उठाई गई तकलीफों और कुरबानियो के जरिये, खतरे और जोखिम का सामना करते हुए, जिस बात को हम बुरी और बेजा समझते हैं, उसे बरदाश्त करने से इन्कार करके, हम हिंदुस्तान मे उत्साह पैदा करेंगे और उसे लबी नीद से जगायेंगे। अगरचे हम हिंदुस्तान की अग्रेजी हुकूमत मे बराबर मोर्चा लेते रहे, हमारी आखें हमेशा अपने लोगो की तरफ रही हैं। राजनैतिक नफे की कीमत इससे ज्यादा न थी कि वह हमारे इस खास मकसद को पूरा कर सके। चूकि यह मकसद हमारे सामने रहा, हम अकसर सियासी मैदान मे इस तरह पेश आते रहे, जिस तरह कोई भी कूटनीति तक अपने को महदूद रखनेवाला राजनीतिज्ञ पेश नही आ सकता। और विदेशी और हिंदुस्तानी आलोचक हमारी जिद और हमारी बेवकूफी के तरीको पर ताज्जुब करते रहे। हम लोगो ने बेवकूफी की या नही, यह तो आगे का इतिहास ही बता सकेगा। हमने अपने मकसदो को ऊचा रखा और हमारी निगाह दूर की चीजो पर बनी रही। अगर मौके से फायदा उठानेवाली कूटनीति की नजर से देखा जाय, तो शायद हमने अकसर बेवकूफिया की, लेकिन हमने अपनी आखो के आगे से अपने खास मकसद को ओझल न होने दिया और हमारा यह मकसद सारे हिंदुस्तान के लोगो को, उनकी चेतना और आत्मा को, जगाना था और यकीनी तौर पर उन्हे अपनी गुलामी और गरीबी की हालत से आगाह करना

था। दरअसल हमारा मकसद उनमें एक अंदरूनी ताकत पैदा करना था—यह जानते हुए कि और बातें खुद-ब-खुद आ जायेंगी। हमें पीढ़ियों की गुलामी और एक मगरूर विदेशी ताकत की अधीनता को मिटा देना था।

४ : हिंदुस्तान की खोज

अगरचे किताबों और पुराने स्मारकों और गुजरे हुए ज़माने के सांस्कृतिक कारनामों ने हिंदुस्तान की कुछ जानकारी मुझमें पैदा की, फिर भी उनसे मेरा सतोष न हुआ और जिस बात की मुझे तलाश थी, उसका पता न चला। और वह उनसे मिल भी कैसे सकता था, क्योंकि उसका ताल्लुक गुज़रे हुए ज़माने से था और मैं यह जानने की कोशिश में था कि आया उस गुज़रे हुए ज़माने का हाल के ज़माने से कोई सच्चा ताल्लुक है भी या नहीं ? मेरे लिए और मेरे-जैसे बहुतों के लिए जमाना हाल कुछ ऐसा था, जिसमें मध्य-युग की बातों की, हद दर्जे की गरीबी और दुख की और बीच के वर्गों की कुछ हद तक सतही आधुनिकता की, एक अजीब खिचड़ी थी। मैं अपने-जैसे या अपने वर्ग के लोगों को सराहनेवाला नहीं था, लेकिन मुझे उम्मीद थी कि हो-न-हो, वही हिंदुस्तान की हिफाजत की लड़ाई में आगे आयेंगे। बीच का वर्ग अपने को कैद और जकड़ा हुआ पाता था और खुद बढ़ना और तरक्की करना चाहता था। और चूंकि अंग्रेज़ी हुकूमत के चौखटे में गिरफ्तार रहते हुए उसके लिए ऐसा करना मुमकिन न था, इस हुकूमत के खिलाफ उसमें बगावत का एक जज्बा पैदा हो गया, फिर भी यह जज्बा उस ढड्ढे के खिलाफ नहीं था, जो हमें पीछे डाल रहा था। दरअसल यह महज़ अंग्रेज़ी बागडोर को बदलकर, उसे कायम रखना चाहता था। यह बीच का वर्ग खुद इस ढांचे की पैदावार था और इस वर्ग के लिए यह मुमकिन न था कि उसे ललकारे और उखाड़कर फेंक दे।

नई शक्तियों ने सिर उठाया और उन्होंने हमें गांवों की जनता की तरफ ढकेला और पहली बार हमारे नौजवान पढ़े-लिखों के सामने एक नये और दूसरे ही हिंदुस्तान की तस्वीर आई, जिसकी मौजूदगी को वे करीब-करीब भुला चुके थे या जिसे वह ज्यादा अहमियत नहीं देते थे। वह एक परेशान कर देनेवाला नज़्ज़ारा था, न महज़ इस खयाल से कि हमें हद दर्जे की गरीबी और उसके मसलों का बहुत बड़े पैमाने पर सामना करना था, बल्कि इसलिए भी कि उसने हमारे मूल्यांकन को और उन नतीजों को, जिन पर हम अबतक पहुंचे थे, बिलकुल पलट दिया था। इस तरह हमारे लिए असली हिंदुस्तान की खोज, शुरू हुई, और इसने जहां एक तरफ हमें बहुत-सी जानकारी हासिल कराई, दूसरी तरफ हमारे अंदर एक कश-मकश पैदा करदी। अपनी पुरानी

रहन-सहन और नजरियों के मुताबिक उनकी प्रतिक्रियाएं जुदा-जुदा थीं। कुछ लोग तो गावों की इस बड़ी जनता से पहले से काफी परिचित थे, इसलिए उनमें कोई नई सनसनी नहीं पैदा हुई, उन्होंने जैसी भी हालत थी, पहले से ही मान रखी थी। लेकिन मेरे लिए, सचमुच एक खोज की यात्रा साबित हुई, और जहां मैं अपने लोगों की कमियों और कमजोरियों को दुख के साथ समझता था, वहीं मुझे हिंदुस्तान के गावों में रहनेवालों में कुछ ऐसी विशेषता मिली, जिसका लफ्जों में बताना कठिन था और जिसने मुझे अपनी तरफ खींचा। यह विशेषता ऐसी थी, जिसका मैंने अपने यहां के बीच के वर्ग में बिल्कुल अभाव पाया था।

आम जनता को मैं आदर्शवादी रचना नहीं करता हू, और जहांतक हो सकता है, अमूर्त रूप से उसका खयाल करने से बचता हू। हिंदुस्तान की जनता इतनी विविध और विशाल होते हुए भी मेरे लिए बड़ी वास्तविक है। मैं उसका खयाल अस्पष्ट गुट्टों की शक्ल में नहीं, बल्कि व्यक्तियों के रूप में करना चाहता हू। यह हो सकता है कि चूकि उनसे मैं बड़ी उम्मीदें नहीं रखता था, इसलिए मुझे कोई मायूसी नही हुई। जितनी मैंने आशा कर रखी थी, उससे मैंने उन्हे बढ़कर ही पाया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि उनमें जो मजबूती और अदरूनी ताकतें है, उसकी वजह यह है कि वे अपनी पुरानी परपरा अब भी अपनाये हुए है। पिछले दो सौ वर्षों में उन्होंने जो चोटें खाई है, उसमे इस परपरा का बहुत-कुछ तो जा चुका है, फिर भी कुछ बच रहा है, जिसकी कीमत है, साथ ही बहुत-कुछ ऐसा है, जो बुरा और निकम्मा है।

उन्नीससौ बीस के बाद के कुछ सालो मे मेरा काम ज्यादातर अपने ही सूबे तक महदूद रहा, और मैंने सयुक्त प्रात (यू० पी०) के ४८ जिलो मे—गावो और शहरो मे—लबी यात्राए की और मैं काफी घूमा। यह सूबा बहुत जमाने से हिंदुस्तान का दिल समझा जाता रहा है और कदीम और बीच के, दोनो ही जमानो की तहजीबो का मरकज रहा है। यहा कितनी ही सस्कृतिया और कौमें आपस मे मिली-जुली हैं, यह वह प्रदेश है, जहा १८५७ मे बगावत की आग भड़की थी और जिसका बाद मे बड़ी बेरहमी से दमन हुआ था। रफ्ता-रफ्ता मेरा परिचय उत्तरी और पच्छिमी जिलो के जाटो से हुआ, जो धरती के सच्चे बेटे हैं, जो बहादुर और आजाद दिखाई देते हैं और औरो के मुकाबले मे खुशहाल हैं। राजपूत किसानो और छोटे जमीदारो से मेरी जान-पहचान हुई और मैंने जाना कि उन्हे अब भी अपनी जाति का और पुरखो का गुमान है—उन्हें भी, जिन्होंने इस्लाम मजहब

अख्तियार कर लिया है। मैंने गुनी कारीगरो और घरेलू धधो मे लगे हुए लोगो—हिंदुओ और मुसलमानो से परिचय किया, और बडी तादाद मे जानकारी हासिल की उन गरीब रियाया और किसानो मे, खासकर अवध मे और पूरबी ज़िलो मे, जो पीढियो के जुल्म और गरीबी से पिस रहे थे और जिन्हें यह उम्मीद करने की हिम्मत नही होती थी कि उनके दिन फिरेंगे, लेकिन फिर भी जो आशा लगाये बैठे थे और जिनके मन मे विश्वास था।

उन्नीससौ तीस के बाद कई सालो मे, जब-जब मैं जेल से बाहर रहा और खास तौर से १९३६-३७ के चुनाव के दौरे मे, मैं हिंदुस्तान मे और भी दूर-दूर के हिस्सो मे, शहरो, कसबो और गावो मे घूमा। बगाल के देहातो को छोडकर, जहा बदकिस्मती से मुझे जाने का बहुत कम मौका मिला, मैंने हर एक सूबे का दौरा किया और मैं गावो मे पैठा। राजनैतिक और आर्थिक मामलो के मुताल्लिक मैं बोलता और मेरी तकरीरो से यही मालूम होता कि मेरे अदर ये सब समस्याए और चुनाव की चर्चा ही भरी हुई हैं। लेकिन मेरे दिमाग के किसी कोने मे कुछ दूसरी ही गहरी और अहम बाते थी और उनका चुनाव और दूसरी वक्ती सरगरमियो से कतई ताल्लुक न था। वहा एक दूसरी ही और इससे बडी बेकरारी मुझमे पैदा हो गई थी, और हिंदुस्तान की ज़मीन और उसके लोग मेरे सामने फैले हुए थे और मैं एक बडी खोज की यात्रा पर था। हिंदुस्तान, जिसमे इतनी विविधता और मोहिनी शक्ति है, मुझ पर एक धुन की तरह सवार था और यह धुन बढती ही गई। जितना ही मैं उसे देखता था, उतना ही मुझे इस बात का अनुभव होता था कि मेरे लिए या किसीके लिए भी, जिन विचारो का वह प्रतीक था, उसे समझ पाना कितना कठिन है। उसके बडे विस्तार से या उसकी विविधता से मैं घबडाता नही था, लेकिन उसकी आत्मा की गहराई ऐसी थी, जिसकी थाह मैं न पा सकता था—अगरचे कभी-कभी उसकी झलक मुझे मिल जाती थी। यह किसी कदीम ताल-पत्र-जैसा था, जिस पर विचार और चिंतन की तहें, एक-पर-एक जमी हुई थी, और फिर भी किसी बाद की तह ने पहले मे आके हुए लेख को पूरी तरह से मिटाया न था। उनका हमे भान हो चाहे न हो, ये सब एक साथ हमारे चेतन और अचेतन दिमाग मे मौजूद हैं और ये सब मिलकर हिंदुस्तान के पेचीदा और भेद-भरे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। वह स्फिक्स-जैसा चेहरा, अपनी भेद-भरी और कभी-कभी व्यग्य-भरी मुस्कराहट के साथ सारे हिंदुस्तान मे दिखाई देता था। अगरचे ऊपरी ढग से हमारे देश के लोगो मे विविधता और विभिन्नता दिखाई देती थी, लेकिन सभी जगह वह समानता और एकरूपता भी मिलती थी, जिसने हमारे दिन

चाहे जैसे बीते हों, हमें एक साथ रखा। हिंदुस्तान की एकता मेरे लिए अब एक खयाली बात न रह गई। यह एक अंदरूनी एहसास था और मैं इसके वश में आ गया। यह एकता ऐसी मजबूत थी कि किसी राजनैतिक बिलगाव ने, किसी संकट या आफत ने, उसमें फर्क न आने दिया।

हिंदुस्तान या किसी भी मुल्क का खयाल आदमी के रूप में करना एक फिजूल-सी बात थी। मैंने ऐसा नहीं किया। मैं यह भी जानता था कि हिंदुस्तान की जिंदगी में कितनी विविधता है और उसमें कितने वर्ग, कौमें, धर्म और वंश हैं और सांस्कृतिक विकास की कितनी अलग-अलग सीढ़ियां हैं। फिर भी मैं समझता हूं, किसी देश में, जिसके पीछे इतना लंबा इतिहास हो और जिंदगी की जानिब जहां एक आम नजरिया हो, वहां एक ऐसी भावना पैदा हो जाती है, जो और भेदों के रहते हुए भी समान रूप से वहां रहनेवालों पर अपनी छाप लगा देती है। इस तरह की बात क्या चीन में किसीसे छिप सकती है, वह चाहे किसी दकियानूसी अधिकारी से मिले, चाहे किसी कम्युनिस्ट से, जिसने गुजरे जमाने से अपना ताल्लुक तोड़ रखा है? हिंदुस्तान की इस आत्मा की खोज में मैं लगा रहा—कुतूहलवश नहीं—अगरचे कुतूहल यकीनी तौर पर मौजूद था—बल्कि इसलिए कि मैं समझता था कि इसके जरिये मुझे अपने मुल्क और मुल्क के लोगों को समझने की कोई कुंजी मिल जायेगी और विचार और काम के लिए कोई धागा हाथ लग जायेगा। राजनीति और चुनाव की रोजमर्रा की बातें ऐसी हैं, जिनमें हम जरा-जरा से मामलों पर उत्तेजित हो जाते हैं। लेकिन अगर हम हिंदुस्तान के भविष्य की इमारत तैयार करना चाहते हैं, जो मजबूत और खूबसूरत हो, तो हमें गहरी नींव खोदनी पड़ेगी।

५ : भारत माता

अकसर जब मैं एक जलसे से दूसरे जलसे में जाता होता, और इस तरह चक्कर काटता रहता होता था, तो इन जलसों में मैं अपने सुननेवालों से अपने इस हिंदुस्तान या भारत की चर्चा करता। भारत एक संस्कृत शब्द है और इस जाति के परंपरागत संस्थापक के नाम से निकला हुआ है। मैं शहरों में ऐसा बहुत कम करता, क्योंकि वहां के सुननेवाले कुछ ज्यादा सयाने थे और उन्हें दूसरे ही किस्म की गिजा की जरूरत थी। लेकिन किसानों से, जिनका नजरिया महदूद था, मैं इस बड़े देश की चर्चा करता, जिसकी आजादी के लिए हम लोग कोशिश कर रहे थे और बताता कि किस तरह देश का एक हिस्सा दूसरे से जुदा होते हुए भी हिंदुस्तान एक था। मैं उन मसलों का जिक्र करता, जो उत्तर से लेकर दक्खिन तक और पूरब से लेकर पच्छिम तक,

किसानो के लिए यक-सा थे, और स्वराज्य का भी ज़िक्र करता, जो थोडे लोगो के लिए नही, बल्कि सभी के फायदे के लिए हो सकता था। मैं उत्तर-पच्छिम मे खैवर के दर्रे से लेकर धुर दक्खिन मे कन्याकुमारी तक की अपनी यात्रा का हाल बताता और यह कहता कि सभी जगह किसान मुझसे एक-से सवाल करते, क्योंकि उनकी तकलीफे एक-सी थीं—यानी गरीबी, कर्ज़, पूजीपतियो के शिकजे, ज़मीदार, महाजन, कडे लगान और सूद, पुलिस के जुल्म, और ये सभी बाते गुथी हुई थी, उस ढड्ढे के साथ, जिसे एक विदेशी सरकार ने हम पर लाद रखा था और इनसे छुटकारा भी सभी को हासिल करना था। मैंने इस बात की कोशिश की कि लोग सारे हिंदुस्तान के बारे मे सोचे और कुछ हद तक इस बडी दुनिया के बारे मे भी, जिसके हम एक जुज़ हैं। मैं अपनी बातचीत मे चीन-स्पेन, अबीसिनिया, मध्य-यूरोप, मिस्र और पच्छिमी एशिया मे होनेवाली कश-मकशो का ज़िक्र भी ले आता। मैं उन्हे सोवियत यूनियन मे होनेवाली अचरज-भरी तबदीलियो का हाल भी बताता और कहता कि अमरीका ने कैसी तरक्की की है। यह काम आसान न था, लेकिन जैसा मैंने समझ रखा था, वैसा मुश्किल भी न था। इसकी वजह यह थी कि हमारे पुराने महाकाव्यो ने और पुराणो की कथा-कहानियो ने, जिन्हे वे खूब जानते थे, उन्हे इस देश की कल्पना करा दी थी, और हमेशा कुछ लोग ऐसे मिल जाते थे, जिन्होंने हमारे बडे-बडे तीर्थों की यात्रा कर रखी थी, जो हिंदुस्तान के चारो कोनो पर है। या हमे पुराने सिपाही मिल जाते, जिन्होने पिछली बडी जग मे या और धावो के सिलसिले मे विदेशो मे नौक-रिया की थी। सन तीस के बाद जो आर्थिक मदी पैदा हुई थी, उसकी वजह से दूसरे मुल्को के बारे मे मेरे हवाले उनकी समझ मे आ जाते थे।

कभी ऐसा भी होता कि जब मैं किसी जलसे मे पहुचता, तो मेरा स्वागत "भारत माता की जय!" इस नारे से ज़ोर के साथ किया जाता। मैं लोगो से अचानक पूछ बैठता कि इस नारे से उनका क्या मतलब है? यह भारत माता कौन है, जिसकी वे जय चाहते हैं। मेरे सवाल से उन्हें कुतूहल और ताज्जुब होता और और कुछ जवाब न बन पडने पर वे एक-दूसरे की तरफ या मेरी तरफ देखने लग जाते। मैं सवाल करता ही रहता। आखिर एक हट्टे-कट्टे जाट ने, जो अनगिनत पीढियो से किसानी करता आया था, जवाब दिया कि भारत माता से उनका मतलब धरती से है। कौनसी धरती? खास उनके गाव की धरती, या ज़िले की या सूबे की, या सारे हिंदुस्तान की धरती से उनका मतलब है? इस तरह सवाल-जवाब चलते रहते, यहानक कि वे ऊबकर मुझसे कहने लगते कि मैं ही बताऊ। मैं इसकी कोशिश करता और बताता

कि हिंदुस्तान वह सब कुछ है, जिसे उन्होंने समझ रखा है, लेकिन वह इससे भी बहुत ज्यादा है। हिंदुस्तान के नदी और पहाड, जगल और खेत, जो हमे अन्न देते है, ये सभी हमे अजीज है। लेकिन आखिरकार जिनकी गिनती है, वे है हिंदुस्तान के लोग, उनके और मेरे-जैसे लोग, जो इस सारे देश मे फैले हुए है। भारत माता दरअसल यही करोडो लोग है, और "भारत माता की जय!" से मतलब हुआ इन लोगो की जय का। मैं उनसे कहता कि तुम इस भारत माता के अश हो, एक तरह से तुम ही भारत माता हो, और जैसे-जैसे ये विचार उनके मन मे बठते, उनकी आखो मे चमक आ जाती, इस तरह, मानो उन्होने कोई वडी खोज कर ली हो।

६ : हिंदुस्तान की विविधता और एकता

हिंदुस्तान मे अपार विविधता है, यह जाहिर-सी चीज है, यह इस तरह सतह पर है कि कोई भी इसे देख सकता है। इसका ताल्लुक उन भौतिक चीजो से भी है, जिन्हे हम ऊपर-ऊपर देखते है और कुछ दिमागी आदतो और स्वभाव से भी है। बाहरी ढग से देखें, तो उत्तर-पच्छिम के पठान मे और धुर दक्खिन के तमिल मे बहुत कम ऐसी बाते है, जो आपस मे समान कही जायेंगी। नस्ल के लिहाज से ये जुदा-जुदा है, अगरचे हो सकता है कि दोनो के दरम्यान कुछ ऐसे धागे हो, जो एक-दूसरे को जोड रहे हो, सूरत-शक्ल मे, खाने-पीने और पोशाक मे ये जुदा-जुदा है और भाषा मे तो है ही। उत्तर-पच्छिम के सरहदी सूबे मे मध्य-एशिया की हवा पहुची हुई है, और यहा के रीति-रिवाज हमे हिमालय के परली तरफ के मुल्को की याद दिलाते हैं। पठानो के देहाती नाचो मे और रूस के कज्जाको के नाचो मे अद्भुत समानता है। लेकिन इन भेदो के रहते हुए भी इस बात मे शक नही हो सकता कि पठान पर हिंदुस्तान की छाप है, उसी तरह, जिस तरह कि हम तमिळ पर यह छाप साफ तौर पर देखते है। इसमे अचरज की कोई बात नही, क्योकि यह सरहदी देश और सच पूछिये, तो अफगानिस्तान भी, हजारो बरस तक हिंदुस्तान से मिले रहे हैं। अफगानिस्तान मे बसनेवाली पुरानी तुर्की कौमे इस्लाम के आने से पहले ज्यादातर बौद्ध थी, और उससे पहले भी रामायण और महाभारत के जमाने मे हिंदू थी। सरहदी प्रदेश पुरानी हिंदुस्तानी तहजीब का एक केंद्र था और आज भी न जाने कितने मठो और इमारतो के खडहर हमे वहा दिखाई देते हैं, खास तौर से तक्षशिला के विश्वविद्यालय के, जो दो हजार बरस पहले मशहूर हो चुका था, और जहा हिंदुस्तान-भर से और मध्य-एशिया से भी विद्यार्थी पढने आते थे। धर्म की तबदीली ने फर्क जरूर पैदा किया था,

लेकिन उस हिस्से के लोगो की जो मानसिक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, उसे बदलने मे वह नाकामयाब रही।

पठान और तमिळ, दो अलग-अलग सिरो की मिसाले हैं। और लोग इनके बीच मे आते है। सभी के रूप जुदा हैं, लेकिन जो बात सबसे बढकर है, वह यह है कि सभी पर हिंदुस्तान की अपनी छाप है। यह एक दिलचस्प बात है कि बगाली, मराठा, गुजराती, तमिळ, आध्र, उडिया, असमी, कन्नड, मलयाली, सिंधी, पजाबी, पठान, काश्मीरी, राजपूत और बीच के लोगो का एक बडा टुकडा, जो हिंदुस्तानी भाषा बोलता है—इन सबने, सैंकडो वर्षों से अपनी खासियते कायम रखी हैं, और अब भी उनमे वही गुण या दोष मिलते है, जिनका पता परपरा और पुराने लेखों से मिलता है। फिर भी इन युगो मे वे बराबर हिंदुस्तानी बने रहे हैं, कौमी वपौती के रूप मे उन्हे जो कुछ हासिल है और उनके आचार-विचार के आदर्श एक-से हैं। इस वपौती मे कुछ ऐसी जीती-जागती बात है, जिसका पता हमे जिंदगी के मसलो की तरफ उनके फिलसफे से लगता है। पुराने चीन की तरह पुराना हिंदुस्तान एक अलग दुनिया थी। वहा को सस्कृति और तहजीब हर चीज को एक खास शक्ल दे देती थी। विदेशी प्रभाव आते और अकसर इस तहजीब पर अपना असर डाल्ते थे और बाद मे उसीमे समा जाते थे। जहा फूट की प्रवृत्तिया दिखाई दी, वहा समन्वय की कोशिश होने लगती थी। सभ्यता के उषा-काल से लेकर आजतक, हिंदुस्तान के दिमाग मे एकता का एक स्वप्न बराबर रहा है। इस एकता की कल्पना इस तरह से नही की गई कि मानो वह बाहर से लागू की गई चीज हो, या बाहरी बातो या विश्वासो तक मे एक-रूपता आ जाय। यह कुछ और ही गहरी चीज थी, इसके दायरे के भीतर रीति-रिवाजो और विश्वासो की तरफ ज्यादा-से-ज्यादा सहिष्णुता बरती गई है और उनके सभी अलग-अलग रूपों को कुबूल किया गया है और उन्हे बढावा दिया गया है।

एक कौम के लोगो के अदर भी, वे आपस मे चाहे जितने नजदीक क्यो न हों, छोटे या बडे भेद हमेशा देखने को मिल सकते हैं। किसी गिरोह की एकता का अदाज तब होता है, जब हम उसका मुकाबला दूसरे कौमी गिरोह से करते हैं। अगर दो गिरोह पास-पास के देशो के हुए, तो सरहदी हिस्सो मे उनके भेद-भाव कम और नही के बराबर मालूम देते है। यो भी इस ज़माने मे कौमियत का यह खयाल, जिससे हम परिचित हैं, मौजूद न था। जागीरदारी, धर्म, जाति और सस्कृति के रिश्तो को ज्यादा महत्त्व दिया जाता था। फिर भी मैं समझता हू कि हिंदुस्तान के किसी भी ज़माने मे, जिसका इतिहास

कलमवद हो चुका है, एक हिंदुस्तानी अपने को हिंदुस्तान के किसी भी हिस्से मे अजनबी न समझता, और वही हिंदुस्तानी किसी भी दूसरे मुल्क मे अपने को अजनबी और विदेशी महसूस करता, हा, यकीनी तौर पर वह अपने को उन मुल्को मे कम अजनबी पाता, जिन्होने उनकी तहजीब और धर्म को अपना लिया था। हिंदुस्तान से बाहर के मुल्को मे शुरू होनेवाले मजहबो के अनुयायी हिंदुस्तान मे आने और यहा पर बसने के कुछ पीढियो के भीतर साफ तौर पर हिंदुस्तानी बन जाते थे, जैसे ईसाई, यहूदी, पारसी और मुसलमान। ऐसे हिंदुस्तानी, जिन्होने इनमे से किसी एक मजहब को कुबूल कर लिया, एक क्षण के लिए भी इस धर्म-परिवर्तन के कारण ग़ैर-हिंदुस्तानी नही हुए। दूसरे मुल्को मे इन्हे हिंदुस्तानी और विदेशी समझा जाता रहा, चाहे इनका धर्म वही रहा हो, जो इन दूसरे मुल्कवालो का था।

आज भी, जबकि कौमियत का खयाल बहुत बदल गया और तरक्की कर गया है, विदेशो मे हिंदुस्तानियो का गिरोह एक अलग गिरोह समझा जाता है और अपने भीतरी भेदो के बावजूद उन्हे एक गिना जाता है। हिंदुस्तानी ईसाई चाहे जहा जाय, हिंदुस्तानी ही समझा जाता है, और हिंदुस्तानी मुसलमान चाहे तुर्की मे हो, चाहे ईरान और अरब मे, सभी मुसलमानी मुल्को मे वह हिंदुस्तानी ही समझा जाता है।

मैं समझता हू कि हममे से सभी ने अपनी जन्मभूमि की अलग-अलग तस्वीर बना रखी होगी और कोई दो आदमी एक-सा विचार न रखते होंगे। जब मैं हिंदुस्तान के बारे मे सोचता हू, तो कई बातो का ध्यान आता है—दूर तक फैले हुए मैदानो का, जिन पर अनगिनत छोटे-छोटे गाव बसे हुए हैं, उन शहरो और कसबो का, जहा मैं हो आया हू, बरसात के मौसम के जादू का, जो सूखे और जले हुए मैदानो मे जिंदगी बिखेरता है और उन्हें अचानक हरियाली और सौंदर्य का और बडी और जोर-शोर से बहनेवाली नदियों का प्रदेश बना देता है, खैबर के सुनसान दर्रे का, हिंदुस्तान के दक्खिनी छोर का और सबसे बढकर, बर्फ से ढके हुए हिमालय का, या काश्मीर में बसत ऋतु मे किसी पहाडी घाटी का, जिसमे नये-नये फूल फूल रहे हैं और जिसमे पानी के सोते फूटकर गुनगुना रहे है। हम लोग अपने पसद की तस्वीरे बनाते है और उनकी हिफाजत करते है। इसलिए बजाय गरम मैदानी हिस्सो के, जो ज्यादा आम हैं, मैंने पहाडो मजर पसद किया है। दोनो तस्वीरें ठीक हैं, क्योकि हिंदुस्तान उष्ण कटिबध से लेकर समशीतोष्ण कटिबध तक और भूमध्य-रेखा से लेकर एशिया के ठडे प्रदेश तक फैला है।

७ : हिंदुस्तान की यात्रा

सन १९३६ के आखिर और १९३७ के शुरू के महीनो मे मेरी यात्रा की गति बढी ही नही, बल्कि प्रचड हो गई। इस बडे मुल्क मे, रात-दिन सफर करते हुए, मैंने तूफान की तरह चक्कर लगाया। बराबर चलता ही रहता था, मुश्किल से कही ठहरता, मुश्किल से दम मारता। सभी तरफ से जरूरी बुलावे थे, और वक्त थोडा था, क्योकि आम चुनाव के दिन सिर पर थे और मैं दूसरो के चुनावो को जिता देनेवाला खयाल किया जाता था। मैंने ज्यादा-तर मोटर से और कभी-कभी हवाई जहाज और रेल से सफर किया। कभी-कभी थोडा रास्ता तय करने के लिए मैंने हाथी, ऊट या घोडे की भी सवारी की, या अगनबोट, नाव या डोगी की मदद ली या बाइसिकिल पर सवार हुआ या पैदल भी चल पडा। यात्रा के ये जुदा-जुदा और अनोखे साधन बड़े यात्रा-मार्गों से हटकर देश मे पैठने के लिए अकसर जरूरी हो जाते हैं। मैं माइक्रोफोन और लाउड-स्पीकर, इन यत्रो के दोहरे सैट साथ मे रखता था। उनके बिना बडे-बडे मजमो मे बोलना, या अपनी आवाज की हिफाजत कर सकना ग़ैर-मुमकिन हो जाता। ये माइक्रोफोन मेरे साथ-साथ न जाने कितनी अनोखी जगहो मे घूमे है—तिब्बत की सीमा से लेकर बलूचिस्तान की सीमा तक—जहा इस तरह की कोई चीज इससे पहले देखी या सुनी नहीं गई थी।

सवेरे से लेकर रात में देर तक, एक जगह से दूसरी जगह तक, मेरी यात्रा का सिलसिला चलता रहता और बडे-बडे मजमे मेरे इतजार मे इकट्ठा होते, और इन मजमो के बीच मे भी मुझे रुकना पडता, क्योकि मेरा स्वागत करने के लिए किसान लोग देर से आसरा लगाये खडे होते थे। चूकि मुझे इनकी पहले से खबर न होती, इसलिए मेरा सारा प्रोग्राम अस्त-व्यस्त हो जाता, और बाद को, जहा सभाओ का निश्चय हुआ होता, वहा मैं देर से पहुच पाता। फिर भी यह मेरे लिए कैसे मुमकिन था कि इन ग़रीबो की परवा न करके मैं आगे बढ जाऊ ? इस तरह देर-पर-देर होती रहती। खुले मैदानो में जो सभाए होती, उनमे बीच तक पहुचने मे कई मिनट लग जाया करते। एक-एक मिनट की गिनती करना जरूरी था, और ये मिनट इकट्ठा होकर घटो ले लेते। इस तरह जब शाम होने को आती, तो मैं घटो पिछडा हुआ होता। लेकिन भीड सब्र के साथ इतजार करती होती, गोकि जाड़े के दिन थे और बिना काफी कपडो के लोग खुले मैदानो मे इतजार करते हुए काप जाते थे। इस तरह से हमारा दिन का प्रोग्राम कभी-कभी १८ घटो का हो जाता और दिन का सफर अकसर आधी रात या इसके बाद

खत्म होता। एक बार कर्नाटक मे बीच फरवरी मे यह हालत अपनी हद को पार कर गई। हमने अपना रिकार्ड तोड़ दिया। दिन का प्रोग्राम भारी था, और हमे एक बडे रमणीक पहाडी जगल से होकर गुज़रना था। वहा की सडकें बहुत अच्छी न थी और उन पर तेजी से सफर कर सकना मुमकिन न था। आधी दर्जन तो बडी-बडी सभाओ मे जाना था और बहुतेरी छोटी-छोटी सभाए थी। आठ बजे सवेरे से हमारा कार्यक्रम शुरू हुआ। हमारी आखिरी सभा चार बजे सवेरे हो पाई। इसे सात घटे पहले खत्म हो जाना चाहिए था और इसके बाद हमे ७० मील की यात्रा करके उस जगह पहुचना था, जहा हमारे आराम करने का इंतज़ाम था। हम ७ बजे वहा पहुच पाये। रात-दिन मे, न जाने कितनी सभाए करने के अलावा हमने ४१५ मील तय किये थे। दिन के काम मे २३ घटे लग गए। एक घटे के बाद दूसरे दिन का कार्यक्रम शुरू कर देना था।

किसीने यह अदाज़ लगाने की तकलीफ की थी कि इन महीनो में कोई एक करोड आदमी उन जलसो मे आये, जिनमे मैंने व्याख्यान दिए, और सडको से गुज़रते हुए और कई लाख आदमी मुझसे किसी-न-किसी रूप मे सपर्क मे आये। सबसे बडे मजमो मे एक लाख आदमी तक मौजूद होते। बीस-बीस हज़ार के जलसे तो काफी आम थे। कभी-कभी छोटे क़सबो से होकर गुज़रते हुए देखता, और यह देखकर ताज्जुब होता कि सारी दूकानें बद हैं और कसबा करीब-करीब सुनसान है। इसका भेद तब खुलता, जब मैं खुली सभा मे पहुचता, जहा कसबे की सारी आबादी, मर्द औरतें, बच्चे तक, सभी मौजूद होते और मेरे पहुचने का इतज़ार करते होते।

अपने जिस्म को कायम रखते हुए मैं यह सब कैसे कर पाया, यह अब समझ में नही आता। जिस्म की बरदाश्त करने की ताकत की यह ग़ैर-मामूली मिसाल थी। मैं समझता हू कि रफ्ता-रफ्ता जिस्म इस सैलानी जिंदगी का आदी हो गया था। दो सभाओ के बीच के वक्त मे मैं चलती मोटर मे ऐसी गहरी नीद मे सो जाता कि जगाना मुश्किल होता, लेकिन मुझे उठना ही पडता और एक बडे स्वागत करते हुए मजमे का सामना करना पडता। मैंने अपना खाना घटाकर कम-से-कम जितना हो सकता था कर दिया था। कभी-कभी एक वक्त का खाना टाल ही जाता था—खासकर शाम का, और इसकी वजह से तबीयत हलकी रहती थी। लेकिन जिस बात ने मुझे क़ायम रखा और शक्ति दी, वह थी वह मुहब्बत और उमग, जिसे मैंने सब जगह पाया। मैं इसका आदी हो गया था, फिर भी पूरी तरह

आदी न हो पाता, क्योकि रोज़ किसी-न-किसी नई अचरज की बात का अनुभव होता ही था।

८ : आम चुनाव

मेरी यात्रा खास तौर पर उस आम चुनाव के सिलसिले मे थी, जो सारे हिंदुस्तान मे होनेवाला था और जिसका वक्त नज़दीक आ रहा था। लेकिन चुनावो के साथ-साथ आमतौर पर चलनेवाले तरीको और हथकडो को मैं नही पसद करता था। जन-सत्तावाली या जमहूरी हुकूमत के लिए चुनाव ज़रूरी और लाज़िमी होता है, इसलिए इससे बचत नही हो सकती। फिर भी चुनाव बहुत अकसर इन्सान के बुरे पहलू को सामने लाते है और यह बात नही कि हमेशा ज्यादा अच्छे उम्मीदवार की ही जीत होती हो। सवेदनशील लोग और वे लोग, जो अपने को आगे बढाने के लिए बहुत-से चालू हथकडे अख्तियार नही कर सकते, घाटे मे रहते हैं, इसलिए वे इस झगडे से बचना चाहते हैं। तो क्या प्रजा-सत्ता या जमहूरियत उन्हीका मैदान है, जिनकी जिल्दें मोटी और आवाज़ें ऊची होती हैं और जिनका ईमान लचीला होता है?

चुनाव की ये बुराइया खासतौर पर वहा ज्यादा फैली होती हैं, जहा निर्वाचको का समूह छोटा होता है। अगर निर्वाचक-समूह बडा हुआ, इनमे से बहुत-सी बुराइया दूर हो जाती हैं, या कम-से-कम उतनी ज़ाहिर नही होती। किसी गलत बात को उठाकर या धर्म के नाम पर (जैसा हमनें बाद मे देखा) बडे-से-बडे निर्वाचक-समूह के बहक जाने की सभावना होती है, लेकिन बडे निर्वाचक-समूह मे बहुत-सी सतुलन करनेवाली बातें होती हैं, जिनकी वजह से भद्दे ढग की बुराइया कम हो जाती हैं। मेरे तजुरबे ने मेरे इस यकीन को मज़बूत कर दिया है कि मताधिकार व्यापक-से-व्यापक होना अच्छा होता है। इस बडे निर्वाचक-समूह मे मेरा उस महदूद निर्वाचक-समूह के मुकाबले मे ज्यादा यकीन है, जो हैसियत या शिक्षा की बुनियाद पर तैयार किया जाता है। हैसियत का आधार हर हालत मे बुरा है। जहा तक तालीम का आधार है, यह ज़ाहिर है कि तालीम अच्छी और ज़रूरी चीज़ है। लेकिन हरूफ पहचान लेनेवाले या थोडे पढे आदमी मे मैंने कोई ऐसी बात नही पाई है, जिससे उसकी राय को, एक अनपढ मगर आम समझ रखनेवाले किसान की राय पर तरजीह दी जाय। हर हालत मे, जबकि खास सवाल किसानो से ताल्लुक रखते हैं, तब उनकी राय ज्यादा महत्त्व की होगी। मेरा यकीन है कि सभी बालिगो को, वे मर्द हो या औरत, चुनने के अख्तियार होने चाहिए, और अगरचे मैं समझता हू कि इस रास्ते मे

दिखाती है, फिर भी मुझे यकीन है कि उसके सिवाय हिंदुस्तान में जो आवाज बुलन्द की जाती है, उसमें ज्यादा दम नहीं और उसके पीछे उन लोगों का हाथ है, जिनका स्वार्थ इसमें शामिल है।

१९३७ का सूबे की असेंबलियों के लिए चुनाव इस सीमित मताधिकार की बिनाह पर हुआ था और आम जनता में कुल १२ फी सदी लोगों को चुनाव का अधिकार मिला था। लेकिन इसे भी पिछले चुनावों के मुक़ाबले में बड़ी बात ही समझना चाहिए और रियासतों को अलग कर दिया जाय, तो तीन करोड़ लोगों को मत देने का हक़ हासिल था। इन चुनावों का क्षेत्र बहुत बड़ा था और रियासतों को छोड़कर सारे हिंदुस्तान में फैला था। हर एक सूबे को अपनी असेंबली या विधान-सभा के लिए चुनाव करना था और ज्यादातर सूबों में दो सदन थे, इसलिए दोहरे चुनाव होते थे। उम्मीद-वारों की तादाद कई हज़ार तक पहुंच गई थी।

इन चुनावों की तरफ मेरा और कुछ हद तक ज्यादातर कांग्रेस वालों का नज़रिया आम नजरिये से जुदा था। मैं खासगी तौर पर उम्मीदवारों की फिक्र नहीं करता था, बल्कि सारे मुल्क में ऐसी फिज़ा करना चाहता था कि जो हमारे आज़ादी के इस राष्ट्रीय आंदोलन के माफिक हो, जिसकी कांग्रेस प्रतिनिधि थी और उस कार्यक्रम की तरफदारी में हो, जिसको हमारे चुनाव के ऐलानों में बताया गया था। मैंने अनुभव किया कि अगर हम इस काम में कामयाब हुए, तो सभी बातें खुद-ब-खुद ठीक होकर रहेंगी और अगर नाकामयाब हुए, तो इससे कुछ खास फर्क नहीं पड़ता कि कोई खास उम्मीदवार हारा या जीता।

मेरा मकसद लोगों में एक खास तरह के विचार पैदा करना था। उम्मीदवारों की मैं शायद ही चर्चा करता, सिवाय इस रूप में कि वे हमारे उद्देश्यों के अलमबरदार हैं। उनमें से मैं बहुतों को जानता था, लेकिन बहुतों को मैं ज़ाती तौर पर बिलकुल नहीं जानता था और इसकी ज़रूरत नहीं समझता था कि अपने दिमाग पर हज़ारों नामों का बोझ डाला जाय। मैं कांग्रेस के नाम पर, हिंदुस्तान की आज़ादी के नाम पर और आज़ादी की लड़ाई के नाम पर वोट मांगता था। मैं कोई वादे नहीं करता था, सिवाय इसके कि जबतक आज़ादी न हासिल हो जायगी, तबतक लड़ाई बराबर जारी रहेगी। मैं लोगों से कहता था कि हमारे लिए उसी हालत में वोट दो, जब तुम हमारे मकसद और प्रोग्राम को समझ लो और उसके मुताबिक़ अमल करने को तैयार हो, नहीं तो हमें वोट न दो। हमें झूठे वोटों की ज़रू-रत नहीं थी और न महज़ इस वजह से किसीके लिए वोट चाहते थे कि

जनता उन्हे पसद करती है। वोट और चुनाव के बल पर हम बहुत आगे न बढ सकेंगे। एक लबी यात्रा के ये केवल छोटे-छोटे डग थे और हमने बताया कि बिना समझे-बूझे और वोट का महत्त्व जाने और बाद को भी काम के लिए तैयार हुए, वोट देना हमे धोखा देना होगा और मुल्क के प्रति एक झूठा अमल करना होगा। अगरचे हम चाहते थे कि अच्छे और सच्चे लोग हमारे नुमाइदे बनें, फिर भी व्यक्तियो का खास महत्त्व न था, महत्त्व था हमारे मकसद का, उस सगठन का, जिसने इस मकसद को अपनाया था और उस कौम का, जिसकी आज़ादी का हमने बीडा उठाया था। मै इस आज़ादी की व्याख्या करता और बताता कि मुल्क के करोडो लोगो पर इसका क्या असर होगा। हम गोरे रग के मालिको की जगह पर गेंहुए रग के मालिको को लाकर नही बिठाना चाहते थे। हम जनता की सच्ची हुकूमत चाहते थे, ऐसी जो जनता द्वारा और जनता के हक मे हो और जिससे हमारी गरीबी और मुसीबतें दूर हो जाय।

मेरे व्याख्यानो की यही टेक होती थी। इसी गैर-शख्सी तरीके पर मैं अपने को चुनाव के दौरे मे ठीक-ठीक बिठा पाता था। खास उम्मीदवारो की हार-जीत की मुझे ज्यादा फिक्र न थी। मुझे तो इससे बडे मामलो की फिक्र थी। सच बात तो यह है कि यह तरीका खास उम्मीदवारो की काम-याबी के महदूद नजरिये से भी ज्यादा कारगर था, क्योकि इस तरह उनके चुनाव का मसला मुल्क की आज़ादी की लडाई की ऊची सतह तक उठकर आ जाता था—उस लडाई की सतह पर, जिसमे करोडो गरीबी के मारे हुए लोग अपनी युग-युग की गरीबी का शाप मिटाने की कोशिश मे लगे थे। ये विचार बीसियो काग्रेसवालो ने प्रकट किए और ये आम लोगो तक इस तरह पहुचे, जैसे समुदर की ज़ोरदार हवा आकर हममें ताज़गी पैदा करती है। इन विचारो ने न जाने कितने चुनाव के गोरखधधो को उखाडकर फेंक दिया। मैंने अपने देशवासियो को पहचाना, मुझे वे भले मालूम दिए और लाखो निगाहो ने मिलकर मुझे जनता की मनोवृत्ति बताई।

मैं रोज़ ही चुनाव के बारे मे तकरीर करता था, लेकिन दरअसल चुनाव की बातें मेरे दिमाग़ मे शायद ही जगह पाती रही हो। वे ऊपर-ऊपर सतह पर तैरती रहती थी। और न मेरा खयाल सिर्फ वोट देनेवालो तक ही सीमित था। मैं तो उससे कही बडी चीज के, यानी करोडो की तादाद मे हिंदुस्तान के लोगो के, सपर्क मे आ रहा था। मेरे पास देने के लिए जो सदेसा था, वह क्या मर्द क्या औरत क्या बच्चा—सभी के लिए था—चाहे वे मतदाता हो, चाहे न हो। बहुत बड़ी सख्या मे जनता से जो शारीरिक और

भावो का सपर्क हो रहा था, उस अनुभव का जोश मुझ पर गालिब था। यह भावना नही होती थी कि हम मानो भीड मे जा पडे है, बहुत लोगो के बीच मे अकेले हैं, या भीड के जज्बो के वस मे हैं। मेरी आखें इन हजारो आखो मे मिलती थी। हम एक-दूसरे को इस तरह नही देखते थे कि कोई अजनवी हो और पहली ही बार मिल रहे हो। हम एक-दूसरे को पहचान रहे थे, अगरचे मैं कह नही सकता कि यह पहचान किस बात की थी। जब मैं नमस्कार करता था और मेरे सामने मेरी दो हथेलिया जुडती, तो हाथो का एक जगल-सा नमस्कार की क्रिया मे उठ खडा होता था और निजी मित्रता की मुस्कराहट उनके चेहरे पर खेल जाती थी और एकत्रित जनता के कठ से अभिवादन का एक स्वर उठकर मानो मुझे भावुकता से अपने गले लगा लेता था। मैं उनसे बातें करता था। मेरी आवाज उन तक वह सदेसा पहुचाती थी, जो मैं उनके लिए लाया था। मुझे यह जानने का कुतूहल होता था कि मेरे लफ्जो और उनके पीछे जो खयाल हैं, उन्हे वे कहा-तक समझ सके है। मैं नही कह सकता कि जो कुछ मैं कहता था, उसे वे समझते थे कि नही, लेकिन उनकी आखो मे एक गहरी समझदारी का प्रकाश होता था जो मुह से कहे गए शब्दो से कही बढकर था।

९ : जनता की सस्कृति

इस तरह मैं आज की हिंदुस्तान की जनता का मार्मिक नाटक देखता था और अकसर मैं उन धागो का पता लगा पाता था, जो उनकी जिंदगी को गुजरे हुए जमाने से जोड रहे थे, जबकि उनकी निगाहे आनेवाले जमाने की तरफ लगी हुई थी। मैं पाता था कि तहजीब की एक पृष्ठभूमि है, जो उनकी जिंदगी पर गहरा असर डाल रही है। यह पृष्ठभूमि साधारण फिलसफे, परपरा, इतिहास, पुराण की और कल्पित कथाओ के मेल-जोल से तैयार हुई थी और इन विविध अगो को एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता था। जो लोग बिलकुल अनपढ और अशिक्षित थे, उनकी भी यही पृष्ठभूमि थी। अपने पुराने महाकाव्यो, रामायण और महाभारत से, और दूसरी किताबो से, सुगम अनुवादो या सक्षेपो के जरिये जनता अच्छी तरह परिचित थी। एक-एक घटना और उपदेश उनके मन मे टके हुए थे और इस तरह उनके दिमाग भरे-पूरे थे। अनपढ देहातियो को भी सैकडो पद्य जबानी याद थे और उनकी बातचीत मे इनके या किसी प्राचीन कथा या उपदेश के हवाले आते रहते थे। मुझे इस बात पर अचरज होता था कि गाव के लोग आजकल की साधारण बातो को साहित्यिक लिबास दे देते थे। अगर मेरे दिमाग में लिखे हुए इतिहास और कमोबेश जाने हुए वाक्यो

के चित्र भरे हुए थे, तो मैंने अनुभव किया कि अनपढ किसान के दिमाग़ मे भी एक चित्र-शाला थी, हा, इसका आधार परपरा, पुराण की कथाए और महाकाव्य के नायको और नायिकाओ के चरित्र थे। इसमे इतिहास कम था, फिर भी चित्र काफी सजीव थे।

मैं उनके जिस्मो और उनकी सूरतो की तरफ देखता और उनके रहने-सहने के ढग पर ग़ौर करता। उनमे बहुत-सी सूरतें ऐसी थी, जो बातो का जल्द असर लेनेवाली थी, उनमे हृट्टे-कट्टे, सीधे और साफ अगवाले लोग मिलते, और औरतो मे अदा और लोच तथा शान और समतोल होती और बहुत अकसर उनके चेहरों पर उदासी दिखाई पडती। आमतौर पर ऊची जात के लोगो मे, जिनकी माली हालत दूसरो के मुकाबले मे कुछ अच्छी होती, अच्छे शरीरवाले मिलते। कभी-कभी जब मैं किसी देहाती सडक या गाव से होकर गुजरता, तो मुझे किसी अच्छे बदन के आदमी को देखकर या रूपवाली स्त्री को देखकर अचरज होता और मुझे पुराने ज़माने के दीवालो पर बने चित्रो की याद हो आती। युगो की कुलफत और मुसीबत के बाद भी हिंदुस्तान मे आज ऐसे नमूने किस तरह मिल जाते हैं, इस बात पर मुझे हैरत होती। अच्छी हालत मे और अच्छे अवसर मिलने पर ये लोग क्या नही कर सकते थे?

गरीबी और गरीबी से उपजी हुई अनगिनत बातें सभी जगह दिखाई पडती थी और इसके हैवानी पजे के निशान हर एक माथे पर लगे हुए थे। ज़िदगी इस तरह कुचल और मरोड दी गई थी कि एक पाप बन गई थी, और दमन और असुरक्षा की हालत ने बहुतेरी बुराइया पैदा कर दी थी। ये बातें देखने मे खुशगवार नही हो सकती थी, फिर भी हिंदुस्तान मे बुनियादी हकीक़त यही थी। लोग ज़रूरत से ज्यादा भाग्य पर भरोसा करते थे और जैसी भी बीतती, उसे कुबूल करते थे। साथ ही उनमे एक नरमी और भलमनसी थी, जो हज़ारो साल की तहज़ीब का नतीजा थी और जिसे सख्त-से-सख्त बदकिस्मती भी नही मिटा पाई थी।

१० : दो जीवन

इस तरह और दूसरे तरीको से भी मैंने प्राचीन और आज के हिंदुस्तान की तलाश की कोशिश की। ज़िदा और गुज़री हुई हस्तिया मुझमे खयाल और जज्बे की लहरें पैदा करती। उनसे मैं अपने को असर लेने देता। इस न खत्म होनेवाले जुलूस मे मिलकर उससे एक हो जाने की मैंने कोशिश की, गोया कुछ वक्त के लिए मैं भी इस जुलूस के बिलकुल पीछे हो लिया और उसके साथ-साथ चलता रहा। इसके बाद मैं अपने को अलग कर लेता

और जिस तरह कोई पहाड की चोटी पर खडा होकर तलहटी की तरफ़ झाकता है, उस तरह अलग-अलग होकर मैं इन्हे देखता।

इस लबी यात्रा का मकसद क्या है? यह न खत्म होनेवाला जुलूस आखिर हमे कहातक पहुचायेगा? कभी-कभी मुझ पर थकान छा जाती और मोह का जादू दूर-सा हो जाता। तब मैं अपने मे एक अलहदगी पैदा करके अपनी बचत करता। रफ्ता-रफ्ता मैने अपने को इसके लिए तैयार कर लिया था और जो भी अपने ऊपर बीते, उन्हे अहमियत देना छोड दिया था। या कम-से-कम मैने ऐसी कोशिश की, और कुछ हदतक उसमे कामयाब भी रहा—गोकि मुझे ज्यादा कामयाबी मिली नही, क्योकि मेरे अदर जो एक ज्वालामुखी है, वह सचमुच मुझे अलहदा रहने नही दे सकता। अचानक मेरे सब रोक-थाम टूट जाते और मेरी अलहदगी खत्म हो जाती।

लेकिन जो अधूरी-सी कामयाबी मुझे मिली वह बडी मददगार साबित हुई। काम मे लगे रहते हुए, बीच-बीच मे मैं अपने को उससे अलग करके उस पर गौर करता। कभी-कभी मैं घटा-दो-घटा वक्त चुराकर और अपने धधो को भूलकर दिमागी चुप्पी हासिल करता और एक क्षणके लिए दूसरी ही जिंदगी बिताने लगता। और इस तरह, एक ढग से, ये दो जिंदगिया साथ-साथ चलती, एक-दूसरे से जुडी हुई और अलग भी।

४

हिंदुस्तान की खोज

१ : सिंध-घाटी की सभ्यता

हिंदुस्तान के गुज़रे हुए ज़माने की सबसे पहली तस्वीर हमे सिंध-घाटी की सभ्यता मे मिलती है, जिसके पुर-असर खडहर सिंध मे मोहनजोदडो में और पच्छिमी पजाब मे हडप्पा मे मिले है। यहा पर जो खुदाइया हुई है, उन्होंने प्राचीन इतिहास के बारे मे हमारे खयालो मे इन्क़लाब पैदा कर दिया है। बदकिस्मती से इन जगहो मे खुदाई का काम शुरू होने के चद साल बाद ही वह बद कर दिया गया और पिछले १३-१४ सालो से यहा कोई मार्के का काम नही हुआ। काम बद किये जाने की वजह शुरू मे तो यह थी कि सन ३० के बाद के कुछ सालो मे बडी आर्थिक मदी फैल गई थी। बताया गया कि पैसे की कमी है, अगरचे सल्तनत की शान-शौकत और दिखावे मे कमी इस कमी ने रुकावट न डाली। दूसरे लोक-व्यापी युद्ध ने सारा काम ही बद कर दिया, यहातक कि जो खुदाई हो चुकी थी, उसकी ठीक-ठीक हिफाज़त का भी ध्यान न रखा गया। मैं मोहनजोदडो दो बार गया हू—१९३१ मे और १९३६ मे। अपनी दूसरी यात्रा मे मैंने देखा कि बरसात ने और खुश्क रेगिस्तानी हवा ने बहुत-सी इमारतो को, जिनकी खुदाई हो चुकी है, अभी ही नुकसान पहुचा दिया है। बालू और मिट्टी के अदर पाच हज़ार बरसो तक हिफाज़त से पडे रहने के बाद, खुली हवा के असर से वे बडी तेज़ी से नष्ट हो रही थी और कदीम ज़माने के इन मूल्यवान खडहरो के बचाने की कोई कोशिश नही हो रही थी। पुरातत्त्व विभाग के अफसर ने, जिसके सिपुर्द यहा की देखरेख थी, शिकायत की कि खुदाई मे निकली इमारतों की हिफाज़त के लिए उसे न मदद या सामान दिया जाता है, न पैसे दिये जाते हैं। इन पिछले आठ बरसो मे क्या हुआ है, इसकी मुझे जानकारी नही, लेकिन मेरा खयाल है कि बरबादी जारी रही है और कुछ और सालो में मोहनजोदडो को अपना रग-रूप देखने को न मिलेगा।

यह एक ऐसी दुर्घटना है, जिसके लिए कोई बहाना नहीं सुना जा सकता और कुछ ऐसी चीज़ें, जो फिर कभी देखने मे आ नही सकती, मिट गई होगी और सिर्फ तस्वीरो या बयानो के आधार पर हम जान सकेंगे कि वे क्या थी।

सिंध-घाटी की सभ्यता

सन १९२१ में हड़प्पा की खुदाई के साथ प्राचीन तहज़ीब का एक नया मरकज़ दुनिया के सामने आया। इस नक्शे में वह इलाका दिखाया गया है, जहाँ मोहनजोदड़ो-हड़प्पा-तहज़ीब के निशान मिले हैं।

मोहनजोदडो और हड़प्पा एक-दूसरे से काफी दूरी पर हैं। इन दो जगहो के खडहरो की खोज एक इत्तिफाक की बात थी। इसमे शक नही कि बहुत-से ऐसे मिट्टी मे दबे हुए शहर और पुराने ज़माने के आदमियो के कारनामे इन दो जगहो के बीच पडे होगे और यह तहज़ीब हिंदुस्तान के बडे हिस्सो मे, और यकीनी तौर पर उत्तरी हिंदुस्तान मे फैली हुई थी। ऐसा वक्त आ सकता है, जबकि हिंदुस्तान के कदीम ज़माने के ऊपर से परदा उठाने का काम फिर हाथ मे लिया जाय और मार्के की खोजें हो। अभी ही इस सभ्यता के निशान हमे इतनी दूर फैली हुई जगहो मे मिले हैं, जैसे पच्छिम मे काठियावाड और पजाब मे अबाला ज़िले मे और ऐसा यकीन करने की वजहें हैं कि वह सभ्यता गगा की घाटी तक फैली हुई थी। इस तरह यह सभ्यता महज़ सिंध-घाटी की सभ्यता के अलावा कुछ और भी थी। मोहन-जोदडो मे मिले हुए लेख अभीतक ठीक-ठीक पढे नही जा सके हैं।

लेकिन जो भी हम अबतक जान सके हैं, वे बडे महत्त्व की बातें हैं। सिंध-घाटी की सभ्यता, जैसा भी हम उसे जान सके हैं, एक बडी तरक्की-याफ्ता सभ्यता थी और उसे इस दर्जे तक पहुचाने मे हज़ारो साल लगे होगे। यह काफी अचरज की बात है कि यह सभ्यता लौकिक और दुनियावी सभ्यता है और अगरचे इसमे मजहबी अश भी मौजूद थे, वे इस पर हावी न थे। यह भी ज़ाहिर है कि यह सभ्यता हिंदुस्तान के और तहज़ीबी ज़मानो की पूर्व-सूचक थी।

सर जान मार्शल हमे बताते हैं—"मोहनजोदडो और हड़प्पा, इन दोनो जगहो में, एक चीज़ जो साफ तौर पर ज़ाहिर होती है और जिसके बारे मे कोई धोखा नही हो सकता, वह यह है कि इन दोनो जगहो मे जो सभ्यता हमारे सामने आई है, वह कोई इब्तदाई सभ्यता नही है, बल्कि ऐसी है, जो उस समय ही युगो पुरानी पड चुकी थी, हिंदुस्तान की ज़मीन पर मज़बूत हो चुकी थी और उसके पीछे आदमी का कई हज़ार बरस पुराना कारनामा था। इस तरह अब से मानना पडेगा कि ईरान, मेसोपोटामिया और मिस्र की तरह हिंदुस्तान उन सबसे प्रमुख प्रदेशो मे एक है, जहा सभ्यता का आरभ और विकास हुआ था।" और फिर वह कहते हैं कि "पजाब और सिंध मे, अगर हम हिंदुस्तान के और दूसरे हिस्सो में न भी मानें, एक बहुत तरक्कीयाफ्ता और अद्भुत रूप से आपस मे मिलती-जुलती हुई सभ्यता का प्रचार था, जो उसी ज़माने की मेसोपोटामिया और मिस्र की सभ्यताओ से जुदा होते हुए भी, कुछ बातो मे उनसे ज़्यादा तरक्की पर थी।"

सिंध-घाटी के इन लोगो के उस ज़माने की सुमेर-सभ्यता से बहुत-से संपर्क थे और इस बात का भी सबूत मिलता है कि अक्काद मे हिंदुस्तानियो की, संभवत व्यापारियो की, एक बस्ती थी। "सिंध-घाटी के शहरो की बनी हुई चीज़े दजला और फरात के बाजारो मे बिकती थी और उधर सुमेर की कला के कुछ नमूनो, मेसोपोटामिया के सिंगार के सामान, और एक बेलन के आकार की मुहर की नकल सिंधवालो ने कर ली थी। व्यापार कच्चे माल और विलास की चीज़ो तक महदूद न था। अरब सागर के किनारो से लाई गई मछलिया मोहनजोदडो की खाने की चीज़ो मे शामिल थी।"[1]

इतने पुराने ज़माने मे भी हिंदुस्तान मे रुई कपडा बनाने के काम मे लाई जाती थी। मार्शल सिंध-घाटी की सभ्यता का समकालीन मेसोपोटामिया और मिस्र की सभ्यता से मिलान और मुकाबला करते हैं—"इस तरह, कुछ खास-खास बातें ये हैं कि इस ज़माने में रुई का कपडा बनाने के काम मे इस्तेमाल सिर्फ हिंदुस्तान मे होता था और पच्छिमी दुनिया मे २००० या ३००० साल बाद तक यह नही फैला। इसके अलावा मिस्र या मेसोपोटामिया या पच्छिमी एशिया मे कही भी हमे वैसे अच्छे बने हुए हम्माम या कुशादा घर नही मिलते, जैसेकि मोहनजोदडो के शहरी अपने इस्तेमाल मे लाते थे। उन मुल्को मे देवताओ के शानदार मंदिरो और राजाओ के लिए महलो और मकबरो के बनाने पर ज्यादा ध्यान दिया जाता था और धन खर्च किया जाता था। लेकिन जान पडता है कि जनता को मिट्टी की छोटी झोपडियो से संतोष करना पडता था। सिंध-घाटी मे इससे उलटी ही तस्वीर दिखाई देती है और अच्छी-से-अच्छी इमारतें वे मिलती हैं, जिनमे नागरिक रहा करते थे।" निजी या आम लोगो के लिए खुले हम्मामो का और नालियो के ज़रिये गंदगी निकालने का जो इंतज़ाम हम मोहनजोदडो मे पाते हैं, वह अपने ढंग का पहला है, जो कही भी मिलता है। हमे रहने के दो मंज़िले घर भी मिलते हैं, जो पकी हुई मिट्टी के बने होते थे और जिनमे हम्माम, चौकीदार के घर, और अलग-अलग घरानो के रहने के लिए हिस्से होते थे।

मार्शल से, जो सिंध-घाटी की सभ्यता के माने हुए विशेषज्ञ हैं और जिन्होंने खुद खुदाई कराई थी, एक और उद्धरण दूंगा। वह कहते हैं—"सिंध-घाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं और उन पर एक अपनी खास छाप है। इस ज़माने के दूसरे मुल्को की हम कोई ऐसी चीज़ नही

[1]गार्डन चाइल्ड: 'ह्वाट हैपेन्ड इन हिस्टरी' (पेलिकन बुक्स) पृ० ११२।

जानते, जो शैली के खयाल से यहा की चीनी मिट्टी की बनी भेड़ो, कुत्तो और जानवरो की मूर्त्तियो से मिलती हो, या उन खुदी हुई मुहरो से, खास तौर से जिन पर छोटी सीगो के कूबडवाले बैलो की नक्काशी है और जो बनाने के कौशल और सुडौलपन की दृष्टि से बेमिसाल हैं। न यही मुमकिन होगा कि हडप्पा मे पाई गई दो छोटी मूर्त्तियो का मुकावला, बनावट की सुघडाई के खयाल से किन्ही और मूर्त्तियो से कर सके, सिवाय इसके कि जब यूनान की सभ्यता के प्रौढ काल के कारनामे देखे। सिंध-घाटी के लोगो के धर्म मे बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनसे मिलती हुई बातें हमे और मुल्को मे मिल सकती है, और यह बात सभी पूर्व-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक धर्मों के बारे मे सच ठहरेगी। लेकिन सब-कुछ लेकर, उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ हिंदुस्तानी है कि आजकल के प्रचलित हिंदू-धर्म से उसका भेद मुश्किल से किया जा सकता है।"

इस तरह से हम देखते है कि सिंध-घाटी की सभ्यता ईरान, मेसोपोटामिया और मिस्र की उस जमाने की सभ्यताओ के सपर्क मे रही है, इसके और उनके लोगो मे आपस मे व्यापार होता रहा है और कुछ बातो मे यह उनसे बढकर रही है। यह एक शहरी सभ्यता थी, जहा के व्यापारी मालदार और असर रखनेवाले लोग थे। सडको पर दूकानो की कतारे होती और ऐसी इमारतें, जो शायद छोटी-छोटी दूकानें थी और आजकल के हिंदुस्तानी बाजार-जैसी लगती हैं। प्रोफेसर चाइल्ड कहते हैं—"इससे ज़ाहिरा तौर पर यह नतीजा निकलता है कि सिंध के शहरो के कारीगर बिक्री के लिए सामान तैयार करते थे। इस सामान के विनिमय की सुविधा के लिए समाज ने कोई सिक्को का चलन और कीमतो की माप स्वीकार की थी या नही, और अगर की थी, तो वह क्या थी, इसका ठीक पता नही। बहुत-से बडे और कुशादा मकानों के साथ लगे हुए सुरक्षित गोदामो से पता लगता है कि इन घरो के मालिक लोग सौदागर थे। इन घरो की गिनती और आकार यह बताते हैं कि यहा पर मजबूत और खुशहाल व्यापारियो की बिरादरी थी।" "इन खडहरो मे सोने, चादी, कीमती पत्थरो और चीनी मिट्टी के जेवर, पिटे हुए ताबे के बरतन, धातु के बने औजार और हथियार इतनी बहुतायत से मिले है कि अचरज होता है।" चाइल्डसाहब यह भी कहते हैं कि "गलियो की सुदर तरतीब और नालियो की बहुत बढिया व्यवस्था और उनकी बराबर सफाई इस बात का सकेत देते है कि यहा कोई नियमित शहरी हुकूमत थी और वह अपना काम मुस्तैदी से करती थी। इसकी अमलदारी इतनी काफी मजबूत थी कि बाढ़ो की वजह से

बार-बार बनी इमारतों की तैयारी के वक्त भी नगर-निर्माण के और सड़कों की कतारों के कायम रखने के नियमों का पालन होता था।"[1]

सिंध-घाटी की सभ्यता और आज के हिंदुस्तान के बीच की बहुत-सी कड़िया गायब हैं और ऐसे जमाने गुजरे हैं कि जिनके बारे मे हमारी जानकारी नही के बराबर है। एक जमाने को दूसरे जमाने से जोड़नेवाली कड़िया अकसर जाहिर भी नहीं हैं और इस बाबत जाने कितनी घटनाएं घटी है और कितनी तबदीलिया हुई है। फिर भी ऐसा मालूम देता है कि एक सिलसिला कायम रहा है और एक साबित ज़जीर है, जो आज के हिंदुस्तान को उस छ-सात हज़ार साल पुराने जमाने से, जबकि सिंध-घाटी की सभ्यता शायद शुरू हुई थी, बाध रही है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की कितनी चीज़ें चली आती हुई परपरा की, रहन-सहन की, लोगो के पूजा-पाठ, कारीगरी, यहातक कि पोशाक के ढगो की, हमे याद दिलाती रहती हैं। इनमे से बहुत-सी बातो ने पच्छिमी एशिया पर प्रभाव डाला था। यह बड़े अचरज की बात है।

यह एक दिलचस्प बात है कि हिंदुस्तान की कहानी के इस उषा-काल मे हम उसे एक नन्हें बच्चे के रूप मे नही देखते हैं, बल्कि इस वक्त भी वह अनेक प्रकार से सयाना हो चुका था। वह ज़िंदगी के तरीक़ो से अनजान नही है, वह किसी धुधली और हासिल न होनेवाली दूसरी दुनिया के सपनो मे खोया हुआ नही है, बल्कि उसने ज़िंदगी की कला मे, रहन-सहन के साधनो मे काफी तरक्की कर ली है और न महज़ सुदर चीज़ो की रचना की है, बल्कि आज की सभ्यता के उपयोगी और खास चिह्नों—अच्छे हम्मामो और नालियो—को भी तैयार किया है।

२ : आर्यों का आना

सिंध-घाटी की सभ्यतावाले ये लोग कौन थे और कहा से आये थे, इसका हमे अबतक पता नही है। यह बहुत मुमकिन, बल्कि सभावित, है कि इनकी सस्कृति इसी देश की सस्कृति थी और उसकी जड़ें और शाखाए दक्खिन हिंदुस्तान तक मे मिलती हैं। कुछ विद्वान इन लोगो मे और दक्खिन हिंदुस्तान के द्रविड़ो मे कौम और सस्कृति की खासतौर पर समानता पाते हैं। और अगर बहुत कदीम वक्त मे हिंदुस्तान मे बाहरी लोग आये थे, तो इसकी तारीख मोहनजोदड़ो से हज़ारो बरस पुरानी है। व्यवहार के विचार से हम उन्हें हिंदुस्तान के ही निवासी मान सकते हैं।

---

[1]गार्डन चाइल्ड : 'ह्वाट हैपेन्ड इन हिस्टरी', पृ० ११३-११४।

सिंध-घाटी की सभ्यता का क्या हुआ और वह कैसे खत्म हो गई? कुछ लोगो का कहना है (और इनमे गार्डन चाइल्ड भी हैं) कि इसका अंत अचानक और किसी ऐसी दुर्घटना के कारण हुआ, जिसको बताया नही जा सकता। सिंध नदी अपनी बहुत बडी बाढो के लिए मशहूर है, जो शहरो और गावो को बहा ले जाती रही है। या बदलती हुई आब-व-हवा के कारण धीरे-धीरे ज़मीन खुश्क हो गई हो और खेतो के ऊपर बालू छा गया हो। मोहनजोदडो के खडहर खुद इस बात का सबूत हैं कि शहर पर तह-की-तह बालू जमता रहा है, जिसकी वजह से शहरियो को मजबूर होकर पुरानी नीवो पर और ऊची सतहो पर इमारते बनवानी पडी हैं। जिन मकानो की खुदाइया हुई हैं, उनमे से कुछ ऐसे हैं कि दुमज़िले या तिमज़िले जान पडते हैं, असलियत यह है कि ज़मीन की सतह ज्यो-ज्यो ऊपर उठती गई, त्यो-त्यो वे अपनी दीवारे उठाते गए। हम जानते हैं कि कदीम ज़माने मे सिंध का सूबा बडा उपजाऊ और हरा-भरा था, लेकिन मध्य-काल के बाद से यह ज़्यादातर रेगिस्तान हो रहा है।

इसलिए यह बहुत मुमकिन है कि मौसमी तबदीलियो का उस प्रदेश के लोगो और उनके रहन-सहन पर गहरा असर पडा हो। लेकिन यह असर रफ्ता-रफ्ता ही पडा होगा, अचानक दुर्घटना के रूप मे नही। और हर हालत मे इस दूर तक फैली हुई शहरी सभ्यता के एक टुकडे पर ही मौसम का यह असर पडा होगा, क्योंकि हमारे पास इस बात के विश्वास करने के कारण हैं कि यह सभ्यता बराबर गगा की घाटी तक, और सभवत: उससे भी आगे तक, फैली हुई थी। सच बात तो यह है कि ठीक-ठीक फैसला करने के लिए हमारे पास काफी सबूत नही हैं। इन कदीम शहरो मे से कुछ तो शायद बालू से घिरकर उसीमे दब गए और बालू ने उनको मिटाने से बचाया, और दूसरे शहर और सभ्यता के चिह्न धीरे-धीरे नष्ट होते रहे और ज़माने के साथ ज़ाया हो गए। शायद आगे को पुरातत्त्व की खोजो से ऐसी कडियो का पता चले, जो इस युग को बाद के युगो से जोडती हो।

जहा एक तरफ इस बात का आभास होता है कि सिंध की सभ्यता का अटूट सिलसिला बाद के वक्तो से बना रहा, वहा दूसरी तरफ इस सिलसिले के टूटने के बीच मे खाई पड जाने का अनुमान होता है और यह खाई न केवल समय का अतर बताती है, बल्कि यह भी कि जो सभ्यता बाद मे आई, वह एक दूसरे प्रकार की थी। पहली बात तो यह है कि अगरचे शहर तब भी थे और किसी-न-किसी प्रकार का शहरी जीवन भी था, फिर भी यह बाद की सभ्यता पहले के मुकाबले मे ज्यादा जराअती—खेतिहरो की—सभ्यता

थी। हो सकता है कि सेंधों पर खासतौर पर जोर डाला हो, उन लोगों ने, जो बाद में आये, यानी आर्यों ने, जो कई गिरोहों में पश्चिमोत्तर से हिंदुस्तान में उतरे।

यह खयाल किया जाता है कि आर्यों का यहां आना सिंध-घाटी की सभ्यता के एक हजार साल बाद हुआ, लेकिन यह भी मुमकिन है कि वक्त की इतनी बड़ी खाई दोनों में रही न रही हो और जातियां और कबीले पश्चिमोत्तर से बराबर थोड़े-थोड़े समय बाद आते रहे हों, जैसाकि वे बाद में आये, और आने पर हिंदुस्तान में घुल-मिल जाते रहे हों। हम कह सकते हैं कि संस्कृतियों का पहला बड़ा समन्वय और मेल-जोल आनेवाले आर्यों और द्रविड़ों में, जो शायद सिंध-घाटी की सभ्यता के प्रतिनिधि थे, हुआ। इस समन्वय और मेल-जोल से हिंदुस्तान की जातियां बनीं और एक बुनियादी हिंदुस्तानी संस्कृति तैयार हुई, जिसमें दोनों के अंश थे। बाद के युगों में और बहुत-सी जातियां आती रहीं, जैसे ईरानी, यूनानी, पार्थियन, बैक्ट्रियन, सिदियन, हूण, तुर्क, (इस्लाम से पहले के), पुराने ईसाई, यहूदी, और पारसी वगैरह। ये सभी लोग आये, इन्होंने अपना प्रभाव डाला और बाद में यहां के लोगों में घुल-मिल गए। डाडवेल के कहने के अनुसार, हिंदुस्तान में "समुद्र की तरह सोखने की असीम शक्ति थी।" यह कुछ अजब-सी बात जान पड़ती है कि हिंदुस्तान में, जहां ऐसी वर्ग-व्यवस्था है और अलग बने रहने की भावना है, विदेशी जातियों और संस्कृतियों को जज्ब कर लेने की इतनी समाई रही हो। शायद यही वजह है कि उसने अपनी जीवनी-शक्ति कायम रखी है और समय-समय पर वह अपना कायाकल्प करता रहा है। जब मुसलमान यहां आये, तो उन पर भी उसका असर पड़ा। विन्सेंट स्मिथ का कहना है कि "विदेशी (मुसलमान तुर्क) अपने पूर्वजों—शकों और युई-ची—की तरह हिंदू-धर्म की पचा लेने की अद्भुत शक्ति के वश में हुए और तेजी के साथ उनमें 'हिंदूपन' आ गया।"

३ : हिंदू-धर्म क्या है ?

इस उद्धरण में विन्सेंट स्मिथ ने 'हिंदू-धर्म' और 'हिंदूपन' शब्दों का प्रयोग किया है। मेरी समझ में इन शब्दों का इस तरह इस्तेमाल करना ठीक नहीं। अगर इनका इस्तेमाल हिंदुस्तानी तहजीब के विस्तृत मानी में किया जाय, तो दूसरी बात है। आज इन शब्दों का इस्तेमाल, जबकि ये बहुत संकुचित अर्थ में लिये जाते हैं और इनसे एक खास मजहब का खयाल होता है, ग़लतफहमी पैदा कर सकता है। हमारे पुराने साहित्य में तो 'हिंदू' शब्द कहीं आता ही नहीं। मुझे बताया गया है कि इस शब्द का हवाला हमें

जो किसी हिंदुस्तानी पुस्तक मे मिलता है, वह है आठवी सदी ईसवी के एक तान्त्रिक ग्रथ में, और वहा हिंदु का मतलब किसी खास धर्म से नही, बल्कि खास लोगो से है। लेकिन यह जाहिर है कि यह लफ्ज बहुत पुराना है और 'अवेस्ता' मे और पुरानी फारसी मे आता है। उस समय, और उस समय से हजार साल बाद तक पच्छिमी और मध्य-एशिया के लोग इस लफ्ज का इस्तेमाल हिंदुस्तान के लिए, बल्कि सिंधु नदी के इस पार बसनेवाले लोगो के लिए करते थे। यह लफ्ज साफ-साफ 'सिंधु' से निकला है और यह 'इडस' का पुराना और नया नाम है। इस 'सिंधु' शब्द से हिंदू और हिंदुस्तान बने हैं और 'इडोस' और 'इडिया' भी। मशहूर चीनी यात्री इत्-सिंग ने, जो हिंदुस्तान में सातवी सदी ईसवी मे आया था, अपनी यात्रा के बयान मे लिखा है कि 'उत्तर की जातिया', यानी मध्य-एशिया के लोग हिंदुस्तान को हिंदू (सीन्-तु) कहते हैं, लेकिन उसने यह भी लिखा है कि "यह आम नाम नही है हिंदुस्तान का सबसे मुनासिब नाम आर्य-देश है।" एक खास मजहब के माने मे 'हिंदू' शब्द का इस्तेमाल बहुत बाद का है।

हिंदुस्तान मे मजहब के लिए पुराना व्यापक शब्द 'आर्य-धर्म' था। दरअसल धर्म का अर्थ मजहब या 'रिलिजन' से ज्यादा विस्तृत है। इसकी व्युत्पत्ति जिस धातु-शब्द से हुई है, उसके मानी हैं 'एक साथ पकडना'। यह किसी वस्तु की भीतरी आकृति, उसके आंतरिक जीवन के विधान, के अर्थ मे आता है। इसके अदर नैतिक विधान, सदाचार और आदमी की सारी जिम्मेदारिया और कर्तव्य आ जाते हैं। आर्य-धर्म के भीतर वे सभी मत आ जाते हैं, जिनका आरभ हिंदुस्तान मे हुआ है, वे मत चाहे वैदिक हों, चाहे अ-वैदिक। इसका व्यवहार बौद्धो और जैनो ने भी किया है और उन लोगो ने भी, जो वेदो को मानते हैं। बुद्ध अपने बनाये मोक्ष के मार्ग को हमेशा 'आर्य-मार्ग' कहते थे।

पुराने जमाने मे 'वैदिक-धर्म' शब्दो का इस्तेमाल खासतौर पर उन दर्शनो, नैतिक शिक्षाओ, कर्म-काड और व्यवहारो के लिए होता था, जिनके बारे मे समझा जाता था कि वे वेद पर अवलबित है। इस तरह से, वे सभी लोग, जो वेदो को आमतौर पर प्रमाण मानते थे, वैदिक धर्मवाले कहलाये।

सभी कदीम हिंदुस्तानी मतो के लिए—और इनमें बुद्ध-मत और जैन मत भी शामिल हैं—'सनातन-धर्म' यानी प्राचीन धर्म का प्रयोग हो सकता है, लेकिन इस पर आजकल हिंदुओं के कुछ कट्टर दलो ने एकाधिकार कर रखा है, जिनका दावा है कि वे इस प्राचीन मत के अनुयायी हैं।

बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म यकीनी तौर पर हिंदू-धर्म नही है और न

वैदिक धर्म ही है। फिर भी उनकी उत्पत्ति हिंदुस्तान मे ही हुई और ये हिंदुस्तानी ज़िंदगी, तहज़ीब और फिलसफे के अंग हैं। हिंदुस्तान में बौद्ध और जैनी हिंदुस्तानी विचार-धारा और संस्कृति की सौ फी-सदी उपज हैं, फिर भी इनमे से कोई भी मत के खयाल से हिंदू नहीं है। इसलिए हिंदुस्तानी सस्कृति को हिंदू सस्कृति कहना एक सरासर गलतफहमी फैलानेवाली बात है। बाद के वक्तो मे इस सस्कृति पर इस्लाम के सपर्क का बडा असर पडा, लेकिन यह फिर भी बुनियादी तौर पर और साफ-साफ हिंदुस्तानी ही बनी रही। आज यह सैकडो तरीको पर पच्छिम की व्यावसायिक सभ्यता के ज़ोरदार असर का अनुभव कर रही है और यह ठीक ठीक बता सकना मुश्किल है कि इसका नतीजा क्या होकर रहेगा।

हिंदू-धर्म जहा तक कि वह एक मत है, अस्पष्ट है, इसकी कोई निश्चित रूपरेखा नही, इसके कई पहलू हैं और ऐसा है कि जो चाहे इसे जिस तरह का मान ले। इसकी परिभाषा दे सकना या निश्चित रूप मे कह सकना कि साधारण अर्थ मे यह एक मत है, कठिन है। अपनी मौजूदा शक्ल मे, बल्कि बीते हुए ज़माने मे भी, इसके भीतर बहुत-से विश्वास और कर्म-काड आ मिले हैं, ऊचे-से-ऊचे और गिरे-से-गिरे, और अकसर इनमे आपस का विरोध भी मिलता है। इसकी मुख्य भावना यह जान पडती है कि अपने को जिदा रखो और दूसरे को भी जीने दो। महात्मा गाधी ने इसकी परिभाषा देने की कोशिश की है—"अगर मुझसे हिंदू-मत की परिभाषा देने को कहा जाय, तो मैं सिर्फ यह कहूगा कि 'यह अहिंसात्मक साधनो से सत्य की खोज है'। आदमी चाहे ईश्वर मे विश्वास न रखे, फिर भी वह अपने को हिंदू कह सकता है। हिंदू-धर्म सत्य की अनथक खोज है हिंदू-धर्म सत्य को माननेवाला धर्म है। सत्य ही ईश्वर है। हम इस बात से परिचित हैं कि ईश्वर से इन्कार किया गया है। हमने सत्य से कभी इन्कार नही किया है।" गाधीजी इसे सत्य और अहिंसा बताते हैं, लेकिन बहुत-से प्रमुख लोग, जिनके हिंदू होने मे कोई सदेह नही, यह कह देते हैं कि अहिंसा, जैसा उसे गाधीजी समझते हैं, हिंदू-मत का आवश्यक अग नही है। तो फिर हिंदू-मत का अकेला सूचक चिह्न सत्य रह जाता है। ज़ाहिर है यह कोई परिभाषा नही हुई।

इसलिए 'हिंदू' और 'हिंदू-धर्म' शब्दो का हिंदुस्तानी सस्कृति के लिए इस्तेमाल किया जाना न तो शुद्ध है और न मुनासिब ही है, चाहे इन्हें बहुत पुराने ज़माने के हवाले मे ही क्यो न इस्तेमाल कर रहे हो, अगरचे बहुत-से विचार, जो प्राचीन ग्रन्थो मे सुरक्षित हैं, इस सस्कृति के उद्गार हैं। और आज तो इन शब्दो का इस अर्थ मे इस्तेमाल किया जाना

और भी ग़लत है।) जबतक पुराने विश्वास और फ़िलसफे सिर्फ ज़िंदगी के एक मार्ग और ससार को देखने के एक रुख के रूप थे, तबतक तो अधिकतर हिंदुस्तानी सस्कृति का पर्याय हो सकते थे। लेकिन जब एक ज्यादा पाबदीवाले मज़हब का विकास हुआ, जिसके साथ न जाने कितने विधि विधान और कर्म-काड लगे हुए थे, तब यह उससे कुछ आगे बढी हुई चीज़ थी और साथ ही उस मिली-जुली सस्कृति के मुकाबले मे घटकर भी थी। एक ईसाई या मुसलमान अपने को हिंदुस्तानी ज़िंदगी और सस्कृति के मुताबिक ढाल सकता था और अकसर ढाल लेता था, और साथ ही जहातक मज़हब का ताल्लुक है, वह कट्टर ईसाई या मुसलमान बना रहता था। उसने अपने को हिंदुस्तानी बना लिया था और बिना अपना मज़हब बदले हुए हिंदुस्तानी बन गया था।

('हिंदुस्तानी' के लिए ठीक शब्द 'हिंदी' होगा, चाहे हम उसे मुल्क के लिए, चाहे सस्कृति के लिए और चाहे अपनी भिन्न परपराओ के तारीखी सिलसिले के लिए इस्तेमाल करे। यह लफ्ज़ 'हिंद' से बना है, जो हिंदुस्तान का छोटा रूप है। अब भी हिंदुस्तान के लिए 'हिंद' शब्द का आमतौर पर प्रयोग होता है। पच्छिमी एशिया के मुल्को मे, ईरान और टर्की मे, इराक, अफगानिस्तान, मिस्र और दूसरी जगहो मे, हिंदुस्तान के लिए बराबर 'हिंद' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है और इन सभी जगहो मे हिंदुस्तानी को 'हिंदी' कहते हैं। 'हिंदी' का मज़हब से कोई सबब नही और हिंदुस्तानी मुसलमान और ईसाई उसी तरह से 'हिंदी' है, जिस तरह कि एक हिंदू-मत का माननेवाला।) अमरीका के लोग, जो सभी हिंदुस्तानियो को हिंदू कहते है, बहुत गलती नही करते। अगर वे 'हिंदी' शब्द का प्रयोग करें, तो उनका प्रयोग बिलकुल ठीक होगा। (दुर्भाग्य से 'हिंदी' शब्द हिंदुस्तान मे एक खास लिपि के लिए इस्तेमाल होने लगा है—यह भी सस्कृत की देवनागरी लिपि के लिए—इसलिए इसका व्यापक और स्वाभाविक अर्थ मे इस्तेमाल करना कठिन हो गया है।) शायद जब आजकल के मुबाहसे खत्म हो ले, तो हम फिर इस शब्द का इस्तेमाल उसके मौलिक अर्थ मे कर सकें और वह ज्यादा सतोषजनक होगा। आज हिंदुस्तान के रहनेवाले के लिए 'हिंदुस्तानी' शब्द का इस्तेमाल होता है और जाहिर है कि वह हिंदुस्तान से बनाया गया है, लेकिन बोलने मे यह बडा है और इसके साथ वे ऐतिहासिक और सास्कृतिक ख़याल नही जुडे है, जो 'हिंदी' के साथ जुडे है, निश्चय ही, प्राचीन काल की हिंदुस्तान की सस्कृति के लिए 'हिंदुस्तानी' शब्द का इस्तेमाल अटपटा जान पडेगा।

अपनी सास्कृतिक परपरा के लिए हम हिंदी या हिंदुस्तानी, जो भी इस्तेमाल करे, हम यह देखेंगे कि पुराने ज़माने मे समन्वय के लिए यहा एक भीतरी प्रेरणा रही है और हमारी तहज़ीब और कौम के विकास का आधार, खासकर हिंदुस्तान का, फिलसफियाना रुख रहा है। विदेशी तत्त्वो का हर हमला इस सस्कृति के लिए एक चुनौती था और उनका सामना इसने हर बार एक नये समन्वय के ज़रिये, उन्हे अपने मे जज़्ब करके किया है। इस तरीके से उसका काया-कल्प भी होता रहा है और अगरचे पृष्ठभूमि वही रही है और बुनियादी बातो मे कोई खास तबदीली नही हुई है, इस समन्वय के कारण सस्कृति के नये-नये फूल खिले हैं। सी० ई० एम० जोड ने इसके बारे मे लिखा है—"इसकी वजह जो कुछ भी हो, वाक़या यह है कि हिंदुस्तान की दुनिया को खास देन यह रही है कि उसने विचारो और कौमो के जुदा-जुदा तत्त्वो के समन्वय की ओर विभिन्नता से एकता पैदा करने की योग्यता और तत्परता दिखाई है।"

४ : सबसे पुराने लेख : धर्म-ग्रंथ और पुराण

सिंध-घाटी की सभ्यता की खोज से पहले यह खयाल किया जाता था कि हिंदुस्तानी सस्कृति के सबसे पुराने प्रमाण-लेख जो हमे मिले हैं, वे वेद है। वेदो के काल-निर्णय के बारे मे बडा मतभेद रहा है, यूरोपीय विद्वान इसे इधर खीचते रहे हैं और हिंदुस्तानी विद्वान और पीछे ले जाते रहे हैं। यह एक विचित्र बात है कि अपनी पुरानी सस्कृति को महत्त्व देने के लिए हिंदुस्तानी उसे ज्यादा-से-ज्यादा पुरानी साबित करने की कोशिश मे रहे है। प्रोफेसर विटरनीज़ का खयाल है कि वैदिक-साहित्य का आरभ ईसा से २०००, बल्कि २५०० वर्ष पहले होता है। यह हमें मोहनजोदड़ो के ज़माने के बहुत नज़दीक पहुचा देता है।

आज के ज्यादातर विद्वानो ने ऋग्वेद की ऋचाओ के सबध मे जो प्रमाण माने हैं, वे उसे ईसा से १५०० वर्ष पुराना बताते हैं, लेकिन मोहन-जोदडो की खुदाई के बाद इन धर्म-ग्रथो को और पुराना साबित करने की तरफ रुझान रहा है। इस साहित्य की ठीक तिथि जो भी हो, यह सभावित है कि यह यूनान या इसरायल के इतिहास से पुराना है और सच बात तो यह है कि मनुष्य-मात्र के दिमाग की सबसे पुरानी कृतियो मे है। मैक्स मूलर ने कहा है कि "आर्य-जाति के मनुष्य द्वारा कहा गया यह पहला शब्द है।"

वेद आर्यो के उस समय के भावोद्गार हैं, जबकि वे हिंदुस्तान की हरी-भरी भूमि पर आये। वे अपने कुल के विचारो को अपने साथ लाये,

उस कुल के, जिसने ईरान मे 'अवेस्ता' की रचना की और हिंदुस्तान की ज़मीन पर उन्होंने अपने विचारो को विस्तार दिया। वेदो की भाषा भी 'अवेस्ता' की भाषा से अद्भुत रूप मे मिलती-जुलती है और यह बताया जाता है कि वेद 'अवेस्ता' के जितने नज़दीक हैं, उतने खुद इस देश के महाकाव्यो की सस्कृति के नज़दीक नही हैं।

हम मुख्तलिफ मज़हबो की मज़हबी किताबो को किस नज़र से देखे, जबकि इन मज़हबवालो का यह खयाल है कि इनका ज्यादातर हिस्सा दैवी प्रेरणा से प्राप्त हुआ है या नाज़िल हुआ है? अगर हम उनकी जाच-पडताल या नुक्ताचीनी करते हैं और उन्हें आदमियो की रची हुई चीज़ें बताते हैं, तो कट्टर मज़हबी लोग अकसर इससे बुरा मानते हैं। फिर भी, उन पर विचार करने का कोई दूसरा तरीका नही है।

मैंने मज़हबी किताबो के पढने मे हमेशा सकोच किया है। उनके बारे मे जो इस तरह के दावे किये जाते हैं कि इनमे आखिरी बाते लिख दी गई हैं, मुझे पसद नही आते। इन मज़हबो को लोग जैसा बरतते हैं, इसके बारे में जो ऊपरी शहादतें मेरे सामने आई हैं, उन्होंने मुझे उनके मूल आधारो तक पहुचने का उत्साह नही दिलाया है। ताहम मुझे इन किताबो तक भटककर पहुचना पडा है, इसलिए कि ग़ैर-जानकारी खुद कोई गुण नही हैं और अकसर एक खामी साबित होती है। मैं जानता रहा हू कि इनमे से कुछ ने इन्सान पर गहरा असर डाला है, और जिस चीज़ का ऐसा असर पड सकता है, उसमे कोई भीतरी गुण और शक्ति—ताक़त—का कोई जिदा सर-चश्मा ज़रूर है। उनके बहुत-से अशो को पढने मे मुझे बडी कठिनाई हुई है, क्योकि बारहा कोशिश करने पर भी मैं अपने मे काफी दिलचस्पी पैदा नही कर सका हू, साथ ही ऐसे टुकडे भी मिले हैं, जिनकी निपट सुदरता ने मुझे मोह लिया है। और उस वक्त ऐसा हुआ है किसी जुमले ने या जुमले के एक टुकडे ने अचानक मुझमे बिजली पैदा कर दी है और मुझे यह अनुभव हुआ है कि मेरे सामने सचमुच ही बहुत बडी चीज़ है। बुद्ध और मसीह के कुछ शब्द अपने गहरे अर्थ के साथ मुझ पर रोशन हो गए हैं और मुझे ऐसा जान पडा है कि आज भी वे उसी तरह लागू हैं, जिस तरह वे २००० या उससे ज्यादा साल पहले लागू थे। उनमे एक बेबस कर देनेवाली सचाई है, एक ऐसी टिकाऊ बात है, जिसे देश और काल छू नही सकते। ऐसा खयाल मुझे सुकरात का हाल या चीनी फिलसूफो की रचनाओ को पढकर हुआ है और उपनिषदो और भगवद्गीता को पढकर भी। मुझे अध्यात्म और कर्म-कांड की व्याख्या और बहुत-सी और बातो मे, जिनका उन मसलो से कोई ताल्लुक नही,

जो मेरे सामने हैं, दिलचस्पी नही रही है। मैंने जो कुछ पढा, शायद उसके बहुत ज्यादा हिस्सो का भीतरी अभिप्राय मैं समझ नही सका और कभी-कभी दोबारा पढने पर ज्यादा प्रकाश मिला है। गूढ अशो को समझने की दरअसल मैंने खास कोशिश नही की और जिन हिस्सो को मैं अपने लिए कोई अहमियत नही समझता था, उन्हे छोड जाता रहा हू। न मुझे लबी टीकाओ और शरहो मे दिलचस्पी रही है। मैं इन किताबो को, या किन्ही किताबो को, ईश्वर-वाक्य की तरह नही मान सका हू, ऐसा कि बिना चू-चरा के उनके एक-एक लफ्ज को कुबूल कर लिया जाय। दरअसल उनके मुताल्लिक ईश्वर-वाक्य होने के दावे का आमतौर पर यह नतीजा हुआ कि उनमे लिखी बातो के खिलाफ मेरे दिमाग ने जिद पकड ली है। उनकी तरफ मेरा ज्यादा खिचाव तब होता है और उनसे मैं ज्यादा फायदा तब हासिल कर सकता हू, जब मैं उन्हे आदमियो की रचनाए समझू, ऐसे आदमियो की, जो बडे ज्ञानी और दूरदर्शी हो गए हैं, लेकिन जो है साधारण नश्वर मनुष्य, न कि अवतार या ईश्वर की तरफ से बोलनेवाले लोग, क्योकि ईश्वर की कोई जानकारी या उसके बारे मे निश्चय मुझे नही है।

मुझे इस बात मे हमेशा ज्यादा शान और भव्यता जान पडी है कि एक इन्सान दिमागी और रूहानी हैसियत से बलदी पर पहुचे और दूसरो को भी उठाने की कोशिश करे, न कि इसमे कि वह किसी बडी शक्ति या ईश्वर की तरफ से बोलनेवाला बने। धर्मों के कुछ सस्थापक अद्भुत व्यक्ति हो गए है—लेकिन अगर उनका खयाल आदमियो की शक्ल मे न करू, तो उनकी सारी शान मेरी नजर मे जाती रहती है। जिस बात का मुझ पर असर होता है और जिससे मेरे दिल मे उम्मीद बधती है, वह यह है कि आदमी के दिमाग और उसकी रूह ने तरक्की हासिल कर ली है, न कि यह कि वह एक पैग़ाम लानेवाला एलची बन गया है।

(पुराण की गाथाओ का भी मुझ पर कुछ ऐसा ही असर पडा। अगर लोग इन कहानियो को घटना के रूप मे सही मानते हैं, तो यह बिलकुल बेतुकी और हँसी की बात है। लेकिन इस तरह उनमे विश्वास करना छोड दिया जाय, तो वे एक नई ही रोशनी मे दिखाई पडने लगती हैं, उनमे एक नया सौंदर्य जान पडता है, ऐसा जान पडता है कि एक ऊची कल्पना ने अचरज-भरे फूल खिलाये हैं और इनमे आदमी के शिक्षा लेने की बहुत-सी बाते हैं।) यूनान के देवी-देवताओ की कहानियो मे अब कोई विश्वास नही करता, इसलिए बिना किसी कठिनाई के हम उनकी तारीफ कर सकते हैं, वे हमारी मानसिक दाय का अग बन गई हैं। लेकिन अगर हमे उनमे यक़ीन

करना पडे, तो हम पर कितना बोझ आ पडेगा और विश्वास के इस बोझ से दबकर हम अकसर उनका सौंदर्य खो देंगे। (हिंदुस्तान की पुराण-गाथाएं कही ज्यादा और भरी-पूरी हैं, और बडी ही सुदर और अर्थ-भरी हैं। मैंने कभी-कभी इस बात पर अचरज किया है कि वे आदमी और औरतें, जिन्होंने ऐसे सजीव सपनो और सुदर कल्पनाओ को रूप दिया है, कैसे रहे होंगे और विचार और कल्पना की किस सोने की खान मे से उन्होंने खोदकर ऐसी चीजें निकाली होंगी!)

(धर्म-ग्रथो को आदमी के दिमाग की उपज मानते हुए हमे याद रखना चाहिए कि किस युग मे वे रचे गए है, किस फिज़ा और मानसिक वातावरण ने उन्हे जन्म दिया है, और समय और विचार और अनुभव का कितना अतर उनमे और हममें है। हमे कर्म-काड और धर्म-सबधी रस्मो की भूल को भुला देना चाहिए और उस सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखना चाहिए, जिसमे उनका विकास हुआ है।) इन्सानी ज़िंदगी के बहुत-से मसले एक दायमी हैसियत रखते हैं। उनमे नित्यता की एक पुट है और यही कारण है कि इन प्राचीन पुस्तको मे हमारी दिलचस्पी बनी हुई है। लेकिन और भी मसले रहे हैं, जो किसी खास युग तक सीमित रहे हैं और उनमे हमारे लिए ज़िदा दिल-चस्पी की कोई बात नही रही है।

५ : वेद

(बहुत-से हिंदू वेदो को श्रुति-ग्रथ मानते है। यह मुझे खास तौर पर एक दुर्भाग्य की बात मालूम पडती है, क्योंकि इस तरह हम उनके सच्चे महत्त्व को खो बैठते हैं। वह यह कि विचार की शुरू की अवस्था मे आदमी के दिमाग़ ने अपने को किस रूप मे प्रकट किया था और वह कैसा अद्भुत दिमाग़ था।) ('वेद' शब्द की व्युत्पत्ति 'विद्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ जानना है और वेदों का उद्देश्य उस समय की जानकारी को इकट्ठा कर देना था। उनमें बहुत-सी चीज़ें मिली-जुली हैं—स्तुतिया है, प्रार्थनाएं हैं, यज्ञ की विधि है, जादू-टोना है और बडी ऊंची प्रकृति-सबधी कविता है। उनमे मूर्त्ति-पूजा नही है, देवताओ के मदिरो की चर्चा नही है। जो जीवनी-शक्ति और ज़िदगी के लिए इकरार उनमे समाया हुआ है, वह ग़ैर-मामूली है। शुरू के वैदिक-आर्य लोगो मे ज़िदगी के लिए इतनी उमग थी कि वे आत्मा के सवाल पर ज्यादा ध्यान नही देते थे। एक अस्पष्ट तरीके से उन्हे इस बात का विश्वास था कि मौत के बाद भी कोई जीवन है।)

रफ़्ता-रफ़्ता ईश्वर की कल्पना पैदा होती है, उस तरह के देवता लोग मिलते हैं, जैसे ओलपिया (यूनान) मे होते थे। उसके अनतर एकेश्वर-

वाद आता है और फिर इसीसे मिला-जुला हुआ अद्वैतवाद। विचार उन्हें अद्‌भुत प्रदेशो मे पहुचाता है और प्रकृति के रहस्यो पर गौर किया जाता है और इस तरह जाच करने की भावना उठती है। इस तरह के विकास मे सैकडो वर्ष लग जाते है और जब हम वेद के अत, वेदात तक पहुचते हैं, तो हमे उपनिषदो का दर्शन या फिलसफा मिलता है।

पहला वेद, ऋग्वेद, शायद मनुष्य की पहली पुस्तक है। इसमे हमे इन्सानी दिमाग के सबसे पहले उद्‌गार मिलते है, काव्य की छटा मिलती है और मिलती है प्रकृति की सुदरता और रहस्य पर आनद की भावना। इन प्राचीन ऋचाओ मे, जैसा कि डाक्टर मैकनिकोल कहते हैं, हमे शुरुआत मिलती है "उन लोगो के साहसी कारनामो की, जिन्होने हमारी दुनिया के और उसमे रहनेवाले मनुष्य के जीवन के महत्त्व की खोज करने की कोशिशें की, और जो इतने दिन हुए की गई और यहा अकित हैं—यहा से हिंदुस्तान एक खोज पर निकला है और उसकी यह खोज अबतक जारी है।"

लेकिन खुद ऋग्वेद के पीछे विचार और सभ्यता के जीवन के कई युग रहे हैं, जिनमे सिंध-घाटी की, मेसोपोटामिया की और दूसरी तहजीबें पनपी थी। इसलिए यह मुनासिब ही है कि ऋग्वेद मे "अपने पूर्वजो, ऋषियो और प्रथम मार्ग-प्रदर्शको" के नाम पर किया गया समर्पण मिलता है।

रवीद्रनाथ ठाकुर ने इन ऋचाओ के बारे मे कहा है—"जिंदगी के अचरज और भय की तरफ एक जन-समाज की मिली-जुली प्रतिक्रिया का यह काव्यमय वसीयतनामा है। सभ्यता के आरभ मे ही एक जोरदार और अछूती कल्पनावाले लोग जीवन के अपार रहस्य को भेदने के लिए उत्सुक हुए। अपने सरल विश्वास द्वारा उन्होंने हरएक तत्त्व में, प्रकृति की हर एक शक्ति मे देवत्व देखा। उसका जीवन आनंदमय और साहसी था और रहस्य की भावना ने उनकी जिंदगी मे एक जादू पैदा कर दिया था। मन में एक जाति-गत विश्वास था, जिस पर विश्व की द्वंद्वमयी विविधता के चिंतन का बोझ नही पडा था, यद्यपि उस पर जब-तब सहज अनुभव का प्रकाश इस रूप में पडा था कि 'सत्य एक है, (यद्यपि) विप्र उसे अनेक नामो से पुकारते हैं।[1]'

लेकिन चिंतन की यह भावना धीरे-धीरे आती गई, यहा तक कि वेद का रचयिता यही पुकार उठा कि "हे धर्म, हमे विश्वास प्रदान करो" और उसने "सृष्टि का गीत"[2] नामक ऋचा मे, जिसे मैक्समूलर ने "अज्ञात ईश्वर के प्रति" शीर्षक दिया है, गहरे सवाल उठाये हैं

[1] एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।
[2] ऋग्वेद का नासदीय सूक्त।

१ तब न सत् था न असत् न अतरिक्ष था और न उसके परे आकाश था।
क्या और कहा व्याप्त था ? और किसने आश्रय दिया ? क्या वहा जल
था, अथाह जल ?

२ तब न मृत्यु थी, न कोई अमर था, न दिन और रात को विभाजित करने
का कोई निशान था।
वही एक श्वास-रहित, अपनी प्रकृति द्वारा सास लेता था उसको छोड़-
कर और कुछ नही था।

३ वहा अधकार था पहले अधकार मे छिपी हुई घोर अस्त-व्यस्तता थी।
उस समय जो कुछ था, वह शून्य और निराकार था, तेज की शक्ति से
उस इकाई का जन्म हुआ।

४ उसके बाद आरभ मे इच्छा उत्पन्न हुई, इच्छा, जो आत्मा का बीज है।
ऋषियो ने अपने हृदय मे विचारा, तो पाया कि सत् का सबध असत् से है।

५ अलग करनेवाली रेखा आर-पार फैली, उसके ऊपर क्या था और क्या
उसके नीचे था ?
जन्म देनेवाले थे, महान शक्तिया थी, स्वतत्र कर्म था यहा, और उधर
क्रिया-शक्ति थी।

६ कौन वास्तव मे जानता है और कौन कह सकता है कि इसका जन्म कहा
हुआ और यह सृष्टि कहा से आई ?
इस पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद देवता हुए, इसलिए कौन कह सकता है,
कि कब इसकी सृष्टि हुई ?

७. वह इस सृष्टि का आदि पुरुष है, चाहे उसने इस सबको बनाया हो,
चाहे नहीं।
जिसकी दृष्टि इस पृथ्वी पर सबसे ऊचे आकाश से शासन करती है,
वही वास्तव मे जानता है, या शायद वह भी न जानता हो।[1]

६ : जिंदगी से इक़रार और इन्कार

इन धुधली शुरुआतो से हिंदुस्तानी विचार और फिलसफे, हिंदुस्तानी जीवन और सस्कृति और साहित्य की नदिया निकलती हैं और फैलती और गहरी होती हुई कभी-कभी सैलाबो से धरती पर उपजाऊ मिट्टी बिखेरती हुई आगे बढ़ती हैं। इन सालहो-साल मे उन्होंने कभी अपने रास्ते पलटे हैं, कभी सिकुड़कर पतली भी पड गई हैं, लेकिन उन्होंने अपने खास निशान कायम

[1] एवरीमैन्स लाइब्रेरी में प्रकाशित 'हिंदू स्क्रिप्चर्स' मे प्रकाशित अनुवाद के आधार पर।

रखे है। अगर उनमे ज़िदगी की एक मज़बूत तहरीक न रही होती, तो वे ऐसा न कर पाती। इस कायम रहने की शक्ति को हमेशा एक वरकत न समझना चाहिए, इसके यह भी मानी हो सकते हैं, जैसाकि हिंदुस्तान मे मेरी समझ मे वहुत दिनो से होता रहा है, कि उनमे गतिहीनता आ गई है और सडंध पैदा हो गई है। लेकिन यह एक वडा वाकया है, जिसे हम नज़र-अदाज़ नही कर सकते, खासकर इन दिनो मे, जवकि हम निरतर लडाइयो और सकटो के कारण एक खुद-दार और तरक्कीयाफ्ता तहज़ीव की जड खुदती हुई देखते है। हम उम्मीद करते हैं कि लडाई की इस कुठाली से, जिसमे न जाने कितनी चीज़े पिघल रही हैं, क्या पच्छिम मे और क्या पूरव मे, कुछ उम्दा वस्तु तैयार होकर निकलेगी, जो वडी इन्सानी हासिलातो को कायम रखते हुए उनमे उन तत्त्वो को भी जोडेगी, जिनकी कमी रही है। लेकिन न महज़ माली पूजी और इन्सानी ज़िदगी, बल्कि उन खास मूल्यो का, जो इस ज़िदगी को सार्थक करती है, वार-वार और इतने वडे पैमाने पर नाश होना ऐसी वात है, जो ध्यान देने की है। वावजूद उस तरक्की के, जो मुख्तलिफ दिशाओ मे हुई है और उसकी वजह से जो ऊचे मान क़ायम हुए हैं, जिसकी पिछले युगो मे कल्पना भी नही हुई थी, क्या हमारी मौजूदा तिजारती तहज़ीव मे कोई सार-भूत तत्त्व नही रहे हैं, और उसके अपने विनाश के वीज उसके भीतर मौजूद रहे हैं?

जब कोई मुल्क विदेशी हुकूमत मे रहता है, तो वह अपनी मौजूदा हालत के खयाल से बचने के लिए गुज़रे हुए ज़माने के सपनो से अपने को वहलाता है और उसे अपनी पुरानी वडाई की कल्पना से शाति मिलती है। यह एक बेवकूफी का और खतरनाक दिल-वहलाव है, जिसमे हममे से ज़्यादातर लोग लगे रहते है। इतनी ही काविल-एतराज आदत हम लोगो की हिंदुस्तान मे यह है कि हम खयाल करते हैं कि अगरचे दुनियावी वातो मे हम पस्ती पर पहुच चुके हैं, रूहानी तौर पर हम अब भी वडे हैं। आज़ादी और तरक्की के मौको को खोकर और फाकाकशी और दुःख की नीव पर हम रूहानी या किसी तरह की इमारत नही खडी कर सकते। वहुत-से पच्छिमी मुल्को के लिखनेवालो ने इस खयाल को वढावा दिया है कि हिंदुस्तान के लोग गैर-दुनियावी हैं। मैं समझता हू कि सभी मुल्को मे गरीब और वदकिस्मत लोग गैर-दुनियावी होते है—यह दूसरी वात है कि वे वग़ावती वन वैठें—क्योकि यह दुनिया उनके लिए नही है। यही हालत गुलाम मुल्क के लोगो की होती है।

ज्यो-ज्यो आदमी वडा होकर सयाना होता है, त्यो-त्यो माद्दी दुनिया या वस्तु-जगत से उसका सतोष हटता जाता है और वह उसमे पूरी तरह

उलझने से बचता है। वह दिमागी और रूहानी तस्कीन चाहता है, उसे भीतरी अर्थ की तलाश होती है, यही बात सभ्यताओ और लोगो पर भी लागू होती है। ज्यो-ज्यो वे बढकर सयाने होते हैं, हर एक सभ्यता मे और हर एक जाति मे अदरूनी जिंदगी और बाहरी जिंदगी की ये साथ-साथ चलनेवाली धाराए मिलेंगी। जब ये धाराए एक-दूसरे से मिल जाती हैं, या नजदीक रहती हैं, तब सम-तोल और पायदारी रहती है, जब ये एक-दूसरे से दूर हो जाती हैं, तब कश-मकश पैदा होती है और ऐसे सकट सामने आते हैं, जो दिमाग और रूह को तकलीफ पहुचाते हैं।

ऋग्वेद की ऋचाओ के जमाने से हम जिंदगी और विचार की दोनो धाराओ का विकास बराबर देखते हैं। शुरू की ऋचाओं मे बाहरी दुनिया की बातें भरी पडी हैं, प्रकृति की सुदरता और रहस्य और जीवन के आनद का वर्णन है और जीवन-बल भरपूर देखने को मिलता है। देवी-देवता ओलिंपस[1] (यूनान) के देवी-देवताओ की तरह मनुष्यो-जैसे हैं, ऐसा खयाल किया जाता है कि वे अपनी जगहो से उतरकर आदमियो और औरतो के बीच हिलते-मिलते हैं और दोनो के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नही है। इसके बाद विचार आता है और खोज की भावना उपजती है और इस लोक से परे जो लोक है, उसका रहस्य गहराई पकडता है। जिंदगी अब भी भरी-पूरी बनी रहती है, लेकिन बाहरी रूपो की तरफ से मुडने की प्रवृत्ति भी आ जाती है और ज्यो-ज्यो आखें अदृश्य चीजो की तरफ टिकती हैं—उन चीजो की तरफ, जिन्हे साधारण तरीके से देखा या सुना या अनुभव नही किया जा सकता, त्यो-त्यो इन सबसे अलहदगी का भाव बढता जाता है। इन सबका मकसद क्या है? क्या इस विश्व का कोई उद्देश्य है? और अगर है, तो आदमी का जीवन इससे समरस कैसे हो सकता है? क्या हम देखी और अनदेखी दुनिया के बीच एक मधुर सबध पैदा कर सकते हैं और इस तरह जिंदगी मे आचार का सही मार्ग ढूढ निकाल सकते हैं?

इसलिए हम पाते हैं कि हिंदुस्तान मे इसी तरह, जिस तरह कि और जगहो मे विचार और काम की ये दो धाराए—एक जो जिंदगी से इकरार करती है, और दूसरी जो उससे बच निकलना चाहती है—साथ-ही-साथ विकसित होती हैं, हा मुख्तलिफ जमानो मे कभी एक ओर कभी दूसरे पर ज्यादा जोर दिया गया है। फिर भी इस संस्कृति की बुनियाद—पृष्ठभूमि—ग़ैर-दुनियावी या इस दुनिया को हेच समझनेवाली नही थी। उस वक्त

[1] यूनान का एक पर्वत, जो प्राचीन काल में देवताओं का निवास-स्थान माना जाता था।

भी, जबकि फिलसफे की शाखा मे यह इस विषय पर बहस करती थी कि दुनिया माया है, यह खयाल कोई कतई खयाल न होता था, बल्कि आखिरी असलियत के रिश्ते मे इसे ऐसा समझा जाता था (यह अफ़लातून की बताई हुई असलियत की परछाईं-जैसी चीज़ थी); और यह सस्कृति दुनिया को उसकी मौजूदा सूरत से ग्रहण करती थी और ज़िदगी और उसकी बहुतेरी सुदरताओ का लुत्फ लेना चाहती थी। शायद सेमेटिक सस्कृति—अगर हम उससे निकलनेवाले अनेक मज़हबो की मिसालें लें (और खासतौर पर पुराने ईसाई मत की)—कहीं ज्यादा ग़ैर-दुनियावी रही है। टी० ई० लारेंस का कहना है कि "सेमेटिक मज़हबो की आम बुनियाद में (इन मज़हबो ने चाहे हार हुई हो, चाहे जीत) हमेशा इस बात का खयाल रहा है कि दुनिया हेच है।" और इसका नतीजा यह हुआ है कि कभी तो लोग मौज उडाने की तरफ झुके हैं, और कभी आत्म-त्याग की तरफ।

(हम पाते है कि हिंदुस्तान मे, हर ज़माने मे, जब उसकी सस्कृति ने फूल खिलाये हैं, लोगो ने ज़िदगी और प्रकृति मे गहरा रस लिया है, जीने की क्रिया मे ही उन्होंने आनद का अनुभव किया है; साहित्य, सगीत और कला का विकास हुआ है, गाने, नाचने, चित्रकला और नाटको मे उनकी दिलचस्पी रही है, यहातक कि यौन-सबधो के बारे मे बडी पेचीदा किस्म की जाचें हुई हैं, इस बात का कयास नही किया जा सकता कि एक ऐसी तहज़ीब या ज़िदगी का ऐसा नज़रिया, जिसकी बुनियाद मे ग़ैर-दुनियादारी हो, या जो ज़िदगी को हेच समझता हो, इस तरह के विविध और ज़ोरदार विकास का बानी होगा। दरअसल, इससे ज़ाहिर होना चाहिए कि कोई भी तहज़ीब, जो बुनियादी तौर पर ग़ैर-दुनियावी हो, हज़ारो साल तक अपने को कायम नही रख सकती।)

फिर भी कुछ लोगो का खयाल है कि हिंदुस्तानी विचार और सस्कृति ज़िदगी से इन्कार करने के सिद्धात के सूचक हैं, ज़िदगी से इकरार के सिद्धात के नही। मेरा खयाल है कि दोनो ही सिद्धात, कमोबेश, सभी पुरानी सस्कृतियो और पुराने धर्मों मे मौजूद हैं। लेकिन मैं तो इस नतीजे पर पहुचूगा कि सब कुछ देखते हुए, हिंदुस्तानी सस्कृति ने ज़िदगी से इन्कार करने पर कभी ज़ोर नही दिया है, अगरचे यहा के कुछ फिलसूफो ने ऐसा ज़रूर किया है। बल्कि ईसाई मज़हब के मुकाबले मे इसने ज़िदगी से जो इन्कार किया है, वह बहुत कम है। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म ने अलबत्ता ज़िदगी से अलग रहने पर कुछ ज़ोर दिया है, और हिंदुस्तान के इतिहास के कुछ ज़मानो मे एक बडे पैमाने पर ज़िदगी से दूर रहने की प्रवृत्ति रही है।

मिसाल के लिए उस वक्त, जबकि बहुत ज्यादा शुमार मे लोग बौद्ध-विहारो या मठो मे शामिल हुए हैं। इसकी क्या वजह थी, मैं नही जानता। इसी तरह की, बल्कि इससे भी बढी हुई मिसाले हमे यूरोप के मध्य-युग मे मिल सकती है, जबकि इस तरह का विश्वास फैला हुआ था कि दुनिया का खात्मा होनेवाला है। शायद त्याग के और जिंदगी से इन्कार करने के खयाल लोगो मे उस वक्त पैदा होते हैं, जब राजनैतिक या आर्थिक मायूसी का उन्हे सामना करना पडता है।

बौद्ध-धर्म, बावजूद अपने उसूली नजरिये के—बल्कि नजरियो के, क्योकि कई नजरिये हैं—दरअसल आखिरी सीमाओ से अपने को बचाता है, यह तो बीच के रास्ते के सिद्धात का माननेवाला है। यहातक कि 'निर्वाण' के बारे मे जो खयाल है, वह भी ऐसा नही कि उसे एक तरह की शून्यता समझें, जैसाकि कभी-कभी समझा जाता है। यह एक निश्चित स्थिति है, लेकिन चूकि यह इन्सान के विचारो से परे की वस्तु है, इसलिए इसके वर्णन मे नकारात्मक शब्द इस्तेमाल किये गए हैं। अगर बौद्ध-धर्म, जो हिंदुस्तानी विचार और सस्कृति की उपज का एक नमूना है, एक नकारात्मक या जिंदगी से इन्कार करनेवाला सिद्धात होता, तो जरूर ही उसका इस तरह का असर उन करोडो लोगो पर पडा होता, जो उसके माननेवाले हैं। लेकिन, दरअसल बौद्ध-मजहबवाले मुल्कों मे हमें इसके खिलाफ सबूत मिलते है और चीनी लोग इस बात की जीती-जागती मिसाल है कि जिंदगी से इकरार करना किसे कहते है।

जान पडता है कि यह गलतफहमी भी इस वजह से पैदा हुई है कि हिंदुस्तानी विचारधारा हमेशा जिंदगी के आखिरी मकसद पर जोर देती रही है। इसकी बनावट मे जो आधिभौतिक अश रहा है, उसे यह कभी नही भुला सकी है और इसलिए, जिंदगी से दूसरी तौर पर इकरार करते हुए भी इसने जिंदगी का शिकार या गुलाम बनने से इन्कार किया है। इसने कहा है कि सही कामो मे अपनी पूरी ताकत और शक्ति के साथ जरूर लगिये, लेकिन अपने को उससे ऊपर रखिये और अपने कामो मे नतीजे के बारे मे ज्यादा चिंता न कीजिये। इस तरह इसने जिंदगी और काम मे लगे रहते हुए भी एक अलहदगी अख्तियार करना सिखाया है। इसने काम से मुह मोडना नही सिखाया। अलहदगी या विरक्त रहने का खयाल हिंदुस्तानी विचार और फिलसफे मे समाया हुआ है, उसी तरह जैसेकि और बहुत-से दूसरे फिलसफो मे यह मिलता है। यह इस बात के कहने का सिर्फ एक दूसरा तरीका है कि दृश्य और अदृश्य-जगत के बीच एक सम-तौल और तवाजुन कायम रखना चाहिए, क्योंकि दृश्य-जगत के कामो मे अगर बहुत मोह पैदा

हो जाता है, तो दूसरी दुनिया भुला दी जाती है या ओझल हो जाती है और तब खुद कामो के पीछे कोई आखिरी मकसद नही रह जाता।

(हिंदुस्तानी दिमाग की इन शुरू की उडानो मे सचाई पर जोर दिया गया है, उस पर भरोसा और उसके लिए उत्साह दिखाया गया है। हठवाद या इलहाम को उन लोगो के लिए छोड दिया गया है, जो मुकाबले मे छोटा दिमाग रखनेवाले है और जो इनसे ऊपर उठ नही सकते। वे प्रयोग के जरिये, जिसकी नीव निजी अनुभव पर होती, सत्य की खोज करना चाहते थे। यह अनुभव, जब इसका ताल्लुक अदृश्य-जगत से होता, तो सभी भावुक या आत्मिक अनुभवो की तरह, दृश्य-जगत के अनुभवो से मुख्तलिफ होता। तीन परिमाणो की दुनिया से परे, किसी दूसरी ही और बडी दुनिया मे यह जा पहुचता और उसे तीन परिमाणवाले शब्दो मे बता सकना कठिन होता। यह अनुभव क्या था, कोई दिव्य-दर्शन था, या सत्य और असलियत के किसी पहलू को पहचान लेना था, या महज ख्वाब या खयाल था, मैं कह नहीं सकता। सभव है कि अकसर यह आत्म-मोह रहा हो। जिस बात मे मुझे दिलचस्पी है, वह यह है कि इस खोज का तरीका कैसा था। यह हठवादी या कही हुई बात को मान लेने का ढग नही था, बल्कि जिंदगी के बाहरी दिखावो के पीछे जो असलियत है, उसे खोज निकालने की जाती कोशिश थी।)

इसे याद रखना चाहिए कि हिंदुस्तान मे फिलसफा कुछ इने-गिने फिलसूफो या विचारको का मैदान नही था। आम लोगो के मजहब का यह एक लाजिमी अश था, और चाहे जितने घुले हुए रूप मे क्यो न हो, यह भिदकर उन तक पहुचता था और इसने उनमे एक फिलसफियाना नजरिया पैदा कर दिया था, जो हिंदुस्तान मे करीब-करीब उतना ही आम था, जितना कि चीन मे यह है। कुछ लोगो के लिए तो इस फिलसफे ने एक गहरी और पेचीदा कोशिश की शक्ल अख्तियार कर ली थी, जो यह जानना चाहती थी कि सभी दिखाई पडनेवाली वस्तुओ के पीछे कौनसे कारण और नियम काम कर रहे हैं। जिंदगी का आखिरी मकसद क्या है, जिंदगी मे जो बहुत-सी परस्पर विरोधी बातें दिखाई पडती हैं, उनमे कोई भीतरी एकता है या नही। लेकिन आम लोगो के लिए यह एक ज्यादा सादा मामला था। फिर भी इसने उन्हें जिंदगी के मकसद का, कार्य-कारण का, कुछ ज्ञान दिया और उनमे ऐसी हिम्मत पैदा की कि वे कठिनाइयो और बदनसीबियो का सामना कर सकें और अपनी शाति और खुशी को न खो बैठे। रवीद्रनाथ ठाकुर ने डाक्टर ताई-ची-ताओ को लिखा था कि चीन और हिंदुस्तान का पुराना ज्ञान 'ताओ' यानी सच्चा रास्ता पूर्णता की खोज है और जिंदगी के अनेक कामो

का जीवन के आनंद से मेल है। इस ज्ञान के कुछ हिस्से ने अनपढ और मूर्ख जनता पर भी अपनी छाप डाली है, और हमने देखा है कि सात साल के भयानक युद्ध के बाद भी चीनी लोगो ने अपने विश्वास के लंगर को खोया नही है और न अपने दिमाग की खुशी मे फर्क आने दिया है। हिंदुस्तान मे हमारी मुसीबतें और भी लम्बी रही है और गरीबी और हद दर्जे की विपत्ति हमारे यहा के लोगो की अभिन्न साथी रही हैं। फिर भी वे हँस लेते है और गाते हैं और नाचते है और उम्मीद नही खो बैठे हैं।

७ : समन्वय और समझौता : वर्ण-व्यवस्था का आरंभ

आर्यों के हिंदुस्तान मे आने ने नये मसले खडे किये, जो कौमी और राजनैतिक, दोनो ही थे। हारी हुई जाति, यानी द्रविडो के पीछे सभ्यता की एक लंबी पृष्ठभूमि थी, लेकिन इसमे ज़रा भी शक नही कि आर्य लोग अपने को उनसे बहुत ही ऊंचा समझते थे और दोनो के बीच एक चौडी खाई थी। फिर कुछ पिछडी हुई कदीम जातिया भी थी, जो या तो जंगलो मे रहा करती थी या खानाबदोश थी। जातियो की इस कश-मकश और आपस की प्रतिक्रिया से ही वर्ण-व्यवस्था की शुरूआत हुई और बाद की सदियो मे इसने हिंदुस्तानियो की ज़िंदगी पर बडा गहरा असर डाला। शायद यह न आर्यों की चीज़ थी, न द्रविडो की। यह जुदा-जुदा जातियो को एक सामाजिक संगठन के अंदर ले आने की कोशिश थी, उस वक्त के जो भी हालात थे, उन्हे एक संगत रूप देने का प्रयास था। बाद मे इसकी वजह से बडी पस्ती आई और आज भी यह एक बोझ और शाप के रूप मे मौजूद है। लेकिन बाद की कसौटियो और विकास के आधार पर इसके बारे मे फैसला करना मुनासिब न होगा। यह व्यवस्था उस ज़माने के विचारो के अनुरूप थी और कुछ इस तरह के दर्जे सभी कदीम तहज़ीबो मे हम पायेंगे, सिवाय चीन के, जो ज़ाहिरा तौर पर इससे बचा हुआ था। आर्यों की दूसरी शाख मे, यानी ईरानियो के यहा सासानी ज़माने मे चार दर्जे किये गए थे, लेकिन इन्होंने बिगडकर जातो की शक्ल नही ली। बहुत-सी पुरानी तहज़ीबें—जिनमे यूनानी भी एक है—आम लोगो की गुलामी के बल पर बनी थी। हिंदुस्तान में मज़दूर की गुलामी इतने बडे पैमाने पर नही थी, अगरचे एक थोडी तादाद मे घरेलू गुलाम यहा पर भी थे। अफलातून ने अपनी 'रिपब्लिक' पुस्तक मे चार खास वर्णों के ढंग के दर्जो की चर्चा की है। मध्य-युग के कैथलिक देशो मे भी इस तरह का भेद मौजूद था।

जात या वर्ण का आरंभ आर्यों और अनार्यों के भेद से हुआ। अनार्यों मे भी दो भेद थे, एक तो द्रविड जातिया थी, दूसरे यहा की क़दीम जातिया

थी। शुरू में आर्यों में सिर्फ एक वर्ग था और धंधों का शायद ही बटवारा रहा हो। 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति ऐसी धातु से है, जिसका अर्थ 'धरती का जोतना' है और सभी आर्य खेतिहर थे, खेती एक काबिल-कद्र पेशा समझा जाता था। धरती के जोतनेवाले पुरोहित, सिपाही, व्यापारी सभी होते और पुरोहितों को कोई विशेष हक हासिल नहीं थे। वर्ण-भेद, जिसका मकसद आर्यों को अनार्यों से जुदा करना था, अब खुद आर्यों पर अपना यह असर लाया कि ज्यों-ज्यों धंधे बढ़े और इनका आपस में बटवारा हुआ, त्यों-त्यों नये वर्गों ने वर्ण या जाति की शक्ल ले ली।)

इस तरह, ऐसे जमाने में, जब फतह करनेवालों का यह कायदा था कि हारे हुए लोगों को या तो गुलाम बना लेते थे, या उन्हें बिलकुल मिटा देते थे, वर्ण-व्यवस्था ने एक शांतिवाला हल पेश किया और बढ़ते हुए धंधों के बटवारे की जरूरत ने इसमें मदद पहुंचाई। समाज में दर्जे कायम हो गए। किसान जनता में से वैश्य बने, जिनमें किसान, कारीगर और व्यापारी लोग थे, क्षत्रिय हुए जो हुकूमत करते थे या युद्ध करते थे, ब्राह्मण बने जो पुरोहिती करते थे, विचारक थे, जिनके हाथ में नीति की बागडोर थी और जिनसे यह उम्मीद की जाती थी कि वे जाति के आदर्शों की रक्षा करेंगे। इन तीनों वर्णों से नीचे शूद्र थे, जो मजदूरी करते थे और ऐसे धंधे करते थे, जिनमें खास जानकारी की जरूरत नहीं होती और जो किसानों से अलग थे। कदीम बाशिंदों में से भी बहुत-से इन समाज में मिला लिये गए और उन्हें शूद्रों के साथ इस समाजी व्यवस्था में सबसे नीचे का दर्जा दिया गया। यह मिला लेने का काम बराबर जारी रहा। इस वर्ण-विभाजन में अदला-बदली होती रही और सख्ती के साथ तो भेद बाद में कायम हुए। शायद हुकूमत करनेवाले वर्ण को हमेशा बड़ी आजादी रही, और कोई भी शख्स, जो लड़कर या दूसरी तरह ताकत अपने हाथ में कर लेता था, वह अगर चाहे, तो क्षत्रियों में शरीक हो सकता था और पुरोहितों के जरिये अपनी वंशावली तैयार करा सकता था, जिसमें उसका ताल्लुक किसी प्राचीन आर्य शूरवीर से दिखा दिया जाता।

आर्य शब्द का रफ्ता-रफ्ता कोई जातीय अभिप्राय न रह गया और इसके मानी 'कुलीन' के हो गए। इसी तरह अनार्य के मानी यह हुए कि जो कुलीन न हो और यह शब्द आमतौर पर जंगल में रहनेवालों और खाना-बदोश जातियों के लिए इस्तेमाल में आता।

हिंदुस्तानियों में विश्लेषण करने की एक अद्भुत बुद्धि रही है और इसने न केवल विचारों, बल्कि जिंदगी के कामों को अलग-अलग टुकड़ों में

बाटने के लिए उत्साह दिखाया है। आर्यों ने समाज को तो चार खास हिस्सो मे बाटा ही, शख्सी जिंदगी का भी इसने चार टुकडो या अवस्थाओ मे बटवारा किया है—पहली अवस्था ब्रह्मचर्य की है, जबकि आदमी बढकर युवा होता है, विद्या सीखता है, ज्ञान हासिल करता है और आत्म-संयम का अभ्यास करता है, दूसरी अवस्था गृहस्थ की है, जबकि वह दुनियादारी मे लगता है, तीसरा अवस्था बडे-बूढे व्यवहार-कुशल वानप्रस्थ की है, जिसमे उसने तटस्थता और सम-तौल हासिल कर लिया है और अपने को समाज-सेवा के कामो मे, बिना निजी लाभ की इच्छा के, लगा सकता है, आखिरी अवस्था सन्यास की है, जिसमे वह दुनिया से बिलकुल अलग-थलग हो जाता है और दुनिया के बधो को छोड देता है। इस तरह से आर्यों ने आदमी मे साथ-साथ रहनेवाली दो विरोधी प्रवृत्तियो मे भी समझौता कायम किया—यानी उस प्रवृत्ति मे, जो जिंदगी से इकरार करती है और उसमे, जो जिंदगी से इन्कार करती है।

जिस तरह चीन मे हुआ है, उसी तरह हिंदुस्तान मे विद्या और काबलियत की हमेशा लोगो ने बडी क़द्र की है और विद्या का अभिप्राय ऊचे किस्म के ज्ञान के साथ-साथ सदाचार से रहा है। विद्वानो के सामने हुकूमत करनेवालो और योद्धाओ ने सदा सिर झुकाया है। पुराना हिंदुस्तानी सिद्धात यह रहा है कि जिनके हाथ मे ताकत है, वे पूरे-पूरे ढग से कभी तटस्थ नही हो सकते। उनकी निजी दिलचस्पियो और प्रवृत्तियो का आम लोगो की जानिब जो उनके फर्ज़ है, उनसे संघर्ष पैदा होगा। इससे मूल्यो के ठीक-ठीक आकने के लिए और नीति के आदर्शों की रक्षा के लिए विचारको के एक वर्ग को, जो आर्थिक चिताओ और जहातक हो सके, तरफदारी से, दूर रहे और जिंदगी के मसलो पर अलहदगी से गौर कर सकें, चुना गया। इस प्रकार विचारको और फिलसूफो के वर्ग ने समाज के संगठन मे सबसे ऊचा दर्जा पाया और सब लोग इनका आदर और मान करते थे। इसके बाद काम के मैदान के लोग थे, यानी हुकूमत करनेवाले और लडाइयो मे हिस्सा लेनेवाले, लेकिन इनकी चाहे जैसी ताकत रही हो, इन्हे वह इज्ज़त नही हासिल थी, जो पहले वर्ग के लोगो को थी। इससे भी कम कद्र थी दौलतमदो की। युद्ध करनेवाले वर्ग को बहुत ऊचा रुतबा मिला था, अगरचे यह सबसे ऊपर का वर्ग नही था। इस बात मे हमारी स्थिति चीन से जुदा थी, जहा इस वर्ग को हिकारत से देखा जाता था।

यह एक उसूली बात थी और कुछ हद तक यह और जगहो मे भी मिलती है। मिसाल के लिए मध्य-युग के यूरोप की ईसाई रियासतो को ले

लीजिए, जबकि रोम के पादरियो के हाथ मे सभी रूहानी, इखलाकी और नैतिक मामलो की नकेल थी, यहातक कि रियासत के कार-बार के बुनियादी आम उसूलो की भी। अमली तौर पर रोम के पादरियो को गहरी दिलचस्पी दुनियावी ताकत मे पैदा हो गई थी और मज़हब के खास पुरोहित लोग खुद हाकिम बने हुए थे। हिंदुस्तान मे ब्राह्मण-वर्ग ने विचारको और फिलसूफो को पेश करने के अलावा खुद ताकत हासिल कर ली थी, इस तरह अपने को सुरक्षित करके पुरोहितो ने अपनी जायदादो की हिफाजत की ठान ली थी। लेकिन यह सिद्धात मुख्तलिफ हद तक हिंदुस्तानी जिदगी पर गहरा असर डालता रहा और आदर्श हमेशा यह रहा कि विद्वान और दयावान, भले और सयमी और दूसरो के लिए आत्म-त्याग करनेवालो की इज़्ज़त की जाय। ब्राह्मण-वर्ग मे, गुजरे जमाने मे, अधिकारी जमात की सभी बुराइया रही है, और इसमे से बहुतेरे न काबिल हुए हैं, न नेक। फिर भी आम लोगो मे उनकी इज्जत बनी रही है, इसलिए नही कि उनके पास दौलत इकट्ठा हो गई थी, बल्कि इसलिए कि उन्होंने पीढी-दर-पीढी बहुत-से काबिल लोगो को पैदा किया था, जिन्होंने अपने त्याग द्वारा आम लोगो की और समाज की सेवाए की थी। अपने खास-खास लोगो के कारनामो से पूरे वर्ग ने हर युग मे फायदा उठाया है, लेकिन आम लोगो ने इज़्ज़त की है गुणो की, न कि पदो की। परपरा यह रही है कि भलाई और विद्या की इज़्ज़त हो, वह चाहे जिस शख्स मे हो। बहुत-सी मिसालें हैं इस बात की कि ग़ैर-ब्राह्मणो की, यहातक कि दलित-वर्ग के लोगो की इतनी इज़्ज़त की गई है कि उन्हे सतो का रुतबा तक दिया गया है। सरकारी पद और फौजी शक्ति की उतनी इज़्ज़त नही की गई है—इनका भय चाहे लोगो ने माना हो।

आज भी, इस पैसे के युग मे, इस परपरा का असर साफ तौर पर दिखाई देता है, और इसीकी वजह से गाधीजी (जो ब्राह्मण नही हैं) आज हिंदुस्तान के सबसे बडे नेता बन गए हैं और बिना किसी सरकारी पद के या धन के ज़ोर के आज करोडो दिलो पर उनका सिक्का जमा हुआ है। शायद एक क़ौम की सास्कृतिक पृष्ठभूमि और चेतन या अचेतन उद्देश्य की यह एक अच्छी कसौटी है, यानी किस तरह के नेता को वह कुबूल करती है।

पुरानी हिंदुस्तानी सभ्यता, या भारतीय आर्य-सस्कृति मे धर्म का विचार एक केंद्रीय विचार था ओर धर्म के मानी मत या मज़हब से कुछ ज्यादा थे। इसमे दूसरो के प्रति अपने फर्ज की अदायगी का भी विचार रहा है। यह धर्म खुद 'ऋत' का अग था, यानी उस बुनियादी नैतिक विधान का अग था, जो इस सारे विश्व को और जो कुछ इस विश्व मे है, उस

सबका नियमन करता है। यदि ऐसी कोई व्यवस्था है, तो मनुष्य को उसके अनुकूल बनना तथा रहना-सहना चाहिए कि इससे उसकी संगति या समरसता कायम रहे। अगर आदमी अपने फर्जों को अदा करता है और सदाचार की दृष्टि से उसके काम ठीक है, तो लाज़िमी तौर पर नतीजे उनके ठीक होंगे। हक़ों पर ज़ोर नही दिया जाता था। यह कुछ हद तक सभी जगह पुराना नज़रिया रहा है। इस ज़माने मे जो शख्सी गिरोहो और कौमो के हकों पर ज़ोर दिया जाता है, वह इससे जाहिरा तौर पर बहुत खिलाफ जान पडता है।

८ : हिन्दुस्तानी संस्कृति का अटूट सिलसिला

इस तरह, शुरू-शुरू के दिनो मे हम एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का आरंभ देखते है, जो बाद के युगो मे बहुत फली-फूली और पनपी और जो बावजूद बहुत-सी तब्दीलियो के बराबर कायम रही। बुनियादी आदर्श और मुख्य विचार अपना रूप ग्रहण करते हैं और साहित्य और फिलसफा, कला और नाटक और ज़िंदगी के और धंधे इन आदर्शों से और लोकमत से प्रभावित होते हैं, जो बाद मे उगकर बढते ही रहे और आजकल की वर्ण-व्यवस्था के रूप मे उन्होंने सारे समाज और सभी चीज़ो को जकड लिया। यह व्यवस्था एक ख़ास युग की परिस्थितियो मे बनी थी और इसका उद्देश्य समाज का संगठन और उसमे सम-तौल पैदा करना था, लेकिन इसका विकास कुछ ऐसा हुआ कि यह उसी समाज के लिए और इन्सानी दिमाग के लिए कैदघर बन गई। आखिरकार तरक्की के दामो हिफाज़त खरीदी गई।

फिर भी बहुत दिनो तक यह व्यवस्था कायम रही और सभी दिशाओ मे तरक्की करने की प्रेरणा इतनी ज़ोरदार थी कि उस व्यवस्था के चौखटे के भीतर भी यह सारे हिंदुस्तान मे और पूरबी समुदरो तक फैली और इसकी पायदारी ऐसी थी कि यह हमलो के धक्के बार-बार सहकर भी ज़िंदा रही। प्रोफेसर मैकडानेल अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' मे हमे बताते है कि "हिंदुस्तानी साहित्य का महत्त्व, समग्र रूप से, उसकी मौलिकता में है। जिस वक्त कि यूनानियों ने ईसा से पहले की चौथी सदी के अंत मे पच्छिमोत्तर मे हमला किया, उस वक्त हिंदुस्तानी अपनी कौमी संस्कृति कायम कर चुके थे और इस पर विदेशी प्रभाव नही पडे थे। और बावजूद इसके कि ईरानियो, यूनानियो, सिदियनो और मुसलमानो के हमलो की लहरें एक के बाद एक आती रहीं और ये लोग विजय पाते रहे, भारतीय-आर्य जाति की ज़िंदगी और साहित्य का कौमी विकास अंग्रेज़ो के अधिकार के वक्त तक बिना रुकावट और अटूट क्रम से चलता रहा। इंडो-यूरोपियन जाति की किसी शाख ने, अलग रहते हुए, ऐसे विकास का अनुभव नही

किया। चीन को छोडकर कोई ऐसा मुल्क नही, जो अपनी भाषा और साहित्य, अपने धार्मिक विश्वास और कर्म-काड और अपने सामाजिक रीति-रिवाजो का तीन हजार वर्षों से ज्यादा का अटूट विकास का सिलसिला पेश कर सके।"

लेकिन इतिहास के इस लबे जमाने मे हिंदुस्तान बिलकुल अलग-थलग नही रहा है और उसका निरतर और जीता-जागता सपर्क ईरानियो, यूनानियो, चीनियो, मध्य-एशियायियो और औरो से रहा है। अगर उसकी बुनियादी सस्कृति इन सपर्कों के बाद भी कायम रही, तो जरूर खुद इस सस्कृति मे कोई बात—कोई भीतरी ताकत और जिंदगी की समझ-बूझ—रही है, जिसने इसे इस तरीके पर जिदा रखा है, क्योंकि यह तीन-चार हजार बरसो का सस्कृति का विकास और अटूट सिलसिला एक अद्भुत बात है। मशहूर विद्वान् और प्राच्यविद् मैक्समूलर ने इस पर जोर दिया है और लिखा है—"दरअसल हिंदू विचार के सबसे हाल के और सबसे पुराने रूपों मे एक अटूट क्रम मिलता है और यह तीन हजार साल से ज्यादा तक बना रहा है।" बहुत जोश के साथ उन्होंने (इंग्लिस्तान की कैंब्रिज यूनिवर्सिटी मे दिये गए व्याख्यानो मे, सन् १८८२) मे कहा है—"अगर हम सारी दुनिया की खोज करे, ऐसे मुल्क का पता लगाने के लिए कि जिसे प्रकृति ने सबसे सपन्न, शक्तिवाला और सुदर बनाया है—जो कुछ हिस्सो में धरती पर स्वर्ग की तरह है—तो मैं हिंदुस्तान की तरफ इशारा करूगा। अगर मुझसे कोई पूछे कि किस आकाश के तले इन्सान के दिमाग ने अपने कुछ सबसे चुने हुए गुणों का विकास किया है, जिंदगी के सबसे अहम मसलों पर सबसे ज्यादा गहराई के साथ सोच-विचार किया है और उनमे से कुछ के ऐसे हल हासिल किये हैं, जिनपर उन्हें भी ध्यान देना चाहिए, जिन्होंने कि अफलातून और काट को पढा है—तो मैं हिंदुस्तान की तरफ इशारा करूगा। और अगर मैं अपने से पूछू कि कौनसा ऐसा साहित्य है, जिससे हम यूरोपवाले, जो बहुत-कुछ महज यूनानियो और रोमनो और एक सेमेटिक जाति के, यानी यहूदियों के, विचारो के साथ-साथ पले हैं, वह इसलाह हासिल कर सकते हैं, जिसकी हमे अपनी जिंदगी को ज्यादा मुकम्मिल, ज्यादा विस्तृत और ज्यादा व्यापक बनाने के लिए जरूरत है, न महज इस जिंदगी के लिहाज से, बल्कि एक एकदम बदली हुई और सदा कायम रहनेवाली जिंदगी के लिहाज से—तो मैं हिंदुस्तान की तरफ इशारा करूगा।"

करीब-करीब आधी सदी बाद, रोम्या रोला ने उसी लहजे मे लिखा है—"अगर दुनिया की सतह पर कोई एक मुल्क है, जहा कि जिंदा लोगो

"के सभी सपनो को उस कदीम वक्त से जगह मिली है, जबसे इन्सान ने अस्तित्त्व का सपना शुरू किया, तो वह हिंदुस्तान है।"

९ : उपनिषद्

उपनिषद, जिनका समय ईसा से ८०० वर्ष पहले से लेकर है, हमें भारतीय आर्यो के विचार के विकास मे एक कदम आगे ले जाते हैं और यह बडा लवा कदम है। आर्य लोगों को बसे हुए अब काफी समय बीत चुका है और एक पायदार और खुशहाल सभ्यता, जिसमे पुराने और नये का मेल हो चुका है, बन गई है। इसमे आर्यो के विचार और आदर्श प्रभाव रखते हैं, लेकिन इनको पृष्ठभूमि मे पूजा के जो रूप हैं, वे और भी पहले के और आदिम हैं।

(वेदो का नाम आदर से, लेकिन एक मीठे व्यग्य के भाव से लिया जाता है। वैदिक देवताओ से अब सतोष नही रह जाता और पुरोहितो के कर्म-काड का मजाक उडाया जाता है। लेकिन अतीत से नाता तोड लेने की कोशिश नही होती, उसे वह मुकाम समझा जाता है, जहा से तरक्की की मजिल शुरू होती है।)

उपनिषद् छान-बीन की, मानसिक साहस की और सत्य की खोज के उत्साह की भावना से भर-पूर है। (यह सही है कि यह सत्य की खोज मौजूदा जमाने के विज्ञान के प्रयोग के तरीको से नही हुई है, फिर भी जो तरीका अख्तियार किया गया है, उसमे वैज्ञानिक तरीके का एक अश है। हठवाद को दूर कर दिया गया है। उनमे बहुत-कुछ ऐसा है, जो साधारण है और जिसका आजकल हम लोगो के लिए कोई अर्थ या प्रसग नही। खास जोर आत्म-बोध या आत्मा-परमात्मा के ज्ञान पर दिया गया है और इन दोनो को मूल मे एक ही बताया गया है। बाहरी दुनिया या वस्तु-जगत को असत् नही बताया गया है, बल्कि निस्वती तौर पर सत् और भीतरी सत्य का एक पहलू बताया गया है।)

उपनषिदो मे बहुत-सी अस्पष्ट बातें हैं और उनकी मुख्तलिफ शरहे हुई हैं। लेकिन ये फिलसूफो और विद्वानो के जाच करने की चीजें हैं। आम झुकाव अद्वैतवाद की तरफ है और इस सारे नजरिये का जाहिरा मक़सद यह मालूम पडता है कि उस जमाने की जो आपस की कडी बहसें रही है और भेद-भाव रहे हैं, उन्हे कम किया जाय। यह समन्वय का रास्ता रहा है। जादू-टोने मे दिलचस्पी को और इसी तरह दैवी बातो के ज्ञान को बढावा देने से रोका गया है और बिना सच्चे ज्ञान के पूजा-पाठ और कर्म-काड को फिजूल बताया गया है। कहा गया है—"इनमे लगे हुए लोग अपने को

समझदार और विद्वान मानते हुए इस तरह भटकते रहते हैं, जैसे अंधे को अधा रास्ता दिखा रहा हो और वे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुच पाते।" वेदों तक को नीचे दर्जे का ज्ञान बताया गया है; भीतरी मन के प्रकाश को ऊंचा ज्ञान कहा है। बिना समझ के फ़िलसफ़े के ज्ञान की तरफ़ से होशियार किया गया है और समाज के धर्मों और रूहानी बातो मे सामजस्य पैदा करने की बराबर कोशिश की गई है। ज़िंदगी ने जो कर्तव्य और फ़र्ज़ ऊपर डाले है, उनका पालन होना ही चाहिए, लेकिन अलहदगी का भाव रखते हुए, ऐसा कहा गया है।

व्यक्तिगत पूर्णता की नीति पर शायद इतना ज़्यादा ज़ोर दिया गया कि सामाजिक दृष्टिकोण को नुक़सान पहुचा। उपनिषदो मे कहा गया है कि "आत्मा से बढकर कोई चीज़ नही।" यह समझा गया होगा कि समाज मे पायदारी आ गई है, इसलिए आदमी का दिमाग़ व्यक्तिगत पूर्णता का बराबर ध्यान किया करता था और इसकी खोज मे उसने आसमान और दिल के सबसे अदरूनी कोनो को छान डाला। यह पुराना हिंदुस्तानी नज़रिया कोई सकुचित कौमी नज़रिया न था, अगरचे इस बात का ज़रूर खयाल रहा होगा कि हिंदुस्तान सारी दुनिया का केंद्र है, उसी तरह, जिस तरह कि चीन, यूनान और रोम ने अपने बारे मे मुख्तलिफ वक्तो मे खयाल किया है। महाभारत मे कहा गया है—"यह सारा मर्त्यलोक एक परस्पर आश्रित सगठन है।"

जिन सवालो पर उपनिषदो मे विचार किया गया है, उनके आधिभौतिक पहलुओ को समझना मेरे लिए कठिन है, लेकिन इन सवालो पर गौर करने का जो ढग है, उसने मुझ पर असर डाला है, क्योकि यह हठवाद या अध-विश्वास का ढग नही है। यह ढग मज़हबी न होकर फ़िलसफ़ियाना है। खयालो के कस-बल को, जाच की भावना को और दलील की पृष्ठ-भूमि को मैं पसद करता हू। बयान के ढग मे कसाव है। यह अकसर गुरु और शिष्य के बीच सवाल-जवाब के रूप मे मिलता है, और यह अनुमान किया गया है कि उपनिषद् व्याख्यानो के एक तरह की याददाश्त हैं, जिन्हे गुरु ने तैयार किया है या शिष्यो ने टाक लिया है। प्रोफेसर एफ० डब्ल्यू० टामस अपनी किताब 'दि लीगेसी ऑव इडिया' ('हिंदुस्तान की देन') मे कहते हैं—"उपनिषदों का जो खास गुण है और जिसकी वजह से उनमे इन्सानी दिलकशी है, वह यह हैं कि उनके लहजे मे बडा निष्कपटपन है, वह इस तरह का है, मानो दोस्त आपस मे किसी गहरे मसले पर सोच-विचार कर रहे हैं।" चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य उनके बारे मे इस तरह जोश के साथ कहते हैं—"प्रशस्त कल्पना विचारो की शानदार उडान, जाच-पडताल

की बेधड़क भावना, जिसके पीछे सचाई तक पहुचने की गहरी प्यास है— इनसे प्रेरित होकर उपनिषदों मे गुरु और शिष्य विश्व के 'खुले हुए रहस्य मे पैठते हैं, और यह बात दुनिया की इन सबसे पुरानी पवित्र पुस्तको को सबसे आधुनिक और सतोष देनेवाली बना देती है।"

उपनिषदो की सबसे बडी विशेषता यह है कि उनमे सचाई पर बडा ज़ोर दिया गया है। "सचाई की सदा जीत होती है, झूठ की नही। सचाई के रास्ते से ही हम परमात्मा तक पहुच सकते हैं।" और उपनिषदो मे आई हुई यह प्रार्थना मशहूर है "असत् से मुझे सत् की तरफ ले चल! अधकार से मुझे प्रकाश की तरफ ले चल! मृत्यु से मुझे अमरत्व की तरफ ले चल!"

हमें बार-बार एक बेचैन दिमाग की झांकी मिलती है, ऐसे दिमाग की, जो जिज्ञासा और छान-बीन मे लगा हुआ है—"किसकी आज्ञा से मन अपने विषय पर उतरता है? किसकी आज्ञा से जीवन, जो सबसे पहली चीज़ है, आगे बढता है? किसकी आज्ञा से मनुष्य ये वचन कहते हैं? किस देवता ने आख और कान दिये हैं?" और फिर—"वायु शात क्यो नही रहती? आदमी के मन को चैन क्यो नही मिलता? क्यो और किसकी खोज मे जल बहता रहता है और एक क्षण नही ठहरता?" आदमी बराबर एक साहस-पूर्ण यात्रा मे लगा हुआ है, उसके लिए न कही दम लेना है और न उसकी यात्रा का अत है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' मे हमारी इस अनत यात्रा के बारे मे एक मत्र है और इसके हर श्लोक के आखीर मे है—"चरैवेति, चरैवेति" —"हे यात्री, इसलिए, चलते रहो, चलते रहो।"

इस खोज के बारे मे कोई विनय की भावना नहीं है, वैसा विनय, जैसा धर्मों मे एक सर्व-शक्तिमान परमात्मा के प्रति दिखाया जाता है। यहा हमे मन की परिस्थिति के ऊपर विजय मिलती है। "मेरा शरीर राख हो जायगा और मेरी स स इस चचल और अमर वायु मे मिल जायगी, लेकिन मैं और मेरे कर्मों का अत नहीं। हे मन, इस बात का सदा ध्यान रख!" सवेरे की एक प्रार्थना मे सूर्य को इस तरह सबोधन किया गया है—"हे देदीप्यमान सूर्य, मैं वही पुरुष हू, जो तुझे ऐसा बनाता हू!" कितना ऊचा आत्म-विश्वास है!

आत्मा क्या है? इसका बयान या इसकी परिभाषा सिर्फ नकारात्मक ढग से हो सकती है—"वह यह नही है, यह नही है।" या, एक प्रकार से स्वीकारात्मक ढग से—"तू वह है!" व्यक्तिगत आत्मा परमात्मा के महत् ज्वाल की एक चिनगारी है, जो उससे निकल उसीमे समा जाती है। "जिस तरह से अग्नि अखड होते हुए भी दुनिया मे आकर जिन चीज़ो को

जलाती है, उन्हींके अनुसार अलग-अलग रूप ले लेती है, इसी तरह से अंतरात्मा जिस चीज मे प्रवेश करती है, उसीके अनुसार अलग रूप ग्रहण कर लेती है, लेकिन वह खुद बिना किसी रूप के है।" यह अनुभूति कि सब चीजों के भीतर एक ही तत्त्व है, हमारे और उनके बीच के भेद ही हटा देती है और हममें यह भावना पैदा करती है कि इन्सान और प्रकृति के बीच एकता है और यह एकता बाहरी दुनिया की विविधता और अनेकरूपता की तह मे है। "जो जानता है कि सभी चीजें आत्मरूप हैं, उसके लिए क्या शोक, क्या भ्रम रह जाते है, जबकि वह इस एकता को देखता है?" "हा, जो सभी वस्तुए उस आत्मा मे देखता है और सभी चीजों मे आत्मा को देखता है, उससे (आत्मा) वह फिर न छिपेगा।"

भारतीय आर्यों के इस गहरे व्यक्तिवाद और अलहदगी की भावना का इस व्यापक नजरिये के साथ, जो जाति, वर्ग और दूसरे बाहरी और भीतरी भेदों की रुकावटें लांघ जाती हैं, मिलान और मुकाबला करना दिलचस्प है। यह दूसरी चीज़ तो एक तरह की आधिभौतिक जनसत्ता है। "वह जो आत्मा को सब चीजों मे और सब चीजों मे आत्मा को देखता है, फिर किसी जीव को हिकारत से देख ही नही सकता।" अगरचे यह महज़ सिद्धात की बात थी, फिर भी इसमे शक नही कि इसने जिंदगी पर असर डाला होगा और उस रवादारी और माकूलपसदी, मजहबी मामलो मे उस आज़ादखयाली, जीने और जीने देने की उस भावना का वातावरण पैदा किया होगा, जो हिंदुस्तानी और चीनी सस्कृति के खास लक्षण हैं। मजहब और सस्कृति के बारे मे कोई दबाव नही था और इससे एक ऐसी पुरानी और अक्लमद तहजीब का पता चलता है, जिसके पास दिमागी शक्ति का अक्षय खजाना है।

उपनिषदो मे एक सवाल है, जिसका बहुत अनोखा, लेकिन मार्के का जवाब दिया गया है। सवाल यह है कि "यह विश्व क्या है? यह कहा से उत्पन्न होता है और कहा जाता है?" और उत्तर है—"स्वतत्रता से इसका जन्म है, स्वतत्रता मे ही वह टिका है और स्वतत्रता मे ही वह लय हो जाता है।" इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है, मैं नही समझ सकता, सिवाय इसके कि उपनिषदो की रचना करनेवालो मे स्वतत्रता के खयाल के लिए बडा जोश था और वे सब कुछ उसी रूप मे देखना चाहते थे। स्वामी विवेकानद इस पहलू पर हमेशा जोर दिया करते थे।

हमारे लिए यह सहज नही कि कल्पना मे भी हम अपने को इतने पुराने ज़माने मे जा बिठायें और उस जमाने के दिमागी वातावरण मे दाखिल हों

सके। लिखने का ढग ही कुछ ऐसा है कि हम उसके आदी नही। यह देखने मे अटपटा और तरजुमे के खयाल से मुश्किल है और इसकी पृष्ठभूमि मे जो ज़िदगी है, वह अव से विलकुल जुदा है। आज बहुत-सी चीजें हैं, जिनके हम आदी हो गए हैं, इसलिए उन्हे मानकर चलते हैं, अगरचे ये विचित्र हैं और काफी गैर-माकूल है। लेकिन जिन चीज़ो के हम आदी नही हैं, उनका समझना और पसद करना कही ज्यादा कठिन है। लेकिन इन सब मुश्किलों और करीव-करीव दूर हो सकनेवाली रुकावटो के उपनिषदो के सदेशो को चाव और उत्सुकता से सुननेवाले हिंदुस्तान के इतिहास मे बरावर मिलते हैं और इन सदेशो ने कौमी दिमाग और चरित्र पर जोरदार असर डाला है। ब्लूम फील्ड का कहना है कि "विरोधी बौद्ध-मत के लिये-दिये हिंदू-विचार का कोई ऐसा खास रूप नही है, जिसकी जड उपनिषदो मे न हो।"

क़दीम हिंदुस्तानी खयाल ईरान के रास्ते यूनान तक पहुचा था और इसने वहा के कुछ विचारको और फिलसूफो पर असर डाला था। वहुत बाद मे प्लोटिनस ईरानी और हिंदुस्तानी फिलसफे को पढने के लिए पूरव में आया और उस पर खासतौर पर उपनिषदो के रहस्यवाद का प्रभाव पडा। कहा जाता है कि इन विचारो मे से बहुत-से प्लोटिनस से सत अगस्टाइन तक पहुचे थे और उसकी मारफत इन्होंने आज के ईसाई-धर्म पर असर डाला है।[1]

पिछली डेढ सदी मे हिंदुस्तानी फिलसफे को जो यूरोप ने फिर से खोज निकाला, उसका नतीजा यह हुआ कि यूरोप के फिलसूफो और विचारको पर उसका गहरा प्रभाव पडा है। इस सिलसिले मे निराशावादी शोपेनहार का कहना अकसर उद्धृत किया जाता है—"(उपनिषदो के) हर एक शब्द से गहरे, मौलिक और ऊंचे विचार उठते हैं और इन सव पर एक ऊची पवित्र और उत्सुक भावना छाई हुई है सारे ससार मे कोई ऐसी रचना नहीं जिसका पढना इतना उपयोगी, इतना ऊचा उठानेवाला हो, जितना उपनिषदो का (ये) सबसे ऊचे ज्ञान की उपज हैं एक-न-एक दिन सारी दुनिया का इन पर विश्वास होकर रहेगा।" और फिर वह लिखते हैं—"उपनिषदो के पढने से मेरी जिंदगी को शाति मिली है; यही मेरी

---

[1] रोम्यां रोला ने विवेकानद-सबंधी अपनी किताब के परिशिष्ट मे 'शुरू की सदियो में यूनानी-ईसाई रहस्यवाद और उसका हिंदू रहस्यवाद से संबध' पर एक लबा नोट दिया है। वह बताते हैं कि सैकडो बातो से इसका सबूत मिलता है कि हमारे युग की दूसरी सदी मे यूनानी विचार धारा में पूरबी असर [illegible] प गया था।

मौत के समय की तसकीन बनेगा।" इस पर लिखते हुए मैक्समूलर कहते हैं—"शोपेनहार हरगिज़ ऐसे आदमी न थे की बहकी हुई बातें लिखें, या तथा कथित रहस्यवादी या अधकचरे विचारो पर वाह-वाह करने लगें। और यह कहते हुए न मुझे शर्म या डर मालूम पडता है कि वेदात के बारे मे उनका जो उत्साह था, उसमे मैं शरीक हू और अपनी ज़िदगी मे बहुत-कुछ मुझे इससे मदद मिली है और मैं इसका ऋणी हू।"

एक दूसरी जगह मैक्समूलर लिखते है—"उपनिषद् वेदात के फिलसफे का सोता है, जिसमे इन्सानी सोच-विचार अपनी चोटी पर पहुच गया जान पडता है।" "मेरी सबसे खुशी की घडिया वेदात की किताबो के पढ़ने मे बीतती है। मेरे लिए वे सवेरे की रोशनी और पहाडो की साफ हवा-जैसी है—एक बार समझ मे आ जाने पर उनमे कितनी सादगी, कितनी सचाई मिलती है!"

लेकिन शायद उपनिषदो की और उसके बाद की पुस्तक भगवद्गीता की मुक्तकठ से जैसी तारीफ आयरिश कवि ए० ई० (जी० डब्ल्यू० रसेल) ने की है, वैसी दूसरे ने नही—"इस ज़माने के लोगो मे, गेटे, वर्डसवर्थ, इमर्सन और थोरो मे यह ज्ञान और जीवनी-शक्ति कुछ अशो मे मिलेगी, लेकिन जो कुछ भी इन्होने कहा है और उससे बहुत ज्यादा, हमे पूरब के महान और पवित्र ग्रथो मे मिलेगा। भगवद्गीता और उपनिषदो मे सभी बातो के बारे मे ज्ञान की ऐसी दिव्य पूर्णता मिलती है कि मुझे खयाल होता है कि उनके रचनेवालो ने हज़ारो भाव भरे पुराने जन्मो मे पैठकर ही, उन जन्मो मे, जिनमे छाया के लिए और छाया के साथ सघर्ष होता रहा है—इतने अधिकार के साथ उन बातो को लिखा है, जिन्हे आत्मा निश्चित समझती है।"[1]

१० : व्यक्तिवादी फ़िलसफ़े के फ़ायदे और नुकसान

कारगर तरक्की हासिल करने के लिए उपनिषदो मे तन की चुस्ती और मन की पवित्रता और तन-मन दोनो के सयम पर बराबर ज़ोर दिया गया है।

[1] छादोग्य उपनिषद् मे एक विचित्र और दिलचस्प टुकडा है—"सूर्य कभी डूबता नहीं, न उदय होता है। जब लोग समझते हैं कि सूर्य डूब रहा है, तब होता यह है कि वह दिन के अत तक पहुचकर महज़ बदल जाता है और यहा नीचे रात कर देता है और जो कुछ दूसरी तरफ है, उसके लिए दिन कर देता है। जब लोग समझते हैं कि वह सवेरे उगता है, तब वह रात के छोर तक पहुचकर पलट जाता है और यहां नीचे दिन कर देता है और जो कुछ दूसरी तरफ है, उसके लिए रात कर देता है। सच बात तो यह है कि वह कभी डूबता नहीं।"

चाहे ज्ञान सीखना हो, चाहे दूसरी ही कामयाबी हासिल करना हो, सयम, तप और कुरबानी ज़रूरी होती है। किसी-न-किसी तरह की तपस्या का खयाल हिंदुस्तानी विचारधारा का एक अग है, और ऐसा खयाल न सिर्फ चोटी के विचारको के यहा है, बल्कि साधारण अनपढ जनता मे फैला हुआ है। हजार बरस पहले यह बात रही है, और आज भी यह बात है, और अगर गाधीजी की रहनुमाई मे हिंदुस्तान को हिला देनेवाले जनता के आदोलनो के पीछे जो मनोवृत्ति काम करती है, उसे हम समझना चाहते हैं, तो ज़रूरी है कि हम इस खयाल को समझ लें।

यह ज़ाहिर है कि उपनिषदो की रचना करनेवालो के विचार, और वह ऊचे दर्जे का मानसिक वातावरण, जिसमे वे रहते थे, एक छोटे, चुने हुए लोगो के दायरे तक महदूद थे। आम जनता की समझ से ये बिलकुल बाहर थे। ऐसे लोगो की तादाद, जो रचनात्मक काम करते हैं, हमेशा थोड़ी ही होती है। लेकिन अगर बडी सख्या के लोगो से उनके विचार मिलते रहे और यह छोटा दल बडे दल को ऊपर उठाने और उसे बढाने की कोशिश मे लगा रहा, इस तरह कि दोनो के बीच की खाई कम हो जाय, तो एक पायदार और तरक्की करनेवाली सस्कृति पैदा होती है। बिना इस रचनात्मक छोटे दल के सभ्यता का ह्रास होने लगता है। लेकिन इसका ह्रास उस वक्त भी हो सकता है, जबकि एक रचनात्मक छोटे-दल का बडे दल से सबध टूट जाय और कुल मिलाकर समाज की एकता बाकी न रह जाय। ऐसी हालत मे छोटा दल अपनी रचना-शक्ति खो बैठता है और बाझ हो जाता है। नही तो इसकी जगह पर कोई दूसरी रचनात्मक या जीवनी-शक्ति, जिसे समाज पैदा करे, आ जाती है।

मेरे लिए और ज्यादातर औरो के लिए भी, उपनिषदो के ज़माने की तस्वीर सामने लाना और उस वक्त क्या-क्या ताकतें काम कर रही थी, इनकी जाच-पडताल करना मुश्किल है। फिर भी मैं खयाल करता हू कि मुट्ठी-भर विचारको और आख मूदकर चलनेवाली बहुत बडी जनता के बीच गहरे मानसिक भेद के बावजूद उन दोनो के बीच एक लगाव था, कम-से-कम कोई दिखनेवाली खाई नही थी। जिस तरह से उस वक्त के समाज मे अलग-अलग दर्जे थे, उसी तरह मानसिक दर्जे भी थे और इन्हें स्वीकार कर लिया गया था और उसका इतज़ाम भी कर दिया गया था। इससे समाज मे कुछ मेल पैदा हो गया था और झगडे-फिसाद से बचत हो गई थी। उपनिषदो के नये विचार को भी आम लोगो के लिए इस तरह से समझाया जाता था कि वह रायज खयालों से और अधविश्वासो से मिल-जुल जाता था और इस तरह वह अपने

खास मानी को बहुत-कुछ खो बैठता था। समाज में जो दर्जे कायम हो चुके थे, उन्हें नही छेड़ा जाता था, बल्कि उनकी हिफाजत की जाती थी। अद्वैतवाद ने मजहबी मामलो में एकेश्वरवाद की शक्ल ले ली थी, और इसमें भी नीची सतह के अकीदो और पूजा के तरीको को न सिर्फ गवारा किया जाता था, बल्कि यह समझा जाता था कि विकास की एक खास सीढी के लिए यह मुनासिब भी है।

इस तरह उपनिषदो की विचारधारा आम लोगो में बहुत ज्यादा फैली नही और चद विचारको और आम लोगो के बीच मानसिक भेद और भी जाहिर हो गया। वक्त पाकर उसने नई लहरोंको पैदा की। जडवादी फिलसफे की, बुद्धिवाद की और अनीश्वरवाद की जबरदस्त लहरें उठी। और फिर इसके भीतर से बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म पैदा हुए, रामायण और महाभारत-जैसे प्रसिद्ध सस्कृत महाकाव्य रचे गए, और इनमें एक बार फिर इस बात की कोशिश की गई कि विरोधी मतो और विचार के तरीको मे समन्वय किया जाय। लोगो की सृजन शक्ति, बल्कि सृजन-बुद्धिवाले थोडे से लोगो की सृजन-शक्ति, इन जमानो मे बहुत साफ ढग से सामने आती है और फिर इन थोडे-से लोगो मे और बडी जनता के बीच एक लगाव क़ायम हो गया जान पडता है। कुल मिलाकर दोनो मिल-जुलकर आगे बढते हैं।

इस तरह से, एक-एक करके कई ज़माने आते हैं, जबकि विचारो और काम के मैदान मे, साहित्य मे, नाटक मे, मूर्तिकला मे, इमारतो के तैयार करने मे, और हिंदुस्तान की सीमा से दूर सस्कृति, धर्म और उपनिवेशो के फैलाने के साहसी कामो मे रचनात्मक कोशिशे फूट पडती है। इन ज़मानो मे, झगडे-फिसाद के वक्त आते है और इसकी वजह कुछ भीतरी बातें होती हैं और कुछ बाहर से होनेवाली छेड-छाड भी। लेकिन आखिर मे यह हालत क़ाबू में आती है और रचनात्मक स्फूर्ति का जमाना फिर लौटता है। ऐसा आखिरी ज़माना, जिसमे बहुत तरह के काम हुए, वह शानदार ज़माना था, जो ईसा से बाद की चौथी सदी मे शुरु हुआ। ईसा के १००० वर्ष बाद तक, या पहले ही, हिंदुस्तान मे भीतरी गिरावट के निशान हो जाते हैं, अगरचे पुरानी कलात्मक लहर जारी रहती है, और बहुत सुदर चीजें तैयार होती रहती हैं। नई जातिया आती हैं, जिनकी भूमिका दूसरी ही होती है और ये हिंदुस्तान के थके हुए दिल और दिमाग के लिए एक नया शौक ले आती हैं, और इस टक्करका नतीजा यह भी होता है कि नये मसले उठते हैं और उनकी हल की तदबीरें की जाती हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय-आर्यों के गहरे व्यक्तिवाद ने, आखिर-

कार, अच्छे और बुरे दोनो ही नतीजे दिखाये, जो उनकी सस्कृति से उपजे। इसने बहुत ऊचे टप्पे के लोग पैदा किये, और यह बात इतिहास के किसी एक खास ज़माने तक महदूद न रही, बल्कि हर एक युग मे और बार-बार ऐसा होता रहा। इसने पूरी सस्कृति को एक आदर्शवादी और इख़लाकी पृष्ठभूमि दी, जो कायम रही और अभी कायम है, चाहे हमारे व्यवहार पर ज़्यादा असर न डाल रही हो। इस पृष्ठभूमि की मदद से और ऊचे लोगो की मिसालो के ज़ोर पर उन्होंने समाज की बनावट को कायम रखा, और जब-जब उसके टूटने का अदेसा हुआ, तब-तब उसे सभाला। उन्होंने सभ्यता और सस्कृति के अचरज पैदा करनेवाले फूल खिलाये, और अगरचे वे ऊचे दायरो तक महदूद थे, फिर भी हो-न-हो, वे कुछ हदतक जनता मे भी फैले। दूसरे मतो और रास्तो के लिए हद दर्जे की रवादारी दिखाकर वे उन झगडो को बचाते रहे, जिन्होंने अकसर समाज को टूक-टूक कर डाला है और इस तरह उन्होंने बराबर किसी-न-किसी तरह का समतोल बनाये रखा है। एक बडे सगठन के भीतर, लोगो को अपने पसद की ज़िदगी बसर करने की आज़ादी देकर, उन्होंने एक प्राचीन और तजुरबेकार जाति के लोगो की बुद्धिमानी दिखाई है। ये सभी कारनामे बड़े मार्के के रहे है।

लेकिन इसी व्यक्तिवाद का यह नतीजा हुआ कि इन्सान के समाजी पहलू पर और समाज के प्रति इन्सान के फर्ज़ पर, कम ध्यान दिया जाने लगा। हर शख्स की ज़िदगी बट और बध गई थी और दर्जों मे बटे हुए समाज मे अपने तग दायरे के अदर वह फर्ज़ो और ज़िम्मेदारियो की एक गठडी बनकर रह गया था। पूरे समाज की न उसे कल्पना थी, न इस समाज के प्रति उसका कोई फर्ज़ बाकी रहा था और न इस बात की कोई कोशिश की गई कि वह समाज से अपनी मजबूती समझे। इस खयाल का शायद मौजूदा ज़माने मे विकास हुआ है और यह किसी कदीम समाज मे नही मिलता। इसलिए कदीम हिंदुस्तान मे इसकी उम्मीद करना मुनासिब नही। फिर भी व्यक्तिवाद, अलहदगी और दर्जेवार जाते हिंदुस्तान मे बहुत ज़्यादा नुमाया रही है। बाद के ज़मानो मे तो ये हमारे लोगो के दिमाग के लिए एक पूरा क़ैदखाना बन गई हैं—न सिर्फ नीची जात के लोगो के लिए, जिन्हे इससे सबसे ज़्यादा तकलीफ पहुची, बल्कि ऊची जात के लोगो के लिए भी। हमारे इतिहास के पूरे दौर मे यह हमे एक कमज़ोर करनेवाली बात रही है, और शायद यह भी कहना बेजा न होगा कि ज्यो-ज्यो जात-पात की सख्ती बढी है, त्यो-त्यो हमारे दिमाग भी जड होते गए है और हमारी जाति की रचनात्मक शक्ति मिटती गई है।

एक और अजीब बात सामने आती है। सभी तरह के अक़ीदो और व्यवहारो, अधविश्वासो और बेवकूफियो के प्रति जो रवादारी दिखाई गई थी, उसके नुकसानदेह पहलू भी थे, क्योंकि इसने बहुत-सी बुरी रस्मो को जड पकड लेने दी और परपरा के उस बोझ को उखाडकर फेंकने से रोका, जो हमारी बाढ को रोक रहा था। पुरोहितो के बढते हुए दल ने इस हालत से अपना अलग ही फायदा उठाया और आम लोगो के अधविश्वास की नीव पर अपने स्वार्थों के गढ बना लिये। इस पुरोहित वर्ग की शायद उतनी ताकत कभी नही रही, जितनी ईसाई मजहब की कुछ शाखो के पुरोहित-वर्ग की रही, क्योकि यहा हमेशा कुछ-न-कुछ ऐसे विचारवान नेता रहे है, जिन्होने इन व्यवहारो की निदा की है। इसके अलावा इतने अलग-अलग मत रहे है कि लोग अपना मत बदल सकते थे। फिर भी यह पुरोहित-वर्ग इतना मजबूत था कि जनता को अपने वश मे रख सके और उसके अधविश्वासो से लाभ उठाता रह सके।

इस तरह से, आजाद खयाल और कट्टरपन, ये साथ साथ बने रहे और उनमे से नुक्ताचीनी करनेवाले मजहबी फिलसफे और आचार-विचार-वाले कर्म-काड पैदा हुए। पुराने धर्म-ग्रथो के प्रमाण की दुहाई बराबर दी जाती थी, लेकिन उनकी सचाइयो को बदलते हुए जमाने के लिहाज से पेश करने की कोई कोशिश नही की जाती थी। रचनात्मक और रूहानी शक्तिया कमजोर पडने लगी और उस चीज का, जिसमे इतनी जान थी, इतना अर्थ था, केवल छिलका बाकी रह गया। अरविंद घोष ने लिखा है—"अगर उप-निषदो या बुद्ध के जमाने का, या बाद के संस्कृत-युग का कोई पुराना हिंदु-स्तानी आज के हिंदुस्तान मे ला बिठाया जाय, तो वह देखेगा कि उसकी जाति पुराने वक्त के बाहरी रूपो, छिलको और चीथडो से चिपटी हुई है और उसके ऊचे मतलब के दस हिस्सो मे से नौ को खो बैठी है उसे अचरज होगा कि यहा इतना दिमागी लचरपन, इतनी जडता है, बातो का इस तरह दोहराते रहना है, जो हमे आगे नही बढाता, विज्ञान का खात्मा हो गया है, कला बहुत दिनो से बाझ हो रही है और रचनात्मक बुद्धि कितनी कमजोर हो गई है।"

११ : जड़वाद

हमारी बडी बदकिस्मतियो मे एक यह है कि हम यूनान मे, हिंदुस्तान मे और सभी जगह दुनिया के पुराने साहित्य का एक बडा हिस्सा खो बैठे हैं। शायद इससे बचत न थी, क्योकि शुरू मे किताबे ताड-पत्रो पर या भोज-पत्र पर, जो भूर्ज वृक्ष की छाल होता है—लिखी जाती थी और इनके छिलके

बहुत आसानी से उचड जाते थे और कागज़ पर लिखने का रिवाज बाद मे हुआ। किसी भी किताब की चद प्रतियो से ज्यादा न होती और अगर वे नष्ट हो जाती, तो वह रचना ही गुम हो जाती और उसका पता हमे महज़ उन हवालो या उद्धरणो से मिलता, जो उसके बारे मे और पुस्तको मे होते। फिर भी पचास-साठ हज़ार सस्कृत की हाथ की लिखी पुस्तको या उनके रूपातरो का पता लग चुका है और उनकी सूची बन चुकी है और नये-नये ग्रथ बराबर मिलते जा रहे हैं। हिंदुस्तान की बहुत-सी पुरानी पुस्तकें अबतक हिंदुस्तान मे मिली ही नही हैं, लेकिन उनके अनुवाद चीनी या तिब्बती भाषा मे मिले हैं। (हाथ की लिखी पुरानी पुस्तको की धार्मिक सस्थाओ के भडारो मे, मठो मे और निजी सग्रहो मे अगर सगठित रूप मे खोज की जाय, तो शायद बहुत अच्छा नतीजा निकले। यह काम, और हाथ की लिखी इन किताबो की छान-बीन करने का काम, और अगर ज़रूरी समझा जाय, तो इनके छपाने और अनुवाद का काम, ऐसी बाते हैं, जिन्हे और बातो के साथ-साथ उस वक्त हाथ मे लेना है, जब हम अपनी मौजूदा बेडियो को तोडने मे कामयाब हो जायें) इस तरह का अध्ययन यकीनी तौर पर हिंदुस्तान के इतिहास के बहुतेरे पहलुओ पर रोशनी डालेगा, खासकर तारीखी घटनाओ और बदलते रहनेवाले विचारो की सामाजिक पृष्ठभूमि पर। बार-बार के नुकसान और बरबादी के बावजूद और बग़ैर किसी खास-सगठित कोशिश के पचास हज़ार से ज्यादा हाथ की लिखी पुस्तको का पता लग जाना इस बात को बताता है कि साहित्य, नाटक फिलसफे और और विषयो मे पुराने ज़माने मे कितनी अद्भुत बहुतायत से रचनाए हुई थी। बहुत-सी पाडु लिपियो की, जिनका पता लगा है, अभी ठीक तरह से जाच तक नही हुई है।

उन किताबो मे, जो बिलकुल खो गई हैं, जडवाद का पूरा साहित्य है, जो शुरू के उपनिषदो के ज़माने से ठीक बाद रचा गया था। इस साहित्य के जो हवाले अब मिलते हैं, वे सिर्फ उन किताबो मे हैं, जिनमे उन पर टीका-टिप्पणी की गई है और जिनमे जडवादी सिद्धातो के खडन की लबी कोशिश की गई है। इसमे तो कोई शक ही नही है कि जडवादी फिलसफ़े का हिंदुस्तान मे सदियो तक चलन रहा है और अपने ज़माने मे इसका लोगो पर गहरा असर रहा है। (ईसा से पहले की चौथी सदी मे राजनैतिक और आर्थिक सगठन के बारे मे कौटिल्य की जो मशहूर पुस्तक 'अर्थशास्त्र' है उसमे इसका ज़िक्र हिंदुस्तान के खास फिलसफो मे किया गया है।)

इसलिए इस फिलसफे के बारे मे जानने के लिए हमे उन आलोचको और व्यक्तियो पर भरोसा करना पडता है, जिनकी दिलचस्पी इसे गिराने मे

रही है और उन्होंने इसकी हँसी उड़ाई है और बताया है कि यह कमी ब्रेन की चीज़ है। यह फिलसफा था क्या, उसे जानने का यह बड़ा गैर-वाजिब तरीक़ा है। फिर भी इसके खंडन में जो उत्साह और जोश इन नुक्ताचीनों ने दिखाया है, उसीसे पता चलता है कि उन लोगों की नज़रों में इसकी कितनी अहमियत थी। संभव जान पड़ता है कि जड़वाद के साहित्य का ज्यादा हिस्सा, बाद के ज़मानों में, पुरोहितों ने या कट्टर मज़हब के माननेवालों ने नष्ट कर दिया हो।

जड़वादियों ने विचार, मज़हब और अध्यात्म में प्रमाण का और सभी निहित स्वार्थ का विरोध किया। उन्होंने वेदों की, पुरोहिताई की परंपरा से आये हुए यकीनों की निंदा की और यह ऐलान किया कि अक़ीदे को आज़ाद होना चाहिए और उसे पहले से मान ली गई बातों या सिर्फ पुराने ज़माने के प्रमाण का भरोसा न कर लेना चाहिए। सभी तरह के मंत्र-तंत्र और अंध-विश्वास की उन्होंने बुराई की। उनका आम रवैया बहुत-कुछ आज के जड़-वादियों जैसा था—ये अपने को गुज़रे हुए ज़माने की जंजीरों और बोझ से, जो चीज़ें नहीं दिखाई देतीं, उनकी कल्पना से और ख़याली देवताओं की पूजा से आज़ाद करना चाहते थे। सिर्फ उसका वजूद तो माना जा सकता था, जिसे कि सीधे-सीधे देखा जा सके। इसके अलावा और सभी अनुमानों या कयासों के सच होने की उतनी ही संभावना थी, जितनी कि झूठ होने की। इसलिए अपने मुख्तलिफ रूपों में पदार्थ के और दुनिया के ही वजूद को माना जा सकता था। मन और बुद्धि और और सभी चीज़ें इन्हीं बुनियादी तत्त्वों से बनी हैं। प्रकृति के व्यापार आदमी के ज़रिये कायम की गई क़ीमतों की परवाह नहीं करते और अच्छे या बुरे से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता। नैतिक मान आदमियों के कायम किये गए रिवाज हैं।

इन सब विचारों को हम समझते हैं, ये दो हज़ार बरस पुराने नहीं, बल्कि कुछ अजीब तौर पर हमारे ज़माने के विचार जान पड़ते हैं। इस तरह के शक-व-शुबहे के विचार, ऐसी कश-मकश, इन्सानी दिमाग की परंपरा के खिलाफ यह बगावत, आखिर आई कहां से? हम उस ज़माने के सामाजिक और राजनैतिक हालात ठीक तौर पर नहीं जानते, लेकिन यह बात काफी ज़ाहिर है कि यह ज़माना राजनैतिक संघर्ष और समाजी उथल-पुथल का रहा है, जिसका नतीजा यह हुआ है कि मज़हब से यकीन उठ गया है और लोग दिमागी जांच-पड़ताल में लगे हैं और खोज किसी ऐसे रास्ते से की हुई है, जिससे मन को संतोष मिले। इसी दिमागी उथल-पुथल और समाजी अबतरी से नये रास्ते निकले हैं और नये फिलसफों ने शक्लें अख्तियार की हैं।

उपनिषदो के सहज-ज्ञान से जुदा बाकायदा फिलसफो का दिखाई पडना शुरू होता है, और ये अनेक रूपो मे जैन, बौद्ध और जिसे हम दूसरे शब्दो के अभाव से हिंदू कहेंगे—सामने आते हैं। इसी जमाने के महाकाव्य है और भगवद्गीता भी इसी जमाने की चीज है। इस जमाने का काल-क्रम ठीक-ठीक मुकर्रर कर सकना मुश्किल है, चूकि विचार और सिद्धात एक-दूसरे पर छाये हुए थे और आपस मे उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती थी। बुद्ध ईसा से पहले की छठी सदी मे हुए हैं। इनमे कुछ का विकास उनसे कब्ल हुआ, कुछ का बाद मे, या अकसर इन दोनो के विकास साथ-साथ चलते रहे।

बौद्ध-धर्म के उदय के लगभग फारसी-साम्राज्य सिंध नदी तक फैला हुआ था। एक बडी ताकत के हिंदुस्तान की ठीक सीमा तक आ जाने ने लोगो के विचारो पर असर डाला होगा। ईसा से पहले की चौथी सदी मे सिकदर का उत्तर-पच्छिम हिंदुस्तान पर थोडे वक्त का धावा हुआ। यह बजात खुद तो कुछ ऐसी अहमियत नही रखता, लेकिन यह बडे मार्के की तबदीलियो का पेशरौ—अग्रदूत—था। सिकदर की मौत के करीब-करीब ठीक बाद चद्रगुप्त ने आलीशान मौर्य सल्तनत बनाकर खडी की। इतिहास की नजर से हिंदुस्तान मे यह पहला दूर-दूर तक फैला हुआ केंद्रीय राज्य था। परपरा इस तरह के बहुत-से हाकिमो और अधिपतियो की चर्चा करती है, और एक महाकाव्य मे हिंदुस्तान के आधिपत्य के लिए युद्ध होने का हाल दिया है। यहा मकसद शायद उत्तरी हिंदुस्तान से है। लेकिन ज्यादा सभव यह है कि क़दीम हिंदुस्तान कदीम यूनान की तरह छोटी रियासतो का एक गिरोह था। बहुत-से गणराज्य थे, और इनमें से कुछ का बड़ा विस्तार था, छोटी-छोटी रियासतें भी थी, इनके अलावा, यूनान की तरह यहा शहरी रियासते भी थी और इनमे सौदागरों के जबरदस्त सघ थे। बुद्ध के जमाने मे बहुत-से गणराज्य थे और मध्य और उत्तरी हिंदुस्तान मे (जिसमे अफग़ानिस्तान का एक भाग, गधार, भी था) चार बडे राज्य थे। सगठन जैसा भी रहा हो, शहरी या गाव की खुद-अख्तियारी की परपरा बडी मजबूत थी, और उस हालत मे भी, जब किसी का आधिपत्य मान लिया जाता था, रियासत के अदरूनी इतजाम मे कोई बाहरी दखल न देता था। यहा एक किस्म का आदिम लोकतत्र था, अगरचे यूनान की तरह यहा भी यह ऊचे वर्ग के लोगो तक महदूद था।

कदीम हिंदुस्तान और कदीम यूनान बहुत-सी बातो मे एक-दूसरे से बहुत मुख्तलिफ रहे हैं, फिर भी इनमे इतनी ज्यादा बाते ऐसी हैं, जो आपस मे एक-सी हैं कि मेरा खयाल होता है कि इनकी जिंदगी की पृष्ठभूमि बहुत मिलती-जुलती रही होगी। पेलोपोनीसियन युद्ध का, जिसने एथेन्स के लोक-

तंत्र का खात्मा किया, कुछ बातो मे कदीम हिंदुस्तान के बडे युद्ध, महाभारत, से मुकाबला हो सकता है। यूनानी सभ्यता और आजाद शहरी रियासतों की नाकामयाबी ने सदेह और निराशा के भाव पैदा किये और इससे लोग रहस्यो और करिश्मो के पीछे पड़े और जाति के आदर्श गिरने लगे। बाद मे फिलसफे के नये मतो—स्टोइक[1] और एपिक्यूरियन[2]—का विकास हुआ।

जरा-सी और कभी-कभी परस्पर-विरोधी सामग्री की बिनाह पर ऐतिहासिक तुलनाए करना खतरनाक और भुलावे मे डालनेवाली बात हो सकती है। लेकिन हिंदुस्तान मे महाभारत की लडाई के बाद का जमाना, जबकि मानसिक वातावरण बडा अस्त-व्यस्त हो गया था, हमे यूनान के उस जमाने की याद दिलाता है, जब यूनानी सस्कृति का अत हो गया था। आदर्शों मे पस्ती आ गई थी और नये फिलसफो की तलाश थी, राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से भीतरी तबदीलिया होती रही होगी, जैसे गणराज्यो और शहरी रियासतो का कमजोर हो जाना और केंद्रीय राज्यो की तरफ रुझान होना।

लेकिन यह मुकाबला हमे बहुत दूर नही ले जाता। दरअसल यूनान इन धक्को से कभी सभला नही, अगरचे यूनानी सभ्यता कुछ और सदियो तक भूमध्यसागरीय प्रदेश मे बनी रही और उसने रोम और यूरोप पर अपना असर डाला। हिंदुस्तान अद्भुत रूप से सभला और महाकाव्यो और बुद्ध के जमाने के बाद के एक हजार सालो मे रचनात्मक शक्ति की हम बहुतायत पाते हैं। फिलसफा, साहित्य, नाटक, गणित और कलाओं मे हमे अनगिनत बडे-बड़े नाम मिलते हैं। ईसवी सन की शुरू की सदियो मे मानो स्फूर्त्ति फूटी पडती है और इसका नतीजा यह होता है कि उपनिवेशो के साहसी सगठन होते हैं और ये हिंदुस्तान के लोगो और उनकी सस्कृति को पूर्वी समुद्र के दूर-दूर देशो तक पहुचाते हैं।

१२ : महाकाव्य, इतिहास, परपरा और कहानी-क़िस्से

कदीम हिंदुस्तान के दो बडे महाकाव्य—रामायण और महाभारत—शायद कई सदियो मे तैयार हुए और बाद मे भी उनमे नये टुकडे जोडे जाते रहे। उनमे भारतीय-आर्यों के शुरू के दिनो का हाल है—उनकी विजयो का, उनकी आपस की उस वक्त की लडाइयो का, जब वे फैल रहे थे और अपनी

---

[1]इस मत का कायम करनेवाला जेनो नाम का फिलसूफ था। इस मत के लोग अपने आवेगों को क़ाबू में रखने पर जोर देते थे।

[2]इस मत का सस्थापक एपीक्यूरस नाम का फिलसूफ था। दुनिया की चीजों का आनंद लेने के पक्ष में इसकी शिक्षा थी।

ताक़त को मज़बूत कर रहे थे—लेकिन इन महाकाव्यो की रचना और सग्रह बाद की बातें हैं। मैं कही की किसी ऐसी पुस्तक को नही जानता हू, जिसने आम जनता के दिमाग पर इतना लगातार और व्यापक असर डाला हो, जितना कि इन दो पुस्तको ने डाला है। इतने कदीम वक्त मे तैयार की गई होने पर भी वे हिंदुस्तानियो की ज़िंदगी मे आज भी अपना जीता-जागता असर रखती हैं। मूल सस्कृत मे तो थोडे-बहुत क़ाबिल लोगो तक ये पहुचती हैं, लेकिन तरजुमो और बहुत-से और तरीको से, जिनसे परपरा और किस्से-कहानिया फैलती हैं और आम लोगो की ज़िंदगी का ताना-बाना बन जाती हैं, ये जनता तक पहुची हुई हैं।

इनमे हमे वह खास हिंदुस्तानी ढग मिलता है, जिसमे जुदा-जुदा सास्कृतिक विकास के लोगो के लिए एक साथ सामग्री पेश की जाती है, यानी ऊचे-से-ऊचे दर्जे के विद्वानो से लेकर अनपढ और अशिक्षित देहाती तक के लिए। इनके ज़रिये हमे कदीम हिंदुस्तानियो का वह गुर कुछ-कुछ समझ मे आ जाता है, जिससे वे एक पचमेल और जात-पात में बटे हुए समाज को इकट्ठा बनाये रखने मे, उनके झगडो को सुलझाते रहने मे, उन्हे वीर परपरा और नैतिक रहन-सहन की समान भूमिका देने मे कामयाब हुए हैं। उन्होंने कोशिश करके लोगो मे एक आम नज़रिया कायम किया और यह सब भेद-भावो से ऊपर था और बना रहा।

मेरे बचपन की सबसे पहली यादो मे इन महाकाव्यो की उन कहानियों की यादें हैं, जिन्हे मैंने अपनी मा से और घर की बडी-बूढी औरतो से उसी तरह सुना था, जिस तरह कि यूरोप या अमरीका मे बच्चे परियो की या दूसरी साहस की कहानिया सुनते हैं। इन कहानियो मे मेरे लिए परियो की कहानियो और साहस की कहानियो, दोनो, के ही तत्त्व मौजूद थे और फिर हर साल खुले मैदान मे होनेवाले उन लोकप्रिय नाटको में ले जाया जाता था, जहा रामायण की कथा का अभिनय होता था और बहुत बडे मजमे उसे देखने के लिए इकट्ठा होते थे। ये सब बातें बड़े भद्दे ढग से हुआ करती थी, लेकिन इससे कोई फ़र्क नही पडता था, क्योकि कहानी तो सभी लोगो की जानी हुई थी, और त्योहार के दिन आनद के दिन होते थे।

इस तरीके पर हिंदुस्तान के किस्से-कहानिया और पुरानी परपरा मेरे दिमाग़ मे घर करती रही और ये बहुत-सी और दूसरी खयाली बातो से मिलती-जुलती रहीं। मुझे ऐसा खयाल नही कि मैंने इन कहानियो को हूबहू सच समझकर उन पर कभी ज्यादा अहमियत दी हो, बल्कि उनमे जादू-टोने या अलौकिकता के जो अश होते, उनकी मैंने आलोचना भी की है। लेकिन

कल्पना मे, मेरे लिए वे काफी सच्ची रही हैं, उसी तरह जिस तरह कि अलिफलैला या पचतत्र की कहानिया, जो जानवरो के किस्सो का भडार हैं और जिनसे पच्छिमी एशिया और यूरोप ने बहुत-कुछ हासिल किया है।¹ जब मैं बडा हुआ, तो और तस्वीरें मेरे दिमाग मे इकट्ठा हुई—हिंदुस्तान और यूरोप का परियो की कहानिया, यूनानी दत कथाए, जोन आव आर्क को कहानी, 'ऐलिस इन वडरलैंड' की कहानी, अकबर और बीरबल की बहुत-सी कहानिया, शरलाक होम्स के किस्से, राजा आर्थर और उसके सरदारोकी कथाए, हिंदुस्तानी गदर की नायिका, झासी की रानी की कथा और राजपूती बहादुरो और जौहर की कहानिया। ये, और बहुत-सी और कहानिया कुछ अजीब तरह के उलझाव के साथ मेरे दिमाग मे भरी हुई थी, लेकिन हमेशा इनके पीछे, एक भूमिका की तरह वे हिंदुस्तानी दत-कथाए थी, जिन्हें मैंने अपने शुरू—बचपन—के दिनो मे सीखा था।

अगर मेरा यह हाल था, जिसके दिमाग़ पर तरह-तरह के असर पडे थे, तो मैंने अनुभव किया कि इन पुरानी दत-कथाओ और परपरा का औरो के दिमाग पर, खसतौर पर हमारी अनपढ जनता के दिमाग़ पर कितना ज्यादा पडा होगा। यह असर सस्कृति और नीति, दोनो ही के लिहाज़ से अच्छा असर रहा है और इन कहानियो या रूपको की सुदरता और खयाली सकेत को बरबाद करना या फेंक देना मैं हरगिज पसद न करूगा।

हिंदुस्तान की दत-कथाए महाकाव्यो तक महदूद नही हैं, वे वैदिक काल

¹पचतत्र के एशियायी और यूरोपीय भाषाओ मे अनगिनत अनुवादों और नक़ल की कहानी लंबी, पेचीदा और दिलचस्प है। पहला तरजुमा, जिसका कि पता चलता है, सस्कृत से पहलवी में ईसा की छठी सदी के मध्य में ईरान के बादशाह खुसरो नौशेरवा के कहने से हुआ था। उसके बहुत जल्द बाद (लगभग ५७० ई० मे), सीरियन भाषा मे एक तरजुमा निकला और उसके बाद एक तरजुमा अरबी में हुआ। ग्यारहवीं सदी में सीरियन, अरबी और फारसी में नये तरजुमे हुए, इनमें से आखिरी 'कलीया दमन' की कहानी के नाम से मशहूर हुआ। इन तरजुमो के जरिये से 'पचतत्र' यूरोप मे पहुचा। ग्यारहवीं सदी के अंत मे सीरियन से यूनानी भाषा मे तरजुमा हुआ और कुछ बाद में इब्रानी भाषा मे। पद्रहवीं और सोलहवीं सदियों मे इसके कई तरजुमे या नक़लें लातीनी, इटालियन, स्पैनिश, जर्मन, स्वीडिश, डेनिश, डच, आइसलैंडिश, फ्रान्सीसी, अग्रेजी, हगेरियन और कई स्लाव भाषाओ मे हुईं। इस तरह से 'पचतंत्र' की कहानिया एशियायी और यूरोपीय साहित्यो मे मिल-जुल गईं।

तक पहुचती हैं और अनेक रूपों और पोशाको मे सस्कृत साहित्य मे आती है। कवि और नाटककार इनसे पूरा फायदा उठाते हैं और अपनी कथाए और सुदर कल्पनाए इनके आधार पर बनाते हैं। कहा जाता है कि अशोक का वृक्ष सुदरी स्त्री के पैरो से छुआ जाकर फूल उठता है। हम कामदेव की और उसकी स्त्री, रति की कथाए पढते हैं, और उसके मित्र वसत की। काम दुस्साहस करके अपना पुष्पवाण स्वय शिव पर चलाता है और शिव के तीसरे नेत्र से निकली हुई ज्वाला मे भस्म हो जाता है। लेकिन वह अनग, यानी बिना शरीर का, होकर जिंदा रहता है।

इन पुराणो की कथाओ और वीरगाथाओ मे सचाई पर अडे रहने और चाहे जैसा जोखिम होने पर अपने वचन का पालन करने, मृत्यु तक और उसके बाद भी वफादारी न छोडने, साहसी और अच्छे काम करने और लोकहित के लिए त्याग करने की शिक्षाए दी गई है। कभी-कभी तो ये कहानिया बिलकुल खयाली होती हैं, कभी उनमे घटनाओ और कल्पनाओ का मेल-जोल रहता है, किसी ऐसी घटना का, जिसे परपरा ने महफूज रखा है, बढा-चढा बयान होता है। सच्ची घटनाए और गढे हुए किस्से इस तरह एक मे मिल गए हैं कि दोनो अशो को अलग करना गैर-मुमकिन है और इस तरह का गड्ड-मड्ड खयाली इतिहास की जगह ले लेता है, जो चाहे हमे यह न बता सके कि दरअसल हुआ क्या, लेकिन जो हमे उतनी ही महत्त्व की दूसरी सूचना देता है, यानी लोग क्या हुआ समझते रहे हैं। उनकी समझ मे उनके वीर पूर्वज कैसे-कैसे काम कर सकते थे और उनके क्या आदर्श थे? इस तरह ये चाहे सच्ची घटनाए हो, चाहे गढे हुए किस्से, यहा के रहनेवालो की जिंदगी के ये जीते-जागते जुज़ बन जाते हैं और उन्हे अपनी रोजमर्रा की जिंदगी की नीरसता और कुरूपता से बचाकर ऊची दुनिया की तरफ खीचते रहे है और आदर्श तक पहुचना चाहे जितना भी कठिन रहा हो, हमेशा कर्तव्य और सही जीवन का रास्ता दिखाते रहे हैं।

कहा जाता है कि गेटे ने उन लोगो की मलामत की है, जिन्होंने लूक्रिशिया को और दूसरी पुरानी रोमन वीरगाथाओ को गढत और झूठी बताया है। उसने कहा है कि जो चीज दरअसल जाली और झूठी होगी, वह भद्दी और निकम्मी भी होगी, कभी सुदर और रूह फूकनेवाली नही हो सकती, और "अगर रोमन लोग इतने काफी बडे थे कि इस तरह की चीजें गढ सके, तो हमे कम-से-कम इतना बडा होना चाहिए कि उनमे यकीन कर सके।"

इसलिए यह कल्पित इतिहास, जो घटनाओ और गढत का मेल है,

या जो कभी-कभी बिल्कुल गलत है, एक प्रतीक के रूप में सत्य बन जाता है और हमे उस खास जमाने के लोगो के दिल और दिमाग और मकसदो के बारे मे बताता है। एक और मानी मे यह सच है कि यह विचार और काम की बुनियाद मे पहुचाता है—जहातक आनेवाले इतिहास का ताल्लुक है। कदीम हिंदुस्तान मे इतिहास की समूची धारणा पर फिलसफे और मजहब के सोच-विचार का और इखलाकी रुझानो का असर पडा है। तारीखवार इतिहास लिखने की या घटनाओ का कोरा हाल इकट्ठा कर लेने की कोई खास अहमियत नही रही है। जिस बात की उन्हे ज्यादा फिक्र रही है, वह यह है कि इन्सानी घटनाओ का इन्सानी आचरण पर क्या प्रभाव और असर रहा है। यूनानियो की तरह ये लोग बडे कल्पनाशील और कला-विषय मे गुणी थे और गुजरी हुई घटनाओ के बारे मे भी उन्होंने कल्पना और कला से काम लिया है, क्योंकि उनका ध्यान इस बात पर रहा है कि आगे के आचरण के लिए कुछ सबक लिया जाय।

यूनानियो, चीनियों और अरबवालों की तरह कदीम हिंदुस्तानी इतिहासकार नही थे। यह एक दुर्भाग्य की बात है और इसके कारण आज हमारे लिए तिथिया या काल-क्रम निश्चित करना मुश्किल हो गया है। घटनाए एक-दूसरी से गुथ जाती हैं और बडा उलझाव पैदा हो जाता है। बहुत धीरज के साथ मेहनत करके ही विद्वानो ने हिंदुस्तानी इतिहास की भूल-भुलैया के बीच से कुछ अता-पता लगाया है। सच पूछा जाय, तो सिर्फ एक किताब है, यानी कल्हण की 'राजतरगिणी', जो ईसा की बारहवी सदी मे लिखा हुआ काश्मीर का इतिहास है, जिसे हम इतिहास कह सकते हैं। बाकी इतिहास के लिए हमे महाकाव्यो के कल्पित इतिहास की, या पुस्तकों की मदद लेनी पडती है, या शिलालेखो, कला के कारनामो या इमारतो के खडहरों, सिक्को, या विस्तृत सस्कृत-साहित्य से जहा-तहा इशारे मिल जाते हैं। हा, विदेशी यात्रियो के सफरनामो से भी मदद मिलती है, खासकर यूनानियो, चीनियो और बाद के जमाने के लिए अरबो के सफरनामो से।

ऐतिहासिक बुद्धि की इस कमी से जनता का कोई नुकसान नही हुआ था, क्योंकि जैसा और जगह होता है, बल्कि और जगह से ज्यादा, यहा जनता ने अतीत के बारे मे अपने विचार परपरागत बयानो, पुराण की कहानियो और गाथाओ की नीव पर, जो पीढी-दर-पीढ़ी चली आती हैं, बनाये थे। यह कयासी तारीख या वाक्यो और कहानियो की मिलावट ऐसी थी, जिससे लोग खूब परिचित हो गए थे और इस तरह जनता की एक पक्की सास्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी। लेकिन इतिहास की तरफ से लापरवाही के बुरे नतीजे

भी हुए और ये अबतक हमारा पीछा कर रहे हैं। इसने हमारा नज़रिया धुंधला कर दिया, जिंदगी से एक तरह का बिलगाव पैदा किया, हमे झट विश्वास कर लेनेवाला बना दिया और जहातक वाकये का ताल्लुक था, हमारे दिमाग मे उलझाव डाल दिया। फिलसफे के मैदान मे, जो कही मुश्किल, अगरचे लाज़िमी तौर पर अस्पष्ट और अनिश्चित होता है, हमे यह दिमाग़ी उलझाव नही मिलता, हम इस मैदान मे हिंदुस्तानी दिमाग में विश्लेषण और समन्वय दोनो की काबलियत पाते हैं, अकसर इसे हम बहुत नुक्ताचीनी और शक व शुबहे करनेवाला देखते हैं। लेकिन जहातक वाकये का ताल्लुक है, यह ग़ैर-नुक्ताचीनी रहा है, शायद इसलिए कि यह खुद वाकये पर ज्यादा अहमियत नही देता रहा है।

विज्ञान और आजकल की दुनिया से वास्ता पडने की वजह से अब वाकयो की समझ-बूझ पैदा हुई है, जाच-पडताल की और प्रमाणो के तौलने की बुद्धि उपजी है और परपरा को ज्यो-का-त्यो कुबूल करने से इन्कार भी हुआ है। बहुत-से काबिल तारीख-दा आजकल काम मे लगे हुए हैं, लेकिन वे अकसर उलटी ही ग़लती करते हैं, यानी घटनाओ के काल-क्रम की तो बहुत छान-बीन करते हैं, लेकिन जिंदा इतिहास को छोड देते हैं। लेकिन आजकल भी हम पर परपरा का कितना असर होता है, यह एक ताज्जुब की बात है, और बुद्धिमान आदमी की विवेचना-बुद्धि भी जाती रहती है। मुमकिन है, यह इस वजह से हो कि हम अपनी मौजूदा हालत मे जातीयता के खयाल मे ग़र्क हैं। जब हमे राजनैतिक और आर्थिक आज़ादी हासिल हो जायगी, तभी हमारा दिमाग बाकायदा और सही अदाज मे काम करेगा।

जाच-पडताल के नज़रिये कौमी परपरा के बीच टक्कर की एक बहुत हाल की, अहमियत रखनेवाली और भेद प्रकट करनेवाली मिसाल है। हिंदुस्तान के बहुत बडे हिस्से मे विक्रम सवत चलता है। इसका आधार सौर-गिनती पर है, लेकिन महीने चाद के अनुसार गिने जाते हैं। पिछले महीने मे, यानी अप्रैल १९४४ मे, इस सवत के हिसाब से, दो हज़ार साल पूरे हुए, और एक नई सहस्राब्दी शुरू हुई। इस मौके पर सारे हिंदुस्तान मे उत्सव मनाये गए, और यह उत्सव मनाया जाना वाजिब था, क्योंकि एक तो काल-गणना के खयाल से यह बहुत बडा मौका था, दूसरे विक्रम या विक्रमादित्य, जिसके नाम से यह सवत चलता है, बहुत पुराने वक्त से लोक-परंपरा का एक प्रधान पुरुष रहा है। उसके नाम के साथ अनगिनत कहानिया गुथी हुई हैं और उनमे से बहुत-सी मध्य-युग मे जुदा-जुदा पोशाको मे, एशिया के जुदा-जुदा हिस्सो मे पहुची हैं और बाद मे यूरोप मे भी।

विक्रम बहुत जमाने से एक कौमी सूरमा और आदर्श राजा समझा जाता रहा है। उसकी याद एक ऐसे शासक के रूप में की जाती है, जिसने विदेशी हमला करनेवालों को मार भगाया। लेकिन उसकी कीर्ति की खास वजह उसके दरबार की साहित्यिक और सांस्कृतिक चमक-दमक है, जहा उसने कुछ बहुत मशहूर कवियों, कलावंतों और गवैयो को इकट्ठा किया था और ये उसके दरबार के 'नवरत्न' कहलाते थे। उसके बारे में जो कथाएं हैं, ज्यादातर ऐसी हैं, जिनसे उसकी अपनी प्रजा की भलाई करने की ख्वाहिश जाहिर होती है, और यह कि वह ज़रा-सी जरूरत पड़ने पर दूसरे को लाभ पहुचाने के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करता था। वह अपनी उदारता, दूसरो की सेवा, साहस और निरभिमान के लिए मशहूर है। वह खासकर इस वजह से लोकप्रिय है कि वह एक अच्छा आदमी, कलाओ का हामी और सरपरस्त समझा जाता था। वह सफल योद्धा या विजेता था, यह बात कहानियों में नही प्रकट की गई है। भलाई और आत्म-त्याग पर यह ज़ोर हिंदुस्तानी दिमाग और आदर्शों की विशेषता है। सीज़र की तरह विक्रमादित्य का नाम एक तरह की पदवी और प्रतीक बन गया और बाद के बहुत-से शासको ने इसे अपने नामो के साथ जोड़ लिया। इस वजह से गड़बड़ी पैदा हो गई, क्योंकि बहुत-से विक्रमादित्यों का बयान इतिहास में आता है।

लेकिन यह विक्रम था कौन? और वह कब हुआ? इतिहास की दृष्टि से यह बात बिलकुल अस्पष्ट है। ईसा से ५७ वर्ष पहले, जब इस संवत का आरम्भ होता है, इस तरह के किसी शासक का पता नही है। हां, उत्तर हिंदुस्तान मे, चौथी सदी ईसवी मे एक विक्रमादित्य था, जो हूणो के साथ लड़ा था और जिसने उन्हे मार भगाया था। यही वह व्यक्ति है, जिसके दरबार मे 'नवरत्नों' का होना समझा जाता है और जिसके आस-पास ये कहानियां बनी हैं। अब सवाल यह होता है कि चौथी सदी ईसवी के इस विक्रमादित्य का ताल्लुक उस संवत से कैसे हो सकता है, जिसका आरंभ इससे ५७ वर्ष पहले होता है? शायद इसकी व्याख्या इस तरह है कि मध्य-भारत की मालवा रियासत मे ५७ ई० पू० से शुरू होनेवाला एक संवत चला आ रहा था, विक्रम के बहुत बाद यह संवत उसके नाम के साथ किसी तरह जुड़ गया और उसका नया नामकरण हुआ। लेकिन ये सभी बातें अस्पष्ट और अनिश्चित हैं।

जो सबसे अचरज की बात है, वह यह है कि काफी समझ-बूझ के हिंदुस्तानियो ने परंपरा के इस वीर-पुरुष विक्रम के नाम के साथ जैसे भी हो,

२००० वर्ष पुराने इस संवत को जोड़ने के लिए इतिहास के साथ किस तरीके पर खिलवाड़ किया है। यह बात भी दिलचस्प है कि विदेशी के खिलाफ लड़ाई करने पर और एक कौमी राज्य के अंतर्गत हिंदुस्तान की एकता कायम करने की इच्छा पर ज़ोर दिया गया है। दरअसल विक्रम का राज्य उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान तक महदूद था।

हिंदुस्तानी ही अकेले नहीं हैं, जिन पर इतिहास के लिखने या उस पर विचार करने में कौमी भावनाओं और कौमी समझी गई दिलचस्पियों का असर पड़ता हो। हर क़ौम और सभी लोगों में गुज़रे हुए ज़माने को ज्यादा अच्छा करके दिखलाने और चमकाने तथा अपने पक्ष में तोड़ने-मरोड़ने की ख्वाहिश रहती है। हिंदुस्तान के जिन इतिहासों को हममें से बहुतों को पढ़ना पड़ा है, वे ज्यादातर अंग्रेजों के लिखे हुए हैं और जो आमतौर पर ब्रिटिश हुकूमत की तरफ़दारी में या तो सफ़ाइया पेश करते हैं, या उसके गुण गाते हैं और उसके साथ-साथ यहां की हज़ारों बरस पहले होनेवाली घटनाओं का मुश्किल से छिपाई हुई हिकारत के साथ बयान है। दरअसल, उनके लिए मतलब का इतिहास तो हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों के आने के साथ शुरू होता है, उसके पहले जो कुछ हुआ, वह किसी भेद-भरे ढंग से इस दैवी उत्कर्ष की तैयारी में हुआ है। ब्रिटिश ज़माने के इतिहास का भी अंग्रेज़ों के गुणों और अंग्रेज़ी हुकूमत का बड़प्पन ज़ाहिर करने के लिए, तोड़-मरोड़ किया गया है। बहुत धीरे-धीरे एक ज्यादा सही नज़रिया अब बन रहा है। लेकिन इतिहास में अपने मतलब के मुताबिक उलट-फेर करने की मिसाल के लिए गुज़रे ज़माने के इतिहास में पैठने की ज़रूरत नहीं। आज का ज़माना ऐसी मिसालों से भरा पड़ा है, और अगर मौजूदा ज़माने का, जिसे हम देख रहे हैं और जिसका अनुभव कर रहे हैं, इस तरह तोड़-मरोड़ हो सकता है, तो गुज़रे हुए ज़माने के बारे में क्या कहा जाय?

फिर भी यह सच है कि हिंदुस्तान के लोगों में परंपरा और चली आई बात को बग़ैर पूरी-पूरी जांच-परख के इतिहास के रूप में मान लेने की आदत है। उन्हें इस तरह के शिथिल विचारों से और नतीजों पर पहुंचने के सहज तरीकों से अपने को छुड़ाना पड़ेगा।

लेकिन मैं देवताओं और देवियों की और उन दिनों की चर्चा कर रहा था, जब पुराण के किस्सों और कथाओं का आरंभ हुआ था, और इस चर्चा से बहुत दूर हट आया। वे ऐसे दिन थे, जब ज़िंदगी भरी-पूरी थी और प्रकृति के साथ उसका तार-तार मिला हुआ था, जब आदमी का दिमाग विश्व के रहस्यों पर अचरज और आनंद से निगाह डालता था,

जब स्वर्ग और धरती एक-दूसरे के बहुत करीब जान पड़ते थे और देवता लोग या तो कैलाश पर्वत में, या हिमालय में स्थित अपने धामों से आलिंपस के देवताओं की तरह आदमियों और औरतों के बीच मेल करने या कभी-कभी उन्हें दंड देने के लिए उतर आते थे। इस भरी-पूरी जिंदगी और शानदार कल्पना से कथा-कहानियां बनीं और बड़ी तथा सुंदर देवताओं एवं देवियों का जन्म हुआ, क्योंकि यूनानियों की तरह हिंदुस्तानी भी जिंदगी और सौंदर्य के प्रेमी थे। प्रोफेसर गिल्बर्ट मरे इन ऑलिंपियन देवी-देवताओं की अपार सुंदरता बताते हैं। उनका बयान हिंदुस्तानी दिमाग की शुरू की सृष्टियों के बारे में भी ठीक उतरता है। "ये कलाकारों के सपने, आदर्श और रूपक हैं, ये किसी ऐसी वस्तु के प्रतीक हैं, जो हमसे बाहर की है, वे देवता हैं ऐसी परंपरा के, जो आधी तर्क की जा चुकी है; अनजान में जिनकी कल्पना कर ली गई है, जिन तक हमारी आकांक्षाएं पहुंचती हैं। वे ऐसे देवता हैं, जिनकी उचित सावधानी के साथ अधपके फ़िलसूफ़ अनेक उज्ज्वल और दिल को भरनेवाले अनुमानों के प्रसंग में प्रार्थना कर सकते हैं। ये ऐसे देवता नहीं हैं, जिनमें कोई वाकये के तौर पर यकीन करता हो।"[1] इसके बाद जो प्रोफेसर मरे कहते हैं, वह हिंदुस्तान पर उतना ही लागू है—"जिस तरह आदमी की गढ़ी हुई सुंदर-से-सुंदर मूर्ति देवता नहीं होती, बल्कि एक प्रतीक होती है, जिसके जरिये देवता की कल्पना हो सके; उसी तरह से खुद देवता, जब उनकी कल्पना की जाती है, तो यथार्थ नहीं बन जाते, बल्कि यथार्थ की कल्पना में मदद करनेवाले केवल प्रतीक होते हैं…इस बीच उन्होंने कोई ऐसा मत नहीं चलाया, जो ज्ञान के खिलाफ़ पड़ता हो, कोई ऐसे हुक्म नहीं जारी किये, जिनके कारण कि इन्सान अपनी अंदरूनी रोशनी के खिलाफ पाप करता।"

रफ्ता-रफ्ता वैदिक और दूसरे देवी-देवताओं के दिन हटकर पीछे पहुंच गए और उसकी जगह कठिन फिलसफे ने ले ली। लेकिन लोगों के दिमागों में सुख के संगियों और दुःख के साथियों की तरह उनकी अपनी आकांक्षाओं और अस्पष्ट रूप से अनुभव किये गए आदर्शों के रूप में वे मूरतें फिर भी तिरती रहीं और उनके गिर्द कवियों ने अपनी कल्पनाएं लपेटीं, और अपने सपनों के घर बनाये और उन्हें अच्छी तरह सजाया। इनमें से बहुत-सी कथाओं और कवियों की कल्पनाओं को एफ० डब्ल्यू०

---

[1] यह और इसके बाद का उद्धरण, दोनों गिल्बर्ट मरे की पुस्तक 'फाइव स्टेजेज ऑव ग्रीक रिलिजन' (थिंकर्स लाइब्रेरी) पृ० ७६ और बाद के पृष्ठ से लिये गए हैं।

वेन ने सुंदर ढग से हिंदुस्तानी कथाओ-सबधी अपनी किताबो मे उतारा है। इनमे से एक 'डिजिट ऑव दि मून' मे हमे यह बताया गया है कि औरत की सृष्टि कैसे हुई—"शुरू मे जब त्वष्टा (विश्वकर्मा) स्त्री की रचना पर आया, तो उसने पाया कि वह अपनी सारी सामग्री आदमी की बनावट मे खर्च कर चुका है और ठोस वस्तु तत्त्व बच नही रहा है। इस पशोपेश मे उसने गहरा सोच-विचार किया और जो किया, वह यह था—उसने चाद की गोलाई, लताओ का खम, लता-ततुओं का चिपटना, दूब का कपना, नरकुल की नजाकत, फूलो का खिलाव, पत्तियो का हलकापन, हाथी की सूड का सुडौल-पन, हिरनो की नजर, मक्खियो का एकत्र होना, सूरज की किरनो की खुशी, बादलो का रोना, हवा की चचलता, खरगोश का डर और मोरो का घमड लिया, फिर सुग्गे की छाती से कोमलता और वज्र से कठोरता, शहद की मिठास, चीते की निर्दयता, आग की धधक और बर्फ की ठड, चिटचिटे की चहचहान और कोयल की कूक, सारस का छल और चक्रवाक—चकवे—की वफादारी ली और इन सबको मिलाकर स्त्री को रचा और फिर उसे मनुष्य को दे दिया।"

१३ महाभारत

महाकाव्यो का समय बताना कठिन है। इनमे उस कदीम जमाने का हाल है, जब कि आर्य हिंदुस्तान मे बस रहे थे और अपनी जड जमा रहे थे। जाहिरा तौर पर इन्हे बहुत-से लेखको ने लिखा है या इनमे मुख्तलिफ वक्तो मे इजाफा किया है। (रामायण ऐसा महाकाव्य है, जिसमे बयान मे थोडी-बहुत एकता है, महाभारत प्राचीन ज्ञान का एक बडा और फुटकर सग्रह है। दोनो ही बौद्ध-काल से पहले बन गए होगे, अगरचे इसमे शक नही कि इनमे बाद मे भी हिस्से जोडे गए है।)

फ्रान्सीसी इतिहासकार मिशले, १८६४ मे, खासतौर पर रामायण के हवाले मे लिखते हुए कहते है—"जिस किसीने भी बडे काम किये है या बडी आकाक्षाए की है, उसे इस गहरे प्याले से जिदगी और जवानी की एक लबी घूट पीनी चाहिए पच्छिम मे सभी चीजे सकरी और तग है—यूनान एक छोटी जगह है और उसका विचार करके मेरा दम घुटता है, जूडिया सूखा जगह है और मैं हाफ जाता हू। मुझे विशाल एशिया और गहन पूर्व की तरफ जरा देर को देखने दो। वहा मिलता है मेरे मन का महाकाव्य—हिंद-महासागर-जैसा विस्तृत, मगलमय, सूर्य के प्रकाश से चमकता हुआ, जिसमे दैवी सगीत है और जहा कोई बेसुरापन नही। वहा एक गहरी शाति का राज्य है, और कश-मकश के बीच भी वहां बेहद मिठास और इतहा दर्जे

का भाई-चारा है, जो सभी जिंदा चीजों पर छाया हुआ है—मुहब्बत, दया, क्षमा का अपार अथाह समुदर है।")

महाकाव्य की हैसियत से रामायण एक बहुत बड़ा ग्रंथ जरूर है और उससे लोगों को बहुत चाव है, लेकिन यह महाभारत है, जो दरअसल दुनिया की सबसे खास पुस्तकों में से एक है। यह एक विराट कृति है, परंपरा और कथाओं का और हिंदुस्तान की कदीम राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं का यह एक विश्व-कोश है। दस साल से ज्यादा से बहुत-से अधिकारी हिंदुस्तानी विद्वान मिलकर उन पाठों की जाच-पड़ताल में लगे हुए हैं, जो अबतक हासिल हुए है, जिसमे कि एक प्रामाणिक संस्करण छपाया जा सके। कुछ हिस्से उन्होंने छापकर प्रकाशित भी कर दिए हैं, लेकिन काम अब भी अधूरा है और चल रहा है। यह एक दिलचस्प बात है कि इस भयानक और व्यापक युद्ध के दिनों में भी रूस के पूर्वी विद्याओं के जाननेवाले विद्वानों ने महाभारत का रूसी तरजुमा पेश किया है।

शायद यह वह जमाना था, जबकि विदेशी लोग हिंदुस्तान में आ रहे थे और अपने साथ अपने रीति-रिवाजों को ला रहे थे। इनमें से बहुत-से रीति-रिवाज आर्यों के रीति-रिवाजों से मुख्तलिफ थे, और इस तरह विरोधी विचारों और रीति-रिवाजों की एक अजीब खिचड़ी हमें देखने में आती है। आर्यों में एक स्त्री के कई पति होने का चलन नहीं था, फिर भी हम पाते है कि महाभारत की एक खास पात्री के पाच पति हैं, जो आपस में भाई-भाई हैं। रफ्ता-रफ्ता पहले के आदिम निवासी और नये आनेवाले लोग, दोनों ही आर्यों में घुल-मिलकर एक हो रहे थे और वैदिक-धर्म में भी इसके मुताबिक तबदीली आ रही थी। यह वह व्यापक रूप अख्तियार कर रहा था, जिससे मौजूदा हिंदू-धर्म निकला है। यह मुमकिन इसलिए हो सका कि बुनियादी नजरिया यह जान पड़ता है कि सचाई पर किसी एक का इजारा नहीं हो सकता, और उसे देखने और उस तक पहुचने के बहुत-से रास्ते हैं। इस तरह सभी तरह के, यहातक कि विरोधी, विश्वासों को गवारा किया जाता था।

महाभारत में हिंदुस्तान (या जिसे गाथाओं के अनुसार जाति के आदि-पुरुष भरत के नाम पर भारतवर्ष कहा जाता था) की बुनियादी एकता पर जोर देने की बहुत निश्चित कोशिश की गई है। इसका एक और पहले का नाम आर्यावर्त्त या आर्यों का देश था। लेकिन यह मध्य-हिंदुस्तान के विंध्य पहाड़ तक फैले हुए उत्तरी हिंदुस्तान तक महदूद था। (शायद उस जमाने तक आर्य इस पहाड़ के सिलसिले के पार नहीं पहुचे थे। रामायण की कथा

आया के दक्खिन में पैठने का इतिहास है। वह बडी खाना-जगी, जो बाद मे हुई और जिसका महाभारत मे बयान है, एक गोल-मोल तरीके से कयास किया जाता है कि ईसा से कब्ल चौदहवी सदी मे हुई। यह लडाई हिंदुस्तान (या शायद उत्तरी हिंदुस्तान) पर सबसे ऊचा अधिकार हासिल करने के लिए हुई थी और इसमे सारे हिंदुस्तान के, भारतवर्ष के रूप मे, कल्पना किये जाने की शुरुआत होती है। भारतवर्ष की जो यह कल्पना थी, उसमे आजकल के अफगानिस्तान का ज्यादा हिस्सा, जिसे उस वक्त गधार कहते थे (और जिससे कदहार शहर का नाम पडा है) शामिल था और इस देश का अपना अग समझा जाता था। सच तो यह है कि मुख्य शासक की स्त्री का नाम गाधारी, या गधार की लडकी, था। दिल्ली इसी वक्त हिंदुस्तान की राजधानी बनती है—मौजूदा शहर नही, बल्कि इसके पास के, इससे मिले हुए पुराने शहर, जो हस्तिनापुर और इद्रप्रस्थ कहलाते थे।

बहन निवेदिता (मार्गरेट नोबुल) ने महाभारत के बारे मे लिखते हुए बताया है—"विदेशी पाठक पर दो खास बातो का असर पडता है। पहली बात तो यह है कि विविधता मे यहा एकता मिलती है, दूसरी यह कि सुननेवालो पर एक ऐसे मरकजी हिंदुस्तान के खयाल को बिठाने की लगातार कोशिश है, जिसकी अपनी वीरता की परपरा है, जो एकता के भाव को जगानेवाली है।"[1]

महाभारत मे कृष्ण की कथाए हैं और भगवद्गीता नाम का मशहूर काव्य भी है। गीता के फिलसफे के अलावा भी इस ग्रथ मे आमतौर पर जिदगी मे और रियासती मामलो मे नीति और इखलाक के उसूलो पर जोर दिया गया है। धर्म की इस बुनियाद के बगैर सच्चा सुख नही मिल सकता और न समाज ही कायम रह सकता है। समाज की बहबूदी इसका मकसद है, किसी एक गिरोह की बहबूदी नही, बल्कि सारी दुनिया की बहबूदी, क्योंकि "मर्त्यों की यह दुनिया एक परस्पर-आश्रित सगठन है।" लेकिन धर्म खुद सापेक्ष है और सचाई, अहिंसा वगैरह बुनियादी उसूलो के अलावा यह वक्त और परिस्थिति पर निर्भर करता है। ये उसूल हमेशा-हमेशा कायम रहते हैं और इनमे तबदीली नहीं आती, मगर इनके अलावा धर्म, जो कर्तव्यो और जिम्मेदारियो का गड्ड-मड्ड है, बदलते हुए जमाने

[1] यह उद्धरण मैने सर एस० राधाकृष्णन् की पुस्तक 'इडियन फिलासफी' से लिया है। मैं राधाकृष्णन् का, और उद्धरणो के लिए और इस अध्याय और दूसरे अध्यायो की बहुत-सी बातो के लिए, एहसानमंद हू।

के साथ बदलता रहता है। यहा और-और जगहो पर अहिंसा पर जो ज़ोर दिया गया है, वह दिलचस्प है, क्योकि इसमे और किसी अच्छे मकसद के लिए लडाई करने मे कोई ज़ाहिरा विरोध नही माना गया है। सारा महाकाव्य एक बडे युद्ध की घटनाओ को लेकर रचा गया है। जान पडता है कि अहिंसा की कल्पना का सबध ज्यादातर मकसद से था, यानी मन में हिंसा का भाव न रखना चाहिए, आत्म-सयम करना चाहिए और गुस्से और नफरत पर काबू पाना चाहिए; इसका मतलब यह नही था कि अगर ज़रूरी हो और किसी तरह बचत न हो सके, तो भी शरीर से कोई हिंसा का काम न बन पडना चाहिए।

महाभारत एक ऐसा बेशकीमती भडार है कि हमे उसमे बहुत तरह की अनमोल चीज़ें मिल सकती हैं। यह रग-बिरगी, घनी और खुदबुदाती हुई ज़िदगी से भरपूर है और इस बात मे यह हिंदुस्तानी विचारधारा के दूसरे पहलू से बहुत हटकर है, जिसमे तपस्या और ज़िदगी से इन्कार पर ज़ोर दिया गया है। यह महज़ नीति की शिक्षा देनेवाली किताब नही है, हालाकि नीति और इखलाक की तालीम इसमे काफी मिलेगी। महाभारत की शिक्षा का सार एक जुमले मे रख दिया गया है—"दूसरे के लिए तू ऐसी बात न कर, जो तुझे खुद अपने लिए नापसद हो।" ज़ोर समाज की भलाई पर दिया गया है, और यह बात मार्के की है, क्योकि खयाल यह किया जाता है कि हिंदुस्तानी दिमाग का रुझान शख्सी कमाल हासिल करने की ओर रहा है न कि समाज की भलाई की तरफ। इसमे कहा है—"जिससे समाज की भलाई नही होती, या जिसे करते हुए तुम्हे शर्म आती है, उसे न करो।"

फिर कहा है—"सचाई—अपने को बस मे रखना, तपस्या, उदारता, अहिंसा, धर्म पर डटे रहना—इनसे कामयाबी हासिल होती है, जात और खानदान से नही।" "ज़िदगी और अमर होने से धर्म बढ़कर है।" "सच्चे आनद के लिए तकलीफ़ उठाना ज़रूरी है।" धन कमाने के पीछे पडे रहनेवाले पर एक व्यग्य है—"रेशम का कीडा अपने धन के कारण मरता है।" और, अत मे, एक जीती-जागती और तरक्की करती हुई जाति के लोगो के उपयुक्त यह आदेश है—"असतोष तरक्की के लिए उकसानेवाला है।"

महाभारत मे वेदो का बहुदेववाद है, उपनिषदो का अद्वैतवाद है और देववाद, द्वैतवाद और एकेश्वरवाद भी है। फिर भी नज़रिया रचनात्मक, कमोबेश बुद्धिवादी है। अलहदगी की भावना अभी तक महदूद है। जात-पात के मामलो मे कट्टरपन नही है। अभी भी लोगो मे अपने मे भरोसा है,

लेकिन ज्यों-ज्यों बाहरी ताक़तों के हमले होते हैं और पुरानी व्यवस्था पर वार होता है, त्यों-त्यों यह भरोसा कुछ कम होता जाता है और अदरूनी एकता और शक्ति पैदा करने के लिए ज्यादा समानता की माग होती है। नये-नये निषेध लागू होते है। गो-मास का खाना, जिसे पहले बुरा न समझा जाता था, बाद मे बिलकुल मना कर दिया जाता है। महाभारत मे मान्य अतिथियो को गो-मास और बछड़े का मास पेश करने के हवाले हैं।

१४ : भगवद्गीता

भगवद्गीता महाभारत का अश है, एक बहुत बडे नाटक की एक घटना है। लेकिन उसकी अपनी अलग जगह है और वह अपने मे सपूर्ण है। यो यह ७०० श्लोको का छोटा-सा काव्य है, लेकिन विलियम वॉन हृबाल्ट ने इसके बारे मे लिखा है कि "यह सबसे सुदर, शायद अकेला सच्चा दार्शनिक काव्य है, जो किसी भी जानी हुई भाषा मे मिलता है।" बौद्ध-काल से पहले जब इसकी रचना हुई, तब से आजतक इसकी लोकप्रियता और प्रभाव घटे नही हैं, और आज भी इसके लिए हिंदुस्तान मे पहले-जैसा आकर्षण बना हुआ है। विचार और फिलसफे का हर एक सप्रदाय इसे श्रद्धा से देखता है और अपने-अपने ढग से इसकी व्याख्या करता है। सकट के वक्त, जब आदमी का दिमाग सदेह मे सताया हुआ होता है और अपने फर्ज़ के बारे मे उसे दुविधा दो तरफ खीचती होती है, वह रोशनी और रहनुमाई के लिए गीता की तरफ और भी झुकता है, क्योंकि यह सकट-काल के लिए लिखी गई कविता है—राजनैतिक और सामाजिक सकटो के अवसर के लिए और उससे भी ज्यादा इन्सान की आत्मा के सकट-काल के लिए। गीता की अनगिनत व्याख्याए निकल चुकी है और अब भी बराबर निकलती रहती हैं। विचार और काम के मैदान के आजकल के नेताओ—तिलक, अरविंद घोष, गाधी—ने भी इसके सबध मे लिखा है और अपनी-अपनी व्याख्याए दी हैं। गाधीजी ने इसे अहिसा मे अपने दृढ विश्वास का आधार बनाया है, और लोगो ने इसे अहिसा और धर्म-कार्य के लिए युद्ध का।

यह काव्य घोर युद्ध शुरू होने से पहले, ठीक लड़ाई के मैदान मे, अर्जुन और कृष्ण की बातचीत के रूप मे आरम होता है। अर्जुन विचलित है, उसकी अतरात्मा लड़ाई और उससे होनेवाले बडे सहार का, मित्रो और बधुओ के सहार का, खयाल करके सहम उठती है। आखिर यह सब किस-लिए? कौनसे ऐसे फ़ायदे की कल्पना हो सकती है, जो इस नुक़सान का, इस पाप का, परिहार कर सके? उसकी सभी पुरानी कसौटिया जवाब दे

देती है, वे सभी मूल्य, जिन्हे उसने आक रखा था, बेकार हो जाते है। (अर्जुन इन्सान की पीडित आत्मा का प्रतीक बन जाता है, ऐसी आत्मा का, जो सभी ज़मानो मे फर्ज़ और इखलाक के तकाज़ो की वजह से दुविधा मे पडी रही है। इस शख्सी बातचात से होते-होते हम आदमी के फर्ज़ और सामाजिक आचरण, इन्सानी ज़िंदगी और सदाचार, और हमारा रूहानी नज़रिया कैसा होना चाहिए, इन गैर-शख्सी खयालो तक पहुच जाते है। इनमे बहुत-कुछ ऐसा है, जो आध्यात्मिक है, और इस बात की कोशिश की गई है कि इन्सानी तरक्की के तीन रास्तो—ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग—का इसके ज़रिये समन्वय हो। शायद भक्ति पर औरो की बनिस्बत ज्यादा ज़ोर दिया गया है और एक व्यक्तिगत ईश्वर का रूप भी इसमे दिखता है, हालाकि यह कहा गया है कि वह पूर्ण रूप परमेश्वर का ही एक अवतार है। गीता मे खासतौर पर इन्सानी ज़िंदगी की रूहानी ज़मीन दिखाई गई है और इसी भूमिका मे रोज़मर्रा की ज़िंदगी के व्यावहारिक मसले हमारे सामने आते है। यह हमे ज़िंदगी के फर्ज़ो और कर्तव्यो का सामना करने के लिए पुकारती है, लेकिन हमेशा इस तरह कि इस रूहानी ज़मीन और विश्व के बडे मकसद को नज़र-अदाज़ न किया जाय। हाथ-पर-हाथ रख कर बैठ रहने की बुराई की गई है और यह बताया गया है कि काम और ज़िंदगी को युग के सबसे ऊचे आदर्शो के अनुसार होना चाहिए, क्योंकि हर एक युग मे खुद आदर्श बदलते रहते है। एक खास ज़माने के आदर्श—युग-धर्म—का सदा ध्यान रखना चाहिए।)

चूकि आज के हिंदुस्तान पर मायूसी छायी हुई है और उसके चुपचाप रहने की भी एक हद हो गई है, इसलिए काम मे लगने की यह पुकार खासतौर पर अच्छी मालूम पडती है। यह भी मुमकिन है कि ज़माने-हाल के लफ्ज़ो मे, इस पुकार को समाज के सुधार की और समाज-सेवा की और अमली, बेगरज़ देशभक्ति के और इन्सानी दर्दमदी के काम की पुकार समझा जाय। गीता के अनुसार ऐसा काम अच्छा होता है, लेकिन इसके पीछे रूहानी मकसद का होना लाज़िमी है। यह काम त्याग की भावना से किया जाना चाहिए और इसके नतीजो का फिक्र न करनी चाहिए। अगर काम सही है, तो नतीजे भी इसके सही होगे, चाहे वे फौरन न ज़ाहिर हो, क्योंकि कार्य-कारण का नियम हर हालत मे अपना काम करेगा ही।

गीता का सदेसा साम्प्रदायिक या किसी एक खास विचार के लोगो के लिए नही है। क्या ब्राह्मण और क्या अजात, यह सभी के लिए है। यह कहा गया है कि "सभी रास्ते मुझ तक पहुचाते है।" इसी व्यापकता की वजह

से सभी वर्ग और सप्रदाय के लोगो को गीता मान्य हुई है। इसमे कोई बात ऐसी है कि हमेशा नयापन पैदा किया जा सकता है और जमाना गुज़रने के साथ पुरानी पड़ने से इसे रोकता है—यह जिज्ञासा और जाच-पड़ताल का, विचार और कर्म का और बावजूद सघर्ष और विरोध के, समतोल कायम रखने का कोई खास गुण है। विषमता के बीच मे भी हम उसमे एकता और सतुलन पाते हैं और बदलती हुई परिस्थिति पर विजय पाने का रुख और यह इस तरह नही कि जो-कुछ सामने है, उससे मुह मोडा जाय, बल्कि इस तरह कि उसमे अपने काम के लिए जगह बनाई जाय। ढाई हज़ार बरसो मे, जो इसके लिखे जाने के बाद गुज़रे हैं, हिंदुस्तान के लोगो ने न जाने कितनी तबदीलिया देखी हैं और चढाव-उतार भी देखा है, तजुर्बे-पर-तजुर्बे हुए हैं, खयाल-पर-खयाल उठे हैं, लेकिन उन्हें हमेशा गीता में कोई जिंदा चीज़ मिली है, जो उनके तरक्की करते हुए विचार से मेल खा गई है, जिसमे ताज़गी रही है और दिमाग़ के छेड़नेवाले रूहानी मसलो पर जो लागू रही है।

१५ : क़दीम हिंदुस्तान में जिंदगी और कारबार

विद्वानों और फ़िलसूफ़ो ने कदीम हिंदुस्तान के फिलसफे और अध्यात्म के विकास को जाचने के लिए बहुत-कुछ किया है; तारीखी घटनाओं का काल-क्रम निश्चित करने के लिए भी बहुत-कुछ किया गया है। लेकिन उन वक्तो के सामाजिक और आर्थिक हालात को मालूम करने के लिए अभी ज्यादा काम नही हुआ है—यह कि किस तरह लोग रहते-सहते थे और अपना धधा करते थे, क्या चीज़ें और किस तरह पैदा करते थे और व्यापार किस ढग से होता था। इन बहुत अहम मसलों पर अब ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है और हिंदुस्तानी विद्वानो के लिखे हुए कुछ ग्रथ निकले है और एक अमरीकी की लिखी हुई एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। महाभारत खुद समाज-शास्त्र-सबधी और और सूचनाओ का भडार है और यकीनी तौर पर दूसरी बहुत-सी पुस्तको मे हमे जानकारी हासिल हो सकती है। लेकिन उनकी इस नुक्ते-नज़र से गौर के साथ जाच-पड़ताल करना ज़रूरी है। एक किताब, जिसकी इस खयाल से बहुत ज्यादा कीमत है, कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है, जो ईसा से पहले चौथी सदी मे लिखा गया था और जिसमे राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक बातो और मोर्चों के फौजी सगठन के बारे मे बहुत-सी तफ़सीली जानकारी मिलती है।

इससे भी पहले का एक बयान, जो हमे बुद्ध से भी पहले के ज़माने-तक पहुचाता है, हमे जातक कथाओ मे मिलता है। इन जातक कथाओं का

मौजूदा रूप बुद्ध के समय से बाद का है। इनमे बुद्ध के पहले के जन्मो का हाल लिखा हुआ खयाल किया जाता है और ये बौद्ध साहित्य का महत्त्वपूर्ण अग बन गई है। लेकिन ज़ाहिरा तौर पर ये कहानिया और भी पुरानी हैं और इनमे बौद्ध-काल से पहले का ज़िक्र है। इनसे हमे उस ज़माने के हिंदुस्तान की ज़िंदगी के बारे मे बहुत-सी सूचना मिलती है। प्रोफेसर रीज़ डेविड्स ने इन्हे लोक-कथाओ का सबसे पुराना, सब से मुकम्मिल और सबसे महत्त्व का सग्रह बताया है। बाद के अनेक सग्रह, जिनमे जानवरो की और-और कहानिया इकट्ठा की गई हैं, जो हिंदुस्तान मे लिखे गए और बाद मे पच्छिमी एशिया और यूरोप मे फैले, इन्ही जातको से निकले सिद्ध किये जा सकते हैं।

जातको मे उस ज़माने का ज़िक्र है, जबकि हिंदुस्तान की दो खास जातियो का, यानी द्रविडो और आर्यों का, आखिरी मेल-मिलाप हो रहा था। उनसे एक "विविध और अस्त-व्यस्त समाज का पता लगता है, जिसके वर्गीकरण की सभी कोशिशे बेसूद होगी और जिसके बारे मे उस ज़माने की वर्ण-व्यवस्था के अनुसार सगठन की कोई बात ही नही हो सकती।"[1] यह कहा जा सकता है कि जातको मे हमे ब्राह्मणो और क्षत्रियो की परपरा के विरोध मे जन-साधारण की परपरा मिलती है।

जुदा-जुदा राज्यो और शासको के काल-क्रम और वशावलिया हमे मिलती हैं। शुरू मे राजा चुना जाता था, बाद मे राजा वशगत होने लगे और सबसे जेठा लडका राज्य का अधिकारी होता। औरतें उत्तराधिकार से अलग रखी गई हैं, लेकिन इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं। जैसाकि चीन मे रहा है, शासक सभी दुर्भाग्यो के ज़िम्मेदार ठहराये जाते थे।

अगर कोई बात बिगडती है, तो इलजाम राजा पर आता है। मत्रियो की समितिया हुआ करती थी और एक तरह की राज्य-परिषद के भी हवाले मिलते है। फिर भी राजा खुदमुख्तार हुआ करता था, हालाकि उसे कुछ कायमशुदा मुआहदो के बमूजिब चलना पडता था। दरबार मे पुरोहित का पद बडा ऊचा माना जाता था, वह सलाहकार भी होता था और धार्मिक

[1] रिचर्ड फिक : 'दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इडिया इन बुद्धाज टाइम' ('बुद्ध के जमाने में पूर्वोत्तर हिंदुस्तान का सामाजिक सगठन') (कलकत्ता, १९२०), पृष्ठ २८६। एक और हाल की पुस्तक, जो खासकर जातक-कथाओ के आधार पर लिखी गई है, रतिलाल मेहता की 'प्रि-बुद्धिस्ट इडिया' (पूर्व-बौद्धकालीन भारत) (बबई, १९३९) है। अपनी ज्यादातर सामग्री के लिए मैं इस दूसरी पुस्तक का आभारी हू।

रस्मों को अदा करनेवाला भी। ज़ालिम और अन्यायी राजाओं के खिलाफ़ जनता के विद्रोह के भी हवाले मिलते हैं, और ऐसे राजाओं को उनके अपराधों के लिए जानें तक गवानी पड़ी हैं।

गाव की पचायतों को एक हद तक खुदमुख्तारी हासिल थी। ज़मीन के लगान से ख़ास आमदनी थी। यह ख़याल किया जाता था कि ज़मीन पर लगाया गया कर राजा के हिस्से का है, आमतौर पर यह गल्ले या उपज की शक्ल में अदा किया जाता था, लेकिन हमेशा ऐसा न होता था। यह खासकर किसानों की तहज़ीब थी और इसकी बुनियादी इकाई यही खुदमुख्तार गाव हुआ करते थे। इन्ही गावों की जनता के आधार पर राजनैतिक और आर्थिक सगठन होता था, दस-दस और सौ-सौ गावों के गिरोह बना दिए जाते थे। बाग़बानी, पशु-पालन और ग्वालों का घधा बहुत बड़े पैमाने पर होता था। बाग और उद्यान बहुतायत से थे और फूलों और फलों की क़द्र की जाती थी। जिन फूलों का ज़िक्र है, उनकी एक लबी फेहरिस्त तैयार होगी, जो फल पसद किये जाते थे, वे आम, अजीर, अगूर, केला और खजूर हैं। ज़ाहिरा तौर पर तरकारी और फल बेचनेवालों की और मालियों की शहरों में बहुत-सी दूकानें हुआ करती थीं। आज की तरह उस ज़माने में भी फूल-मालाओं की बड़ी क़द्र थी।

शिकार एक बाक़ायदा घधा था, खासतौर से इसलिए कि उसके ज़रिये खाना हासिल होता था। मासाहार साधारण-सी बात थी, और इसमें मुर्गे और मछलियां शामिल थीं, हिरन के गोश्त की बड़ी क़द्र होती थी। मछुओं का अलग घधा था और कसाई-खाने भी थे। लेकिन खाने की खास चीज़ें चावल, गेहू, बाजरा और मक्का थीं। ईख से शक्कर बनाई जाती थी। आज की तरह उस ज़माने में भी दूध और उससे बनी दूसरी चीज़ों की बड़ी क़द्र थी। शराब की दुकानें भी थीं और शराब, जान पड़ता है, चावल, फल और ईख से तैयार की जाती थी।

धातुओं और क़ीमती पत्थरों की खानें थीं। जिन धातुओं का ज़िक्र आया है, वे हैं सोना, चादी, तांबा, लोहा, सीसा, टिन, पीतल। क़ीमती पत्थरों में हीरा, लाल, मूगा है, मोतियों का भी ज़िक्र है। सोने, चादी और तांबे के सिक्कों के हवाले मिलते हैं। व्यापार के लिए साझे हुआ करते थे और सूद पर कर्ज़ दिया जाता था।

धंधे मे पत्थर, लकड़ी और ईंटें काम मे आती थी। बढ़ई लोग तरह-तरह के सामान तैयार करते थे, जैसे गाड़िया, रथ, पलग, कुरसिया, बेंचें, पेटिया खिलौने वगैरह। बेंत का काम करनेवाले चटाई, टोकरिया, पखे और छाते तैयार करते थे। कुम्हार हर एक गाव में होते थे। फूलों और चदन की लकड़ी से कई तरह की सुगधिया, तेल और सिंगार की चीज़ें तैयार की जाती थी, इनमे चदन की बुकनी भी होती थी। कई तरह की दवाइया और आसव तैयार होते थे और कभी-कभी मरे हुए आदमी के शरीर को मसाला लगाकर सुरक्षित भी रखा जाता था।

बहुत तरह के कारीगरों और दस्तकारो के अलावा, जिनकी चर्चा हुई है, कई और पेशेवरों के हवाले मिलते हैं। वे हैं—अध्यापक, वैद्य, जर्राह, व्यापारी, दूकानदार, गवैये, ज्योतिषी, कुंजड़े, भाड, बाजीगर, नट, कठपुतली का तमाशा करनेवाले और फेरी करनेवाले।

घरो मे गुलामो का होना काफी मामूली बात थी, लेकिन खेतों के काम और दूसरे कामो के लिए मजदूर लगाये जाते थे। उस वक्त भी थोड़े-से अछूत थे—ये चाडाल कहलाते थे और इनका खास काम था मुर्दों को फेंकना या जलाना।

व्यापारियों की जमातो और कारीगरो के धंधो का महत्त्व माना जा चुका था। फिक का कहना है—"व्यापारी समाए, जो कुछ तो आर्थिक वजहो से बनी थी, कुछ पूजी के अच्छे ढग से इस्तेमाल और मिलने-जुलने की सहूलियतो की वजह से, और कुछ अपने वर्ग के क़ानूनी हितो की हिफ़ाजत के लिए, हिंदुस्तानी सस्कृति के शुरू के ज़माने मे बन चुकी थी।" जातको मे लिखा है कि कारीगरो के १८ सघ थे, लेकिन उनमे सिर्फ़ चार नाम-से बताये गए है, यानी बढइयो और मेमारो के, सुनारो के, चमड़े का काम करनेवालो के और रगसाज़ो के।

महाकाव्यो मे भी व्यापारी और कारीगरों के सगठनो के हवाले हैं। महाभारत मे लिखा है—"सघो की रक्षा एकता से है।" कहा जाता है कि व्यापारियो के सघो का ऐसा जोर था कि राजा भी इनके खिलाफ़ कोई कानून नही बना सकता था। पुरोहितो के बाद इन सघो के मुखिया को बताया गया है, जिनका राजा को खास ध्यान रखना चाहिए।[1] व्यापारियों का मुखिया श्रेष्ठी (आजकल का सेठ) बहुत काफ़ी महत्त्व रखता था।

---

[1] 'कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इडिया', जिल्द १, पृष्ठ २६९। प्रो० वाशबर्न हाप्किन्स का लेख।

जातकों के बयान से एक कुछ गैर-मामूली विकास का पता लगता है। यह है, खास-खास धंधा करनेवालों के अलग गांव या बस्तियां। जैसे एक बढ़इयों का गांव था, जिसमें कहा जाता है कि एक हज़ार घर थे। एक सुनारों का गांव था, और उसी तरह और भी थे। इस तरह के खास पेशेवरों के गांव आमतौर पर शहरों के करीब होते थे, जहां उनकी बनाई चीज़ों की खपत होती थी और जहां उन्हें अपनी ज़रूरत की और चीज़ें हासिल हो जाती थीं। जान पड़ता है कि सारा गांव सहकारिता के उसूलों पर काम करता था और बड़े-बड़े ठेके लिया करता था। शायद इस अलहदा संगठन और रहने की वजह से जातों का विकास हुआ और वे फैलीं। ब्राह्मणों और कुलीनों की मिसालें रफ़्ता-रफ़्ता व्यापारियों के संघों और कारीगरों की सभाओं ने अपनाईं।

बड़ी-बड़ी सड़कें, जिनके किनारे यात्रियों के आराम के लिए घर बने थे, और कहीं-कहीं अस्पताल भी, सारे उत्तरी हिंदुस्तान में फैली हुई थीं और दूर-दूर जगहों को मिलाती थीं। ईसा से पहले की पांचवीं सदी में मिस्र में मेंफ़िस नाम की जगह पर हिंदुस्तानी व्यापारियों की एक बस्ती थी, जैसाकि वहां पाई गई हिंदुस्तानियों के सिरों की मूर्त्तियों से पता चलता है। शायद हिंदुस्तान और दक्खिन-पूरबी एशिया के टापुओं के बीच भी व्यापार हुआ करता था। समुद्र-पार के व्यापार के लिए जहाजों की ज़रूरत थी और यह ज़ाहिर है कि हिंदुस्तान में देश के भीतर नदियों पर चलने के लिए, बल्कि समुदर पर भी चलनेवाले जहाज़ बनते थे। महाकाव्यों में दूर से आनेवाले सौदागरों से जहाज़ की चुंगी लिये जाने के हवाले हैं।

(जातकों में सौदागरों की समुद्र-यात्राओं के हवाले भरे पड़े हैं। खुश्की के रास्ते से, रेगिस्तानों को पार करके, भड़ौच के पच्छिमी बंदरगाह तक और उत्तर में गंधार और मध्य-एशिया तक कारवां जाया करते थे। भड़ौच से जहाज़ बेबिलन (बावेरू) के लिए फ़ारस की खाड़ी को जाया करते थे। नदियों के रास्ते बड़ी आमद-रफ़्त हुआ करती थी और जातकों के अनुसार वे बनारस, पटना, चंपा (भागलपुर) और दूसरी जगहों से समुदर को जाया करते थे और वहां से दक्खिनी बंदरगाहों और लंका और मलय टापू तक। पुराने तमिळ काव्यों में कावेरीपट्टिनम् नाम के बंदरगाह का हाल मिलता है, जो दक्खिन में कावेरी नदी के किनारे पर था और जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का केंद्र था। ये जहाज़ काफ़ी बड़े होते होंगे, क्योंकि जातकों में बताया गया है कि एक जहाज़ पर सैकड़ों व्यापारी और यात्री सवार हुए।)

'मिलिंद' मे (यह ईसा से बाद की पहली सदी की रचना है। मिलिंद उत्तरी हिंदुस्तान का यूनानी-बाख्त्री राजा था, जो कट्टर बौद्ध बन गया था) यह लिखा है—"जिस तरह एक जहाज़ का मालिक, जिसने किसी समुद्री बंदरगाह के शहर मे माल के भाड़े से खूब धन कमा लिया है, समुद्र-यात्रा करके बंग (बंगाल), या तक्कोल, या चीन, या सोविर, या इस्कंदरिया या कारोमंडल तट पर, या हिंदुस्तान से पूर्व, या किसी ऐसी जगह, जहां जहाज़ इकट्ठा होते हैं, जा सकता है।"[1]

"हिंदुस्तान से बाहर जानेवाले माल मे रेशम के कपड़े, मलमल और महीन कपड़े, छुरियां, जिरह-बख़्तर, कमख़ाब, ज़रदोज़ी के काम, लोइयां, इत्र-फुलेल, दवाइयां, हाथी-दांत और हाथी-दांत की बनी चीज़ें, ज़ेवर और सोना (चांदी बहुत कम)—ये खास चीज़ें होती थी, जिन्हे व्यापारी भेजा करते थे।"[2]

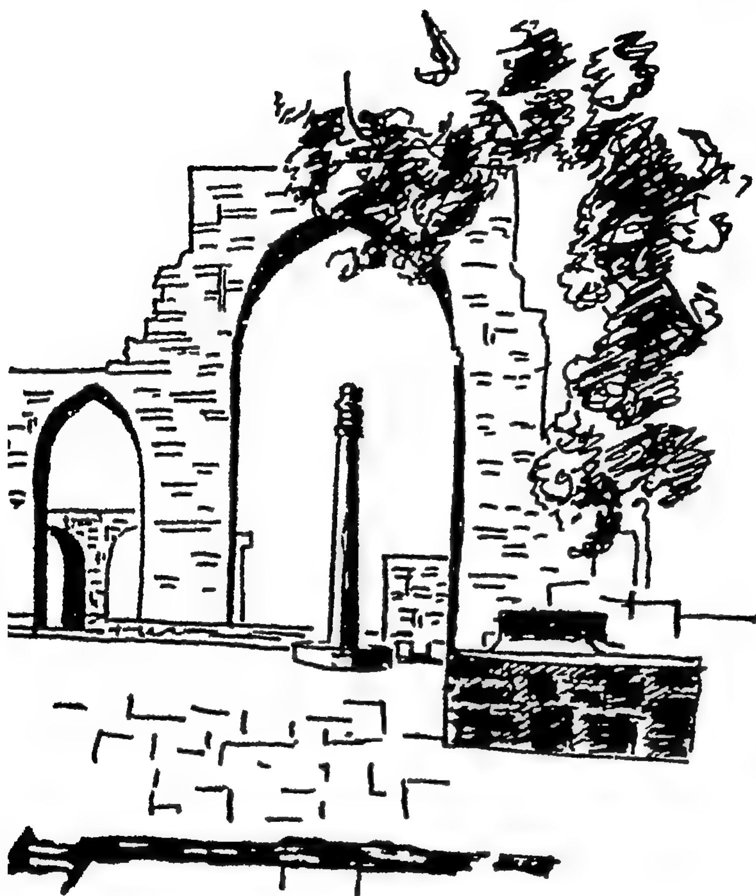
हिंदुस्तान, बल्कि उत्तरी हिंदुस्तान, अपने लड़ाई के हथियारो के लिए मशहूर था, खासतौर पर अपने लोहे की उम्दगी के लिए और तलवारो और कटारो के लिए। ईसा से पहले की पांचवी सदी में हिंदुस्तानी सिपाहियों की एक बड़ी टुकड़ी, पैदल और घुड़सवार दोनो की, ईरानी फौज के साथ यूनान गई थी। जब सिकन्दर ने ईरान पर हमला किया, तो (यह फिरदौसी के प्रसिद्ध महाकाव्य 'शाहनामा' मे लिखा है) हिंदुस्तान से ईरानियो ने जल्दी-जल्दी से तलवारें और हथियार मंगाये। तलवार के लिए पुराना (इस्लाम से पहले का) अरबी लफ्ज़ है 'मुहन्नद', जिसके मानी हैं "हिंद से आया हुआ" या हिंदुस्तानी। यह लफ्ज़ आजकल भी आमतौर पर इस्तेमाल किया जाता है।

(कदीम हिंदुस्तान मे जान पड़ता है कि लोहे के तैयार करने मे बड़ी तरक्की हो गई थी। दिल्ली के पास एक बहुत बड़ा लोहे का खंभा है, जिसने आजकल के वैज्ञानिको को दंग कर दिया है और वे नही पता लगा सके हैं कि यह किस तरह बना होगा, क्योंकि इस पर न जंग लग सका है और न दूसरी मौसमी तबदीलियो का असर पहुंचा है। इस पर जो लेख खुदा हुआ है, वह गुप्त ज़माने की लिपि मे है, जो ईसा से बाद की चौथी सदी मे प्रचलित थी। लेकिन कुछ विद्वानो का यह कहना है कि यह खंभा खुद इस लेख से पहले का है और यह लेख बाद मे जोड़ा गया है।)

---

[1] मिसेज़ सी० ए० एफ० रीज़ डेविड्स ने 'कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया' (जिल्द १), पृष्ठ २१२ मे उद्धृत किया है।

[2] रीज़ डेविड्स : 'बुद्धिस्ट इंडिया', पृष्ठ ९८।



दिल्ली में क़ुतुब मीनार के पास गुप्त-काल
का लोहे का मशहूर खंभा

ईसा से पहले की चौथी सदी में सिकन्दर का हिंदुस्तान पर हमला फौजी नुक्ते-नजर से एक छोटी-सी बात थी। यह एक सरहदी धावे के किस्म का हमला था और वह भी बहुत कामयाब हमला नहीं था। एक सरहदी सरदार ने उससे ऐसा कड़ा मोर्चा लिया कि खास हिंदुस्तान पर बढ़कर आने के अपने विचार को उसे पलटना पड़ा। अगर सरहदी इलाके का एक छोटा सा हाकिम इस तरह लड़ सकता था, तो और दक्खिन के ज्यादा ताकतवर राज्यों के बारे में क्या कहा जा सकता है ? शायद यही वजह है कि उसकी फ़ौज ने और आगे बढ़ने से इन्कार किया और वापस लौटने का आग्रह किया।

हिंदुस्तान की फौजी ताक़त का अंदाज सिकंदर के वापस लौट जाने और उसकी मौत के थोड़े दिनों बाद मिला, जब सेल्युकस ने दूसरा हमला करना चाहा। चंद्रगुप्त ने उसे हराकर पीछे भगा दिया। उस जमाने में हिंदुस्तानी फौजों को एक ऐसी सुविधा थी, जो दूसरों को नहीं हासिल थी; यह सिखाये हुए हाथियों की सुविधा थी, जिनकी आजकल के टैंकों से तुलना की जा सकती है। सेल्युकस निकाटोर ने हिंदुस्तान से ऐसे ५०० लड़ाई के हाथी हासिल किये और ३०२ ई० पू० में एशिया माइनर में ऐंटिगोनस के खिलाफ लड़ाई में इन्हें लगाया। फौजी मामलों के जानकार इतिहासकारों का कहना है कि ऐंटिगोनस मारा गया और उसका बेटा दिमित्रियस भाग गया। इसकी खास वजह ये हाथी ही थे।

हाथियों को सिखाने, घोड़ों की नस्ल तैयार करने आदि विषयों पर किताबें लिखी गई हैं, इनमें हर एक को शास्त्र कहा गया है। अब इस शब्द का अर्थ धर्म-ग्रंथों के लिए लिया जाने लगा है, लेकिन इसका इस्तेमाल गणित से लेकर नृत्य तक किसी भी तरह की विद्या के लिए बिना किसी भेद-भाव के किया जाता था। दरअसल धर्म और दुनियावी ज्ञान के बीच कोई विभाजक लकीर नहीं खींची गई थी। ये आपस में इस तरह सटे हुए थे कि एक-दूसरे के ऊपर आ जाते थे और हर एक बात, जिसकी ज़िंदगी के लिए उपयोगिता होती, जांच का विषय बन जाती।

हिंदुस्तान में लिखने का रिवाज बहुत ही पुराना है। बाद के पाषाण युग के मिट्टी के बर्तनों पर ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए अक्षर मिले हैं। मोहन-जोदड़ो में ऐसे लेख मिले हैं, जिन्हें अभीतक पूरी तरह नहीं पढ़ा जा सका है। ब्राह्मी लेख, जो हिंदुस्तान में सभी जगह मिले हैं, ऐसे हैं, जिनकी लिपि पूरी तरह देवनागरी लिपि की बुनियाद में है, इसमें कोई शुबहा नहीं हो सकता। अशोक के कुछ लेख ब्राह्मी में हैं, पच्छिमोत्तर के और लेख खरोष्ठी लिपि में हैं।

ईसा से पहले छठी या सातवीं सदी में पाणिनि ने अपना संस्कृत-व्याकरण तैयार किया।* उसने और भी व्याकरणों का ज़िक्र किया है, और उस ज़माने में भी संस्कृत का रूप स्थिर हो चुका था और यह एक बराबर बढ़ते हुए साहित्य की भाषा बन चुकी थी।

पाणिनि की पुस्तक को केवल व्याकरण न समझना चाहिए। लेनिनग्राद के सोवियत प्रोफ़ेसर टी० शेरबात्सकी ने इसका बयान करते हुए उसे "इन्सानी दिमाग़ की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक" बताया है। आज भी पाणिनि संस्कृत व्याकरण पर प्रमाण माना जाता है, हालांकि बाद के वैयाकरणों ने उसमें और बातें जोड़ी हैं और उनकी अपने ढंग से व्याख्याएं की हैं। यह एक दिलचस्प बात है कि पाणिनि ने यूनानी लिपि की चर्चा की है। इससे पता चलता है कि हिंदुस्तान और यूनान के बीच सिकंदर के पूरब आने से पहले ही किसी-न-किसी तरह का संपर्क हो चुका था।

ज्योतिष का ख़ासतौर पर अध्ययन होता था और अक्सर यह अध्ययन फलित ज्योतिष की तरफ़ झुकता था। औषध-शास्त्र की पाठ्य-पुस्तकें बनी थीं और अस्पताल भी थे। हिंदुस्तानी औषध-शास्त्र का संस्थापक धन्वंतरि था, ऐसी परंपरा है। लेकिन सबसे मशहूर पुरानी पाठ्य-पुस्तकें ईसवी सन की शुरू की सदियों में रची गईं। इनमें औषधि पर चरक की और शल्य या जर्राही—आपरेशन पर सुश्रुत की पुस्तकें हैं। यह खयाल किया जाता है कि कनिष्क (जिसकी राजधानी पच्छिमोत्तर में थी) के दरबार का राजवैद्य चरक था। इन पुस्तकों में बहुत-से रोगों का बयान है और उनके निदान और इलाज बताये गए हैं। इनमें जर्राही, दाइयों का काम, स्नान, खान-पान, सफ़ाई, बच्चों को खिलाने के ढंग और चिकित्सा-संबंधी शिक्षा, आदि बातें बताई गई हैं। हम प्रयोग की तरफ़ रुझान देखते हैं और मुर्दों के ऊपर चीर-फाड़, जर्राही की शिक्षा के साथ-साथ, कराई जाती थी। सुश्रुत ने बहुत-से जर्राही के औज़ारों का ज़िक्र किया है, और चीर-फाड़ का भी, जिसमें अंगों को काटने, पेट खोलने, पेट चीरकर बच्चा निकालने, मोतियाबिंद की जर्राही वगैरा है। घावों के कीटों को बफारा देकर मारा जाता था। ईसा से पहले की तीसरी या चौथी सदी में जानवरों के अस्पताल भी थे। ये शायद जैनियों और बौद्धों के मज़हबों के असर से बने थे जिनमें अहिंसा पर ज़ोर दिया गया है।

* कीथ और कुछ दूसरे लेखक पाणिनि का समय ३०० ई० पू० के लगभग बताते हैं। लेकिन सब प्रमाणों के तौलने से यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि इसकी रचना बौद्ध-काल से पहले की है।

गणित मे कदीम हिंदुस्तानियो ने कुछ इन्कलाबी आविष्कार किये थे—खासतौर पर शून्य के चिह्न, दशमलव प्रणाली, ऋण के चिह्न और बीजगणित मे अज्ञात राशियो के लिए अक्षरो के इस्तेमाल के जरिये। इन आविष्कारो का वक्त बनाना मुश्किल है, क्योकि उसूल की खोज और उसके व्यवहार के बीच बडे लम्बे जमाने का फर्क आ जाता था। लेकिन यह जाहिर है कि अकगणित, बीजगणित और रेखागणित की शुरुआते सबसे कदीम जमाने मे हो चुकी थी। ऋग्वेद के जमाने मे भी गिनती के लिए दहाई का इस्तेमाल किया जाता था। इन कदीम हिंदुस्तानियो मे गिनती और समय का ग़ैर-मामूली एहसास था। बहुत बडी राशियो के नामो की एक लम्बी सूची उन्होने बना रखी थी। यूनानियो, रोमनो, ईरानियो और अरबो के यहा जाहिरा हजार या ज्यादा-से-ज्यादा दस हजार ($१०^{४}$=१०,०००) की संख्या से आगे के नाम न थे। हिंदुस्तान मे १८ निश्चित नामकरण ($१०^{१८}$) तो थे ही, और इससे भी लम्बी सूचिया बन गई थी। बुद्ध की शुरू की तालीम के बयान से हमे मालूम होता है कि $१०^{५३}$ तक की सख्याओ के अलग-अलग नाम वह ले सकते थे।

दूसरी तरफ वक्त का बडा सूक्ष्म विभाजन हो गया था और इसकी सबसे छोटी इकाई लगभग एक सेकड का सत्रहवा हिस्सा थी। लबाई की सबसे छोटी माप करीब-करीब १ ३ × $७^{-१०}$ इच थी। ये सब बडी और छोटी राशिया महज फर्जी थी, और इनका इस्तेमाल फिलसफे के विचारो मे हुआ करता था। फिर भी क़दीम हिंदुस्तानियो की देश-काल की कल्पना और कदीम कौमो के मुकाबले कही बढी-चढी थी। उनका चितन बहुत बडे पैमाने पर होता था। उनकी पुराण की कथाओ मे अरबो-खरबो साल के युगो का बयान है। आजकल के भूगर्भ-शास्त्र की विशद युगो की गिनतिया और नक्षत्रो की दूरी की बहुत बडी मापे उनके लिए अचरज की चीजे न होती। हिंदुस्तान की इस पृष्ठभूमि की वजह से ही डार्विन के और इसी तरह के दूसरे सिद्धातो ने यहा वह उथल-पुथल और अदरूनी सघर्ष पैदा नही किया, जो उन्नीसवी सदी के बीच के जमाने मे यूरोप में उठा था। यूरोप की साधारण जनता के दिमाग मे जो वक्त का पैमाना आमतौर पर आता था, वह कुछ हजार बरसो से आगे का नही था।

'अर्थशास्त्र' मे उत्तरी हिंदुस्तान मे ईसा से पहले की चौथी सदी मे बरती जानेवाली मापे और तौलें मिलती है। बाजार मे तौल के बटखरो की कडी जाच हुआ करती थी।

पुराणो के जमाने मे अकसर वन के आश्रमो का ज़िक्र है, — तरह

के विश्वविद्यालय होते थे। ये शहरों से बहुत दूर पर नहीं होते थे और यहां मशहूर विद्वानों के पास शिक्षा-दीक्षा के लिए विद्यार्थी इकट्ठा हुआ करते थे। यह शिक्षा कई विषयों की होती था, इसमें फौजी शिक्षा शामिल थी। इन आश्रमों को इसलिए पसंद किया जाता था कि विद्यार्थी लोग यहां शहर के शोर-गुल और आकर्षणों से दूर रहते हुए संयम और ब्रह्मचर्य की जिंदगी बिता सकते थे। यहां कुछ साल तालीम हासिल करके वे वापस जाकर गृहस्थों की और शहरी जिंदगी बिताते थे। शायद इन आश्रमों या गुरुकुलों में छोटे-छोटे गुट्ट इकट्ठा हुआ करते थे, अगरचे इस बात के संकेत मिलते हैं कि लोकप्रिय गुरुओं के यहां बड़ी संख्या में विद्यार्थी खिंचकर पहुंचा करते थे।

बनारस हमेशा से विद्या का एक केंद्र रहा है और बुद्ध के जमाने में भी यह मशहूर था और प्राचीन माना जाता था। बनारस के पास मृगदाव में बुद्ध ने सबसे पहला उपदेश दिया था, लेकिन बनारस किसी जमाने में ऐसे विश्वविद्यालय का केंद्र था, जैसे उस वक्त और बाद में और जगहों में थे, यह नहीं जान पड़ता। वहां पर गुरुओं और शिष्यों के बहुत-से अलग-अलग समुदाय थे और अक्सर विरोधी समुदायों में तीखे बहस-मुबाहसे या शास्त्रार्थ हुआ करते थे।

लेकिन पच्छिमोत्तर में मौजूदा पेशावर के पास एक क़दीम और मशहूर विश्वविद्यालय तक्षशिला में था। यह खासतौर पर विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र और कलाओं के लिए मशहूर था और हिंदुस्तान के दूर-दूर के हिस्सों से यहां लोग आया करते थे। जातक कथाओं में ऐसी बहुत-सी मिसालें हैं, उन कुलीन और ब्राह्मणों के बेटों की, जो तक्षशिला में शिक्षा हासिल करने के लिए अकेले और बिना किसी रक्षा के अस्त्र के जाया करते थे। इसकी स्थिति ऐसी थी कि बहुत करके यहां मध्य एशिया और अफगानिस्तान से भी विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए आया करते थे। तक्षशिला का स्नातक होना एक इज्जत की बात समझी जाती थी। जो वैद्य यहां से चिकित्सा-शास्त्र सीखकर निकलते थे, उनकी बड़ी कद्र होती थी और इसका वर्णन मिलता है कि जब कभी बुद्ध बीमार पड़ते थे, तब उनके भक्त ऐसे मशहूर वैद्य को बुलाते थे, जो तक्षशिला का स्नातक होता था। ईसा से पहले की छठी-सातवीं सदी के वैयाकरण पाणिनि ने यहीं शिक्षा पाई थी।

गया था। यह मौर्य सल्तनत के पच्छिमोत्तरी सूबे का सदर मुक़ाम भी था।

कानून के लिहाज़ से औरतो का दर्जा, सबसे पहले स्मृतिकार मनु के अनुसार, निश्चित तौर पर गिरा हुआ था। वे हमेशा किसी-न-किसी के सहारे पर रहती थी, वह चाहे बाप का हो, चाहे पति का, चाहे बेटे का। कानून की नज़र मे उन्हे चल-सपत्ति-जैसा समझा जाता था। फिर भी, महाकाव्यो की बहुत-सी कथाओ से पता चलता है कि इस कानून का कडा अमल नही होता था और उन्हे समाज मे और घरो मे इज्ज़त का ओहदा मिलता था। पुराने स्मृतिकार मनु खुद लिखते हैं—"जहा औरतो की इज्ज़त होती है, वहा देवता लोग आकर बसते हैं।" तक्षशिला या किसी पुराने विश्वविद्यालय के सिलसिले मे विद्यार्थिनियो का ज़िक्र नही मिलता। लेकिन उनमे से कुछ कही-न-कही शिक्षा जरूर पाती रही हैं, क्योकि विदुषी और पढी-लिखी स्त्रियो की बार-बार चर्चा हुई है। बाद के ज़मानो मे भी मशहूर विदुषी स्त्रिया हुई हैं। औरतो का कानूनी दर्जा कदीम हिंदुस्तान में गिरा हुआ ज़रूर था, लेकिन आज की कसौटी से जाचा जाय, तो क़दीम यूनान, रोम, शुरू के ईसाई मतवाले मुल्को और मध्य-युग के बल्कि और हाल के, यानी उन्नीसवी सदी के शुरू के, यूरोप मे उनका जैसा दर्जा था, उससे यहा कही अच्छा था।

मनु और उनके बाद के स्मृतिकार व्यापार मे साझे के चलन का हाल बताते हैं। मनु ने खासतौर पर ब्राह्मणो की बाते कही हैं। याज्ञवल्क्य ने व्यापारी वर्ग और किसानो के बारे मे भी लिखा है। एक बाद के लिखनेवाले, नारद ने कहा है—"हर एक हिस्सेदार का घाटा, खर्च और नफा उसकी लगाई पूजी के अनुसार कम या ज्यादा होता है। गोदाम, खाने का, चुगी का, नुकसान का, किराये-भाडे का और हिफाज़त का खर्चा हर हिस्सेदार को मुआहदे के मुताबिक देना चाहिए।"

राज्य की जो कल्पना मनु ने की है, वह ज़ाहिरा तौर पर एक छोटे राज्य की है। लेकिन इस कल्पना मे विकास और तबदीलिया हो रही थी, यहा तक कि इसके अदर ईसा से पहले की चौथी सदी के विशाल मौर्य-साम्राज्य और यूनानियो से अतर्राष्ट्रीय सपर्क तक आ गए।

ईसा से पहले की चौथी सदी मे हिंदुस्तान मे रहनेवाले यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने हिंदुस्तान मे किसी तरह की भी गुलामी के रिवाज के होने से इन्कार किया है। लेकिन ऐसा करने मे उसने गलती की है, क्योकि इसी ज़माने की हिंदुस्तानी किताबो मे दासो की हालत सुधारने के हवाले

मिलते हैं। फिर भी यह बात जाहिर है कि यहां बड़े पैमाने पर गुलामी नहीं थी और जैसाकि बहुत-से दूसरे मुल्कों में इस जमाने में एक आम बात थी, यहां मजदूरी करनेवाले गुलामों के गिरोह नहीं थे। शायद इसीलिए मेगस्थनीज़ ने समझा हो कि गुलामी यहां बिल्कुल थी ही नहीं। यह लिखा गया था कि "आर्य कभी दास नहीं बनाया जा सकता।" ठीक तौर पर कौन 'आर्य' था और कौन नहीं था, यह बताना मुश्किल है, लेकिन आर्यों के दायरे में उस वक्त बहुत-कुछ चारों ही खास वर्ण, जिनमें शूद्र भी थे, आ जाते थे, सिर्फ अछूत नहीं आते थे।

चीन में भी शुरू के हान वंश के जमाने में गुलाम खासकर घरेलू सेवा के लिए हुआ करते थे। खेती या बड़े पैमाने पर मजदूरी में उनका ज्यादा काम न होता था। चीन और हिंदुस्तान दोनों ही जगह इस तरह के घरेलू गुलाम आबादी के लिहाज से गिनती में बहुत थोड़े थे, और इस खास मामले में हिंदुस्तानी और चीनी समाज और समकालीन यूनानी और रोमन समाज में बड़ा फर्क था।

उस जमाने के हिंदुस्तानी कैसे थे? हमारे लिए इतने पुराने और इस जमाने से इतने मुख्तलिफ जमाने के बारे में खयाल करना मुश्किल है, फिर भी जो विविध जानकारी हमें है, उससे एक धुंधली तस्वीर हमारे सामने आती ही है। वे खुले दिल के, अपने में भरोसा रखनेवाले, अपनी परंपरा पर फख्र करनेवाले लोग थे, रहस्य की खोज में हाथ-पैर फेंकनेवाले, प्रकृति और इन्सानी जिंदगी के बारे में बहुत-से सवाल करनेवाले, अपनी बनाई मर्यादा और कायम किये गए मूल्यों के बारे में सावधान रहनेवाले थे, लेकिन जिंदगी में आनंद के साथ हिस्सा लेनेवाले और मौत का लापरवाही से सामना करनेवाले थे। सिकंदर के उत्तरी हिंदुस्तान के हमले के यूनानी इतिहासकार एरियन पर आर्य जाति की इस जिंदादिली का असर हुआ था। वह लिखता है—"कोई कौम गाने और नाचने की इतनी शौकीन नहीं, जितने हिंदुस्तानी हैं।"

काम मे तरक्की हुई है, और यह खुद कर्म-काड और पुरोहिताई के खिलाफ़ प्रतिक्रिया के रूप मे रही है। लोगो का दिमाग, जो कुछ वे देखते थे, उसके खिलाफ़ विद्रोह करता था और इस विद्रोह का नतीजा था, जो शुरू के उपनिषदो मे और कुछ समय बाद जडवाद, जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म के रूप मे और भगवद्गीता मे पाये जानेवाले सब धर्मों के समन्वय मे हमे मिलता है। फिर इन सबके भीतर से हिंदुस्तानी फिलसफे या दर्शन की छ पद्धतिया निकलती है। लेकिन इन सब मानसिक सघर्ष और विद्रोह के पीछे एक जीती-जागती और तरक्की करती हुई कौमी ज़िंदगी थी।

जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म वैदिक-धर्म और उसकी शाखो से हटकर थे, अगरचे एक मानी मे ये खुद उसीसे निकले थे। ये वेदो को प्रमाण मानने से इन्कार करते हैं, और जो बात सबसे बुनियादी है, वह यह है कि ये आदि-कारण के बारे मे या तो मौन है या उससे इन्कार करते हैं। दोनो ही अहिंसा पर ज़ोर देते हैं और ब्रह्मचारी भिक्खुओ और पुरोहितो के संघ बनाते हैं। उनका नज़रिया एक हद तक यथार्थवादी और बुद्धिवादी नज़रिया है, हालाकि जब अनदेखी दुनिया पर विचार करना हो, तो लाज़िमी तौर पर यह नज़रिया हमे बहुत आगे नही ले जाता। जैन-धर्म का एक बुनियादी सिद्धात है कि सत्य हमारे विचारो से सापेक्ष है। यह एक कठोर नीतिवादी और अपरोक्ष-वादी विचार-पद्धति है, और इस धर्म में ज़िंदगी और विचार मे तपस्या के पहलू पर ज़ोर दिया गया है।

जैन-धर्म के सस्थापक महावीर और बुद्ध समकालीन थे। दोनो ही क्षत्रिय वर्ण के थे। बुद्ध का ८० वर्ष की उम्र मे ईसा से ५४४ वर्ष पहले निर्वाण हुआ। तभी से बौद्ध-सवत शुरू होता है। (यह तिथि परपरा के अनुसार है। इतिहासकार बाद की तारीख, यानी ४८७ ई० पू०, देते हैं। लेकिन अब उनका रुझान परपरागत तिथि को मानने की तरफ है)। यह एक अद्‌भुत सयोग है कि मैं ये सतरें बौद्ध-सवत २४८८ की पहली तारीख वैशाखी पूर्णिमा के दिन लिख रहा हू। बौद्ध-साहित्य मे यह लिखा है कि बुद्ध का जन्म इसी वैशाख (मई-जून) महीने की पूर्णिमा को हुआ था, इसी तिथि को उन्होने ज्ञान प्राप्त किया था और इसी तिथि को उनका निर्वाण भी हुआ था।

बुद्ध मे प्रचलित धर्म, अधविश्वास, कर्म-काड और यज्ञ आदि की प्रथा पर और इनके साथ जुडे हुए निहित स्वार्थों पर हमला करने का साहस था। उन्होंने आधिभौतिक और परमार्थी नज़रिये का, करामातो, इलहाम, अलौ-किक व्यापार आदि का विरोध किया। दलील, अक्ल और तजुरबे पर उनका

आग्रह था और उन्होंने नीति या इख़लाक़ पर ज़ोर दिया। उनका तरीक़ा था मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का और इस मनोविज्ञान मे आत्मा को जगह नहीं दी गई थी। उनका नज़रिया आधिभौतिक कल्पना की बासी हवा के बाद पहाड़ की ताज़ी हवा के हल्के थपेड़े-सा जान पड़ता है।

बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था पर कोई सीधा वार नहीं किया, लेकिन अपने संघ मे उन्होंने इसे जगह नहीं दी और इसमे शक नहीं कि उनका सारा रुख और काम करने का ढंग ऐसा रहा कि उससे वर्ण-व्यवस्था को धक्का पहुचा। शायद उनके समय मे और कुछ सदियों बाद तक जात या वर्ण-व्यवस्था बहुत तरल दशा मे थी। यह ज़ाहिर है कि जिस समाज मे जात-पात के बंधन हो, वह विदेशों मे व्यापार मे या दूसरे साहसी कामों मे बहुत हिस्सा नही ले सकता, और फिर भी बुद्ध के पंद्रह सौ बरस बाद तक हम देखते हैं कि हिंदुस्तान और पड़ोसी मुल्कों के बीच व्यापार तरक़्क़ी कर रहा था और हिंदुस्तानी उपनिवेशों की भी अच्छी हालत थी। पच्छिमोत्तर मे विदेशी लोगों के आने का तांता बंधा रहा और ये लोग यहां जज़्ब होते रहे हैं।

जज़्ब होने की इस गति पर विचार करना मनोरंजक है। यह गति दोनों सिरों पर काम करती रही। नीचे की तरफ़ तो नई जातें बनती गईं, दूसरी तरफ़ जितने कामयाब हमलावर होते, सब क्षत्रिय बन जाते। ईसाई सन से ठीक पहले और बाद की सदियों के सिक्के दो-तीन पीढ़ियों के भीतर-भीतर तेज़ी के साथ होनेवाली यह तब्दीली ज़ाहिर करते हैं। पहले शासक का नाम विदेशी है, उसके बेटे या पोते का नाम संस्कृत का है, और उसे गद्दी पर बिठाने के वक़्त वही परंपरागत विधि बरती जाती है, जो क्षत्रियों के लिए बरती गई थी।

चलता, मानो भाग्य का कोई न टलनेवाला चक्र हो, जात-पात का ज़ोर बढ़ा है और उसने फैलकर हिंदुस्तानी ज़िंदगी के हर पहलू को अपने शिकंजे मे जकड़ लिया है। जात के विरोधियो का बहुत लोगो ने साथ दिया है और अत मे इनकी खुद अलग जात बन गई है। जैन-धर्म, जो कायम-शुदा धर्म से विद्रोह करके उठा था, और बहुत तरह से उससे जुदा था, जात की तरफ़ सहिष्णुता दिखाता था और खुद उससे मिल-जुल गया था। यही कारण है कि यह आज भी ज़िंदा है और हिंदुस्तान मे जारी है। यह हिंदू-धर्म की करीब-करीब एक शाख बन गया है। बौद्ध-धर्म वर्ण-व्यवस्था न स्वीकार करने के कारण अपने विचार और रुख मे ज़्यादा स्वतंत्र रहा। अठारह सौ साल हुए, ईसाई-मत यहा आता है और बस जाता है और रफ्ता-रफ्ता अपनी अलग जातें बना लेता है। मुसलमानी समाजी सगठन, बावजूद इसके कि उसमे इस तरह के भेदो का ज़ोरदार विरोध हुआ है, इससे कुछ हद तक प्रभावित हुए बगैर न रह सका।

हमारे ही ज़माने मे, जात-पात की कठोरता को तोड़ने के लिए बीच के वर्गवालो मे बहुत-सी तहरीके हुई हैं और उनसे कुछ फर्क भी पैदा हुआ है, लेकिन जहातक आम जनता का ताल्लुक है, कोई खास फर्क नही हुआ है। इन तहरीको का कायदा यह रहा है कि साधे-सीधे हमला किया जाय। इसके बाद गाधीजी आये और उन्होने इस मसले को हिंदुस्तानी तरीके पर हाथ मे लिया—यानी घुमाव के तरीके से—और उनकी निगाह आम जनता पर रही। उन्होने काफी सीधे तरीके पर भी वार किये हैं, काफी छेड़-छाड़ की है, काफी आग्रह के साथ इस काम मे लगे रहे है, लेकिन उन्होंने चार वर्णों के मूल और बुनियाद मे काम करनेवाले सिद्धात को चुनौती नही दी। इस व्यवस्था के ऊपर और नीचे जो झाड़-झखाड़ उठ आई है, उस पर उन्होने हमला किया और यह जानते हुए कि इस तरह वह जात-पात के समूचे ढड्ढे की जड़ काट रहे हैं।[1] इसकी बुनियाद को उन्होने अभी ही हिला दिया है और आम

---

[1] जात-पात के बारे मे गाधीजी के बयान बराबर ज़्यादा ज़ोरदार और तीखे होते आ रहे हैं और उन्होंने अनेक बार इसे साफ तरीक़े पर कहा है कि जिस रूप मे आज जात-पात चल रही है, उसे दूर ही हो जाना चाहिए। अपने रचनात्मक कार्यक्रम मे, जो उन्होंने कौम के सामने रखा है, वह कहते हैं—"इसमे शक नहीं कि इसका मकसद राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक आज़ादी है। यह इस बड़ी क़ौम की ज़िंदगी के हरएक शोबे मे एक इखलाक़ी अहिंसात्मक इन्क़लाब है—जिसका नतीजा यह होगा कि जात-पात और अछूतपन और इसी तरह के और अंधे यक़ीन मिट जायेंगे, हिंदू-मुसलमान के

जनता पर इसका गहरा असर पड़ा है। उनके लिए तो ऐसा है कि या तो सारा ढांचा कायम रहे, या सारा-का-सारा टूट जाय। लेकिन गांधीजी की शक्ल में भी वही ताकत काम कर रही है और वह हमारे मौजूदा जिंदगी के मुताबिक है—और ऐसा जान पड़ता है कि आखिरकार पुराने जमाने के इस चिमटे रहनेवाले निशान का भी अंत होनेवाला है।

लेकिन उस वक्त, जब हम हिंदुस्तान में जात-पात के खिलाफ (जिसकी शुरू बुनियाद रंग या वर्ण पर रही है) इस तरह लड़ रहे हैं, हम देखते हैं कि पच्छिम में नई, अपने को अलग रखनेवाली और सगरूर जातें उठ खड़ी हुई हैं, जिनका उसूल अपने को अलग-थलग रखना है और इसे कभी वे राजनीति और अर्थशास्त्र की भाषा में, और कभी लोकतंत्र के नाम पर भी पेश करती हैं।

बुद्ध से पहले, ईसा से ७०० साल पहले, बताया जाता है कि बड़े ऋषि और स्मृतिकार, याज्ञवल्क्य ने यह कहा था—"अपने मजहब और चमड़े के रंग की वजह से हममें गुण नहीं उपजता, गुण अभ्यास से आता है। इसलिए यह उचित है कि कोई आदमी दूसरे के लिए कोई भी ऐसी बात न करे, जिसे वह अपने लिए किया जाना पसंद न करेगा।"

इन दो सदियों में हिंदुस्तान में बहुत-सी तबदीलियां हुईं। जातियों में मेल-जोल ले आने की और छोटी-छोटी रियासतों को गणराज्य का रूप देने की बहुत-सी क्रियाएं बहुत दिनों से जारी थीं, और एक मिला-जुला केंद्रीय राज्य क़ायम करने की पुरानी प्रेरणा भी काम कर रही थी, और इन सबका नतीजा यह हुआ कि एक ताक़तवर और शानदार साम्राज्य क़ायम हो गया। पच्छिमोत्तर में होनेवाले सिकंदर के हमले ने इस विकास को और भी आगे ढकेलने में मदद दी, और दो ऐसे मार्के के आदमी सामने आये, जिन्होंने इस बदलती हुई हालत से फ़ायदा उठाया और उसे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ ढाल लिया। ये लोग थे चंद्रगुप्त मौर्य और उसका दोस्त, वज़ीर और सलाहकार ब्राह्मण चाणक्य। इनके मेल से ख़ूब काम चला। दोनों ही नंदों के मगध राज्य से, जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) थी, निकाले हुए थे; दोनों ही पच्छिमोत्तर में तक्षशिला पहुंचे और वहां सिकंदर के मुक़र्रर किये हुए यूनानियों के संपर्क में आये। चंद्रगुप्त सिकंदर से ख़ुद मिला, उसकी विजयों और शान-शौकत का हाल सुना, और उसीकी बराबरी करने का उसके मन में हौसला पैदा हुआ। दोनों देख-भाल और तैयारी में लगे रहे। उन्होंने बड़े ऊंचे मनसूबे बांधे और अपना मकसद पूरा करने के लिए मौक़े के इंतज़ार में रहे।

जल्द ही उन्हें बेबिलन से सिकंदर के (३२३ ई० पू० में) मरने की ख़बर मिली और फ़ौरन चंद्रगुप्त और चाणक्य ने राष्ट्रीयता का पुराना और सदा नया नारा बुलंद किया। यूनानियों की संरक्षक सेना तक्षशिला से भगा दी गई। क़ौमियत की पुकार ने चंद्रगुप्त को बहुत-से साथी दिये और उन्हें साथ लेकर उत्तरी हिंदुस्तान पार करते हुए उसने पाटलिपुत्र पर धावा कर दिया। सिकंदर की मौत के दो साल के भीतर ही उसने इस शहर पर और राज्य पर क़ब्ज़ा कर लिया और मौर्य-साम्राज्य की स्थापना हो गई।

सिकंदर के सेनापति सेल्युकस ने जिसने अपने स्वामी की मौत के बाद एशिया माइनर से लेकर हिंदुस्तान तक के प्रदेश पर उत्तराधिकार पाया था, पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान पर फिर से हुकूमत कायम करनी चाही और उसने अपनी फ़ौज लेकर सिंधु नदी पार कर ली। उसने शिकस्त खाई और क़ाबुल और हिरात तक अफ़ग़ानिस्तान का एक हिस्सा उसे चंद्रगुप्त को देना पड़ा और उसने अपनी लड़की भी चंद्रगुप्त के साथ ब्याह दी। दक्खिन हिंदुस्तान को छोड़कर सारे हिंदुस्तान पर अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक, चंद्रगुप्त का साम्राज्य फैला हुआ था, और उत्तर में यह काबुल तक पहुंचता था। लिखित इतिहास में यह पहला मौका था कि हिंदुस्तान

रह जाना चाहिए। राजनीतिज्ञ का हमेशा यह उद्देश्य होना चाहिए कि युद्ध के फलस्वरूप राज्य की तरक्की हो, केवल यह नही कि वैरी हार जाय और नष्ट हो जाय। अगर युद्ध से दोनो फरीक़ नष्ट हो जाते हैं, तो इसे राजनीतिज्ञता का दिवाला समझना चाहिए। लडाई के लिए हथियारबद फौज की ज़रूरत होती है, लेकिन हथियारो के ज़ोर से कही ज्यादा महत्व की बात है वह कूटनीति, जिससे दुश्मन भरोसा खो बैठे और उसकी फ़ौज तितर-बितर होकर या तो नष्ट हो जाय, या हमला होने के पहले ही नाश की हालत के करीब पहुच जाय। अगरचे चाणक्य अपने मक़सद को हासिल करने के मामले मे बडा कडा और कुछ भी न उठा रखनेवाला था, फिर भी वह यह कभी नही भूलता था कि अक्लमद और आला-दिमाग़ दुश्मन को कुचलने के बनिस्बत उसे अपना हिमायती बना लेना ज्यादा अच्छा है। दुश्मन की फोज मे फूट के बीज बोना उसका आखिरी हथियार था। साथ हो, कहा यह जाता है कि ठीक उस वक्त, जबकि जीत होनेवाली थी, उसने चद्रगुप्त को अपने वैरी की तरफ उदारता दिखाने पर आमादा किया। यह भी कहते है कि चाणक्य ने अपने ऊचे ओहदे की मुहर को खुद ही इस विपक्षी के मत्री के सिपुर्द कर दिया, जिसकी बुद्धिमानी और अपने पुराने मालिक के लिए वफादारी का चाणक्य पर बडा असर पडा था। इस तरह से यह किस्सा हार और अपमान की कडवाहट के साथ नही बल्कि समझौते के साथ और राज्य की मज़बूत और कायम रहनेवाली बुनियाद के रखने के साथ ख़त्म होता है, जिसमे दुश्मन की हार ही नही होती है, बल्कि उसे दिल से भी अपने मे मिला लिया जाता है।

मौर्य-साम्राज्य का यूनानी दुनिया के साथ कूटनीतिक सबध था—सेल्यूकस से भी और उसके उत्तराधिकारी टोलमी फिलाडेल्फस से भी। यह सबध आपस के व्यापारिक हितो की मज़बूत बुनियाद पर टिका हुआ था। स्ट्रैबो कहता है कि मध्य-एशिया की आमूनदी उस महत्त्वपूर्ण सिलसिले की एक कडी थी, जिससे हिंदुस्तानी माल कैस्पियन और काले समुदरो के रास्ते यूरोप मे पहुचाया जाता था। ईसा से पहले की तीसरी सदी मे यह रास्ता बहुत चालू था। उस ज़माने मे मध्य एशिया खुशहाल और ज़रखेज़ था। उससे एक हज़ार साल कुछ बाद वह सूखने लगा। 'अर्थशास्त्र' मे लिखा है कि राजा के अस्तबल मे अरबी घोडे थे।

१८ : राज्य का संगठन

यह नया राज्य, जो ३२१ ई० पू० मे कायम हुआ और हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से पर और उत्तर मे ठीक काबुल तक फैला, आखिर था कैसा

राज्य ? यह था एकछत्र शासन और ऊपर के सिरे पर हम इसमें एकाधिपत्य पाते हैं, जैसाकि अधिकतर साम्राज्यों में रहा है और अब भी है। शहरों और गांवों की इकाइयों में बहुत-कुछ मुकामी स्वराज्य था और चुने गए बुजुर्ग इन मुकामी मामलों की देखभाल किया करते थे। इस मुकामी स्वराज्य की बड़ी कद्र थी और शायद ही किसी राजा या सबसे बड़े शासक ने इसमें दखल दिया हो। फिर भी केंद्रीय शासन का असर था और उसके तरह-तरह के काम सभी जगह देखने में आते थे और कुछ मानों में यह मौर्य-शासन ऐसा न था कि आजकल के एकाधिपत्य शासन की याद दिलाता है। उस महज किसानी के युग में व्यक्ति पर उस तरह की बंदिशें, जैसी आजकल दिखती हैं, ऐसा नहीं सकता था; लेकिन सब सीमाओं के बावजूद, जिंदगी पर बंदिशें लगाने की और उसे नियंत्रित करने की कोशिशें हुईं। यह शासन एक मात्र पुलिस शासन न था, जिसका मकसद बाहरी और भीतरी अमन कायम रखना और लगान वसूल करना ही रहा हो।

चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' मे अनेकानेक विषयो का बयान हुआ है और यह पुस्तक हुकूमत के सिद्धात और व्यवहार के सभी पहलुओ पर विचार करती है। इसमे राजा के, उसके मंत्रियो और सलाहकारो के कर्तव्य बताये गए हैं और राज-सभा की बैठको, सरकारी महकमो, कूटनीति, लडाई और सुलह के बयान है। इसमे चद्रगुप्त की बडी फौज की तफसील दी गई है, जिसमे पैदल, घुडसवार सेना, रथो और हाथियो का हाल है।[1] साथ ही चाणक्य का कहना है, गिनती से कुछ होता-जाता नही—अगर सयम न हो और ठीक नेता न हो, तो यही सेना भार हो सकती है। रक्षा के और किलेबदी के बारे मे भी इस किताब मे कहा गया है।

और जिन बातो पर इस किताब मे लिखा गया है, वे हैं, व्यापार और व्यवसाय, कानून और न्यायालय, शहरी व्यवस्था, सामाजिक रीति-रिवाज, विवाह और तलाक, औरतो के अधिकार, राज्य-कर और लगान, खेती, खानो और कारखानो का चलाना, व्यवसाय, मडिया, बागवानी, उद्योग-धधे, आब-पाशी और जल के रास्ते, जहाज़ और जहाजरानी, निगमे, मर्दुमशुमारी, मछली पकडने का धधा, कसाईखाने, राहदारी के पत्र, कैदखाने वगैरह। विधवा को फिर से व्याहा जाना माना गया है, और किन्ही खास हालतो मे तलाक भी।

चीन के बने रेशमी कपडे, चीन पट्ट, का भी हवाला मिलता है और इस कपडे मे और हिंदुस्तान के बने रेशम के कपडे मे फर्क बताया गया है। शायद हिंदुस्तान का बना कपडा चीन के कपडे के मुकाबले मे ज्यादा मोटा होता था। चीनी कपडो का आयात यह बताता है कि कम-से-कम ईसा से पहले की चौथी सदी मे चीन के साथ हिंदुस्तान का व्यावसायिक सबध कायम था।

अपने राज्यारोहण के वक्त राजा को इस बात की क़सम खानी पडती थी कि वह अपनी प्रजा की सेवा करेगा। "मैं स्वय, जिंदगी और सतान से वचित रहू, अगर मैं तुम्हे सताऊ।" "उसका सुख उसकी प्रजा के सुख मे है और उसकी खैरियत मे है, जो बात उसे खुद अच्छी लगती है, उसे वह अच्छा न समझे, लेकिन जो बात उसकी प्रजा को अच्छी लगे, उसे वह अच्छा समझे।" "अगर राजा मे उत्साह है, तो उसकी प्रजा मे भी उतना ही उत्साह होगा।" "आम लोगो के हित के काम उस वक्त तक नही रुके रह सकते, जबतक कि

[1]शतरंज का खेल, जिसका आरंभ हिंदुस्तान मे ही हुआ, शायद सेना के इन्हीं चार अंगो के खयाल से निकला था। यह चतुरंग कहलाता था, यानी चार अगोवाला, जिससे शतरंज निकला। अलबेरूनी इस खेल का हिंदुस्तान मे चार आदमियो द्वारा खेले जाने का हाल लिखता है।

ताओं का, और दूसरे तमाशो और विचित्र चीज़ों की तस्वीरो के दिखाने का इतज़ाम है।... बहुत करके उत्सवो के मौको पर सडकों पर रोशनी की जाती थी।'' शाही जुलूम भी निकला करते थे और शिकारियो के जमाव हुआ करते थे।

इस विशाल साम्राज्य मे बडी आबादीवाले बहुत-से शहर थे, लेकिन उन सबमे बडा शहर पाटलिपुत्र था, जो राजधानी था और यह आलीशान शहर गगा और सोन के सगम पर (मौजूदा पटना) बसा हुआ था। मेगस्थनीज़ ने इसका यो वर्णन किया है—"इस नदी (गगा) और एक दूसरी नदी के सगम पर पालिबोथ्र बसा हुआ है, जो अस्सी स्टेडिया (९.२ मील) लबा और पद्रह स्टेडिया (१७ मील) चौडा है। इसकी शक्ल समचतुष्कोण की है और यह लकडी की चार-दीवारी से घिरा हुआ है, जिसमे तीर चलाने के लिए सदे बनी हुई हैं। सामने इसके एक खाई है, जो हिफाज़त के लिए है और जिसमे शहर का गदा पानी पहुचता है। यह खाई, जो चारो तरफ़ घूमी हुई है, चौडाई मे ६०० फुट है और गहराई में ३० हाथ, और दीवाल पर ५७० बुर्ज़ है और उसमे ६४ फाटक हैं।"

यह दीवाल ही लकडी की नहीं थी, बल्कि ज्यादातर घर भी लकडी के थे। ज़ाहिरा यह भूकप से बचाव के लिए था, क्योकि उस प्रदेश में भूकप अकसर आते रहे हैं। सन १९३४ के बिहार के भयानक भूकप ने हमे इस बात की फिर याद दिला दी है। चूकि मकान लकडी के होते थे, इसलिए आग लगने से बचने के लिए बहुत इतज़ाम रहता था। हर एक गृहस्थ को सीढिया, काटे और पानी से भरे डोल रखने पडते थे।

पाटलिपुत्र मे लोगो की चुनी हुई म्युनिसिपैलिटी भी थी। इसके ३० सदस्य थे, और वे पाच-पाच की ६ समितियो मे बंटे हुए थे और इनके हाथ मे व्यापार, दस्तकारी, मौत और पैदाइश, उद्योग-धधों, यात्रियो वगैरह के इंतज़ाम थे। रुपये-पैसे, सफाई, पानी पहुंचाना, सार्वजनिक इमारतों और बगीचों की देख-भाल पूरी म्युनिसिपैलिटी के जिम्मे थी।

१९. बुद्ध की शिक्षा

इन राजनैतिक और आर्थिक इन्कलाबो के पीछे, जो हिंदुस्तान की शक्ल ही बदल रहे थे, बौद्ध-धर्म का जोश था। पुराने मतो से इसका सघर्ष और धर्म के मामलो मे निहित स्वार्थों से इसकी लडाई चल रही थी।

---

[1] 'कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया' (जिल्द १, पृ० ४८०) मे डॉक्टर एफ० डब्लू० टामस।

सकता। यह हम कैसे जान सकते हैं कि दूसरी चीजों से असंबद्ध चीज़ कोई है भी या नहीं? यह सारा विश्व—उसे हम जिस रूप में जानते हैं—संबंधों का एक सिलसिला है, हम कोई ऐसी चीज़ नहीं जानते, जो बिना संबंध के है या हो सकती है।" इसलिए हमें अपने को उन चीज़ों तक महदूद रखना चाहिए, जिनका हम अनुभव कर सकते हैं और जिनके बारे में हमें पक्की जानकारी है।

इसी तरह बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व के बारे में भी कुछ नहीं कहा है। वह इससे भी न इकरार करते हैं और न इन्कार। वह इस सवाल में पड़ना ही नहीं चाहते और यह एक बड़े अचरज की बात है, क्योंकि उस ज़माने में हिंदुस्तानियों के दिमाग़ में आत्मा और परमात्मा, एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद और दूसरे आधिभौतिक सिद्धांत समाये रहते थे। मगर बुद्ध ने सभी तरह के आधिभौतिकवाद से अपने विचारों को हटाया। लेकिन प्रकृति के नियम के स्थायित्व में और एक व्यापक हेतुवाद में उनका विश्वास है और इस तरह हर एक बाद की स्थिति अपने से पहले की स्थिति का नतीजा है, अच्छे काम का सुख से और बुरे काम का दुःख से स्वाभाविक संबंध है।

हम अनुभव की इस दुनिया में शब्दों या भाषा का इस्तेमाल करते हैं और कहते हैं कि "यह है" या "यह नहीं है"। लेकिन जब हम सतही पहलुओं के भीतर पैठते हैं, तो इनमें से एक भी, संभव है, सही न हो और जो कुछ हो रहा है, उसको बयान करने में हमारी भाषा ही नाकाफ़ी हो। सत्य "है" और "नहीं है" के बीच में या इनसे परे कहीं भी हो सकता है। नदी बराबर बहती है और हर क्षण एक-सी मालूम पड़ती है, फिर भी पानी बराबर तबदील होता रहता है। इसी तरह आग है। लौ जलती रहती है और अपना आकार भी कायम रखती है, फिर भी वही लौ हमेशा नहीं रहती, बल्कि क्षण-क्षण में बदलती रहती है। इसी तरह जिंदगी भी बराबर बदलती रहती है और अपने सभी रूपों में वह एक धारा की तरह है, जिसे हम 'होने की प्रक्रिया' कह सकते हैं। असलियत कोई ऐसी चीज नहीं है, जो क़ायम रहनेवाली और न बदलनेवाली हो, बल्कि वह एक रोशन ताक़त है, जिसमें तेज़ी है और रफ़्तार है और जो नतीजों का एक सिलसिला है। समय की धारणा "महज़ एक खयाल है, जो जिस-किसी घटना के आधार पर व्यवहार के लिए बना लिया गया है।" हम यह नहीं कह सकते कि कोई एक चीज़ किसी दूसरी चीज का कारण है, क्योंकि 'होने की प्रक्रिया' में कोई अंश ऐसा नहीं है, जो स्थायी हो या न बदलनेवाला हो। किसी वस्तु का तत्त्व उसमें निहित नियम में है, जो उसे किसी दूसरी कहलाई जानेवाली वस्तु से जोड़ता है। हमारे शरीर और हमारी आत्माएं क्षण-क्षण में बदलती रहती हैं, उनका अंत हो जाता है

भाषा में बयान हो सकता है ? कुछ लोग कहते हैं कि यह केवल विनाश हो जाना है, बुझ जाना है। लेकिन बुद्ध ने, कहा जाता है कि इससे इन्कार किया है, और यह बताया है कि यह एक अत्यंत क्रियाशीलता की अवस्था है। यह झूठी इच्छाओं के मिट जाने की हालत है, न कि अपने मिट जाने की, लेकिन इसका बयान केवल नकारात्मक शब्दों में किया जा सकता है।

बुद्ध का बताया हुआ रास्ता मध्यम-मार्ग है और यह अपने को यातना देने और विलास में डुबा देने के बीच का रास्ता है। शरीर को तकलीफ़ देने के अनुभव के बाद उन्होंने कहा है कि जो आदमी अपनी ताक़त खो बैठता है, वह ठीक रास्ते पर नहीं चल सकता। यह मध्यम-मार्ग आर्यों का अष्टांग मार्ग कहलाया। इसके अंग हैं—ठीक विश्वास, ठीक आकांक्षाएं, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक आचार, ठीक प्रयत्न, ठीक वृत्ति और ठीक आनंद। इसमें अपने विकास का सवाल है, किसीकी कृपा का नहीं। और अगर आदमी इस दिशा में अपना विकास करने में कामयाब होता है, तो उसके लिए कभी हार नहीं—"जिसने अपने को वश में कर लिया है, उसकी जीत को देवता भी हार में नहीं बदल सकते।"

बुद्ध ने अपने चेलों को वे बातें बताईं, जो उनके विचार में वे लोग समझ सकते थे और जिन पर वे आचरण कर सकते थे। उनके उपदेशों का यह मक़सद नहीं था कि जो कुछ भी है, उसकी व्याख्या की जाय, बल्कि जो कुछ भी है, उसका पूरा-पूरा दिग्दर्शन कराया जाय। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अपने हाथ में कुछ सूखी पत्तियां लेकर अपने प्रिय शिष्य आनंद से पूछा कि हाथ की इन पत्तियों के अलावा क्या और भी कहीं पत्तियां हैं। आनंद ने जवाब दिया—"पतझड़ की पत्तियां सभी तरफ़ गिर रही हैं, और वे इतनी हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।" तब बुद्ध ने कहा—"इसी तरह मैंने तुम्हें मुट्ठी-भर सत्य दिये हैं, लेकिन इनके अलावा कई हज़ार और सत्य हैं, इतने कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।"

२० . बुद्ध की कहानी

बुद्ध की कहानी ने मुझे शुरू बचपन में ही आकर्षित किया था और मैं युवा सिद्धार्थ की तरफ़ खिंचा था, जिसने बहुत-से अंतर्द्वंद्वों, दुःख और तप के बाद बुद्ध का पद हासिल किया था। एडविन आर्नल्ड की किताब 'लाइट ऑव एशिया' मेरी एक प्रिय पुस्तक बन गई। बाद में जब मैंने अपने सूबे में बहुत-से दौरे किये, तब मैं बुद्ध की कथा से सबंध रखनेवाली बहुत-सी जगहों पर, अपने यात्रा-मार्ग से हटकर भी, जाना पसंद करता था। इनमें से ज्यादातर मुकाम या तो मेरे ही सूबे में हैं या उसके नज़दीक हैं। यहीं

भी देखता हू, और ज़िंदगी मे जिन सघर्षों का सामना करना पडता है, उनसे घवडाता नही हू। जो कुछ मैंने अनुभव किया है, या अपने चारो ओर देखा है, वह चाहे जितना तकलीफ और दु ख पहुचानेवाला रहा हो, उससे मेरे इस नज़रिये मे फर्क नही पडा है।

क्या बौद्ध-धर्म निष्क्रियता और निराशावाद सिखाता है? इसकी व्याख्या करनेवाले ऐसा कह सकते है और इस धर्म के बहुत-से अनुयायियो ने यही अर्थ निकाला है। मुझमे उसकी वारीकियो पर गौर करने या उसकी वाद को जटिलताओ और आधिभौतिक विकास पर फैसला देने की योग्यता नही है। लेकिन जब मैं बुद्ध का ध्यान करता हू, तो इस तरह के विचार मेरे मन मे नही उठते, न मैं यही समझता हू कि निष्क्रियता और निराशा-वाद की बुनियाद पर ठहरे हुए किसी धर्म का आदमियो की इतनी बडी सख्या पर, जिसमे काविल-से-काविल लोग हो गए है, इतना गहरा असर पड सकता है।

जान पडता है कि बुद्ध की वह कल्पना, जिसे अनगिनत प्रेमपूर्ण हाथो ने पत्थर और सगमरमर और कासे मे गढकर साकार किया है, हिंदुस्तानियो के विचारो और भावो की प्रतीक है, या कम-से-कम उसके एक ज़िदा पहलू की प्रतीक है। कमल के फूल पर शात और धीर, वासनाओ और इच्छाओ से परे, इस दुनिया के तूफान और कश-मकश से दूर, वह इतने ऊपर, इतने दूर मालूम पडते हैं कि जैसे पहुच से वाहर हो। लेकिन जब फिर उन्हे देखते हैं, तो उस शात, अडिग आकृति के पीछे एक आवेग और मनोभाव जान पडता है, जो अनोखा है और उन आवेगो और मनोभावो से, जिनसे हम परिचित है, ज्यादा जोरदार है। उनकी आखे मुदी हुई हैं, लेकिन चेतना की कोई शक्ति उनके भीतर से दिखाई देती है और शरीर मे एक जीवनी-शक्ति भरी हुई जान पडती है। युग-पर-युग बीतते हैं, फिर भी बुद्ध इतने दूर के नही जान पडते है, उनकी वाणी हमारे कानो मे कुछ धीमे स्वर से कहती जान पडती है और यह बताती है कि हमे सघर्ष से भागना नही चाहिए, बल्कि धीर नेत्रो से उसका सामना करना चाहिए और जिंदगी मे विकास और तरक्की और और भी बडे अवसरो को देखना चाहिए।

सदा की तरह आज भी व्यक्तित्त्व का असर है, और जिस आदमी ने इन्सान के विचारो पर अपनी वह छाप डाली हो, जो बुद्ध ने डाली, जिसमे आज भी हम उनकी कल्पना मे कोई जीती-जागती, थर्राहट पैदा करनेवाली चीज पाते हैं, वह आदमी बडा ही अद्भुत आदमी रहा होगा—ऐसा आदमी, जो वार्थ के शब्दो मे "शात और मधुर प्रभुता की सजी हुई मूर्त्ति था, जिसमे


गंधार
अरकोशिया
चीन
सौराष्ट्र
पुलिंद
पितनिक
पैठण
राष्ट्रिक
गया
बोधगया
राजगृह
बंगाल की खाड़ी
हिंद महासागर
संकेत
शिलालेख
लघु शिलालेख
स्तम्भ लेख
राज्य

अशोक का साम्राज्य

थे और हमे अब भी मिलते हैं। इन आदेशो के जरिये उसने अपनी प्रजा को ही नही, बल्कि आनेवाली पीढ़ियों को भी अपना सदेशा दिया था। उसके एक आदेश मे कहा गया है

"परम पवित्र प्रियदर्शी सम्राट ने अपने राज्य के आठवें वर्ष मे कलिंग को जीता। डेढ़ लाख आदमी वहा से कैदी के रूप मे लाये गए, एक लाख आदमी वहां पर मारे गए और इस सख्या के कई गुने लोग और मरे।

"कलिंग के साम्राज्य मे मिलाये जाने के ठीक बाद ही प्रियदर्शी सम्राट का अहिंसा-धर्म का पालन करना, उस धर्म मे प्रेम और उसका प्रचार शुरू होता है। इस तरह प्रियदर्शी सम्राट का कलिंग-विजय पर पश्चात्ताप उदय होता है, क्योंकि न जीते गए देश के जीते जाने के साथ ही खूनखराबी और मौतें होती हैं और लोग बदी करके ले जाये जाते हैं। यह प्रियदर्शी सम्राट को महान शोक पहुचानेवाली बात है।"

सवारी पर रहूं या महल के बाग में, सरकारी कर्मचारी, जनता के कार्यों के बारे में मुझे बराबर सूचना देते रहें। . . . जिस समय भी हूं और जहां भी हो, मैं लोक-हित के लिए काम करूंगा।"

उसके दूत और एलची सीरिया, मिस्र, मैसिडोनिया, साइरीन और एपाइरस तक बुद्ध के संदेश और उसकी शुभ कामनाओं को लेकर पहुंचे। वे मध्य एशिया भी गये और बरमा और स्याम भी, और उसने खुद अपने बेटे और बेटी, महेंद्र और संघमित्रा को, दक्खिन में लंका भेजा। सभी जगह दिमाग और दिल को फेरने की कोशिश की गई, कोई जब्र या जोर नहीं इस्तेमाल किया गया। खुद कट्टर बौद्ध होते हुए भी उसने दूसरे धर्मों के लिए आदर का भाव दिखाया। एक आदेश में उसने यह ऐलान किया

"सभी मत किसी-न-किसी वजह से आदर पाने के अधिकारी हैं। इस तरह का व्यवहार करने से आदमी अपने मत की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है, साथ ही वह दूसरे मतों और लोगों की सेवा करता है।"

बौद्ध-धर्म हिंदुस्तान में काश्मीर से लेकर लंका तक बड़ी तेजी के साथ फैला। यह नेपाल में भी पैठा और बाद में तिब्बत और चीन और मंगोलिया तक पहुंचा। हिंदुस्तान में इसका एक नतीजा यह हुआ कि शाकाहार बढ़ा और शराब पीने से लोग बचने लगे। उस वक्त तक ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही मांस खाया करते थे और शराब पीते थे। पशुओं का बलिदान रोक दिया गया।

विदेशों से संपर्क होने और धर्म के प्रचारकों के बाहर जाने का नतीजा यह जरूर हुआ होगा कि हिंदुस्तान और बाहर के मुल्कों में व्यापार बढ़ा हो। खुतन (अब मध्य-एशिया में सिनक्यांग में) में हिंदुस्तानियों के एक उपनिवेश का बयान हमें हासिल हुआ है। हिंदुस्तानी विश्वविद्यालयों में, खासतौर से तक्षशिला में, बाहर से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे।

अशोक एक बड़ा निर्माता भी था और यह कहा गया है कि उसने अपनी कुछ बड़ी-बड़ी इमारतों के बनवाने के लिए विदेशी कारीगरों को रख छोड़ा था। यह नतीजा एक जगह बने हुए कुछ ऐसे स्तंभों को देखकर निकाला गया है, जो पर्सिपोलिस की याद दिलाते हैं। लेकिन इस शुरू की पत्थर की कारीगरी में और खंडहरों में भी हिंदुस्तानी कला की परंपरा की खास बातें देखने में आती हैं।

(अशोक के पाटलिपुत्र के महल की बहुत-से खंभोंवाली एक इमारत के कुछ हिस्सों को कोई तीस साल हुए पुरातत्त्वज्ञों ने खोदकर निकाला था। हिंदुस्तान के पुरातत्त्व विभाग के डा० स्पूनर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा

: ५ :

युगों का दौर

१ : गुप्त-काल में राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद

मौर्य-साम्राज्य का अत हुआ और उसकी जगह शुग-वश ने ली। इसका राज्य उसके मुकाबले मे बहुत छोटे क्षेत्र पर था। दक्खिन मे बडे-बडे राज्य उठ रहे थे और उत्तर मे बाख्त्री या भारतीय-यूनानी काबुल से पजाब तक फैल गए थे। मेनाडर के नेतृत्व मे उन्होंने पाटलिपुत्र तक पर हमला किया, लेकिन मार भगाये गए। खुद मेनाडर पर हिंदुस्तान के रग-ढग और वातावरण का असर पडा और वह बौद्ध बन गया और एक मशहूर बौद्ध हुआ। आम बौद्ध-परपरा मे यह राजा मिलिद कहलाया और इसे करीब-करीब सत का पद मिला। हिंदुस्तानी और यूनानी सस्कृतियो के मेल-जोल से गधार की, यानी अफ़ग़ानी सरहदी सूबे की, यूनानी-बौद्ध-कला का जन्म हुआ।

[एक पत्थर की लाट है, जो 'हेलियोदोर की लाट' के नाम से मशहूर है और जिसका वक्त ईसा से पहले की पहली सदी है। यह मध्य हिंदुस्तान मे साची के करीब, बेसनगर मे, है और इस पर सस्कृत मे एक लेख खुदा हुआ है। इससे हमे इस बात की झलक मिलती है कि किस तरह यूनानी, जो हिंदुस्तान के सरहद पर आये थे, हिंदुस्तानी बन रहे थे और हिंदुस्तानी सस्कृति मे जज़्ब हो रहे थे। इस लेख का तरजुमा इस तरह किया गया है

"देवताओ के देव वासुदेव (विष्णु) के इस गरुड-स्तभ को डिया के बेटे, तक्षशिला-निवासी विष्णु-पूजक हेलिओडोरस ने स्थापित किया, जो यूनान के महाराज ऍटिआल्सिडास के यहा से परम रक्षक महाराज काशि-पुत्र भागभद्र के यहा उनके राज्य-काल के चौदहवें वर्ष मे राजदूत होकर आये।

"तीन शाश्वत सिद्धात, जिनका अच्छी तरह पालन करने से स्वर्ग मिलता है, हैं,—आत्म-सयम, आत्म-त्याग (दान) और सत्यनिष्ठा।"]

मध्य-एशिया मे शक या सिदियन लोग (सीस्तान-शकस्थान) आक्सस (अक्षु) नदी की घाटी मे बस गए थे। यूइ-ची दूर पूरब से आये और

की वजह से हिंदुस्तान मे महायान-मत की जीत हुई। महायान के ही सिद्धात चीन मे फैले; लका और बरमा हीनयान के सिद्धातो को मानते रहे।

कुषाण लोग हिंदुस्तानी बन गए थे और हिंदुस्तानी सस्कृति के सरक्षक थे। फिर भी कौमी विरोध की धारा भीतर-ही-भीतर इस हुकूमत के खिलाफ़ चल रही थी और जब बाद मे नई जातिया हिंदुस्तान मे आई, तब इस क़ौमी और विदेशियो का विरोध करनेवाले आदोलन ने चौथी सदी ईसवी मे एक रूप ग्रहण कर लिया। एक दूसरे बड़े शासक ने, जिनका भी नाम चद्रगुप्त था, नये हमला करनेवालो को मार भगाया और एक ताकतवर और विस्तृत साम्राज्य कायम कर लिया।

इस तरह से साम्राज्यवादी गुप्तो के जमाने का ३२० ई० मे आरभ होता है, जिसमे एक के बाद एक कई बड़े शासक पैदा होते हैं, जो न महज़ युद्ध मे कामयाब होते हैं, बल्कि शाति की कलाओ मे भी सफलता दिखाते हैं। बार-बार के हमलो ने विदेशियो के खिलाफ एक मजबूत भावना पैदा कर दी थी और देश के पुराने ब्राह्मण-क्षत्रिय इस बात पर मजबूर हुए कि अपने देश की और सस्कृति की हिफाजत के लिए कुछ करें। जो विदेशी लोग यहा जज्ब हो गए थे, उनको कुबूल कर लिया गया, लेकिन सभी नये आनेवालो को जोरदार विरोध का सामना करना पडा और इस बात की कोशिश की गई कि पुराने ब्राह्मण-आदर्शों की नीव पर एक गठी हुई हुकूमत क़ायम की जाय। लेकिन अब वह पुराना आत्म-विश्वास जा रहा था और इन आदर्शों मे एक ऐसी कडाई आ गई, जो उनके स्वभाव के खिलाफ़ थी। हिंदुस्तान, शारीरिक और मानसिक दोनो ही अवस्थाओं को देखते हुए, जैसे किसी खोल के भीतर आ गया था।

फिर भी यह खोल काफी गहरा और चौडा था। शुरू मे, जिस ज़माने मे आर्य यहा—जिसे उन्होंने आर्यावर्त्त या भारतवर्ष कहा, आये—उस ज़माने मे हिंदुस्तान के सामने सवाल यह था कि इस नई जाति और सस्कृति मे और इस देश की पुरानी जाति और सभ्यता मे समन्वय कैसे क़ायम हो। हिंदुस्तान के दिमाग ने इसके हल करने पर ध्यान दिया और मिली-जुली भारतीय आर्य-सस्कृति की बुनियाद पर एक कायम रहनेवाला हल पेश किया। दूसरे विदेशी लोग यहा आये और जज्ब होते गए। उन्होंने कुछ खास फ़र्क पैदा न किया। अगरचे हिंदुस्तान के दूसरे मुल्को से व्यापार के जरिये और दूसरी तरह के भी ताल्लुक थे, फिर भी वह अपने ही मसलो मे ग़र्क़ रहा, उसने बाहर क्या हो रहा है, इस पर कम ध्यान दिया। लेकिन अब जो समय-समय पर अजनबी लोगो के हमले हो रहे थे, जिनके अनोखे रीति-रिवाज थे,

की, उसी तरह, जिस तरह एटिला यूरोप मे कर रहा था। उनके बर्बर व्यवहार और पिशाची निर्दयता ने आखिरकार लोगो को जगाया और यशोवर्द्धन के नेतृत्व मे मिल-जुलकर लोगो ने उन पर हमला किया। हूणो की ताकत तोड दी गई और उनके सरदार मिहिरगुल को कैद कर लिया गया। लेकिन गुप्तो के वशज बालादित्य ने अपने मुल्क के रिवाज के अनुसार उसके साथ उदारता का बरताव किया और उसे हिंदुस्तान से वापस जाने दिया। मिहिरगुल ने इस बरताव का यह बदला दिया कि बाद मे वह फिर लौटा और उसने अपने मेहरबान पर कपट से हमला किया।

लेकिन हिंदुस्तान मे हूणो का राज्य थोडे दिनो का था—कोई आधी सदी का। उनमे से बहुत-से यही रह गए और छोटे-छोटे सरदार बन बैठे। ये अकसर लोगो को सताते रहे, लेकिन अत मे हिंदुस्तान की जनता के समुदर मे ये भी समा गए। इनमे से कुछ सरदार सातवी सदी के आरभ मे बडे उग्र हो गए। कन्नौज के राजा हर्षवर्द्धन ने उन्हे कुचल दिया और बाद मे उसने एक शक्तिशाली राज्य का खुद सगठन किया, जो सारे उत्तरी हिंदुस्तान और मध्य-एशिया तक फैला हुआ था। वह बडा उत्साही बौद्ध था, लेकिन उसका मत महायानी बौद्ध-धर्म था, जो बहुत-कुछ हिंदू-धर्म के निकट था। उसने बौद्ध-धर्म और हिंदू-धर्म दोनो को ही मदद दी। इसीके जमाने मे मशहूर चीनी यात्री ह्वेन-त्साग (य्वान-च्वाग) हिंदुस्तान में (६२९ ई० मे) आया था। हर्षवर्द्धन कवि और नाटककार भी था और उसके दरबार मे बहुत-से कलाकार और कवि रहते थे और उसकी राजधानी उज्जयिनी सास्कृतिक कामों का एक मशहूर केंद्र बन गई थी। हर्ष ६४८ ई० मे मरा। यह करीब-क़रीब वही वक़्त था, जब इस्लाम अरब के रेगिस्तान मे उठ रहा था और बाद मे बडी तेज़ी से अफरीका और एशिया मे फैलनेवाला था।

२ : दक्खिनी हिंदुस्तान

मौर्य-साम्राज्य के सिमिटकर अत हो जाने के एक हज़ार से ज्यादा साल बाद तक दक्खिनी हिंदुस्तान मे बडे-बडे राज्य पनपे। आध्रो ने शको को हराया था, बाद मे ये कुषाणो के समकालीन रहे। इसके बाद पच्छिम मे चालुक्य-साम्राज्य कायम हुआ और इसके पीछे राष्ट्रकूट आये। धुर दक्खिन मे पल्लवो का राज्य था, और यही से ज्यादातर वे हिंदुस्तानी बाहर गये, जिन्होंने उपनिवेश कायम किये। इसके बाद चोळ-साम्राज्य बना और यह सारे प्रायद्वीप पर छा गया और इसने लका और बरमा तक पर विजय हासिल की। आखिरी बडा चोळ-राजा राजेंद्र था, जिसकी १०४४ ई० मे मौत हुई।

बहुत कम छेड-छाड की जाती थी। इस बात के लिखे प्रमाण मिले हैं कि लडनेवाले शासको मे और खुदमुख्तार गावो के मुखियो के बीच ऐसे मुआहदे हुए है कि फसल को किसी तरह का नुकसान न पहुचाया जायगा और अगर अनजाने मे नुकसान पहुंच गया, तो उसका दूसरे फरीक को मुआवज़ा देना पड जायगा। ज़ाहिर है कि यह मुआहदा बाहर से आनेवाले हमलावरो की तरफ से नही हो सकता था और न शायद सचमुच ताकत हासिल करने के लिए लडी गई लडाई मे यह चीज़ चल सकती थी।

लडाई का पुराना और कडा भारतीय आर्य-सिद्धात यह था कि कोई अनीति के तरीके अख्तियार न किये जायेंगे और हक के लिए लडी गई लडाई मे नीति के तरीके बरते जायेंगे। अमल मे यह सिद्धात कहातक आता था, यह दूसरी ही बात है। जहरीले तीरो का इस्तेमाल मना था, इसी तरह छुपे हुए हथियारो का, सोते हुए या शरण मे आये हुए लोगो को मारना मना किया गया था। इसका ऐलान था कि अच्छी इमारतो को कोई नुक़सान न पहुचाया जाय। लेकिन इस मत मे चाणक्य के ज़माने मे ही तबदीली शुरू हो गई थी और अगर दुश्मन को हराने के लिए ज़रूरी हो, तो और भी विनाशकारी और छल के तरीक़ो का इस्तेमाल किया जाना वह पसद करता था।

(यह एक दिलचस्प बात है कि चाणक्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' मे लडाई के हथियारो का ज़िक्र करते हुए ऐसे यत्रो का बयान किया है, जो एक साथ सैकडो आदमियो की जान ले सकते थे और साथ ही किसी तरह के विस्फोटक का भी ज़िक्र है। उसने खाई खोदकर लडाई करने के हवाले दिये हैं)। इन सब के ठीक-ठीक मानी क्या होते हैं, अब कह सकना मुमकिन नही है। शायद ये हवाले किन्ही परपरा से चली आई कहानियो या तिलिस्मी लडाइयो के हैं। इनसे बारूद का हवाला हो सकता है, ऐसा यकीन करने की कोई वजह नही है।

अपने लबे इतिहास के दौर मे हिंदुस्तान ने बहुत-से सकट के ज़माने देखे हैं, जब उसे आग और तलवार और अकाल से पैदा होनेवाले विनाशो का सामना करना पडा है और इस ज़माने मे भीतरी व्यवस्था खत्म हो गई है। लेकिन इस इतिहास की व्यापक जाच से यह पता चलेगा कि लबे वक्तो तक यहा जो व्यवस्था और शाति की ज़िदगी रही है, वैसी यूरोप मे नही रही है। और यह बात तुर्कों और अफगानो के हमलो के बाद की सदियों के बारे मे भी सही उतरती है, ठीक उस वक्त तक, जब मुग़ल-साम्राज्य टूटता है। यह खयाल कि अग्रेज़ी राज्य ने पहले-पहले हिंदुस्तान मे

उन्हे अंत मे मार भगाया है। जो बच रहे, उन्हे उसने फिर अपने मे जज़्ब कर लिया। जब अरब आये, तो वे सिंधु नदी के पास रुक गए। तुर्क लोग और अफगानी बहुत रपता-रपता आगे फैले। दिल्ली के तख़्त पर अपने को मज़बूती से कायम करने मे उन्हे सदिया लग गई। यह एक अटूट और लंबा सघर्ष रहा है, और जहा एक तरफ यह सघर्ष चलता रहता था, दूसरी तरफ जज़्ब करने और उन्हे हिंदुस्तानी बनाने की क्रिया भी जारी रहती थी, जिसका नतीजा यह होता था कि हमलावर वैसे ही हिंदुस्तानी बन जाते थे, जैसेकि और लोग थे। अकबर मुख्तलिफ तत्त्वो के समन्वय के पुराने हिंदुस्तानी आदर्श का नुमाइंदा बन गया और इस मुल्कवालो को एक आम कौमियत के अंदर लाने की कोशिश मे लगा। चूकि वह हिंदुस्तान का बना रहा, इसलिए हिंदुस्तान ने भी उसे अपनाया, बावजूद इसके कि वह बाहर से आया हुआ था। यही वजह थी कि वह अच्छा निर्माण कर सका और उसने एक शानदार सल्तनत की नीव डाली। जबतक उसके उत्तराधिकारियो ने उसकी नीति को बरता और कौमियत की ज़ेहनियत बनाये रहे, तबतक उनकी सल्तनत कायम रही। जब वे इससे अलग हट गए और कौमियत के विकास की सारी प्रवृत्ति को रोकने लगे, तब वे कमज़ोर पड गए और सारी सल्तनत की धज्जिया उड गई। नई तहरीकें उठी, जिनमे तंग-नज़री थी, लेकिन जो उभरती हुई कौमियत की नुमाइदगी करती थी और अगरचे ये इतनी मज़बूत नही थी कि पायदार हुकूमत कायम कर सकें, फिर भी वे मुगलो की सल्तनत को नाबूद करने-भर को काफी थी। ये कुछ वक्त तक कामयाब रही, लेकिन उनकी निगाह गुज़रे हुए ज़माने पर बहुत ज्यादा थी, और उस ज़माने को फिर से जिंदा करने के खयाल मे डूबी थी। उन्होंने यह नही महसूस किया कि बहुत-कुछ जो उसके बाद गुज़र चुका था, उसकी तरफ़ से आखें नही मूदी जा सकती थी, अतीत वर्तमान की जगह हरगिज़ नही ले सकता था, और यह वर्तमान भी, उनके ज़माने के हिंदुस्तान मे ऐसा था, जिसमे सडाध पैदा हो गई थी। यह बदलती हुई दुनिया से अलग-थलग जा पडा था और हिंदुस्तान बहुत पीछे पड गया था। उन्होने इस बात का ठीक-ठीक अनुमान न किया कि एक नई और जीवट की दुनिया पच्छिम मे उठ रही थी, जिसका नज़रिया नया था और जिसके पास नई हिकमतें थी, और यह कि एक नई ताकत—यानी ब्रिटिश—उस नई दुनिया की, जिससे वे इतने बेखबर थे, नुमाइंदगी करती थी। ब्रिटिश जीते, लेकिन मुश्किल से उन्होंने अपने को उत्तर मे कायम किया था कि बलवा हो गया और यह आज़ादी की लडाई बन गया और इसने अंग्रेजी हुकूमत का करीब-करीब खात्मा कर दिया। आज़ादी

जो मुख्तलिफ दर्जे तक इतिहास के युगो मे यहा के लोगो पर असर डालती रही ?

हिंदुस्तानी सभ्यता के विकास के भीतर काम करनेवाली किसी जज्बे या जिंदगी के नजरिये की बात करना बेतुकी और बढकर बोलने-जैसी बात जान पडती है। अकेले शख्स की जिंदगी भी सौ जरियो से अपनी गिज़ा हासिल करती है, एक कौम या तहज़ीब की जिंदगी इससे कही पेचीदा है। हिंदुस्तान की सतह पर अनगिनत विचार समुंदर पर बहनेवाले टुकडो की तरह तिरते रहते है और इनमे से बहुत-से ऐसे हैं, जो आपस मे एक-दूसरे के खिलाफ पडते हैं। यह बहुत आसान होगा कि इनमे से कुछ को चुनकर किसी खास विषय को हम सिद्ध कर दें। उतना ही आसान होगा कुछ और बातो को चुनकर इस विषय का खडन कर देना। कुछ हद तक यह सभी जगह मुमकिन है, हिंदुस्तान-जैसे एक पुराने और बडे मुल्क मे, जहा जिंदा चीजो के साथ मुर्दा चीजे इस तरह चिमटी हुई हो, यह काम खासतौर पर आसान होगा। बहुत पेचीदी घटना को सादगी से बयान करने मे एक जाहिरा खतरा भी है। (विचार और अमल के बीच गहरे फर्क बहुत ही कम होते हैं, एक खयाल दूसरे से जुडा-सा रहता है, और ऐसे भी विचार होते हैं, जो अपना बाहरी रूप बनाये रखते हुए भी भीतर-भीतर बिलकुल बदल जाते है या अकसर वे बदलती दुनिया का साथ नही दे पाते और उसके लिए बोझ हो जाते हैं।)

हम युगो के साथ-साथ बराबर बदलते रहे हैं और किसी जमाने में यह नही हुआ है कि हम अपने गुजिश्ता जमाने-जैसे बने रहे हो—आज जाति और सस्कृति दोनो ही के लिहाज़ से हम जो-कुछ भी थे, उससे मुख्तलिफ हैं, और अपने चारो ओर, क्या हिंदुस्तान मे और क्या दूसरी जगह, मैं देखता हू कि तब्दीली लबे डग भर रही है। फिर भी इस वाकये को मैं नजर-अदाज नही कर सकता कि हिंदुस्तानी और चीनी तहजीबो ने कायम रहने की और अपने को मौके के बमूजिब ढाल लेने की गजब की ताकत दिखाई है, और बावजूद अनेक तब्दीलियो और सकटो के, वे बहुत बडी मुद्दत तक अपनी बुनियादी खासियत कायम रखने मे कामयाब हुए हैं। वे ऐसा न कर पाते, अगर वे जिंदगी और कुदरत से एक समरसता या सगति न कर पाते तो। वह जो कुछ भी चीज रही हो, जिसने इन्हें अपने पुराने लगर से लगाये रखा, वह चाहे अच्छी हो, चाहे बुरी, चाहे मिली-जुली, अगर यह ताक़तवर न रही होती, तो इतने जमाने तक कायम नही रह सकती थी। शायद अपनी उपयोगिता यह कब की खो चुकी है और तबसे यह महज

अलग रीति-रिवाज, विश्वास और व्यवहार रख सकते थे और ऐसा करते हुए भी एक बड़े सामाजिक-संगठन का अंग बने रह सकते थे। यही लचीलापन और अपने को मौक़े के बमूजिब ढालने की ताक़त ऐसी चीज़ें थीं, जिन्होंने विदेशियों को जज़्ब करने में मदद दी। इन सबके पीछे कुछ बुनियादी इख़लाकी या नीति के सिद्धांत थे और ज़िंदगी के मसलों को देखने का एक फ़िलसफ़ियाना नज़रिया था और दूसरों के तरीकों के लिए रवादारी थी।

जबतक पायदारी और हिफ़ाज़त ख़ास मक़सद रहे, तबतक तो यह व्यवस्था ख़ूब काम देती रही; और अगर आर्थिक तब्दीलियों ने इसकी जड़ें हिलाईं, तो भी अपने को उनके माफ़िक बनाकर यह क़ायम रही। इसे असली चुनौती मिली सामाजिक तरक्की की उस नई, गतिशील धारणा से जो किसी तरह पुराने, टिके हुए विचारों से मेल नहीं खाती थी। यही कल्पना पुराने क़ायम-शुदा व्यवस्थाओं को पूरब में उखाड़ रही है, उसी तरह जिस तरह कि इसने पच्छिम में व्यवस्थाओं को उखाड़ा है। पच्छिम में, जहां अब भी तरक्की का बोलबाला है, हिफ़ाज़त की मांग पेश हो गई है। हिंदुस्तान में हिफ़ाज़त की कमी ने ही लोगों को मजबूर किया है कि वे पुरानी लीक छोड़कर बाहर आयें, और ऐसी तरक्की का ख़याल लायें, जो हिफ़ाज़त की हालत पैदा करेगी।

लेकिन क़दीम या बीच के ज़माने के हिंदुस्तान में तरक्की की ऐसी कोई चुनौती न थी। हां, तब्दीली और नये मौक़ों के बमूजिब अपने को ढालते रहने की ज़रूरत महसूस की जा चुकी थी, इसीसे समन्वय के लिए हम इतना उत्साह पाते हैं। यह समन्वय महज़ उन लोगों का नहीं था, जो हिंदुस्तान में पहुंच गए थे, यह समन्वय व्यक्ति की बाहरी और भीतरी ज़िंदगी के बीच भी था, और इसी तरह आदमी और प्रकृति के बीच भी। उस ज़माने में ऐसी खाइयां नहीं थीं, जैसी आजकल दिखती हैं। इस आम संस्कृति की भूमिका ने हिंदुस्तान को बनाया और इस पर विविधता के बावजूद एकता की छाप दी। राजनैतिक व्यवस्था की जड़ में ख़ुदमुख़्तार गांवों की प्रथा थी और यह बुनियाद के रूप में क़ायम रहती थी, जबकि राजे आते-जाते रहते थे। बाहर से नये आनेवाले और हमलावर इस व्यवस्था की सतह को सिर्फ़ छेड़ देते थे और उसकी जड़ को नहीं छू पाते थे। राज्य की ताक़त देखने में चाहे जैसी निरंकुश दिखाई पड़ती हो, रीति-रिवाजों और वैधानिक बंधनों से सैकड़ों तरीकों से ऐसी जकड़ी हुई थी कि कोई भी शासक सहज में गांवों के हक़ों और अधिकारों में दख़ल

के विकास अलग-अलग हुए, लेकिन दोनो के बहुत-से मूल-शब्द एक ही हैं, जिस तरह कि सभी आर्य-भाषाओं के कुछ मूल-शब्द समान हैं। दोनो भाषाओ पर और इनसे ज्यादा उनकी कला और सस्कृति पर, उनके जुदा-जुदा वातावरणो का प्रभाव पडा। फारसी कला का ईरान की मिट्टी और प्राकृतिक दृश्य से नजदीकी सबध जान पडता है, और शायद इसी वजह से ईरान की कला-सबधी परपरा बनी चली आ रही है। इसी तरह भारतीय-आर्य कला-परपरा और आदर्श बर्फ से ढके पहाडो, हरे-भरे जगलो और उत्तरी हिंदुस्तान की बडी नदियो से पैदा हुए है।

हिंदुस्तान की तरह ईरान की भी सास्कृतिक बुनियाद इतनी मजबूत थी कि वह अपने हमलावरो पर भी असर डाल सके और अकसर उन्हें अपने मे जज्ब कर ले। अरब लोग, जिन्होंने सातवी सदी ईसवी मे ईरान विजय किया, इस असर के नीचे आ गए और अपने सीधे-सादे रेगिस्तानी रहन-सहन को छोडकर उन्होंने ईरान की रगी-चुनी तहजीब अख्तियार कर ली। जिस तरह फासीसी जबान यूरोप मे है, उसी तरह फारसी दूर दराज हिस्सो के सभ्य लोगो की भाषा बन गई। ईरानी कला और सस्कृति पच्छिम मे कुस्तुतुनिया से लेकर ठीक गोबी के रेगिस्तान तक फैल गई।

हिंदुस्तान पर भी यह असर बराबर रहा और अफगानो और मुगलो के जमानो मे यहा मुल्क की दरबारी जबान फारसी रही। यह बात अग्रेजी दौर के ठीक शुरू तक बनी रही। आज की सभी हिंदुस्तानी जबानो मे फारसी लफ्ज भरे पड़े हैं। सस्कृत से निकली जबानो के लिए, खासतौर पर हिंदुस्तानी के लिए, जो खुद एक मिली-जुली जबान है, यह स्वाभाविक था। लेकिन दक्खिन की द्रविड जबानो पर भी फारसी का असर पडा है। हिंदुस्तान मे गुजरे हुए जमाने के फारसी के कुछ बडे शानदार शायर गुजरे हैं, और आज भी हिंदुओं और मुसलमानो दोनो ही मे फारसी के अच्छे आलिम मिलते हैं।

इसमे कोई शक नही जान पडता कि सिंघ की घाटी की सभ्यता के सपर्क उस जमाने की ईरान और मेसोपोटामिया की तहजीबो से थे। कुछ आकृतियो और मुद्राओ मे आश्चर्यजनक सादृश्य पाया जाता है। इस बात के भी कुछ सबूत हैं कि ईरान और हिंदुस्तान के बीच पूर्व-अखीमियन जमाने मे भी आपस के सपर्क थे। हिंदुस्तान का 'अवेस्ता' मे जिक्र आया है और उत्तरी हिंदुस्तान का कुछ बयान भी है। ऋग्वेद मे फारस के हवाले हैं। फ़ारसी लोग 'पार्श्व' कहलाते थे और बाद मे यही 'पारसीक' कहलाये,

ईसा से बाद की चौथी-पाचवी सदियो मे, जो कला और सस्कृति के कार-नामो के लिए मशहूर हैं, ईरान से ताल्लुक बने रहे।

(काबुल, कधार और सीस्तान के सरहदी इलाके, जो अकसर हिंदुस्तान की हुकूमतो के अदर रहे हैं, हिंदुस्तानियो और ईरानियो की आपस मे मिलने की जगहे थी। बाद के पार्थियन जमाने मे इन्हें 'सफेद हिंदुस्तान' का नाम दिया गया। इन हिस्सो का जिक्र करते हुए फ्रासीसी विद्वान जेम्स डार्मेस्टेलर कहते हैं—"हिंदू सभ्यता इन इलाको मे फैली हुई थी, जो दरअसल ईसा से पहले और बाद की दो सदियो मे 'सफेद हिंदुस्तान' के नाम से जाने जाते थे और मुसलमानो की विजय के जमाने तक ईरानी से ज्यादा हिंदुस्तानी बने रहे।"

उत्तर हिंदुस्तान मे आनेवाले व्यापारी और यात्री खुश्की के रास्ते आते थे। दक्खिनी हिंदुस्तान समुदर के ऊपर भरोसा करता था और उसकी समुदरी रास्ते से दूसरे देशो से तिजारत होती थी। दक्खिनी राज्य और ईरान के सासानियो के बीच आपस मे राजदूत आते-जाते रहते थे।

हिंदुस्तान पर तुर्कों, अफग़ानो और मुग़लो की विजयो का नतीजा यह हुआ कि हिंदुस्तान के ताल्लुकात मध्य और पच्छिमी एशिया से बढे। पद्रहवी सदी मे (यूरोपीय रिनेंज़ा या पुनर्जाग्रति के युग के समय) समरकद और बुखारा मे तैमूरी पुनर्जागृति फल-फूल रही थी और इस पर ईरान का गहरा असर था। बाबर, जो खुद तैमूरिया खानदान का शाहजादा था, इसी वातावरण से आया और उसने दिल्ली के तख्त पर कब्जा कर लिया। यह सोलहवी सदी के शुरू की बात है, जिस वक्त कि ईरान में सफावी बादशाहो की हुकूमत के जमाने मे एक शानदार कलात्मक पुनर्जाग्रति हो रही थी और यह जमाना फारसी कला का सुनहला जमाना कहलाया है। बाबर के बेटे, हुमायू, ने यहा से भागकर सफावी शाह के यहा पनाह ली थी, और उसीकी मदद से वह फिर हिंदुस्तान लौटा था। हिंदुस्तान के मुग़ल बादशाह ईरान से बडा नजदीकी ताल्लुक बनाये रखते थे और सरहद पार करके मुग़लो के शानदार दरबार मे इज़्ज़त और धन कमाने के लिए आनेवाले ईरानी विद्वानो और कलावतो का ताता लगा रहता था।

हिंदुस्तान मे इमारतो के एक नये तर्ज ने तरक्की पाई, जिसमे हिंदुस्तानी और ईरानी आदर्शों और प्रेरणाओ का मेल-जोल था, और दिल्ली और आगरा बहुत-सी शानदार और खूबसूरत इमारतो से भर गए। इनमे से

सबसे खूबसूरत इमारत थी ताजमहल, जिसके बारे में फ्रांसीसी आलिम एम० ग्रूसे ने कहा है कि "इसमे हिंदुस्तान के जिस्म में ईरान की रूह उतर आई है।"

हिंदुस्तान और ईरान के लोगो मे शुरू से लेकर सारे इतिहास के जमाने मे जैसा नजदीकी ताल्लुक रहा है, शायद ही दूसरे लोगो मे रहा हो। बदकिस्मती से जो आखिरी यादगार इस लबे, करीब के और बा-इज्जत रिश्ते की है, वह नादिरशाह के हमले की है, जो दो सौ साल का जमाना गुजरा, थोडे वक्त के लिए हुआ था, लेकिन जो हद दर्जे का खौफनाक हमला था।

इसके बाद अंग्रेज आये और उन्होंने सब दरवाजे और सब रास्ते, जिनके जरिये हमारा अपने एशियाई पडोसियो से ताल्लुक जुडता था, बद कर दिए। समुदर के आर-पार नये रास्ते कायम हुए, जिन्होंने हमें यूरोप के ज्यादा करीब पहुचाया, खासतौर पर इगलिस्तान के। लेकिन हिंदुस्तान और ईरान और मध्य-एशिया और चीन के बीच फिर कोई सपर्क नही रह पाये, जबतक कि इस जमाने मे हवाई जहाजो ने तरक्की नही कर ली, और फिर हमने अपनी पुरानी दोस्ती ताजा की। बाकी एशिया से अचानक इस तरह अलग-थलग हो रहना हिंदुस्तान की अंग्रेजी हुकूमत का सबसे खास और बदकिस्मत नतीजा हुआ है।[1]

लेकिन एक अटूट नाता कायम रहा है—मौजूदा जमाने के ईरान से नही, बल्कि कदीम ईरान से, तेरह सौ साल हुए, जब इस्लाम ईरान में पहुचा, उस वक्त पुराने जरथुष्ट्र-धर्म के माननेवाले लोग सैकडो या हजारो

---

[1] प्रोफेसर ई० जे० रैपसन लिखते हैं—"वह ताक़त जो सब मातहत हुकूमतों को एक बड़े निजाम के अंदर लाने मे कामयाब हुई है, वह असल मे एक समुदरी ताक़त है; और चूंकि इसका समुदरी रास्तों पर क़ाबू है, अमन के हक़ मे इसे खुश्की की राहें बंद कर देनी पडी हैं। हिंदुस्तान की सल्तनत के सरहदी मुल्कों—अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान और बरमा—के प्रति अंग्रेजी पालिसी का यही मक़सद रहा है। सियासी अलहदगी इस तरह पर सियासी एकता का एक लाजिमी नतीजा रही है। लेकिन इसे याद रखना चाहिए कि अलहदगी हिंदुस्तान की तारीख की एक हाल की और बिलकुल नई चीज है। यह एक खास घटना है, जो मौजूदा जमाने को गुजरे हुए जमाने से जुदा करती है।"

(कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द १, पृष्ठ ५२)

की गिनती मे हिंदुस्तान मे आये। उनका यहा स्वागत हुआ और वे पच्छिमी समुद्र-तट पर बस गए और अपने मज़हब और रीति-रिवाजो के पाबंद बने रहे। न किसीने उनसे छेड़खानी की, न उन्होंने दूसरो से; यह एक बड़े मार्के की बात है कि ये लोग, जो पारसी कहलाये, हिंदुस्तान मे चुपके-से और बग़ैर बड़े दिखावे के मिल-बैठ गए और इसे अपना घर बना लिया और फिर भी एक छोटे फ़िरक़े की हैसियत से, अपने पुराने रीति-रिवाजों को पाबंदी से निभाते रहे। अपने फ़िरक़े के बाहर शादी-ब्याह की इन्होंने इजाज़त न दी और ऐसी बहुत ही कम मिसालें हैं। खुद इस बात से हिंदुस्तान में ज्यादा ताज्जुब नही हो सकता था, क्योकि यहा भी आमतौर पर लोग अपनी ही बिरादरी मे शादी-ब्याह करते हैं। उनकी जनसख्या बहुत धीमी रफ्तार से बढ़ी है और आज भी कुल गिनती उनकी एक लाख के लगभग है। तिजारत मे उन्होंने तरक्की की है और उनमे से बहुत-से उद्योग-धंधे के अगुआ हैं। ईरान से करीब-करीब कोई ताल्लुक़ उनका नही रहा है और वे पूरी तौर पर हिंदुस्तानी बन गए हैं, फिर भी वे अपनी परंपरा को पकड़े हुए हैं और अपनी क़दीम मातृभूमि की स्मृति को जगाये हुए हैं।

ईरान मे, हाल मे इस्लाम से पहले की अपनी पुरानी तहज़ीब पर ध्यान देने की एक ज़बरदस्त तहरीक पैदा हो गई है। इसका मज़हब से कोई वास्ता नही है, यह संस्कृति और क़ौमियत की बिनाह पर है और ईरान की लबी सांस्कृतिक परंपरा की खोज मे रहती है और उस पर गर्व करती है।

दुनिया मे जो कुछ हो रहा है और आपस की दिलचस्पिया एशिया मुल्को को अब फिर एक-दूसरे की तरफ़ मुखातिब होने के लिए मजबूर कर रही हैं। यूरोप की हुकूमत के ज़माने को एक बुरे सपने की तरह समझकर उसे भुलाया जा रहा है और पुरानी यादें, पुराने दोस्ताना ताल्लुक़ात और मेल-जोल के कामो की तरफ़ खीच रही हैं। इसमे कोई शक नही कि नज़दीक ही आनेवाले ज़माने में हिंदुस्तान उसी तरह ईरान के क़रीबतर आयेगा, जिस तरह वह चीन के करीबतर आ रहा है।

दो महीने हुए हिंदुस्तान मे आनेवाले ईरानी कल्चरल (सांस्कृतिक) मिशन के नेता ने इलाहाबाद शहर मे कहा था—"ईरानी और हिंदुस्तानी दो भाई की तरह हैं, जो फ़ारसी क़िस्से के अनुसार एक-दूसरे से छूट गए। एक पूरब चला गया था और दूसरा पच्छिम। उनके खानदानवाले भी एक-दूसरे को भूल गए बैठे थे। दोनो के बीच जो बात समान रह गई

वह कुछ पुराने गीतो की घुनें थी, जिन्हे दोनो अब भी अपनी बासुरियो पर निकाला करते थे। इन घुनो के जरिये से ही दोनो खानदानवालो ने सदियो बाद एक-दूसरे को पहचाना और फिर मिल गये। इसी तरह हम भी हिंदुस्तान मे आये हैं, अपनी युगो पुरानी तानो को अपनी बासुरियो पर गाने के लिए, जिसमे कि उन्हे सुनकर हमारे हिंदुस्तानी भाई हमे पहचान सकें और अपना ही समझें और फिर वे अपने ईरानी भाइयो से मिल जाय।"

७ : हिंदुस्तान और यूनान

कदीम यूनान यूरोपीय तहजीब का सरचश्मा खयाल किया जाता है, और पूरब और पच्छिम के बुनियादी भेद के मुताल्लिक बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। यह भेद मेरी समझ मे नही आता, जो कुछ कहा जाता है, वह एक हद तक अस्पष्ट और अवैज्ञानिक है और उसका घटनाओं मे कोई आधार नही है। अभी हाल तक बहुत-से यूरोपीय विचारको का यह खयाल था कि कद्र व कीमत के काबिल जितनी चीजें हैं, उनकी शुरुआत यूनान से या रोम से है। सर हेनरी मेन ने कही पर कहा है कि कुदरत की अघी ताकतो के अलावा दुनिया मे कोई भी हरकत करनेवाली चीज नही है, जो अपने मूल मे यूनानी न हो। यूनान और रोम के बारे मे जानकारी रखनेवाले यूरोप के बडे-बडे आलिम हिंदुस्तान और चीन के बारे मे बहुत कम जानते थे। फिर भी प्रोफेसर ई० आर० डॉड्स ने जोर दिया है उस "पूरबी भूमिका पर, जो यूनानी सस्कृति के पीछे थी और जिससे वह अपने को (सिवाय यूनान और रोम के विषय के पडितो के दिमाग मे) कभी जुदा न कर सकी थी।"

यूरोप मे बहुत दिनो तक लाजिमी तौर पर यूनानी, इबरानी और लातीनी जबानों तक इल्म महदूद था। और इससे जो तस्वीर तैयार होती थी, वह भूमध्य सागर के आस-पास की दुनिया की थी। बुनियादी खयाल पुराने रोमनो के खयाल से बहुत मुख्तलिफ न था, अगरचे इसमे बहुत-सी तब्दीलिया और रद्दोबदल कर लेने पडे थे। यह विचार न महज इतिहास और भौगोलिक राजनीति पर, और सस्कृति और सभ्यता के विकास पर हावी था, बल्कि इसने वैज्ञानिक तरक्की के रास्ते मे भी रोडे डाले। अफलातून और अरस्तू दिमाग पर छाये हुए थे। उस वक्त भी, जबकि एशिया के लोगो के कारनामो की कुछ जानकारी यूरोपीय दिमाग तक छनकर पहुचती थी, यह खुशी से कुबूल नही की जाती थी। अनजान मे इसका विरोध होता और इसे ... को, पहली तस्वीर मे बिठलाने की कोशिश की जाती थी।

जब खास पढ़े-लिखे लोगों का यह खयाल था कि पूरब और पच्छिम के बीच एक खास फ़र्क़ है, तो फिर आम अनपढ़ लोगों का तो कहना ही क्या ! यूरोप में मशीन के कारखानों के खुलने और उसके साथ होनेवाली माली तरक़्क़ी ने आम लोगों पर इस भेद की छाप और भी गहरी कर दी और किसी अनोखी दलील से क़दीम यूनान मौजूदा यूरोप और अमरीका का मा-बाप बन गया। दुनिया के गुज़िश्ता ज़माने के मुताल्लिक़ नई जानकारियों ने कुछ विचार करनेवालों के दिमाग़ के इन नक़्शों को हिला दिया, लेकिन जहांतक आम लोगों का मामला था, चाहे वे पढ़े-लिखे हों चाहे अनपढ़, सदियों पुराने विचार क़ायम रहे, ये खयाली सूरतें थीं, जो उनकी चेतना की ऊपरी तहों पर तिरती रहती थीं और फिर उस दृश्य में, जो उन्होंने अपने लिए बना रखा था, समा जाती थीं।

पूरब और पच्छिम, इन लफ़्ज़ों के इस्तेमाल को मैं समझ नहीं सका हूं, सिवाय इस मानी में कि यूरोप और अमरीका ने मशीन के कारखानों में बड़ी तरक़्क़ी कर ली है और एशिया इस लिहाज़ से पिछड़ा हुआ है। कल-कारखानों की बहुतायत दुनिया के इतिहास में एक नई चीज़ है और इसने और चीज़ों के मुक़ाबले में दुनिया को ज़्यादा बदल दिया है और बराबर बदल रही है। लेकिन यूनानी तहज़ीब में और आज की यूरोपीय और अमरीकी तहज़ीबों में कोई बुनियादी रिश्ता नहीं है। आज का यह खयाल कि आराम की ज़िंदगी ही सबसे बड़ी चीज़ है, यूनानी और दूसरे क़दीम साहित्यों के बुनियादी विचारों से बिल्कुल जुदा है। यूनानी और हिंदुस्तानी और चीनी और ईरानी लोग हमेशा एक ऐसे मज़हब और ज़िंदगी के फ़िलसफ़े की तलाश में रहे हैं, जिसका असर उनके सभी कामों पर रहा है और जिसका मक़सद एक तरह का समतौल और समरसता का भाव पैदा करता रहा है। यह आदर्श ज़िंदगी के हर पहलू में—साहित्य में, कला में और संस्थाओं में—ज़ाहिर होता है और एक मुनासिबत और पूर्णता पैदा करता है। मुमकिन है कि ये विचार बिलकुल सही न हों और ज़िंदगी के असल हालात और ही रहे हों। फिर भी यह याद रखना ज़रूरी है कि आज के यूरोप और अमरीका यूनानियों के मुकम्मिल नज़रिये से कितने दूर हैं, जिसकी वे अपनी फ़ुरसत के क्षणों में इतनी तारीफ़ करते हैं, और जिनके साथ वे कुछ दूर का रिश्ता क़ायम करना चाहते हैं, महज़ इसलिए कि उनके दिलों की कुछ भीतरी ख्वाहिशें पूरी हों; या मौजूदा ज़िंदगी के सख्त और जलते रेगिस्तान में कोई नख़लिस्तान मिले।

पूरब और पच्छिम के हर एक देश और लोगों का अपना व्यक्तित्व

रहा है, उनका सदेसा रहा है और उन्होंने जिंदगी के मसलो को अपने तरीके पर हल करने की कोशिश की है। यूनान की कुछ खास बात है और अपने ढंग मे वह निराला है, यही बात हिंदुस्तान की है, यही चीन और ईरान की। कदीम हिंदुस्तान और कदीम यूनान एक-दूसरे से मुख्तलिफ थे, फिर भी मिलते-जुलते थे, उसी तरह, जिस तरह कदीम हिंदुस्तान और कदीम चीन के बीच, बावजूद बडे इख्तलाफो के खयालो का मेल-जोल था। इन सबो का एक-सा उदार, रवादारी का और काफिरो-जैसा नजरिया था, जिंदगी का और प्रकृति की अनत विविधता और अपार सुदरता का वे आनद लेते थे, कला से प्रेम था, और थी वह अक्लमदी, जो एक पुरानी जाति को उसके सचित अनुभवो की वजह से हासिल होती है। इनमे से हर एक ने अपनी क़ौमी खासियत के बमूजिब तरक्की की। अपने यहा की कुदरती फिज़ा से असर लिया और जिंदगी के किसी एक पहलू पर औरो की बनिस्बत ज्यादा जोर दिया। यह जोर सब जगह यक-सा नहीं है। यूनानियो ने, एक कौम की हैसियत से, मुमकिन है अपने मौजूदा जमाने की जिंदगी मे ज्यादा उमग से हिस्सा लिया हो और जो सौंदर्य और मधुरता उनके इर्द-गिर्द थी, या जिसे उन्होंने खुद पैदा किया था, उसके रस मे डूबे हो। हिंदुस्तानियो ने भी यह आनद और मधुरता अपने मौजूदा जमाने मे ही पाई, लेकिन साथ-ही-साथ उनकी आखें और गहरे ज्ञान की तरफ भी थी और उनके दिमाग़ अनोखे सवालो के हल मे लगे हुए थे। चीनी इन मसलो और उनके रहस्यो को खूब जानते हुए भी, अक्लमदी के साथ, उनमे उलझने से अलग रहे। अपने-अपने मुख्तलिफ तरीको से हर एक ने जिंदगी की खूबसूरती और पूर्णता को व्यक्त करने की कोशिश की। इतिहास ने दिखा दिया है कि हिंदुस्तान और चीन की बुनियादें ज्यादा मजबूत थी और उनमे टिकने की ज्यादा ताक़त थी। वे अभीतक ज़िंदा हैं, अगरचे बुरी तरह झकोरा खा चुके हैं और उनकी बडी तनज्जुली हो चुकी है और भविष्य धुधला है। पुराने यूनान की जो भी शान रही है, उसकी जिंदगी थोडे जमाने की रही, वह टिका न रह सका, सिवाय इसके कि उसके आलीशान कारनामे हैं और उसका असर बाद मे आनेवाली सस्कृतियो पर पडा है और उस छोटे और रोशन दिन की भरी-पूरी जिंदगी की यादगार बाकी है। शायद अपने मौजूदा जमाने में उसकी इस हद की दिलचस्पी रही कि अब वह गुजरा हुआ जमाना बन के रह गया।

अपनी भावना और दृष्टिकोण मे हिंदुस्तान यूरोपीय राष्ट्रो की बनिस्बत पुराने यूनान के ज्यादा क़रीब है, यद्यपि वे अपने को यूनानी सस्कृति के वारिस बताते हैं। हम इस बात को भूल सकते हैं, क्योकि हम तक कुछ ऐसे

खयाल चले आ रहे है, जो दलील के साथ ग़ौर करने के रास्ते मे रुकावट डालते हैं। कहा जाता है कि हिंदुस्तान मे मजहब और फिलसफा और चिंतन और अध्यात्म पनपते है और हिंदुस्तानी इस दुनिया की बातो से उदासीन हैं, और जो कुछ इससे परे है या बाद की दुनिया का है, उसके सपनो मे खोया रहता है। हमको बताया यही जाता है और शायद जो लोग हमसे ऐसा कहते हैं, वे चाहेंगे भी कि हिंदुस्तान विचार और चिंतन मे डूबा और उलझा रहे और वे लोग इस दुनिया को और उसके सभी पदार्थों को, इन विचारकों से आजाद रहकर अपने कब्जे मे रख सकें और उनका उपभोग कर सकें। हा, हिंदुस्तान मे यह सब कुछ रहा है, लेकिन इनसे और ज्यादा बातें भी रही हैं। उसने बचपन के भोलेपन और मासूमियत को जाना है, जवानी की उमगें और मस्तिया देखी है और बुजुर्गी मे वह ज्ञान हासिल किया है, जो सुख-दुख के अनुभव से ही आता है, और बार-बार उसने अपने बचपन, अपनी जवानी और अपनी बुजुर्गी को ताजा किया है। उम्र और आकार के जबर-दस्त बोझ ने उसे दबा दिया है, पस्ती लानेवाले रीति-रिवाजो और बुरे अमल ने उसमे घर कर लिया है, तुफैली कीडे उसमे चिपटे हुए उसका खून चूस रहे हैं, लेकिन इन सबके पीछे युगो की ताकत और एक क़दीम जाति की भीतरी अक़्ल है, क्योंकि हम बहुत पुराने लोग हैं, अनथाही सदिया हमारे कानो मे धीमे स्वर मे अपनी कहानी कह रही हैं। लेकिन हमने अपनी जवानी को बार-बार ताजा किया है, अगरचे उन गुजरे हुए युगो की यादें और सपने कायम रहे हैं।

यह कोई गुप्त सिद्धात या गूढ विद्या नहीं है, जिसने हिंदुस्तान को इतने लबे युगो तक जिदा और कायम रखा, जिस चीज ने ऐसा किया है, वह है उसकी कोमल मानवता, उसकी बहुरगी और रवादारी बरतनेवाली सस्कृति और जिंदगी और उसके भेद-भरे तरीको की गहरी सूझ-बूझ। उसकी भरी-पूरी जीवनी-शक्ति की धार उसकी शानदार कला और साहित्य मे युग-युग से बहती आई है, हालाकि इनका बहुत थोडा हिस्सा हमे आजकल हासिल है और ज्यादा हिस्सा या तो छिपा पडा है या कुदरत और इन्सान की ग़ारत-गरी से जाया हो चुका है। एलीफंटा की गुफा की त्रिमूर्त्ति मे हम खुद हिंदुस्तान की बहुमुखी मूर्त्ति देख सकते है—शक्तिशाली, आखो मे मजबूर कर देनेवाली ताकत रखनेवाली, गहरे ज्ञान और समझ-बूझवाली, जो हमारी तरफ देख रही है। अजता की दीवार के चित्रो मे हमे कोमलता और सौंदर्य और जीवन से प्रेम दिखाई देता है, लेकिन हमेशा कुछ और गहरी चीज का, ऐसी चीज का, जो हमसे परे है, आभास मिलता है।

भूगोल और आबोहवा के लिहाज से यूनान हिंदुस्तान से मुख्तलिफ है। वहा कोई ऐसी नदिया नही, जो सचमुच की नदिया कहला सकें, कोई जगल नही, कोई बडे वृक्ष नही, जिनकी हिंदुस्तान मे बहुतायत है। अपनी विशालता और परिवर्तनशीलता से समुद्र ने यूनानियो पर जो असर डाला है, वह हिंदुस्तानियो पर नही पडा, सिवाय इसके कि उन हिंदुस्तानियों पर पड़ा हो, जो समुद्र के किनारे बसते है। हिंदुस्तान की जिंदगी खुश्की की जिंदगी रही है, बडे-बडे मैदानो, विशाल पर्वतो, जोरदार नदियो और घने जगलो का इसमे हिस्सा रहा है। यूनान मे भी कुछ पहाड रहे हैं और यूनानियो ने आलिंपस को अपने देवताओ का उसी तरह निवास बनाया है, जिस तरह कि हिंदुस्तानियो ने अपने देवताओ और ऋषियो को हिमालय की ऊचाइयो पर जगह दी है। दोनो ने देवताओ की गाथाए रची हैं और ये इतिहास के साथ इतनी मिल-जुल गई है कि घटनाओ को गढत से छुडाना मुश्किल हो गया है। पुराने यूनानी, कहा जाता है, न भोगी थे और न योगी, वे आनद को बुरा या पाप जानकर उससे दूर नही भागते थे, न वे जान-बूझकर उस तरह के आमोदो मे पडते थे, जिनमे इस जमाने के लोग पडते हैं। जिस तरह से हम अपनी इच्छाओ का दमन करते हैं, वैसा किये बगैर वे जिंदगी मे जोश से हिस्सा लेते थे, और जिस काम मे लगते थे, खूब लगते थे, और इस तरह से वे हमारी बनिस्बत जिंदगी का ज्यादा लुत्फ लेते थे। हिंदुस्तान की जिंदगी के बारे मे भी हम अपने पुराने साहित्य से कुछ ऐसा ही असर लेते हैं। हिंदुस्तान मे तपस्या की जिंदगी का भी एक पहलू रहा है, जैसाकि बाद में यूनान मे भी रहा है, लेकिन यह बहुत थोडे लोगों तक महदूद था और जनता की जिंदगी पर इसका असर न था। यह पहलू जैन और बौद्ध-धर्म के दिनो मे कुछ जोर पकड गया था, लेकिन फिर भी इसने जिंदगी की पृष्ठभूमि को ज्यादा नही बदला था।

जिंदगी जैसी भी थी, उसे हिंदुस्तान और यूनान दोनो जगह कुबूल किया गया था और लोग उसे पूरी तरह बसर करते थे, फिर भी इस तरह का यकीन था कि एक खास किस्म की अदरूनी जिंदगी बेहतर होती है। इससे कुतूहल और कल्पना की गुजाइश होती थी, लेकिन जाच की यह भावना पदार्थों के बारे मे अनुभव प्राप्त करने की तरफ नही झुकती थी, बल्कि कुछ विचारो को जाहिरा तौर पर सही कयास करके उनपर तर्कपूर्ण दलील की तरफ जाती थी। वैज्ञानिक तरीको के आने से पहले दरअसल सभी जगह यही रुख हुआ करता था। गालिबन यह सोच-विचार कुछ थोडे ऊचे जहन के लोगो तक महदूद था, फिर भी साधारण शहरियो पर भी इसका असर

पडता ही था, और वे भी फिलसफे के मसलो पर आपस में और बातो के साथ अपनी खुली सभाओ मे वहस करते थे। लोगो का रहन-सहन, जैसा आज भी हिंदुस्तान मे खासकर देहातो मे है, पचायती ढग का था और लोग आपस मे बाज़ार मे, या मंदिरो और मसजिदो मे, या पनघटो पर या जहा पचायतघर होते, इकट्ठा होकर दिन की खबरो और आम ज़रूरतो पर विचार करते थे। यही लोकमत बनता था और उसका इज़हार होता था। ऐसी चर्चाओ के लिए काफी फुरसत रहा करती थी।

फिर भी यूनानियो के बहुत-से शानदार कारनामो मे से एक ऐसा है जो औरो से बढ-चढकर है—यानी प्रयोगात्मक विज्ञान की शुरुआत। इसकी तरक्की जैसी यूनानी सभ्यता के भीतर आये हुए प्रदेश, सिकदरिया, मे हुई, वैसी खुद यूनान मे नही हो पाई और ईसा से पहले ३३० से १३० तक, यानी दो सदियो मे, वैज्ञानिक उन्नति और यंत्रो के आविष्कार ने लबे डग लिये। हिंदुस्तान मे इसके मुकाबले की कोई चीज नही मिलती, और हिंदुस्तान ही क्या, कही और भी हम ऐसी बात सत्रहवी सदी तक नही पाते हैं, जब फिर विज्ञान ने लबे डग भरे हैं। रोम ने भी, बावजूद अपने साम्राज्य के, एक विस्तृत प्रदेश पर अधिकार स्थापित करने के और यूनानी सभ्यता से सपर्क होने के और कई कौमो के ज्ञान और तजुरबे से फायदा उठाने के मौक़ों के, विज्ञान, आविष्कार या यान्त्रिक विकास को कोई खास देन नही दी। यूरोप मे यूनान और रोम की तहज़ीब के विनष्ट होने पर ये अरब थे, जिन्होंने विज्ञान की लौ को मध्य युगो मे जगाये रखा।

सिकदरिया की विज्ञान और आविष्कार की यह सरगरमी यक़ीनी तौर पर ज़माने की समाजी उपज और एक बढते हुए समाज और जहाज़रानी की ज़रूरतो का नतीजा था; उसी तरह जिस तरह कि अक-गणित और बीज-गणित का विकास—शून्याक और राशिमानो का आविष्कार—हिंदुस्तान में बढते हुए व्यापार और जटिल होते हुए सगठन के लिहाज़ से समाजी ज़रूरतो का परिणाम था। लेकिन यो आमतौर पर पुराने यूनानियो में कहातक विज्ञान के लिए रुझान था, यह नही कहा जा सकता। उनकी ज़िंदगी अपनी परपरा के नमूने पर चली होगी, जिसकी बुनियाद में उसका पुराना फ़िलस-फियाना नज़रिया था, जो इन्सान और कुदरत के बीच समरसता और मेल चाहता था। यह नज़रिया पुराने यूनान और हिंदुस्तान मे एक-सा था। हिंदुस्तान की तरह यूनान मे भी साल त्योहारो मे बटा हुआ था और मौसम-मौसम के उत्सव हुआ करते थे, जो इन्सान को कुदरत के स्वर के साथ मिलाये रहते थे। हिंदुस्तान मे अब भी ये त्योहार मनाये जाते हैं, बसत मे और

फ़सल कटने के समय, और दीपावली, जो रोशनी का त्योहार है और शरद के अंत मे मनाया जाता है, और होली का उत्सव, जो शुरू गरमी मे मनाया जाता है और इनके अलावा पौराणिक पुरुषो के नाम पर त्योहार चलते हैं। अब भी इन उत्सवो मे कुछ के मौको पर लोकगीत और लोकनृत्य होते हैं, जैसे रामलीला या कृष्ण का गोपियो के साथ नाच।

पुराने हिंदुस्तान मे औरतें अलग-थलग नही रहती थी, सिवाय कुछ हद तक राज-घराने और कुलीन वर्ग की औरतो के। शायद यूनान मे मर्द और औरतें उस ज़माने में हिंदुस्तान के मुकाबले मे ज़्यादा अलग रहते थे। पुरानी हिंदुस्तानी किताबो मे मशहूर और विदुषी औरतो का अकसर ज़िक्र आता है, और अकसर वे खुले शास्त्रार्थों मे हिस्सा लिया करती थी। यूनान मे शादी ज़ाहिरा तौर पर सिर्फ आपस के मुआहदे की बात थी, लेकिन हिंदुस्तान मे यह हमेशा धार्मिक सस्कार समझी गई है, अगरचे और तरह की शादियो का भी ज़िक्र आया है।

यूनान की औरतों की, जान पड़ता है, हिंदुस्तान मे खास आवभगत होती थी। जैसाकि पुराने नाटको से पता चलता है, राज-दरबारो की दासिया अकसर यूनानी हुआ करती थी। यूनान से हिंदुस्तान मे आनेवाली खास चीज़ो मे, जो बैरी गॅज़ा (पच्छिमी हिंदुस्तान मे भड़ोच) के बदरगाह मे उतरती थी, "गानेवाले लड़को और खूबसूरत लड़कियो" का होना बताया जाता है। चद्रगुप्त मौर्य का रहन-सहन बताते हुए मेगस्थनीज कहता है—"राजा का खाना औरतें पकाती थीं और वे ही शराब भी पेश किया करती थीं, जिसका सभी हिंदुस्तानियो मे चलन है।" कुछ शराब यकीनी तौर पर यूनान या उसके उपनिवेशो से आती थी, क्योंकि एक पुराना तामिल कवि "यवनो (आयोनियन या यूनानियों) द्वारा अपने अच्छे जहाजो में लाई ठडी सुगंधित शराब" का हवाला देता है। एक यूनानी बयान है कि पाटलिपुत्र के राजा (शायद अशोक का पिता बिंदुसार) ने ऐंटिओकस को लिखा कि हमें मीठी शराब, सूखी अंजीर और एक सोफ़िस्ट फिलसूफ़ खरीदकर भेज दो। ऐंटिओकस ने जवाब दिया—"हम आपको अंजीर और शराब भेजेंगे, लेकिन यूनानी कानून सोफिस्ट को बिक्री की इजाज़त नही देता।"

यूनानी-साहित्य से यह साफ पता चलता है कि सम-लिंगी सबंध को बुरा नही माना जाता था। दरअसल इसकी जानिब एक सरस अनुमोदन का भाव था। शायद इसकी वजह यह थी कि युवावस्था से लड़के-लड़किया अलग रखे जाते थे। इसी तरह की प्रवृत्ति ईरान मे पाई जाती है और फ़ारसी-साहित्य मे इसके हवाले भरे पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है कि

अगरचे लाजिमी तौर पर इनका एक-दूसरे पर असर रहा है, फिर भी यूनानी और हिंदुस्तानी तहज़ीबों में से हर एक इतनी मजबूत रही है कि अपनी जगह पर मुस्तक़िल रहें और अपनी खासियत की बिनाह पर तरक्की कर सके। पुरानी प्रवृत्ति सभी चीजों को यूनान या रोम से निकली हुई बताने की रही है, लेकिन इस प्रवृत्ति के खिलाफ प्रतिक्रिया हुई है और एशिया और खासतौर पर हिंदुस्तान के कारनामों पर जोर दिया गया है। प्रोफ़ेसर टार्न कहते हैं—"मोटे ढंग से एशिया ने यूनान से जो भी लिया, वह आमतौर पर महज बाहरी बातें हैं, उसने केवल रूप-रेखा ली। शायद ही उसने भीतरी बातें ग्रहण की हों—नागरिक संस्थाएं चाहे एक अपवाद हों—और भाव तो उसने लिया ही नहीं, क्योंकि भाव के मामले में एशिया को हमेशा यक़ीन रहा है कि वह यूनान को दूर बिठा सकता है, और उसने दूर बिठाया है।" फिर लिखते हैं—"हिंदुस्तानी तहज़ीब इतनी मजबूत थी कि यूनानी तहज़ीब के मुक़ाबले में डटी रह सके, लेकिन मजहब को छोड़कर और मामलों में जाहिरा इतनी मजबूत न थी कि अपना वैसा असर डाल सके, जैसाकि बेबिलन ने उसपर डाला, फिर भी ऐसा खयाल करने की हमें वजह मिल सकती है कि कुछ बातों में हिंदुस्तान एक हावी साझेदार था।" "बुद्ध की प्रतिमा को छोड़ दें, तो यह कहा जा सकता है कि अगर यूनानियों का कभी वजूद न होता, तो भी हिंदुस्तान का इतिहास मुख्य-मुख्य बातों में ठीक वैसा ही रहता, जैसाकि रहा है।"

यह एक दिलचस्प खयाल है कि हिंदुस्तान में मूर्ति-पूजा यूनान से आई। वैदिक-धर्म सभी तरह की मूर्ति-पूजा के खिलाफ था। देवताओं के लिए कोई मंदिर तक न थे। मूर्ति-पूजा के कुछ निशानात हिंदुस्तान के पुराने विश्वासों में मिलते हैं, अगरचे मूर्ति-पूजा यक़ीनी तौर पर बहुत फैली नहीं थी। शुरू का बौद्ध-धर्म इसका कट्टर विरोधी था और बुद्ध की मूर्तियां और प्रतिमाएं तैयार करने की खास मनाही थी। लेकिन यूनानी कला का असर अफ़गानिस्तान में और सरहद के आस-पास काफी गहरा था और रफ्ता-रफ्ता उस असर ने काम किया। फिर भी शुरू में बुद्ध की कोई मूर्तियां नहीं बनीं, बल्कि बोधिसत्वों की (जिन्हें बुद्ध के, पहले के, अवतार समझा जाता है) अपोलो-जैसी मूर्तियां बनीं। इनके बाद खुद बुद्ध की मूर्तियां बनने लगीं। इससे हिंदू-धर्म के कुछ रूपों में भी मूर्ति-पूजा को प्रोत्साहन मिला, हलाकि वैदिक-धर्म पर यह असर न पड़ा और वह इससे बचा रहा। मूर्ति या प्रतिमा के लिए फ़ारसी और हिंदुस्तानी में अबतक लफ़्ज़ है 'बुत' जो बुद्ध से निकला है।

इन्सान के दिमाग़ में, जान पड़ता है, जिंदगी और प्रकृति और विश्व

में किसी एकता की खोज कर लेने की धुन है। यह ख्वाहिश, चाहे ठीक हो चाहे न हो, दिमाग की किसी खास जरूरत को पूरा करती है। पुराने फ़िलसूफ़ इसपर हमेशा विचार किया करते थे और आज के वैज्ञानिक भी इस प्रेरणा से मजबूर हैं। हमारी सभी स्कीमों और योजनाओं, शिक्षा और सामाजिक व राजनैतिक संगठन के हमारे सभी विचारों के पीछे एकता और समरसता की यही तलाश है। हमें कुछ काबिल सोच-विचार करनेवाले और फ़िलसूफ़ अब यह बताते हैं कि आकस्मिक दुनिया में कोई एकता या निज़ाम नहीं है। यह हो सकता है, लेकिन इसमें शक नहीं कि इस भटके हुए यकीन ने भी (वह जैसा भी रहा हो) और हिंदुस्तान और यूनान और दूसरी जगहों में इस तलाश ने कुछ प्रत्यक्ष नतीजे दिखाये हैं और ज़िंदगी में एक समरसता, एक समतोल और एक सपन्नता पैदा की है।

८ : पुराना हिंदुस्तानी रंगमंच

यूरोप को पुराने हिंदुस्तानी नाटक-साहित्य का जबसे पता लगा, तभीसे इस तरह के सुझाव दिये जाने लगे कि या तो इसकी शुरुआत ही यूनानी नाटकों से हुई, या इसपर यूनानी नाटकों का गहरा असर पड़ा। इस मत में कुछ सच-जैसी दिखनेवाली बात थी, क्योंकि उस वक्त तक किसी कदीम नाटक का पता न चला था और सिकंदर के हमले के बाद यूनान के अधिकार में आये राज्य हिंदुस्तान की सरहद पर कायम हो चुके थे। ये राज्य कई सदियों तक बने रहे और यूनानी नाटकों के खेल होते रहे होंगे। इस मसले की यूरोपीय विद्वानों ने सारी उन्नीसवीं सदी में छान-बीन की और इस पर बहस-मुबाहसे हुए। अब यह बात आमतौर पर क़ुबूल कर ली गई है कि हिंदुस्तानी रंगमंच, अपने मूल में और विचारों और विकास में बिलकुल स्वतंत्र रहा है। (इसकी शुरुआत का पता लगायें, तो हम ऋग्वेद तक पहुंच जायंगे, जिसमें कुछ नाटकीय ढंग की बातचीत मिलती है। रामायण और महाभारत में नाटकों का जिक्र आता है। कृष्ण की लीलाओं के नाच और संगीत से इसकी शुरुआत होती है और उसीसे इसकी रूप-रेखा बनती है।) ईसा से पहले की छठी-सातवीं सदी का मशहूर वैयाकरण पाणिनि नाटक के कुछ रूपों का उल्लेख करता है।

नाट्य-कला पर एक पुस्तक—'नाट्य-शास्त्र'—कहा जाता है कि तीसरी सदी ईसवी में लिखी गई, लेकिन यह जाहिर है कि यह इसी मजमून की और पहले की रचनाओं के आधार पर लिखी गई है। ऐसी किताब उसी वक़्त तैयार हो सकती है, जब नाटक की कला की खासी तरक्की हो चुकी है और आम लोगों के सामने खेल बराबर रचाये जाते रहे हैं। इससे पहले

१७८९ मे सर विलियम जोन्स ने कालिदास के 'शकुतला' का अनुवाद प्रकाशित किया। इस खोज मे यूरोप के विचारशील लोगो मे हलचल पैदा हो गई और इस पुस्तक के कई सस्करण निकले। सर विलियम जोन्स के अनुवाद के सहारे जर्मन, फ्रेंच, डेनिश और इटालियन में भी इसके अनुवाद हुए। गेटे पर इसका गहरा असर हुआ और उसने 'शकुतला' की जी खोलकर तारीफ की। 'फौस्ट' में प्रस्तावना जोडने का विचार, कहा जाता है, उसके मन मे कालिदास की प्रस्तावना को पढकर उठा और यह सस्कृत नाटको की साधारण परपरा के अनुसार ही लिखी गई थी।

हिंदुस्तानी लेखको की यह प्रवृत्ति रही है (और इसका मैं भी शिकार रहा हू) कि वे यूरोपीय विद्वानों की रचनाओ मे से ऐसे चुने हुए टुकडे और उद्धरण पेश करते हैं, जो पुराने हिंदुस्तानी साहित्य और फिलसफे की तारीफ में हों। उतनी ही आसानी से, बल्कि और ज्यादा आसानी से, ऐसे उद्धरण भी पेश किये जा सकते हैं, जो इनके बर-अक्स हो। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में हिंदुस्तानी विचार और फिलसफे के बारे मे यूरोपीय विद्वानो ने जो जानकारी हासिल की, उससे उनमे बड़ा उत्साह फैला और उन्होंने इनकी बडी तारीफें कीं। ऐसा खयाल किया गया कि ये चीजें उनकी एक जरूरत को पूरा करती हैं, जिसे यूरोपीय सस्कृति नहीं कर पाई है। फिर एक प्रतिक्रिया शुरू हुई और यह धारणा पलटी, और आलोचनाए होने लगीं और सदेह उठा। इसका कारण यह हुआ कि यह फिलसफा बगैर शक्ल का और बिखरा हुआ समझा गया और हिंदुस्तानी समाज के कडे जात-पात के बधनों को भी बुरा माना गया। ये दोनों ही तरह की प्रतिक्रियाए ऐसी थीं, जिनकी बुनियाद मे पुराने हिंदुस्तानी साहित्य की नाकाफी जानकारी थी। खुद गेटे की राय ने पलटा खाया और उसने एक तरफ तो यह कबूल किया है कि हिंदुस्तानी विचार ने पच्छिमी सभ्यता को जोरदार उत्तेजना दी है, और दूसरी तरफ इसके गहरे असर को मानने से इन्कार किया है। हिंदुस्तान के बारे मे यूरोपीय दिमाग का यह दो-तरफा और विरोधी नजरिया एक खास बात रही है। हाल मे महान यूरोपीय रोम्या रोला ने, जो सबसे आला यूरोपीय सस्कृति के नुमाइदे हैं, एक ज्यादा समन्वय का और हिंदुस्तानी विचार की बुनियादी बातो के लिए एक बहुत दोस्ताना नजरिया सामने रखा है। उनके खयाल से पूरब और पच्छिम मानवी आत्मा के सनातन सघर्ष से अलग-अलग पहलुओ की नुमाइदगी करते हैं। इस विषय—हिंदुस्तानी विचार की तरफ पच्छिमी प्रतिक्रिया—पर शातिनिकेतन विश्वविद्यालय के मि० अलेक्स एरनसन ने बडी जानकारी और क़ाबलियत के साथ लिखा है।

कालिदास सस्कृत-साहित्य का सबसे बडा कवि और नाटककार माना गया है। प्रोफेसर सिल्वा लेवी ने लिखा है—"हिंदुस्तानी कविता और साहित्य के क्षेत्र मे कालिदास का नाम चमक रहा है। नाटक, महाकाव्य और विरह गीत आज भी इस कलाकार की प्रतिभा और सूझ-बूझ का सबूत दे रहे हैं। सरस्वती के वरद पुत्रो मे यह अद्वितीय है, और इसे ही ऐसी महान रचना करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिससे हिंदुस्तान का आदर बढा है और खुद मानवता ने अपने को पहचाना है। उज्जयिनी मे 'शकुतला' के जन्म पर जो आलोक हुआ था, उसने कई लबी सदियो बाद पच्छिम की दुनिया को भी तब आलोकित किया, जब विलियम जॉन्स ने इसका उसे परिचय कराया। कालिदास ने अपने लिए उज्ज्वल तारो के बीच स्थान कर लिया है, जहा हर एक नाम इन्सानी भावना के एक युग की नुमाइदगी करता है। इन नामो का सिलसिला इतिहास की रचना करता है, बल्कि यो कहिये कि खुद इतिहास बन जाता है।"

कालिदास ने और नाटक भी लिखे हैं, और कुछ लबे काव्य रचे हैं। उसका वक्त ठीक-ठीक नही तय हो पाया है, लेकिन अनुमान है कि यह चौथी सदी ईसवी के अत के लगभग, उज्जयिनी मे, गुप्त खानदान के चद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के जमाने मे था। परपरा कहती है कि वह इस दरबार के नवरत्नो मे से एक था और इसमे कोई शक नही कि उसकी प्रतिभा को लोगो ने पहचाना और उसकी अपनी जिंदगी मे पूरी कद्र हुई। वह उन भाग्यवानो में से था, जिन्हे जिंदगी मे आदर मिला, और जिन्होने सुदरता और कोमलता को—जिंदगी की कडाइयो और रूखेपन के मुकाबले मे—ज्यादा अनुभव किया। उसकी रचनाओ मे जिंदगी के लिए प्रेम और प्रकृति की सुदरता के लिए एक उमग मिलता है।

कालिदास की एक बडी कविता है 'मेघदूत'। एक प्रेमी है, जिसे पकडकर अपनी प्रेयसी से अलग कर दिया गया है, बरसात के मौसम मे एक बादल से अपनी गहरी चाह का सदेसा उसके पास पहुचाने के लिए कहता है। इस कविता की और कालिदास की, अमरीकी विद्वान राइटर ने जी खोलकर तारीफ की है। वह कविता के दो हिस्सो का हवाला देते हुए कहते हैं—"पहले आधे मे बाहरी प्रकृति का बयान है, लेकिन उसमे इन्सानी जज्बे पिरोये हैं, दूसरे आधे मे इन्सानी दिल की तस्वीर है, लेकिन यह तस्वीर प्रकृति की सुदरता के चौखटे मे मढी हुई है। यह काम इतनी होशियारी से किया गया है कि यह कहना मुश्किल हो जाता है कि कौन-सा आधा हिस्सा ज्यादा अच्छा है। जो लोग इस मुकम्मिल कविता को मूल मे पढते हैं, उनमे से

कुछ एक हिस्से को, कुछ दूसरे को ज्यादा पसद करते हैं। पाचवी सदी मे कालिदास ने वह बात समझ ली थी, जिसे यूरोप ने उन्नीसवी सदी तक न समझा, और जिसे वह अब भी एक अधूरे ढग से समझ रहा है, यानी दुनिया आदमी के लिए नही बनी है, और यह कि वह अपना पूरा रुतबा तभी हासिल करता है, जबकि वह उस जिंदगी की शान और क़ीमत समझ लेता है, जो इन्सानी जिंदगी से जुदा है। कालिदास ने इस हक़ीक़त को पा लिया था, यह उसकी दिमाग़ी ताक़त का शानदार सबूत है, यह ऐसा गुण है कि जो ऊचे दर्जे की कविता के लिए उतना ही जरूरी है, जितना कि बाहरी रूप-रेखा की पूर्णता। कविता मे प्रवाह कोई दुर्लभ बात नहीं, दिमाग़ी समझ-बूझ भी बहुत असाधारण चीज नही, लेकिन दोनो का मेल जबसे कि दुनिया शुरू हुई, शायद आधो दर्जन से ज्यादा बार नही देखा गया। चूकि कालिदास मे यह मधुर मेल मौजूद था, इसलिए उसकी गिनती ऐनाक्रिआ और होरेस और शैली की पगत मे नही, बल्कि सोफोक्लीज, और वर्जिल और मिल्टन की पगत मे है।"

कालिदास से शायद बहुत पहले एक और मशहूर नाटक रचा गया था—शूद्रक का 'मृच्छकटिक'। यह एक कोमल और एक हद तक कृत्रिम नाटक है, फिर भी इसमें कुछ ऐसी असलियत है कि उसका हमपर असर होता है और इससे हमे उस ज़माने की तहज़ीब और विचारो की झाकी मिलती है। ४०० ई० के लगभग, चद्रगुप्त द्वितीय के ही ज़माने मे, एक दूसरा मशहूर नाटक रचा गया। यह विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' था। यह एक खालिस राजनैतिक नाटक है, जिसमे प्रेम या किसी पौराणिक कथा का आधार नही लिया गया है। इसमे चद्रगुप्त मौर्य के ज़माने का हाल है, और उसका प्रधान मत्री चाणक्य, जिसने 'अर्थशास्त्र' लिखा था, इसका नायक है। कुछ मानो मे यह नाटक आज के ज़माने पर बहुत मौजू आता है।

राजा हर्ष भी, जिसने सातवी सदी ईसवी के शुरू मे एक नया साम्राज्य कायम किया, एक नाटककार था और हमे उसके लिखे हुए तीन नाटक मिलते है। ७०० ई० के लगभग भवभूति हुआ है, जो सस्कृत-साहित्य का एक और उज्ज्वल नक्षत्र था, उसका अनुवाद करना सहज नही, क्योकि उसके नाटक की सुदरता उसकी भाषा मे है लेकिन वह हिंदुस्तान मे बहुत लोकप्रिय है और सिर्फ कालिदास को उससे बडा समझा जाता है। विल्सन ने, जो ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी मे सस्कृत के प्रोफेसर थे, इन दोनो के बारे में लिखा है कि "भवभूति और कालिदास के श्लोको से

उतार शुरू हो गया था। बाद में संस्कृत को अमीरों की इल्मी ज़बान की हैसियत से फ़ारसी से मुक़ाबला करना पड़ा। लेकिन एक साफ़ वजह यह मालूम पड़ती है कि संस्कृत नाटकों की ज़बान में और उस ज़माने की रोज़मर्रा की ज़बान में एक बढ़ती हुई खाई पैदा हो रही थी। १००० ई० तक बोली जानेवाली आम ज़बानें, जिनसे हमारी मौजूदा ज़बानें निकली हैं, अदबी शक्ल अख्तियार करने लग गई थीं।

फिर भी, इन सब बातों के बावजूद, संस्कृत नाटक तमाम मध्ययुग में और हाल तक लिखे जाते रहे, यह एक अचरज पैदा करनेवाली बात है। सन १८९२ में शेक्सपियर के 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' का संस्कृत-भावानुवाद निकला। पुराने नाटकों की पांडुलिपियां बराबर मिल रही हैं। इनकी एक सूची, जो प्रोफ़ेसर सिल्वां लेवी ने १८९० में तैयार की थी, ३७७ नाटकों और १८९ नाटककारों के नाम देती है। एक और हाल की फ़हरिस्त में ६५० नाटकों के नाम दिये गये हैं।

पुराने नाटकों की (कालिदास और दूसरों के) भाषा मिली-जुली है, यानी उसमें संस्कृत और एक या ज़्यादा प्राकृतों का इस्तेमाल हुआ है। ये प्राकृतें संस्कृत की ही बोल-चाल का रूप हैं। एक ही नाटक में पढ़े-लिखे लोग संस्कृत बोलते हैं और साधारण अनपढ़ लोग और आमतौर से औरतें, प्राकृत बोलती हैं, हालांकि इसके अपवाद भी मिलेंगे। श्लोक या गीत, जिनकी बहुतायत है, संस्कृत में हैं। इस मिली-जुली भाषा की वजह से शायद नाटक आम तमाशबीनों को ज़्यादा पसंद होता था। यह साहित्यिक भाषा और आमपसंद कला के अलग-अलग तकाज़ों के बीच का एक समझौता था। सिल्वां लेवी, इसका कुछ मानों में फ़्रान्सीसी दुखांत नाटकों से मुक़ाबला करते हैं, जो अपने विषयों के चुनाव की वजह से आम लोगों से अलग जा पड़ा था और जिसने असली ज़िंदगी से मुड़कर एक रस्मी समाज पैदा कर लिया था।

लेकिन इस ऊंचे दर्जे के साहित्यिक रंगमंच से अलग हमेशा एक आम लोगों का रंगमंच रहा है, जिसकी बुनियाद में हिंदुस्तान के महाकाव्यों और पुराणों की कथाएं होती थीं, और इन मज़मूनों से देखनेवाले वाक़िफ़ हुआ करते थे, और उन्हें तमाशे से मतलब होता, नाटकीय तत्त्वों की जांच से नहीं। ये खेल लोगों की बोली में होते, इसलिए अलग-अलग इलाक़ों में अलग-अलग बोलियां इस्तेमाल की जाती थीं। दूसरी तरफ़ संस्कृत नाटक ऐसे थे, जिनका सारे हिंदुस्तान में चलन था, क्योंकि संस्कृत सारे हिंदुस्तान की भाषा थी।

(इसमे कोई शक नही कि ये सस्कृत नाटक खेले जाने के लिए लिखे जाते थे, क्योकि इनमे तफसील से अभिनय-सकेत दिये गये हैं और देखने-वालो को बिठाने के भी कायदे थे। कदीम यूनान की चलन के खिलाफ यहा पात्रिया खेल मे हिस्सा लेती थी। यूनानी और सस्कृत दोनो मे, प्रकृति के सबध मे एक सूक्ष्म चेतना मिलती है, एक ऐसा भाव मिलता है कि मनुष्य प्रकृति का अग है। इनमे सगीत का जबरदस्त पुट है और कविता ज़िदगी का एक लाज़िमी अग जान पडती है, जिसमे भरपूर मानी हैं और महत्त्व है। यह अकसर स्वर से पढी जाती थी। यूनानी नाटको को पढते हुए बहुत-से ऐसे रीति-रिवाजो और विचार के तरीको के हवाले आते हैं, जिनसे खयाल यकायक पुराने हिंदुस्तानी रीति-रिवाजो पर जा पहुचता है। यह सब होते हुए भी यूनानी नाटक सस्कृत नाटक से, मूल मे जुदा हैं।)

यूनानी नाटक का खास आधार दुखात (ट्रेजेडी) है, पाप की समस्या है। आदमी क्यों दुख उठाता है? दुनिया मे पाप क्यो है? धर्म और ईश्वर की पहेली है। आदमी कितना तरस के काबिल है, जिसकी दो दिन की ज़िदगी है और जो शक्तिशाली भाग्य के खिलाफ अधी और बिना मक़सद की कोशिशो मे लगा हुआ है—"यह वह नियम है जो कायम रहता है, बदलता नहीं, युगो तक ।" आदमी को दुख झेलकर सीखना चाहिए और अगर वह भाग्यवान है, तो वह इस कोशिश से ऊपर उठेगा :

"सुखी वह है, जिसने थका देनेवाले समुंदर पर तूफानों से छुटकारा पा लिया है और जो सुरक्षित बदरगाह में पहुंच गया है।

"सुखी वह है, जो अपनी कोशिशो से ऊपर उठकर आज़ाद हो गया है।

"क्योंकि जिदगी की कला एक अजब ढग से गढ़ी गई है कि एक और दूसरा, अपने भाई को धन और शक्ति में पीछे छोड जाता है।"

"और करोडो आदमी बहते और उतराते रहते हैं, और करोड़ों उम्मीदों के खमीर से उनमे तूफान आता रहता है।

"और या तो उनकी इच्छा पूरी होती है, या पूरी होने से रह जाती है; और आशाए या तो मर जाती हैं या बनी रहती हैं।

"लेकिन ज़माने के गुज़रने के साथ, जो भी यह जान सकता है कि जीना ही सुखी होना है, उसने अपना स्वर्ग पा लिया है।"

आदमी मुसीबत झेलकर ही सीखता है, वह सीखता है कि ज़िदगी का सामना कैसे करना चाहिए, लेकिन वह यह भी सीखता है कि आखिरी

रहस्य बना रह जाता है और इन्सान अपने सवालो के जवाब नही पाता है, न अच्छाई और बुराई की पहेली का हल कर पाता है।

"रहस्य के अनेक रूप हैं; और बहुत-सी चीजें, जिन्हे ईश्वर ने पैदा किया है, आशा और भय से परे हैं। और जिस अंत की आदमी को तलाश है, वह आता नहीं, और जहा किसी आदमी का खयाल नहीं जाता था, वहां एक रास्ता मौजूद है।"[1]

यूनानी 'ट्रैजेडी' के मुकाबले की जोरदार और उस शान की कोई चीज संस्कृत मे नही है। दरअसल यहा 'ट्रैजेडी' (दुखांत) जैसी कोई चीज है ही नही, क्योकि इसकी मनाही रही है। इस तरह के बुनियादी सवालो पर विचार नही किया गया है, क्योकि नाटककारो ने धार्मिक विश्वासो को, जैसे वे प्रचलित थे, मान लिया है। (इसमे पुनर्जन्म और कार्य-कारण के सिद्धात हैं। बिना कारण के आकस्मिक या पाप पर विचार ही नही हो सकता था, क्योकि जो कुछ अब होता है, वह पूर्व-जन्म की किसी पहली घटना का लाज़िमी नतीजा है। अंधे तरीके पर काम करनेवाली अंधी ताकतो की, जिनके खिलाफ आदमी लडता है, अगरचे उसकी लडाइयो का कोई फल नही निकलना, यहा गुंजाइश ही नही है। फिलसूफ और विचारक इन सीधी-सादी व्याख्याओ से संतुष्ट न होते थे, और वे बराबर इनके पीछे रहस्य क्या है, इसकी खोज मे रहते थे और आखिरी कारण और पूरी तफसील जानना चाहते थे।) लेकिन जिंदगी इन्ही विश्वासो के सहारे चलती थी और नाटककार उनकी कुरेद नही किया करते थे। ये नाटक और संस्कृत काव्य आमतौर पर साधारण हिंदुस्तानी धारणा को मानकर चलते थे और इस धारणा से विद्रोह के कोई ऐसे चिह्न नही हासिल होते हैं।

नाटको की रचना के बारे मे कडे नियम बने हुए थे और उन्हें तोड सकना आसान न होता था। फिर भी किस्मत के आगे दीनता से सिर नहीं झुकाया गया है—नायक हमेशा हिम्मतवाला आदमी होता है, जो कठिनाइयों का मुकाबला करता है। चाणक्य अवज्ञा के साथ 'मुद्राराक्षस' मे कहता है—"मूर्ख भाग्य के भरोसे रहते हैं", वे अपने ऊपर भरोसा करने के बजाय मदद के लिए सितारो की तरफ़ देखते हैं। कुछ बनावट आ जाती है नायक हमेशा नायक बना रहता है, दुष्ट हमेशा दुष्टता के काम करता है बीच का ताव-भाव नही मिलता।

---

[1] ये दो उद्धरण 'यूरीपिडिस' से प्रोफेसर गिल्बर्ट मरे के तरजुमे के आधार पर दिये गये हैं। पहला 'बाक्काइ' और दूसरा 'एलसेस्टिस' से है।

फिर भी जबरदस्त नाटकीय मौके आते हैं, दिल पर असर पैदा करने-वाले दृश्य दिखाये गये हैं और जिंदगी की एक पृष्ठभूमि है, जो सपने की तस्वीर की तरह जान पडती है, मानी जो असली भी है और बेबुनियाद भी, और इन सबको कवि की कल्पना शानदार भाषा मे बुनकर रख देती है। ऐसा जान पडता है—चाहे दरअसल ऐसा न रहा हो—कि हिंदुस्तान की जिंदगी उस वक्त ज्यादा शातिमय, ज्यादा पायदार थी और मानो उसने अपनी जडो का पता लगा लिया था और मसलो का हल पा गई थी। यह जिंदगी धीर-गभीर भाव से बहती जाती है, और तेज हवा के थपेडो और गुजरते हुए तूफान भी सिर्फ उसकी सतह को हिला जाते हैं। यूनानी 'ट्रेजेडी' के खौफनाक तूफानों-जैसी कोई चीज यहा नही है। लेकिन उसमे बडी मानवता है, एक सुदर सामजस्य है, और एक व्यवस्थित एकता है। सिल्वा लेवी ने लिखा है कि नाटक अब भी हिंदुस्तानी प्रतिमा का सबसे अच्छा आविष्कार है।[1]

प्रोफेसर ए० बैरीडेल कीथ भी कहते हैं कि "संस्कृत नाटक को यथार्थ में हिंदुस्तानी काव्य की सबसे ऊची उपज समझा जा सकता है, जिसमे हिंदुस्तानी साहित्य के सावधान रचनाकारो की साहित्यिक कला की अतिम कल्पना का निचोड आ गया है। दरअसल ब्राह्मण,[2] जिसे इस और दूसरे मामलो मे बहुत बुरा-भला कहा गया है, हिंदुस्तान के दिमागी बडप्पन के मूल मे रहा है। जिस तरह से उसने हिंदुस्तानी फिलसफा पेश किया, उसी तरह अपने दिमाग की एक दूसरी कोशिश से उसने नाटक के सूक्ष्म और प्रभावशाली रूप का विकास किया।"

शूद्रक के 'मृच्छकटिक' का एक अनुवाद १९२४ मे न्यूयार्क में मच पर खेला गया। 'नेशन' पत्र के नाटकीय समालोचक, मि० जोजेफ उड कृच ने उसके बारे में यह लिखा था—"अगर दर्शक को 'विशुद्ध कला रगमच' का, जिसकी सिद्धातवादी लोग चर्चा करते रहते हैं, सच्चा नमूना कही देखने को मिल सकता है, तो वह यहा पर मिलेगा और यही पर उसे पूरब के सच्चे ज्ञान पर विचार करने का मौका मिलेगा, जो गूढ सिद्धातो मे नहीं

[1] मैंने सिल्वा लेवी की 'ला थियेत्र इंडियान' (पेरिस, १८९०) तथा बैरीडेल कीथ की 'दि संस्कृत ड्रामा' (ऑक्सफोर्ड, १९२४) को कई बार पढ़ा है और कुछ उद्धरण इन दोनों पुस्तको से लिये गये हैं।

[2] पश्चिमी लेखक भारतवासियो के लिए प्राय. ब्राह्मण शब्द का प्रयोग करते हैं।—स०

रखा हुआ है, बल्कि एक विशेष कोमलता मे है, जो परपरागत ईसाई-मत की कोमलता से, जिसे इब्रानी मत की कट्टर पवित्रता ने बिगाड रखा है, कही ज्यादा गहरी और सच्ची है। एक बिलकुल गढा हुआ नाटक है, लेकिन जो दिल पर असर डालता है, क्योकि वह वास्तविकता का चित्रण नही करता, बल्कि खुद वास्तविक है । इसका लिखनेवाला जो भी रहा हो, और चाहे वह चौथी सदी मे हुआ हो चाहे आठवी मे, वह एक भला और बुद्धिमान आदमी था, और उसकी बुद्धिमानी या भलमनसाहत उपदेशक के होठो से या तेज़ चलनेवाले कलम से निकलनेवाली नही, बल्कि दिल से उपजनेवाली है। यौवन और प्रेम की नूतन सुदरता के लिए उसकी कोमल सहानुभूति ने उसके शात स्वभाव को अपना पुट दिया है, और वह इतना प्रौढ हो चुका है कि यह समझे कि एक हलकी-फुलकी और गढत-घटना-चक्रोवाली कहानी भी कोमल मानवता और निश्चित भलाई का वाहन बन सकती है इस तरह का नायक सिर्फ ऐसी सभ्यता पैदा कर सकती है, जिसमे पायदारी आ गई हो, जब किसी सभ्यता ने अपनी सभी मामलो पर विचार कर लिया हो, तभी वह ऐसे शात और सरल नतीजे पर पहुच सकती है। मैकबेथ और ओथेलो चाहे जितने बडे और हिला देनेवाले चरित्र हो, बर्बर नायक हैं, क्योंकि शेक्सपियर का भावुक आवेग एक ऐसा आवेग है, जिसे एक नई जगी हुई चेतना और बर्बर युग की बहुत-सी नैतिक धारणाओ के सघर्ष ने पैदा किया है। हमारे ज़माने का यथार्थ-वादी नाटक भी इसी तरह की उलझनो का नतीजा है, लेकिन जब मसले स्थिर हो जाते हैं, जब दिमाग़ से किये गये फैसलो के जरिये आवेग शात हो जाते हैं, तब रूप मात्र रह जाता है। . यूनान और रोम को छोडकर, यूरोप मे किसी पिछले ज़माने मे, हमे इससे ज्यादा सभ्य कृति नही मिल सकती है।"[१]

९ : संस्कृत की जीवनी-शक्ति और स्थिरता

सस्कृत एक अद्भुत रूप से सपन्न, हरी-भरी और फूलो से लदी हुई

---

[१] मैंने यह लबा उद्धरण आर० एस० पडित के 'मुद्राराक्षस' के अनुवाद की भूमिका से लिया है। इस अनुवाद के साथ बहुत-सी दिलचस्प टिप्पणियां और परिशिष्ट हैं। मैंने अकसर सिल्वां लेवी के 'ला थियेत्र इंडियान' (पेरिस, १८९०)और ए० बॅरीडेल कीथ के 'दि संस्कृत ड्रामा' (ऑक्सफोर्ड, १९२४) से मदद ली है, और इन दोनों पुस्तकों से कुछ उद्धरण लिये हैं।

भाषा है, फिर भी यह नियमो से बधी हुई है और २६०० वर्ष पहले व्याकरण का जो चौखटा पाणिनि ने इसके लिए तैयार कर दिया था, उसीके भीतर चल रही है। यह फैली, खूब सपन्न हुई, भरी-पूरी और अलकृत बनी, लेकिन अपने मूल को पकडे रही। सस्कृत-साहित्य के ह्रास के जमाने मे इसने अपनी कुछ शक्ति और शैली की सादगी खो दी और जटिल रूपो और उपमाओ और उत्प्रेक्षाओ मे उलझ गई। शब्दो को जोडनेवाले समास के नियम पडितो के हाथ मे पडकर चतुराई दिखाने के साधन बन गये और ऐसे समास-पद बनाये जाने लगे, जो कई पक्तियो मे जाकर टूटते थे।

सर विलियम जोन्स ने १७८४ मे ही कहा था—"सस्कृत भाषा चाहे जितनी पुरानी हो, उसका गठन अद्‌भुत है, यूनानी भाषा के मुकाबले मे ज्यादा मुकम्मिल, लातीनी के मुकाबले मे ज्यादा सपन्न और दोनो के मुकाबले में यह ज्यादा परिष्कृत है, लेकिन दोनो के साथ धातु-क्रियाओ और व्याकरण के रूपों में वह इतनी मिलती-जुलती है कि यह सयोग आकस्मिक नही हो सकता। यह मेल इतना गहरा है कि कोई भी भाषा-शास्त्री इसकी जाच करने पर इस नतीजे पर पहुचे बिना नही रह सकता कि ये सभी भाषाए किसी एक ही स्रोत से निकली हैं, जो शायद अब नही रह गया है ।"

विलियम जोन्स के बाद और यूरोपीय विद्वान हुए हैं—अग्रेज, फ्रान्सीसी, जर्मन और दूसरे—जिन्होंने सस्कृत का अध्ययन किया और एक नये विज्ञान, यानी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, की नीव डाली। जर्मन विद्वान इस नये मैदान मे आगे बढे और सस्कृत मे खोज करने का सबसे ज्यादा श्रेय उन्नीसवी सदी के इन्ही जर्मन विद्वानों को मिलना चाहिए। करीब-करीब सभी जर्मन विश्वविद्यालयो मे सस्कृत का एक विभाग रहा है और इसमे एक या दो अध्यापक लगे रहे हैं। हिंदुस्तान मे पडितों की कमी नहीं थी, लेकिन वे पुराने ढंग के थे, उनमे आलोचना-वृत्ति नही थी और वे अरबी और फारसी को छोडकर प्रतिष्ठित विदेशी भाषाओ के जानकार न थे। यूरोपीयो के असर से हिंदुस्तान मे एक नई तरह से अध्ययन शुरू हुआ और बहुत-से हिंदुस्तानी यूरोप (आमतौर पर जर्मनी) गये, जिसमे कि वे शोध और आलोचना और तुलनात्मक अध्ययन के नये तरीको को सीख लें। इन्हें यूरोपीयों के मुकाबले मे एक सुविधा थी, लेकिन साथ-ही-साथ एक असुविधा भी थी। और यह असुविधा इस वजह से थी कि उनके कुछ बधे-तुले और पहले से बने हुए विचार थे और विरासत मे मिले हुए इन विचारो और परपराओ के कारण वे निष्पक्ष आलोचना न कर पाते थे। जो सुविधा थी, वह बहुत बडी सुविधा थी, यानी रचना के भाव को, और जिस वातावरण

मे वह की गई थी, उसे, वे जल्दी समझ लेते थे और इस तरह उसमे पैठ सकते थे।

व्याकरण और भाषा-शास्त्र के मुकाबले मे भाषा खुद कही बड़ी चीज है। यह एक जाति और सस्कृति की प्रतिमा की कवित्वमय विरासत है और जिन विचारो और कल्पनाओ ने उन्हे ढाला है, उनका जीता-जागता रूप है। शब्द युग-युग मे अपने अर्थ बदलते रहते हैं और पुराने विचार नये विचारों में तबदील हो जाते हैं, अगरचे अकसर वे अपना पुराना भेस कायम रखते हैं, किसी पुराने लफ्ज या मुहावरे के मानी पकड़ना मुश्किल हो जाता है और उसके भाव के बारे मे तो कहा ही क्या जाय! अगर हम उस पुराने मानो की झलक लेना चाहते हैं और उन लोगो के दिमाग मे पैठना चाहते हैं, जिन्होंने इस भाषा को गुजरे दिनो मे इस्तेमाल किया था, तो हमे भावुक और कवित्वमय निगाह रखना जरूरी है। भाषा जितनी सपन्न और भरी-पूरी होती है, उतनी ही यह दिक्कत बढ जाती है और प्रतिष्ठित भाषाओं की तरह सस्कृत ऐसे लफ्जो से भरी है, जिनमे न महज काव्य की सुदरता है, बल्कि जिनमे गहरे मानी हैं, उनके साथ जुड़े हुए बहुत-से विचार हैं, जिनको ऐसी भाषा में, जो भावो और नजरिये मे विदेशी है, नही अदा किया जा सकता। उसके व्याकरण, उसके फिलसफ़े मे भी काव्य का पुट है—उसके पुराने कोष तक पद्य में हैं।

हममे से उन लोगों के लिए भी, जिन्होने कि सस्कृत पढी है, इस प्राचीन भाषा के भाव मे पैठ सकना और उसकी पुरानी दुनिया मे फिर से रह सकना बहुत आसान नही है। लेकिन हम कुछ हद तक ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि हम उन पुरानी परपराओ के वारिस हैं और वह पुरानी दुनिया हमारी कल्पनाओ से अब भी चिपटी हुई है। हिंदुस्तान की हमारी मौजूदा जबानें सस्कृत की सतान हैं और उनके शब्द-कोष और वर्णन के ढग सस्कृत की देन हैं। सस्कृत काव्य के फिलसफे के बहुत-से पुरमानी और खास शब्द, जिनके विदेशी भाषाओ मे तरजुमे नही हो सकते, अब भी हमारी आम भाषाओं के अग हैं। और खुद सस्कृत मे, अगरचे वह लोगो की भाषा की शक्ल मे बहुत दिन हुए मर चुकी है, एक अद्भुत जीवनी-शक्ति है। लेकिन विदेशियो के लिए, वे चाहे जितने क़ाबिल हो, कठिनाइया और भी बढ जाती हैं। बद-किस्मती से विद्वान और आलिम कवि बहुत कम होते हैं और भाषा को जानने के लिए ऐसे आदमी की जरूरत है, जो आलिम भी हो और कवि भी। इन विद्वानों से, (जैसा मुशियो बार्थ ने बताया है, हमे ऐसे कोरे "शब्दानुवाद मिलते हैं, जो अपने असली अर्थ से दूर ही नही, उलटे तक होते हैं।")

इसलिए अगरचे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन ने तरक्की की है और संस्कृत में बहुत-कुछ शोध का काम हुआ है, फिर भी भावुक और कवित्वमय निगाह की दृष्टि से यह कुछ बेसूद और बेकार-सा रहा है। अंग्रेजी में या किसी विदेशी भाषा में संस्कृत से शायद ही कोई ऐसा अनुवाद हुआ हो, जिसे हम मान्य और मूल के साथ न्याय करनेवाला कह सकते हैं। इस काम में हिंदुस्तानी और विदेशी दोनों ही अलग-अलग कारणों से नाकामयाब रहे हैं। यह बड़े अफसोस की बात है और दुनिया कुछ ऐसी चीज से महरूम रह जाती है, जिसमें अपार सौंदर्य है और कल्पना है और गहरा विचार है और जो न महज हिंदुस्तान की विरासत है, बल्कि जिसे मानव-जाति की विरासत होना चाहिए।

इंजील के प्रामाणिक संस्करण के अंग्रेजी अनुवादकों के कठिन संयम, आदरपूर्ण दृष्टिकोण और सूझ-बूझ ने न महज एक विशाल ग्रंथ तैयार किया, बल्कि अंग्रेजी भाषा को शक्ति और गौरव प्रदान किया। यूरोपीय विद्वानों और कवियों की कई पीढ़ियों ने यूनानी और लातीनी के प्रतिष्ठित ग्रंथों पर प्रेम के साथ मेहनत करके कई यूरोपीय भाषाओं में सुंदर अनुवाद पेश किये हैं और इस तरह आम लोग भी उन संस्कृतियों में शरीक हो सकते हैं और अपनी नीरस जिंदगियों में सचाई और सुंदरता की झलक पा सकते हैं। बदकिस्मती से संस्कृत की बड़ी रचनाओं के साथ यह काम होना बाकी है। यह कब होगा और होगा भी या नहीं, मैं नहीं जानता। हमारे विद्वान गिनती में और काबलियत में आगे बढ़ते जाते हैं, इसी तरह हमारे कवि भी हैं, लेकिन इन दोनों के बीच एक चौड़ी और बढ़ती हुई खाई है। हमारी रचनात्मक प्रवृत्तियां दूसरी ही दिशा में जा रही हैं और आज की दुनिया के बहुत-से तकाजे हमें इसका मौका नहीं देते कि हम फुरसत से इन ग्रंथों का अध्ययन कर सकें। खासतौर से हिंदुस्तान में हमें दूसरी ही तरफ देखना पड़ रहा है और जो बहुत-सा वक्त खोया जा चुका है, उसे भरना है, हम लोग पुराने ग्रंथों में बहुत डूब रहे हैं और चूंकि हम अपनी रचनात्मक बुद्धि खो चुके हैं, इसलिए हमें उन ग्रंथों में, जिनका हम इतना दम भरते हैं, प्रेरणा भी नहीं मिलती। मैं समझता हूं, हिंदुस्तान की प्रतिष्ठित पुस्तकों के अनुवाद निकलते ही रहेंगे और विद्वान लोग इसका ध्यान रखेंगे कि संस्कृत शब्दों और नामों की वर्तनी ठीक-ठीक की जानी है और शुद्ध उच्चारण के लिए आवश्यक चिह्न लगाये जाते हैं, साथ ही काफी टिप्पणियों और व्याख्याओं और तुलनात्मक संकेतों को भी दिया जाता है, दरअसल जो भी अनुवाद होगा, उसमें हर एक लफ्ज का मतलब सावधानी से अदा किया जायगा, फिर भी एक जिंदा भाव की

कमी रह जायगी। जिस चीज में जान थी, आनंद था, जो इतनी सुंदर और मधुर थी, वह पुरानी और फीकी और बासी जान पड़ेगी, जिसका यौवन और सौंदर्य जाता रहा है, सिर्फ विद्वानों के अध्ययन-कक्ष की धूल और आधी रात में जलाये गये दीपक के तेल की गंध रह जायगी।

(कितने दिनों से संस्कृत एक मरी हुई भाषा है—इस मानी में कि वह आमतौर पर बोली नहीं जाती—मैं नहीं जानता। (कालिदास के जमाने में भी यह जनता की भाषा न थी, अगरचे यह सारे हिंदुस्तान के पढ़े-लिखों की भाषा थी) और सदियों तक वह ऐसी ही बनी रही, बल्कि दक्खिन-पूरबी एशिया के हिंदुस्तान के उपनिवेशों में और मध्य-एशिया में भी फैला। नियमित रूप से संस्कृत-अध्ययन के, और संभवत नाटकों के भी, सातवीं सदी ईसवी में कंबोडिया में प्रचलित होने के प्रमाण हैं। थाईलैंड (स्याम) में कुछ उत्सव-संस्कारों के मौकों पर संस्कृत अब भी इस्तेमाल में आती है। हिंदुस्तान में संस्कृत की जीवनी-शक्ति बड़ी अचरज-भरी रही है। जब तेरहवीं सदी के शुरू में अफगान सुल्तानों ने दिल्ली की गद्दी पर कब्जा कर लिया, उस समय हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्सों की दरबारी जबान फारसी हो गई और रफ्ता-रफ्ता बहुत-से पढ़े-लिखे लोगों ने संस्कृत के मुकाबले में उसे तरजीह दी। आम जबानों ने भी तरक्की करके साहित्यिक रूप अख्तियार किये। फिर भी, इन सब बातों के बावजूद, संस्कृत चलती रही, अगरचे यह संस्कृत वैसे पाये की न रह गई थी। [१९३७ में, त्रिवेंद्रम में, ओरियंटल कान्फ्रेंस के मौके पर, सभापति की हैसियत से बोलते हुए डॉ० एफ० एफ० टॉमस ने बताया था कि संस्कृत का हिंदुस्तान में एकता लाने में कितना जोरदार हाथ था और अब भी उसका कितना प्रचार है। उन्होंने दरअसल यह तजवीज किया कि संस्कृत के किसी सरल रूप को, जो एक तरह की बुनियादी संस्कृत हो, अखिल-भारत की भाषा के रूप में बढ़ावा देना चाहिए।] उन्होंने मैक्समूलर के इस बयान को उद्धृत किया और उससे इत्तिफाक जाहिर किया—"कदीम और आज के हिंदुस्तान के बीच ऐसा अद्भुत सिलसिला चला आ रहा है कि बावजूद बार-बार की समाजी उथल-पुथल के, धार्मिक सुधारों और विदेशी हमलों के, संस्कृत आज भी अकेली भाषा है, जो इस बड़े देश में सब जगह बोली जाती है, आजकल भी, एक सदी की अंग्रेजी हुकूमत और शिक्षा के बाद, मेरा विश्वास है कि संस्कृत हिंदुस्तान में जितने विस्तार से समझी जाती है, उतने विस्तार से दांते के जमाने में यूरोप में लातीनी भाषा भी नहीं समझी जाती थी।"]

दांते के जमाने में यूरोप में कितने लोग लातीनी समझते थे, इसका मुझे कुछ भी अनुमान नहीं, न मैं यही जानता हूं कि हिंदुस्तान में आज कितने

लोग सस्कृत समझते हैं। लेकिन सस्कृत समझनेवालो की गिनती, खासतौर पर दक्खिन मे, अब भी बहुत बडी है। सादी सस्कृत का समझना उन लोगो के लिए, जो आज की किसी भी भारतीय-आर्य भाषा—हिंदी, बगाली, मराठी, गुजराती आदि—को अच्छी तरह जानते हैं, आसान है। आजकल की उर्दू तक मे, जो खुद एक भारतीय-आर्य भाषा है, ८० फी-सदी लफ्ज सस्कृत के है। अकसर यह बताना मुश्किल हो जाता है कि कोई खास लफ्ज़ सस्कृत से आया है या फारसी से, क्योकि इन दोनो भाषाओ के मूल शब्द अकसर एक-से हैं। कुछ अचरज की बात है कि दक्खिन की द्रविड भाषाओ ने, अगरचे वे मूल मे बिलकुल अलग की भाषाए है, सस्कृत के इतने शब्द अपने मे ले लिये हैं कि करीब-करीब उनका आधा शब्द-कोष सस्कृत से मिलता है।

बहुत-से विषयो पर, जिनमे नाटक भी हैं, सस्कृत मे सारे मध्य-युग, यहातक कि हमारे ज़माने तक किताबे लिखी जाती रही हैं। दरअसल ऐसी किताबे अब भी निकलती रहती हैं और सस्कृत मे पत्रिकाए भी निकलती हैं। उनका दर्जा बहुत ऊचा नही है और सस्कृत-साहित्य मे वे कोई मूल्यवान इज़ाफा नही करती हैं। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह है कि सस्कृत की पकड इस सारे लबे ज़माने मे बनी रही। कभी-कभी आम सभाओ में अब भी सस्कृत मे व्याख्यान होते हैं, अगरचे यह स्वाभाविक है कि सुननेवाले लोग बहुत चुने हुए होते है।

सस्कृत के लगातार इस्तेमाल ने यकीनी तौर पर मौजूदा ज़माने की हिंदुस्तानी भाषाओ की सहज बाढ को रोका है। पढे-लिखे दिमाग़ी लोगो ने इन्हे तुच्छ बोलियो के रूप मे समझा है और इस काबिल नही जाना है कि इनमे रचनात्मक और विद्वत्तापूर्ण रचनाए पेश की जाय। इस तरह की रचनाए सस्कृत मे और बाद मे फारसी मे पेश की जाती रही। बावजूद इस रुकावट के बडी-बडी सूबेवार भाषाओ ने रफ्ता-रफ्ता सदियो के दौर मे शक्ल अख्तियार की और उनके साहित्यिक रूपो का विकास हुआ और उनके साहित्य का निर्माण हुआ।

यह जानना दिलचस्प होगा कि आजकल के थाईलैंड मे जब नये पारिभाषिक, वैज्ञानिक और प्रशासन-सबधी पारिभाषिक शब्दो की ज़रूरत हुई, तो उनमे से बहुत-से सस्कृत के आधार पर बना लिये गये।

प्राचीन हिंदुस्तानी ध्वनि पर बडा ज़ोर देते थे और इसलिए उनकी रचनाओ में, चाहे वे गद्य मे हो या पद्य मे, एक लय और सगीत का गुण मिलता है। शब्दो का ठीक-ठीक उच्चारण हो सके, इसकी बड़ी कोशिश होती थी और इसके लिए नियम बनाये गये थे। इसकी और भी ज़रूरत यो पडी कि

पुराने ज़माने मे शिक्षा ज़बानी होती थी और सारी पुस्तकें कठ करा दी जाती थी, और इस तरह पीढी-दर-पीढी चलती रहती थी। शब्दो की ध्वनि को महत्व देने का नतीजा यह हुआ कि मतलब और ध्वनि का मेल कराने की कोशिशें हुई। कभी-कभी बहुत सुदर मेल पैदा हुआ और कभी-कभी भद्दे और बनावटी सयोग भी बन पडे। ई० एच० जॉन्स्टन ने इसके बारे मे लिखा है—"हिंदुस्तान के सस्कृत कवियो मे ध्वनि के परिवर्तनो का जो एहसास है, उसके बराबर की मिसाल दूसरे देशो के साहित्य मे बहुत कम मिलेगी और उनके शब्द-विन्यास में बडा ही आनद आता है। लेकिन उनमे से कुछ ध्वनि और आशय को इस तरह से भी मिलाने की कोशिश करते हैं कि उससे कोई बारीकी नही पैदा होती और उन्होंने थोडे-से व्यजनो के सहारे और कभी एक ही व्यजन के सहारे पद्य-रचना करके तो बड़ा ही अनर्थ किया है।"[1]

वेदो के पाठ आज भी उच्चारण के उन नियमो के अनुसार किये जाते हैं, जो पुराने ज़माने मे बनाये गये थे।

मौजूदा ज़माने की हिंदुस्तानी भाषाए, जो सस्कृत से निकली हैं और इसलिए भारतीय-आर्य भाषाए कहलाती हैं, ये हैं—हिंदी, उर्दू, बगाली, मराठी, गुजराती, उड़िया, असमी, राजस्थानी (जो हिंदी का ही एक रूप है), पंजाबी, सिंधी, पश्तो और काश्मीरी। द्रविड भाषाए ये है—तमिल, तेलगु, कन्नड और मलयालम। इन पद्रह भाषाओ मे सारे हिंदुस्तान की भाषाए आ जाती हैं, और इनमे से हिंदी (अपने रूपातर उर्दू के साथ) सबसे ज्यादा रायज है और जहा यह बोली भी नही जाती, वहा भी समझ ली जाती है। इन भाषाओ को छोडकर कुछ बोलिया और अविकसित भाषाए हैं, जो बहुत छोटे इलाक़ो मे या कुछ पिछडी हुई पहाडी और जगली जातियो द्वारा बोली जाती हैं। बार-बार दुहराई जानेवाली यह कहानी कि हिंदुस्तान मे पाच सौ या इससे ज्यादा ज़बानें हैं, भाषा-वैज्ञानिको या मर्दुमशुमारी के कमिश्नर के दिमाग़ की गढत है, जो बोलियो के छोटे-छोटे भेदो को, और आसाम, बगाल और बरमा के सरहद की पहाडी जातियो की हर एक बोली को गिन लेते हैं, चाहे वह बोली कुछ सौ या हजार लोगो की ही बोली हो। इन सैकडो की गिनती करानेवाली भाषाओ मे से ज्यादातर हिंदुस्तान के पूरबी सरहदी या बरमा के सरहदी इलाक़ो की बोलिया हैं। जो तरीका मर्दुमशुमारी के कमिश्नरो ने अख्तियार किया है, उसीकी नक़ल की जाय, तो यूरोप मे सैकडो भाषाए निकलेंगी, और जर्मनी मे मेरा खयाल है, साठ बताई गई हैं।

[1] ई० एच० जॉन्स्टन के अश्वघोष के 'बुद्ध-चरित' (लाहौर, १९३६) के अनुवाद से।

हिंदुस्तान मे जबान के मसले का इस विविधता से कोई ताल्लुक नही। यह मसला हिंदी-उर्दू का है, यानी एक जबान का, जिसके दो साहित्यिक रूप हैं और जिनकी दो लिपिया हैं। बोली मे दोनो मे शायद ही ज्यादा फर्क हो, लिखने मे, खासतौर से साहित्यिक शैली मे, यह भेद बढ़ जाता है। इस भेद को कम करने की ओर एक आम सूरत, जिसे हिंदुस्तानी कहते हैं, पैदा करने की भी कोशिशें हुई हैं, और अब भी जारी हैं। और यह आम जबान की शक्ल में, जो सारे हिंदुस्तान मे समझी जा सके, तरक्की कर रही है।

(पश्तो, जो सस्कृत से निकली हुई भारतीय आर्य-भाषाओ में से एक है, पच्छिमोत्तर के सरहदी सूबे की जबान है, और अफगानिस्तान की भी। इसपर हमारी दूसरी भाषाओ के मुकाबले मे फारसी का ज्यादा असर पड़ा है। इस सरहदी इलाके मे, गुजरे जमाने मे बहुत-से ऊचे दर्जे के विचारक, विद्वान और सस्कृत के वैयाकरण हो गये हैं।)

लका की भाषा सिंहली है। यह भी सस्कृत से निकली हुई एक भारतीय-आर्य भाषा है। सिंहली लोगो ने अपना धर्म, यानी बौद्ध-धर्म ही हिंदुस्तान से नहीं लिया है, बल्कि वे जाति और भाषा मे भी हिंदुस्तानियो से मिले हुए है।

अब यह बात पूरी तरह से मानी जा चुकी है कि सस्कृत का यूरोप की पुरानी प्रतिष्ठित और आज की भाषाओ से मेल है। स्लाव भाषा तक मे बहुत-से मूल शब्द सस्कृत से मिलते हैं। सस्कृत से सबसे निकट की यूरोपीय भाषा लिथुआनियन है।

१० : बौद्ध-दर्शन

कहा जाता है कि बुद्ध ने उस प्रदेश की आम भाषा का इस्तेमाल किया, जिसमे वह रहते थे और यह प्राकृत थी, जो सस्कृत से निकली थी। सस्कृत वह जानते थे, इसमे कोई शक नही, लेकिन वह जनता तक पहुचने के लिए आम भाषा मे बोलना पसद करते थे। इस प्राकृत से शुरू के बौद्ध धर्म-ग्रथो की भाषा पाली का विकास हुआ। बुद्ध की बातचीत और कथाए और वाद-विवाद उनके मरने के बाद पाली मे लिखे गये और यह लका, बरमा और स्याम, जहा हीनयान बौद्ध-मत का प्रचार है, के बौद्ध-धर्म का आधार है।

बुद्ध के कोई सैकडो साल बाद हिंदुस्तान मे सस्कृत फिर जगी और बौद्ध विद्वानो ने अपने फिलसफे के और दूसरे ग्रथ सस्कृत मे लिखे। अश्वघोष की रचनाए और नाटक (जो हमारे सबसे पुराने नाटक हैं), जिनका मकसद बौद्ध-धर्म का प्रचार रहा है, सस्कृत मे हैं। हिंदुस्तान के बौद्ध पडितो की ये रचनाए, चीन, जापान, तिब्बत और मध्य-एशिया तक पहुची, जहा बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का प्रचार रहा है।

[जिस युग मे बुद्ध का जन्म हुआ, वह हिंदुस्तान के लिए बडे मानसिक मथन और दार्शनिक सोच-विचार का जमाना था। और यह बात हिंदुस्तान तक ही महदूद न थी, क्योंकि यही जमाना लाओ-त्से और कनफूशस का और जरयुष्ट्र और पाइथागोरस का जमाना था। हिंदुस्तान मे इसने भौतिकवाद को भी जन्म दिया और भगवद्गीता को भी, बौद्ध-मत को भी और जैन-मत को भी, और दूसरी बहुत-सी विचार-धाराओ को, जो बाद मे हिंदुस्तानी दर्शन के अलग-अलग वर्गों मे प्रकट हुई। विचारो की अनेक तहे थी—एक-दूसरे मे मिली हुई और कभी एक-दूसरे पर चढी हुई।] बौद्ध-धर्म के साथ-साथ विभिन्न दर्शनो का विकास हुआ और खुद बौद्ध-धर्म मे ऐसे भेद पैदा हुए, जिनसे विचार के अलग-अलग वर्ग कायम हो गये। फिलसफियाना सोच-विचार धीरे-धीरे घटा और उसकी जगह लोग पडिताऊ बहस-मबाहसे मे पड गये।

कि जो अच्छी बातें और लोग कह गये थे, उन्हें उन्होने नये रूप मे ढाला, उनका विस्तार किया, उन्हे प्रतिष्ठित और कर्मबद्ध किया और यह कि जिन न्याय और बराबरी के सिद्धातो को पहले ही खास-खास हिंदू विचारको ने माना था, उनको उन्होंने तर्क के आधार पर अतिम परिणाम तक पहुचाया। इनमे और दूसरे उपदेशको मे फर्क यह था कि इनमे ज्यादा गहरी लगन और लोक-हित की विशाल भावना थी।"[1]

फिर भी अपने ज़माने के परपरा से आनेवाले धर्म के चलन के खिलाफ बुद्ध ने विद्रोह के बीज बोये। उनके सिद्धात या फिलसफे का विरोध नही हुआ—क्योंकि कट्टर धर्म का पालन करते हुए भी किसी ऐसे विचार के, जिसकी हम कल्पना कर सकते हैं, सिद्धात के रूप मे प्रतिपादन मे बाधा न थी—बल्कि समाज की ज़िंदगी और सगठन मे जो उन्होंने दख़ल दिया, उसका विरोध हुआ। पुराने तरीके मे बडी आज़ादी और विचारो का लचीलापन था, हर एक तरह के मत की गुजाइश थी, लेकिन अमल के मामले मे उसमे कडाई थी और चलन को तोडना पसद न किया जाता था। इसलिए लाज़िमी तौर पर बौद्ध-धर्म पुराने विश्वास से अलग-थलग जा पडा और बुद्ध के मरने के बाद यह खाई आर भी चौड़ी हो गई।

शुरू के बौद्ध-धर्म की ज्यों-ज्यों अवनति हुई, त्यो-त्यो उसके महायान रूप ने तरक्क़ी की, पुराना रूप हीनयान कहलाता था। इसी महायान पथ मे बुद्ध को ईश्वर का पद दिया गया और साकार ईश्वर के रूप मे उनकी उपासना शुरू हुई। बुद्ध की मूर्त्ति भी पच्छिमोत्तर के यूनानी प्रदेश मे दिखाई पडने लगी। लगभग इसी वक्त हिंदुस्तान मे ब्राह्मण-धर्म फिर से जगा और साथ-साथ सस्कृत के अध्ययन ने ज़ोर पकडा। हीनयान और महायान पथो के बीच तीखे विवाद हुए और दोनो के बीच शास्त्रार्थ और आपस का विरोध बाद के इतिहास मे बराबर मिलता है। हीनयानवाले देश (लका, बरमा, स्याम) अब भी चीन और जापान मे प्रचलित बौद्ध-धर्म को हिकारत से देखते है और मेरा खयाल है कि दूसरी तरफ से भी इस जज्बे का जवाब मिलता है।

हीनयान ने, कुछ हद तक, सिद्धात की पुरानी पवित्रता क़ायम रखी, और उसे पाली मे एक नियम के अतर्गत कर लिया, लेकिन महायान सभी दिशाओ मे फैला, सभी तरह के विश्वासो के लिए रवादारी बरती और हर एक देश के खास नजरिये के अनुसार अपने को ढाल लिया। हिंदुस्तान मे यह आम धर्म के निकट आने लगा। हर एक और मुल्क—चीन, जापान,

[1] यह उद्धरण, और बहुत-कुछ और बातें, डॉ एस० राधाकृष्णन् की 'इंडियन फिलासफी' (जार्ज ऐलेन एड अनविन, लदन, १९४०) से ली गई हैं।

शिक्षा में—इसका विकास अलग-अलग ढंग से हुआ। कुछ शुरू के बहुत बड़े बौद्ध विचारकों ने आत्मा के बारे में बुद्ध के रुख का, यानी न उससे इन्कार करना और न इकरार करना, छोड़ दिया और उन्होंने साफ-साफ आत्मा से इन्कार किया।

अनेक प्रतिभाशाली लोगों में नागार्जुन की एक खास जगह है और उसकी गिनती उन सबसे बड़े दिमागी लोगों में है, जिन्हें हिंदुस्तान ने पैदा किया है। यह कनिष्क के जमाने में, ईसवी संवत के शुरू के लगभग हुआ और महायान सिद्धांतों के प्रतिपादन की खास जिम्मेदारी इसीकी है। उसके विचारों में अद्भुत बल और साहस है और ऐसे नतीजों तक पहुंचने में उसे जरा भी संकोच नहीं होता, जो ज्यादातर लोगों के लिए नागवार और चौंका देनेवाले होंगे। अपने विवेचन में वह निष्ठुर तर्क के साथ लगता है, यहांतक कि उसे अपने विश्वासों से इन्कार करना पड़ जाता है। विचार अपने को जान नहीं सकता और अपने से बाहर जा नहीं सकता, यानी दूसरे को जान नहीं सकता। इस विश्व से बाहर कोई ईश्वर नहीं, और ईश्वर से अलग कोई विश्व नहीं, और दोनों ही दिखावट-मात्र हैं। और इसी तरह यह दलील करता रहता है, यहांतक कि कुछ बच नहीं रहता, सत्य और असत्य के बीच कोई फर्क नहीं रह जाता, किसी चीज को समझने की या उसके बारे में ग़लतफ़हमी की संभावना नहीं रह जाती, क्योंकि जो अवास्तविक है, उसके बारे में ग़लतफ़हमी ही क्या हो सकती है? कोई चीज वास्तविक नहीं है। दुनिया का वजूद देखने-भर का है; यह गुणों और सबबों का एक आदर्शवादी क्रम है, जिसमें हमने विश्वास बना रखा है, लेकिन जिसको हम बुद्धि से व्याख्या नहीं कर सकते। लेकिन इस सब अनुभव के पीछे वह किसी वस्तु—परम सत्ता—का संकेत करता है, जो हमारी विचार की ताकत से परे है, क्योंकि जब हम उस पर विचार करने लगते हैं, तब वह सापेक्ष हो जाता है।[1]

[1] रूस की अकादेमी ऑव साइंसेज के प्रोफेसर टी० शेरबात्सकी ने अपनी पुस्तक 'दि कन्सेप्शन ऑव बुद्धिस्ट निर्वाण' (लेनिनग्राद, १९२७) में यह सुझाव दिया है कि नागार्जुन को 'संसार के बड़े फिलसूफ़ों में' जगह मिलनी चाहिए। वह उसकी 'अद्भुत शैली' का उल्लेख करते हैं, जो हमेशा दिलचस्प, साहसपूर्ण, हैरान करनेवाली और कभी-कभी देखने में 'उद्दंड' है। वह नागार्जुन के विचारों का हीगेल और ब्रैडले के विचारों से मुक़ाबला करते हैं—"इस तरह नागार्जुन के नकारवाद में और मि० ब्रैडले (जो हमारी रोजमर्रा की दुनिया की क़रीब-क़रीब सभी धारणाएं, वस्तुएं, गुण, संबंध, देश और काल,

परम सत्ता को बौद्ध फिलसफे मे शून्यता कहकर बताया गया है, लेकिन यह हमारे असत् या कुछ न होने की धारणा से बिलकुल जुदा चीज है। अपने अनुभव की दुनिया मे हम उसे शून्यता इसलिए कहते हैं कि उसके लिए कोई दूसरा शब्द नही है, लेकिन आधिभौतिक सत्य की परिभाषा मे यह कुछ ऐसी वस्तु है, जो सबसे परे और सबमें व्याप्त है। (एक मशहूर बौद्ध विद्वान ने कहा है—"शून्यता के कारण ही सब बातें सभव होती हैं, बिना इसके दुनिया मे कुछ भी सभव नही।")

इन सबसे पता चलता है कि आधिभौतिकवाद हमे कहा पहुचा सकता है और इस तरह के विचारो के पीछे पडने के खिलाफ आगाह करके बुद्ध ने कितनी अक्लमदी की थी। फिर भी इन्सानी दिमाग अपने को कैद मे रखने से इन्कार करता है और ज्ञान के उस फल की तरफ हाथ बढाता रहता है, जिसे वह अच्छी तरह से जानता है कि वह उसकी पहुच के बाहर है। बौद्ध फिलसफे मे आधिभौतिकवाद भी आया, लेकिन इसके विषय को देखने का ढग मनोवैज्ञानिक था। मन की मनोवैज्ञानिक स्थितियो की सूझ-बूझ देखकर भी अचरज होता है। आजकल के मनोविज्ञान के अवचेतन मन की यहा स्पष्ट धारणा है और उसका विवेचन भी हुआ है। मेरा ध्यान एक पुरानी पुस्तक के एक असाधारण अश पर दिलाया गया है। यह एक तरह से आजकल के

परिवर्तन, कार्य-कारण-संबंध, गति और आत्मा का खडन करते हैं), मे और उसमे बडा अद्भुत साम्य है। हिंदुस्तानी दृष्टिकोण से ब्रैडले को सच्चा माध्यमिक कहा जा सकता है। लेकिन इन सब मुक़ाबलो से ऊपर उठकर हम शायद हीगेल और नागार्जुन के तर्क के तरीक़े मे ऐसी समानता पायेंगे, जो एक ही कुल के लोगो मे मिलती है।" शेरबात्सकी ने बौद्ध फिलसफे की कुछ पद्धतियों और जमाने हाल के विज्ञान के नजरिये मे भी कुछ समानताए बताई हैं, खासतौर पर 'एट्रोपी' के नियम के अनुसार विश्व की अतिम हालत की कल्पना के बारे मे। उन्होंने एक दिलचस्प घटना बताई है, जब सोवियत ट्रास-बैकालिया मे ब्यूरियतो का नया-नया 'गणराज्य' बना, तब वहा के शिक्षा-विभाग के अधिकारियों ने धर्म-विरोधी प्रचार करते हुए यह बताया कि इस जमाने का विज्ञान विश्व को पदार्थवाद के नजरिये से देखता है। गणराज्य के बौद्ध भिक्षुओं ने, जो महायानी थे, एक पैंफलेट छापकर यह जवाब दिया कि पदार्थवाद से वे नावाक़िफ नहीं हैं, बल्कि दरअसल उनके फिलसफे की एक पद्धति ने पदार्थवाद के सिद्धात का निरूपण किया है।

प्रोफेसर शेरबात्सकी, जो इस विषय के अधिकारी विद्वानों में हैं, कई भाषाओं के (जिनमे तिब्बती भाषा भी है) मूल पाठो को जांचने

'ईडिपस कम्प्लेक्स' के सिद्धांत की याद दिलाता है, अगरचे प्रतिपादन का ढंग बिलकुल जुदा है।'

बौद्ध-धर्म से फिसलफे की चार निश्चित पद्धतिया निकली, इनमें से दो हीनयान शाखा मे थी और दो महायान शाखा मे। इन सभी बौद्ध-दर्शन या फिलसफे की पद्धतियो का मूल उपनिपदो मे है, लेकिन ये वेदो को प्रमाण नही मानते। वेदो से इन्कार ही एक खास बात है, जो इन्हे उसी जमाने के तथाकथित हिंदू फिलसफो से जुदा करती है। ये तथाकथित हिंदू फिलसफे वेदो को आमतौर पर मानते है और एक तरह से उनकी तरफ श्रद्धा के भाव दिखाते हैं, लेकिन ये वेदो को ऐसा नही समझते कि उनसे कोई ग़लती नही हो सकती और दरअसल बिना वेदो का खयाल किये हुए अपनी राह चलते हैं। चूकि वेदो और उपनिपदो मे अनेक तरह से बातें कही गई हैं, इसलिए बाद के विचारको के लिए यह हमेशा सभव रहा है कि औरो को छोडकर किसी एक पहलू पर ज्यादा ज़ोर दें और उसीकी बुनियाद पर अपनी पद्धति का निर्माण करे।

प्रोफेसर राधाकृष्णन् ने बौद्ध-विचार के विकास-क्रम को, जिस रूप मे वह चार पद्धतियो मे प्रकट हुआ, इस तरह बताया है—यह द्वैतात्मक आधिभौतिकवाद से शुरू होता है और ज्ञान को वस्तुओ का प्रत्यक्ष बोध मानता है। दूसरी सीढी यह है कि विचार वस्तुओ के बोध का माध्यम बन जाते हैं, और

के बाद कहते हैं कि शून्यता सापेक्षता है। हर एक चीज सापेक्ष और परस्पराश्रित होने की वजह से ऐसी है कि उसकी निजी सत्ता नहीं, इसलिए वह शून्य है। दूसरी तरफ इस दिखनेवाली दुनिया से बिलकुल परे और इसको भी लिये हुए कोई वस्तु है, जिसे परम सत्ता समझ सकते हैं और चूंकि इसकी कल्पना नहीं हो सकती, या इसका ऐसे शब्दों में बयान नहीं हो सकता, जो सीमित और इस दिखनेवाली दुनिया के हैं, इसलिए इसे 'तथ्यता' कहा गया है। इसी परम सत्ता को शून्यता कहा गया है।

' यह वसुबधु के 'अभिधर्मकोश' मे आया है, जो पांचवीं सदी ईस्वी मे लिखा गया था और जिसमें और पहले के मत और परपराए इकट्ठी की हुई हैं। मूल सस्कृत अप्राप्य है, लेकिन उसके चीनी और तिब्बती भाषा मे तरजुमे मौजूद हैं। चीनी तरजुमा प्रसिद्ध यात्री ह्वेनत्साग का किया हुआ है, जो हिंदुस्तान मे आया था। इस चीनी तरजुमे से फ्रान्सीसी मे एक अनुवाद हुआ है (पेरिस-लूवेन, १९२६)। मेरे सहयोगी और क़ैद के सगी आचार्य नरेन्द्रदेव इस पुस्तक का फ्रान्सीसी से हिंदी और अंग्रेजी मे अनुवाद कर रहे हैं, और उन्होंने इस अंश पर मेरा ध्यान दिलाया। यह तीसरे अध्याय मे है।

बुद्ध ने कायम-शुदा समाजी या आर्थिक निजाम को तोडने का दावा कभी नही किया। उन्होने उसकी बुनियादी मान्यताओ को कुबूल किया और अगर हमले किये, तो महज उन बुराइयो पर, जो उनके चारो ओर इकट्ठा हो गई थी। फिर भी वह कुछ हद तक समाज मे इन्कलाब पैदा करने के काम मे लगे थे, इसीलिए ब्राह्मण-वर्ग, जो उस जमाने के मौजूदा चलन को जारी रखना चाहता था, उनसे नाराज हो गया। बुद्ध की शिक्षा मे कोई भी बात ऐसी नही है, जिसे विचारो के विस्तीर्ण क्षेत्र मे बिठाया न जा सके। लेकिन चूकि ब्राह्मणो के अधिकार पर हमला हुआ था, इसीलिए बात ही दूसरी पैदा हो गई थी।

यह एक दिलचस्प बात है कि बौद्ध-धर्म ने पहले मगध मे जड पकडी; यह उत्तरी हिंदुस्तान का वह हिस्सा था, जहा ब्राह्मण-धर्म कमजोर था। रफ्ता-रफ्ता यह पच्छिम और उत्तर मे फैला और बहुत-से ब्राह्मण भी इसमें शरीक हुए। सबसे पहले यह खासतौर पर क्षत्रियो का आदोलन था, लेकिन आम जनता को भी पसद आनेवाला था। सभवत ब्राह्मणो की वजह से ही, जो इसमे बाद मे शरीक हुए, फिलसफे और अध्यात्मवाद की दिशाओ मे इसका विकास हुआ। यह भी मुमकिन है कि ब्राह्मण-बौद्धो की वजह से ही इसके महायान मत का विकास हुआ, क्योंकि कुछ मामलों मे, और खासकर अपनी रवादारी और विविधता मे, यह उस जमाने के आर्य-धर्म से ज्यादा मिलता-जुलता था।

बौद्ध-धर्म ने सैकडो तरीको से हिंदुस्तानी जिदगी पर असर डाला। और यह लाजिमी भी था, क्योकि इसे याद रखना चाहिए कि एक हजार वर्ष तक यह एक जीता-जागता, शक्तिशाली और हिंदुस्तान मे दूर-दूर तक फैला हुआ मजहब था। उस लबे जमाने मे भी, जब इसका ह्रास हो रहा था, और जब एक अलग धर्म की शक्ल मे यहा इसका वजूद न रहा, इसका बहुत अग हिंदू-धर्म और कौमी जिदगी और विचार के तरीको का अग बन गया और अगरचे आखिरकार आम लोगो ने इसे धर्म के रूप मे मानना छोड दिया, इसकी अमिट छाप बनी रही और उसने कौमी तरक्की पर असर डाला। इस स्थायी असर का धार्मिक विश्वास, फिलसफे के सिद्धात, या इस तरह की बातो से कोई ताल्लुक न था। यह बुद्ध और उनके धर्म का नैतिक और सामाजिक और अमली आदर्शवाद था, जिसने हमारी जनता को प्रभावित किया और उस पर अपनी अमिट छाप डाली, उसी तरह, जिस तरह कि ईसाई-धर्म के नैतिक आदर्शों ने यूरोप पर असर डाला, चाहे उसने उसके धार्मिक विश्वासो पर ज्यादा ध्यान न दिया, और इस्लाम के इन्सानी,

समाजी और अमली नजरिये ने बहुत-से ऐसे लोगो पर असर डाला, जिनका उसके धार्मिक रूपो और विश्वासो के लिए आकर्षण न था।

हिंदुस्तान मे आर्य-धर्म खासतौर पर एक कौमी मजहब था, जो इस देश तक महदूद था, और जो समाजी जात-पात की व्यवस्था यहा पर तरक्की कर रही थी, उसने इस पहलू पर जोर दिया। इसने धर्म-प्रचार की कोशिशें नही की। धर्म-परिवर्तन का यहा कोई सवाल न उठता था और न हिंदुस्तान की सरहद से पार इसकी निगाह ही जाती थी। हिंदुस्तान के भीतर इसकी गति का अपना खास तरीका था, जिसमे उग्रता न थी और जो अचेतन ढग से नये और पुराने आनेवालो को अपने मे जज्ब करता रहा और अकसर उनकी नई जाते बना देता रहा। उन दिनो के लिए, बाहरी दुनिया के प्रति, इस तरह का रुख स्वाभाविक था, क्योकि आने-जाने मे दिक्कते थी और विदेशियो से सपर्क की जरूरत शायद ही होती थी। इसमे शक नही कि व्यापार और धधो के लिए सपर्क कायम थे, लेकिन उनसे हिंदुस्तान की जिदगी और तरीको मे कोई फर्क नही पैदा होता था। हिंदुस्तानी जिदगी का समुदर अपने में भरा-पूरा था और इतना काफी बडा और विविध था कि उसमे तरह-तरह की मौजो के उठने की पूरी गुजाइश थी। उसमे आत्म-चेतना थी और वह अपने मे ही गर्क रहनेवाला था और उसे इस बात की परवाह न थी कि उसकी सरहदो के बाहर क्या हो रहा है। इस समुदर के बीचो-बीच एक ऐसा सोता फूट निकला, जिससे ताजे और नितरे हुए पानी की धार वह चली, जो पुरानी सतह को चचल करती हुई बढकर सैलाब बन गई और इसने उन पुरानी सरहदो और रुकावटो की परवाह न की, जिन्हे इन्सान और कुदरत ने खडा कर रखा था। बुद्ध की शिक्षा की इस धार मे कौम के लिए उपदेश था, लेकिन यह उपदेश कौम तक के लिए ही नही था। यह भले आचरण मे लगने के लिए एक ऐसी पुकार थी, जिसने वर्ग, जात-पात या कौम की बदिशे न मानी।

उनके जमाने के हिंदुस्तान के लिए यह एक नया नजरिया था। अशोक पहला व्यक्ति था, जिसने दूतो और प्रचारको को विदेशो मे भेजकर इतने बडे पैमाने पर यह काम किया। इस तरह से हिंदुस्तान को और दुनिया के बारे मे चेतना शुरू हुई, और शायद ज्यादातर यही चीज थी, जिसने ईस्वी सवत की शुरू की सदियो मे उसे उपनिवेशो के कायम करने मे बडे-बडे साहसी काम करने के लिए उकसाया। समुद्र-पार के इन धावो का सगठन हिंदू राजाओ ने किया था और ये अपने साथ ब्राह्मण-व्यवस्था और आर्य-सस्कृति ले गये थे। एक ऐसे धर्म और सस्कृति के लिए, जिसने अपने भीतर धीरे-धीरे तरह-तरह के वर्ण-भेद कायम कर रखे थे, यह एक असाधारण विकास

था। किसी बडी ज़ोरदार प्रेरणा या बुनियादी नज़रिये की तबदीली से ही यह बात पैदा हो सकती थी। मुमकिन है यह प्रेरणा कई कारणो से हुई हो और बडी वजहे इनमे व्यापार और फैलते हुए समाज की ज़रूरतें रही हो, लेकिन नज़रिये की यह तब्दीली, एक अश में, बौद्ध-धर्म और उसने जो विदेशो से सपर्क स्थापित कर लिये थे, उनके कारण भी हुई। उस वक्त हिंदू-धर्म में इतनी काफी स्फूर्ति और गति मौजूद थी, लेकिन इससे पहले उसने विदेशो की ओर उतना ध्यान नही दिया था। नये धर्म की सार्वभौमिकता के जो नतीजे हुए, उनमे एक यह भी था कि इस बडी स्फूर्ति को दूर देशो तक पहुंचने के लिए प्रोत्साहन मिला।

वैदिक-धर्म और धर्म के ज्यादा आम रूपो के साथ जो कर्म-काड और पूजा-पाठ का रिवाज लगा हुआ था, वह लुप्त हो चुका था, खासतौर पर पशुओ की बलि की प्रथा उठ चुकी थी। अहिंसा के विचार पर, जो वेदो और उपनिषदो मे पहले से ही मौजूद था, बौद्ध-धर्म ने, और उससे भी ज्यादा जैन-धर्म ने, ज़ोर दिया। ज़िदगी के लिए एक नया आदर और जानवरो की तरफ दया का भाव पैदा हो गया। और इन सबके पीछे नेक ज़िदगी, ऊचे प्रकार की ज़िदगी, बिताने का विचार रहा।

बुद्ध ने तपस्या के नैतिक मूल्य से इन्कार किया था, लेकिन उनकी शिक्षा का सारा असर ज़िदगी की तरफ निराशावाद का था। यह खासतौर से हीन-यान का रुख था और जैनियो का इससे भी बढकर था। परलोक, मुक्ति और दुनिया के बोझ से छुटकारा पाने पर ज़ोर दिया जाता था। ब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन मिला और शाकाहार बढा। ये सभी विचार हिंदुस्तान मे बुद्ध से पहले मौजूद थे, लेकिन इन पर इतना ज़ोर नही दिया गया था—पुराने आर्य-आदर्श का ज़ोर भरी-पूरी और बहुमुखी ज़िदगी पर था। विद्यार्थी अवस्था ब्रह्मचर्य और सयम के लिए थी, गृहस्थ ज़िदगी के धधो मे अच्छी तरह हिस्सा लेता था और भोग को उसका अग समझता। इसके बाद रफ्ता-रफ्ता उससे खिचाव पैदा होता और लोक-सेवा और आत्मा की उन्नति की तरफ ज्यादा ध्यान जाता। ज़िदगी की सिर्फ आखिरी मज़िल, जब वृद्धावस्था आ जाती, ज़िदगी के साधारण कामो और रागो से पूरे तौर पर खिचने और सन्यास के लिए होती।

पहले तपस्या की तरफ झुकाव रखनेवाले लोग छोटे-छोटे गुटो मे जगलो मे आश्रम बनाकर रहा करते थे और विद्यार्थी आकर्षित होकर उनके यहा जाते थे। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ बडे-बडे मठ—भिक्खुओ और भिक्खुनियो के—सब जगह बन गये और लोग इनमे खिचकर बराबर जाने

लगे। विहार के सूबे का नाम ही विहार या मठ से बना है, जिससे पता चलता है कि इस बड़े प्रदेश में कितने मठ रहे होगे। इन मठों में शिक्षा का भी इतजाम हुआ करता था और कुछ का सबंध विद्यालयो और कभी-कभी विश्वविद्यालयो या विद्यापीठो से था।

न सिर्फ हिंदुस्तान मे, बल्कि सारे मध्य-एशिया मे, बहुत-से बड़े-बड़े बौद्ध-मठ क़ायम थे। एक मशहूर मठ बलख मे था, जिसमे एक हज़ार भिक्खु रहते थे और इसके बहुत-से उल्लेख मिलते हैं। इसका नाम नव-विहार या नया मठ था, जिसका फारसी रूप नौ-बहार हो गया।

यह क्या बात है कि हिंदुस्तान में बौद्ध-धर्म का नतीजा यह हुआ कि और देशो के मुकाबले मे, जहा यह लबी मुद्दतो तक कायम रहा, जैसे चीन, जापान, और बरमा मे—यहा परलोकवाद की ज्यादा तरक्की हुई? मैं नही जानता, लेकिन मेरा खयाल है कि हर एक देश की पृष्ठभूमि इतनी काफी मजबूत रही है कि धर्म को अपने ही रूप मे ढाल ले। मिसाल के लिए चीन मे कनफ़ूशस और लाओ-त्से और दूसरे फिलसफो की ज़बरदस्त परपराए रही हैं। और फिर चीन और जापान ने बौद्ध-धर्म का महायानी रूप क़बूल किया, जो हीनयान के मुकाबले मे कम निराशावादी था। हिंदुस्तान पर जैन-धर्म का भी असर पड़ा, जो इन सब सिद्धातो और फिलसफों से ज्यादा परलोकवादी और ज़िंदगी से इन्कार करनेवाला रहा है।

हिंदुस्तान और उसके सामाजिक सगठन पर बौद्ध-धर्म का एक और बड़ा अजीब असर पड़ा मालूम देता है, ऐसा असर, जो उसके सारे नज़रिये का विरोधी है। वह है जात-पात सबंधी, जिसको उसने पसद न किया, लेकिन फिर भी जिसकी मूल बुनियाद को इसने क़बूल कर लिया।

बुद्ध के ज़माने मे वर्ण-व्यवस्था लचीली थी और इसमे उतनी कट्टरता नही आई थी, जितनी बाद के ज़माने मे आ गई। (जन्म से ज्यादा योग्यता, चरित्र और काम पर ज़ोर दिया जाता था। खुद बुद्ध ने अकसर ब्राह्मण शब्द का उपयोग योग्य, उत्साही और सयमी आदमी के लिए किया है।) छादोग्य उपनिषद् मे एक मशहूर कहानी है, जिससे जात-पात और स्त्री-पुरुष के संबंध को उस ज़माने मे कैसा समझा जाता था, इस पर रोशनी पड़ती है।

यह सत्यकाम की कथा है, जिसकी माता जबाला थी। सत्यकाम गौतम ऋषि (बुद्ध नही) के यहा विद्या सीखना चाहता था और जब वह

घर से चलने लगा, तब उसने अपनी मा से पूछा—"मैं किस गोत्र का हू ?" उसकी मा ने उससे कहा—"बेटा मैं नही जानती कि तू किस वश का है। अपनी युवावस्था मे, जब मैं अपने पिता के घर मे आये हुए बहुत से अतिथियो की सेवा मे रहती थी, उस समय तू मेरे गर्भ मे आया। मैं नही जानती तू किस गोत्र का है। मेरा नाम जबाला था, तू सत्यकाम है। अपने को सत्यकाम जाबाल बताना।"

इसके बाद सत्यकाम गौतम के यहा गया और ऋषि ने उसके वश का पता पूछा। उसने जैसा उसकी मा ने बताया था, कह दिया। इस पर ऋषि ने कहा—"सच्चे ब्राह्मण को छोडकर दूसरा कोई इस तरह साफ-साफ नही कह सकता। जाओ बस लकडी बीन लाओ। मैं तुम्हे दीक्षा दूगा। तुम सत्य से डिगे नही।"

शायद बुद्ध के ज़माने मे ब्राह्मण-वर्ग के लोगो मे ही कमोबेश कट्टरता आई थी। क्षत्रिय अपने कुल और परपरा का अभिमान करते थे, लेकिन जहा-तक वर्ग की बात थी, उनके दरवाज़े उन सब व्यक्तियो और कुलो के लिए खुले हुए थे, जो शासक बन बैठे। उन्हे छोडकर ज्यादातर लोग वैश्य थे, जो किसानी करते थे और यह पेशा बडे आदर का पेशा समझा जाता था। दूसरी पेशेवर जातें भी थी। अजाती कहलानेवाले लोग, जान पडता है, बहुत थोडे थे, शायद कुछ जगली लोग थे और कुछ ऐसे लोग थे, जिनका पेशा मुर्दों को जलाना, फेकना आदि था।

जैन और बौद्ध-धर्म ने जो अहिंसा पर ज़ोर दिया, उसका नतीजा यह हुआ कि खेत जोतना एक नीचा धधा समझा जाने लगा, क्योकि इससे अकसर जीव-हत्या होती थी। यह पेशा, जो भारतीय-आर्यों के गर्व करने का पेशा था, देश के कुछ हिस्सो मे गिरा हुआ समझा जाने लगा, बावजूद इसके कि इस पेशे का एक बुनियादी महत्त्व था, और जो लोग खेती करते, उनकी प्रतिष्ठा घट गई।

इस तरह से बौद्ध-धर्म, जो पुरोहिताई और कर्म-काड के खिलाफ और आदमी को गिराने और उसे ऊंची ज़िदगी से वचित रखने के खिलाफ़ एक विद्रोह के रूप मे उठा था, खुद, अनजाने मे, बहुत बडी सख्या मे किसानो की पस्ती का कारण बन गया। बौद्ध-धर्म को इसके लिए ज़िम्मेदार ठहराना ठीक न होगा, क्योकि दूसरी जगहो मे इसका ऐसा कोई असर न पडा। वर्ण-व्यवस्था के भीतर ही कुछ ऐसी बात थी, जो इसे इस दिशा मे ले गई। जैन-धर्म ने उसे अहिंसा के उत्साह मे इधर ढकेला—और बौद्ध-धर्म ने अनजाने मे इस क्रिया में मदद पहुचाई।

१२ : हिंदू-धर्म ने बौद्ध-धर्म को क्योंकर अपने में मिला लिया ?

आठ या नौ साल हुए, जब मैं पेरिस मे था, मेरी और अपनी बात-चीत के शुरू मे ही, आंद्रे मालरो ने मुझसे एक अजीब सवाल किया। उन्होंने मुझसे पूछा—"वह कौनसी ताक़त थी, जिसकी वजह से एक हजार वर्ष पहले हिंदू-धर्म ने बिना किसी बडे सघर्ष के सगठित बौद्ध-धर्म को हिंदुस्तान से बाहर ढकेल दिया? हिंदू-धर्म एक बडे और फैले हुए लोकप्रिय धर्म को, बिना धर्म के नाम पर लडी गई उस तरह की लडाइयो के, जिन्होंने और देशो के इतिहास को काला किया है, क्योकर एक तरह से अपने मे जज्ब कर लेने में कामयाब हुआ? कौनसी भीतरी ताकत या जीवनी-शक्ति हिंदू-धर्म में उस वक्त थी, जिससे वह यह अद्भुत काम कर सका? और क्या हिंदुस्तान मे आज भी वह जीवनी-शक्ति और भीतरी ताकत मौजूद है? अगर है, तो उसकी आजादी को कोई रोक नही सकता और उसका बडप्पन निश्चय है।"

यह सवाल शायद ऐसा था, जो एक फ्रान्सीसी विचारक के लिए, जो काम के मैदान का भी आदमी था, उपयुक्त ही था। फिर भी यूरोप या अमरीका मे बहुत कम लोग ऐसे होंगे, जो इस तरह की बातो मे उलझें, उनके सामने तो मौजूदा ज़माने के ही न जाने कितने मसले ग़ौर करने के लिए होगे। आज की दुनिया के ये झमले मालरो के सामने भी थे और अपने शक्तिशाली और विश्लेषण करनेवाले दिमाग़ के जरिये वह उन मसलो पर रोशनी हासिल करने की कोशिश मे रहते थे, वह रोशनी चाहे गुज़रे ज़माने से मिले, चाहे मौजूदा ज़माने से—और इसे वह विचार से, बातचीत से, लेखो से, या सबसे बढकर काम से, जिंदगी और मौत के खेल के मैदान से, हासिल करने की कोशिश मे रहते।

स्पष्ट है कि मालरो के लिए यह केवल एक सैद्धातिक सवाल नही था। यह उनके दिमाग़ मे फिर रहा था और छूटते ही उन्होंने मुझसे यह सवाल किया। यह मेरी पसद का सवाल था, या ऐसा सवाल था, जो मेरे मन मे भी उठता रहा है। लेकिन इसका मेरे पास मालरो के लिए या खुद अपने लिए कोई जवाब न था। जवाबो और व्याख्याओ की कमी नहीं है, लेकिन वे ऐसी हैं कि सवाल के मूल तक नही पहुचती।

यह साफ़ है कि हिंदुस्तान मे बौद्ध-धर्म का बडे पैमाने पर या जुल्म के साथ दमन नही किया गया। कभी-कभी मुकामी झगडे, या किसी हिंदू शासक और बौद्ध-सघ या भिक्खुओ के सगठन के बीच, जो बडा शक्तिशाली


उद्यान
कपिशा
गांधार
हूण
अर्जुनायन
गुर्जर
मालवा
मथुरा
अयोध्या
कान्यकुब्ज
तिराभुक्ति
भूटान
कामरूप
दसपुर
वाराणसी
हरिकेल
सुराष्ट्र
वाकाटक
कलिंग
आन्ध्र
पूणक
कदम्ब
दक्षिण जलनिधि (हिंदमहासागर)
बंगाल की खाड़ी

गुप्तकालीन भारत

हो गया था, संघर्ष हो जाते थे। इन झगडो के मूल मे अक्सर राजनैतिक बातें होती थी और इनसे कोई ज्यादा फर्क होता-जाता न था। यह भी एक ध्यान रखने की बात है कि हिंदू-धर्म को बौद्ध धर्म ने कभी भी बिलकुल ही हटा दिया हो, ऐसा न था। जिस समय कि बौद्ध-धर्म की सबसे ज्यादा तरक्की हुई, उस समय भी हिंदू-धर्म खूब फैला हुआ था। बौद्ध-धर्म की हिंदुस्तान मे कुदरती मौत हुई, या यह कहिये कि यह रफ्ता-रफ्ता मिटता गया और एक नये रूप मे बदलता गया। कीथ का कहना है—"हिंदुस्तान मे एक ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह जिस चीज को बाहर से ग्रहण करता है, उसे अपने मे मिला और पचा लेता है।" अगर यह बात बाहर से और विदेशी आधारो से ली गई चीजो के बारे मे सही है, तो यह खुद उसीके दिमाग और विचारो की उपज के बारे मे और भी लागू हो जाती है। बौद्ध-धर्म न सिर्फ पूरी तौर पर हिंदुस्तान की उपज था, बल्कि इसका फिलसफा हिंदुस्तान के पुराने विचार और उपनिषदो के वेदाती फिलसफे से मिलता हुआ था। उपनिषदो ने पुरोहिताई और कर्म-काड का मज़ाक तक उडाया था और जात-पात के महत्त्व को कम किया था।

आपस के शास्त्रार्थों के बावजूद, या शायद उन्हीकी वजह से ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म की एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रही और ये फिलसफे और आम यकीन के खयाल से भी एक-दूसरे के करीब आते रहे। खासतौर पर महायान-मत ब्राह्मण-धर्म और रूपो के बहुत निकट था। अपनी नैतिक पृष्ठभूमि की हिफाजत करते हुए यह किसी चीज से भी समझौता करने के लिए तैयार था। ब्राह्मण-धर्म ने बुद्ध को अवतार—ईश्वर—बना दिया। यही बौद्ध-धर्म ने भी किया। महायान के सिद्धात तेजी से फैले, लेकिन जैसे-जैसे उनका प्रसार हुआ, वैसे-वैसे महायान के गुणो का ह्रास हुआ और वह कम स्पष्ट रह गया। मठो मे धन इकट्ठा हो गया, ये निहित स्वार्थो के गढ बन गये और इनका अनुशासन ढीला पडने लगा। पूजा के आम रूपो मे जादू-टोने और अंध-विश्वास ने घर किया। पहले एक हज़ार साल के वजूद के बाद हिंदुस्तान मे बौद्ध-धर्म का बढता हुआ ह्रास दिखाई पडता है। इस जमाने मे उसके रोग की हालत का बयान मिसेज राज़ डेविड्स ने किया है—"इन रोग-ग्रस्त कल्पनाओ के गहरे असर मे आकर गौतम की नैतिक शिक्षाए हमारी निगाह से ओझल हो गई है। सिद्धात-पर-सिद्धात उठकर सामने आते हैं, और हर एक नई धारणा एक जवाबी धारणा मागती है, यहातक कि सारा आसमान दिमागी जालसाज़ियो से भर जाता है और धर्म के बानी के सीधे-सादे और महान उपदेश आधिभौतिक

सूक्ष्मताओ के चमकीले ढेर के नीचे दबकर और घुटकर खत्म हो जाते हैं।"[1]

यही बयान उन 'रोग-ग्रस्त कल्पनाओ' और 'दिमागी जालसाजियों' पर भी ठीक ठीक-लागू होता है, जिनसे ब्राह्मण-धर्म और उसकी शाखाए इस ज़माने मे पीडित थी।

बौद्ध-धर्म हिंदुस्तान मे एक सामाजिक और आध्यात्मिक जागृति और सुधार के ज़माने मे शुरू हुआ। इसने लोगो मे एक नई जान फूकी, जनता की ताकत के नये ज़रिये निकाले और रहनुमाई के नये जौहर पेश किये। अशोक की शहशाही सरपरस्ती मे यह तेज़ी से फैला और हिंदुस्तान का सबसे खास मज़हब बन गया। यह दूसरे मुल्को मे भी फैला और बौद्ध आलिमो और विद्वानो का एक ताता था, जो हिंदुस्तान के बाहर जाता था और हिंदुस्तान मे आता था। यह सिलसिला सदियो तक जारी रहा। (जब चीनी यात्री फाहियान हिंदुस्तान मे पाचवी सदी ईसवी मे, यानी बुद्ध के एक हज़ार साल बाद, आया, तो उसने देखा कि यहा बौद्ध-धर्म फैला हुआ है। सातवी सदी मे, एक उससे भी मशहूर यात्री, ह्वेनत्साग (य्वान च्वाग) हिंदुस्तान मे आया और उसने ह्रास के लक्षण देखे, अगरचे कुछ प्रदेशो मे इसका अब भी ज़ोर था। काफी बडी तादाद मे बौद्ध विद्वान और भिक्खू रफ्ता-रफ्ता हिंदुस्तान से चीन चले गये।)

इस बीच मे गुप्त सम्राटो के ज़माने मे, चौथी और पाचवी सदिया मे, ब्राह्मण-धर्म मे पुनर्जागृति पैदा हो गई थी। यह बौद्ध-धर्म की विरोधी हरगिज़ नही थी, लेकिन इसने यकीनी तौर पर ब्राह्मण-धर्म की ताक़त और अहमियत को बढावा दिया और इसके भीतर बौद्ध-धर्म की परलोकमुखता के खिलाफ एक प्रतिक्रिया भी थी। बाद के गुप्त राजाओ ने बहुत दिनो तक हूणो के हमलों का मुकाबला किया, और अगरचे उन्होने आखिरकार हूणो को यहा से भगा दिया, फिर भी मुल्क मे कमज़ोरी आ गई और ह्रास का सिलसिला शुरू हो गया। बाद मे कई ऐसे वक्त आये हैं, जब तरक्क़ी दिखाई पडी है और मार्के के लोग सामने आये है। लेकिन ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म दोनो का ह्रास होता रहा, और दोनो के अदर बहुत गिरे किस्म के अमल दिखाई पडने लगे। दोनो के बीच फर्क कर सकना मुश्किल हो गया। अगर ब्राह्मण-धर्म ने बौद्ध-धर्म को जज्ब कर लिया, तो इस प्रक्रिया मे ब्राह्मण-धर्म खुद बहुत-से मानो मे बदल गया।

आठवी सदी मे शकराचार्य ने, जो हिंदुस्तान के सबसे बडे फिलसूफो

[1] राधाकृष्णन की 'इंडियन फिलासफी' नामक पुस्तक से लिया गया उद्धरण।

में हो गये हैं, हिंदू संन्यासियों के मठ बनाये। यह बौद्धों के संघों की नक़ल में था। इससे पहले ब्राह्मण-धर्म में संन्यासियों के ऐसे कोई संगठन न थे, हालांकि उनके छोटे-छोटे गुट मौजूद थे।

पूर्वी बंगाल में और पच्छिमोत्तर में सिंध में बौद्ध-धर्म का कुछ बिगड़ा हुआ रूप अब भी चल रहा था। पर वैसे तो बौद्ध-धर्म रफ़्ता-रफ़्ता हिंदुस्तान से, एक फैले हुए मज़हब की शक्ल में, उठ-सा गया।

१३ : हिंदुस्तान का फिलसफ़ियाना नज़रिया

अगरचे एक विचार से दूसरे विचार का सिलसिला लगा रहता है, और आमतौर से इनमें से हर एक का ज़िंदगी के बदलते हुए ताने-बाने से ताल्लुक होता है और इन्सानी दिमाग़ में कभी-कभी एक तर्क-पूर्ण प्रवाह देखने को मिलता है, फिर भी ऐसा होता है कि ये विचार एक-दूसरे पर चढ़ आते हैं और नये और पुराने साथ-साथ चलते रहते हैं, जो आपस में मेल नहीं खाते और अकसर विरोधी होते हैं। अकेले आदमी के दिमाग़ को लीजिये, तो उसे भी हम विरोधी विचारों की एक गठरी पायेंगे, और उसके कामों में आपस में कोई मेल मुश्किल से ढूंढ़ सकेंगे। जब एक कौम का सवाल हो, जिसमें सांस्कृतिक विकास की सभी मंज़िलें मिलती हों, तो हम देखेंगे कि वह अपने में, अपने विचारों, यक़ीनों और धंधों में, गुज़रे ज़मानों को लेकर आजतक के सभी युगों की नुमाइंदगी करती है। शायद उसके लोगों के काम मौजूदा ज़माने के समाजी और सांस्कृतिक नमूने से ज़्यादा मिलते हुए हों, नहीं तो वह ज़िंदगी की बहती हुई धार में अलग-थलग जा पड़ेंगे, लेकिन इन कामों के पीछे आदिम विश्वास और ऐसे यक़ीन लगे हुए हैं, जिनकी कोई दलील नहीं। ऐसे मुल्कों में भी, जो तिजारत के लिहाज से तरक्की-याफ़्ता हैं, जहां हर शख्स खुद-ब-खुद नई-से-नई ईजादों या तरीकों को इस्तेमाल में लाता है या उनसे फ़ायदा उठाता है, हमें ऐसे यक़ीन और विचार मिलेंगे, जिन्हें दलील इन्कार करती है और अक्ल कुबूल नहीं करती, और यह देखकर हद दर्जे का अचरज होता है। समझ और अक्ल की उम्दा मिसाल हुए बिना ही एक राजनीतिज्ञ कामयाब हो सकता है। एक वकील मार्क्स का पैरोकार और न्याय-शास्त्री होते हुए भी और बातों में हद दर्जे का जाहिल हो सकता है, और एक वैज्ञानिक भी, जो मौजूदा ज़माने का खास नुमाइंदा है, अकसर अपने तरीकों और विज्ञान के नज़रिये को अपने पढ़ने के कमरे और प्रयोगशाला से बाहर आते ही भुला देता है।

यह बात उन मसलों पर सही आती है, जो हमारी रोजमर्रा की ज़िंदगी के भौतिक पहलुओं पर असर डालते हैं। फिलसफ़े और आधिभौतिक

विचारो मे थे मसले ज्यादा दूर के, कम क्षणिक और हमारे रोज़ के कामो से कम ताल्लुक रखनेवाले जान पड़ते हैं। हम लोगो मे से ज्यादातर के लिए—अगर हमने अपने ऊपर कड़ा सयम नही लगाया है, और दिमाग़ को इस तौर पर मायल नही किया है—ये मसले अपनी पहुच से बिलकुल बाहर के हुआ करते है। (लेकिन फिर भी हममे से सभीका कुछ-न-कुछ ज़िदगी का फ़िलसफ़ा होता है, वह जान में हो या अनजान मे, और अगर वह खुद अपने चितन का नतीजा नही है, तो वह विरासत मे मिला हुआ और दूसरो से कुबूल किया गया और जाहिरा तौर पर सही मान लिया गया फिलसफा होता है। या यह हो सकता है कि हम खुद विचार करने के खतरे से बचकर किसी मजहबी अकीदे या धार्मिक विश्वास या क़ौम के भाग्य या एक अस्पष्ट इन्सानी-दर्दमदी के खयाल मे पनाह लें। अक्सर ये सभी बाते और दूसरी बाते भी एक साथ मौजूद रहती हैं, चाहे उनमें आपस मे कोई ताल्लुक न भी हो। इस तरह से हमारा व्यक्तित्व टुकडो मे बट जाता है, जो आपस मे ताल्लुक रखते हुए अलग-अलग काम करते रहते हैं।)

शायद गुज़रे ज़माने मे इन्सान के व्यक्तित्व मे ज्यादा एकता और समतौल रहे हैं, अगरचे कुछ बहुत ऊचे लोगो की मिसालो को छोडकर, आज के मुकाबले मे ये नीची सतह पर रहे होगे। परिवर्तन के इस लबे दौर मे, जिससे दुनिया गुजर रही है, हमने इस एकता को तोड दिया है, लेकिन हम एक नई एकता हासिल करने मे अभीतक कामयाब नही हुए हैं। हम अब भी हठवादी धर्म के तरीको से चिमटे हुए हैं, पुराने रस्मो और विश्वासों को पकडे हुए हैं, फिर भी विज्ञान की रीति के बमूजिब रहने का दावा करते हैं। शायद विज्ञान, ज़िदगी के प्रति अपने नजरिये मे, बहुत तग रहा है और इसने बहुत-से जीते-जागते पहलुओ को नज़र-अदाज कर दिया है, इसीसे यह एक नई एकता और नये समन्वय का आधार नही पेश कर सका है। शायद यह रफ्ता-रफ्ता इस आधार को फैला रहा है, और हम इन्सानी व्यक्तित्व के लिए पिछली सतह से ऊचे स्थान पर एक नया मेल-जोल हासिल कर सकेंगे।

लेकिन मसला अब ज्यादा मुश्किल और जटिल हो गया है, क्योंकि अब यह इन्सानी व्यक्तित्व के दायरे से बाहर पहुच गया है। पुराने ज़माने और बीच के युग के महदूद दायरे मे एक तरह से मिले-जुले व्यक्तित्व का विकास कर सकना शायद ज्यादा आसान था। गावो और शहरो की उस छोटी-सी दुनिया मे, जहा समाजी सगठन और व्यवहार के खयाल बधे-

तुले थे, व्यक्ति और उनके गिरोह, अपने तक महदूद और आमतौर पर बाहरी तूफानों से महफूज जिंदगी बिताया करते थे। आज व्यक्ति तक का दायरा सारी दुनिया तक फैल गया है और समाजी सगठन के जुदा-जुदा ख्याल एक-दूसरे के साथ टक्कर ले रहे है और उनके पीछे है जिंदगी के जुदा-जुदा फिलसफे। वही जोर की हवा कही तूफान बरपा करती है, तो कही बवडर उठाती है। (इसलिए अगर व्यक्ति को शाति और सकून हासिल करना है, तो यह तभी हो सकता है, जबकि उसे सारी दुनिया मे फैली हुई एक ही किस्म की समाजी व्यवस्था का सहारा मिले।)

हिंदुस्तान मे और जगहो मे कही ज्यादा समाजी सगठन का पुराना विचार और जिंदगी का यह फिलसफा, जो इसकी तह मे है, कुछ हद तक आज भी चला आ रहा है। अगर उसमे समाज को पायदारी देनेवाला और उसको जिंदगी के हालात से मेल करानेवाला कोई गुण न होता, तो ऐसा न हुआ होता। साथ ही, उनकी बुराई उनके गुण पर छा न गई होती, तो आखिरकार वह नाकामयाब न हुए होते और जिंदगी से अलग-थलग होकर उसके लिए बोझ न बन जाते। लेकिन हर हालत मे आज उन्हें हम दुनिया से जुदा चीज की हैसियत से नही देख सकते, हमें तो उन्हें दुनिया के साथ-साथ ही देखना पड़ेगा और उनका दुनिया के साथ मेल बिठाना होगा।

पायदारी है, जिसमें बाहरी तब्दीलियों से फर्क नहीं आता। लेकिन जिस वातावरण में ये पैदा होते हैं और जिन इन्सानी दिमागों की ये उपज हैं, उनकी छाप इन पर जरूर रहती है। अगर इनका असर फैलता है, तो लोगों के दिमागों के आम विचारों को ये बदल देते हैं। हिंदुस्तान में अगरचे फिलसफ़ा, अपनी ऊंचे विचार या आलोचना में, कुछ चुने हुए लोगों तक महदूद रहा है, फिर भी और जगहों के मुकाबले में यह ज्यादा आम रहा है और कौमी नजरिये के ढालने और दिमाग का एक खास रुझान पैदा करने में इसका गहरा असर रहा है।

बौद्ध फिलसफे ने इस अमल में एक अहम हिस्सा लिया और बीच के जमाने में इस्लाम ने ऐसे नये फिरके पैदा करदिये—जिन्होंने हिंदू-धर्म और इस्लामी समाजी और मजहबी गठन के बीच की खाई पर पुल बांधने की कोशिश की—सीधे तरीके से या घुमाव-फिराव के साथ, कौमी नजरिये पर अपनी छाप डाली। लेकिन जो खासतौर पर जिसका असर रहा है, वह हिंदुस्तान के छः दर्शनों का है। इनमें से कुछ पर खुद बौद्ध-विचारों का प्रभाव पड़ा था। ये सभी कट्टर मत माने जाते हैं, लेकिन अपने नजरिये और परिणामों में ये एक-दूसरे से जुदा हैं, अगरचे इनमें बहुत-से विचार एक-से भी हैं। इनमें हमें बहुदेववाद मिलेगा, साकार ईश्वरवाद मिलेगा, विशुद्ध अद्वैतवाद मिलेगा और ऐसा दर्शन भी मिलेगा, जो ईश्वर पर ध्यान न देते हुए विकास के सिद्धांत को आधार बनाता है। हमें आदर्शवाद भी मिलेगा और पदार्थवाद भी। इन दर्शनों की एकता और विविधता में हमें जटिल और सर्वग्राही हिंदुस्तानी मानस के अनेक रुख देखने को मिलेंगे। मैक्समूलर ने इन दोनों बातों पर ध्यान दिलाया है—"इस सत्य का मुझ पर अधिकाधिक प्रभाव पड़ा है ... कि इन छः दर्शनों की विभिन्नता के पीछे कोई ऐसी आम पूंजी है, जिसे हम कौमी या आम फिलसफा कह सकते हैं ... जिससे हर एक विचारक अपने मतलब के माफिक विचार ले सकता था।"

इन सबमें समान रूप से माना गया यह विश्वास है कि विश्व में एक व्यवस्था है और उसका परिचालन नियम के अनुसार होता है और उसमें एक विशाल तारतम्य है। कुछ इस तरह का खयाल जरूरी हो जाता है, नहीं तो कोई ऐसी व्यवस्था नहीं रह जायगी, जिसका समझना जरूरी हो। अगरचे हेतुवाद और कार्य-कारण के सिद्धांत चलते रहते हैं, फिर भी व्यक्तियों को अपने भाग्य का निर्माण करने की कुछ स्वतंत्रता रहती है। हमें इनमें पुनर्जन्म में विश्वास मिलता है और इनमें निस्वार्थ प्रेम और निष्काम कर्म पर जोर दिया गया है। विवेचन में तर्क और बुद्धि का सहारा

लिया जाता है, लेकिन यह बात मान्य है कि अतर्प्रेरणा इन दोनो से बढकर है। साधारण विवेचन बुद्धि के धरातल पर चलता है—जहातक कि बुद्धि का सहारा उन बातो के विषय मे लिया जा सकता है, जो उसकी सीमा से बाहर हैं। प्रोफेसर कीथ ने बताया है कि "इन दर्शनो मे निश्चय ही एक कट्टरता है और धर्मग्रथो के प्रमाण को माना गया है, लेकिन वे अस्तित्व सबधी समस्याओ को इन्सानी तरीको से समझना चाहते है, और देखा यह जाता है कि धर्म-ग्रथो का इस्तेमाल केवल उन नतीजो के समर्थन मे हुआ है, जिन पर वे स्वतत्र रूप से पहुचे हैं और अकसर तो प्रमाणो का उनके सिद्धातो से लगाव भी सदिग्ध रह जाता है।"

१४ : षट्-दर्शन

हिंदुस्तानी फिलसफे की शुरुआत हम बौद्ध जमाने से पहले ही होती हुई देखते हैं। ब्राह्मणो और बौद्धो के दर्शनो का विकास साथ-साथ और रफ्ता-रफ्ता होता है और ये आपस मे अकसर एक-दूसरे की आलोचना भी करते हैं और एक-दूसरे की बातो को ग्रहण भी कर लेते हैं। ईस्वी सवत के आरभ होने से पहले ब्राह्मणो के छ दर्शनो ने, ऐसे और बहुत-से वादो के भीतर से उठकर, अपना स्वरूप बना लिया था। इनमे हर एक का अपना जुदा नजरिया है, हर एक की तर्क-शैली अलग है, फिर भी ये एक-दूसरे से अलग-थलग नही थे, बल्कि एक बडी व्यवस्था के अग थे।

छ दर्शनो के नाम इस तरह हैं—(१) न्याय, (२) वैशेषिक, (३) साख्य, (४) योग, (५) मीमासा और (६) वेदात।

न्याय की शैली तर्क और विश्लेषण की शैली है। दरअसल 'न्याय' के मानी ही तर्क या विवेक-शास्त्र के हैं। यह बहुत-कुछ अरस्तू की तर्क-शैली से मिलता-जुलता है, लेकन दोनो मे बुनियादी फर्क भी है। न्याय के बुनियादी उसूलो को और सभी दर्शनो ने स्वीकार कर लिया था और मानसिक सयम के रूप मे न्याय की शिक्षा बराबर प्राचीन और बीच के जमाने मे, बल्कि आजतक हिंदुस्तान की पाठशालाओ और विश्वविद्यालयो मे दी जाती रही है। हिंदुस्तान की नई तालीम मे इसे जगह नही मिली है, लेकिन जहां कही भी सस्कृत पुराने ढग से पढाई जाती है, वहा यह पाठ्य-क्रम का एक खास अग है। दर्शन के अध्ययन के लिए इसे महज एक लाजिमी तैयारी के तौर पर नही समझा जाता था, बल्कि यह खयाल किया जाता था कि हर एक पढे-लिखे आदमी के लिए इसका जानना जरूरी है। हिंदुस्तानी तालीम की पुरानी व्यवस्था मे इसकी कम-से-कम उतनी ही महत्त्वपूर्ण जगह है, जितनी कि यूरोपीय शिक्षा मे अरस्तू के तर्क-शास्त्र की।

इसका तरीका अलबत्ता इस ज़माने के वैज्ञानिक ढग के वस्तुगत अनुसधान से जुदा था। फिर भी वह अपने ढग से आलोचनात्मक और शास्त्रीय था, और ऐसा था कि उसमे धर्म का सहारा लेने के बजाय ज्ञान के विषयो की जाच की तर्कपूर्ण ढग से और कदम-कदम करके कोशिश की गई है। इसके पीछे कुछ धर्म जरूर रहा है, कुछ मान्यताए रही हैं, जिनके बारे मे तर्क कर सकना मुमकिन न था। लेकिन उन मान्यताओ को कुबूल करके, इस दर्शन का ढाचा ऐसी ही बुनियाद पर खडा किया गया है। यह मान लिया गया था कि जिंदगी और प्रकृति मे एक तारतम्य और एकता है। व्यक्ति-रूप ईश्वर मे भी विश्वास है, इसी तरह व्यक्ति-रूप आत्माओ और पारमाण्विक सृष्टि मे। व्यक्ति न शरीर है और न आत्मा, बल्कि दोनो के मेल का नतीज़ा है। वास्तविकता को आत्माओ और प्रकृति का जटिल मिश्रण माना गया है।

वैशेषिक दर्शन बहुत-सी बातो मे न्याय से मिलता-जुलता है। यह जीव और पदार्थ की भिन्नता पर जोर देता है और इस सिद्धात को पेश करता है कि सृष्टि परमाणुओ से निर्मित है। इसमे विश्व को धर्म के आधार पर सचालित बताया गया है और इसी सिद्धात पर सारा ढाचा खडा है। ईश्वर के अनुमान को साफ-साफ स्वीकार नही किया गया है। न्याय और वैशेषिक और शुरू के बौद्ध-दर्शन मे बहुत-सी मिलती हुई बातें हैं। कुल मिलाकर उनका नज़रिया यथार्थवादी है।

साख्य दर्शन, जिसके बारे मे कहा जाता है कि कपिल (लगभग सातवी सदी, ई० पू०) ने इसे बहुत-सी प्राचीन और बुद्ध से पहले की विचारधाराओ के तत्त्वो के सहारे गढा था, बडे मार्के का है। रिचर्ड गार्बे के अनुसार—"दुनिया के इतिहास मे पहली बार हमे इन्सानो दिमाग की पूरी आज़ादी और अपनी शक्ति पर पूरी निर्भरता की मिसाल कही मिलती है, तो वह कपिल के सिद्धात मे।"

बौद्ध-धर्म के उदय के बाद साख्य एक बडा सुगठित दर्शन बन गया। जो सिद्धात इसमे बताया गया है, वह वस्तु जगत के पदार्थों की जाच के आधार पर नही बना है, बल्कि आदमी के दिमाग से उपजी हुई, पूरे तौर पर फिलसफ़ियाना और आधिभौतिक कल्पना है। दरअसल जो चीजें अपनी पहुच से परे हैं, उनकी इस तरह जाच मुमकिन भी नही। बौद्ध-धर्म की तरह साख्य ने भी अपनी जाच-पडताल मे बुद्धि और तर्क का सहारा लिया और प्रमाणो को छोडा, इस तरह उसने बौद्ध-धर्म से उसीके मैदान मे मोर्चा लिया। इस बुद्धिवादी नज़रिये की वजह से ईश्वर के विचार को अलग कर

दिया गया। इस तरह सांख्य के न साकार ईश्वर है और न निराकार, न एकेश्वरवाद है न एकवाद। इसका नजरिया नास्तिक नजरिया है और इसने लोकातीत धर्म की बुनियादों को हिला दिया। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि नहीं की है, बल्कि एक सतत विकास हुआ है। यह पुरुष, यानी पुरुषों और प्रकृति की आपस की प्रतिक्रिया का नतीजा है, अगरचे प्रकृति खुद भी शक्तिरूप है। विकास एक निरंतर प्रक्रिया है।

सांख्य द्वैतवादी दर्शन कहलाता है, क्योंकि इसका आधार दो आदि-कारणों पर है, एक तो प्रकृति है, जो बराबर काम करती रहनेवाली और परिवर्तनशील शक्ति है, और दूसरा पुरुष है, जो चेतन है और कभी बदलता नहीं। चेतन-रूप पुरुषों या आत्माओं की अनगिनत संख्या है। पुरुष स्वयं स्थिर है, लेकिन उसके प्रभाव से प्रकृति विकास करती है और एक बराबर पूर्णता को प्राप्त करनेवाली दुनिया का रूप लेती है। कार्य कारण का सबब माना गया है, लेकिन कहा गया है कि कार्य कारण में ही निहित है। कार्य और कारण इस तरह से एक ही वस्तु के विकसित और अविकसित रूप हैं। हमारे अपने नजरिये से व्यक्तता भाव और कारण जुदा-जुदा और एक-दूसरे से मुख्तलिफ हैं, लेकिन बुनियादी तौर पर दोनों एक हैं।

इस तरह तर्क चलता है और यह दिखाता है कि किस तरह से अव्यक्त प्रकृति या शक्ति, पुरुष या चेतन के प्रभाव से और गुणवाद के सिद्धांत के अनुसार, इतना जटिल और विविध रूप धारण कर लेती है और बराबर बदलती और विकास करती रहती है। विश्व के ऊंचे-से-ऊंचे और नीचे-से-नीचे प्राणी के बीच में एक सिलसिला और एकता है। सारी कल्पना आधि-भौतिक है, और कुछ अनुमानों के आधार पर जो विवेचन पेश किया गया है, वह लंबा, जटिल और तर्कपूर्ण है।

पतंजलि का योग दर्शन खासतौर पर शरीर और मन के संयम का एक तरीका है, जिससे मानसिक और आत्मिक शिक्षा मिलती है। पतंजलि ने न सिर्फ इस पुराने दर्शन को एक संगठित रूप दिया, बल्कि पाणिनि के संस्कृत व्याकरण पर भी उसने भाष्य लिखा। यह टीका, जो 'महाभाष्य' के नाम से मशहूर है, उतनी ही प्रामाणिक मानी जाती है, जितना कि पाणिनि का ग्रंथ। लेनिनग्राद के प्रोफेसर शेरबात्सकी ने लिखा है कि "हिंदुस्तान की आदर्श वैज्ञानिक कृति पाणिनि का व्याकरण और पतंजलि का 'महाभाष्य' है।"[1]

[1] यह निश्चय नहीं हो पाया है कि वैयाकरण पतंजलि और 'योगसूत्र' के रचनेवाले पतंजलि एक ही हैं कि दो हैं। वैयाकरण की तिथि तो निश्चित

योग शब्द यूरोप और अमरीका मे खूब चल गया है, अगरचे इसे बहुत कम लोग ठीक-ठीक समझते हैं और इसका सबंध विचित्र क्रियाओं से जोड़ा जाता है, खासतौर पर बुद्ध के समान आसन लगाकर बैठने से और अपनी नाभि या नाक की नोक की तरफ ध्यान लगाकर देखने से।[1] पच्छिम मे कुछ लोग शरीर के कुछ करतबों को सीखकर अपने को इस विषय का अधिकारी समझने लगते हैं और विश्वासी या अद्भुत चीजों की तलाश में रहनेवालो को ठगते है, या उन पर रोब जमाते हैं। यह दर्शन शरीर के कुछ करतबों तक सीमित नही है, बल्कि इसका आधार यह मनोवैज्ञानिक खयाल है कि मन को ठीक-ठीक शिक्षा हो, तो एक ऊचे ढग की चेतना पैदा हो जाती है। इस तरीके का मकसद यह है कि आदमी खुद चीजों की जानकारी हासिल करे, यह नही कि यथार्थता या विश्व के बारे मे किसी पूर्व-कल्पित आधिभौतिक सिद्धात को कुबूल कर ले। इस तरह से यह एक प्रयोगात्मक पद्धति है और इसे चलाने के सबसे अच्छे ढग बयान किये गये हैं और इसलिए इसे कोई भी फिलसफा ग्रहण कर सकता है, उसका नजरिया चाहे जैसा हो। मिसाल के लिए साख्य दर्शन, जो नास्तिक है, इसके तरीक़ो को व्यवहार मे ला सकता है। बौद्ध-धर्म ने यौगिक शिक्षा के नये ही रूप का विकास किया, जो इससे कुछ मिलता था और कुछ जुदा था। इसलिए पतजलि के योग दर्शन के सिद्धातवाले अश मुक़ाबले मे कम महत्त्व के हैं; जिस चीज का महत्त्व है, वह है उसकी क्रियाए। ईश्वर की सत्ता में विश्वास इस दर्शन का अग नही है, लेकिन इस बात का सुझाव दिया जान पड़ता है कि साकार ईश्वर मे विश्वास और उसकी भक्ति मन को स्थिर करने में मददगार होती है, इसलिए इसका एक अमली मक़सद है।

ऐसा खयाल किया जाता है कि आगे चलकर योग की साधना करनेवाले को एक अतर्दृष्टि हासिल हो जाती है, या परमानद की स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिस तरह की स्थिति का सूफी लोग भी बयान करते हैं। मैं नही कह सकता कि यह मन की ऊची स्थिति है, जिससे विशेष ज्ञान के दरवाजे खुल जाते हैं, या महज एक आत्म-मोह की हालत है। अगर इनमे से पहली बात मुमकिन है, तो दूसरी भी यक़ीनी तौर पर पैदा होती है, और

रूप से मालूम है कि ईसा से पहले की दूसरी सदी है। कुछ लोगो की राय है कि 'योगसूत्र' का रचयिता दूसरा ही है, जो इसके दो-तीन साल बाद हुआ है।

[1] 'योग' शब्द का अर्थ है 'मेल'। शायद यह उसी धातु से निकला है, जिससे अंग्रेजी शब्द 'योक' निकला है।

इसे लोग अच्छी तरह जानते हैं कि योग की क्रिया में कोई व्यतिक्रम हुआ, तो उसके बड़े विषम नतीजे होते हैं—खासकर जहाँ दिमाग का ताल्लुक है।

लेकिन ध्यान और मनन की इन आखिरी सीढ़ियों तक पहुँचने से पहले शरीर और मन के संयम की ज़रूरत है। शरीर ठीक और स्वस्थ, लचीला और सुदृढ़, दृढ़ और मज़बूत होना चाहिए। बहुतेरी जिस्मानी कसरतें बताई गई हैं, और खास तरह के आसन भी, जिनसे उन पर वश हासिल हो जाय और आदमी आमतौर पर गहरी और लम्बी साँस लेने का आदी हो जाय। इनके लिए जल्दबाजी से इस्तेमाल करना ठीक नहीं, क्योंकि इनमें जोर से हरकतें नहीं होतीं। ये तो एक तरह के आसन या बैठने के तरीके हैं और अगर इन्हें ठीक-ठीक किया गया, तो ये शरीर को आराम देते हैं और तरो-ताज़ा कर देते हैं, उसे बिल्कुल थकाते नहीं। शरीर को चुस्त रखने का यह खास हिंदुस्तानी तरीका मज़मून बड़े मार्के का है, अगर हम इसका दूसरे आम तरीकों से मुकाबला करें, जिनमें उछल-कूद रहती है और जिस्म को तरह-तरह से झटके दिये जाते हैं, यहाँतक कि आदमी थककर चूर हो जाता है और हाँफ जाता है। ये दूसरे तरीके भी हिंदुस्तान में रायज रहे हैं और कुश्ती, दंगलें, घुड़सवारी, बनेठी, तीरन्दाजी, गदा-मुगदर, जिउ-जित्सू के ढंग की चीज़ें और बहुत-से और खेल और दिल-बहलाव के तरीके रहे हैं। लेकिन आसन का तरीका शायद हिंदुस्तान के लिए अपना और उसके फिलसफे के अनुकूल है। इसमें एक खास सम-तोल है और शरीर को कसरत कराते हुए भी इसमें एक अविचलित शांति है। इसमें शक्ति को खर्च किये बगैर आदमी ताक़त और चुस्ती हासिल कर लेता है और इसी वजह से आसन गर्म देश के लोगों के लिए ठीक हैं, यहाँतक कि इसे बूढ़े लोग भी कर सकते हैं।

ये आसन बहुत तरह के हैं। इधर कई बरसों से, जब-जब मुझे मौक़ा मिला है, मैं इनमें से कुछ सीधे-सादे और चुने हुए आसनों का प्रयोग करता रहा हूँ। इसमें शक नहीं कि शरीर और मन के लिए, जैसी प्रतिकूल हालतों में मुझे अक्सर रहना पड़ा है, उनमें इनसे मुझे बड़ा फायदा हुआ है। योग का अभ्यास मेरा इन्हीं तक और कुछ प्राणायाम की विधियों तक सीमित रहा है। मैं कुछ शुरू की जिस्मानी हालतों से आगे नहीं बढ़ सका हूँ और मेरा मन अब भी काबू में नहीं आया है और शरीर का एक असंयत अंग बना हुआ है।

शरीर के संयम के साथ-साथ (जिसमें उचित खान-पान करना और अनुचित खान-पान से बचना शामिल है), जिसे योग दर्शन में नैतिक प्रवृत्ति कहा गया है, वह भी ज़रूरी है। इसके अंदर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि

आते हैं। अहिंसा के मानी शारीरिक बल-प्रयोग से बचना ही नही है, बल्कि मन को घृणा और द्वेष से बचाये रखना भी है।

यह खयाल किया जाता है कि इन सबसे इंद्रियो पर क़ाबू पाया जाता है। इसके बाद मनन और ध्यान आते हैं और अंत मे वह गहरी एकाग्रता या समाधि की अवस्था आती है, जिससे अनेक प्रकार की अतर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

विवेकानद ने, जो योग और वेदात के इस ज़माने के सबसे बडे हामियो मे हुए हैं, योग के प्रयोगात्मक पहलू पर बार-बार ज़ोर दिया है और उसे विवेक पर आधारित किया है। "इन योगो मे से कोई भी विवेक का पल्ला नही छोडता, कोई यह नही कहता कि तुम अपनी विवेक-बुद्धि किसी भी तरह के पुरोहितो के हाथ मे सुपुर्द कर दो ... इनमे से हर एक यह बताता है कि तुम अपने विवेक को मजबूती से पकडे रहो।" अगरचे योग और वेदात का भाव विज्ञान के भाव के अनुकूल है, फिर भी यह सच है कि दोनो के माध्यम जुदा-जुदा हैं, और इसलिए उनमे गहरे मतभेद आ जाते हैं। योग के बमूजिब चेतना बुद्धि तक महदूद नही, और "विचार कर्म है, और केवल कर्म के कारण विचार का मूल्य है।" प्रेरणा और अतर्दृष्टि को स्वीकार किया गया है, लेकिन क्या यह भुलावे मे हमे नही डाल सकती? विवेकानद कहते हैं कि बुद्धि के खिलाफ नही होना चाहिए, "जिसे हम प्रेरणा कहते हैं, वह विवेक का ही विकास है, अतर्दृष्टि तक पहुंचानेवाला रास्ता विवेक का ही रास्ता है ... सच्ची प्रेरणा कभी विवेक के खिलाफ़ नही जाती। जहा वह खिलाफ जाती है, वहा वह सच्ची प्रेरणा ही नही है ..." यह भी कहते हैं—"प्रेरणा हर किसीकी भलाई के लिए होनी चाहिए, नाम और शोहरत और किसी निजी फायदे के लिए नही। इसे हमेशा दुनिया के भले के लिए और पूरी तरह से निस्वार्थ होना चाहिए।"

आगे वह कहते हैं—"ज्ञान का एकमात्र आधार अनुभव है।" जाच-पडताल के वही तरीके, जिन्हे हम विज्ञान मे और बाहरी ज्ञान के सिलसिले मे इस्तेमाल मे लाते हैं, मजहब के मामले मे भी इस्तेमाल मे आने चाहिए। "अगर इस तरह की जाच-पडताल का यह नतीजा होता है कि मजहब नष्ट हो जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वह एक फिज़ूल-सी चीज था और निकम्मा अधविश्वास था, और जितनी जल्दी वह खत्म हो जाय, उतना ही अच्छा है।" "मजहब इस बात का दावा क्यो करते हैं कि वे विवेक से बधे नही हैं, यह कोई नही जानता ... क्योकि यह कही बेहतर है कि आदमी बुद्धि का अनुसरण करते हुए नास्तिक हो जाय, बजाय इसके कि किसीके

बल्कि यह भावना से भी ज्यादा गहराई में जानेवाली चीज है, जिसकी तलाश में यह भावना खुद रहती है—मनुष्य-मात्र का निर्माण करनेवाला तत्त्व ही एक है।"

तब फिर योग एक ऐसी प्रयोगात्मक पद्धति है, जो व्यक्ति की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को टटोलती है और इस तरह कुछ चेतना और मन की रोग-थाम को विकसित करती है। आजकल का मनोविज्ञान इससे कहातक लाभ उठा सकता है, मैं नही कह सकता, लेकिन ऐसा करने का कुछ प्रयत्न होना अच्छा है। अरविंद घोष ने योग की परिभाषा इस तरह की है—"सारा राज-योग इस चेतना और अनुभव पर निर्भर करता है कि हमारे भीतरी तत्त्व, उनके मेल-जोल, कृत्य, शक्तिया, इन सबको अलग-अलग और छिन्न-भिन्न किया जा सकता है और फिर उनमे एक नया संयोग पैदा किया जा सकता है और उनसे ऐसे नये काम लिये जा सकते हैं, जो उनके लिए पहले मुमकिन न होते या उन्हे बदलकर निश्चित भीतरी क्रियाओं से एक नये समन्वय का रूप दिया जा सकता है।"

इसके बाद दूसरा दर्शन है मीमासा। यह कर्म-काड संबधी है और इसमे बहुदेववाद की तरफ झुकाव मिलता है। इस जमाने के आम हिंदू-धर्म और हिंदू-विधान पर इस सिद्धात और उसके नियमो का बड़ा असर रहा है। ये नियम बताते हैं कि धर्म क्या है और उनके अनुसार उचित आचार कैसा होना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हिंदुओं का बहुदेववाद एक विचित्र ही ढग का है, क्योकि देव लोग, उनमे चाहे जैसी विशेष शक्तिया हो, मनुष्य से नीची योनि के जीव माने गये हैं। हिंदुओ और बौद्धो दोनो ही का विश्वास है कि मनुष्य-जन्म आत्म-सिद्धि के रास्ते मे जीव के लिए सबसे ऊची अवस्था है। देव लोग भी यह स्वतंत्रता और सिद्धि तभी हासिल कर सकते है, जब वे आदमी का जन्म लें। साधारण बहुदेववाद की कल्पना से यह बहुत दूर की स्थिति है। बौद्धो का कहना है कि सिर्फ मनुष्य बुद्धत्व के परम पद को प्राप्त कर सकता है।

इस सिलसिले का छठा और आखिरी दर्शन वेदात है, जिसकी शुरुआत उपनिषदो से होती है और जो विकसित होकर अनेक रूप धारण करता है, लेकिन जिसका आधार हमेशा विश्व की अद्वैत कल्पना मे रहा है। साख्य मे जिस पुरुष और प्रकृति का वर्णन है, उसे वेदात अलग-अलग तत्त्व नही समझता, बल्कि यह समझता है कि यह एक ही सत्ता, परम पुरुष, के विभाव हैं। पुराने वेदात के आधार पर शकर (या शकराचार्य) ने अद्वैत-वेदात का निर्माण किया। यही वह दर्शन है, जो आज के हिंदू-धर्म के

कायम किये, जो हिंदुस्तान के करीब-करीब चार छोरो पर हैं। इनमे से एक मैसूर मे श्रृंगेरी मे, दूसरा पूर्वी समुद्र तट पर पुरी मे, तीसरा काठियावाड मे पच्छिमी समुद्र-तट पर द्वारका मे और चौथा बीच हिमालय मे बद्रीनाथ मे है। बत्तीस वर्ष की उम्र मे दक्खिन के गरम प्रदेश का यह ब्राह्मण केदारनाथ मे, ऊचे हिमालय के बर्फ से ढके प्रदेश में, परलोक सिवारा)

शकर की इन लबी यात्राओ का, उस जमाने मे, जबकि आना-जाना मुश्किल होता था और सवारी के साधन धीमे और आदिम थे, एक खास महत्त्व है। इन यात्राओ की कल्पना और सब जगह अपने-जैसे विचारवालो से मिलना-जुलना और सारे हिंदुस्तान के पडितो की भाषा, सस्कृत, मे उनसे बातचीत करना, हमारे सामने इतने पुराने समय के हिंदुस्तान मे एकता का चित्र ले आते हैं। उस जमाने मे या उससे भी और पहले ऐसी यात्राए गैर-मामूली न रही होगी। बावजूद राजनैतिक विभाजनो के, लोगो की बराबर आमद-रफ्त होती थी, नई किताबे भी फैलती थी, हर एक नया विचार, नया सिद्धात, सारे देश मे बडी तेजी से फैल जाता था और लोग उन पर दिलचस्पी से बातचीत ही नही करते थे, बल्कि उन्हे लेकर गरम वाद-विवाद भी होते थे। पढे-लिखे लोगो का ही एक आम सास्कृतिक और बौद्धिक स्तर नही था, बल्कि साधारण लोग भी बराबर अनेक तीर्थों की यात्रा किया करते थे, जो सारे देश मे फैले हुए थे और जो पौराणिक काल से ही मशहूर भी थे। इस सब आमद-रफ्त और लोगो के आपस मे मिलने-जुलने ने सबके एक मुल्क और आम सस्कृति के खयाल को जरूर पुख्ता किया होगा। ये यात्राए ऊचे वर्ग के लोगो तक महदूद न थी, यात्रियो मे सभी वर्ग के आदमी और औरतें होती थी। लोगो के मन मे इन यात्राओ का जो भी धार्मिक महत्त्व रहा हो, आज की तरह उस जमाने मे भी इसे छुट्टी का अवसर और आनद मनाने और मुल्क के जुदा-जुदा हिस्सो को देखने का मौका समझा जाता था। हर एक तीर्थ के मुकाम पर हिंदुस्तान के सभी जगह और स्तर के लोगो को देखा जा सकता था, जिनके रीति-रिवाज, पहनावे और बोलिया जुदा-जुदा थी, लेकिन फिर भी जिनमे इस बात की चेतना थी कि उनमे कुछ समान बातें हैं, कुछ आपस के बधन हैं, जो उन्हे एक ही जगह खीचकर ले आये हैं। उत्तर और दक्खिन हिंदुस्तान की बिलकुल जुदा भाषाए भी आपस के मेल-जोल मे बहुत ज्यादा बाधक न हो पाती थीं।

ये सब बातें उस समय थी और यकीनी तौर पर शकर इन्हें पूरी

तरह से जानते थे। ऐसा जान पडता है कि शकर इस कौमी एकता और समान चेतना के भाव को और भी बढाना चाहते थे। दिमाग़ी, फ़िलसफ़ियाना और धार्मिक स्तर पर उन्होंने सारे देश मे ज्यादा एकता पैदा करने की कोशिश की। आम लोगो के स्तर पर भी उन्होंने बहुत-कुछ किया, उन्होंने बहुत-सी रुढियो को तोडा और अपने दार्शनिक विचारो के मदिर के दरवाजो को उन सभी के लिए खोल दिया, जो उसमे आने की योग्यता रखते थे। अपने चार बडे मठो को हिंदुस्तान के उत्तर, दक्खिन, पूरब और पच्छिम के कोनो मे कायम करके, ज़ाहिर है, वह सस्कृति के खयाल से मिले-जुले हिंदुस्तान की कल्पना को बढावा देना चाहते थे। ये चारो जगहे कुछ अशो मे पहले भी तीर्थ के मुकाम रही हैं और अब तो और भी ज्यादा हो गई हैं।

क़दीम हिंदुस्तानी अपने तीर्थ के मुकामो का कैसा अच्छा चुनाव किया करते थे! करीब-करीब हमेशा ये रमणीक स्थान हुआ करते थे, और उनके आस-पास प्रकृति की छवि देखने को मिलती थी। काश्मीर मे अमरनाथ की बर्फ़ीली गुफा है, दक्खिनी हिंदुस्तान के बिलकुल छोर पर रामेश्वरम् के पास कन्याकुमारी का मदिर है। फिर काशी है, और हरिद्वार है, जो हिमालय के तले पर है और जहा से गगा टेढी-मेढी पहाडी घाटियों को पार करके मैदानी प्रदेश मे आती है, और प्रयाग है, जहा गगा और यमुना का सगम होता है, और मथुरा और वृदावन हैं, जो जमुना-तट पर हैं, जिनके चारो ओर कृष्ण की कथाए जुडी हुई हैं, और बुद्ध गया है, जहा बताया जाता है कि बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था, और दक्खिन हिंदुस्तान मे इसी तरह की अनेक जगहे हैं। बहुत-से पुराने मदिरो मे, खासतौर पर दक्खिन, मे मशहूर मूर्त्तिया बनी हुई हैं और दूसरे कलात्मक अवशेष हैं। इस तरह से बहुत-से तीर्थों की यात्रा करने से पुरानी हिंदुस्तानी कला की झाकी मिल जाती है।

कहा जाता है कि शकर ने हिंदुस्तान मे व्यापक धर्म के रूप मे बौद्ध-मत का अत करने मे मदद दी और उसके बाद ब्राह्मण-धर्म ने उसे भाई की तरह गले लगाकर अपने मे जज़्ब कर लिया। लेकिन शकर के ज़माने से पहले भी हिंदुस्तान मे बौद्ध-धर्म सिमट रहा था। शकर के कुछ विरोधी ब्राह्मण तो उन्हे छिपा हुआ (प्रच्छन्न) बौद्ध बताते थे। यह बात सही है कि बौद्ध-धर्म का उन पर गहरा असर पडा था।

१५ : हिंदुस्तान और चीन

यह बौद्ध-धर्म था, जिसके ज़ोर से हिंदुस्तान और चीन एक-दूसरे के

नजदीक आये और जिसके जरिये उन्होने बहुत-से सपर्क कायम कर लिये। अशोक के पहले दोनो के बीच सपर्क थे या नही, इसकी हमे जानकारी नही है, शायद समुद्र के रास्ते से कुछ व्यापार होता था, क्योंकि चीन से रेशमी माल यहां आता था। लेकिन खुश्की के रास्ते भी सपर्क रहे होगे और बहुत पहले जमाने मे लोग आते रहे होगे, क्योंकि हिंदुस्तान के पूरबी छोर के प्रदेश मे मगोली सूरत-शक्ल के लोग आमतौर पर मिलते हैं। नेपाल मे यह बात बहुत जाहिर हो जाती है। असम (पुराने कामरूप) मे और बगाल मे यह अक्सर देखा जाती है। लेकिन जहातक इतिहास की बात है, अशोक के धर्म-प्रचारकों ने रास्ता खोला, और ज्यो-ज्यो चीन मे बौद्ध-धर्म फैला, त्यो-त्यो वहा से यात्रियो और विद्वानो का लगातार आना शुरू हुआ और ये हिंदुस्तान और चीन के बीच एक हजार बरस तक आते-जाते रहे। वे गोबी रेगिस्तान पार करके, मध्य-एशिया के पहाड़ो और मैदानो को तय करते हुए और हिमालय के ऊपर से अपनी लंबी, कठिन और भयानक यात्रा करते थे। बहुत-से हिंदुस्तानी और चीनी रास्ते मे मर गये—और एक बयान तो यह है कि ९० फी-सदी यात्री मर गये। बहुत-से, जो अपनी यात्रा पूरी कर सके, वे फिर जहा पहुचे, वही बस गये और वापस नही लौटे। एक दूसरा रास्ता भी था, जो मुकाबले मे कुछ ज्यादा महफूज न था, पर छोटा जरूर था। यह रास्ता समुद्री था और हिंद-चीन, जावा, सुमात्रा, मलय और निकोबार टापुओ से होकर जानेवाला था। इससे भी लोग अक्सर जाते थे और कभी-कभी यात्री खुश्की के रास्ते से चलकर समुद्री रास्ते से अपने देश को लौटा करते थे। बौद्ध-धर्म और हिंदुस्तानी सस्कृति सारे मध्य-एशिया मे और इडोनेशिया के हिस्सो मे फैल गई थी और बहुत से मठ और विद्यालय इस सारे विस्तृत प्रदेश मे जगह-जगह बने हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान और चीन के यात्रियो का समुद्र और खुश्की के इन मार्गों मे सर्वत्र स्वागत होता था और उन्हे ठहरने की जगह मिल जाती थी। कभी-कभी चीन से आनेवाले विद्वान इंडोनेशिया के किसी हिंदुस्तानी उप-निवेश मे कुछ महीनो तक ठहरकर सस्कृत सीखते और फिर यहा आते थे।

पहला हिंदुस्तानी विद्वान, जिसके चीन जाने का बयान मिलता है, वह था कश्यप मातग। वह सन् ६७ ई० मे, सम्राट मिङ्-ती के राज्य-काल मे, शायद उसीके बुलावे पर चीन गया था। लो नदी के तट पर लो-यग नाम की जगह पर यह बस गया था। उसके साथ धर्मरक्षक गया था और बाद के सालो में जो प्रसिद्ध विद्वान गये, उनमे बुद्धिभद्र, जिनभद्र, कुमारजीव, पर-मार्थ, जिनगुप्त और बोधिधर्म थे। इनमे हर एक अपने साथ भिक्खुओ या

चेलो को ले गया था। यह कहा जाता है कि एक वक्त (सदी छठी ईस्वी) तीन हज़ार से ज्यादा बौद्ध भिक्खु और दस हज़ार हिंदुस्तानी परिवार सिर्फ़ लो-यग के सूबे मे ही थे।

ये हिंदुस्तानी विद्वान जो चीन गये, न महज़ अपने साथ सस्कृत के हाथ के लिखे ग्रथ ले गये, जिनका उन्होंने न सिर्फ चीनी भाषा मे अनुवाद किया, बल्कि उन्होंने चीनी भाषा मे मौलिक पुस्तकें भी रची। उन्होंने चीनी साहित्य की वृद्धि मे अच्छा खासा हिस्सा लिया और चीनी मे कविताए भी लिखी। कुमारजीव, जो ४०१ ईस्वी मे चीन गया था, बडा लिखने-वाला था और उसकी लिखी ४७ किताबें इस वक्त मिलती हैं। उसकी चीनी लिखने की शैली बहुत अच्छी कही जाती है। उसने मशहूर हिंदुस्तानी विद्वान नागार्जुन की जीवनी का चीनी मे अनुवाद किया। जिनगुप्त चीन मे छठी सदी ईस्वी के दूसरे हिस्से मे गया। उसने सस्कृत के ३७ ग्रथों का चीनी मे अनुवाद किया। उसके ज्ञान का इतना आदर था कि तग-वश के एक सम्राट ने उससे दीक्षा ली और उसका चेला बन गया।

चीन और हिंदुस्तान के बीच विद्वानो का आना-जाना दोनो ओर से ही होता था और बहुत-से चीनी विद्वान भी यहा आये। इनमे से सबसे मशहूर, जिन्होंने अपनी यात्राओ के बयान लिख छोडे हैं, वे हैं फाह्यान, (या फासिया), सुग-युन, ह्वेन-त्साग (या य्वान च्वाग) और इत्सिग (या यि-त्सिग)। फाह्यान हिंदुस्तान मे पाचवी सदी मे आया। वह चीन मे कुमारजीव का चेला था। हिंदुस्तान के लिए चलने से पहले जब फ़ाह्यान अपने गुरु से विदा होने के लिए गया, तब कुमारजीव ने उससे जो कुछ कहा, उसका मनोरजक बयान किया जाता है। कुमारजीव ने उससे कहा कि धार्मिक ज्ञान हासिल करने मे ही अपना सारा वक्त न बिताना, बल्कि हिंदुस्तान के लोगो के रहन-सहन और आचार को भी अच्छी तरह समझने की कोशिश करना, जिसमे कि चीनवाले उन्हे अच्छी तरह समझ सकें। फ़ाह्यान ने पाटलिपुत्र के विश्वविद्यालय मे शिक्षा हासिल की थी।

चीनी यात्रियो मे सबसे मशहूर ह्वेन-त्साग था, जो यहा सातवी सदी मे आया था, जबकि चीन मे महान तग-वश का राज्य चल रहा था और उत्तरी हिंदुस्तान मे एक साम्राज्य का शासक हर्षवर्धन था। ह्वेन-त्साग खुश्की के रास्ते, गोबी रेगिस्तान को पार करके, तुरफान और कूचा, ताशकद और समरकद, बल्ख, खुतन और यारकद होता हुआ हिमालय को लाघ-कर हिंदुस्तान मे आया था। वह अपने बहुत-से साहसी कामो का बयान करता है, और उन सकटो का, जिन्हे उसे झेलना पडा, साथ ही वह मध्य-

एशिया के बौद्ध शासको और मठो, और उन तुर्कों का, जो कट्टर बौद्ध थे, हाल लिखता है। हिंदुस्तान मे आकर वह सारे देश मे घूमा, सभी जगह उसका आदर और स्वागत हुआ और उसने यहा की जगहो और लोगो के बारे मे आखो-देखा हाल लिखा और कुछ मनोरजक और अजीब सुनी-सुनाई कहानिया भी लिखी। उसने नालदा विश्वविद्यालय मे, जो पाटलिपुत्र के पास था और जो अपने बहुमुखी ज्ञान के लिए मशहूर था और जहा देश के दूर-दूर हिस्सो के विद्यार्थी आते थे, कई साल विताये। कहा जाता है कि यहा १०,००० विद्यार्थी और भिक्खु रहा करते थे। ह्वेन-त्साग ने यहा न्याय के आचार्य की उपाधि ली और बाद मे विश्वविद्यालय का उप-प्रधान बन गया।

ह्वेन-त्साग की किताब 'सि-यू-की', यानी पच्छिमी राज्य (तात्पर्य हिंदुस्तान से है) का ब्यौरा पढने में बडी रोचक है। ह्वेन-त्साग एक बहुत बडे सभ्य और तरक्कीयाफ्ता मुल्क से उस जमाने मे आया था, जबकि चीन की राजधानी सि-आन्-फू कला और ज्ञान का केंद्र थी, इसलिए उसकी टिप्पणिया और हिंदुस्तान की दशा के बयान बडे कीमती हैं। वह यहा की शिक्षा-व्यवस्था का हाल लिखता है, जिसके अतर्गत बहुत छुटपन मे विद्यारभ होकर क्रमश विद्यार्थी विश्वविद्यालय के दर्जे तक पहुचता था और वहा पाच विषयो मे शिक्षा दी जाती थी—(१) व्याकरण, (२) कला-कौशल, (३) औषध, (४) तर्क, और (५) दर्शन। हिंदुस्तान के लोगो के विद्या-प्रेम का उसने खासतौर पर असर लिया था। एक तरह की प्रारभिक शिक्षा यहा व्यापक रूप मे मिलती है और सभी भिक्खु और पुरोहित शिक्षक हुआ करते थे। लोगो के बारे मे वह लिखता है कि "साधारण लोग, अगरचे वे स्वभाव से खुशमिजाज हैं, फिर भी सच्चे और ईमानदार हैं। रुपये-पैसे के मामलो मे उनमे मक्कारी नही है, और न्याय करने के विषय मे उनमे बहुत सोच-विचार मिलता है अपने व्यवहार मे वे कपटी या धोखेबाज नही हैं और अपने वादो और क़सम के पाबद हैं। उनके हुकूमत के कायदो मे अद्‌भुत ईमानदारी है और उनके व्यवहार मे बडी मिठास और भलमनसाहत है। जहातक विद्रोहियो या अपराधियो का मामला है, वे बहुत कम देखने मे आते हैं, और कभी-कभी ही उपद्रव करते हैं।" आगे चलकर वह लिखता है—"चूकि शासन-व्यवस्था की नीव उदार सिद्धातो पर खडी है, इसलिए सरकार का कार्यांग बहुत सादा है . लोगो से बेगार नही ली जाती इस तरह लोगो पर कर हलके हैं रोजगार मे लगे हुए व्यापारी अपने धधे की खातिर आते-जाते रहते हैं।"

ह्वेन-त्सांग जिस रास्ते से आया था, उसी रास्ते वापस गया, यानी मध्य-एशिया से होते हुए, और वह अपने साथ बहुत-सी हाथ की लिखी पोथियां ले गया। उसके वृत्तांत से यह साफ पता चलता है कि बौद्ध-धर्म का खुरासान, ईराक, मोसुल और ठीक सीरिया की सरहद तक कितना असर था। फिर भी यह वह जमाना था, जब वहां बौद्ध-धर्म का ह्रास शुरू हो गया था, और इस्लाम, जिसकी शुरुआत अरब में हो गई थी, वहां सब जगह शीघ्र ही फैलनेवाला था। ईरानी लोगों के बारे में ह्वेन-त्सांग यह दिलचस्प बात कहता है—"वे विद्या की परवाह नहीं करते, बल्कि अपने को पूरी तरह कला की वस्तुओं में लगाते हैं। जो कुछ भी वहां तैयार होता है, उसकी पड़ोस के मुल्कों में बड़ी कद्र होती है।"

ईरान ने तब, और उसके पहले और बाद में भी, जिंदगी की खूबसूरती और शान को बढ़ाने में मदद देने पर ध्यान दिया था और उसका असर एशिया में दूर-दूर तक फैला था। गोबी रेगिस्तान के किनारे के छोटे-से राज्य तुरफान के बारे में ह्वेन-त्सांग ने हमें बताया है, और हाल में पुरातत्त्वविदों के उद्योग से हमें उसके बारे में और भी बातें मालूम हुई हैं। कितनी संस्कृतियां आईं और आपस में मिलीं-जुलीं और मिल-जुलकर एक हुईं, जिसमें कि एक बड़ा कीमती मिश्रण पैदा हुआ; यह अपनी प्रेरणा चीन और हिंदुस्तान और ईरान और यूनानी आचारों तक से हासिल करता था। भाषा भारतीय-यूरोपीय थी और हिंदुस्तान और ईरान से ली गई थी। और यूरोप की केल्टिक भाषा से कुछ अंशों में मिलती-जुलती थी, मजहब हिंदुस्तान से लिया गया, जिंदगी के रहन-सहन के तरीके चीनी थे, बहुत-से कलात्मक सामान ईरान से आये हुए थे। बुद्धों और देवी-देवताओं की मूर्तियां और दीवाल पर बने हुए चित्र, जो बड़ी सुंदरता से बने थे, ऐसे थे कि उनका पहनावा तो हिंदुस्तानी था, और सिर की पोशाक यूनानियों-जैसी थी। मो० ग्रूसे ने कहा है कि "ये देवियां हिंदू कोमलता, यूनानी प्रगल्भता और चीनी आकर्षण के सबसे अच्छे मेल की नुमाइंदगी करती हैं।"

ह्वेन-त्सांग अपने देश को वापस गया, तो वहां उसका सम्राट ने और आम लोगों ने स्वागत किया। वह अपनी पुस्तक लिखने और बहुत-सी पोथियां जो वह अपने साथ ले गया था, उनके अनुवाद के धंधे में लगा। जब बहुत साल पहले वह यात्रा के लिए निकल रहा था, तब, यह कथा कही जाती है कि तंग-वंशी सम्राट ने पानी में एक मुट्ठी धूल डालकर उसे देते हुए कहा था—"अच्छा हो कि तुम यह प्याला पी लो, क्योंकि हमें क्या यह नहीं बताया गया है कि अपने देश की एक मुट्ठी धूल मनों विदेशी सोने से बढ़कर है?"

ह्वेन-त्साग की हिंदुस्तान की यात्रा, और चीन और हिंदुस्तान मे जो उसे आदर प्राप्त हुआ, उसका नतीजा यह हुआ कि दोनो देशो मे राजनैतिक सपर्क क़ायम हुए। कन्नौज के हर्षवर्धन और तग-सम्राट के बीच राजदूतो की अदला-बदली हुई। ह्वेन-त्साग ने खुद हिंदुस्तान से अपना लगाव कायम रखा। वह यहा के मित्रो के पास खत भेजा करता था और यहा से हाथ की लिखी पोथिया मगाया करता था। दो मनोरजक पत्र, जो शुरू मे सस्कृत मे लिखे गये थे, चीन मे सुरक्षित हैं। इनमे से एक ६४५ ई० मे हिंदुस्तानी बौद्ध विद्वान स्थविर प्रज्ञादेव ने ह्वेन-त्साग को लिखा था। अभिवादन और आपस के मित्रों के कुशल-समाचार और अपनी साहित्यिक कृतियो की बात-चीत के बाद वह लिखता है—"हम तुम्हें एक जोडा सफेद वस्त्र का भेज रहे हैं, जिससे यह प्रकट हो कि हम तुम्हें भूले नही हैं। रास्ता लबा है। इस लिए इस बात का ध्यान न करना कि भेंट तुच्छ है। हम चाहते हैं कि तुम इसे स्वीकार करो। जिन सूत्रो और शास्त्रो की तुम्हें जरूरत हो, उनकी सूची भेजना। हम उनकी नक़ल करके तुम्हारे पास भेज देंगे।" ह्वेन-त्साग अपने जवाब मे लिखता है—"मुझे हिंदुस्तान से लौटे हुए एक राजदूत से मालूम हुआ कि महान गुरु शीलभद्र अब नही रहे। इस समाचार से मुझे जो दुख हुआ, उसकी हद नही   मैंने उन सूत्रो और शास्त्रो मे से जो मैं—ह्वेन-त्साग—लाया था, योगाचार्य-भूमिशास्त्र और दूसरे ग्रथ का अनुवाद कर लिया है, कुल तीस जिल्दो का। मैं विनयपूर्वक आपको सूचित करना चाहूगा कि सिंधु नदी पार करते हुए मैंने पवित्र ग्रथो का एक गट्ठर खो दिया। इस पत्र के साथ अब मैं मूल पाठो की एक सूची भेज रहा हू। मैं प्रार्थना करूगा कि अवसर मिले, तो इन्हें मेरे पास भेजना। कुछ छोटी-मोटी चीजें भेंट के तौर पर भेज रहा हू। कृपा कर इन्हें स्वीकार करना।"[1]

ह्वेन-त्साग ने हमे नालदा विद्यापीठ का बहुत-कुछ हाल बताया है और उसके बारे में और भी बयान मिलते हैं। लेकिन जब मैं, कुछ साल हुए, वहा गया और मैंने नालदा के खुदे हुए खडहर देखे, तो जिस बडे पैमाने पर उसकी रचना हुई थी, उसे देखकर मै अचरज मे रह गया। अभी उसके सिर्फ एक हिस्से की खुदाई हुई है, और बाकी हिस्सो पर बस्तिया बसी हुई हैं, लेकिन जिस हिस्से की खुदाई हुई है, उसमे बडे-बडे आगन हैं, जिनके चारो तरफ किसी वक़्त पत्थर की विशाल इमारतें बनी हुई थी।

चीन मे ह्वेन-त्साग की मृत्यु के तुरत बाद ही एक दूसरा मशहूर चीनी

[1] डाक्टर पी० सी० बागची की पुस्तक 'इंडिया एंड चायना' (कलकत्ता, १९४४) से उद्धृत।

यात्री—इत्सिंग (या यि-त्सिंग) हिंदुस्तान में आया। वह ६७१ ई० मे रवाना हुआ और उसे हिंदुस्तान के बंदरगाह ताम्रलिप्ति तक पहुंचने मे क़रीब-करीब दो साल लगे। यह बंदरगाह हुगली नदी के दाहिने दहाने पर है। वह समुद्र के रास्ते आया और कई महीने तक वह श्रीभोग (सुमात्रा मे आधुनिक पालेमबग) मे संस्कृत सीखने के लिए ठहरा। समुद्र के रास्ते उसकी यात्रा का एक महत्व है, क्योंकि यह संभव है कि मध्य-एशिया की स्थिति उस वक्त हलचल की थी और राजनैतिक परिवर्तन हो रहे थे। मुमकिन है कि बहुत-से मैत्री-भाव रखनेवाले बौद्ध-मठ, जो रास्ते में बिखरे हुए थे, अब न रह गये हो। यह भी मुमकिन है कि हिंदुस्तानी उपनिवेशो के इंडोनेशिया मे तरक्की पाने की वजह से और हिंदुस्तान और इन देशों के बीच व्यापार के व और दूसरे संपर्कों के कारण समुद्री रास्ता ज्यादा सहूलियत का हो गया हो। उसके और वृत्तातो से पता चलता है कि फ़ारस (ईरान), हिंदुस्तान, मलय, सुमात्रा और चीन के बीच नियमित रूप से जहाज़ आया-जाया करते थे। इत्सिंग क्वागतुग से एक फारसी जहाज़ पर सवार होकर पहले सुमात्रा गया था।

इत्सिंग ने भी नालदा विश्वविद्यालय मे बहुत दिनो तक विद्या सीखी और वह अपने साथ कई सौ संस्कृत ग्रंथ ले गया। उसकी खास दिलचस्पी बौद्ध-कर्म-काड और आचार की बारीकियो मे थी, और इनके बारे में उसने विस्तार से लिखा है। लेकिन वह रीति-रिवाजो, कपडो और खाने-पीने के बारे में भी बहुत-कुछ कहता है। अब की तरह उस जमाने में भी गेहू उत्तरी हिंदुस्तान का मुख्य भोजन था और पूरब और दक्खिन मे चावल चलता था। मास भी कभी-कभी खाया जाता था, लेकिन यह कम ही होता था। (इत्सिंग संभवत बौद्ध भिक्खुओ की बात बता रहा है, औरों की नही)। घी, तेल, दूध, मलाई सब जगह मिलती थी, और मिठाइयो और फलो की इफरात थी। आचार-विचार की शुद्धता पर हिंदुस्तानी जो महत्व देते थे, उसका इत्सिंग ने बयान किया है। "अब पहला और खास फर्क, जो पाच प्रदेशो के देश हिंदुस्तान और दूसरी कौमो मे है, वह पवित्रता और अपवित्रता मे किया जानेवाला बडा भेद है।" वह यह भी लिखता है—"भोजन के बाद जो कुछ बच रहे, उसको रख छोडना, जैसा कि चीन मे चलता है, हिंदुस्तान के नियमों के अनुकूल नही है।"

इत्सिंग हिंदुस्तान का हवाला आमतौर पर पच्छिम (सि-फ़ग) करके देता है, लेकिन वह कहता है कि यह आर्य-देश के नाम से मशहूर है—"आर्य-देश, आर्य

का नाम है। इसका नाम ऐसा इसलिए पडा कि यहा उत्तम चरित्र के लोग बराबर उत्पन्न होते रहे हैं और सभी लोग इस नाम से देश की प्रशसा करते हैं। यह मध्य-देश भी कहलाता है, यानी बीच का देश, क्योकि यह सैकडो-हजारो देशो के बीच मे है। लोग सब इस नाम से परिचित हैं। उत्तरी जातिया (हू या मगोल या तुर्क) ही इस उत्तम देश को 'हिंदू' (सिन्-तु) कहती हैं, लेकिन यह नाम हरगिज आम नही है। यह केवल देशी नाम है और इसका कोई खास महत्व नही है। हिंदुस्तान के लोग इस नाम को नही जानते और हिंदुस्तान के लिए सबसे उचित नाम 'आर्य-देश' है।"

इत्सिग का 'हिंदू' का हवाला मनोरजक है। वह आगे कहता है—"कुछ लोग कहते हैं कि इदु के मानी चद्रमा के होते हैं और हिंदुस्तान का चीनी नाम, यानी इदु (यिन्-तु), इसीसे निकला है, इसका यह अर्थ हो सकता है लेकिन यह नाम आम नही है। जहातक महान चाऊ (चीन) का हिंदुस्तानी नाम, यानी चीना है, यह महज एक नाम है, इसका कोई महत्व नहीं।" वह कोरिया और अन्य देशो के सस्कृत नामो का भी वर्णन करता है।

हिंदुस्तान और हिंदुस्तान की बहुत-सी चीजो के लिए आदर का भाव रखते हुए इत्सिग ने साफ बताया है कि वह पहला स्थान अपनी जन्मभूमि चीन को देता है। हिंदुस्तान आर्य-देश हो सकता है, लेकिन चीन देव-भूमि है। "हिंदुस्तान के पाच भागो के लोगो को अपनी पवित्रता और उत्तमता का गर्व है। लेकिन ऊचे किस्म की रुचि, साहित्यिक उत्कृष्टता, शिष्टता, मर्यादा, आवभगत और बिदा होनेके समय के शिष्टाचार, भोजन का स्वाद, नीति और उदारता की शालीनता चीन में ही मिलती है, और कोई मुल्क चीन से इन बातो मे बढ नही सकता।" "सुई से छेदकर और जलाकर रोग अच्छा करने की क्रिया मे, नब्ज देखने की कला मे हिंदुस्तान के किसी हिस्से से चीन पिछडा नही है, और जिंदगी को बढाने की औषधि तो सिर्फ चीन मे मिलती है . मनुष्यो के चरित्र और चीजो के गुणो के कारण चीन देव-भूमि कहलाया है। क्या हिंदुस्तान के पाच भागो मे कोई व्यक्ति है, जो चीन की तारीफ नही करता ?"

चीन-सम्राट के लिए पुरानी सस्कृत मे जिस शब्द का इस्तेमाल हुआ है, वह है 'देव-पुत्र', और यह ठीक उसी आशय के चीनी शब्द का अनुवाद है।

इत्सिग, जो खुद सस्कृत का खासा विद्वान था, इस भाषा की तारीफ करता है और बताता है कि उत्तर और दक्खिन के दूर-दूर देशो मे इसका

आदर होता है. ’ "तब तो देव-भूमि (चीन) और स्वर्गिक भंडार (हिंदुस्तान) के लोगो को भाषा के सच्चे नियमो की कितनी और शिक्षा देनी चाहिए!"[1] चीन मे संस्कृत का काफी अध्ययन होता रहा होगा। यह बात मनोरंजक है कि कुछ चीनी विद्वानो ने संस्कृत के ध्वनि के नियमो को चीनी भाषा मे चलाना चाहा। इसकी एक मशहूर मिसाल शाऊ-वेन का भिक्खु था, जो तंग-वंश के जमाने मे हुआ था। इसी ढंग की एक वर्णमाला उसने चीन मे चलाने की कोशिश की।

हिंदुस्तान मे बौद्ध-धर्म के ह्रास के साथ-साथ हिंदुस्तान और चीन के बीच विद्वानो का आना-जाना करीब-करीब बंद हो गया, अगरचे चीनी यात्री हिंदुस्तान की बौद्ध-धर्म की पवित्र जगहो के दर्शन के लिए फिर भी कभी-कभी आते रहते थे। ग्यारहवी सदी और उसके बाद जो राजनैतिक क्रांतिया हुई, उस जमाने मे बौद्ध भिक्खुओ के ठट्ठ-के-ठट्ठ पोथियो की गठरिया बाधे हुए नेपाल चले गये, या हिमालय पार करके तिब्बत पहुच गये। इस तरह से और पहले भी पुराने हिंदुस्तानी साहित्य का बहुत-सा हिस्सा चीन और तिब्बत पहुच गया, और हाल के वर्षों में उनका फिर से पता चला है, जो या तो मूल मे ही मौजूद हैं, या ज्यादातर अनुवाद के रूप मे। बहुत-से पुराने हिंदुस्तानी ग्रंथ, चीनी या तिब्बती तरजुमे की शक्ल मे सुरक्षित हैं और ये महज बौद्ध-धर्म के बारे मे नही हैं, बल्कि ब्राह्मण-धर्म, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-शास्त्र आदि विषय के भी हैं। चीन के सुगपाओ संग्रह मे ऐसे ८००० ग्रंथ मौजूद बताये जाते हैं। तिब्बत ऐसे ग्रंथो से भरा हुआ है। अकसर हिंदुस्तानी, चीनी और तिब्बती विद्वान मिलकर काम किया करते थे। इस सहयोग की एक खास मिसाल बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का वह संस्कृत-तिब्बती चीनी कोष है, जो नवीं या दसवीं सदी ईस्वी में तैयार हुआ था और जिसका नाम 'महाव्युत्पत्ति' है।

चीन की सबसे पुरानी छपी हुई किताबों मे, जो आठवी सदी ईस्वी की शुरुआत के वक्त की हैं, संस्कृत के ग्रंथ भी हैं। ये लकडी के ठप्पो से छपे हुए हैं। दसवी सदी मे, चीन मे, छापे के विशेषज्ञों का एक शाही आयोग बना और उसके फलस्वरूप ठीक सुंग जमाने तक छपाई की कला ने तेजी से तरक्की की। यह एक अचरज की बात है और इसका ठीक-ठीक कारण

[1] ये उद्धरण जे० ताकाकुसु के इत्सिंग के ग्रंथ के अनुवाद 'ए रेकर्ड ऑव बुद्धिस्ट रिलिजन एण्ड प्रैक्टिसेस इन इंडिया ऐंड दि मलय आर्किपेलेगो' (आक्सफोर्ड, १८९६) से लिये गये हैं।

नहीं समझ मे आता कि बावजूद चीनी और हिंदुस्तानी विद्वानो के बीच इतना घना सबध होने के और सैकडो साल तक आपस मे पुस्तको की अदला-बदली होते रहने के, इनके कोई प्रमाण नही मिलते कि हिंदुस्तान मे उस जमाने मे पुस्तको की छपाई होती थी। ठप्पे से छापने का चलन चीन से तिब्बत मे किसी शुरू जमाने मे पहुचा, और मेरा खयाल है कि यह वहा अब भी कायम है। चीनी छपाई का पहला परिचय यूरोप को मगोल या युआन-वश के जमाने (१२६०-१३६८) मे हुआ। पहले यह जर्मनी तक महदूद रहा, बाद मे पद्रहवी सदी मे यह और देशो मे फैला।

हिंदुस्तान के हिंदी-अफगान और मुगल जमानो मे भी हिंदुस्तान और चीन के बीच जब-तब राजनैतिक सबध रहे हैं। दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक (१३२६-५१) ने अरब यात्री इब्न बतूता को चीनी दरबार मे राजदूत बनाकर भेजा था। बगाल ने उस जमाने मे सुल्तान की हुकूमत से अलग होकर अपनी आज़ाद रियासत कायम कर ली थी। चौदहवी सदी के बीच के जमाने मे चीनी दरबार की तरफ से बगाल के सुल्तान के यहा हु-शीन और फिन-शीन नाम के दो राजदूत भेजे गये थे। इसका नतीजा यह हुआ कि सुल्तान ग़यासुद्दीन के राज्य-काल मे बगाल से कई राजदूत लगातार चीन भेजे गये। यह चीन के मिंग बादशाहो का जमाना था। बाद मे एक एलची के साथ, जिसे सैफुद्दीन ने १४१४ ई० मे भेजा था, और क़ीमती तोहफो के साथ एक जिंदा जिराफ भी भेजा गया था। जिराफ हिंदुस्तान मे कैसे पहुचा, यह एक रहस्य की बात है। शायद यह अफ्रीका से भेंट की शक्ल मे आया हो, और इस खयाल से कि यह अजीब चीज़ है और इसलिए पसद किया जायगा, इसे मिंग बादशाह के पास भेजा गया। दरअसल चीन मे इसकी बडी कद्र हुई क्योंकि कनफूशस के अनुयायी जिराफ को एक पवित्र प्रतीक मानते हैं। इसमे शक नही कि यह जानवर जिराफ ही था, क्योकि इसके वर्णनो के साथ-साथ चीनी रेशमी कपडे पर इसकी एक तस्वीर भी मिलती है। जिस दरबारी चित्रकार ने इसकी तस्वीर बनाई है, उसने इसका लबा हाल भी लिखा है, जिसमे बताया गया है कि यह जानवर बहुत शुभ है। "मत्री लोग और आम जनता इसे देखने के लिए जमा हुए और उसे देखकर बहुत ही खुश हुए।"

चीन और हिंदुस्तान के बीच जो व्यापार बौद्ध जमाने मे ज़ोर से चल रहा था, वह हिंदी-अफ़ग़ान और मुगल जमाने मे भी जारी रहा और बहुत-सी चीजो का अदला-बदला होता रहा। यह माल उत्तरी हिमालय के दर्रों से होकर मध्य-एशिया के कारवानी रास्ते से जाता था। समुद्र के

रास्ते भी अच्छा-खासा व्यापार होता था, जो दक्खिन-पूरबी एशिया के टापुओ से होता हुआ खासतौर पर दक्खिनी हिंदुस्तान के बदरगाहो तक पहुचता था।

चीन और हिंदुस्तान के बीच होनेवाली तीन हज़ार, बल्कि इससे ज्यादा सालो की राह-रस्म मे दोनो मुल्को ने एक-दूसरे से कुछ हासिल किया, न महज़ विचार और फिलसफे के मैदान मे, बल्कि ज़िदगी की कलाओ और विज्ञान मे भी। शायद चीन पर हिंदुस्तान का जितना असर पड़ा, उतना हिंदुस्तान पर चीन का नही पडा। यह अफसोस की बात है, क्योकि हिंदुस्तान चीन का कुछ व्यावहारिक ज्ञान सीखकर उससे लाभ उठा सकता था और अपनी दिमाग़ी उडानो को कुछ काबू मे रख सकता था। चीन ने हिंदुस्तान से बहुत-कुछ लिया, लेकिन उसमे हमेशा ऐसी शक्ति और आत्म-विश्वास रहे हैं कि जो कुछ वह लेगा, वह अपने ढग से और उसको अपने यहा की ज़िदगी के ताने-बाने मे कही ठीक-ठीक बिठा लेगा।[1] बौद्ध-धर्म और उसका पेचीदा फिलसफा भी कनफूशस और लाओ-त्से का रग लिये बग़ैर न रह पाया। बौद्ध-धर्म के किंचित निराशावादी नज़रिये ने चीनियो के ज़िदगी के प्रति प्रेम और उमग को दबाया नही। एक पुरानी चीनी कहावत है—"अगर कही सरकार तुम्हें पकड पाये, तो कोडो से तुम्हारी जान ले लेगी, अगर कही बौद्ध तुम्हे पकड पाये, तो वे तुम्हें भूखो मार डालेंगे!"

सोलहवी सदी का एक मशहूर चीनी उपन्यास है—'बंदर', जो वू-चेन-येन की रचना है (इसका अग्रेज़ी तरजुमा 'मकी' नाम से आर्थर वेले ने किया है), जिसमे हिंदुस्तान की यात्रा मे ह्वेन-त्साग पर बीती घटनाओ का कल्पित और बढा-चढा बयान है। इस किताब के आखिर मे हिंदुस्तान के लिए एक समर्पण है—"मैं इस किताब को बुद्ध की पवित्र भूमि को समर्पित करता हू। प्रार्थना है कि अपने सरक्षक और गुरु की दया का यह ऋण चुकाये और भटके हुओ और पतितो के कष्टो को कम करे ।"

एक-दूसरे से कई सदियो तक कटे रहकर, भाग्य के अजीब फेर से हिंदुस्तान और चीन ब्रिटिश ईस्ट इडिया कपनी के असर मे आये। हिंदुस्तान को इसे बहुत दिनो तक बरदाश्त करना पडा, चीन मे यह सपर्क बहुत थोडे दिनो का था, फिर भी वहा इसका नतीजा यह हुआ कि वहा अफीम पहुची और युद्ध पहुचा।

और अब भाग्य का चक्र पूरा फिर चुका है, और फिर से हिंदुस्तान

[1] चीनी नव-जागृति के आंदोलन के नेता प्रोफ़ेसर हु-शीह ने पुराने ज़माने के 'चीनी भारतीयकरण' पर लिखा है।

और चीन एक-दूसरे की तरफ देखने लगे हैं और उनके दिमाग़ो मे पुरानी यादें उठ रही हैं। फिर एक दूसरे की तरह के यात्री बीच के पहाडो को पार करके या उन पर से उड करके सद्‌भावना के सदेश लाने लगे हैं, जिससे मैत्री के मजबूत बधन कायम होगे।

१६ : दक्खिन-पूरबी एशिया में हिंदुस्तानी उपनिवेश और सभ्यता

हिंदुस्तान को जानने और समझने के लिए यह ज़रूरी है कि आदमी दूर देश और काल मे यात्रा करे और कुछ देर के लिए उसकी मौजूदा हालत, उसके सब दुख-दर्द, उसकी सकीर्णता और उसकी भयानक दशा को भूल जाय, और वह क्या था और उसने क्या किया, इन बातो की झ की ले। रवीद्रनाथ ठाकुर ने लिखा था—"मेरे देश को जानने के लिए आदमी को उस युग की यात्रा करनी पडेगी, जब उसने आत्म-ज्ञान हासिल किया था और इस तरह अपनी भौतिक सीमाओ को लाघ गया था, जब उसने अपना रूप एक ऐसी ज्वलत उदारता द्वारा प्रकट किया था कि जिसने सारे पूर्वी क्षितिज को आलोकित कर दिया था और विदेशी तटो के निवासी एक अचमित ज़िदगी मे जाकर उसे अपना समझ सके थे, न कि अब, जब वह गुमनामी के तग घेरे मे सिमटकर आ गया है, जब उसे अलहदगी का दैन्य गर्व है, जब उसका चितन दरिद्र होकर अपने ही गिर्द, गुज़रे हुए ज़माने को दुहराते हुए चक्कर काट रहा है, ऐसे गुज़रे हुए ज़माने के गिर्द, जिसने अपनी रोशनी खो दी है और जिसके पास भविष्य के यात्रियो के लिए कोई सदेश नही है।"

हमें गुज़रे हुए ज़माने को ही सामने लाने की ज़रूरत नही, बल्कि एशिया के उन अनेको देशो की, शरीर से नही तो कल्पना मे ही, यात्रा करने की ज़रूरत है, जहा बहुत तरह से हिंदुस्तान ने अपना विस्तार किया था और जहा उसने अपनी भावना, अपनी शक्ति और अपने सौंदर्य-प्रेम की अमर छाप डाली थी। अपने गुज़रे हुए ज़माने की इन शानदार कृतियो को हममे से कितने कम लोग जानते हैं, कितने कम लोग इसका अनुभव करते हैं कि हिंदुस्तान विचार और फिलसफे के मैदान मे तो बडा था ही, काम के मैदान में भी वह उतना ही बडा था? हिंदुस्तान के मर्दों और औरतो ने अपने देश से सुदूर जाकर जिस इतिहास का निर्माण किया, उसका लिखा जाना अभी बाकी है। बहुत-से पच्छिम के लोग अब भी यह खयाल करते हैं कि पुराने ज़माने का इतिहास भूमध्य सागर के किनारे के देशो तक खत्म हो

जाता है और बीच के जमाने और मौजूदा ज़माने का इतिहास ज्यादातर उस छोटे झगडालू महाद्वीप का इतिहास है, जिसे यूरोप कहते हैं। और अब भी वे आनेवाले ज़माने के लिए इस तरह योजना बनाते है, जैसे यूरोप ही सब-कुछ है और बाकी देश कही भी बिठाये जा सकते हो।

सर चार्ल्स इलियट ने लिखा है कि "यूरोप के इतिहासकार हिंदुस्तान के साथ अन्याय करते हैं, जब वे महज़ उसके आक्रमणकारियो के वृत्तात लिखते है और इस तरह का प्रभाव डालते है कि मानो खुद उसके बाशिदे कमज़ोर, सपना देखनेवाले लोग हो और बाकी दुनिया के कटे हुए अपने पहाडो और समुदरो से घिरे हुए अलग-थलग रह रहे हो। इस तरह की तस्वीर मे यह बात भुला दी जाती है कि हिंदुओ ने कैसी-कैसी दिमागी विजय हासिल की है। उनकी राजनैतिक विजये भी तुच्छ नही हैं, और अगर इस लिहाज़ से नही कि कौन से देशो पर ये हुई है, तो दूरी के लिहाज़ से तो ज़रूर ही मार्के की है लेकिन इस तरह के फौजी या व्यापारी आक्रमण, हिंदुस्तानी विचार के प्रचार के मुकाबले मे कम भी नही हैं।"[1]

जिस वक्त इलियट ने यह लिखा, उस वक्त शायद वह उन हाल की जानकारियो से परिचित नही थे, जो दक्खिन-पूरबी एशिया के बारे मे अब हासिल हुई हैं और जिन्होने हिंदुस्तान और एशिया के गुज़रे हुए ज़माने के बारे मे हमारे खयालो मे क्राति पैदा कर दी है। इन खोजो की जानकारी ने उनकी दलील को और भी मजबूत कर दिया होता और यह दिखा दिया होता कि विचारो के प्रचार के अलावा भी विदेशो मे हिंदुस्तान का कार-नामा हरगिज़ तुच्छ नही रहा है। मुझे याद है कि जब मैंने करीब पद्रह साल पहले दक्खिन-पूरबी एशिया के इतिहास का कुछ विस्तार से हाल पढा था, तब मुझे कितना ताज्जुब हुआ था और मैं कितना उत्तेजित हो उठा था। मेरी आखो के सामने बिलकुल नये नज्ज़ारे फिर गये थे, इतिहास के नये पहलू दिखाई पडे थे और हिंदुस्तान के गुज़रे हुए ज़माने की नई कल्पना सामने आई थी, और मुझे अपने सब पुराने विचारो को उनकी रोशनी मे फिर से ठीक-ठीक बिठाना पडा था। चपा, कबोडिया और अगकोर, श्रीविजय और मज्जापहित यकायक मानो शून्य के भीतर से साकार होकर मेरे सामने आये थे और उनके साथ एक स्वाभाविक भावना का उद्गार था, जो अतीत का वर्तमान से स्पर्श कराता है।

उस बडे योद्धा और विजेता और दूसरे कारनामोवाले शैलेंद्र के बारे

---

[1]इलियट : 'हिंदूइज़्म एंड बुद्धिज़्म', जिल्द १, पृष्ठ १२

में डॉ० एच० जी० क्वारिट्च वेल्स ने लिखा है—"उन बड़े विजेता ने, जिसके कारनामों का मुक़ाबला पच्छिमी इतिहास के सिर्फ़ बड़े-से-बड़े सैनिकों से किया जा सकता है और जिनका नाम अपने जमाने में फ़ारस से चीन तक फैला हुआ था, दस या बीस साल के भीतर ही एक विस्तृत समुद्री साम्राज्य कायम कर लिया था, जो पांच सदियों तक क़ायम रहा, और जिसने हिंदुस्तानी कला और संस्कृति के अद्भुत विकास को जावा और कंबोडिया में संभव बनाया। लेकिन अपने विश्व-कोषों और इतिहासों में इस विस्तृत साम्राज्य या उसके महान संस्थापक का हवाला ढूंढना फिजूल साबित होगा। यह बात ही कि इस तरह का एक साम्राज्य किसी जमाने में था, मुट्ठी-भर पूर्वी विषयों के विद्वानों के अलावा लोग मुश्किल से जानते हैं।"[1] इन प्राचीन हिंदुस्तानी उपनिवेश क़ायम करनेवालों के फ़ौजी कारनामे महत्त्व के हैं, क्योंकि उनसे हिंदुस्तानी चरित्र और योग्यता के कुछ पहलुओं पर रोशनी पड़ती है, जिनका अबतक ठीक-ठीक आदर नहीं किया गया है। लेकिन इससे कहीं अहम बात यह है कि उन लोगों ने अपने उपनिवेशों में एक समग्र सभ्यता क़ायम की और ऐसी बस्तियां बसाईं, जो एक हजार साल से ज्यादा तक क़ायम रहीं।

पिछली चौथाई सदी के बीच, दक्खिन-पूरबी एशिया के इस बड़े प्रदेश के इतिहास पर बहुत-कुछ रोशनी पड़ी है, और इसे बृहत्तर भारत का नाम दिया गया है। बहुत-सी कड़ियां अब भी नहीं मिलतीं, बहुत-सी परस्पर विरोधी बातें कही जाती हैं, विद्वान लोग अब भी एक-दूसरे के खिलाफ़ सिद्धांत पेश कर रहे हैं, लेकिन मोटे ढंग से इस इतिहास की रूप-रेखा काफ़ी स्पष्ट है और कभी-कभी तो विस्तार की बातों की भी बहुतायत से जानकारी हासिल होती है। सामग्री की कोई कमी नहीं है, क्योंकि हिंदुस्तानी पुस्तकों में हमें हवाले मिलते हैं, अरब के यात्रियों के बयान हैं, और सबसे महत्त्व की तो चीन से प्राप्त इतिहास की सूचनाएं हैं। बहुत-से पुराने शिलालेख, ताम्र-पत्र वगैरह भी हैं और जावा और बाली में हिंदुस्तानी आधारों पर तैयार किया गया एक संपन्न साहित्य भी है, जो अकसर हिंदुस्तानी महाकाव्यों और पुराणों की गाथाओं का दूसरे शब्दों में महज दुहरा देता है। यूनानी और लातिनी आधारों में भी कुछ सूचनाएं मिलती हैं, लेकिन सबसे बढ़कर पुरानी इमारतों के विशाल खंडहर हैं, जो खासतौर पर अंगकोर और बोरोबुदर में मिलते हैं।[2]

[1] देखिये 'टुवर्ड्स अंगकोर' (हैरप, १९३७)

[2] इस संबंध में डॉक्टर आर० सी० मजूमदार की पुस्तक 'एनशियेंट

ईस्वी सवत की पहली सदी से आगे हिंदुस्तानी उपनिवेश बसानेवालों की लहर-पर-लहर पूरब और दक्खिन-पूरब मे फैली और ये लका, बरमा, मलय, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, स्याम, कबोडिया और इडोचीन तक फैली। इनमे से कुछ तो फारमूसा, फिलिपीन टापुओ और सेलिबीज़ तक पहुची। मेडागास्कर तक की चालू जबान इडोनेशियन है, जिसमे सस्कृत शब्दो की मिलावट है। ऐसा होने मे कई सौ साल लगे होगे और शायद इन सब जगहो मे सीधे हिंदुस्तान के लोग न पहुचे होगे, बल्कि बीच के किसी उपनिवेश से फैले होगे। पहली सदी ईस्वी से लगभग ९०० ईस्वी तक चार खास लहरें उपनिवेश कायम करनेवालो की गई हुई जान पडती हैं, लेकिन इनके बीच-बीच मे पूरब जानेवाले लोगो का एक सिलसिला बना रहा होगा। इन साहसी कारनामो की सबसे मार्के की बात यह थी कि इनका सगठन राज्य द्वारा हुआ जान पडता है। दूर-दूर तक फैले हुए उपनिवेश यकायक एक साथ कायम होते हैं, और करीब-करीब हमेशा ये ऐसी जगहो पर कायम होते हैं, जो फौजी दृष्टि से महत्व की जगहे हैं या खास यात्रा के मार्ग हैं। इन बस्तियो को जो नाम दिये गये, वे पुराने हिंदुस्तानी नाम हैं। इस तरह वह देश, जिसे आज कबोडिया कहते हैं, कबोज कहलाया, जो प्राचीन हिंदुस्तान का काबुल की घाटी मे, गधार मे, एक मशहूर शहर था। इस बात से ही, मोटे ढग से उपनिवेश के बसाये जाने का समय जाना जा सकता है, क्योंकि उस वक्त गधार (अफगानिस्तान) आर्य-हिंदुस्तान का एक महत्वपूर्ण हिस्सा रहा होगा।

समुद्र-पार की इन अद्भुत और भयावह विजय-यात्राओं के पीछे कौनसी प्रेरणा थी? इनका खयाल या सगठन मुमकिन न था, अगर इनसे पहले, पीढियो और सदियो पहले, कुछ व्यक्ति या छोटे-छोटे तिजारती गिरोह वहा जाकर वहा से परिचित न हुए होते। सबसे पुरानी सस्कृत किताबो मे पूरब के इन देशो के अस्पष्ट हवाले हैं। उनमे आये हुए नामो को आज जगहो से जोड सकना आसान नहीं, लेकिन कभी-कभी कोई दिक्कत नही भी होती। जावा साफ तौर पर 'यवद्वीप' या 'जौ का टापू' है और यव आज भी एक अन्न विशेष का नाम है। पुराने ग्रथो मे आये हुए और नाम भी आमतौर पर धातु, खनिज, या किसी व्यापार या खेती की पैदावार से ताल्लुक रखते हैं। इस नामकरण से ही व्यापार की तरफ ध्यान जाता है।

इंडियन कालोनीज़ इन दि फार ईस्ट' (कलकत्ता, १९२७) और इन्हीं लेखक की पुस्तक 'स्वर्णद्वीप' (कलकत्ता, १९३७) देखिये; ग्रेटर इंडिया सोसाइटी (कलकत्ता) के प्रकाशन भी।

डॉक्टर आर० सी० मजूमदार ने बताया है—"अगर साहित्य आम लोगो के विचारों का ठीक-ठीक दर्पण है, तो ईस्वी सवत के शुरू होने से पहले और बाद की सदियो मे बनिज-व्यापार के लिए बहुत बडा उत्साह रहा होगा।" इन सब बातो से पता चलता है कि यहा की आर्थिक व्यवस्था का फैलाव हो रहा था और दूर-दूर की मडियो की बराबर खोज हो रही थी।

ईसा से पहले की तीसरी और दूसरी सदियो मे यह व्यापार रफ्ता-रफ्ता बढ गया था और तब इन व्यवसायियो और व्यापारियो के बाद धर्म-प्रचारको का जाना शुरू हुआ होगा, क्योंकि यह अशोक से ठीक बाद का ज़माना था। सस्कृत की पुरानी कथाओं मे डरानेवाली समुद्र-यात्राओ और जहाज़ो के तबाह होने के बहुत-से बयान मिलते हैं। यूनानी और अरबी दोनो ही बयानो से पता लगता है कि हिंदुस्तान और सुदूर पूरब के देशो के बीच कम-से-कम पहली सदी ईस्वी मे समुद्र के रास्ते से नियमित व्यापार चालू था। मलय प्रायद्वीप और इडोनेशिया के टापू चीन और हिंदुस्तान, फ़ारस, अरब और भूमध्य सागर के यात्रा-मार्ग मे पडते थे। अपने भौगोलिक महत्व के अलावा इन देशो मे कीमती खनिज, धातु, मसाले और लकडिया मिलती थी। अब की तरह उस ज़माने मे भी मलय अपनी टीन की खानो के लिए मशहूर था। शायद सबसे पहली यात्राए हिंदुस्तान के पूरबी समुद्र-तट के बराबर-बराबर—कलिंग (उडीसा), बगाल, बरमा, और फिर नीचे मलय प्रायद्वीप होते हुए हुई थी। बाद मे दक्खिन हिंदुस्तान से सीधे यात्रा-मार्ग कायम हो गये थे। इसी रास्ते से हिंदुस्तान मे अनेक चीनी यात्री आये थे। फाह्यान जावा से पाचवीं सदी मे होकर गुज़रा था और उसने उलाहना दिया है कि अब भी यहा बहुत-से विधर्मी बसते हैं, उसका तात्पर्य ब्राह्मणो से था, जो बौद्ध-धर्म के अनुयायी नही बने थे।

यह जाहिर है कि जहाज़ो के बनाने का धधा प्राचीन हिंदुस्तान मे अच्छी तरक्की पर था। उस ज़माने मे बने हुए जहाज़ो का कुछ ब्यौरेवार हाल हमे मिलता है। बहुत-से हिंदुस्तानी बदरगाहो के नाम मिलते हैं। दूसरी और तीसरी सदी ईस्वी के दक्खिन हिंदुस्तानी (आध्र) सिक्को पर दुहरे पालो-वाले जहाज़ की छाप मिलती है। अजता की दीवार पर बने हुए चित्रो मे लका की विजय दिखाई गई है और हाथी ले जानेवाले जहाज़ बने हैं। वे बडी रियासतें और सल्तनतें, जो शुरू के हिंदुस्तानी उपनिवेशो मे क़ायम हुईं, सभी मुख्य रूप से समुद्री ताकते थी। उनकी व्यापार मे दिलचस्पी थी और इसलिए समुद्री-मार्ग पर उनका अधिकार था। उनकी आपस में समुद्री लडाइया भी होती थी और कम-से-कम एक बार उन्होने

वृहत्तर भारत
(दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय उपनिवेश)

दक्खिन हिंदुस्तान के चोल राज्य को चुनौती दी। लेकिन चोल-वंशी भी बडे ताक़तवर थे और उन्होंने समुद्री धावा किया और कुछ काल के लिए शैलेंद्र के साम्राज्य को दबा दिया।

सन १०८८ ई० का एक दिलचस्प तमिल शिलालेख है, जिसमे "पद्रह सौ के सघ" का बयान है। जाहिरा तौर पर यह व्यापारियो का सघ था, जिसके लोगो को बताया गया है कि वे "वीर पुरुष थे, जिनका जन्म कृत युग (सतयुग) से ही जल और थल की राह से दूर-दूर देशो मे जाकर छहों खडो को भेदकर घोडे, हाथी, मणि-माणिक, फुलेल और औषधियों का थोक और खुदरा व्यापार करने के लिए हुआ था।"

हिंदुस्तानियो के शुरू के औपनिवेशिक उद्योगो की यह भूमिका थी। व्यापार और साहसी धधो और विस्तार की प्रेरणा उन्हे इन पूर्वी देशो मे ले गई, जिनका पुराने सस्कृत ग्रथो मे 'स्वर्णभूमि' या 'स्वर्णद्वीप' के व्यापक शब्द से सकेत किया गया है। इस नाम मे ही एक कशिश थी। शुरू के उपनिवेश क़ायम करनेवाले पहले बस गये, फिर और बाद मे आये, और शांति के साथ बैठने की यह क्रिया जारी रही। हिंदुस्तानियो का उन जातियों से, जो उन्हें वहा पर मिली, मेल-जोल हुआ, और एक नई मिली-जुली सस्कृति का विकास हुआ। इतना हो चुकने पर ही शायद राजनैतिक वर्ग के लोग—कुछ क्षत्रिय राजकुमार, कुलीन वशो के सैनिक—साहसी कामो और राज्य-स्थापना के विचार से आये। नामो की समानता की वजह से यह सुझाव दिया गया है कि इन लोगो मे से ज्यादातर हिंदुस्तान मे खूब फैली हुई मालव जाति के लोग थे—इसीसे मलय जाति हुई, जिसका सारे इडोनेशिया पर इतना अहम असर रहा है। मध्य-हिंदुस्तान का एक हिस्सा अब भी मालवा कहलाता है। ऐसा खयाल किया जाता है कि शुरू के औपनिवेशिक पूर्वी समुद्र-तट के कलिंग देश (उडीसा) से गये थे, लेकिन यह दक्खिन का पल्लव हिंदू राज्य था, जिसने उपनिवेशों को बसाने की सगठित कोशिश की। यह खयाल किया जाता है कि शैलेंद्र-वश, जो दक्खिन-पूरबी एशिया मे इतना मशहूर हुआ, उडीसा से आया हुआ था। उस ज़माने मे उडीसा बौद्धों का एक गढ था, अगरचे शासन करनेवाला राजवश ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था।

ये सभी हिंदुस्तानी नौ-आबादिया चीन और हिंदुस्तान, इन दो बडे मुल्को और दो बडी तहज़ीबो के बीच बसी थी। उनमे से कुछ, जो एशिया के बडे भू-खड पर थी, तो ऐसी थी कि उनकी सरहदें चीनी-साम्राज्य को छूती थी, बाकी हिंदुस्तान और चीन के खास तिजारती रास्ते मे पडती थी।

इस तरह उन पर दोनों देशों का असर पड़ता था और उनमें एक मिली-जुली हिंदुस्तानी और चीनी सभ्यता ने तरक्क़ी की, लेकिन इन दोनों ही सभ्यताओं की प्रकृति ऐसी थी कि आपस के कोई झगड़े नहीं हुए और जुदा-जुदा शक्ल के मिले-जुले नमूने बन चले। पूरबी देशों में बरमा, स्याम और हिंद-चीन में और इन पर ज्यादा असर चीन का पड़ा, टापुओं पर और मलय प्रायद्वीप पर हिंदुस्तान की छाप ज्यादा थी। आमतौर पर शासन के तरीक़े और जिंदगी का फ़िलसफ़ा चीन ने दिया, धर्म और कला हिंदुस्तान ने दी। पूरबी देश अपने व्यापार के लिए ज्यादातर चीन का सहारा लेते थे, और उनमें आपस में एलचियों का अदल-बदल होता रहता था। लेकिन कंबोडिया तक में, और अंगकोर के विशाल खंडहरों में कला-संबंधी जो भी प्रभाव पड़ा, वह सिर्फ़ हिंदुस्तान का। इसके अलावा और दूसरे असर का पता अबतक नहीं चला है। लेकिन हिंदुस्तानी कला लचीली थी, और ऐसी थी कि उसे हर एक मुल्क अपनी जरूरत के मुताबिक़ ढाल सकता था, और हर एक मुल्क में इसने इस तरह नये-नये फूल खिलाये, अगरचे बुनियादी छाप वही हिंदुस्तान की बनी रही। सर जान मार्शल ने "हिंदुस्तानी कला की अद्भुत जीवनी-शक्ति रखनेवाली और लचीलेपन की विशेषता" का हवाला दिया है, और उन्होंने बताया है कि किस तरह हिंदुस्तानी और यूनानी दोनों ही कलाओं में "अपने को हर एक संपर्क में आनेवाले देश, जाति और धर्म की जरूरतों के मुताबिक ढाल लेने की गुंजाइश थी।"

हिंदुस्तानी कला अपनी बुनियादी विशेषता हिंदुस्तान के कुछ धर्म-संबंधी आदर्शों और फिलसफियाना नजरिये से हासिल करती है। जिस तरह कि हिंदुस्तान से इन सभी पूर्वी देशों में धर्म पहुंचा, उसी तरह कला की यह बुनियादी कल्पना भी पहुंची। अनुमान होता है कि शुरू की नौ-आबादियां यक़ीनी-तौर पर ब्राह्मण-धर्मवालों की थीं और बौद्ध-धर्म वहां बाद में फैला। दोनों आपस में मैत्री रखते हुए साथ-साथ चलते थे और मिली-जुली पूजा के रूप में आम लोगों में चल निकले थे। यह बौद्ध-धर्म महायानी था, जो अपने को परिस्थिति के अनुकूल आसानी से ढाल लेता था और मुक़ामी रहन-सहन और परंपरा का ऐसा असर हुआ कि ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म शायद दोनों ही अपने मूल सिद्धांतों की शुद्धता पर क़ायम न रह सके थे। बाद के सालों में एक बौद्ध-राज्य और एक ब्राह्मण-राज्य के बीच घोर लड़ाइयां हुईं, लेकिन ये दरअसल व्यापार और समुद्री यात्रा-मार्ग पर अधिकार पाने के लिए राजनैतिक और आर्थिक लड़ाइयां थीं।

इन हिंदुस्तानी नौ-आबादियों का इतिहास कोई तेरह सौ साल का,

बल्कि इससे भी ज्यादा का है। यह पहली या दूसरी सदी ईस्वी से शुरू होकर पंद्रहवीं सदी के अंत तक चलता है। शुरू की सदियों का हाल बहुत साफ-साफ नहीं मालूम है, सिवाय इसके कि बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे। रफ्ता-रफ्ता वे आपस में मिल जाते हैं और पांचवीं सदी के होते-होते बड़े-बड़े शहरों का निर्माण होने लगता है। आठवीं सदी तक ऐसे साम्राज्य बन चुके थे, जो जहाजरानी किया करते थे और कुछ अंशों में केंद्रीय थे, लेकिन बहुत-से देशों पर एक अस्पष्ट ढंग का आधिपत्य भी बनाये हुए थे। कभी-कभी ये मातहत राज्य आज़ाद बन बैठते थे, यहांतक कि केंद्रीय राज्य पर हमले भी कर दिया करते थे, और इस वजह से उन ज़मानों को ठीक-ठीक समझने में कुछ दिक्कत होती है।

इनमें सबसे बड़ा राज्य शैलेंद्र-साम्राज्य था। इसीको श्रीविजय का साम्राज्य कहते हैं, और यह आठवीं सदी तक सारे मलय एशिया में समुद्री और खुश्की दोनों तरह की ताकतों के रूप में सबसे ऊपर उठ चुका था। अभी हाल तक यह खयाल किया जाता था कि इसकी शुरुआत सुमात्रा में हुई थी और वहीं इसकी राजधानी भी थी, लेकिन बाद की खोजों ने साबित कर दिया है कि इसकी शुरुआत मलय प्रायद्वीप में हुई थी। जिस ज़माने में इसकी ताकत चोटी पर पहुंच गई थी, उस ज़माने में इसके अंदर मलय, लंका, सुमात्रा, जावा का एक हिस्सा, बोर्नियो, सेलबिस, फिलिपीन और फारमूसा का एक हिस्सा था और शायद कंबोडिया और चंपा (अनाम) पर भी इसका आधिपत्य था। यह बौद्ध-साम्राज्य था।

लेकिन शैलेंद्र-वंश के इस साम्राज्य के कायम और मज़बूत करने के बहुत पहले ही मलय, कंबोडिया और जावा में ताकतवर रियासत बन चुकी थीं। मलय प्रायद्वीप के उत्तरी हिस्से में स्याम की सरहद के क़रीब जो दूर तक फैले हुए खंडहर हैं, वे आर० जे० विल्किनसन के अनुसार ऐसे हैं, जिनसे "बहुत ऊंचे दर्जे की संपन्न और वैभवशाली बलशाली रियासतों के वहां किसी ज़माने में होने का पता चलता है।" चंपा (अनाम) में तीसरी सदी में पांडुरंगम नाम का शहर था, और पांचवीं सदी में कंबोज एक बड़ा शहर हो गया था। नवीं सदी में जयवर्धन नाम के एक प्रतापी राजा ने छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर कंबोडिया का साम्राज्य कायम किया था, जिसकी राजधानी अंगकोर थी। कंबोडिया बीच-बीच में शैलेंद्र-वंश के आधिपत्य में संभवतः आ जाता रहा, लेकिन यह आधिपत्य नाम के लिए था और नवीं सदी में यह स्वतंत्र हो बैठा। यह कंबोडिया का साम्राज्य क़रीब चार सौ साल तक क़ायम रहा और इसमें बहुत बड़े-बड़े शासक और निर्माण

करनेवाले लोग हुए, जैसे जयवर्मन, यशोवर्मन, इंद्रवर्मन और सूर्यवर्मन। इसकी राजधानी सारे एशिया मे मशहूर हो गई, जो 'विशाल अगकोर' के नाम से जानी जाती थी, यहा दस लाख की आबादी थी और यह शहर सीजर बादशाहो के रोम शहर से बडा और ज्यादा विशाल था। शहर के पास ही अगकोर वट का विशाल मदिर था। कबोडिया का साम्राज्य तेरहवी सदी के आखिर तक चलता रहा और १२९७ मे एक चीनी राजदूत वहा गया था, जो राजधानी की दौलत और शान-शौकत का बयान करता है। लेकिन इस साम्राज्य का अचानक अत हो गया, इतना अचानक कि कुछ इमारतें मुकम्मिल होने से रह गईं। बाहरी हमले हुए और अदरूनी दिक्क़तें भी पेश आईं, लेकिन शायद जो सबसे बडी आफत आई, वह यह थी कि मीकाग नदी रेत से अट गई, जिसकी वजह से शहर मे आने के रास्तो मे पानी आकर दलदल बन गया और शहर को छोडना पडा।

नवी सदी मे जावा भी शैलेंद्र-साम्राज्य से अलग हो गया, फिर भी शैलेंद्र-वश इडोनेशिया मे ग्यारहवी सदी तक सबसे बडी ताकत बना रहा, और तब दक्खिन हिंदुस्तान के चोल राज्य से उसकी मुठभेड हुई। चोल-वशी विजयी हुए और पचास साल से ज्यादा ज़माने तक इडोनेशिया के बहुत-से हिस्सो पर उनका आधिपत्य रहा। चोल लोगो के हट जाने पर शैलेंद्र-वश ने अपनी खोई हुई ताकत फिर हासिल कर ली और करीब तीन सौ साल तक और एक स्वतत्र राज्य की हैसियत से बना रहा। लेकिन तब यह पूरबी समुद्र के देशो मे सबसे बड़ी ताकत न रह गया था और तेरहवीं सदी मे इस साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना शुरू हो गया। इसकी कमज़ोरी से जावा ने फायदा उठाया और थाइयो (स्याम) ने भी। चौदहवी सदी के पिछले आधे हिस्से मे जावा ने श्रीविजय के शैलेंद्र-साम्राज्य पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया।

यह जावाई राज्य, जो इस वक्त आगे आया, ऐसा था कि उसके पीछे एक लबा इतिहास है। यह ब्राह्मण-धर्मवालो का राज्य था और बौद्ध-धर्म के प्रचार के बावजूद इसने अपने पुराने धर्म को छोडा न था। इसने श्रीविजय के शैलेंद्र-साम्राज्य के राजनैतिक और आर्थिक प्रभाव का उस वक्त भी मुकाबला किया था, जब खुद जावा का आधे से ज्यादा हिस्सा इस साम्राज्य मे आ गया था। यहा ऐसे लोग बसते थे, जिनका ध्यान व्यापार पर था, जो जहाज़रानी करते थे और जिन्हें पत्थर की शानदार इमारतें बनवाने का शौक था। शुरू मे यह सिंहसारी-राज्य कहलाता था, लेकिन १२९२ ईस्वी मे मज्जापहित नाम का एक नया शहर कायम हुआ और आगे चलकर

इसीसे मज्जापहित-साम्राज्य हो गया था, जो श्रीविजय-साम्राज्य के बाद दक्खिन-पूरबी एशिया की सबसे बडी ताकत था। मज्जापहित ने कुबलाइ खा के चीन से भेजे गये कुछ एलचियो का अनादर किया और चीनियो ने उस पर धावा करके उसे दड दिया। जावाइयो ने शायद चीनियो से बारूद का इस्तेमाल सीखा और इसकी मदद से वह अत मे शैलेंद्र-वशवालो को हरा सके।

मज्जापहित एक बडा केंद्रित और विस्तारशील साम्राज्य था। कहा जाता है कि यहा की कर-व्यवस्था बडे अच्छे ढग से सगठित थी और व्यापार और उपनिवेशो पर खासतौर पर ध्यान दिया जाता था। सरकार का एक व्यवसाय-विभाग था और इसी तरह उपनिवेश-विभाग, स्वास्थ्य-विभाग और युद्ध और गृह-विभाग आदि भी थे। एक प्रधान न्यायालय भी था, जिसमे कई न्यायाधीश काम करते थे। इस साम्राज्य का जैसा अच्छा सगठन था, उसे जानकर हैरत होती है। इसका खास काम हिंदुस्तान और चीन से व्यापार करना था। यहा के मशहूर शासको मे एक महारानी सुहिता थी।

मज्जापहित और श्रीविजय के बीच का युद्ध बडा भयानक था, और अगरचे मज्जापहित की पूरे तौर पर जीत हुई, इस जीत ने नये झगडो के बीज बोये। शैलेंद्रो की ताकत, जो कुछ भी बच रही थी, उससे और लोगो ने, खासतौर पर अरब और मुस्लिमो ने, मिलकर सुमात्रा और मलाका मे मलय शक्ति कायम की। पूर्वी समुद्रो की कमान, जो अबतक दक्खिन हिंदुस्तान या हिंदुस्तानी उपनिवेशो के हाथ मे थी, वह अब अरबो के हाथ मे चली गई। तिजारत के केन्द्र की हैसियत से और राजनैतिक ताकत की जगह के रूप मे, अब मलाका सामने आया और मलय-प्रायद्वीप और टापुओ मे इस्लाम फैला। यही ताकत थी, जिसने पद्रहवी सदी के अत मे मज्जापहित का पूरी तरह खात्मा कर दिया। लेकिन कुछ बरसो के भीतर ही, सन १५११ मे, अल्बुकर्क के नेतृत्व मे पुर्तगाली आये और उन्होंने मलाका पर कब्ज़ा कर लिया। अपनी नई और तरक्की करती हुई ताकत के बल पर यूरोप सुदूर पूरब तक पहुच गया था।

१७ : हिंदुस्तानी कला का विदेशों में प्रभाव

पुराने साम्राज्यो और वशो का यह हाल पुरातत्त्वज्ञो की दिलचस्पी का है, लेकिन सभ्यता और कला के इतिहास के लिए उसकी दिलचस्पी और भी ज्यादा है। हिंदुस्तान के नजरियेसे यह खासतौर पर महत्व का है, क्योंकि वहा जो कुछ था, वह हिंदुस्तान का किया-धरा था और हिंदुस्तान की जीवनी-शक्ति और प्रतिभा मुख्तलिफ शक्लो मे वहा जाहिर हुई थी।

हम हिंदुस्तान को उत्साह से भरा हुआ और दूर-दूर तक फैलता हुआ पाते हैं, और यह देखते हैं कि वह न महज़ अपने विचारो, बल्कि दूसरे आदर्शों, अपनी कला, अपने व्यापार, अपनी भाषा और साहित्य और अपने हुकूमत के तरीक़ो को सब जगह ले जाता है। न वह मद पडा हुआ है, न अलग-थलग रहनेवाला है या समुदर और पहाड से कटकर अकेला पड गया है। उसके निवासी इन ऊचे पहाडो को पार करते हैं और खतरनाक समुदर को लाघते हैं, और जैसाकि मो० रोनी ग्रूसे ने बताया है, "एक बृहत्तर हिंदुस्तान का निर्माण करते हैं, जो राजनैतिक हैसियत से उतना ही कम सगठित है, जितना कि बृहत्तर यूनान था, लेकिन जो नैतिक हैसियत से वैसा ही मधुर और व्यापक प्रभाव रखनेवाला है।" दरअसल मलय-एशिया की इन रियासतो का राजनैतिक सगठन भी बडे ऊचे दर्जे का था, अगरचे यह हिंदुस्तानी राजनैतिक व्यवस्था का अग नही था। लेकिन मो० ग्रूसे उन विस्तृत प्रदेशो का हवाला देते हैं, जहा हिंदुस्तानी तहज़ीब फैल गई थी—"पूरबी ईरान के ऊचे पठार मे, सेरिंडिया के नख़्लिस्तानो मे, तिब्बत, मगोलिया और मचूरिया के सूखे बजरो मे, चीन और जापान के सुसभ्य कदीम मुल्को मे, मोनो और ख्मेरो और हिंद-चीन की और आदिम जातियो की भूमियो पर, मलय-पोलिनीसियो के मुल्को मे, इडोनेशिया और मलय मे, न सिर्फ मजहब पर, बल्कि कला और साहित्य पर भी, या एक शब्द मे कहिये, तो आत्मा की सभी बुलद चीजो पर, हिंदुस्तान ने अपनी ऊची सस्कृति की अमिट छाप छोडी है।"[1]

हिंदुस्तानी तहज़ीब ने खासतौर पर दक्खिन-पूरबी एशिया के मुल्को मे जड पकडी, और इसका सबूत आज वहा सब जगह मिलता है। चपा, अगकोर, श्रीविजय, मज्जापहित और और जगहो मे सस्कृत की शिक्षा के बडे-बडे केंद्र थे। मुख्तलिफ राजाओ के नाम और उन राज्यो और साम्राज्यो के नाम, जो वहा कायम हुए, बिलकुल हिंदुस्तानी और सस्कृत नाम हैं। इससे यह मतलब न निकालना चाहिए कि वे पूरी तौर पर हिंदुस्तानी थे, बल्कि यह कि उनमे हिंदुस्तानीपन आ गया था। राज्य की मुख्तलिफ रस्मे हिंदुस्तानी ढग की थी और वे सस्कृत के जरिये अदा की जाती थी। राज्य के सभी कर्मचारियो के पद प्राचीन सस्कृत मे आये हुए पद हैं और ये पद अबतक न महज़ थाईलैंड मे चले आ रहे हैं, बल्कि मलाया की मुस्लिम रियासतो मे भी। इडोनेशिया की इन जगहो के पुराने साहित्य मे हिंदुस्तानी कथाए और गाथाए भरी पडी हैं। जावा और बाली के मशहूर नृत्य

[1] रोनी ग्रूसे : 'सिविलाइज़ेशन्स ऑव दि ईस्ट', जिल्द २, पृ० २७६।

हिंदुस्तान से हासिल किये हुए हैं। बाली के छोटे टापू ने तो अपनी पुरानी हिंदुस्तानी तहजीब को अबतक बहुत-कुछ कायम रखा है, यहातक कि हिंदू-धर्म भी वहा चला आ रहा है। फिलिपोन मे लिखने की कला हिंदुस्तान से गई।

कम्बोडिया की वर्णमाला दक्खिन हिंदुस्तान से ली गई है और बहुत-से सस्कृत लफ्ज़ छोटे-मोटे हेर-फेर के साथ लिये गये हैं। दीवानी और फौजदारी के कानून हिंदुस्तान के कदीम स्मृतिकार मनु के कानून के आधार पर बने हैं और इन्हे बौद्ध-धर्म के असर से होनेवाली कुछ तब्दीलियो के साथ कबोडिया के मौजूदा कानून में ले लिया गया है।[1]

लेकिन जिन चीज़ो मे हिंदुस्तानी असर सबसे ज़्यादा साफ तौर पर मिलता है, वे हैं इन कदीम हिंदुस्तानी नौ-आबादियो की कला और इमारतें। मौलिक प्रेरणा मे कुछ तब्दीली आई, उसने अपने को परिस्थितियो के मुताबिक ढाला और मुकामी गुणो का उसमे मेल-मिलाप हुआ और इस मेल-मिलाप से अगकोर और बोरोबुदर की शानदार इमारतें और अद्भुत मदिर तैयार हुए। जावा मे बोरोबुदर मे बुद्ध की ज़िंदगी की सारी कहानी पत्थरो मे गढी हुई मिलती है। दूसरी जगहो मे मूर्त्तिपट्टो पर विष्णु और राम और कृष्ण की कथाए खुदो हुई हैं। अगकोर के बारे मे ऑस्बर्ट सिटवेल ने लिखा है—"इस बात को तुरत मान लेना चाहिए कि अगकोर, जिस रूप में वह खडा हुआ मिलता है, आज दुनिया के खास अजायबो मे है, इन्सानी प्रतिभा ने पत्थर पर खुदाई करके जो कुछ भी पेश किया है, यह उसकी चोटी पर है और इसके मुकाबले को दर्शनीय, सुदर और अद्भुत चीज़ तो चीन मे कही नही देखी जाती। ये एक ऐसी सभ्यता के जड-अवशेष हैं, जिसने छ सदियो तक अपने अत्यत चमकीले पर फडकाये और जो इस तरह नष्ट हो गई कि अब उसका नाम भी इन्सान के होठो पर नही आता।"[2]

अगकोर वट के विशाल मदिर के गिर्द एक बडा रकबा बहुत दूरतक फैले हुए खडहर का है, जिसमे बनावटी झीलें और पोखरें हैं और नहरें हैं,

---

[1] बी० आर० चटर्जी के 'इडियन कल्चरल इन्फ्लूएस इन कंबोडिया' (कलकत्ता, १९२८) ग्रथ मे ए० लेकलेयर की 'रिसर्चेज सरले ओरिजिस ब्रह्मनाक्स देलाय कबोजियनिस' से उद्धृत।

[2] ये दो उद्धरण ऑस्बर्ट सिटवेल की पुस्तक 'इस्केप विद मी—एन ओरिएटल स्केच बुक' (१९४१) से लिये गये हैं।

जिन पर पुल बने हुए हैं; और एक बड़ा फाटक है, जिस पर "एक बहुत बड़े आकार का सिर पत्थर मे खुदा हुआ है, यह एक सुंदर, मुस्कराता हुआ, लेकिन रहस्यमय कंबोडियाई मुख है, जो शक्ति और सुंदरता में देवताओं-जैसा है।"[1] यह मुख, अद्भुत रूप से आकर्षक है और इसकी मुस्कान विचलित करनेवाली है—इसे अंगकोर की मुस्कान कहेंगे। मुख कई जगह दुहराया गया है। इस फाटक से मंदिर के लिए रास्ता है—"पड़ोस का बयान दुनिया में सबसे अजीब और कल्पनापूर्ण है, अंगकोर वट से ज्यादा सुंदर है, क्योंकि इसकी कल्पना ज्यादा अलौकिक है, यह किसी दूर के नक्षत्र के शहर का मंदिर जान पड़ता है ... और इसकी सुंदरता उसी तरह अग्राह्य है, जिस तरह कि बड़े काव्य की पंक्तियां की हुआ करती है।"[1]

अंगकोर को प्रेरणा हिंदुस्तान से मिली, लेकिन यह ख्मेर-प्रतिभा थी, जिसने उसे विकसित किया, या यह कहिये कि दोनों ने एक-दूसरे से मिलकर यह अचरज की चीज पैदा की। कंबोडिया के जिस राजा ने, कहा जाता है कि इसे बनवाया, उसका नाम जयवर्मन (सप्तम) था और यह एकदम हिंदुस्तानी नाम है। डाक्टर क्वारिश वेल्स कहते हैं—"जब हिंदुस्तान का राह दिखानेवाला हाथ हट गया, तब भी जो प्रेरणा उससे मिली थी, वह नहीं भुलाई गई, बल्कि ख्मेर-प्रतिभा ने मुक्त होकर उससे विशाल, नई और अद्भुत रूप से सजीव कल्पनाएं ढाली, जो विशुद्ध हिंदुस्तानी वातावरण में पली किसी भी चीज से जुदा थी, इसलिए उनका आपस मे मुकाबला न होना चाहिए। . यह बात सही है कि ख्मेर-संस्कृति हिंदुस्तानी प्रेरणा के आधार पर कायम हुई और यह प्रेरणा न रही होती, तो ख्मेर लोग मध्य-अमरीका के मय लोगों जैसी बर्बर शान दिखाने से कुछ ज्यादा न कर पाते, लेकिन यह मानना पड़ेगा कि इस प्रेरणा ने जैसी उपजाऊ धरती यहां पाई, वैसी बृहत्तर भारत मे उसे और कहीं न मिली।"[2]

इससे यह खयाल पैदा होता है कि खुद हिंदुस्तान मे यह प्रेरणा जो रफ्ता-रफ्ता मिट गई, उसकी वजह यह थी कि उसके दिमाग और जमीन नई धाराओं और विचारों की खूराक की कमी की वजह से दब गये और कमजोर हो गये। जबतक हिंदुस्तान ने अपने दिमाग को दुनियां के लिए

---

[1][1] ये उद्धरण भी आस्बर्ट सिटवेल की पुस्तक 'इस्केप विद मी—एन ओरिएंटल स्केच बुक' से लिये गये हैं।

[2] डॉक्टर एच जी० क्वारिश वेल्स की पुस्तक 'टुवर्ड्स अंगकोर' (हैरप, १९३३) से।

खुला रखा, अपनी दौलत दूसरो को दी और खुद उसमे जिस चीज की कमी थी, उसे दूसरे से लिया, तबतक उसमे ताजगी रही और वह मजबूत और जीवटवाला बना रहा। लेकिन जितना ही वह अपने भीतर सिमटा और अपनी रक्षा करने की कोशिश मे रहा और बाहरी असरो से उसने अपने को जितना अछूता रखना चाहा, उतना ही उसने अपनी प्रेरणा को खो दिया और उसकी जिंदगी अधिकाधिक मद पडती गई और ऐसी हो गई कि वह अपने मरे हुए अतीत के गिर्द व्यर्थ धघो मे फसी हुई चक्कर काटती रही। सौदर्य की रचना करने की कला तो खोई ही, उसकी औलाद ने उसे पहचानने की बुद्धि भी खो दी।

जावा, अगकोर और बृहत्तर भारत की दूसरी जगहो की खुदाई और खोजो का यश यूरोपीय विद्वानो और पुरातत्त्वविदो को है, खासकर फ्रान्सीसी और डच विद्वानो को। बडे-बडे शहर और स्मारक शायद अब भी मिट्टी मे दबे हुए पडे हैं, और उनकी खोज होनी बाकी है। इस बीच मे, कहा जाता है कि खानो के खोदने की वजह से या सडक बनाने का सामान लेने मे मलाया की खास-खास पुरानी जगहे, जहा पुराने खडहर थे, जाया हो गई हैं और यकीनी तौर पर युद्ध इस बरबादी मे इजाफा करेगा। कुछ साल हुए, मुझे एक थाई (स्यामी) विद्यार्थी का, जो ठाकुर के शातिनिकेतन मे आया था और थाईलैंड को वापस जा रहा था, एक खत मिला था। उसने लिखा था— "मैं अपने को बार-बार खासतौर पर खुशकिस्मत समझता हू कि मुझे इस बडे और पुराने देश आर्यावर्त्त मे आने का और मातामही भारतभूमि को अपनी विनम्र श्रद्धाजलि अर्पित करने का मौका मिला। यह मातामही ऐसी है जिसकी गोद मे मेरी मातृभूमि प्रेमपूर्वक पली है और उसने सभ्यता और धर्म मे जो कुछ भी सुदर है, उसे पहचानना और उससे मुहब्बत करना सीखा है।" मुमकिन है कि यह एक आम मिसाल न हो, फिर भी इससे कुछ पता इस बात का चलता है कि हिंदुस्तान के बारे मे दक्खिन-पूरबी एशिया मे किस तरह के खयाल लोगो के दिलो मे हैं, अगरचे यह खयाल धुधला है और इसके साथ बहुत कुछ और भी मिला-जुला है। वहा सभी जगह एक तग किस्म की जातीयता पैदा हो गई है, जो अपने ही तक देखकर रह जाती है और दूसरो का यकीन नही करना चाहती। यूरोप के आधिपत्य से भय है और नफरत है, फिर भी यूरोप और अमरीका की नकल करने की एक ख्वाहिश भी है। अकसर हिंदुस्तान के लिए कही-कही हिकारत के भाव भी हैं, क्योकि हिंदुस्तान गुलामी की हालत मे है, लेकिन फिर भी इन सब बातो के पीछे हिंदुस्तान के लिए एक आदर और मित्रता का भाव है, क्योकि पुरानी यादें क़ायम रहती हैं,

और लोग इस बात को नही भूले हैं कि एक ज़माना था, जब हिंदुस्तान उनके लिए मातृभूमि-जैसा था और उनका अपने भंडार के पुष्ट भोजन से पालन करता था। जिस तरह से यूनान से भूमध्य सागर के मुल्को में 'हेलेनिज़्म' या यूनानियत फैली, उसी तरह से हिंदुस्तान का सास्कृतिक असर बहुत-से मुल्को मे फैला और वहा उसने अपनी जबरदस्त छाप छोडी।

सिल्वा लेवी लिखते हैं—"ईरान से चीनी समुदर तक, साइबेरिया के बर्फ़ानी प्रदेशो से जावा और बोर्नियो के टापुओ तक, ओशोनिया से सोकोटरा तक, हिंदुस्तान ने अपने यक़ीनो, अपनी कहानियो और अपनी तहज़ीब को फैलाया है। उसने मानव-जाति के चौथाई हिस्से पर लबी सदियो के दौर मे अपनी अमिट छाप डाली है। उसे इस बात का हक है कि अज्ञान के कारण उसे दुनिया के इतिहास मे जो पद मिलने से रह गया है, उसे हासिल करे और मानव-आत्मा को प्रतीक बडी कौमो के बीच अपनी उचित जगह ले।"[1]

१८ : पुरानी हिंदुस्तानी कला

हिंदुस्तानी सस्कृति और कला का जो अद्भुत विस्तार दूसरे देशो में हुआ है, उसका नतीजा यह रहा है कि इस कला के कुछ अच्छे-से-अच्छे नमूने इस देश से बाहर मिलते हैं। बदकिस्मती से हमारी बहुत-सी इमारतें और मूर्त्तिया, खासतौर पर उत्तरी हिंदुस्तान मे, युगो के दौर मे ज़ाया हो चुकी हैं। सर जान मार्शल कहते हैं कि "हिंदुस्तान के अदर की ही हिंदुस्तानी कला को जानना उसकी आधी ही कहानी जानने के बराबर है। उसे पूरी तौर पर समझने के लिए हमे बौद्ध-धर्म के साथ साथ मध्य-एशिया, चीन और जापान तक जाना चाहिए, तिब्बत और बरमा और स्याम मे फैलकर नये रूप धारण करते हुए और फुटकर नये सौंदर्य पेश करते हुए हमे इसे देखना चाहिए, हमे कबोडिया और जावा मे इसके शानदार और बेमिसाल कारनामो को देखना चाहिए। इन मुल्को मे हर एक मे हिंदुस्तानी कला का एक नई ही जातीय प्रतिमा से मुक़ाबला होता है, उसे नये ही मुकामी वातावरण का सामना करना पड़ता है और उनके खास असर मे यह नये भेस बदलती है।"[2]

---

[1] यह उद्धरण यू० एन० घोषाल की किताब 'प्रोग्रेस ऑव ग्रेटर इंडियन रिसर्च, १९१७-४२' (कलकत्ता, १९४३) मे दिया गया है।

[2] रेजिनल्ड ली मे की 'बुद्धिस्ट आर्ट इन स्याम' (कैंब्रिज, १९३८) की प्रस्तावना का अंश, जो घोषाल की 'प्रोग्रेस ऑव ग्रेटर इंडियन रिसर्च' (कलकत्ता, १९४३) मे उद्धृत है।

दोष को काबलियत के साथ बता सकता हू। लका मे अनुराधापुर की बुद्धमूर्त्ति का मुझ पर बडा असर पडा, और उसकी एक तस्वीर बरसो तक मेरे साथ बराबर रही है । दूसरी तरफ दक्खिन हिंदुस्तान के कुछ मशहूर मदिर हैं, जो तफसील और नक्काशी से अटे हुए हैं, जिन्हें देखकर मुझे घबराहट होती है और मन में बेचैनी होती है।

यूनानी-परपरा मे शिक्षा पाये हुए यूरोपीयो ने शुरू मे हिंदुस्तानी कला की यूनानी नजरिये से जाच की। गधार और सरहदी सूबे की यूनानी-बौद्ध-कला मे तो उन्होंने कुछ बात देखी, जो उनकी पहचानी हुई थी, और हिंदुस्तान की कला को और कृतियो को उन्होने इसीका गिरा हुआ रूप माना। रफ्ता-रफ्ता एक नया नजरिया कायम हुआ और यह कहा जाने लगा कि हिंदुस्तानी कला मे एक मौलिकता और जीवनी-शक्ति है, जो यूनानी-बौद्ध-कला से नही हासिल हुई है, बल्कि यूनानी-बौद्ध-कला खुद उसका एक हलका प्रतिबिंब है। यह नया नजरिया ज्यादातर इग्लिस्तान को छोडकर यूरोप के और मुल्को से आया। यह एक अचरज की बात है कि हिंदुस्तानी कला की (और यह बात सस्कृत-साहित्य के बारे मे भी ठीक ठहरती है) जैसी कद्र यूरोप के दूसरे मुल्को मे हुई, वैसी इग्लिस्तान मे नही। मैंने अकसर सोचा है कि इग्लिस्तान और हिंदुस्तान के बीच बदकिस्मती से आज जो राजनैतिक रिश्ता है, उसका कहातक इस परिस्थिति मे हाथ हो सकता है। शायद इसका कुछ हाथ तो है, लेकिन फर्क के और भी ज्यादा बुनियादी कारण हो सकते हैं। यो बहुत-से कलाकार, विद्वान और दूसरे अग्रेज हैं, जो हिंदुस्तानी भावनाओ और नजरिये के नजदीक पहुच गये हैं और जिन्होंने हमारी पुरानी तिथियो की खोज मे और दुनिया के आगे उनकी व्याख्या करने मे मदद दी है। बहुत-से और लोग भी हैं, जिनकी दोस्ती और सेवा के लिए हिंदुस्तान एहसानमद है। फिर भी यह वाकया रह ही जाता है कि हिंदुस्तानियो और अग्रेजो के बीच एक खाई है, और यह बराबर बढती जा रही है। हिंदुस्तान की तरफ से तो इस बात का समझ लेना, कम-से-कम मेरे लिए, कुछ ज्यादा आसान है, क्योकि हाल के जमाने मे बहुत-सी ऐसी घटनाए घटी हैं, जिन्होंने हमारे दिलो मे गहरे घाव कर दिये हैं। दूसरी तरफ, शायद दूसरी ही वजहो से, इसीसे मिलती-जुलती प्रतिक्रिया हो, और इन्हे इस बात पर गुस्सा हो कि अगरचे उनकी राय मे, उनका कसूर नही रहा है, फिर भी सारी दुनिया के आगे वे बदनाम कर दिये गये हैं। लेकिन यह जज्बा महज राजनैतिक नहीं है, और खुद-ब-खुद जाहिर हो जाता है और सबसे ज्यादा वह इग्लिस्तान के बुद्धिजीवी तबक़े के लोगो मे मिलता है। उनके खयाल मे हिंदुस्तानी आदमी

मूल पाप[1] का एक खास प्रतीक है और उनके सारे कार्यों पर इस पाप की छाप है। एक लोकप्रिय अंग्रेज लेखक ने, जिसे मुश्किल से अंग्रेजी विचारों या बुद्धि का नुमाइन्दा कहेंगे, एक पुस्तक हाल में लिखी है, जो हिंदुस्तान की क़रीब-क़रीब सब चीज़ों के लिए हिकारत और नफ़रत से भरी हुई है। उससे एक ज्यादा ऊंचे और प्रामाणिक अंग्रेज लेखक मि० ऑस्बर्ट सिटवेल ने अपनी किताब 'एस्केप विद मी' (१९४१) में कहा है कि "बावजूद उसकी अनेक और विविध अद्भुत चीज़ों के, हिंदुस्तान का आदर्श एक नागवार खयाल रहा है।" वह "हिंदू-कला की कृतियों को अकसर घृणा पैदा करनेवाली गंदी और चिपचिपी खासियत" का भी जिक्र करते हैं।

हिंदुस्तानी कला या आमतौर से हिंदुस्तान के बारे में इस तरह की राय रखने का मि० सिटवेल को अख्तियार है। मुझे यकीन है कि यही उनके सही जज्बे हैं। हिंदुस्तान की बहुत-सी बातों से मुझे भी नफरत होती है। लेकिन सब-कुछ लेकर हिंदुस्तान के बारे में मेरे ये भाव नहीं हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि मैं हिंदुस्तानी हूं, और अपने से आसानी से नफरत नहीं कर सकता, चाहे जितना अयोग्य मैं क्यों न होऊं। लेकिन यह सवाल रायों का या कला के बारे में नजरिये का नहीं है, यह ज्यादा करके एक पूरी कौम के खिलाफ जानकर और अनजान में नफरत का और गैर-दोस्ताना जज्बा है। क्या यह बात सही है कि जिन्हें हमने नुकसान पहुंचाया है, उन्हें हम नापसंद करते हैं और उनसे नफरत करने लगते हैं?

उन अंग्रेजों में, जिन्होंने हिंदुस्तानी कला को पसंद किया है और उस पर राय क़ायम करने के लिए नई कसौटियां इस्तेमाल की हैं, लारेंस बिनियन और ई० बी० हैवेल हैं। हिंदुस्तानी कला के आदर्शों और उसके तह के भावों के बारे में हैवेल को खासतौर पर उत्साह है, वह इस बात पर जोर देते हैं कि एक बड़ी कौमी कला के ज़रिये हमें कौम के विचार और स्वभाव का गहरा परिचय मिलता है, लेकिन हम इस कला को तभी समझ सकते हैं, जब हम उन आदर्शों को समझ लें, जो उनके पीछे हैं। एक विदेशी हुकूमत करनेवाली कौम इन आदर्शों को न समझकर या उनकी बुराई करके मानसिक विरोध के बीज बोती है। हिंदुस्तानी कला मुट्ठी-भर विद्वानों के सबोधन के लिए नहीं रही है। इसका मकसद यह रहा है कि हिंदू-धर्म और फिलसफ़े के मरकज़ी खयालों को आम लोगों को समझाये। "इस शिक्षा के मकसद को पूरा करने में हिंदू-कला कामयाब रही, इसका अनुमान इस वाकये से हो

[1] बाइबिल के अनुसार जब हव्वा ने ज्ञानवृक्ष का फल खाया, तभी से पाप शुरू हुआ। ईसाई लोग इसीको 'मूल पाप' कहते हैं। —स०

जाता है (जो उन सबका जाना हुआ है, जो हिंदुस्तानी जिंदगी से परिचित हैं), कि हिंदुस्तानी गांववाले, अगरचे वे पच्छिमी लोगो के मानो मे निरक्षर और अनपढ है, फिर भी अपने वर्ग के लोगो मे, दुनिया के किसी जगह के लोगो के मुकाबले मे ज्यादा सभ्य हैं।"[1]

सस्कृत कविता और हिंदुस्तानी सगीत की तरह कला मे भी यह माना जाता था कि कलाकार प्रकृति के सभी विभागो से एकमत होकर आदमी की प्रकृति और विश्व के साथ एकता का निरूपण करेगा। सारी एशियाई कला की यह खास बात रही है, और इसीकी वजह से एशिया की कला मे हमें एक तरह की एकता मिलती है, बावजूद इसके कि कौमी फ़र्क और विविधता इतनी जाहिर हैं। हिंदुस्तान मे अजता की दीवारो पर बने हुए सुदर चित्रो के अलावा पुरानी चित्रकारी ज्यादा नही मिलती। शायद इस कला का ज्यादा हिस्सा नष्ट हो गया है। हिंदुस्तान की विशेषता उसकी मूर्त्तिकला और स्थापत्य मे है, जिस तरह कि चीन और जापान की विशेषता उनकी चित्रकारी मे है।

हिंदुस्तानी सगीत, जो यूरोपीय सगीत से इतना मुख्तलिफ है, अपने तरीके पर बहुत तरक्की कर चुका था और इसके लिए हिंदुस्तान मशहूर था और चीन और दूर पूरब के मुल्को को छोडकर इसने सारे एशिया के सगीत पर असर डाला था। इस तरह से सगीत ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, अरब, तुर्किस्तान और कुछ हद तक और इलाको मे, जहा अरबी तहजीब फैली थी, जैसे उत्तरी अफ्रीका, इनके बीच की एक और कडी बन गया। हिंदुस्तान का शास्त्रीय सगीत शायद इन सब जगहो मे पसद किया जायगा।

कला के विकास मे एशिया की और जगहो की तरह हिंदुस्तान मे भी धार्मिक विचारो का एक खास असर गढी हुई मूर्तियो के खिलाफ़ पडा। वेद मूर्ति-पूजा के विरोधी रहे और बौद्ध जमाने मे भी बाद के दिनो मे ही बुद्ध की मूर्तिया और तस्वीरें बनी। मथुरा के अजायबघर मे बोधिसत्त्व की एक बहुत बडी पत्थर की मूर्ति है, जिसमे बडा दम-खम है। यह ईस्वी सवत के शुरू के कुशाण जमाने की है।

शुरू के जमाने मे हिंदुस्तानी कला हमे प्रकृतिवाद से भरी हुई मिलती है, जो कुछ अशो मे चीनी प्रभावो की वजह से हो सकता है। हिंदुस्तानी कला के इतिहास की मुख्तलिफ मजिलो पर हमे चीनी असर दिखाई देते हैं, खासतौर पर प्रकृतिवाद को तरक्की देनेवाले इसी तरह हिंदुस्तानी आदर्श-

[1] ई० बी० हैवेल : 'दि आइडियल्स ऑव इडियन आर्ट' (१९२०), पृ० १९ भूमिका।

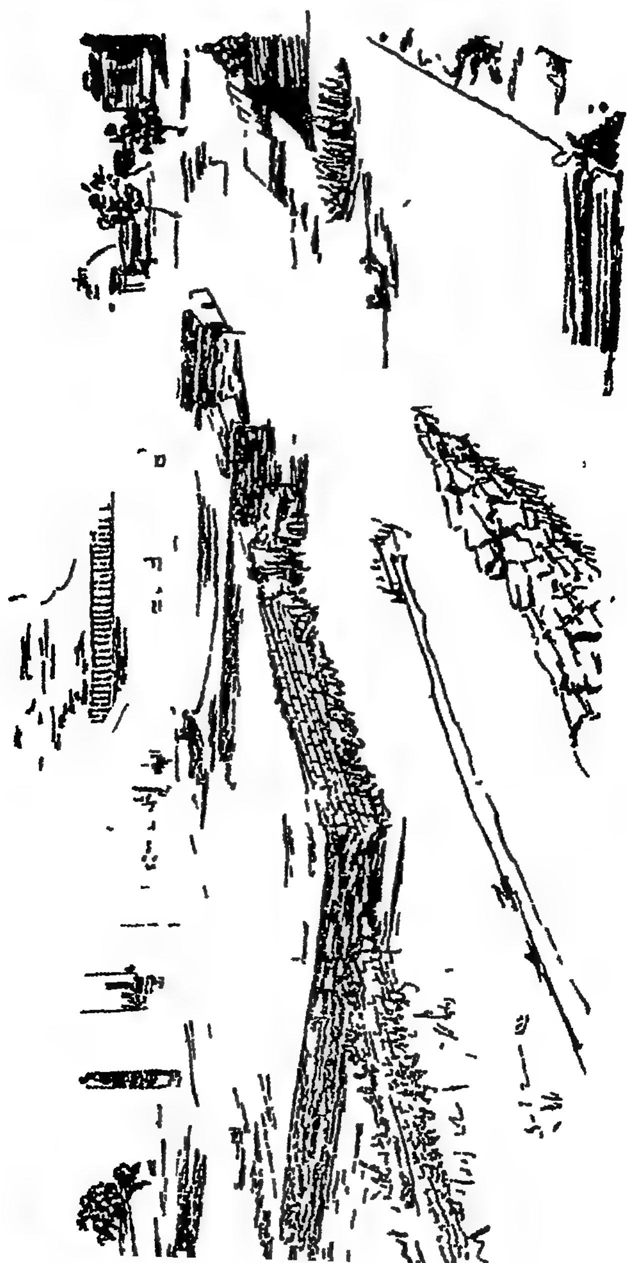
वाद ने चीन और जापान मे जाकर खास जमानो मे वहा जबरदस्त असर डाला।

चौथी से छठी सदियो के बीच, गुप्तो के जमाने मे, जो हिंदुस्तान का सुनहला युग कहलाया है, अजता की गुफाए खोदी गई और उनकी दीवारो पर चित्र बनाये गये। बाग और बादामी की गुफाए भी इसी जमाने की हैं। अजता की दीवार पर बनी तस्वीरें बडी सुदर हैं और जबसे उनकी खोज हुई है, उन्होंने हमारे आजकल के कलाकारो पर गहरा असर डाला है और ये जिंदगी से मुडकर अजता की शैली की नकल मे पड गये हैं। यह इसके अच्छे नतीजे नही हैं।

अजता हमे एक दूर की, सपने-जैसी दूर की, लेकिन बहुत वास्तविक, दुनिया मे पहुचा देता है। दीवाल पर बने ये चित्र बौद्ध भिक्खुओ के बनाये हुए हैं। बहुत दिन पहले उनके स्वामी बुद्ध ने बताया था कि स्त्रियो से दूर रहो, उनकी तरफ देखो तक नही, क्योकि वे खतरनाक हैं। फिर भी हम पाते हैं कि यहा स्त्रियो की कमी नही है—सुदर स्त्रिया, राज-कन्याए, गानेवाली, नाचनेवाली, बैठी और खडी, श्रृगार करती हुई या जुलूस के साथ जाती हुई स्त्रिया हमे मिलती हैं। अजता की स्त्रिया मशहूर हो गई हैं। इन कलाकार भिक्खुओ का दुनिया से और इस जिंदगी के चलते-फिरते नाटक से कितना गहरा परिचय था, कितने प्रेम से उन्होंने ये चित्र बनाये हैं! ये चित्र उन्होंने उसी तरह बनाये हैं, जिस तरह कि उन्होंने बोधिसत्त्व की प्रशात और लोकोत्तर महिमा का चित्रण किया है।

सातवी और आठवी सदियो मे ठोस चट्टानो को काटकर एलोरा की विशाल गुफाए तैयार हुईं, जिनके बीच मे कैलास का बहुत बडा मदिर है। इन्सान ने इसकी कल्पना किस तरह की और कल्पना करने के बाद उसे किस तरह साकार किया, इसका सोचना कठिन है। इसी जमाने की एलीफैंटा की गुफाए भी हैं, जहा त्रिमूर्ति की जबरदस्त और रहस्यमयी मूर्ति बनी हुई है। दक्खिन हिंदुस्तान मे महाबलिपुरम की इमारतें भी इसी जमाने की हैं।

एलीफैंटा की गुफा मे नटराज शिव की एक टूटी हुई मूर्ति है, जिसमे शिव नाचने की मुद्रा में दिखाये गये हैं। हैवेल का कहना है कि अपनी टूटी हुई हालत मे भी यह बडी जबरदस्त मूर्ति है और इसकी कल्पना विशाल है, "नृत्य की लयमय गति से अगरचे चट्टान तक प्रतिध्वनित जान पडती है, फिर भी सिर को देखने से उसी सौम्य और शात और निर्विकार प्रकृति का आभास होता है, जिससे बुद्ध का मुख आलोकित रहता है।"



साँची का स्तूप

ब्रिटिश म्यूज़ियम में एक दूसरी मूर्ति नटराज शिव की है और इसके बारे में एप्स्टीन ने लिखा है—"लोक का सृजन करते हुए और उसका विनाश करते हुए शिव नाच रहे हैं। उनकी विशाल लयमयता युगों की कल्पना सामने ले आती है और उनकी गति में मन्त्रोच्चार की-सी निठुर जादू-भरी शक्ति है। ब्रिटिश म्यूज़ियम के इस छोटे-से संग्रह में हमें प्रेम की साधना में मृत्यु की अभिव्यक्ति की मर्मांतक मिसाल मिलती है, और मनुष्य के मनोवेगों में जो क़िस्मत का फ़ैसला करने वाला जुज़ है, उसका जैसा निचोड़ यहां मिलता है, वैसा किसी दूसरी कृति में नहीं मिलता। इन गहन कृतियों के मुक़ाबले में हमारे यूरोपीय प्रतीक तुच्छ और बेजान जान पड़ते हैं, इनमें प्रतीकपने का आडंबर नहीं, ये सार-वस्तु पर ज़ोर देती हैं, इनमें विशेष मूर्तिमत्ता है।"[1]

जावा के बोरोबुदर का बोधिसत्त्व का एक सिर है, जो कोपेनहेगन के ग्लिप्टोटेक में पहुंच गया है। रूप-रेखा की दृष्टि से तो वह सुंदर है ही, लेकिन जैसाकि हैवेल ने कहा है, इसमें कुछ और गहरी बात है, जो बोधिसत्त्व की विशुद्ध आत्मा को इस तरह दिखलाती है, जैसे दर्पण में कोई देखे। "यह एक ऐसा चेहरा है, जिस पर समुद्र की गहराइयों की प्रशांति, बिना बादल के नीले आसमान का नितरापन और इन्सानी निगाह से दूर का परम सौंदर्य साकार हुआ है।"

हैवेल आगे लिखते हैं—"जावा की हिंदुस्तानी कला अपनी एक विशेषता रखती है, जो उसे उस महाप्रदेश की कला से जुदा करती है, जहां से वह आई थी। दोनों में वही गहरी प्रशांति मिलती है, लेकिन जावा के दिव्य आदर्शों में हमें वे तपस्या के भाव नहीं मिलते, जो एलीफेंटा और महाबलिपुरम के हिंदू-शिल्प की विशेषता है। हिंदी जावाई कला में मानवी संतोष और आनंद का भाव ज़्यादा है और यह टापुओं में बसे हुए नौआबाद हिंदुस्तानियों की अपने महाप्रदेश में पूर्वजों के सदियों के संघर्ष के बाद हासिल शांति और ख़ुशी की ज़िंदगी का इज़हार करती है।"[2]

१९. हिंदुस्तान का विदेशी व्यापार

ईस्वी संवत के पहले एक हज़ार बरसों में हिंदुस्तान का व्यापार बराबर ख़ूब फैला हुआ था और हिंदुस्तानी व्यापारी बहुत-सी विदेशी मंडियों पर कब्ज़ा किये हुए थे। यह व्यापार पूर्वी समुद्र के देशों में तो ख़ूब होता ही था, उधर यह भूमध्य सागर के देशों तक फैला हुआ था। काली मिर्च

[1] एप्स्टीन : 'लेट देयर बी स्कल्पचर' (१९४२), पृ० १९३।
[2] हैवेल : 'दि आइडियल्स ऑव इंडियन आर्ट' (१९२०), पृ० १६९।

और मसाले हिंदुस्तान मे या हिंदुस्तान होकर पच्छिम को जाते थे, ये अक्सर हिंदुस्तानी या चीनी जहाजो मे जाते और यह कहा जाता है कि गॉथ अलैरिक रोम से ३००० पौंड काली मिर्च ले गया था। रोमन लेखकों ने यह शिकायत की है कि रोम से हिंदुस्तान और दूर के देशों मे, बहुत-सी आमोद-प्रमोद की चीजो के बदले मे सोना बहकर जाता था।

यह व्यापार ज्यादातर, क्या हिंदुस्तान मे और क्या दूसरी जगह, उन सामग्रियों के अदल-बदल का होता था, जो मुकामी तौर पर पाई जाती थीं। हिंदुस्तान की जमीन उपजाऊ थी और यहा कुछ चीजें बहुतायत से होती थीं, जो दूसरी जगहों मे नही होती थी, और चूकि उसके लिए समुद्र का रास्ता सुगम था, इस रास्ते से वह चीजें विदेशो मे भेजता था। वह व्यापार की चीजें पूर्वी समुद्रो से लाकर भी बाहर पहुचाता था और इस तरह लदाई के व्यापार से भी फायदा उठाता था। लेकिन इसके अलावा भी बातें उसके हक मे थी। बहुत पुराने जमाने से वह कपडा तैयार करता रहा है, उस जमाने से, जबकि बहुत-से दूसरे मुल्क इस धधे को नही जानते थे; इसलिए यहा पर कपडे का धधा तरक्की कर गया था। हिंदुस्तानी बुना हुआ कपडा दूर-दूर देशों में जाया करता था। बहुत शुरू के जमाने से यहा रेशमी कपडा भी बनता रहा है, अगरचे शायद वह चीनी रेशम-जैसा अच्छा न होता था, जो ईसा से पहले की चौथी सदी से यहा लाया जाता रहा है। हिंदुस्तानी रेशम के व्यवसाय ने यहा बाद मे तरक्की की होगी, हालाकि जान पडता है कि यह बहुत खास तरक्की न रही होगी। कपडे रगने की कला मे अलबत्ता खास तरक्की हुई जान पडती है और पक्के रग तैयार करने के यहा खास तरीके खोज निकाले गये थे। इनमे से एक नील का रग था, जिसे अग्रेजी मे 'इडिगो' कहते हैं। यह शब्द 'इडिया' से निकला है और यूनान के जरिये आया है। शायद इस रगाई के धधे की जानकारी ने हिंदुस्तान के विदेशो से व्यापार को बहुत आगे बढाया।

ईस्वी सन की शुरू की सदियो मे रसायन-शास्त्र हिंदुस्तान मे और मुल्को के मुकाबले मे शायद ज्यादा तरक्की कर चुका था। इसके बारे मे मेरी जानकारी बहुत नही है, लेकिन हिंदुस्तानी रसायन-शास्त्रियो और वैज्ञानिको के प्रमुख सर पी० सी० राय ने, जिन्होंने हिंदुस्तानी वैज्ञानिको की कई पीढियो को तैयार किया है, एक किताब 'हिस्ट्री आव हिंदू केमिस्ट्री' लिखी है। उस जमाने मे रसायन-शास्त्र कीमियागारी और धातु-शास्त्र से बहुत ताल्लुक रखता था। एक मशहूर हिंदुस्तानी रसायन और धातु-शास्त्री नागार्जुन हुआ है और नामो की समानता की वजह से कुछ लोगो ने सुझाव

दिया है कि यही पहली सदी ईस्वी का बड़ा फिलसूफ था। लेकिन इस बात मे बड़ा शुबहा है।

कदीम हिंदुस्तानी फौलाद को ताव देना जानते थे और हिंदुस्तानी फौलाद और लोहे की दूसरे मुल्को मे कद्र होती थी, खासतौर पर लडाई के कामो मे। बहुत-सी और धातुओ की यहा लोगो को जानकारी थी और औषधि के लिए धातुओ के यौगिक तैयार किये जाते थे। अर्क खीचने और ककड-पत्थर फूककर चूना बनाने का काम लोगो को अच्छी तरह मालूम था। औषधि विज्ञान ने काफी तरक्की कर ली थी। मध्य-युग तक प्रयोगो मे खासी तरक्की होती रही, अगरचे ये प्रयोग ज्यादातर पुरानी किताबो के आधार पर हुआ करते थे। शरीर-रचना और शरीर-विज्ञान का अध्ययन होता था और खून की गरदिश की बात हार्वे से बहुत पहले सुझाई जा चुकी थी।

ज्योतिर्विज्ञान, जो सबसे पुराना विज्ञान है, विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रम का एक नियमित अग था और अकसर इसे फलित ज्योतिष से मिला-जुला दिया जाता था। एक बहुत शुद्ध पचाग तैयार किया जा चुका था और यह अब भी चलता है। यह सौर-पचाग है, जिसमे महीनो की गिनती चद्रमा के हिसाब से होती है, जिसकी वजह से इसे समय-समय पर ठीक करने की जरूरत पड़ती है। और जगहो की तरह यहा भी पुरोहितो या ब्राह्मणो के हाथो मे यह पचाग होता था और वे मौसम के त्योहारो को निश्चित करते और सूर्य-ग्रहणो के ठीक-ठीक वक्त बताते थे। ये मौके भी त्योहार-जैसे ही हुआ करते थे। इस ज्ञान से फायदा उठाकर वे जनता मे विश्वासो को उत्पन्न करते और उन्हें पूजा-पाठ मे लगाते (जिसे वे खुद निश्चय ही अधविश्वास समझते रहे होगे) और इस तरह अपनी प्रतिष्ठा बढाते थे। ज्योतिर्विज्ञान का ज्ञान अमली तौर पर उन लोगो के बडे काम का होता, जो समुद्री-यात्रा पर निकलते। कदीम हिंदुस्तानियो को ज्योतिर्विज्ञान की अपनी तरक्की पर गर्व रहा है। उनके अरब-ज्योतिर्विज्ञान से सपर्क थे, जो ज्यादातर सिकदरिया मे केंद्रित था।

यह बताना मुश्किल है कि यत्रो ने कहातक तरक्की की थी, लेकिन जहाजो का बनाना एक ऐसा व्यवसाय था, जो खूब चलता था। और भी तरह-तरह के 'यत्रो' के हवाले मिलते हैं, खासतौर पर लडाई मे काम आनेवाले यत्रो के। कुछ उत्साही और विश्वासी हिंदुस्तानियो ने इससे तरह-तरह के पेचीदा यत्रो की कल्पना कर ली है। फिर भी यह मालूम पडता है कि औजारो के इस्तेमाल मे और रसायन-शास्त्र और धातु-शास्त्र की जानकारी मे हिंदुस्तान किसी भी मुल्क के मुकाबले मे पिछडा हुआ न था। इससे व्यापार

के मामले मे उसे फायदा पहुचा और कई सदियों तक वह कई विदेशी मडियों को अपने काबू मे रख सका।

शायद एक बात और उसके माफिक पडती थी—गुलाम मजदूरो का न होना, जबकि इस तरह की प्रथा यूनानियो को और दूसरी कदीम तहजीबो की तरक्की मे बाधक रह चुकी थी। वर्ण-व्यवस्था मे चाहे जैसी बुराइया रही हो, सबसे नीचे तबके के लोगो के लिए भी गुलामी के मुकाबले में लाख दर्जे गनीमत थी। हर एक जात के अदर तो बराबरी और एक हदतक आजादी थी; हर एक जात अपने पेशे के आधार पर कायम हुई थी और अपने खास काम में लगती थी। इससे जिस काम मे भी एक शख्स होता, उसे खास महारत हासिल हो जाती और हुनर के धधेवालो को काम की विशेषता हासिल होती।

२० : कदीम हिंदुस्तान में गणित-शास्त्र

चूकि कदीम हिंदुस्तानी ऊचे दिमागवाले और सूक्ष्म बातो पर सोच-विचार करनेवाले लोग थे, इसलिए हमे उम्मीद ही करनी चाहिए कि वे गणित-शास्त्र मे बढे-चढे रहे होंगे। यूरोप ने शुरू मे अक-गणित और बीज-गणित अरबो से सीखा—इससे उन्होंने सख्याओ को 'अरबी सख्याओं' का नाम दिया—लेकिन अरबो ने खुद पहले हिंदुस्तान से सीखा था। हिंदुस्तानियो ने गणित मे जो अचरज-भरी तरक्की की थी, उसे अब लोग अच्छी तरह से जानते हैं और यह माना जाता है कि अक-गणित और बीज-गणित की बुनियाद बहुत पहले ही हिंदुस्तान मे पडी थी। गिनती के चौखटे की मदद से गिनने के भद्दे तरीके और रोमन और इसी तरह की सख्याओ के इस्तेमाल ने बहुत दिनो तक तरक्की को रोक रखा था, जबकि शून्याक मिलाकर दस हिंदुस्तानी अको ने इन्सान के दिमाग को इन बधनो से आजाद कर दिया और अको के आचरण पर बहुत रोशनी डाली। अको के ये चिह्न और मुल्कों मे इस्तेमाल किये जानेवाले चिन्हो से बिलकुल जुदा थे। आज वे इतने आम हैं कि हम उन्हें माने बैठे हैं, लेकिन उनमे क्रातिकारी तरक्की के बीज थे। हिंदुस्तान से बगदाद होते हुए पच्छिमी दुनिया मे पहुचने में इन्हें सदिया लग गई।

डेढ़ सौ साल हुए, नेपोलियन के जमाने मे लाप्लास ने लिखा था—"यह हिंदुस्तान है, जिसने हमे सभी सख्याओ को दस चिह्नो के जरिये प्रकट करने का युक्तिपूर्ण तरीका बताया, जिसमे हर एक चिह्न का एक अपना मूल्य है और एक उसके स्थान की वजह से मिला हुआ मूल्य है। यह एक गहरा और अहम खयाल है, जो अब हमे इतना सीधा-सादा जान पडता है कि हम

उसकी सही खूबियो को भूल जाते हैं। लेकिन इसकी सादगी ही से जो आसानी हमारी गिनतियो मे हो गई है, उसने अक-गणित को उपयोगी आविष्कारो की पहली कोटि में ला दिया है और हम इस कारनामे के महत्व को तब समझेंगे, जब हम यह याद रखेंगे कि कदीम जमाने के दो सबसे बड़े लोगो यानी आर्कमीडिस और अपोलोनियस की प्रतिमा से भी यह विचार बच निकला था।"[1]

हिंदुस्तान मे ज्यामिति, अक-गणित और बीज-गणित की शुरुआत हमे बहुत कदीम जमाने तक पहुचा देती है। शायद शुरू मे वैदिक वेदियो पर चित्रो के बनाने मे एक तरह के ज्यामितीय बीज-गणित का इस्तेमाल किया जाता था। सबसे प्राचीन किताबो मे एक वर्गाकार को आयत मे, जिसकी एक भुजा दी गई हो, बदलने की रीति बताई गई है (अ क्ष=स)। हिंदू सस्कारो मे ज्यामित-चित्र अब भी आमतौर से इस्तेमाल मे आते हैं। ज्यामिति ने हिंदुस्तान मे तरक्की जरूर की, लेकिन इस विषय मे यूनान और सिकदरिया आगे बढ गये। अक-गणित और बीज-गणित मे ही हिंदुस्तान आगे बना रहा। स्थान-मूल्य की दशमलव-विधि और शून्याक के आविष्कारक या आविष्कारको का पता नही। शून्याक के सबसे पहले प्रयोग का जो अबतक पता लगा है, वह लगभग २०० ई० पू० के एक शास्त्रीय ग्रंथ मे है। यह मुमकिन समझा जाता है कि स्थान-मूल्य का तरीक़ा ईसाई सवत के शुरू के लगभग ईजाद किया गया। शून्य, जिसके मानी कुछ नही के हैं, शुरू मे एक बिंदी या नुक्ते की शक्ल मे था। बाद मे यह एक छोटे वृत्त की शक्ल मे बदल गया। यह और अको की तरह एक अक समझा जाता था। प्रोफेसर हाल्स्टेड ने इसके गहरे महत्व के बारे मे इस तरह लिखा है—"शून्य के चिह्न की रचना मे महत्व को चाहे जितना बढ़ाकर कहा जाय, अत्युक्ति न होगी। एक ऐसी चीज को, जो हवाई और कुछ न हो, एक स्थिति और नाम दे देना, एक चित्र और प्रतीक मे बदल देना, जिसमे मदद करने की शक्ति आ जाय, हिंदू जाति की ही विशेषता है, जहा इसका जन्म हुआ। यह निर्वाण को बिजली पैदा करनेवाले यत्रों मे ढाल देने जैसी बात है। गणित की कोई भी ईजाद बुद्धि और शक्ति को आमतौर पर आगे बढाने में इतनी कारगर नही हुई है।"[2]

[1] हागबेन की 'मैथमेटिक्स फार दि मिलियन' (लंदन, १९४२) में उद्धृत।

[2] जी० बी० हाल्स्टेड की 'आन दि फाउंडेशन ऐंड टेकनीक ऑव अरिथमेटिक' (शिकागो, १९१२), पृष्ठ २० से बी० दत्ता और ए० एन० सिंह की 'हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथमेटिक्स' (१९३५) में उद्धृत।

इस मार्के की घटना को लेकर इस ज़माने के एक और गणितज्ञ ने बड़ी ज़ोरदार प्रशंसा की है। डानज़िग अपनी पुस्तक 'नंबर' में लिखते हैं—"पाच हज़ार साल में इस लबे ज़माने मे न जाने कितनी तहज़ीबें उठी और गिरी और इनमें से हर एक अपने साहित्य, कला, फ़िलसफ़े और मज़हब की विरासत छोड़ गई। लेकिन गिनती के मैदान मे, जो इन्सान की पहली कला रही है, सब-कुछ मिलाकर उनके क्या कारनामे रहे? गिनती का ढग इतना भोडा और गैर-लचीला था कि तरक्की को गैर-मुमकिन बना देनेवाला, और जोडने मे इस कदर पेचीदा कि मामूली हिसाब के लिए भी विशेषज्ञ की मदद लेनी पडे। आदमी इन तरीकों को हजारो साल तक इस्तेमाल मे लाता रहा, लेकिन इनमे कोई सार्थक सुधार न कर सका, इसमे एक भी मतलब का विचार न जोड सका। यह सही है कि अधेरे युगो मे विचार बहुत धीरे-धीरे तरक्की करते थे, फिर भी उनके मुकाबले मे गिनती के इतिहास को देखा जाय, तो लगातार पर गतिहीन और अटका हुआ जान पडता है। इस नजर से देखने से उस अनजाने हिंदू का कारनामा, जिसने हमारे सवत की पहली सदियो मे किसी वक्त स्थान-मूल्य के सिद्धात को ईजाद किया, एक लोकव्यापी महत्व का कारनामा हो जाता है।"[1]

डानज़िग को ताज्जुब इस बात का है कि यूनान के बडे गणितज्ञों में से किसीने इसकी ईजाद क्यो न की। "क्या यह बात है कि यूनानी प्रयोगात्मक विज्ञान को हेठा समझते थे और अपने बच्चो की तालीम तक को गुलामो के सिपुर्द कर देते थे? अगर ऐसा है, तो यह कैसे हुआ कि जिस कौम ने हमें ज्यामिति दी और उसे उतना आगे बढाया, वह बीज-गणित के मोटे सिद्धात भी हमे न दे सके? क्या यह उतने ही ताज्जुब की बात नही कि बीज-गणित भी, जो आजकल के गणित का बुनियादी पत्थर है, हिंदुस्तान मे उपजा और करीब-करीब उसी वक्त, जबकि स्थान-मूल्य की ईजाद हुई?"

प्रोफेसर हागबेन ने इस सवाल के जवाब मे यह सुझाव दिया है—"हिंदुओ ने ही इस दिशा मे कदम क्यो बढाया, क्यो अपने कदीम गणितज्ञो ने ऐसा नही किया, क्यो व्यावहारिक मनुष्यो द्वारा यह बन सका, इस बात को समझने की कठिनाई को हम हल न कर सकेंगे, अगर हम बौद्धिक उन्नति को कुछ प्रतिभावाले मनुष्यो की कोशिशों का नतीजा समझते रहेगे, बजाय इसके कि हम उसे रीति-रिवाज और विचार के पूरे सामाजिक सगठन का नतीजा समझें, जो बडे-से-बडे प्रतिभावाले के गिर्द होता है। १०० ईस्वी के लग-

[1] एल० हागबेन की 'मैथेमेटिक्स फार दि मिलियन' (लंदन, १९४२) मे उद्धृत।

मगर हिंदुस्तान मे जो हुआ है, वह पहले भी हो चुका है। हो सकता है कि यह इस वक्त रूस मे हो रहा हो। इस सत्य को मानने का अर्थ यह है कि अगर कोई सस्कृत आम जनता को तालीम की तरफ उतना ही ध्यान नही देती, जितना कि वह विशेष प्रतिभावाले लोगो को तरफ देती है, तो यह समझना चाहिए कि उसके विनाश का बीज उसीके अदर है।"[1]

तब हमें मान लेना होगा कि ये मार्के की ईजादे किसी ऐसे प्रतिभा-वाले व्यक्ति की क्षणिक सूझ का नतीजा नही है, जो अपने समकालीनो से बहुत आगे बढा हुआ था, बल्कि यह कि वे दरअसल सामाजिक परिस्थितियो का नतीजा हैं और अपने जमाने की लगातार माग के जवाब मे थी। इस माग को पूरा करने के लिए ऊचे दर्जे की प्रतिभा की यकीनी तौर पर जरूरत थी, लेकिन अगर यह माग मौजूद न रही होती, तो कोई रास्ता निकालने की प्रेरणा ही न हुई होती और अगर यह ईजाद हुई भी होती, तो इसे लोग या तो भुला देते, या उस वक्त तक के लिए रख छोडते, जब इसकी जरूरत आकर पडती। सस्कृत के शुरू के गणित-सबधी ग्रथो से यह साफ जाहिर है कि माग मौजूद थी, क्योंकि इन ग्रथो मे व्यापार के और ऐसे समाजी ताल्लुको के सवाल भरे पडे है, जिनमे टेढे-मेढे जोड लगाने पडते थे, कर, उधार और सूद के मसले हैं, साझेदारी के, चीजो के अदल-बदल और लेन-देन के और सोने की परख और तोल-काटे के मसले भी मिलते हैं। समाज जटिल हो चुका था और सरकारी धधो मे और लबे रोजगारो मे बहुत-से लोग लगे हुए थे। हिसाब के सीधे तरीको के जाने बिना काम चलाना गैर-मुमकिन था।

शून्याक और स्थान-मूल्यवाली दशमलव विधि को कुबूल कर लेने से हिंदुस्तान मे अक-गणित और बीज गणित की तरक्की के दरवाजे तेजी से खुल गये। भिन्न और मिश्र राशियो के गुणा व भाग प्रचलित हुए, त्रैराशिक निकला और उसे पूर्ण बनाया गया, वर्ग और वर्गमूल, उसके साथ-साथ वर्गमूल का चिह्न ($\sqrt{}$) निकला, घन और घनमूल, ऋण-चिह्न; ज्या की तालिकाए उपयोग मे आई, वृत्त की परिधि तथा व्यास के अनुपात π का मूल्य ३ १४१६ ठहराया गया, अनजानी राशियो के लिए बीज-गणित में वर्णमाला के अक्षरों का इस्तेमाल हुआ, सामान्य और वर्ग समीकरण का विचार उठा, शून्याक के गणित की छान-बीन हुई, शून्याक की परिभाषा इस तरह दी गई : अ—अ=०, अ+०=अ, अ—०=अ, अ×०=०,

[1] हागबेन : 'मैथेमेटिक्स फार दि मिलियन' (लदन, १९४२), पृष्ठ २८५।

अ÷०=अनत सख्या। ऋण राशियो की कल्पना भी की गई है। इस तरह √४=२ ±।

गणित की ये और दूसरी प्रगतिया पाचवी से बारहवी सदी के बीच होनेवाले अनेक मशहूर गणितज्ञो की पुस्तको मे दी गई हैं। इससे पहले के भी ग्रथ हैं (ईसा से पहले की आठवी सदी के लगभग का 'बौद्धायन', ईसा से पहले की पाचवी सदी के 'आपस्तव और 'कात्यायन'), जिनमे ज्यामिति के प्रश्नो, खासतौर पर त्रिभुज, आयत और वर्ग के सवालो को बताया गया है। लेकिन बीज-गणित पर जो सबसे पुरानी पुस्तक मिलती है, वह प्रसिद्ध ज्योतिर्विद आर्य भट्ट की है, जिनका जन्म ४७६ ई० मे हुआ था। ज्योतिष और गणित पर उसने अपनी किताब जब लिखी, तब उसकी उम्र सिर्फ २३ साल की थी। आर्य भट्ट ने, जिसे कभी-कभी बीज-गणित का ईजाद करनेवाला बताया जाता है, अपने से पहले के लेखको से कम-से-कम कुछ अशो मे मदद ली होगी। हिंदुस्तानी गणित-शास्त्र मे दूसरा बडा नाम जो आता है, वह है भास्कर प्रथम का (५२२ ई०) और उसके बाद ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) हुआ। वह भी एक ज्योतिर्विद था। उसने शून्याक के नियमो का बयान किया और इस विद्या मे और भी तरक्की की। इसके बाद लगातार कई गणितज्ञ हुए हैं, जिन्होने अक-गणित और बीज-गणित पर पुस्तके लिखी हैं। आखिरी बडा नाम भास्कर द्वितीय का है, जिसका जन्म १११४ ई० मे हुआ था। उसने ज्योतिर्विज्ञान, बीज-गणित और अक-गणित, इन पर तीन पुस्तकें लिखी हैं। उसकी गणित की पुस्तक का नाम 'लीलावती' है, जो गणित की किताब के लिए कुछ अनूठा नाम है, क्योकि यह एक औरत का नाम है। इस किताब मे एक लडकी के बार-बार हवाले आते हैं, जिसे 'हे लीलावती' करके पुकारा गया है, उसके बाद किसी दिये गये सवाल को समझाया गया है। यह खयाल किया जाता है (अगरचे इसका सबूत नही है) कि लीलावती भास्कर की बेटी थी। किताब की शैली साफ और सादी है और ऐसी है कि उसे छोटी उम्र के लोग समझ सकें। यह किताब सस्कृत स्कूलो मे, कुछ हदतक अपनी शैली के कारण, अब भी इस्तेमाल मे आती है।

गणित-शास्त्र की किताबे (नारायण, ११५०, गणेश, १५४५), बनती रही; लेकिन ऐसा जान पडता है कि जो काम हो चुका था, उसे इनमे महज दुहराया गया है। हिंदुस्तान मे गणित-शास्त्र मे बारहवी सदी के बाद जब-तक कि हम मौजूदा जमाने तक नही आ जाते हैं, मौलिक काम बहुत थोडा हुआ है।

आठवी सदी मे, खलीफा अलमसूर के राज्यकाल मे (७५३-७७४), कई

हिंदुस्तानी विद्वान बगदाद गये, और जिन किताबो को वे अपने साथ ले गये थे, उनमे ज्योतिर्विज्ञान और गणित की भी किताबें थी। शायद इससे पहले भी, हिंदुस्तानी गिनती के अक बग़दाद पहुच चुके थे, लेकिन यह पहला नियमित सपर्क था और आर्य भट्ट की और दूसरी किताबो के अरबी तरजुमे हुए। इन्होने अरबी दुनिया मे गणित और ज्योतिष की तरक्की पर असर डाला और वहा हिंदुस्तानी अक प्रचलित हुए। बगदाद उस ज़माने मे इल्म का एक बडा केंद्र था और यूनानी और यहूदी आलिम वहा जमा हुए थे और इन लोगो के साथ-साथ यूनानी फिलसफा, ज्यामिति और विज्ञान वहा पहुचे थे। बग़दाद का सास्कृतिक असर मध्य-एशिया से लेकर स्पेन तक सारी इस्लामी दुनिया मे पहुचा था और इस तमाम खित्ते मे अरबी तरजुमो के ज़रिये हिंदुस्तानी गणित-शास्त्र का ज्ञान फैल गया था। अरब इन अको को 'हिंदसा' कहते थे और अको के लिए अरबी लफ्ज़ 'हिंदसा' ही है, जिसके माने हैं 'हिंद से आया हुआ।'

अरबी दुनिया से यह नई गणित, शायद स्पेन के मूर विश्वविद्यालयो के ज़रिये, यूरोपीय मुल्को मे पहुची और यूरोपीय गणित-शास्त्र की इससे बुनियाद पडी। यूरोप मे इन नये 'हिंदसो' का विरोध हुआ। वे काफिरो के निशान समझे जाते थे, और उनके आमतौर पर इस्तेमाल मे आने मे कई सौ साल लग गये। सबसे पहला इस्तेमाल जो हुआ, वह सिसली के एक सिक्के मे ११३४ ई० मे हुआ, इग्लिस्तान मे इसका पहला इस्तेमाल १४९० मे हुआ।

यह साफ़ मालूम पडता है कि हिंदुस्तानी गणित की जानकारी और, खासतौर पर अको के स्थान-मूल्य की पद्धति की जानकारी, पच्छिमी एशिया में बगदाद मे हिंदुस्तानी विद्वानो के जाने से पहले पहुच चुकी थी। सीरिया के एक विद्वान भिक्खु ने, जिसका सीरियनो को हिकारत से देखनेवाले कुछ यूनानी विद्वानो के ग़रूर से दिल बहुत दुखा था, उनकी एक शिकायत मे कुछ दिलचस्प वाक्य लिखे हैं। उसका नाम सेवेरस सेबोख्त था और वह दजला नदी के किनारे के एक धर्माश्रम मे रहा करता था। उसने ६६२ ई० में लिखा है और यह जताने की कोशिश की है कि सीरिया के लोग यूनानियो से किसी तरह घटकर नही हैं। मिसाल के तौर पर वह हिंदुस्तानियो का हवाला देता है—"मैं हिंदुओ के विज्ञान का बयान बिलकुल न करूगा, वे सीरियनों-जैसे लोग नही हैं, ज्योतिर्विज्ञान की उनकी सूक्ष्म खोजो को, जो यूनानियो और बैबिलोनियावालों की खोजो से कही बढ़कर हैं, न बताऊंगा। उनकी गणना का तो बयान ही नही हो सकता। मैं सिर्फ़ यह बताना चाहूगा कि यह गणना नौ चिह्नो के सहारे की जाती है। अगर यूनानी भाषा बोलने

ही की वजह से कोई समझता हो कि वह यह सारा विज्ञान जान गया है, तो उसे ये बातें भी जाननी चाहिए। तब उसे पता चलेगा कि दूसरे लोग भी हैं, जो कुछ जानते हैं।"[१]

हिंदुस्तान के गणित का जिक्र करते हुए हाल के जमाने के एक असाधारण व्यक्ति की बरबस याद आती है। यह श्रीनिवास रामानुजम् थे। दक्खिन हिंदुस्तान के एक ग़रीब ब्राह्मण के घर मे जन्म लेकर और उचित शिक्षा न पाकर वह मद्रास पोर्ट ट्रस्ट मे क्लर्क हो गये। लेकिन उनमे कुदरती प्रतिभा का एक न दब सकनेवाला गुण था और वह अपने फुरसत के घंटों मे अकों और उनके समीकरण से अपना जी बहलाया करते थे। खुशकिस्मती से एक गणितज्ञ का ध्यान इस पर गया और उसने इनको कुछ काम के लिए इग्लिस्तान मे कॅब्रिज भेज दिया। वहा के लोगो पर इसका असर पडा और उनके लिए एक वजीफे का इतजाम कर दिया गया। इस तरह उन्होंने अपनी क्लर्की छोडी और वह कॅब्रिज चले गये। थोडे ही समय मे उन्होंने वहा कुछ बडा अहम और मौलिक काम पेश किया। इग्लिस्तान की रायल सोसायटी ने अपने कायदो को तोडकर उन्हे अपना एक 'फेलो' चुन लिया, लेकिन वह दो साल बाद ३३ साल की उम्र मे शायद तपेदिक से मर गये। मेरा खयाल है कि जूलियन हक्सले ने उनके बारे मे कही कहा है कि वह इस सदी के सबसे बडे गणितज्ञ थे।

रामानुजम् की छोटी जिंदगी और मौत हिंदुस्तान की हालत की प्रतीक है। हमारे करोडों लोगो मे कितने थोडे हैं, जो कुछ शिक्षा भी पा लेते हैं, कितने है, जिन्हे पेट भर खाना नही मिलता, उन लोगो मे से भी, जिन्हें कुछ तालीम हासिल हो जाती है, कितने हैं, जिनके लिए किसी दफ्तर मे क्लर्की करने के सिवा कुछ चारा नही होता, और इस क्लर्की की तनख्वाह इग्लिस्तान के बेकारो को मिलनेवाली खैरात से कम होती है? अगर जिंदगी इनके लिए अपने दरवाजे खोल दे और उन्हे खाना और दूसरी सुविधाए दे, और तालीम और तरक्की के मौके दे, तो इन करोडो मे से कितने हैं, जो बडे वैज्ञानिक, शिक्षक, हुनर जाननेवाले, व्यापारी, लेखक और कलाकार बन सकते हैं और एक नये हिंदुस्तान और एक नई दुनिया के बनाने मे मदद कर सकते हैं?

---

[१] बी० दत्ता और ए० एन० सिंह की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथेमेटिक्स' (१९३३) मे उद्धृत। इस विषय की बहुत-सी जानकारी के लिए मैं इस पुस्तक का आभारी हूं।

२१ : विकास और ह्रास

ईस्वी सन के पहले हज़ार वरसो में हिंदुस्तान ने वहुत-से चढाव और उतार देखे हैं, हमलावरो से लडाइया और अदरूनी दिक्कतें पेश आई हैं। फिर भी यह ज़ोरदार उफान लेती हुई और चारो तरफ फैलती हुई कौमी ज़िदगी का जमाना रहा है। सस्कृति तरक्की करती है, एक भरी-पूरी तहज़ीव, फिलसफा, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान और गणित-शास्त्र के फूल खिलाती है। हिंदुस्तान की आर्थिक व्यवस्था फलती है, हिंदुस्तान का क्षितिज विस्तृत होता है और दूसरे मुल्क इसके असर मे आते हैं। ईरान, चीन, यूनानी दुनिया, मध्य-एशिया से ताल्लुकात वढते हैं और इन सवसे ऊपर यह होता है कि पूर्वी समुद्र के देशो की तरफ वढने की गहरी उमग पैदा होती है, जिसका नतीजा यह होता है कि हिंदुस्तानी नौआवादिया कायम होती है और हिंदुस्तानी सस्कृति हिंदुस्तान की सरहदो से वहुत आगे तक पहुचती है। इन हज़ार वरस के वीच के ज़माने मे, चौथी सदी के शुरू से छठी सदी तक, गुप्त-साम्राज्य का वोल-वाला रहता है और इस दूर-दूर तक फैली हुई वौद्धिक और कलात्मक प्रवृत्तियो का यह प्रतीक और सरपरस्त वनता है। यह हिंदुस्तान का सुनहला युग कहलाता है और इस ज़माने के ग्रथो में, जो सस्कृत-साहित्य की निधि हैं, एक प्रशात गभीरता है, आत्म-विश्वास है, और उस ज़माने के लोगो मे इस वात का गर्व है कि वे इस सभ्यता के प्रखर मध्याह्न-काल मे जीवित हैं, और इसके साथ-साथ अपनी ऊची दिमागी और कलात्मक शक्तियो को ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग मे लाने की उनमे उमग है।

लेकिन इससे पहले कि वह सुनहला ज़माना खत्म हो, कमज़ोरी और तनज़्ज़ुली की अलामतें दिखाई देने लगती हैं। पच्छिमोत्तर से सफेद हूणो के दल-के-दल आते हैं और वार-वार मार भगाये जाते है। लेकिन उनका आना जारी रहता है और रफ्ता-रफ्ता वे उत्तरी हिंदुस्तान मे रास्ता कर लेते हैं। आधी सदी तक वे उत्तरी हिंदुस्तान मे हुक्मरानी भी करते है, लेकिन इसके वाद आखिरी गुप्त-सम्राट, मध्य-हिंदुस्तान के एक शासक, यशोवर्मन, के साथ मिलकर वडी कोशिश से उन्हे मुल्क से निकाल वाहर करता है। इस लवे सघर्ष के कारण हिंदुस्तान राजनैतिक हैसियत से और लडाई की ताकत की हैसियत से भी कमज़ोर पड गया और हूणो के वहुत तादाद मे सारे उत्तरी हिंदुस्तान मे वस जाने ने रफ्ता-रफ्ता लोगो मे एक भीतरी तब्दीली भी पैदा कर दी। जिस तरह और विदेशो से आनेवाले जज्व हो चुके थे, उसी तरह ये भी जज्व कर लिये गये, लेकिन इनकी छाप वनी रही और भारतीय आर्य जातियो के प्राचीन आदर्श कमज़ोर पड गये। हूणो के जो पुराने वयान

मिलते हैं, वे उनकी हद दर्जे की कठोरता के और बर्बरता के व्यवहारों से भरे हुए हैं; और इस तरह के व्यवहार युद्ध और हुकूमत के हिंदुस्तानी आदर्शों से बिलकुल जुदा हैं।

सातवीं सदी में, हर्ष के जमाने में, राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों ही तरह की पुनर्जागृति होती है। उज्जयिनी (आजकल का उज्जैन), जो गुप्तों की शानदार राजधानी थी, फिर कला और संस्कृति और एक बलशाली राज्य का केंद्र बनती है। लेकिन इसके बाद की सदियों में यह भी कमजोर पड़ जाती है और खत्म हो जाती है। नवीं सदी में, गुजरात का मिहिरभोज छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान में एक केंद्रीय राज्य कायम करता है और कन्नौज को अपनी राजधानी बनाता है। फिर एक साहित्यिक पुनर्जागृति होती है और इसका मुख्य पुरुष राजशेखर होता है। इसके बाद फिर ग्यारहवीं सदी के शुरू में एक दूसरा भोज, जो बड़ा पराक्रमी और आकर्षक व्यक्ति है, सामने आता है, और उज्जयिनी फिर एक बड़ी राजधानी बनती है। यह भोज एक बड़ा अद्भुत आदमी था और इसने कई क्षेत्रों में प्रतिष्ठा हासिल की थी। यह वैयाकरण था, कोशकार था और इसकी दिलचस्पी भैषज और ज्योतिर्विज्ञान में भी थी। यह बड़ी इमारतों का निर्माण करनेवाला था और कला और साहित्य का संरक्षक भी था। यह खुद कवि और लेखक था और कई रचनाएं इसके नाम के साथ जुड़ी हुई हैं। उसका नाम लोक-कथाओं और कहानियों का—बड़प्पन, ज्ञान और उदारता के प्रतीक के रूप में—अंग बन गया है।

लेकिन इन चमकदार मिसालों के बावजूद हम देखते हैं कि हिंदुस्तान में एक भीतरी कमजोरी पैठ गई है, जो न महज उसकी राजनैतिक प्रतिष्ठा बल्कि रचनात्मक प्रवृत्तियों को मंद कर देती है। इसके लिए कोई तिथि नहीं दी जा सकती, क्योंकि यह प्रक्रिया धीमी गति से चलनेवाली थी और इसने पहले उत्तरी हिंदुस्तान और बाद में दक्खिन में असर डाला। सच तो यह है कि इस वक्त दक्खिन हिंदुस्तान राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों हैसियतों से ज्यादा महत्त्व का बन गया। शायद इसकी यह वजह रही हो कि दक्खिनी हिंदुस्तान हमलावरों के साथ बराबर लड़ाई में लगे रहने की मुसीबत और परेशानी से बचा रहा, शायद उत्तरी हिंदुस्तान की गैर-इतमीनानी की हालत से बचने के लिए बहुत-से लेखक और कलाकार और बड़े-बड़े इमारतों के निर्माण करनेवाले भागकर दक्खिन में जा बसे। दक्खिन के शक्तिशाली राज्यों ने और उनके शानदार दरबारों ने लोगों को आकर्षित किया होगा और उन्हें रचनात्मक कार्य के लिए वह अवसर दिया होगा, जो उन्हें दूसरी

जगह नही मिलता था।

लेकिन अगरचे उत्तरी हिंदुस्तान सारे हिंदुस्तान पर हावी नही था, जैसा-कि वह अकसर पहले रह चुका था, वल्कि छोटे-छोटे राज्यो मे वटा हुआ था, फिर भी जिंदगी भरी-पूरी थी, और सस्कृति और फिलसफे के बहुत-से केंद्र अब भी मौजूद थे। हमेशा की तरह इस वक्त भी बनारस धार्मिक और फिल-सफ़ियाना विचारो का गढ था, और हर शख्स, जो किसी नये सिद्धात को या किसी पुराने सिद्धात की नई व्याख्या को लेकर सामने आता, उसे अपने विचारो को मान्य कराने के लिए यहा आना पडता था। बहुत जमाने तक काश्मीर भी बौद्धो और ब्राह्मणो के सस्कृत ज्ञान का बडा केंद्र रहा है। बडे-बडे विश्वविद्यालय रहे हैं, जिनमे नालदा सबसे मशहूर था और यहा के विद्वानो का सारे हिंदुस्तान मे आदर था। नालदा मे शिक्षा पानेवाले पर सस्कृति की एक छाप-सी लग जाती थी। इस विश्वविद्यालय मे भरती होना सहज न था, क्योंकि इसमे वही लोग भरती हो सकते थे, जिन्होंने एक खास क़ाबलियत हासिल कर ली होती थी। इसने स्नातकोत्तर शिक्षा देने मे विशेषता प्राप्त की थी और यहा चीन, जापान और तिब्बत तक से विद्यार्थी आते थे, वल्कि कहा जाता है कि कोरिया, मगोलिया और बुखारा से भी। धार्मिक और फिलसफियाना विषयो के अलावा, जो बौद्ध-मत और ब्राह्मण-मत दोनो ही के अनुसार पढाये जाते थे, दुनिया की और व्यावहारिक विषयो की भी तालीम दी जाती थी। कला और इमारत बनाने की शिक्षा के विभाग थे, वैद्यक का एक विद्यालय था, कृषि का विभाग था, गोधन और पशुओं का विभाग था। और यहा के बौद्धिक जीवन के बारे मे कहा जाता है कि बराबर ज़ोरदार वाद-विवाद और चर्चाएं चलती रहती थी। हिंदुस्तानी सस्कृति का विदेशो मे प्रचार ज्यादातर नालदा के विद्वानो का काम रहा है।

इसके अलावा विक्रमशिला का विश्वविद्यालय था, जो विहार मे ही, आजकल के भागलपुर के पास था और काठियावाड मे वल्लभी था। गुप्तो के ज़माने में उज्जयिनी के विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा हुई। दक्खिन मे अमरावती का विश्वविद्यालय था।

फिर भी, ज्यो यह सहस्राब्दी खत्म होने को आती है, यह सब कुछ सस्कृति की तिपहरी-जैसा लगता है। सवेरे की आभा बहुत पहले खत्म हो चुकी थी, और दुपहरी भी बीत गई थी। दक्खिन मे अब भी कुछ दम और जोर बाकी था, और यह कुछ सदियो तक और चलता रहा, देश से बाहर हिंदुस्तान की नौ-आबादियो मे उत्साह की और भरी-पूरी ज़िंदगी पाच सौ वर्षों तक और क़ायम रही। लेकिन ऐसा जान पडता है कि हृदय मद हो

रहा था, उसकी धड़कनें धीमी पड़ रही थी और रफ्ता-रफ्ता उसकी शिथिलता और अगो मे भी फैल रही थी। आठवी सदी मे होनेवाले शकर के बाद, फिलसफे के मैदान मे, कोई बडा आदमी नही हुआ है, हालाकि टीकाकारो और व्याख्या करनेवालो का एक लबा सिलसिला मिलता है। शकर भी दक्खिन हिंदुस्तान के थे। मानसिक साहस और जिज्ञासा का स्थान कठोर तर्क और अनुर्वर वादविवाद ले लेते हैं। ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म दोनो का उतार दिखाई देता है और पूजा के गिरे हुए रूप सामने आते हैं, खासतौर पर तात्रिक पूजा और याग के कुछ विकृत रूप।

साहित्य मे भवभूति (आठवी सदी) आखिरी बडा व्यक्ति है। बहुत-सी किताबें इसके बाद भी लिखी जाती रही, लेकिन शैली जटिल और बनावटी होती गई, न तो विचारो मे और न उनके प्रकट करने के ढग मे ताजगी रह गई है। गणित मे, भास्कर द्वितीय (बारहवी सदी) आखिरी बडा नाम है। कला मे ई० बी० हैवेल हमे इस जमाने के बाद तक ले आते हैं। उनका कहना है कि कलात्मक उद्गार के रूप सातवी-आठवी सदी तक पक्के नही हो पाये थे, जबकि हिंदुस्तान की आला दर्जे की मूर्त्ति-कला और चित्र-कला के ज्यादातर नमूने तैयार हुए। उनके कहने के मुताबिक सातवी-आठवी सदी से लेकर चौदहवी सदी तक हिंदुस्तानी कला का सबसे बुलद जमाना रहा है, उसी तरह, जिस तरह कि यूरोप मे गॉथिक कला के सबसे ऊचे विकास का यह जमाना रहा है। उनका कहना है कि सोलहवी सदी मे जाकर पुराने हिंदुस्तान की रचनात्मक प्रवृत्ति क्षीण होने लगी। यह विचार कहातक सही है, मैं नही जानता, लेकिन मेरा खयाल है कि कला के मैदान मे भी दक्खिन हिंदुस्तान मे ही, उत्तरी हिंदुस्तान के मुकाबले मे, पुरानी परपरा ज्यादा दिनो तक कायम रही।

उपनिवेशो को बसानेवाला आखिरी बडा गिरोह दक्खिन हिंदुस्तान से नवी सदी मे गया था, लेकिन चोल-वशियो की समुद्री शक्ति ग्यारहवी सदी तक बनी रही, जब उन्हें श्रीविजय ने हराया और परास्त किया।

इस तरह हम देखते हैं कि हिंदुस्तान शुष्क हो रहा था और अपनी रचनात्मक शक्ति और प्रतिभा खो रहा था। यह सिलसिला बहुत धीमा था और इसमे कई सदिया लग गईं, और पहले उत्तर मे और अत मे दक्खिन मे ह्रास हुआ। इस राजनैतिक और सास्कृतिक पतन के क्या कारण थे? क्या इसकी यह वजह थी कि हमारी तहजीब पुरानी पड चुकी थी और जिस तरह इन्सान का बुढापा आता है, उसी तरह तहजीबो का भी आता है, या ज्वार-भाटे की यह इस तरह की लहर थी, जो आगे बढ़कर फिर पीछे खिच आती

है ? या इसके लिए बाहरी कारण और हमले जिम्मेदार थे ? राधाकृष्णन् का कहना है कि हिंदुस्तानी फिलसफे ने अपनी शक्ति सियासी आजादी के साथ-साथ खो दी। सिल्वा लेवी कहते हैं—"हिंदुस्तान की आजादी के साथ सस्कृत का रचनात्मक युग भी खत्म हो गया। आजकल की भाषाए और आजकल के साहित्य आर्यों के देश पर छा गये हैं और उन्होंने ही सस्कृत की जगह ले ली है। सस्कृत को अब सिर्फ विद्यालयो मे शरण मिली है और यहापर उसमे पडिताऊपन की छाप लग गई है।"

ये सब बातें सही हैं, क्योंकि सियासी आजादी खो जाने के साथ तहजीब का उतार भी लाजिमी तौर पर शुरू हो जाता है। लेकिन सियासी आजादी ही क्यो गुम हो, बशर्ते कि किसी तरह का उतार उससे पहले हो शुरू नही हो गया है ? छोटा मुल्क हो, तो एक ज्यादा ताकतवाले हमलावर के सामने आसानी से भले ही झुक जाय, लेकिन हिंदुस्तान-जैसा बडा विकसित और ऊचे दर्जे की तरक्की तक पहुचा हुआ मुल्क बगैर अदरूनी ह्रास के हमलावर के सामने न झुकेगा। यह दूसरी बात है कि हमलावर का युद्ध-कला का ज्ञान ऊचा हो। भीतरी ह्रास इन हजार वर्षों के आखिर मे हिंदुस्तान मे पैदा हो चुका था, यह जाहिर ही है।

हर एक तहजीब की जिदगी मे ह्रास और फूट के जमाने आते हैं, और ऐसे जमाने हिंदुस्तान के इतिहास मे पहले भी आ चुके हैं। लेकिन हिंदुस्तान ने उन्हे झेलकर अपने को फिर से तरोताजा किया है और कभी-कभी अपने ही मे सिमिटकर कुछ वक्त बिताने के बाद फिर एक नई ताकत हासिल करके मैदान मे आया है। हमेशा एक सजीव अतस्तल बच रहा है, जिसने नये सपर्कों की मदद से अपने को फिर से ताजा किया है और फिर से अपना विकास किया है, यद्यपि यह गुजरे हुए जमाने से मुख्तलिफ ढग का रहा है। ताहम उससे इसका गहरा ताल्लुक भी रहा है। अपने को वक्त के बमूजिब ढाल लेने की मुलाभियत, दिमाग़ का वह लचीलापन, जिसे हिंदुस्तान ने पहले बहुत अकसर दिखाया है, क्या अब जाता रहा है ? क्या उसके बवे-तुले विश्वासो ने और उसके समाजी सगठन की कट्टरता ने उसके दिमाग़ को भी सख्त बना दिया है ? क्योकि अगर जिदगी का बढ़ना और तरक्की करना बद हो जाता है, तो विचारो का विकास भी ठहर जाता है। व्यावहारिक जीवन मे कट्टरता का और विचारो मे विस्फोट का अजब मेल हमे हिंदुस्तान मे बराबर देखने को मिलता है। लाजिमी तौर पर इस विचार का व्यवहार पर असर पडा है, चाहे यह असर इस तरह पर हुआ हो कि अतीत का तिरस्कार न किया गया हो। लेवी ने कहा है—"अगरचे उनकी निगाहें

पुराने ज्ञान की तरफ हैं, उनकी बुद्धि आजकल के विचारो को समझती है। और अनजाने ही आज हिंदुस्तान बदल गया है।" लेकिन विचार ने जब अपनी विस्फोटकता और रचनात्मक-शक्ति खो दी और वह एक घिसे-पिसे और बेमानी व्यवहार का गुलाम बन गया, पुराने जुमलो को दुहराने और सभी नई चीजो से डरने लगा, तब जिंदगी बंध गई और स्थिर हो गई, और अपने ही बनाये कैदखाने मे बंद हो गई।

तहजीबो के खत्म हो जाने की हमारे सामने बहुत-सी मिसालें हैं और शायद इनमे से सबसे मार्के की मिसाल रोम के पतन के बाद यूरोप की क़दीम सभ्यता के खत्म होने की है। उत्तर से आनेवाले हमलावरो के हमलो से बहुत पहले रोम अपनी अंदरूनी कमजोरियो के कारण जर्जर हो गया था। उसका अर्थ-तंत्र, जो पहले फैल रहा था, संकुचित हो गया था और अनेक कठिनाइयां उठ खडी हुई थी। शहरी उद्योग-धंधे पिछड गये थे, खुशहाल शहर रफ्ता-रफ्ता ग़रीब और छोटे हो गये थे और धरती का उपजाऊपन भी कम हो चला था। अपनी बराबर बढनेवाली कठिनाइयो पर काबू पाने के लिए बादशाहो ने तरह-तरह की कोशिशें कीं। रियासत की तरफ से व्यापारियो पर ऐसी पाबंदिया लगाई गईं कि वे अपने खास पेशो से बंध गये। बहुत किस्म के मजदूर-पेशा लोगो पर अपने वर्ग से बाहर ब्याह-शादी करने पर रोक लगा दी गई, इस तरह से कुछ पेशे करीब-करीब एक जाति-से बन गये। किसान गुलाम बन गये। लेकिन ह्रास को रोकने की ये सब सतही तरकीबें बेकार हुईं, बल्कि उन्होंने हालत को और भी बिगाड़ दिया, और रोम सल्तनत बैठ गई।

हिंदुस्तानी सभ्यता का ऐसा नाटकीय अंत न उस वक्त हुआ और न बाद मे हो, और जो कुछ भी उस पर गुजरा, उसके बावजूद उसने एक ग़जब की पायदारी दिखलाई है। लेकिन एक बढती हुई तनज्जुली दिखाई पडती है। ब्योरे के साथ यह बता सकना मुश्किल है कि हिंदुस्तान में ईस्वी सन के पहले हजार साल के आखिर मे समाज की क्या हालत थी। लेकिन कमोबेश यकीन के साथ यह कहा जा सकता है कि हिंदुस्तान का फैलता हुआ अर्थ-तंत्र खत्म हो चुका था और सिकुडने की तरफ उसका जबरदस्त रुझान हो चला था। शायद यह हिंदुस्तानी समाजी संगठन के बढते हुए कट्टरपन और अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति का नतीजा था और इसके तह मे यहा की अर्थ-व्यवस्था थी। जहा-जहा हिंदुस्तानी विदेशो में पहुचे थे, जैसे दक्खिन-पूरबी एशिया मे, वहा-वहा उनके दिमाग मे, रीति-रिवाजो मे और अर्थ-तंत्र में यह कड़ापन नही आया था और विकास और फैलाव के उनके सामने मौके

थे। इससे चार-पांच सदी बाद तक वे इन नौ-आबादियों में पनपे और उन्होंने स्फूर्ति और रचनात्मक शक्ति दिखाई। लेकिन खास हिंदुस्तान में अलग-थलग रहने की भावना ने उनकी रचनात्मक शक्ति को खोखला कर दिया और उनमें तंग-खयाली, गुटबंदी और संकुचित नजरिया पैदा हो गया। जिंदगी इस तरह टुकड़े-टुकड़े में बंट और बंध गई कि हर एक शख्स का धंधा निश्चित हो गया और सदा-सदा के लिए बन गया और उसका ताल्लुक दूसरों से बहुत कम रह गया। क्षत्रियों का काम मुल्क की हिफाजत में लड़ाई करना रह गया और इस काम में दूसरों को या तो दिलचस्पी न रह गई थी या उन्हें इसके लिए इजाजत न था। ब्राह्मण और क्षत्रिय बनिज-व्यापार करनेवालों को नीची नजर से देखने लगे। नीची जातवालों को तालीम और तरक्की के मौकों से वंचित रखा गया और उन्हें अपने से ऊंची जात-वालों के अधीन रहना सिखलाया गया। बावजूद इसके कि शहरी अर्थ-व्यवस्था और उद्योगों ने खासी तरक्की कर ली थी, राज्य का संगठन बहुत-कुछ सामंतवादी था। शायद युद्ध-कला में भी हिंदुस्तान पिछड़ गया था। इन हालतों में, जबतक सारे ढांचे को न पलट दिया जाय और शक्ति और योग्यता लिये नये सोते न खोल दिये जायं, तरक्की नामुमकिन थी। जात-पांत के बंधनों से इसमें रुकावट पड़ती थी। इसने हिंदुस्तानी समाज में चाहे जो पायदारी या खूबियां पैदा की हों, खुद इसके अंदर इसके विनाश के बीज मौजूद थे।

हिंदुस्तान के समाजी संगठन ने (और इसके बारे में मैं आगे चलकर और भी विचार करूंगा) हिंदुस्तानी सभ्यता को एक अद्भुत पायदारी दे रक्खी थी। इसने गुटों को बल दिया था और उनका आपस का मेल पक्का किया था। लेकिन यही फैलाव एक विस्तृत मेल-जोल के हक में बाधक साबित हुआ। इसने हुनर और दस्तकारी, और बनिज-व्यापार को तरक्की दी, लेकिन हमेशा एक महदूद दायरे के भीतर-भीतर। इस तरह खास-खास किस्म के बंधे पुश्तैनी बन गये और नये ढंग के कामों से बचने की और पुरानी लकीर पीटते रहने की प्रवृत्ति पैदा हुई, इसमें नई प्रेरणाओं और ईजादों की तरफ से लोगों में विमुखता आई। इसने एक महदूद दायरे के अंदर कुछ आजादी जरूर दी, लेकिन एक बड़ी आजादी को नुकसान पहुंचाकर, और जो कीमत इसे चुकानी पड़ी, वह यह थी कि बहुत बड़ी संख्या में लोग सदा-सदा के लिए समाज की सीढ़ी के नीचे के हिस्से में बने रह गये और तरक्की करने के मौके न मिले। जबतक इस संगठन में तरक्की और फैलाव के रास्ते निकलते रहे, तबतक यह प्रगतिशील रहा, जब ऐसी हालत में पहुंच गया कि

आगे फैलाव नामुमकिन था, तब वह स्थिर हो गया, प्रगतिशील न रहा और बाद मे लाजिमी तौर पर पीछे हटनेवाला बन गया।

इसकी वजह से चौतरफा ह्रास हुआ—विचारो मे, फिलसफे में, राजनीति मे, लडाई के तौर-तरीको मे, दुनिया की जानकारी और उससे सपर्क मे, और मुकामी जज्बे पैदा हुए, सामतवादी भावनाए दिखने लगी और सारे हिंदुस्तान का न खयाल करके गिरोहबदी का खयाल किया जाने लगा और हमारा अर्थ-तत्र सकुचित होने लगा। लेकिन, जैसाकि बाद के ज़माने ने जाहिर किया, पुराने ढाचे मे एक जीवनी-शक्ति बाकी थी, उसमे एक अद्भुत दृढता थी और साथ ही एक प्रकार का लचीलापन था, और अपने को वक्त की ज़रूरतो के मुताबिक ढालने की सलाहियत थी। इसकी वजह से ही वह कायम रह सका और नये सपर्कों से और विचारो की लहरो से फायदा उठा सका और कुछ मानो मे तरक्की भी कर सका। लेकिन यह तरक्की हमेशा गुज़रे हुए ज़माने की बहुत-सी यादगारो से जकडी और बधी रही।

: ६ :

नये मसले

१ : अरबवाले और मंगोल

जिस समय हर्ष उत्तरी हिंदुस्तान के एक बलशाली राज्य पर हुकूमत कर रहा था और चीनी यात्री और विद्वान ह्वेन-त्साग नालदा विश्वविद्यालय मे पढ रहा था, उस समय इस्लाम अरब मे अपना रूप धारण कर रहा था। इस्लाम को हिंदुस्तान मे एक मजहबी और राजनैतिक ताकत की शक्ल मे आकर बहुत-से नये मसले खडे करना था, लेकिन यह बात ध्यान रखने की है कि हिंदुस्तानी परिस्थिति मे फर्क ले आने मे उसे बहुत जमाना लग गया। हिंदुस्तान के बीचो-बीच पहुचने मे उसे करीब छ सदिया लग गईं, और जब वह यहा राजनैतिक विजयो के साथ-साथ पहुचा, उस वक्त तक वह खुद बहुत-कुछ बदल चुका था और इसके अलमबरदार दूसरे ही लोग थे। अरबवाले, जो अपने उत्साह की बाढ मे एक प्रबल शक्ति के साथ फैलकर स्पेन से लेकर मगोलिया की सरहदो तक विजयी के रूप मे पहुच गये थे और जिन्होने इन प्रदेशो मे अपनी शानदार सस्कृति पहुचाई थी, खास हिंदुस्तान मे न आये। वे पच्छिमोत्तर किनारे तक पहुचे और वही तक रह गये। अरबी-सभ्यता का रफ्ता-रफ्ता उतार हुआ और मध्य और पच्छिमी एशिया की तुर्की जातिया आगे आईं। यही तुर्क लोग थे और हिंदुस्तानी सरहद के अफ़गान थे, जो इस्लाम को हिंदुस्तान मे एक राजनैतिक ताकत की हैसियत से लाये।

कुछ तारीखो के सहारे ये घटनाए हमे ठीक-ठीक समझ मे आ जायगी। इस्लाम की शुरुआत ६२२ ई० मे पैग़बर मुहम्मद की मक्का से मदीना को हिजरत के वक्त से कही जा सकती है। मुहम्मद की मृत्यु १० साल बाद हुई। कुछ जमाना तो अरब में परिस्थिति को मजबूत करने मे लगा और इसके बाद उन अद्भुत घटनाओ का सिलसिला शुरू हुआ, जिन्होने इस्लाम का झडा उठानेवाले अरबो को पूरब मे मध्य-एशिया तक और पच्छिम मे सारे उत्तरी अफ्रीका के महाद्वीपो को पार करते हुए स्पेन और फ्रान्स तक

पहुंचाया। सातवीं सदी में और आठवीं के शुरू तक वे इराक़, ईरान और मध्य-एशिया तक फैल चुके थे। ७१२ ई० में वे पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान में सिंध तक पहुंचे और वहीं ठहर गये। इस इलाके के और हिंदुस्तान के ज्यादा उपजाऊ हिस्सों के बीच एक बड़ा रेगिस्तान पड़ता था। पच्छिम में अरबवालों ने अफ्रीका और यूरोप के बीच के तंग समुद्री रास्ते को (जो अब जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य के नाम से मशहूर है) पार किया और ७११ ई० में वे स्पेन में दाखिल हुए। उन्होंने सारे स्पेन पर कब्ज़ा कर लिया और पिरेनीज पहाड़ों को पार करके फ्रान्स पहुंचे। ७३२ ई० में तूर्स (फ्रान्स) में उन्हें चार्ल्स मार्तेल ने हराया और उनकी बाढ़ रोकी।

यह एक ऐसी क़ौम की विजय-यात्रा थी, जिसका घर अरब के रेगिस्तानों में था और जिसने अबतक तारीख़ में कोई बड़ा काम नहीं किया था और इस हैसियत से यह बहुत मार्के की थी। उन्होंने अपनी बड़ी शक्ति अपने पैगंबर के जोरदार और क्रांतिकारी व्यक्तित्व से और उनके इन्सानी भाईचारे के संदेसे से हासिल की होगी। फिर भी यह ख़याल ग़लत होगा कि अरब-सभ्यता का इस्लाम से पहले कोई वजूद न था और वह आप-ही-आप यकायक उठ खड़ी हुई। इस्लामी आलिमों की प्रवृत्ति रही है कि अरबवालों के इस्लाम से पहले के ज़माने को जाहिलियत का ज़माना कहकर, ऐसा ज़माना बताकर, जबकि लोगों में अज्ञान और अंधविश्वास फैला हुआ था, उसे गिराने की कोशिश करते हैं। और तहज़ीबों की तरह अरबी-तहज़ीब का भी एक लंबा अतीत काल रहा है और इसका सामी क़ौमों, यानी फोनीशियन, क्रीटन, चैल्डियन और इब्रानियों की तरक्क़ी से गहरा ताल्लुक़ रहा है। इज़राइलवाले ज्यादा अलग-थलग रहनेवाले हुए और रवादारी-पसंद चैल्डियनों से और औरों से उन्होंने अपना नाता तोड़ लिया। ताहम सारे सामी इलाकों के आपस के संपर्क बने हुए थे और कुछ हद तक उनकी एक सामान्य पृष्ठभूमि थी। इस्लाम से पहले की अरब तहज़ीब खासतौर पर यमन में पनपी। पैगंबर के वक़्त में अरबी-ज़बान एक बड़ी तरक्क़ी-याफ़्ता ज़बान थी और उसमें फ़ारसी, यहांतक कि हिंदुस्तानी लफ़्ज़ मिल-जुल गये थे। फिनीशियनों की तरह अरबवाले भी समुद्र के ज़रिये दूर-दराज़ का सफ़र तिजारत करने के लिए किया करते थे। दक्खिनी चीन में कैंटन के पास, इस्लाम से पहले के ज़माने में, अरबवालों की नौ-आबादी थी।

फिर भी यह सही है कि इस्लाम के पैगंबर ने अपने क़ौमियों में एक नई जान फूंकी और उनमें विश्वास और उत्साह पैदा किया। अपने को एक नये दीन का अलमबरदार समझकर उन्होंने अपने दिलों में ऐसी उमंग

और ऐसे आत्म-विश्वास का अनुभव किया, जैसा अकसर पूरी कौम पर छा जाता है और इतिहास को उलट-पुलट देता है। उनकी कामयाबी की यकीनी तौर पर यह भी वजह रही है कि पच्छिमी और मध्य-एशिया और उत्तरी अफ्रीका के राज्य पस्ती की हालत मे थे। उत्तरी अफ्रीका मे विरोधी ईसाई फिर्के आपस की लडाई मे लगे हुए थे, और ताकत हासिल करने के लिए लडी गई ये लडाइया अकसर खूनी लडाइया रही है। इस जमाने मे जिस तरह की ईसाइयत यहा फैली थी, उसमे तगदिली और गैर-रवादारी नुमाया तौर पर मौजूद थी और उसमे और अरबी मुलसमानो मे बडा फर्क दिखता था, क्योंकि ये लोग इन्सानी भाई-चारे का पैगाम लाये थे और रवादारी बरतना जानते थे। यही वजह थी कि ईसाइयो के झगडो से आजिज आकर पूरी-की-पूरी कौमें उनके साथ हो ली।

जो सस्कृति अरबवाले अपने साथ दूर देशो मे ले गये, वह खुद बराबर तब्दील होती और तरक्की करती रही है। इस पर इस्लाम के नये विचारो की छाप जरूर थी, लेकिन इसे इस्लामी तहज़ीब का नाम देना बातो को उलझाना और शायद उन्हे गलत तरीके पर पेश करना होगा। दमिश्क मे राजधानी बनाकर उन्होने जल्दी ही अपने रहन-सहन के सीधे-सादे ढग छोड दिये और एक ज्यादा रगी-चुनी तहज़ीब को तरक्की दी। यह जमाना अरब और सीरिया की मिली-जुली सस्कृति का जमाना कहा जा सकता है। बाइज़ेंटाइन के असर भी उन पर पडे, लेकिन जब वे हटकर बगदाद मे चले गये, तो सबसे ज्यादा असर ईरान की पुरानी परपरा का पडा, और अरबी और ईरानी मिली-जुली सस्कृति ने तरक्की पाई और उन सारे इलाका पर, जिन पर उनका बस था, छा गई।

अगरचे अरबवालो ने दूर-दूर मुल्को पर फतह हासिल की थी और यह फतह आसानी से कर सके थे, हिंदुस्तान मे वे उस वक्त सिध से आगे न बढ सके, न बाद मे ही। क्या इसकी यह वजह हो सकती है कि हिंदुस्तान इस वक्त भी इतना काफी मजबूत था कि हमलावरो को रोक सके? गालिबन यह बात सही है, क्योंकि दूसरी तरह से इस बात की कैफियत नही दी जा सकती कि इसके कई सदियो बाद तक क्यो दरअसल कोई दूसरा हमला न हुआ। हो सकता है कि कुछ अश मे खुद अरबो के आपस के झगडो की वजह से ऐसा हुआ हो। बगदाद की मरकज़ी हुकूमत से सिध जुदा हो गया और एक आज़ाद मुसलमानी रियासत बन गया। लेकिन, अगरचे कोई हमला न हुआ, फिर भी हिंदुस्तान और अरब के सबध बढे, यात्री आने-जाने लगे, एलचियो का अदला-बदला हुआ और हिंदुस्तानी किताबें, खासतौर पर

गणित और ज्योतिर्विज्ञान की, वगदाद पहुची और उनके अरबी मे तरजुमे हुए। बहुत-से हिंदुस्तानी वैद्य वगदाद गये। ये व्यापारिक और सास्कृतिक सबध सिर्फ उत्तरी हिंदुस्तान से नही कायम हुए। इसमे हिंदुस्तान की दक्खिनी रियासतें भी शरीक हुईं—खासतौर पर राष्ट्रकूट, जो हिंदुस्तान के पच्छिमी समुद्र-तट से व्यापार किया करते थे।

इस लगातार ताल्लुक की वजह से हिंदुस्तानियो का इस नये मजहब—इस्लाम—से वाकिफ हो जाना लाज़िमी था। इस नये धर्म को फैलाने के लिए प्रचारक भी आये और उनका स्वागत भी हुआ। मस्जिदें बनाई गईं। इस पर न तो हुकूमत ने, न जनता ने कोई एतराज़ किया, और न किसी तरह के मजहवी फिसाद हुए। हिंदुस्तान की पुरानी परपरा यह थी कि सभी मजहबो और पूजा के सभी तरीको के साथ रवादारी बरती जाय। इस तरह इस्लाम हिंदुस्तान मे राजनैतिक ताक़त की हैसियत से आने से सदियो पहले मजहब की हैसियत से आ चुका था।

उमैया खलीफाओ की हुकूमत मे जो अरबी साम्राज्य कायम हुआ, उसकी राजधानी दमिश्क थी और यह एक आलीशान शहर बन गया। लेकिन जल्द ही, ७५० ई०के लगभग अब्बासिया खलीफाओ ने बग़दाद को राजधानी बना लिया। भीतरी झगडे पैदा हुए और स्पेन मरकज़ी सल्तनत से अलग हो गया, लेकिन बहुत दिनो तक फिर भी एक आज़ाद अरबी रियासत बना रहा। रफ्ता-रफ्ता बगदाद की सल्तनत भी कमज़ोर पडी और कई छोटी-छोटी रियासतो मे बट गई और मध्य-एशिया से सेलजूक तुर्कों ने आकर बग़दाद मे सियासी ताकत कायम कर ली, अगरचे खलीफा उनकी मर्ज़ी को मानता हुआ अब भी बना रहा। अफगानिस्तान मे सुल्तान महमूद गज़नवी नाम का एक तुर्क उठ खडा हुआ, जो बडा अच्छा सिपाही और फौजी नायक था। उसने खलीफाओ की कुछ परवाह न की, बल्कि उन्हे ताने देता रहा। लेकिन फिर भी बग़दाद इस्लामी दुनिया का सास्कृतिक केंद्र बना रहा और दूर का स्पेन भी अपनी प्रेरणा के लिए उसका मुह देखता। उस वक्त यूरोप विद्या, विज्ञान, कला और ज़िदगी की आसाइशो से पिछडा हुआ था। यह अरबी स्पेन था, और खासतौर पर कारडोबा का विश्वविद्यालय था, जिसने यूरोप मे उस सारे अधकार के युग मे ज्ञान और जिज्ञासा का दीपक जगाये रखा और उसके प्रकाश ने यूरोपीय अधकार को कुछ हद तक दूर किया।

ईसाइयो के मुसलमानो के खिलाफ धर्म-युद्ध (क्रुसेड) १०९५ ई० में शुरू हुए और करीब डेढ सदी तक चलते रहे। वे महज़ दो उग्र धर्मों, कलीसा

और हिलाल, को आपस की लडाई की हैसियत नही रखते थे। मशहूर इतिहासकार प्रोफेसर जी० एम० ट्रेवेलियन ने बताया है कि "ये धर्म-युद्ध (क्रूसेड) नई स्फूर्ति से जगते हुए यूरोप के पूरव तक पहुचने की आम ख्वाहिश के फौजी और मजहवी पहलू थे और इन धर्म-युद्धो से जो पुरस्कार यूरोप लेकर वापस आया, वह पवित्र ईसाई-धर्म को कायम रखनेवाली आजादी न थी, न ईसाइयत की एकता थी, क्योंकि इन धर्म-युद्धो की कहानी ही इस बात को झुठला देती है। वह दरअसल ले आया ललित कलाए और हुनर, आराम के साधन, विज्ञान और मानसिक जिज्ञासा—यानी वे सभी चीजे, जिनसे साधु पीटर को सबसे ज्यादा नफरत होती।"

आखिरी धर्म-युद्ध (क्रूसेड) के एक गैर-शानदार तरीके पर खत्म होने से पहले ही बीच एशिया मे कुछ तूफानी और तहलका मचा देनेवाली घटनाए घटी। चगेज खा ने बरबादी ढानेवाला अपना धावा पच्छिम की तरफ शुरू कर दिया। इसका जन्म मगोलिया मे ११५५ ई० मे हुआ था और १२१९ मे उसने अपना यह बडा धावा शरू किया, जिसने मध्य-एशिया को एक दहकते हुए वीराने मे तब्दील कर दिया। उस वक्त वह कोई नौजवान अल्हड न था। बुखारा, समरकद, हेरात और बलख ये आलीशान शहर, जिनमे से हर एक की आबादी दस लाख से ज्यादा थी, जलाकर खाक कर दिये गये। चगेज रूस मे कीफ तक गया, फिर लौट आया। चूकि बगदाद उसके रास्ते मे नहीं पडता था, इसलिए वह किसी तरह बच गया। १२२७ मे ७२ साल की उम्र पाकर वह मरा। उसके उत्तराधिकारी और आगे यूरोप तक पहुचे और १२५८ मे हलाकू ने बगदाद पर कब्जा किया और कला के एक मशहूर मरकज का, जहा पाच सौ बरसो से दुनिया के हर एक हिस्से से आकर खजाने इकट्ठे हुए थे, खात्मा कर दिया। इसने एशिया मे अरब और ईरान की मिली-जुली खास तहजीब को, बडा धक्का पहुचाया, अगरचे यह तहजीब मगोलियों के जमाने मे भी जिंदा रही—खासतौर पर उत्तरी अफ्रीका और स्पेन मे। आलिमो के दल-के-दल अपनी किताबे लिये हुए बगदाद से काहिरा और स्पेन पहुचे और इन जगहो मे कला और विद्या की एक नई जागृति हुई। लेकिन खुद स्पेन अरबवालो के हाथो से खिसक रहा था और १२३६ ई० मे कारडोवा का पतन हो चुका था। इसके बाद और ढाई सदियो तक ग्रैनाडा की रियासत अरबी तहजीब का चमकीला मरकज बनी रही। १४९२ ई० मे ग्रैनाडा भी फर्डिनेंड और इजाबेला के हाथो मे चला गया और स्पेन मे अरबी हुकूमत का अत हुआ। इसके बाद अरबवालो का खास मरकज काहिरा बन गया, हालाकि यह तुर्को के कब्जे मे आ गया। आटोमन तर्कों ने कुस्तुतुनिया

को क़ब्ज़े मे कर लिया, और इस तरह उन शक्तियो को प्रस्तुत किया, जिन्होने बाद मे यूरोपीय नव-जागृति को जन्म दिया।

एशिया और यूरोप मे मगोलो की ये विजयें युद्ध की कला मे एक नयापन पेश करती है। लिडेल हार्ट का कहना है कि "जहातक दुश्मन को हैरत मे डाल देने और तेज़ हरकत की बात है, जहातक फौजी हिकमत और बग़ैर सामना किये हुए हमला करने की तरकीब का मामला है, उनके (मगोलो के) हमले तारीख़ मे अपना सानी नही रखते।" चगेज़ खा अगर दुनिया का सबसे बडा फौजी नेता नही है, तो बिला-शुबहा सबसे बडे नेताओ मे एक है। उसके और उसके शानदार वारिसो के आगे एशिया और यूरोप की बहादुरी तिनके की तरह थी, और इसे महज़ एक इत्तिफाक समझना चाहिए कि पच्छिमी और बीच का यूरोप फतह होने से बच गया। इन मगोलो से यूरोप ने फौजी हिकमत और लडाई की कला के बारे मे नये सबक सीखे। इन मगोलो के ज़रिये बारूद का इस्तेमाल भी, जो चीन की चीज़ थी, इन्होने जाना।

मगोल हिंदुस्तान नही आये। वे सिंघ नदी तक आकर रुक गये और दूसरी जगहो पर जाकर उन्होने फतहे हासिल की। जब उनकी सल्तनत ख़त्म हुई, तो एशिया मे कई छोटी-छोटी रियासतें कायम हुई, और फिर १३६९ ईस्वी मे तैमूर ने, जो तुर्क था और मा की तरफ से चगेज़ खा की औलाद होने का दावा करता था, चगेज़ के कारनामो को दुहराने की कोशिश की। उसकी राजधानी समरकद फिर एक सल्तनत का सदर मुकाम बनी, अगरचे यह सल्तनत ज्यादा दिनो की नही थी। तैमूर की मौत के बाद उसके वारिसो की दिलचस्पी फौजी कारनामो मे कम रही, बल्कि वे शाति की ज़िंदगी बसर करने और कलाओ को तरक्की देने मे ज्यादा लगे रहे। मध्य-एशिया मे तैमूरियो के नाम पर मशहूर एक नई जागृति हुई और इस फ़िज़ा मे तैमूर के एक वशज, बाबर ने जन्म लिया और बडा हुआ। बाबर हिंदुस्तान मे मुग़ल-वश का कायम करनेवाला था। वह शानदार मुग़लियो मे पहला था। दिल्ली उसने १५२६ मे जीती।

चगेज़ खा मुसलमान नहीं था, जैसाकि कुछ लोग इसलिए ख़याल करते हैं कि उसका नाम अब इस्लाम से मिल-जुल गया है। कहा जाता है कि वह शामाई मज़हब का माननेवाला था, जो एक आसमानी मज़हब था। यह मज़हब क्या था मैं नही जानता, लेकिन नाम से लाज़िमी तौर पर उस लफ़्ज़ की तरफ़ ध्यान जाता है जो अरबवालो ने बौद्धो के लिए दे रखा था, यानी शामानी, जो सस्कृत 'श्रमण' से निकला है। उस ज़माने मे बौद्ध-धर्म के बिगडे हुए रूप एशिया के मुख़्तलिफ़ हिस्सो मे फैले हुए थे और इन हिस्सों

में मंगोलिया भी था और यह मुमकिन है कि चंगेज खां इनके असर में पला भी। यह एक बड़ा अटपटा खयाल है कि इतिहास का सबसे बड़ा फौजी विजेता शायद किसी तरह का बौद्ध था।[1]

मध्य-एशिया में, आज भी, बड़े विजेताओं में चार के नाम किस्से-कहानियों तक में चलते हैं और याद किये जाते है—सिकंदर, सुल्तान महमूद, चंगेज खां और तैमूर। इन चारों के साथ अब एक पांचवां नाम जोड़ने की जरूरत है, जो एक दूसरे ही किस्म का आदमी था, एक दूसरे ही मैदान का लड़ाका और विजेता था, जिसके नाम के गिर्द किस्से-कहानियां बनने लग गई हैं, यानी लेनिन।

२ : अरबी-सभ्यता के फूल का खिलना और हिंदुस्तान से संपर्क

एशिया और अफ्रीका के बड़े हिस्से और यूरोप का एक टुकड़ा जीत लेने के बाद अरबवालों ने अपने दिमाग को दूसरे ही मैदानों में फतह हासिल करने के लिए फेरा। सल्तनत मजबूत की जा रही थी, बहुत-से नये मुल्क उसकी नजर के दायरे में आ चुके थे, और वे इस दुनिया और उसके तरीकों को जानने के ख्वाहिशमंद थे। आठवीं और नवीं सदियों के अरबवालों में बड़े मार्के की मानसिक जिज्ञासा, विवेकपूर्ण चिंतन और वैज्ञानिक जांच की भावना मिलती है। आमतौर पर किसी भी मजहब में, जिसकी बुनियाद निश्चित विचारों और यकीनों पर होती है, शुरू के दिनों में प्रबल विश्वास रहता है और उससे इधर-उधर हटना नहीं पसंद किया जाता, न उसे प्रोत्साहन दिया जाता है। यह विश्वास अरबवालों को दूर-दूर तक ले गया था और

---

[1]एक तरह का शामानी या शामाई मत अब भी आर्कटिक प्रदेश के साइबेरिया, मंगोलिया और सोवियत मध्य-एशिया के तन्ना-तुवा में चलता है। इसका आधार प्रेतात्माओं में पूरे तौर पर विश्वास पर जान पड़ता है और बौद्ध-धर्म से इसका कोई भी ताल्लुक नहीं है। लेकिन हो सकता है कि बहुत पुराने जमाने में बौद्ध-धर्म के किसी बिगड़े हुए रूप का इस पर असर पड़ा हो और बाद में वह मुक़ामी आदिम अंधविश्वासों से मिल-जुल गया हो। तिब्बत में, जो माना हुआ बौद्ध मुल्क है, एक अपने-ही ढंग का बौद्ध-धर्म रायज है, जिसे लामा-मत कहते हैं। मंगोलिया में भी, जहां शामानी मत का प्रचार है, बौद्ध-परंपरा जीवित है। इस तरह उत्तरी मध्य-एशिया में विश्वास के अनेक दर्जे मिलेंगे, जो बौद्ध-धर्म से लेकर आदिम विश्वासों तक पहुंचते हैं।

उनकी विजयपूर्ण सफलता ने ही उसके विश्वास को और भी गहरा बना दिया होगा। फिर भी हम पाते हैं कि वे मजहबी अकीदो और हठवाद की हद को लाघकर जडवाद के सिद्धातो पर भी सोच-विचार करते हैं और अपनी स्फूर्ति और उत्साह को साहसी विचार की तरफ मोडते हैं। अरब यात्री, जो अपने ढग मे बेजोड थे, दूर मुल्को मे यह जानने और समझने के लिए जाते हैं कि वहा के लोग क्या कर-धर या विचार कर रहे हैं और उनके फ़िल-सफे, विज्ञान और रहन-सहन का क्या रवैया है, और इसीके बाद वे अपने खयालो को तरक्की देते हैं। बाहर से विद्वान बुलाकर बगदाद मे लाये गये और किताबे मगाई गईं और खलीफा अल-मसूर (आठवी सदी के बीच मे) ने खोज और तरजुमे के इदारे कायम किये, जहा यूनानी, सिरियन, जेद, लातीनी और सस्कृत से तरजुमे किये जाते थे। सीरिया, एशिया माइनर और लेवाट के पुराने मठो की पाडुलिपियो के पाने के लिए खूब छान-बीन हुई। ईसाई पादरियो ने सिकदरिया के पुराने विद्यालयो को बद कर दिया था और वहा के विद्वानो को निकाल दिया था। इनमे से बहुत-से देश-निकाले लोग ईरान और दूसरी जगहो मे चले गये थे। अब उन्हें बगदाद मे पनाह मिली और वे अपने साथ यूनानी फिल्सफा और विज्ञान और गणित ले आये—यानी अफलातून और अरस्तू, बतलीमूस और उक्लैदिस से यहा के लोगो का परिचय कराया। यहा पर नस्तूरी और यहूदी विद्वान और हिंदुस्तानी वैद्य, फिल्सूफ और गणितज्ञ मौजूद थे। यह हालत हारू अल-रशीद और अल-मामून (आठवी और नवी सदियो मे) खलीफाओ के जमाने तक चलती रही और तरक्की करती रही और बगदाद सभ्य दुनिया का सबसे बडा आलिमो का मरकज बन गया।

इस जमाने मे हिंदुस्तान से इसके बहुत से सपर्क रहे और अरबवालो ने हिंदुस्तानी गणित, ज्योतिर्विद्या और औषध-विद्या से बहुत-कुछ हासिल किया। और फिर भी, ऐसा जान पडता है कि इन सपर्को के लिए प्रेरणा खासतौर पर अरबो की थी, और अगरचे अरबो ने हिंदुस्तान मे बहुत-कुछ सीखा, हिंदुस्तानियो ने अरबो से ज्यादा नही सीखा। हिंदुस्तानी अपने घमड मे डूबे, अलग-थलग और जहातक हो सका, अपने ही खोल के भीतर समाये रहे। यह एक बदकिस्मती की बात है, क्योंकि बगदाद और अरबी-नवजागृति के दिमागी खमीर ने हिस्दुतानी दिमाग को ठीक उस वक्त जगाया होता, जबकि वह अपनी रचनात्मक शक्ति बहुत-कुछ खो रहा था। मानसिक जाच-पडताल को इस भावना को और भी पुराने जमाने के हिंदुस्तानियो ने अपने विचारो के अनुकूल पाया होता।

—

बग़दाद मे हिंदुस्तानी इल्म और विज्ञान के अध्ययन को शक्तिशाली वरमक घरानेवालो ने, जिसमे से हारू अल-रशीद के वज़ीर होते रहे हैं, बडा प्रोत्साहन दिया। यह घराना शायद पहले बौद्ध-धर्म का माननेवाला था और इसने बाद मे मज़हब बदल दिया था। हारू अल-रशीद की किसी बीमारी के मौके पर मणक नाम का एक वैद्य हिंदुस्तान से बुलाया गया। मणक बगदाद में बस गया और एक बडे अस्पताल का व्यवस्थापक बना दिया गया। अरबी लेखको का कहना है कि मणक के अलावा उस वक्त बग़दाद मे छ और हिंदुस्तानी वैद्य रहा करते थे। ज्योतिर्विज्ञान मे अरबो ने हिंदुस्तानियो और सिकदरियावालो, दोनो से आगे तरक्की की। दो और नाम उनके यहा मशहूर हैं— अलख्वारिज्मी, जो नवी सदी का गणितज्ञ और नजूमी था और उमर ख़य्याम, जो बारहवी सदी मे कवि और नजूमी दोनो हैसियतो से मशहूर हुआ। औषध-शास्त्र मे अरब चिकित्सक और जर्राह एशिया और यूरोप मे मशहूर थे। इनमे सबसे मशहूर बुखारा का इब्नसीना था, जो हकीमो का बादशाह कहलाया है। उसकी मृत्यु १०३७ई० मे हुई। अरब विचारको और फिलसूफो मे एक बडा नाम अबू नस्र फराबी का है।

फिलसफे मे हिंदुस्तान का असर ज्यादा हुआ नही जान पडता। फिलसफे और विज्ञान, इन दोनो के लिए अरबवाले यूनान और पुराने सिकदरिया के विद्वानों की तरफ झुकते थे। अफलातून और ख़ासतौर पर अरस्तू ने अरब ख़याल पर गहरा असर डाला है और अबतक इस्लामी मदरसो मे उनकी पढाई मूल पाठों की मदद से नहीं, बल्कि अरबी टीकाओ के ज़रिये, ख़ास मज़मूनो की हैसियत से, होती है। सिकदरिया की नौ-अफलातूनियत का असर भी अरबी दिमाग़ पर हुआ और यूनानी फिलसफे के जडवादी ख़याल भी अरबो तक पहुचे और इससे उनके यहा बुद्धिवाद और जडवाद की शुरुआत हुई। जडवादियो ने मज़हब से करीब-करीब कतई इन्कार किया है। जो बात गौर करने की है, वह यह है कि बगदाद मे इन मुख़्तलिफ और विरोधी सिद्धातो पर बहस-मुबाहसा करने की पूरी आज़ादी थी। मज़हब और अक्ल के बीच का यह मुबाहसा और झगडा बग़दाद से सारी अरबी दुनिया मे फैला और स्पेन तक पहुचा। ईश्वर के स्वरूप के बारे मे मुबाहसे हुए और यह बताया गया कि उसमें उस तरह के किन्ही गुणो का आरोप नही हो सकता, जिनका उसमे होना कहा जाता है। ये गुण इन्सानी हैं। यह कहा गया कि ख़ुदा को रहीम या नेक बताना उतनी ही पस्त और ला-मजहब बात होगी, जितना कि यह कहना कि उसके दाढ़ी है।

बुद्धिवाद से भौतिकवाद और सदेहवाद का रास्ता खुला। लेकिन

बग़दाद की पस्ती और तुर्की ताकत की तरक्की के साथ-साथ बुद्धिवादी जिज्ञासा की भावना मद पड गई। लेकिन अरबी स्पेन मे यह फिर भी जारी रही और स्पेन का एक मशहूर अरबी फ़िलसूफ तो मजहब से इन्कार करने की हद तक पहुचा। यह इब्न रुश्द था, जो बारहवी सदी मे हुआ है। बताया जाता है कि उसने कहा था कि उसके जमाने के सभी मजहब या तो बच्चो के लिए या बेवकूफो के लिए है, या ऐसे हैं कि उन पर अमल नही किया जा सकता। उसने दरअसल ऐसा बयान किया या नही, यह कहा नही जा सकता, लेकिन जो परपरा है, उससे पता चलता है कि वह किस तरह का आदमी था, और अपने विश्वासो के लिए उसने तकलीफें सही। औरतो को जन-साधारण के कामो मे हिस्सा लेने का मौका मिलना चाहिए, इसके हक मे उसने ज़ोरो से लिखा है और कहा है कि वे इन कामो को पूरी तौर पर अजाम दे सकती है। उसने यह भी सुझाव दिया है कि ऐसे लोगो को, जिनका इलाज नही हो सकता और इसी तरह के दूसरे लोगो को मिटा देना चाहिए, क्योकि वे समाज पर एक बोझ हैं। स्पेन उस वक्त यूरोप के और इस्मी मरकज़ो से बहुत आगे बढा हुआ था और कारडोबा के अरबी और यहूदी आलिमो की पेरिस मे और दूसरी जगहो मे बडी कद्र होती थी। टोलेडो के सईद नाम के एक अरबी लेखक ने पिरेनीज़ के उत्तर मे रहनेवाले यूरोपियो का इस तरह बयान किया है—"वे ठडी प्रकृति के होते हैं और उनमे पुख्तगी कभी नही आती। वे कद के लबे और रग के गोरे-चिट्टे होते हैं, लेकिन उनमें अक्ल की तेज़ी और दिमागी सूझ-बूझ नही होती।"

पच्छिमी और मध्य-एशिया मे अरबी तहज़ीब ने जो फूल खिलाये, उनकी प्रेरणा अरबी और ईरानी, इन दो आधारो से मिली। दोनो आपस मे खूब घुल-मिल गये और उन्होंने खयाल का ज़ोर पैदा किया और ऊचे दर्जे के लोगो के ऊचे रहन-सहन की हालत पैदा की। अरबो से ताकत और जाच की भावना आई, ईरानियों ने जिंदगी के लुत्फ और कला और आसाइशो को पेश किया। तुर्की-हुकूमत मे ज्यो-ज्यो बग़दाद की तनज़्ज़ुली हुई, त्यो-त्यो बुद्धिवाद और जिज्ञासा की भावना भी मिटी। चगेज़ खा और मगोलो ने इन सभी का खात्मा कर दिया। सौ साल बाद मध्य-एशिया फिर जगा और समरकद और हेरात चित्र-कला और वस्तु-कला के केंद्र बने और उन्होंने अरब और ईरान की मिली-जुली सभ्यता की परपरा मे फिर से कुछ जान फूकी। लेकिन अरबी बुद्धिवाद और विज्ञान फिर न जगे। इस्लाम एक ज़्यादा सख्त और बेलोच मजहब बन गया, जो फौजी फतहो के लिए माफिक पडता था, दिमागी फतहो के लिए नही। एशिया मे इसके खास नुमाइदे

अरबवाले न रहे, बल्कि तुर्क[1] और मंगोल (जो बाद में हिंदुस्तान में जाकर मुगल कहलाये) बने, और कुछ हद तक अफगानी। पच्छिमी एशिया में ये मंगोल मुसलमान हो गये थे, सुदूर पूरब में और बीच में इलाके में बहुत से बौद्ध बन गये थे।

३. महमूद ग़जनवी और अफगान

आठवीं सदी के शुरू में, ७१२ ई० में, अरबवाले सिंध पहुंच थे और उन्होंने यहां अधिकार कर लिया था। वहीं वे ठहर गये। करीब पचास साल के भीतर खुद सिंध अरबी सल्तनत से अलहदा हो गया, यद्यपि यह एक छोटी आज़ाद मुसलमान रियासत की हैसियत से बना रहा। करीब तीन सौ साल बाद तक फिर कोई और हमला या धावा हिंदुस्तान पर न हुआ। १००० ई० के आस-पास अफग़ानिस्तान में ग़ज़नी के सुल्तान महमूद ने, जो तुर्क था और जिसने मध्य-एशिया में अच्छी ताकत बना ली थी, हिंदुस्तान पर धावे शुरू किये। ऐसे बहुत-से धावे हुए और ये धावे खूनी और बे-दर्दी के थे, और हर मौके पर महमूद अपने साथ लूट का बड़ा खज़ाना ले गया। उसी ज़माने के एक आलिम, खीवा के रहनेवाले अलबेरूनी ने, इन हमलों का बयान किया है—"हिंदू धूल के कनों की तरह चारों तरफ तितर-बितर हो गये, और लोगों के मुंह में किसी पुराने किस्से की तरह उनकी याद रह गई। जो तितर-बितर होकर बच रहे, वे सभी मुसलमानों की तरफ हद दर्जे की नफरत से देखते हैं।" इस शायराना बयान से हमें उस आफत का कुछ अंदाज़ मिलता है, जो महमूद ने ढाई थी, ताहम हमें यह याद रखना चाहिए कि महमूद ने उत्तरी हिंदुस्तान के सिर्फ एक टुकड़े को छुआ और लूटा था, जो उसके धावे के रास्ते में पड़ा था। सारा-का-सारा मध्य-पूरबी और दक्खिनी हिंदुस्तान उससे बिलकुल बचा हुआ था।

उस वक्त और बाद में भी दक्खिन हिंदुस्तान में ज़बरदस्त चोल साम्राज्य की हुकूमत थी, जिसने समुद्री रास्तों को काबू में कर रखा था और जो जावा में श्रीविजय तक और सुमात्रा तक फैला हुआ था। पूरबी समुद्र के देशों में हिंदुस्तानी नौ-आबादियां भी तरक्की पर थीं और बलशाली थीं। उनके

[1] मैंने अकसर तुर्क या तुर्की लफ्ज़ का इस्तेमाल किया है। इससे कुछ भ्रम हो सकता है, क्योंकि 'तुर्क' से आजकल तुर्की के लोगों से मतलब लिया जाता है, जो उस्मानी तुर्कों की औलाद हैं। लेकिन और तरह के तुर्क भी होते थे, जैसे सेलजुक वग़ैरह। मध्य-एशिया, चीनी तुर्किस्तान वग़ैरह की सभी तूरानी जातियां तुर्क या तुर्की कहा जा सकती हैं।

और दक्खिनी हिंदुस्तान के बीच समुद्री ताकत बटी हुई थी। लेकिन यह हिंदुस्तान को खुश्की की राह होनेवाले हमले से न बचा सकी।

महमूद ने पजाब और सिंध को अपने राज्य मे मिला लिया और वह हर हमले के बाद गजनी लौट जाता रहा। वह काश्मीर न जीत पाया। इस पहाडी देश ने कामयाबी के साथ उसे रोका और वहा से मार भगाया। जब वह काठियावाड मे सोमनाथ से वापस हो रहा था, तो उसे राजपूताने के रेगिस्तानी प्रदेश मे भी गहरी हार खानी पडी।[1] यह उसका आखिरी धावा था और इसके बाद वह फिर न लौटा।

महमूद मज़हबी आदमी होने के बनिस्बत लडाका कही ज्यादा था, और बहुत-से और विजेताओ की तरह उसने अपनी फतहो मे मजहब के नाम से फायदा उठाया। उसके लिए हिंदुस्तान महज एक ऐसा मुल्क था, जहा से वह माल और खजाना लूटकर अपने देश मे पहुचा सकता था। उसने हिंदुस्तान मे एक फौज भरती की और उसे अपने एक मशहूर सिपहसालार की मातहत, जिसका नाम तिलक था और जो एक हिंदुस्तानी और हिंदू था, कर दिया। इस फौज का इस्तेमाल उसने खुद अपने मज़हबवालो के खिलाफ मध्य-एशिया मे किया। उसकी यह बडी ख्वाहिश थी कि अपनी राजधानी गज़नी को मध्य और पच्छिमी एशिया के बडे शहरो के मुकाबले

[1] इस हार के बारे मे 'तारीखे-सोरठ' (रणछोडजी अमरजी द्वारा अनूदित, बबई, १८८२) नाम के एक पुराने फ़ारसी इतिहास मे एक अजीब बयान आया है (पृष्ठ ११२)—"शाह मुहम्मद ने घबड़ाहट मे भागकर अपनी जान बचाई, लेकिन उसके बहुत-से साथी, मर्द और औरत, पकड लिये गये · · ·तुर्क, अफग़ान और मुग़ल औरत क़ैदियो से, अगर वे क्वारी हुई, तो हिंदुस्तानी सिपाहियो ने ब्याह कर लिये · · ·औरो के पेट जलाब और रेचक दवाए देकर साफ़ किये गये और उसके बाद क़ैदियो का उसी वर्ग के लोगों के साथ ब्याह कर दिया गया। नीचे के वर्ग की औरतें नीचे वर्ग के लोगों से ब्याही गईं। शरीफ़ आदमियों की दाढिया मुडवा दी गईं और वे राजपूतों की शेखावत और वढ़िल जातियों मे शरीक़ कर लिये गये; और नीचे वर्ग के लोग कोलियो, खातो, बावरियो और मेरों की जातियो मे मिला लिये गये।" मैंने खुद 'तारीखे-सोरठ' नहीं देखी है और कह नहीं सकता कि इसे कहांतक प्रमाणित माना जा सकता है। मैंने यह उद्धरण के० एम० मुशी की किताब 'दि ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जर देश' से लिया है (भाग ३, पृष्ठ १४०)। विदेशियों को राजपूतों के फिरक़ो मे मिला लेने का ढग दिलचस्प है, और यह बात कि शादियां तक हुईं। शुद्धि का जो तरीक़ा बताया गया, वह अजीब है।

का बना दे और इसलिए वह हिंदुस्तान से बहुत-से कारीगर और मेमार ले गया था। इमारतो के बनाने मे उसकी दिलचस्पी थी और दिल्ली के करीब मथुरा शहर का उस पर बडा असर पडा। इसके बारे मे उसने लिखा—"यहा हजारो इमारते हैं, जो मजहबियो के मजहब की तरह मजबूत हैं, यह मुमकिन नही कि उसकी यह हालत करोडो दीनार खर्च किये बग़ैर हुई हो, और इस तरह का दूसरा शहर दो सौ साल के कम वक्त मे नही तैयार हो सकता।"

लडाइयो के बीच फ़ुरसत के वक्तो मे महमूद की दिलचस्पी इस बात मे थी कि अपने देश के तहजीबी रुझानो को तरक्की दिलाये, और उसने अपने यहा बहुत-से मशहूर लोगो को इकट्ठा कर लिया था। इनमे से मशहूर फ़ारसी कवि फिरदौसी भी था, जिसने 'शाहनामा' रचा था और जिसकी बाद मे महमूद से अनबन हो गई थी। अलबेरूनी, जो यात्री और आलिम था, उसका समकालीन हुआ है, और इसने अपनी किताबो मे उस वक्त के मध्य-एशिया के और पहलुओ की झाकी पेश की है। खीवा मे उसका जन्म हुआ था, लेकिन वह फारसी खानदान का था। वह हिंदुस्तान आया और यहा उसने खूब यात्राए की। वह दक्खिन के चोल-राज्य के आबपाशी के बडे कामो के हाल बताता है, यद्यपि इसमे शक है कि वह खुद दक्खिन हिंदुस्तान गया भी था। उसने काश्मीर मे सस्कृत सीखी और हिंदुस्तान के मजहब, फिलसफे, विज्ञान और कलाओ की जानकारी हासिल की। इससे पहले इसने यूनानी फिलसफे को पढने के लिए यूनानी ज़बान भी सीखी थी। उसकी किताबें न महज मालूमात का एक खजाना हैं, बल्कि उनसे हमे यह भी पता चलता है कि किस तरह लडाई और लूटमार और कत्ल के जमाने मे भी सब्र के साथ लोग इल्म हासिल करने मे लगे रहते थे और किस तरह एक मुल्क के लोग दूसरे मुल्कवालो की बातो को उस वक्त भी समझने की कोशिश मे लगे हुए थे, जबकि जोश और गुस्से ने उनके आपस के सबधो को तीखा बना दिया था। इस जोश और गुस्से ने बिला शुबहा दोनो ही तरफ के लोगो की बुद्धि को मद कर दिया था और हर एक अपने को दूसरे से ऊचा खयाल करता था। हिंदुस्तानियो के बारे मे अलबेरूनी कहता है कि वे "गर्वीले, मूर्खतापूर्ण, घमडी, अपने मे सतुष्ट और बेवकूफ हैं" और उनका यकीन है कि "उनके मुल्क-जैसा दूसरा मुल्क नही, उनकी कौम-जैसी दूसरी कौम नही, उनके राजा-जैसे दूसरे राजे नही और उनके विज्ञान-जैसा दूसरो का विज्ञान नही।" शायद लोगो के रुख का यह काफी सही बयान है।

महमूद के हमले हिंदुस्तान के इतिहास की एक बडी घटना हैं, हालाकि

सियासी तौर पर सारे हिंदुस्तान पर उनका कुछ ज्यादा असर नहीं पड़ा और हिंदुस्तान का खास हिस्सा अछूता ही रहा। उनसे उत्तरी हिंदुस्तान की कमज़ोरी और उतार का पता चलता है और अलबेरूनी के बयान इस बात पर और भी रोशनी डालते हैं कि उत्तर और पच्छिम में राजनैतिक हालत कैसी बिगड़ी हुई थी। पच्छिमोत्तर से होनेवाले बार-बार के ये हमले हिंदुस्तान के बंधे हुए विचार और अर्थ-तंत्र में बहुत-से नये तत्त्व लेकर आये। सबसे खास बात यह है कि ये यहां इस्लाम को ले आये, जो पहली बार बेरहम फौजी फतहों के साथ आया। अबतक, करीब तीन सौ साल पहले से, इस्लाम यहां शांति के साथ एक मजहब की हैसियत से आया था और उसने बिना झगड़े-फसाद के अपनी जगह और मजहबों के साथ-साथ बना ली थी। उसके इस नये तरीके ने लोगों में जबरदस्त मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएं पैदा की और उनके दिलों में कड़वापन भर दिया। एक नये मजहब में कोई एतराज न था, लेकिन अगर कोई चीज जबरदस्ती उनके रहन-सहन के ढंग में खलल डाले और उसे उलट-पलट दे, तो इसके खिलाफ उनके दिलों में गहरा विरोध था।

यह याद रहे कि हिंदुस्तान बहुत-से मजहबों का मुल्क रहा है, बावजूद इसके कि हिंदू मजहब अपनी मुख्तलिफ शक्लों में उन पर हावी रहा हो। जैन और बौद्ध-धर्म को छोड़ दिया जाय, जो ज्यादातर हिंदू-धर्म में जज्ब हो गये थे, तो भी ईसाई और इब्रानी मजहब रह जाते हैं। ये दोनों मजहब हिंदुस्तान में गालिबन ईसा से बाद की पहली सदी में आये थे, और दोनों ने इस मुल्क में जगह कर ली थी। दक्खिन हिंदुस्तान में बहुत-से सिरियन ईसाई और नस्तूरी थे और वे इस देश के वैसे ही अंग थे, जैसे और लोग थे। यही हाल यहूदियों का था और जरथुष्ट्र के अनुयायियों के उस छोटे-से दल का भी था, जो ईरान से सातवीं सदी में हिंदुस्तान आया था। और यही हालत बहुत-से मुसलमानों की भी थी—जो उत्तर-पच्छिम से आकर पच्छिमी समुद्र-तट पर बस गये थे।

महमूद विजेता की हैसियत से आया और पंजाब उसकी सल्तनत का एक सरहदी सूबा बन गया। फिर भी जब वह वहां का शासक बन बैठा, तो उसके पुराने तरीकों को नरम करने, और कुछ हदतक सूबे के लोगों की खुशी हासिल करने, की कोशिश की गई। उनके रहन-सहन में अब इतना दखल नहीं दिया जाता था और फौज में और हुकूमत में ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर हिंदू मुकर्रिर किये जाने लगे थे। महमूद के जमाने में इस तौर की शुरुआत-भर हो पाई थी, बाद में इस रुझान ने और तरक्की की।

महमूद १०३० ई० में मरा। उसकी मौत के बाद एक सौ साठ से ज्यादा सालो तक कोई दूसरा हमला न हुआ और न तुर्की हुकूमत पंजाब से आगे बढी। इसके बाद शहाबुद्दीन ग़ोरी नाम के एक अफ़ग़ान ने ग़ज़नी पर कब्ज़ा कर लिया और ग़ज़नवियो की सल्तनत का खात्मा हुआ। उसने पहले लाहौर पर धावा किया, फिर दिल्ली पर, लेकिन दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान ने उसे पूरी तरह से हरा दिया। शहाबुद्दीन अफग़ानिस्तान वापस चला गया और दूसरे साल फिर एक नई फ़ौज लेकर हिंदुस्तान मे उतरा। इस बार उसकी जीत हुई और ११९२ मे वह दिल्ली के तख्त पर बैठा।

पृथ्वीराज एक लोकप्रिय नायक है और गीतो और कहानियो मे अब भी मशहूर है, क्योंकि साहसी प्रेमी हमेशा हर-दिल अजीज़ होते हैं। वह अपनी प्रेमिका को उसके पिता, कन्नौज के राजा जयचंद, के महल से भगा लाया था और बहुत-से छोटे-छोटे राजाओ को, जो उसको वरने के लिये आये थे, चुनौती दी थी। थोडे वक्त के लिए उसने अपनी प्रेमिका को जरूर पा लिया, लेकिन इसका नतीजा यह हुआ कि एक शक्तिशाली शासक से उसकी लडाई छिड गई और दोनो तरफ से बहुत-से योद्धा काम आये। दिल्ली और मध्य हिंदुस्तान के बहादुर आपस की लडाई मे लग गये और बहुत खून-खराबी हुई। इस तरह एक औरत की खातिर पृथ्वीराज ने अपनी जान गवाई और अपना तख्त खोया, और दिल्ली, जो एक सल्तनत की राजधानी थी, एक विदेशी हमलावर के हाथ में चली गई। लेकिन उसकी प्रेम-कहानी अब भी कही जाती है और उसे एक वीर पुरुष माना जाता है और जयचंद को क़रीब-क़रीब देशद्रोही समझा जाता है।

दिल्ली की इस फ़तह के ये मानी नही थे कि सारा हिंदुस्तान फ़तह हो गया। चोल-वंश दक्खिन मे अब भी शक्तिशाली था और दूसरी खुद-मुख्तार रियासतें भी थी। अफग़ानो को दक्खिन हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से मे अपनी हुकूमत फैलाने मे और भी डेढ सदी लग गई। लेकिन दिल्ली में नई हुकूमत का आना एक मार्के की बात थी और नई व्यवस्था का यह एक प्रतीक था।

४ : हिंदी-अफग़ान : दक्खिन हिंदुस्तान : विजयनगर : बाबर : समुद्री ताक़त

हिंदुस्तान के इतिहास को अंग्रेजो ने और कुछ हिंदुस्तानी इतिहास-कारो ने भी तीन बडे हिस्सो मे बांटा है—प्राचीन या हिंदू, मुस्लिम और अंग्रेज़ी-काल। यह बटवारा न अक्ल का है और न सही है, इससे धोखा होता

है और यह हमारे सामने एक गलत तस्वीर पेश करता है। इसमे ऊपर के वर्गों के कुछ सतही परिवर्तनो का खयाल किया गया है, वनिस्वत इसके कि हिंदुस्तानियो के राजनैतिक, आर्थिक और सास्कृतिक विकास की खास-खास तब्दीलियो का खयाल किया गया हो। तथाकथित प्राचीन काल वडा विशाल है और परिवर्तनो से भरा हुआ है, उन्नति, उतार और फिर वरावर उन्नति का क्रम चलता है। जिसे मुस्लिम-काल या मध्य-युग कहते हैं, उसमे भी एक तब्दीली हुई और अहम तब्दीली हुई, फिर भी यह ऊपर के लोगो तक महदूद रही। इसने हिंदुस्तानी जिंदगी के खास सिलसिले पर ज्यादा असर नही डाला। वे हमलावर, जो हिंदुस्तान मे पच्छिमोत्तर से आये, ज्यादा पुराने जमाने मे आनेवाले और हमलावरो की तरह हिंदुस्तान मे जज्ब हो गये और उसके हो रहे। उनके वश हिंदुस्तानी वश कहलाये और आपस की शादियो की वजह से जातियो का बहुत-कुछ मेल-जोल हो गया। कुछ अपवादो को छोडकर जान-बूझकर इस बात की कोशिश की गई जान पडती है कि आम लोगो के रीति-रिवाजो और तरीको से छेड-छाड न की जाय। उन्होने हिंदुस्तान को अपना देश समझा और हिंदुस्तान के बाहर उनके कोई दूसरे लगाव न थे। हिंदुस्तान एक आजाद मुल्क बना रहा।

अग्रेजो के आने ने एक बडा फर्क ला दिया और पुरानी प्रथा बहुत-कुछ जड से उखड चली। वे पच्छिम से एक बिलकुल नई प्रेरणा लाये, जो यूरोप मे पुनर्जागृति (रिनेज़ा), सुधार (रिफर्मेशन) और इंग्लिस्तान की राजनैतिक क्राति के जमाने से रफ्ता-रफ्ता तरक्की कर रही थी और औद्योगिक क्राति (इडस्ट्रियल रिव्योल्यूशन) के शुरू मे जिसकी रूपरेखा बन रही थी। अमरीका और फ्रान्स की क्रातियो ने इसे और आगे बढाया। अग्रेज बाहरी, विदेशी और हिंदुस्तान मे बे-मेल ही बने रहे और कुछ और होने की उन्होने कोशिश भी न की। सबसे बडी बात तो यह है कि हिंदुस्तान के इतिहास मे पहली दफा उसका राजनैतिक नियत्रण बाहर से लगाया गया और उसके अर्थ-तत्र का मरकज एक दूर देश मे रहा। उन्होने हिंदुस्तान को आधुनिक युग की एक नौ-आबादी की तरह समझा और हिंदुस्तान अपनी लबी तारीख मे पहली बार एक गुलाम मुल्क बना।

महमूद गजनवी का हमला यकीनी तौर पर एक विदेशी, तुर्की, हमला था और उसका नतीजा यह हुआ कि पजाब हिंदुस्तान के और हिस्सो से कुछ जमाने के लिए अलग रहा। जो अफगान यहा बारहवी सदी के आखिर मे आये थे, उनकी बात दूसरी थी। वे हिंदी-आर्य जाति के लोग थे और हिंदुस्तान के लोगो से उनका नजदीकी रिश्ता था। दरअसल लबी मुद्दतो

तक अफगानिस्तान हिंदुस्तान का एक टुकडा होकर रहा है, उसे ऐसा होना ही था। उसकी भाषा पश्तो बुनियादी तौर पर संस्कृत से निकली है। हिंदुस्तान या हिंदुस्तान से बाहर बहुत कम जगहें ऐसी हैं, जहा हिंदुस्तानी संस्कृति की पुरानी यादगारे और खडहर—खासकर बौद्ध जमाने के—इतनी बहुतायत से हो, जितने अफगानिस्तान मे हैं। ज्यादा सही यह होगा कि अफग़ान लोग हिंदी-अफगान कहे जाय। उनमे और हिंदुस्तान के मैदानों के लोगो मे बहुत-कुछ फर्क रहा है, उसी तरह जिस तरह कि काश्मीर की पहाडी घाटियो के लोगो मे और नीचे के गरम और मैदानी इलाको के लोगो मे है। लेकिन बावजूद इस फर्क के, काश्मीर हिंदुस्तानी इल्म और तहज़ीब का एक खास मरकज रहा है। अफगानियो मे और ज्यादा तहज़ीब-यापता या सादगी से हटे हुए अरबो और ईरानियो मे भी फर्क रहा है। अपने पहाडी गढ़ो की तरह वे सख्त और खौफनाक लोग हैं। वे लोग अपने मजहब के पक्के, बहादुर, दिमागी धधो और गहराइयो मे पडने से बचनेवाले रहे हैं। शुरू-शुरू मे उनका व्यवहार ऐसा रहा है, जैसा विजेताओ का विद्रोही लोगो के साथ होता है, यानी कडा और बेरहमी का।

लेकिन जल्द ही ये नरम पड गये। हिंदुस्तान उनका घर बन गया और दिल्ली उनकी राजधानी रही—दूर-दराज गजनी नही, जैसा कि महमूद के जमाने मे था। अफगानिस्तान, जहा से वे आये थे, उनके राज्य के छोर के महज़ एक हिस्से की हैसियत रखता था। हिंदुस्तानी बनने की क्रिया तेज़ी से चली और उनमे से बहुतो ने इस मुल्क की औरतो से ब्याह कर लिये। उनके बडे सुल्तानो मे से एक, अलाउद्दीन खिलजी, ने एक हिंदू औरत के साथ ब्याह किया और इसी तरह उसके बेटे ने भी। बाद के कुछ शासक जाति के तुर्क थे, जैसे कुतुबुद्दीन ऐबक, सुल्ताना रज़िया और इल्तुतमिश, लेकिन उमरा और फौज ज्यादातर अफगान ही रही। दिल्ली एक सल्तनत की राजधानी के तौर पर चमकी। मोरक्को का एक मशहूर अरब यात्री इब्न बतूता, जिसने बहुत-से मुल्क और काहिरा और कुस्तुनुनिया से चीन तक के बहुत-से शहर देखे थे, शायद कुछ अत्युक्ति के साथ कहता है कि "दिल्ली जहान के सबसे बडे शहरो मे एक है।"

रुका था—सन १२८८ मे और फिर १२९३ मे, और उसने इसे "एक बडा और विशाल नगर" बताया है, जहा अरब और चीन के जहाजो का जमघट रहता था। वह बहुत बारीक मलमल का भी जिक्र करता है, जिसके तार मकडी के जालो-जैसे लगते थे और जो हिंदुस्तान के पूरबी समुद्र तट पर तैयार किया जाता था। मार्कोपोलो हमे एक और दिलचस्प बात बताता है। अरब और ईरान से बहुत बडी सख्या मे घोडे दक्खिन हिंदुस्तान मे मगाये जाते थे। दक्खिन हिंदुस्तान की आब-हवा घोडा-कशी के लिए माफ़िक़ नहीं आती थी और घोडो को, और इस्तेमाल के अलावा, फौजी कामो के लिए जरूरत पडती थी। घोडा-क़शी के माफिक़ सबसे अच्छे मैदान मध्य और पच्छिमी एशिया मे थे, और इस बात से कुछ हदतक इसका अदाज लगेगा कि मध्य-एशिया की जातिया लडाई की कला मे क्यो बढी-चढी थीं। चगेज खा के मगोल बडे शानदार घुडसवार थे और वे अपने घोडो से बडा लगाव रखते थे। तुर्क लोग भी अच्छे घुडसवार थे और अरबवालों की अपने घोडों के लिए मुहब्बत तो मशहूर ही है। उत्तरी और पच्छिमी हिंदुस्तान मे, खासतौर पर काठियावाड मे घोडा-कशी के लिए कुछ अच्छे मैदान हैं और राजपूत घोडो के बडे शौकीन हैं। कई छोटी-मोटी लडाइया अकसर किसी मशहूर घोडे की खातिर लडी गई हैं। दिल्ली के एक सुल्तान के बारे मे एक कहानी कही जाती है कि उसने एक राजपूत सरदार के घोडे को पसद करके उससे मागा। हाडा सरदार ने लोदी बादशाह से कहा—"तीन चीजें है, जिन्हे राजपूत से कभी नही मागना चाहिए, उसका घोडा, उसकी स्त्री और उसकी तलवार।" और यह कहकर वह घोडे को सरपट भगाता हुआ चला गया। बाद मे इस घटना के कारण फसाद हुआ।

चौदहवीं सदी के आखिरी हिस्से मे तुर्क या तुर्क-मगोल जाति के तैमूर ने उत्तर से उतरकर दिल्ली सल्तनत को विध्वस्त कर दिया। वह हिंदुस्तान मे चद महीने ही रहा, वह दिल्ली आया और वापस लौट गया। लेकिन जिस रास्ते वह आया, उस रास्ते मे सब जगहें उसने वीरान कर दीं और कत्ल किये गये लोगो की खोपडियो के मीनार लगा दिये, खुद दिल्ली मुर्दो का शहर बन गया। खुशकिस्मती से वह और आगे नही बढा और पजाब के कुछ हिस्सो और दिल्ली को ही यह खौफनाक हालत भुगतनी पडी।

दिल्ली को मौत की इस नीद से उठने मे बहुत साल लग गये और जब वह जगी भी, तो एक बडी सल्तनत की राजधानी न रह गई थी। तैमूर के हमले ने इस सल्तनत को तोड दिया था, और उसके खडहरो पर दक्खिन मे कई रियासतें उठ खडी हुई थी। इससे पहले, चौहदवी सदी के शुरू मे, दो

बडे राज्य कायम हुए थे—गुलवर्गा, जो वहमनी[1] राज्य के नाम से मशहूर है और विजयनगर का हिंदू राज्य। गुलवर्गा अब पाच रियासतो मे बट गया, इसमे से एक अहमदनगर था। अहमद निजाम शाह, जिसने १४९० मे अहमदनगर कायम किया, वहमनी राजाओ के वजीर निजामुल्मुल्क भैरी का बेटा था। यह निजामुल्मुल्क भैरू नाम के एक ब्राह्मण खजानची का बेटा था (इसीसे इसका नाम भैरी पडा)। इस तरह अहमदनगर के राज-वंश की जड देसी ही थी और अमहदनगर की वहादुर औरत चादवीवी का खून मिला-जुला था। दक्खिन हिंदुस्तान की सभी मुस्लिम रियासते देसी और हिंदुस्तानी थी।

तैमूर के दिल्ली को तवाह करने के वाद उत्तरी हिंदुस्तान कमजोर वना रहा और टुकडो मे बट गया। उसके मुक़ावले मे दक्खिनी हिंदुस्तान की हालत ज्यादा अच्छी थी और दक्खिनी राज्यो मे सबसे बडा और वलशाली राज्य विजयनगर का था। इस राज्य ने उत्तर से भागे हुए वहुत-से हिंदुओ को अपनी तरफ खीचा। उस जमाने मे लिखे हुए वयानो से यह पता लगता है कि यह शहर वहुत मालदार और खूवसूरत था। मध्य-एशिया का अब्दुल रज्जाक लिखता है कि "शहर ऐसा है, जिसके मुकावले का शहर सारी दुनिया मे न आखो से देखा और न कानो से सुना है।" वाजारो के लिए मेहराववाले रास्ते थे और आलीशान दालानें वनी हुई थी और इन सवके वीच राजा का शानदार महल खडा था, "जिसके चारो तरफ पत्थर की कटी हुई, चिकनी और चमकदार नहरो से पानी के वहुत-से सोते बहा करते थे।" सारा शहर वाग़ो से भरा पडा था और उन्ही की वजह से, जैसाकि एक इटली के यात्री निकोलो कांटी ने १४२० मे लिखा है, "शहर की वाहर-वाहर दौड ६० मील लवी थी।" एक वाद का यात्री पायस था, जो पुर्तगाली था और १५२२ मे इटली की नवजागृति के शहरो को देखकर आया था। उसका कहना है कि विजयनगर का शहर "रोम जितना वडा और देखने में वहुत सुदर है।" और अपनी अनेक वावलियो, नहरो और फल वाग़ो की वजह से वडा ही अनूठा और सुहावना है। यह "दुनिया का सवसे भरा-पूरा शहर है" और "यहा सभी चीजो की वहुतायत है।" महल के कमरे तमाम हाथीदात की कारीगरी से भरे हुए थे और उनके ऊपर गुलाव और कमल नक्श किये हुए थे। "यह इतना खूवसूरत और कीमती है कि इसके मुकावले का दूसरा कही

---

[1] दक्खिन के वहमनी राज्य का आरभ और नामकरण दिलचस्प है। इस राज्य को क़ायम करनेवाला एक अफग़ान मुसलमान था, जिसका गगू नाम का ब्राह्मण शुरू के दिनों मे संरक्षक था। उसके एहसान को क़ुबूल करते हुए इसने अपने खानदान का नाम बहमनी (ब्राह्मण से) खानदान रखा।

मिल सकना दुश्वार होगा।" राजा कृष्णदेव राय के बारे मे पायस लिखता है—"इससे ज्यादा गुणो और पराक्रमवाला राजा भी कही नही मिल सकता, वह बहुत हसमुख और खुशमिजाज है, वह विदेशियो का बडा आदर और प्रेम मे आवभगत करता है, और उनकी जैसी भी हालत हो, पूरा-पूरा कुशल-समाचार पूछता है।"

जिस वक्त कि दक्खिन मे विजयनगर तरक्की पर था, उस वक्त दिल्ली की छोटी सल्तनत को एक नये दुश्मन का सामना करना पडा। उत्तरी पहाडी प्रदेशो से एक और हमलावर उतरकर आया और दिल्ली के पास पानीपत के मशहूर मैदान मे, जहा हिंदुस्तान के भाग्य का अकसर निबटारा हुआ है, उसने १५२६ ई० मे दिल्ली के तख्त पर कब्ज़ा कर लिया। यह विजेता बाबर था, जो तुर्की-मगोल था और मध्य-एशिया के तैमूरिया खानदान का था। उससे हिंदुस्तान की मुग़ल सल्तनत की शुरुआत होती है।

बाबर की कामयाबी की वजह शायद दिल्ली की सल्तनत की कमज़ोरी ही नहीं थी, बल्कि यह भी थी कि उसके पास एक नया और तरक्कीशुदा तोपखाना था, जैसा उस वक्त हिंदुस्तान मे इस्तेमाल मे नही आया था। इस वक्त से आगे हिंदुस्तान युद्ध के विज्ञान की तरक्की करने मे पिछडता जाता है। यह कहना ज्यादा सही होगा कि सारा एशिया इस विज्ञान मे जहा-का-तहा बना रहा, जबकि यूरोप ने इसमे बराबर तरक्की की। महान मुग़ल साम्राज्य (अगरचे हिंदुस्तान मे दो सौ साल तक यह शक्तिशाली बना रहा) शायद सत्रहवी सदी के बाद यूरोपीय फौजो के साथ बराबर के मुकाबले मे ठहर न सकता था। लेकिन जबतक समुद्री रास्ते पर क़ाबू न हो, कोई यूरोपीय सेना हिंदुस्तान तक पहुच नही सकती थी। जो बडी तब्दीली इन सदियो मे होती रही थी, वह यह थी कि यूरोप के लोग समुद्री ताकत मे तरक्की कर रहे थे। दक्खिन मे तेरहवी सदी मे चोल-राज्य के पतन के बाद हिंदुस्तान की समुद्री ताकत तेजी से घटी। पांड्य के छोटे-से राज्य का समुद्र से ताल्लुक होते हुए भी वह काफ़ी मजबूत न था। हिंदुस्तान की नौ-आबादियो का समुद्र पर प्रभाव फिर भी, पद्रहवी सदी तक बना रहा, और इस वक्त अरबवालो ने उनसे बाज़ी जीत ली और उनके जल्द बाद पुर्तगालियो ने।

५ : मिली-जुली संस्कृति का विकास और समन्वय : परदा : कबीर : गुरु नानक : अमीर खुसरो

इसलिए मुसलमानो के हिंदुस्तान पर हमला करने की या हिंदुस्तान के मुसलमानी ज़माने की बात करना उतना ही ग़लत है, जितना अंग्रेज़ो के

हिंदुस्तान मे आने को ईसाई हमला कहना या अग्रेजी जमाने को ईसाई जमाना कहना होगा। इस्लाम ने हिंदुस्तान पर हमला नही किया, यह हिंदुस्तान मे कुछ सदियो पहले आया था। यहा तुर्की हमला (महमूद का) हुआ, अफ़गानो का हमला हुआ, इसके बाद तुर्क-मगोल या मुगलो का हमला हुआ और इनमे आखिरी दो महत्व के थे। अफगानो को हम सरहदी हिंदुस्तानी दल का समझ सकते है, वे शायद ही अजनबी कहे जा सकते है, और उनकी सियासी हुकूमत के जमाने को हिंदी-अफगान काल कहलाना चाहिए। मुग़ल बाहर के लोग थे और हिंदुस्तान के लिए अजनबी भी थे, फिर भी वे हिंदुस्तानी ढाचे मे बडी जल्दी समा गये और उनसे हिंदी-मुग़ल काल शुरू हुआ।

चाहे अपनी खुशी से उन्होने ऐसा किया हो, चाहे परिस्थिति ने उन्हें मजबूर किया हो, अफग़ान शासक और उनके साथ आनेवाले लोग हिंदुस्तान में समा गये। उनके खानदान पूरी तौर पर हिंदुस्तानी हो गये और उनकी जडें हिंदुस्तान मे फैली, उन्होंने हिंदुस्तान को अपना घर समझा और बाकी दुनिया को विदेश माना। बावजूद सियासी झगडो के, उन्हें लोगो ने भी ऐसाही खयाल किया और बहुत-से राजपूत राजाओ तक ने उन्हे अपना फरमा-रवा समझा। लेकिन और राजपूत सरदार भी थे, जिन्होंने उनके मातहत होने से इन्कार भी किया, और भयानक लडाइया भी हुई। दिल्ली के मशहूर सुल्तान फिरोजशाह की मा हिंदू औरत थी; इसी तरह गयासुद्दीन तुगलक की मा भी। अफग़ान, तुर्क और हिंदू उमरावो मे इस तरह की शादिया आम नही थी, लेकिन फिर भी होती थी। दक्खिन मे गुलबर्गा के मुसलमान शासक ने विजयनगर की एक हिंदू राजकुमारी के साथ बडी शान-शौकत के साथ व्याह किया था।

ऐसा जान पडता है कि मध्य और पच्छिमी एशिया मे हिंदुस्तानियो के बारे मे बडे अच्छे खयाल थे। ग्यारहवी सदी के पुराने जमाने मे, यानी अफगानो की विजय से पहले, इदरीसी नाम के एक मुसलमान भूगोलविद ने लिखा था—"हिंदुस्तानी स्वभाव से इन्साफ़-पसद हैं, और इससे अपने व्यवहार में कभी डिगते नही। उनकी नेकी, ईमानदारी और अपने वादो की वफादारी मशहूर है, और दरअसल वे इन गुणो के लिए इतने मशहूर है कि लोग उनके मुल्क मे सब तरफ से आकर इकट्ठे होते हैं।"[1]

एक कार-गुजार हुकूमत कायम हो गई और आमद-रफ्त के जरियो की खासतौर पर तरक्की हुई, अगरचे इसकी वजह फौजी सहूलियत का पैदा करना था। सरकार इस बात का खयाल करती थी कि मुकामी रिवाजों मे दखल न दे। ताहम वह ज्यादा मरकजी हो चली थी। शेरशाह (जिसका जमाना मुग़-

[1] इलियट की 'हिस्टरी आँव इंडिया', जिल्द १, पृष्ठ ८८ से।

लिया जमाने के बीच आ पड़ता है), अफ़गान शासकों में सबसे क़ाबिल था। उसने मालगुज़ारी की ऐसी प्रथा की बुनियाद रखी कि उसे बाद में अकबर ने भी अपना लिया और फैलाया। अकबर का मशहूर वज़ीर-माल, राजा टोडरमल, पहले शेरशाह के यहां इसी पद पर था। अफ़ग़ान हाकिम हिंदुओं को रफ़्ता-रफ़्ता ज्यादा ओहदे देने लगे थे।

हिंदुस्तान और हिंदू धर्म पर अफ़ग़ानों की फ़तह के दो असर पड़े, और इनमें से दोनों एक-दूसरे को काटते हुए थे। फ़ौरन जो असर पड़ा, वह यह था कि बहुत-से लोग दक्खिन में चले गये और अफ़ग़ान हुकूमत के इलाक़ों से दूर हो रहे। जो बच रहे, वे और कट्टर बन गये और अलग-थलग रहने लगे, वे अपने ही खोल में समा गये और अपनी वर्ण-व्यवस्था को और कड़ा करके विदेशी तरीकों और असरों से अपने को बचाने में लग गये। दूसरी तरफ़ विचार और ज़िंदगी के इन तरीक़ों की ओर लोगों का रफ़्ता-रफ़्ता और बिना कोशिश के रुझान पैदा होने लगा। फिर एक समन्वय पैदा हुआ। इमारत की कला में नई शैलियां उपजीं, खाना-कपड़ा बदला और बहुत तरह के फ़र्क़ रहन-सहन में पैदा हो गये। यह समन्वय संगीत में खासतौर पर नुमायां था, जिसने पुराने हिंदुस्तानी शास्त्रीय ढांचे को क़ायम रखते हुए अनेक दिशाओं में तरक्क़ी की। फारसी ज़बान दरबार की सरकारी ज़बान बन गई और बहुत-से फारसी लफ़्ज़ आम इस्तेमाल में आने लगे। साथ-ही-साथ एक आम ज़बान को भी तरक़्क़ी दी गई।

हिंदुस्तान में जो बुरी बातें पैदा हुईं, उनमें से एक परदे के रिवाज़ की तरक्की थी। ऐसा क्योंकर हुआ, यह साफ नहीं, लेकिन आनेवालों की पुराने लोगों पर होनेवाली प्रतिक्रिया का यह नतीजा ज़रूर था। हिंदुस्तान में, इससे पहले मर्द और औरत अमीरों के वर्ग में तो कुछ अलग-अलग ज़रूर रहते थे, जैसाकि और मुल्कों में भी, खासतौर पर यूनान में, था। दोनों के अलग-अलग रहने का कुछ इसी तरह का रिवाज ईरान में भी था, बल्कि सारे पच्छिमी एशिया में था, लेकिन कहीं भी सख़्त क़िस्म का परदा नहीं होता था। शायद इसकी शुरुआत बाइज़ेंटाइन दरबारियों के दायरे में हुई, जहां जनानखाने की निगरानी के लिए ख्वाजासरा मुकर्रिर किये जाते थे। बाइज़ेंटाइन का असर रूस में पहुंचा, जहां ठीक महान पीटर के ज़माने तक औरतें काफ़ी कड़े परदे में रखी जाती थीं। इसका तातारों से कोई ताल्लुक़ न था, जिनके बारे में यह बात काफी तौर पर आम है कि वे अपनी औरतों को अलग नहीं रखते थे। अरब और फारस की मिली-जुली तहज़ीब पर बाइज़ेंटाइनी रीति-रिवाजों का बहुत-कुछ असर पड़ा और संभवतः ऊंचे वर्ग की औरतों का अलग

रहना चल पड़ा। फिर भी अरब में या पच्छिमी और मध्य-एशिया मे औरतों मे कोई कड़ा परदा न होता था। जो अफ़गान उत्तरी हिंदुस्तान मे दिल्ली की फतह के बाद आये, उनके यहा परदे की कड़ी पाबदी न होती थी। तुर्की और अफ़ग़ान शहज़ादिया और बेग़मे अकसर घोडे की सवारी, शिकार और मेल-मुलाकात के लिए निकला करती थी। यह एक पुराना मुसलमानी रिवाज है, जिसकी पाबदी अब भी होती है कि हज के सफर मे उन्हे अपने चेहरो को खुला रखना चाहिए। मालूम पडता है कि परदे के रिवाज की तरक्की हिंदुस्तान मे मुगलो के ज़माने मे हुई, जब इसे हिंदुओ और मुसलमानो दोनो ही मे पद और इज्ज़त की निशानी समझा जाने लगा। परदे की यह प्रथा खासतौर पर ऊचे वर्ग के लोगो मे उन सभी जगहो मे तेज़ी से फैली, जहा मुसलमानो का असर था—यानी उस बीच और पूरब के बडे प्रदेश मे, जिसमे दिल्ली, सयुक्त प्रात, राजपूताना, बिहार और बगाल आ जाते हैं। लेकिन यह कुछ अजीब बात है कि पजाब और सरहदी सूबे मे परदे की पाबदी बहुत कडी नही है। दक्खिन और पच्छिम हिंदुस्तान मे कुछ हद तक मुसलमानो को छोडकर परदे का रिवाज नही रहा है।

इसमे मुझे ज़रा भी शक नही कि हाल की सदियो मे हिंदुस्तान के ह्रास के कारणो मे से एक खास कारण औरतो को परदे मे रखने का रिवाज है। मुझे इसका और भी ज़्यादा यकीन है कि इस वहशियाना रिवाज का पूरी तरह खत्म होना हमारी समाजी ज़िदगी की तरक्की के लिए लाज़िमी है। औरत को इससे नुकसान पहुचता है, यह ज़ाहिर-सी बात है, लेकिन जो नुकसान मर्द को पहुचता है, जो बढ़ते हुए बच्चे को पहुचता है, जिसे अपना बहुत-सा वक्त औरतो के साथ परदे में बिताना पडता है, वह कम बडा नही है। खुश-किस्मती से यह रिवाज हिंदुओ मे बहुत तेज़ी से उठ रहा है और मुसलमानो मे भी कुछ धीमी रफ्तार से। परदे के उठाने में सबसे ज़्यादा हाथ काग्रेस की सियासी और समाजी तहरीको का रहा है, जिन्होंने बीच के वर्ग की दसियो हज़ार औरतो को अपनी ओर खीचा है और जो किसी-न-किसी सार्वजनिक धधे मे शरीक हुई हैं। गाधीजी परदे के रिवाज के कट्टर विरोधी रहे हैं और हैं और उन्होंने इसे "दूषित और बर्बर रिवाज" बताया है, जिसने औरतो को पिछड़ा हुआ और तरक्की से महरूम रखा है। एक जगह उन्होंने लिखा है—"इस वहशियाना रिवाज के ज़रिये मर्द लोग हिंदुस्तान की औरतो पर जो अत्या-चार कर रहे हैं, मैंने उसपर विचार किया। जिस वक्त यह रिवाज शुरू हुआ, उस वक्त इसके जो भी लाभ रहे हो, अब यह मुल्क को अपार नुकसान पहुचा रहा है।" गाधीजी ने कहा है कि "औरतो को वही आज़ादी और अपनी

तरक्की के वही मौके मिलने चाहिए, जो मर्दों को हासिल हैं। मर्दों और औरतो के आपस के सबध में समझदारी के बरताव की जरूरत है। दोनो के बीच में दीवारें नहीं खडी की जानी चाहिए। उनके आपस के व्यवहार मे स्वाभाविकता और बेसख्तगी होनी चाहिए।" दरअसल गाधी-जी ने औरतो की बराबरी और आजादी के बारे मे जोरदार बातें कहीं औ' लिखी हैं और उनकी घरेलू गुलामी को तीखेपन से बुरा बताया है।

मैं अपने विषय से हटकर यकायक मौजूदा जमाने की बातें करने लगा, और अब मुझे मध्य-युग पर वापस जाना चाहिए, जब अफगान लोग दिल्ली की गद्दी पर जम चुके थे और पुराने और नये तरीको के बीच समन्वय कायम होना शुरू हो चुका था। इनमे से ज्यादातर तब्दीलिया ऊपर के वर्गों मे हुई और उनका असर आम जनता पर, खासतौर पर देहाती जनता पर नही पडा। उनकी शुरुआत दरबारी हलको मे होती और वे शहरों और कसबो में फैलती। इस तरह एक ऐसा सिलसिला चला, जो कई सदियो तक चलता रहा और उत्तरी हिंदुस्तान मे एक मिली-जुली सस्कृति तरक्की करती रही। दिल्ली और जिसे अब सयुक्त प्रात कहते हैं, इसके मरकज बने, जिस तरह कि ये पुरानी आर्य सस्कृति के मरकज रहे और अब भी हैं। लेकिन आर्य-संस्कृति का बडा हिस्सा खिसककर दक्खिन पहुचा, जो हिंदू कट्टरता का गढ बन गया।

तैमूर के हमले से दिल्ली की सल्तनत जब कमजोर हो गई, तो जौनपुर (सयुक्त प्रात) मे एक छोटा-सा मुसलमानी राज्य कायम हुआ। सारी पन्द्रहवी सदी-भर यह कला और सस्कृति और मजहबी रवादारी का मरकज रहा। तरक्की करती हुई आम जबान, हिंदी को यहा प्रोत्साहन मिला, और हिंदुओ और मुसलमानो के मजहबो मे समन्वय पैदा करने की भी कोशिशें हुईं। करीब-करीब इसी वक्त उत्तर मे दूर काश्मीर मे भी जैनुल-आबदीन नाम के एक मुसलमान राजा ने अपनी रवादारी और सस्कृत विद्या और पुरानी सस्कृति के प्रोत्साहन के लिए यश हासिल किया।

सारे हिंदुस्तान मे यह नया खमीर काम कर रहा था और लोगों के दिमागो मे नये विचार कुरेद पैदा कर रहे थे। पुराने जमाने की तरह हिंदु-स्तान मे इस नई परिस्थिति की तरफ एक प्रतिक्रिया चल रही थी और विदेशी तत्त्वों को जज्ब करने की कोशिश में वह अपने को कुछ तब्दील कर रहा था। इसी खमीर में से नये ढग के सुधारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने इस समन्वय के पक्ष मे निश्चय के साथ उपदेश दिये और अकसर वर्ण-व्यवस्था की निंदा या अवहेलना की। दक्खिन मे पन्द्रहवी सदी मे हिंदू रामानद हुए और उनके और

भी मशहूर शिष्य बनारस मे कबीर हुए, जो मुसलमान जुलाहे थे। उत्तर मे गुरु नानक हुए, जो सिख-धर्म के सस्थापक माने जाते हैं। इन लोगो का असर उन मतो तक सीमित नही था, जो इनके नाम पर कायम हुए, बल्कि उससे कही ज्यादा फैला हुआ था। सारे हिंदू-धर्म पर इन नये विचारो का प्रभाव पडा और हिंदुस्तान का इस्लाम भी और जगहो के इस्लाम से मुख्तलिफ बन गया। इस्लाम के जबरदस्त अद्वैतवाद का हिंदू-धर्म पर असर पडा, और हिंदुओ के बहुत-से देवी-देवताओ मे विश्वास का कुछ असर हिंदुस्तानी मुसलमानो पर पडे बगैर न रहा। हिंदुस्तानी मुसलमानो मे से ज्यादातर ऐसे थे, जो नौ-मुस्लिम थे और यहा की पुरानी परपरा मे पले थे। बाहर से आनेवाले मुसलमान मुकाबले मे थोडे थे। मुस्लिम रहस्यवाद और सूफी मत की, जिसकी शुरुआत शायद नये अफलातूनी मत से हुई थी, तरक्की हुई।

विदेशी लोगो के हिंदुस्तान मे बराबर जज्ब होने का सबसे मार्के का पता इस बात से लगता है कि मुल्क की आम जबान को उन्होंने उठा लिया, अगरचे फारसी दरबार की जबान बनी रही। शुरू के मुसलमानो की लिखी हुई हिंदी की कई मशहूर किताबें है। इन लिखनेवालो मे सबसे मशहूर खुसरो था, जो एक तुर्क था और जिसका घराना सयुक्त-प्रात मे दो-तीन पीढियो से बस गया था। यह चौदहवी सदी मे हुआ और इसने कई अफगान सुल्तानो के जमाने देखे थे। फारसी का तो वह चोटी का शायर था, वह सस्कृत भी जानता था। वह बहुत बडा सगीतज्ञ भी था और हिंदुस्तानी सगीत मे उसने कई नई बातें पैदा की। यह भी कहा जाता है कि हिंदुस्तान का आम पसद वाद्य-यत्र सितार उसीकी ईजाद की हुई चीज है। उसने बहुत-से मजमूनो पर लिखा है और खासतौर पर हिंदुस्तान की तारीफ की है, और यह बताया है कि किन-किन बातो मे हिंदुस्तान बढा हुआ है। इनमे मजहब, फिलसफा, तर्क-शास्त्र, भाषा और व्याकरण (सस्कृत), सगीत, गणित, विज्ञान और आम (फल) गिनाये गये हैं।

लेकिन हिंदुस्तान में खासतौर पर उसकी शोहरत की वजह उसके आम-पसद गीत हैं, जिन्हें उसने लोगो की आम जबान हिंदी मे लिखा है। उसने साहित्यिक माध्यम न चुनकर बडी अक्लमदी की, क्योकि उसे मुट्ठी-भर लोग ही समझ पाते। उसने गाववालो की जबान ही नही इस्तेमाल की, बल्कि उनके रीति-रिवाज और रहन-सहन के ढग का भी बयान किया। उसने जुदा-जुदा ऋतुओ के गीत लिखे है और हिंदुस्तान की पुरानी शास्त्रीय परपरा के बमूजिब हर एक ऋतु के लिए अलग राग और बोल हैं, उसने जिंदगी के विविध पहलुओ पर गीत रचे हैं—दुल्हन के आने पर, प्रेमी के वियोग पर,

वर्षाऋतु पर, जब जली हुई धरती से नई जिंदगी फूट निकलती है। ये गीत अब भी दूर-दूर गाये जाते हैं और हम उन्हें उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के किसी गाव या शहर मे सुन सकते हैं, खासतौर पर तब, जब वर्षा-ऋतु आती है, और हर एक गाव मे आम और पीपल की शाखो मे बडे-बडे झूले पडते हैं, और गाव के सभी लडके-लड़कियां झूला झूलने के लिए इकट्ठा होते हैं।

अमीर खुसरो ने बहुत-सी पहेलिया भी रची हैं, जो बच्चो और बडो, दोनो मे ही बहुत चलती हैं। अपनी जिंदगी मे ही खुसरो गीतो और पहेलियो के लिए मशहूर हो गया था। उसकी यह शोहरत बढती ही रही है। मैं और कहीं भी ऐसी मिसाल नहीं पाता कि छ:सौ साल पहले जो गीत लिखे गये हो, वे अब भी आमपसद हों और अब भी लफ़्ज़ो की फेर-फार के बगैर, ज्यों-के-त्यों गाये जाते हो।

६ : हिंदुस्तानी समाजी संगठन : वर्ग का महत्व

हिंदुस्तान के बारे में जो लोग कुछ भी जानते हैं, उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का हाल सुन रखा है; बाहर का हर आदमी इसे बुरा कहता है और हिंदुस्तान के बहुत-से लोग ऐसा ही कहते हैं और इसकी नुक्ता-चीनी करते हैं। हिंदुस्तान मे भी शायद ही कोई ऐसा हो, जो इसकी मौजूदा शक्ल व सूरत को देखते हुए इसे पसद करता हो, अगरचे ऐसे लोग बेशक मिलेंगे, जो इसके बुनियादी सिद्धात को क़बूल करते हैं और हिंदुओं मे बहुत से लोग अपनी जिंदगी में इसे मानते चले आ रहे हैं। 'वर्ण' या 'जात' लफ्ज़ के इस्तेमाल से कुछ गलतफहमी होती है, क्योंकि अलग-अलग लोग इसके अलग-अलग मानी लगाते हैं। साधारण यूरोपीय या उसीके जैसे विचारोंवाला हिंदुस्तानी यह समझता है कि यह केवल वर्गों को पत्थर की तरह मजबूत करके अलग-अलग कर देना है और यह महज़ इस बात की तरकीब है कि वर्ग-भेद बना रहे, ऊचे वर्ग के लोग सदा-सदा के लिए चोटी पर बने चले आयें, और नीचे वर्ग के लोग सदा-सदा के लिए नीचे ही बने रहें। इस विचार मे सचाई है और शुरू में शायद यह इस बात की तरकीब थी कि आर्य विजेता उन लोगों मे न मिलने-जुलने पायें, जिन्हें उन्होंने हराया था। शुरू मे चाहे इस व्यवस्था मे लचीलापन रहा हो, लेकिन जिस तरह इसने तरक्क़ी की है, उससे यक़ीनी तौर पर यही नतीजा निकलता है। लेकिन सचाई का यह महज़ एक पहलू है। और इस कैफ़ियत से यह नहीं पता चलता कि आखिर इस व्यवस्था मे इतनी शक्ति और मजबूती क्योकर रही कि यह आजतक चली आ रही है। इसने बौद्ध-धर्म की ज़बरदस्त टक्कर को झेल लिया और अफगान और मुग़ल शासन और इस्लाम के प्रसार की कई सदिया ही नहीं देखी, बल्कि

अनगिनत हिंदू सुधारको के, जिन्होने इसके खिलाफ़ अपनी आवाजें बुलद की, वार सहे। यह तो सिर्फ आजकल ही ऐसा हुआ है कि उसकी बुनियाद पर ही हमला हो रहा है और इसका वजूद ही जोखिम मे है। इसका कारण खासतौर पर हिंदू समाज मे उपजी हुई कोई जबरदस्त प्रेरणा नही है, अगरचे यकीनी तौर पर ऐसी प्रेरणा मोजूद है; न यही कारण है कि पच्छिमी खयाल हमारे बीच मे आ गये हैं, अगरचे ऐसे खयालो ने जरूर अपना असर डाला है। जो तब्दीलिया हमारी आखो के सामने हो रही हैं, उनका कारण खासतौर पर यह है कि बुनियादी आर्थिक परिवर्तनों ने हिंदुस्तानी समाज के सारे ढाचे को हिला दिया है और संभव है कि उसे पूरी तरह से उलट-पलट दें। जिंदगी के हालात मे तब्दीली आ गई है, विचार के ढंग बदल रहे हैं, यहातक कि अब ग़ैर-मुमकिन जान पडता है कि वर्ण-व्यवस्था क़ायम रह सके। उसकी जगह क्या चीज ले लेगी, यह मैं नहीं कह सकता, क्योंकि सिर्फ़ वर्ण-व्यवस्था ही जोखिम मे नही है। सघर्ष है सामाजिक सगठन के मसले पर दो जुदा-जुदा नजरियो मे। एक तरफ है पुराना हिंदू विचार कि वर्ग या गिरोह सगठन की बुनियादी इकाई है; दूसरी तरफ़ पच्छिम का विचार है, जो बहुत ज्यादा व्यक्तिवाद पर जोर देता है, जो व्यक्ति को वर्ग से ऊपर रखता है।

यह सघर्ष हिंदुस्तान की ही विशेषता नही है; यह पच्छिम मे भी और सारी दुनिया मे चल रहा है, अगरचे यहा इसने दूसरी शक्लें अख्तियार की हैं। यूरोप की उन्नीसवी सदी की सभ्यता ने लोकतत्री उदार-मत का रूप लेकर और आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रो में उसके विस्तार ने, व्यक्तिवाद की नुमाइदगी की सबसे आला अलामत पेश की। उन्नीसवी सदी की विचारधारा अपने सामाजिक और राजनैतिक सगठन के साथ-साथ बीसवीं सदी मे भी बहकर आ गई है, लेकिन अब उसका जमाना बिलकुल बीता हुआ जान पडता है और सकट और युद्ध के दबाव से वह टूट रही है। अब वर्ग और समाज के महत्त्व पर ज्यादा ज़ोर दिया जाने लगा है और सवाल यह पैदा हो गया है कि व्यक्ति और वर्ग के तकाज़ो के बीच समझौता कैसे कराया जाय। इस मसले का हल अलग-अलग मुल्कों में अलग-अलग शक्लें ले सकता है, ताहम रुझान इस तरफ है कि एक बुनियादी हल हासिल किया जाय, जो सब पर यक-सा लागू हो।

वर्ण-व्यवस्था कोई अलग-थलग चीज नहीं है; यह एक और बडी सामाजिक व्यवस्था का अग है, और महत्त्व रखनेवाला अग है। यह मुमकिन जान पडता है कि उसकी कुछ जाहिरा बुराइयों को दूर कर दिया जाय और उसकी तरतीब को न छेडा जाय। लेकिन यह बहुत ग़ैर-मुमकिन बात है, क्योंकि जो

आर्थिक और सामाजिक ताकते काम कर रही हैं, उन्हें इसके ढाचे की ज्यादा परवाह नही है, वे इसकी बुनियाद पर ही हमला कर रही हैं और साथ-साथ उन सभी थूनियो पर, जो इसे उठाये हुए हैं। सच बात तो यह है कि ये थूनिया बहुत-कुछ टूट चुकी हैं और वर्ण-व्यवस्था को अब अपना ही सहारा है। अब सवाल यह नही रहा है कि हम वर्ण-व्यवस्था को पसद करते है या नही। हम पसद करें या नही, तब्दीलिया हो रही है। लेकिन यकीनी तौर पर यह हमारी ताकत के भीतर है कि हम इन तब्दीलियो को ढाल सकें और उन्हे रुख दे सके, इस तरह कि हमे सारे हिंदुस्तान के लोगो की उस प्रतिभा और विशेषता का पूरा-पूरा फायदा मिल जाय, जो हमारे सामाजिक सगठन की मजबूती और पायदारी के जरिये साफ तौर पर जाहिर हो चुकी है।

सर जार्ज बर्डउड ने कही पर कहा है—"जबतक हिंदू अपनी वर्ण-व्यवस्था को कायम रखते हैं, तबतक हिंदुस्तान हिंदुस्तान बना रहेगा, लेकिन जिस दिन उन्होने इसे छोडा, उस दिन से हिंदुस्तान हिंदुस्तान न रह जायगा। यह शानदार प्रायद्वीप गिरकर ऐंग्लो-सैक्सन साम्राज्य के घोर 'ईस्ट एंड'[1] की हालत पर पहुच जायगा।" वर्ण-व्यवस्था रहे चाहे न रहे, हम ब्रिटिश-साम्राज्य मे उस हालत पर बहुत दिनो से गिरकर पहुचे हुए है। और हर सूरत मे, हमारी भविष्य की स्थिति चाहे जैसी भी हो, वह इस साम्राज्य की सरहद के भीतर नही महदूद रहेगी। लेकिन सर जार्ज बर्डउड् ने जो कहा है, उसमे कुछ सचाई है, अगरचे शायद उन्होंने इसे उस रुख से नही देखा है। एक विशाल और पुराने सामाजिक सगठन के टूटने पर समाजी जिंदगी पूरी तौर पर तितर-बितर हो सकती है और सारे-के-सारे लोगो को मुसीबत का सामना करना पड सकता है और व्यक्तियो के आचरण बडे पैमाने पर विकृत रूप ले सकते हैं, अगर कोई दूसरा सामाजिक ढाचा, जो जनता की प्रतिभा के अनुकूल हो—उसकी जगह पर नही आजाता। शायद परिवर्तन के जमाने मे अव्यवस्था की यह हालत पैदा होना लाजिमी है, यह हालत आज सारी दुनिया मे काफी फैली हुई है। शायद इस तरह की हालत से जो दुख और मुसीबते आती है, उन्हीके जरिये लोग तरक्की करते हैं और जिंदगी से सबक सीखते हैं और अपने को नई हालतो के बमूजिब ढाल लेते हैं।

खाली जगह, मुमकिन है, इस तरह भर जाय कि हमे पछताना पडे। हम जो भी रचनात्मक योजनाए बनायें, हमे उन आदमियो का ध्यान रखना पड़ेगा, जिनसे हमारा वास्ता है—उनके विचारो और प्रेरणाओ की कैसी पृष्ठभूमि है और किस तरह के वातावरण मे हमे काम करना है? इन सब बातो को नजर-अदाज कर देने के ये मानी होगे कि हम अपनी योजना हवा मे तैयार कर रहे हैं या दूसरो ने और जगहो मे जो किया है, उसकी महज नकल कर रहे है और यह बेवकूफी की बात होगी। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि हम अपने उस पुराने हिंदुस्तानी सामाजिक सगठन को जानने और समझने की कोशिश करें, जिसने लोगो पर इतना जबरदस्त असर डाला है।

इस सगठन की बुनियाद तीन विचारो पर थी—खुदमुख्तार देहाती समाज, वर्ण-व्यवस्था और मुश्तरका खानदान। इन तीनो मे ही वर्ग को बड़ाई दी गई है, व्यक्ति की जगह दूसरे दर्जे पर है। अलग-अलग इनमे से किसी विचार मे बहुत अनोखापन नही, और इनमे से तीनो के मुकाबले की व्यवस्थाए हमे दूसरे मुल्को मे भी मिल जायगी, खासतौर पर मध्य-युग मे। पुराने हिंदुस्तानी गणराज्यो की तरह सभी जगह आदिम रूप मे गणतत्र मिल जायगे। हिंदुस्तानी गाव के समाज के मुकाबले मे पुराने रूसी 'मीर' होते थे। वर्ण या जात खासतौर पर धधो के मुताबिक ही है, और यही प्रथा यूरोप के मध्य-युग के व्यावसायिक सघो की रही है। चीन का मुश्तरका खानदान हिंदुस्तान के मुश्तरका खानदान से मिलता-जुलता है। मैं इन सबके बारे मे इतनी काफी जानकारी नही रखता कि इस बहस को आगे बढाऊ और न मेरे मकसद के लिए यह जरूरी ही है। सब-कुछ ले-देकर यह मानना पडेगा कि हिंदुस्तानी सगठन अपने ढग का निराला था और यह वक्त के साथ-साथ और भी निराला हो गया।

७ : गाव का स्वराज : शुक्र-नीति-सार

दसवीं सदी की एक पुरानी किताब है, जिससे तुर्की और अफगान-हमलो से पहले की हिंदुस्तान की राजनैतिक-व्यवस्था का कुछ चित्र मिलता है। यह है शुक्राचार्य का 'नीति-सार'। इसमे केंद्रीय शासन के और शहर और गाव की जिंदगी के सगठन का बयान मिलता है, साथ ही राज-सभा और बहुत-से सरकारी महकमो के भी बयान है। गाव की पचायत, या चुनी हुई प्रतिनिधि-सभा के न्याय और व्यवस्था दोनो ही के सबध मे बड़े अधिकार थे और इसके सदस्यो को राजा के अधिकारी बहुत ही आदर की नजर से देखते थे। यही पचायत जमीन की बाट करती थी और पैदावार का अंश कर के रूप मे उगाहती थी और गाव की तरफ से सरकार [illegible]

अदा किया करती थी। कई गाव-पचायतों के ऊपर एक बडी पचायत हु करती थी, जो उनकी निगरानी करती और जरूरत पडने पर उनके ।म मे दखल भी दे सकती थी।

कुछ पुराने शिलालेख हमे यह भी बताते हैं कि गाव-पचायतो के सदस किस तरह चुने जाते थे और उनमे क्या बाते गुण और दोष की समझी जात थी। अलग-अलग समितिया बनाई जाती थी, जिनके लिए सालाना चुना होते थे और जिनमे औरते हिस्सा ले सकती थी। अच्छा आचरण न कर पर कोई भी सदस्य अपने पद से हटाया जा सकता था। सार्वजनिक रुपये-पैं का ठीक-ठीक हिसाब न दे सकने पर कोई भी सदस्य अयोग्य ठहराया ज सकता था और अलग किया जा सकता था। रियायत रोकने के लिए बना गये एक दिलचस्प नियम का बयान मिलता है—सार्वजनिक पदो पर इ सदस्यो के निकट सबधियो की नियुक्ति नही हो सकती थी।

इन गाव-पचायतो को अपनी आजादी का बडा खयाल रहता थ और यह नियम बना हुआ था कि जबतक राजाज्ञा न मिली हो, कोई भी सिपाही गाव मे दाखिल नही हो सकता था। अगर किसी पदाधिकारी की शिकायत लोग करें, तो 'नीति-सार' का कहना है कि राजा को "अपने हुक्कामो की तरफदारी न करके अपनी रियाया की तरफदारी करनी चाहिए।" अगर बहुत लोग शिकायत करे, तो पदाधिकारी को बरखास्त कर देना चाहिए, "क्योकि पद के मद से कौन उन्मत्त नही हो जाता?" राजा का जनता के बहुमत के बमूजिब काम करने का कर्तव्य बताया गया था। "लोकमत राजा के मुकाबले मे ज्यादा मजबूत होता है, जिस तरह कि बहुत-से तारो की बटी हुई रस्सी शेर को भी खीच लाती है।" "पदाधिकारियो की नियुक्ति करते वक्त चरित्र और योग्यता का ध्यान रखना चाहिए—जात या घराने का नही" और "न वर्ण से और न पुरखो द्वारा ब्राह्मणत्व का भाव उत्पन्न किया जा सकता है।"

बडे कस्बो मे बहुत-से कारीगर और सौदागर बसते थे और उनके सघ या समितिया और महाजनो के सगठन हुआ करते थे। इनमे से हर एक अपने भीतरी मामलो के नियत्रण मे स्वतत्र था।

ये सब सूचनाए बहुत अधूरी हैं, लेकिन इनसे, और बहुत-से और जरियो से पता चलता है कि शहरो और गावो मे मुकामी-स्वराज की व्यापक व्यवस्था थी और जबतक उसे अपना कर का हिस्सा मिलता रहे, केंद्रीय सरकार इसमे बहुत ही कम दखल देती थी। क़ानून मे रिवाज पर बडा जोर दिया जाता था और रिवाज के जरिये कायम हको मे सियासी या फ़ौजी ताक़त

शायद ही कभी दखल देती रही हो। शुरू मे खेती की प्रथा की बुनियाद सहकारिता या सारे गाव के मिल-जुलकर काम करने पर थी। व्यक्तियो और घरानो के कुछ अधिकार थे और कुछ कर्तव्य भी थे, और दोनो की हिफाजत रिवाजी कानून के जरिये होती थी।

हिंदुस्तान मे कोई धर्मतन्त्री राजतन्त्र नही था। हिंदुस्तान की राज-पद्धति के अनुसार अगर राजा अन्यायी या अन्याचारी हो, तो उसके खिलाफ विद्रोह करने का अधिकार माना हुआ अधिकार था। दो हजार साल पहले चीनी फ़िलसूफ मेंसियस ने जो कहा था, वह हिंदुस्तान पर भी लागू होता है—"जब शासक अपनी प्रजा को घास और कूडे की तरह समझे, तब प्रजा को उसे लुटेरे और दुश्मन की तरह समझना चाहिए।" यहा राजकीय अधिकारो की सारी कल्पना यूरोप की सामती कल्पना से जुदा थी, जिसमे राजा को अपने राज्य के सब लोगो और वस्तुओ पर अधिकार हासिल था। यह अधिकार वहा राजा अपने सामतो (लार्डो और बैरनो) को दे देता था और ये लोग राज-निष्ठा की प्रतिज्ञा करते थे। इस तरह अधिकार की एक सीढी तैयार हो जाती थी। जमीन और उसमे सबध रखनेवाले लोग सामती लार्ड की, और उसके जरिये राजा की, प्रजा हो जाते थे। रोमन अधिकार (डोमिनियन) की कल्पना की यह तरक्कीशुदा शक्ल थी। हिंदुस्तान मे इस तरह की कोई चीज नही थी, राजा को जमीन मे कुछ कर उगाहने का हक था और कर उगाहने के इस हक को ही वह दूसरे को दे सकता था। हिंदुस्तान मे किसान सामन्तो का गुलाम नही होता था। जमीन की कोई कमी न थी, इसलिए किसान को बेदखल करने मे कोई फायदा भी न था। इस तरह हिंदुस्तान मे जमीदारी की वैसी प्रथा न थी, जैसी पच्छिम मे थी, न किसान व्यक्तिगत रूप से अपनी जमीन का मालिक हुआ करता था। ये दोनो ख़याल बहुत बाद मे अंग्रेजो के जरिये पेश हुए हैं और इनके भयकर नतीजे हुए है।

विदेशियो की फतहयाबी के साथ-साथ मुल्क मे लडाइया और तबाहिया आईं, विद्रोह हुए और उनका दमन हुआ और नये हाकिमो ने अपने हथियारो के जोर पर भरोसा किया। मुल्क के रिवाजी कानून की बंदिशो को वे हाकिम अकसर तोड सकते थे। इसके अहम नतीजे हुए और खुदमुख्तार गावो की आजादी मे कमी आई और बाद मे मालगुजारी की वसूलयाबी के तरीक़ो मे बहुत-सी तब्दीलिया पैदा हुईं। ताहम अफगान और मुगल हाकिमो ने इस बात का खास ध्यान रखा कि पुराने रीति-रिवाजो मे दखल न दिया जाय और कोई बुनियादी अदल-बदल न किये जाय और हिंदुस्तानी जिंदगी का समाजी और आर्थिक ढाचा पहले जैसा बना रहा। ग़यासुद्दीन तुगलक ने

अपने हुक्कामों को इस बात की खास हिदायतें दे रखी थीं कि रिवाजी कानून की हिफाजत होनी चाहिए और रियासती मामलों को मजहब से, जो जाती पसंद की चीज है, अलग रखना चाहिए। लेकिन जमाने की गर्दिश और लड़ाइयों के कारण और इस वजह से कि सरकार में केंद्रीयता बढ़ती जा रही थी, रिवाजी कानून का लिहाज कम होता गया। फिर भी गांवों की खुद-मुख्तारी बनी रही। इसका टूटना अंग्रेजी हुकूमत में जाकर शुरू हुआ।

८ : वर्ण-व्यवस्था के उसूल और अमल : सम्मिलित कुटुंब

हैवेल का कहना है कि "हिंदुस्तान में धर्म हठवाद की हैसियत नहीं रखता, बल्कि आत्मिक तरक्की और जिंदगी की मुख्तलिफ हालतों का खयाल करते हुए मानवाचार का एक चालू सिद्धांत है।" पुराने जमाने में, जब भारतीय-आर्य संस्कृति की रूप-रेखा बन रही थी, उस वक्त धर्म को ऐसे लोगों की जरूरतों का लिहाज रखना पड़ा था, जो दिमागी और आत्मिक विकास की नजर से इतने मुख्तलिफ थे, जितने कि हो सकते हैं। एक तो वन में रहनेवाले आदिम लोग थे, फिर जादू-टोने और आत्माओं में विश्वास करने-वाले और प्रतीक-पूजक लोग थे और सभी तरह के अंधविश्वासी आदमी थे, दूसरे ऐसे लोग भी थे जो आध्यात्मिक विचार की सबसे ऊंची सीढ़ियों तक पहुंच सके थे। इन दोनों छोरों के बीच विश्वास और आचार की अनेक सतहें थीं। कुछ लोग तो ऊंचे-से-ऊंचे विचारों में लगे हुए थे। लेकिन ऐसे विचार ज्यादातर लोगों की पहुंच से बाहर थे। ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन ने तरक्की की, विश्वासों में कुछ समानताएं भी पैदा हुईं, फिर भी संस्कृति और व्यक्ति-गत मिजाज के भेदों के कारण बहुत-से फर्क बाकी रह गये। भारतीय-आर्य नजरिया तो यह था कि किसी भी विश्वास को बलपूर्वक न दबाया जाय और किसी दावे को रद्द न किया जाय। हर एक वर्ग को आजादी थी कि वह अपने आदर्शों की अपनी-अपनी समझ और दिमागी सतह के अनुसार पूर्ति करने में लगे। समन्वय की कोशिशें होती थीं, लेकिन किसी विश्वास का विरोध नहीं किया जाता था, न उसे दबाया जाता था।

सामाजिक संगठन के बारे में और भी कठिन समस्या का सामना करना पड़ा था। इन बिलकुल जुदा-जुदा वर्गों को किस तरह एक सामाजिक संगठन के अंदर लाया जाय, जिसमें कि ये एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हुए अपनी-अपनी आजाद जिंदगी बसर कर सकें और अपनी तरक्की कर सकें? एक मानी में—अगरचे यह दूर का मुकाबला होगा—इस स्थिति का मुकाबला आजकल के अल्पसंख्यक लोगों की समस्याओं से किया जा सकता है, जो आज अनेक देशों में फैली हैं और जिनका हल पाना मुश्किल हो रहा है। संयुक्त

राज्य अमरीका ने अपने अल्पसख्यको के मसले का हल हर एक नागरिक को सौ फी-सदी अमरीकी स्वीकार करके किया है---वह हर एक से एक निश्चित नमूने की पाबंदी कराना चाहता है। दूसरे मुल्को मे, जिनका इतिहास ज्यादा पुराना और जटिल है, यह सुविधा मुमकिन नही है। कनाडा तक मे जो फ्रेंच वर्ग है उसे अपनी जाति, धर्म और भाषा की गहरी चेतना है। यूरोप मे रुकावट डालनेवाली दीवारें और भी ऊची और गहरी हैं। ये सब बाते यूरोपीयो पर, या उन लोगो पर, जो यूरोप मे फैले हुए हैं, लागू होती है, अगरचे उनके पीछे सस्कृति की समानता है और उनकी एक-सी भूमिका है। जहा गैर-यूरोपीय आ जाते हैं, वे इस चित्र मे ठीक-ठीक बैठ नहीं पाते। सयुक्त राज्य अमरीका मे हब्शी लोग, चाहे वे सौ फी-सदी अमरीकी हो, जाति की दृष्टि से अलग-अलग ही हैं। वे बहुत-से ऐसे अवसरो और सुविधाओ से वचित रखे जाते हैं, जो दूसरो को साधारणतया हासिल हैं। दूसरी जगहो मे इससे भी बुरी मिसालें मिलेंगी। सिर्फ सोवियत रूस ने, कहा जाता है कि अपनी अल्पसख्यको और जातियो की समस्या का हल एक अनेक जातियो का मिला-जुला राज्य क़ायम करके किया है।

अगर ये कठिनाइया और समस्याए आज भी हमारे पीछे लगी हुई हैं, जब हम इतनी तरक्क़ी कर गये हैं और हमारा ज्ञान इतना बढा हुआ है, तो उस क़दीम ज़माने में, जब भारतीय-आर्य अपनी सभ्यता और सामाजिक ढाचे का विकास एक ऐसे देश मे, जहा लोगो मे इतनी विविधता हो, कर रहे थे, ये कठिनाइया और समस्याए कितनी ज्यादा रही होगी? इन समस्याओ को दूर करने का साधारण तरीका उस वक्त और बाद के जमाने मे यह रहा है कि विजित लोगो को या तो गुलाम बना लिया जाय या उन्हे नेस्तनाबूद कर दिया जाय। हिदुस्तान मे यह तरीका नही बरता गया, लेकिन यह साफ़ ज़ाहिर है कि ऊचे वर्गवालो के पद को बनाये रखने के बारे मे पूरी सतर्कता रखी गई। इस तरह ऊचे पद को सुरक्षित करते हुए एक ऐसी राज-व्यवस्था बनाई गई कि उसमे बहुत से वर्गों का समावेश रह सके और कुछ हदो के भीतर और कुछ आम कायदो को मानते हुए एक वर्ग को अपने धधे मे लगने और अपनी इच्छा और रीति-रिवाजो के अनुसार अपनी अलग-अलग ज़िदगी बिताने का अवसर मिले। एक ही खास रुकावट रही थी, और वह यह थी कि किसी वर्ग को दूसरे वर्गों के साथ सघर्ष मे न आना चाहिए। यह एक लचीली और फैलनेवाली व्यवस्था थी, जिसमे नये वर्ग बराबर बन सकते थे और इनमें या तो नये आनेवाले लोग, या पुराने वर्गों से अलग होनेवाले शरीक हो सकते थे---अगर वे तादाद मे काफी हो। हर एक

वर्ग के भीतर बराबरी और लोकतंत्र के सिद्धांत बरते जाते थे—और उनके चुने नेता वर्ग का नियंत्रण करते थे और जब खास सवाल उठते थे, तो सारे वर्ग के लोगों से मशविरा किया जाता था।

ये वर्ग प्रायः हमेशा धंधों के आधार पर बने होते थे, हर एक अपने खास हुनर या व्यवसाय में विशेषता रखनेवाला होता था। इस तरह से वे एक प्रकार के व्यवसाय-संघ या शिल्प-संघ का रूप ले लेते थे। हर एक वर्ग में एके का भाव प्रबल होता था और यह भाव न केवल वर्ग की औरों के मुकाबले में रक्षा करता था, बल्कि आपस में अगर कोई व्यक्ति संकट में हो या आर्थिक तंगी में हो, तो उसकी सहायता के लिए बिरादरीवालों को उकसाता था। हर एक जात या वर्ग के लोगों के धंधों का ताल्लुक दूसरे वर्ग या जात के लोगों के धंधों से लगा हुआ था और ऐसा खयाल किया जाता था कि अगर हर एक वर्ग अपने-अपने धंधे को पूरी तरह अंजाम देता रहे, तो सारे समाज का काम सहूलियत से चलता रहेगा। इन सब बातों में ऊपर इसकी जोरदार और काफी कामयाब कोशिश रही है कि एक आम कौमी रिश्ता पैदा किया जाय, जो मुख्तलिफ गिरोहों को मिला-जुला रख सके—मिली-जुली संस्कृति और मिली-जुली परंपरा का भाव उपजाया गया था, नेता और संत सबके आम होते थे और जिनका यह भाव भी था कि सबका एक ही मुल्क है, जिसके चारों कोनों पर सभी लोग तीर्थ-यात्रा के लिए पहुंचा करते थे। उस जमाने का कौमी लगाव आजकल की राष्ट्रीयता से बहुत ज्यादा था, सियासी लिहाज से वह कमजोर था, लेकिन सामाजिक और सांस्कृतिक लिहाज से यह मजबूत था। चूंकि राजनैतिक संगठन की कमजोरी थी, इसलिए विदेशियों की विजय हो सकी, चूंकि सामाजिक संगठन मजबूत था, इसलिए लोग फिर उठ खड़े होते थे और नये आनेवाले को अपने में जज्ब कर लेते थे। यह संगठन इतने सिरोंवाला था कि सबको काटा नहीं जा सकता था और विजय और तबाहियों के बावजूद बहुत-से सिर जिंदा रहते थे।

वर्ण-व्यवस्था, सेवाओं और धंधों की बुनियाद पर बनी हुई एक वर्ग-व्यवस्था थी। समान नियम लागू किये बगैर और हर एक वर्ग को पूरी आजादी देते हुए इसका मकसद सभी वर्गों को एक व्यवस्था के अंदर ले आना था। इसके विस्तृत दायरे के भीतर एक पत्नी रखने, एक से ज्यादा पत्नी रखने और ब्रह्मचर्य की, सभी प्रथाएं थीं, जिस तरह और रीति-रिवाजों, विश्वासों और आचारों के साथ रवादारी बरती जाती थी, उसी तरह इन सबसे रवादारी बरती जाती थी। हर एक सतह पर जिंदगी कायम रखी गई थी। किसी भी अल्पसंख्यक दल को बहुसंख्यक दल की अधीनता कुबूल करने

की ज़रूरत न थी। शर्त यही थी कि लोग इतने काफी हो जाय कि उनका एक खास वर्ग कहला सके और वह वर्ग की हैसियत से कायम रह सके। दो वर्गों के बीच जाति, धर्म, रग, सस्कृति और मानसिक विकास के अपार भेद हो सकते थे।

व्यक्ति का खयाल एक वर्ग के सदस्य के रूप मे ही किया जाता था, अगर वह वर्ग के अस्तित्त्व मे बाधक नही है, तो जो चाहे वह करने के लिए आज़ाद था। उसे अपने वर्ग के धधे मे बाधा डालने का कोई हक नहीं था। हा, अगर वह इतना मज़बूत हो और इतने साथी इकट्ठा कर सके कि उसका एक अलग वर्ग बन सके, तो वह एक नया वर्ग खुशी से कायम कर सकता था। अगर वह किसी वर्ग मे बैठ नही सकता, तो इसके यह मानी होते कि जहातक दुनिया के सामाजिक व्यवहार है, वह उनके काबिल नही। ऐसी हालत मे वह सन्यासी हो सकता था और वर्ण को, हर एक वर्ग को और कार्य-क्षेत्र को छोड सकता था और घूमता-फिरता रहकर जो चाहे कर सकता था।

यह याद रखना चाहिए कि जहा हिंदुस्तानी सामाजिक प्रवृत्ति यह थी कि व्यक्ति के मुक़ाबले मे वर्ग या समाज के दावे को ऊचा समझा जाय, वहा धार्मिक विचार और आध्यात्मिक खोज के मामलो मे व्यक्ति की आज़ादी पर ज़ोर दिया गया है। मुक्ति और ब्रह्म-ज्ञान के दरवाज़े सबके लिए खुले थे—हर वर्ग के लिए, चाहे वह ऊचा हो, चाहे नीचा। यह मुक्ति या ज्ञान वर्ग के लिए नही हो सकते थे, बल्कि पूरी तौर पर व्यक्ति के लिए होते, इस मुक्ति की खोज के बारे मे कोई हठवादी नियम नही थे और समझा यह जाता था कि सभी मार्गों से इस तक पहुचा जा सकता है।

अगरचे समाज के सगठन मे वर्ग-व्यवस्था को प्रधानता दी गई थी, जिससे जात-पात ज़ोर पकडते थे, फिर भी हिंदुस्तान मे सदा से एक व्यक्तिवादी रुझान रहा है। दोनो नज़रियो के बीच अकसर आपस का सघर्ष भी देखने मे आता है। कुछ हद तक यह व्यक्तिवाद धर्म के उसूलो का, जो व्यक्ति पर ज़ोर देता, नतीजा होता। समाज-सुधारक लोग, जो वर्ण-व्यवस्था की आलोचना करते या उसकी निंदा करते, आमतौर पर धार्मिक-सुधारक हुआ करते और उनकी खास दलील यह होती कि वर्णों के भेद आत्मिक उन्नति और उस गहरे व्यक्तिवाद के रास्ते मे बाधक होते हैं, जिसकी ओर धर्म का सकेत है। इस वर्ण-वर्ण के आदर्श से हटकर एक तरह के व्यक्तिवाद और साथ ही सार्वभौमिकता की ओर बौद्ध-धर्म का रुझान हुआ। लेकिन इस व्यक्तिवाद ने साधारण सामाजिक धधो से खिचाव का रूप ले लिया। वर्ण-व्यवस्था की जगह लेनेवाले किसी दूसरे सामाजिक ढाचे को यह पेश न

कर सका, इसीसे उस वक्त और बाद मे भी वर्ण-व्यवस्था चलती रही।

खास-खास वर्ण कौन थे ? अगर हम क्षण-भर के लिए उन लोगो को छोड दे, जिन्हे वर्ण से बाहर समझा जाता था, यानी अछूतो को, तो फिर ब्राह्मण थे, जो पुरोहित, गुरु और विचारक होते थे, क्षत्रिय, जो शासक और युद्ध करनेवाले लोग थे, वैश्य सौदागरी, तिजारत, महाजनी वग़ैरह करते थे, और शूद्र थे, जो किसानी और दूसरे काम किया करते थे। इन सब मे शायद एक ही वर्ण खूब सगठित और अलग-थलग रहनेवाला था, यानी ब्राह्मणो का। क्षत्रिय अपने वर्ग मे विदेशो से आनेवाले लोगों और मुल्क मे ताकत और पद हासिल कर लेनेवाले लोगो, दोनो के ही आदमियो को लेकर अपनी तादाद बढाते रहते थे। वैश्य लोग खासतौर पर तिजारत और महाजनी करते थे और कुछ और पेशो मे भी थे। खेती-बाडी और घरेलू नौकरी-चाकरी शूद्रो के खास धधे थे। ज्यो-ज्यो नये धधे निकलते थे या दूसरे कारणो से नई जातो के बनने का सिलसिला बराबर जारी रहता था, त्यों-त्यों पुरानी जातो का दर्जा समाज के भीतर तरक्की करता जाता था। यह सिलसिला हमारे ज़माने तक चला आया है। कभी-कभी नीची जातवाले जनेऊ पहन लेने लग जाते है, जो सिर्फ ऊची जातवालो के लिए ही बना समझा जाता है। इन सब बातों से ज्यादा फर्क न पैदा होता, क्योकि जात का एक दायरा मुकर्रिर था और हर जात का धधा या पेशा अलग होता। यह सिर्फ़ इज्ज़त का सवाल हुआ करता। कभी-कभी नीचे वर्गों के लोग अपनी योग्यता के कारण राज्य मे ऊचे ओहदो तक तरक्की करके पहुच जाते थे, लेकिन ऐसा होता बहुत कम था।

समाज का सगठन ऐसा था, जिसमे साधारण तरीक़े पर धन बटोरने पर ज्यादा ज़ोर न दिया जाता था, न आपस मे ज्यादा होड होती थी, इसलिए उसके जातो मे इस तौर पर बटने से उतना फर्क़ न पैदा होता था, जितना थी होता। ब्राह्मणो को, जो सबसे ऊपर थे, अपनी विद्या और बुद्धि का गुमान था और दूसरे उनकी इज्ज़त किया करते थे, दुनिया की धन-दौलत उनके पास बहुत कम हो पाती थी। व्यापार करनेवाले अमीर और समृद्ध ज़रूर होते थे, लेकिन कुल मिलाकर समाज मे उनका बहुत बडा रुतबा न था।

बाशिदो की ज़्यादा तादाद किसानो की थी। न तो ज़मींदारी की प्रथा थी, न ज़मीन पर किसानो की ही मिल्कियत थी। यह कहना मुश्किल है कि कानून से ज़मीन का मालिक कौन था, आजकल का जैसा मिल्कियत का-सा सिद्धात न था। किसान को अपनी ज़मीन पर खेती करने का अख्तियार था और जो असल सवाल था, वह यह था कि पैदावार का बटवारा कैसे हो।

पैदावार का ज्यादा हिस्सा किसान के पास जाता, राजा का या राज का भी हिस्सा होता (आमतौर पर छठा हिस्सा) और गाव के हर एक दूसरे पेशे-वाले का हिस्सा लगता—जैसे, ब्राह्मण पुरोहित का, पढानेवाले गुरु का, व्यापारी का, लोहार का, वढई का, चमार का, कुम्हार, थवई, नाई, मेहतर वगैरह का। इस तरह राज्य से लेकर मेहतर तक, सभी का पैदावार मे हिस्सा हुआ करता था।

दलित जाति के और अछूत लोग कौन होते थे? 'दलित जाति' एक नया नामकरण है और एक अस्पष्ट ढग से समाज के बिलकुल नीचे के तल की कुछ जातो पर लागू होता है। इनके और औरो के बीच कोई निश्चित विभाजक-रेखा नही है। उत्तरी हिंदुस्तान मे बहुत थोडे-से लोग, जो भगी या मेहतर का काम करते हैं, अछूत समझे जाते है। दक्खिन हिंदुस्तान मे इनकी गिनती कही बडी है। इनकी शुरुआत कैसे हुई और गिनती मे ये इतने बढ कैसे गये, यह बता सकना बडा कठिन है। शायद वे लोग, जो गदे समझे जानेवाले पेशो मे लगे थे, पहले ऐसे समझे जाते थे और बाद मे उनके साथ ऐसे किसानी करनेवाले मजदूर जुड गये, जिनकी अपनी ज़मीन न थी।

हिंदुओ मे आचार की शुद्धता का बेहद कडा विचार रहा है। इसका एक अच्छा नतीजा रहा और बहुत-से बुरे नतीजे भी हुए। अच्छा नतीजा तो जिस्म की सफाई थी। रोज़ का नहाना हिंदुओ की जिंदगी का एक खास अग रहा है, इसमे ज्यादातर दलित-वर्ग भी शरीक है। हिंदुस्तान से ही यह आदत इंग्लिस्तान और दूसरी जगहो मे फैली। साधारण हिंदू और गरीब-से-गरीब किसान को अपने बरतनो को साफ और चमकता हुआ रखने मे गर्व का अनुभव होता है। सफाई का यह विचार वैज्ञानिक न समझना चाहिए, क्योंकि वही आदमी, जो दिन मे दो बार स्नान करेगा, बिना सकोच के ऐसा पानी पी लेगा, जो कि साफ नही है और जिसमे कीटाणु भरे पडे हैं। न यह विचार सामूहिक है—कम-से-कम यह अब नही रहा है। वही शख्स, जो अपने झोपडे मे काफ़ी सफाई रखेगा, सारा कूडा-करकट गाव की गलियो मे या अपने पड़ोसी के घर के आगे डाल देगा। गाव आमतौर पर बडे गदे होते हैं और जगह-जगह कूडा-करकट के ढेर लगे हुए मिलते हैं। यह भी देखने मे आयेगा कि सफाई का खुद कोई खयाल नही पैदा होता, बल्कि इसलिए उसका खयाल किया जाता है कि इसे धर्म की आज्ञा का रूप दिया गया है। जहा यह धर्म की आज्ञा का खयाल नही, वहा सफाई का दर्जा नुमाया तौर पर गिरा हुआ होता है।

आचार-विचार सबधी शुद्धता का बुरा नतीजा यह हुआ कि अलग रहने की प्रवृत्ति और छूत-छात ने तरक्की की और ग़ैर-बिरादरीवालो के

साथ बैठकर खाना-पीना मना किया गया और यह बात इतनी बढी कि दुनिया-भर मे ऐसी मिसाल और कही नही मिलती। इसका नतीजा यह भी हुआ कि कुछ खास जातवाले इसलिए अछूत समझे जाने लगे कि उन्हे ऐसे जरूरी धधो मे लगना पडता था, जो गदे समझे जाते है। आमतौर पर अपने ही जातवालो के साथ खाने का रिवाज सभी जातो मे फैला। यह समाज मे एक खास पद का निशान बन गया और ऊची जातो के मुकाबले मे नीची जातवाले ज्यादा कट्टरपन के साथ इसे बरतते। यह रिवाज ऊची जातवालो के यहा से उठ रहा है। लेकिन नीची जातवालो मे, जिनमे दलित जातिया भी हैं, यह अब भी चल रहा है।

जब आपस मे खाने-पीने की इतनी मनाही रही, तो मुख्तलिफ जातवालो के बीच शादी-ब्याह के बारे मे क्या कहना है! कुछ मिली-जुली शादियो का होना तो लाजिमी था, लेकिन सब-कुछ लेकर यह बडे हैरत की बात है कि हर एक जात ने अपनी ही हद के अदर शादी-ब्याह कायम रखा। जमाने के लबे दौर मे जातियो की विशुद्धता बनी रह सके, यह एक महज खयाल है, फिर भी हिंदुस्तान की वर्ण-व्यवस्था ने कुछ हदतक, खासतौर पर ऊची जातो मे, खास नमूने कायम रखने मे मदद दी है।

नीचे के स्तर के कुछ वर्गों के बारे मे कभी-कभी कहा जाता है कि ये जात से बाहर के हैं। दरअसल कोई भी वर्ग, यहातक कि अछूत लोग भी वर्ण-व्यवस्था के चौखटे के बाहर नही है। दलित-वर्ग और अछूत लोगो की अपनी अलग जातें है, उनकी पचायतें अलग हैं, जो उनकी बिरादरी के लोगो की हैं और उनके आपस के मामलो को तय करती रहती हैं। लेकिन इनमे से बहुतो को गाव की आम जिंदगी से बाहर करके बेरहमी से सताया गया है।

इस तरह पुराने हिंदुस्तानी सामाजिक सगठन की दो खास बातें थी, एक खुदमुख्तार गावो का होना, और दूसरी वर्ण-व्यवस्था। तीसरी बात थी मिले-जुले खानदान की प्रथा, जिसके सभी लोग आम जायदाद के मिले-जुले हिस्सेदार होते थे और जो बच रहते थे, वे सभी रियासत के मालिक होते थे। बाप या कोई और बुजुर्ग खानदान का कर्त्ता हुआ करता था, लेकिन उसका काम प्रबधकर्ता का होता था। कदीम रोम मे 'पैटर फेमिलियस' की जो हैसियत होती थी, वह उसकी न थी। किन्ही हालतो मे अगर फरीक चाहे, तो जायदाद का बटवारा हो सकता था। इस मिली-जुली जायदाद मे खानदान के सभी लोगो का हिस्सा समझा जाता था—चाहे वे कमाते हो, चाहे न कमाते हो। लाजिमी तौर पर इसके ये मानी होते कि सभी को थोडा-

थोडा निश्चित रूप से मिल जाता और कुछ को बहुत ज्यादा हिस्सा मिले, ऐसा न होता था। यह एक किस्म का बीमा था, जिससे वे लोग भी फायदा उठा लेते थे, जो शरीर से अपग होते या जिनके दिमाग मे फर्क होता। इस तरह पर जहा एक तरफ सबके गुज़र-बसर का इतजाम हो जाता था, वहा चूकि काम करने की पाबदी न थी, इसलिए काम भी ढीले तरीके पर होता और उसका मुआवजा भी थोडा ही हो पाता। शख्सी फायदे या हौसले पर ज़ोर न दिया जाता, बल्कि इस बात पर कि वर्ग और खानदान का क्या नफा है। एक बडे कुटुब मे पलने और रहने का बच्चे पर यह असर होता कि अपने को बडा समझने का ख्याल नरम पड जाता और उसमे समाजी हमदर्दी की रुझान पैदा हो जाती।

ये सब बाते उनके बिलकुल बर-अक्स है, जो घोर व्यक्तिवादी पच्छिमी सभ्यता मे और खासतौर पर अमरीका मे होता है, जहा शख्सी हौसले को बढावा दिया जाता है और जाती नफा एक आम मकसद मान लिया गया है, और जहा तेज-तपाक और दूसरो को धक्का देकर आगे बढनेवालो के लिए सभी नफे है और कमजोरो और शर्मीऊ लोगो या बोदो के गुज़र की गुजाइश नही। हिदुस्तान मे मिले-जुले कुटुब का रिवाज तेजी से टूट रहा है और शख्सी नज़रिये पैदा हो रहे है और इसका नतीजा यह हो रहा है कि न महज़ ज़िदगी की आर्थिक पृष्ठभूमि मे तब्दीलिया हो रही है, बल्कि आपस के व्यवहार के सिलसिले मे नये मसले खडे हो रहे है।

इस तरह, हिदुस्तानी समाजी ढाचे के तीनो खभो की बुनियाद वर्ग के ऊपर कायम थी, न कि व्यक्ति पर। मकसद यह था कि वर्ग मे, यानी समाज मे, पायदारी आये, उसकी हिफाजत हो सके और वह जारी रह सके। तरक्की का मकसद न था, इसलिए तरक्की मे रुकावट आती। हर एक वर्ग के भीतर, चाहे वह गाव हो, चाहे कोई जात या बडा खानदान हो, लोग एक आम ज़िदगी मे हिस्सा लेते थे, आपस मे बराबरी की हैसियत रखते थे और लोकतत्री तरीके बरते जाते थे। आज भी जातो की पचायतें लोकतत्री ढग पर चलती हैं। एक वक्त मुझे यह देखकर ताज्जुब हुआ कि देहातियो मे, जिनमे अकसर अनपढ भी थे, चुनाववाली राजनैतिक और दूसरी समितियो मे आने की उत्सुकता थी। वह इनके तरीको से जल्द वाकिफ हो जाते थे और जब कभी उनकी ज़िदगी से ताल्लुक रखनेवाले मसले पेश होते, तो वे मुफीद मेबर साबित होते और उन्हे दबाना आसान न होता। लेकिन छोटे-छोटे वर्गों मे बदकिस्मती से फूट और आपस मे झगडा करने की प्रवृत्ति देखी गई है।

लोकतत्री तरीके से लोग अच्छी तरह वाकिफ ही न थे, वल्कि उसे समाजी जिंदगी मे, मुकामी हुकूमत मे, पेशेवरो के सघो मे, धार्मिक जमातो वगैरह मे आमतौर पर वरतते थे। वर्ण-व्यवस्था की और जो भी बुराइया हो, उसने हर एक वर्ग के भीतर यह लोकतत्री ढग कायम रखा। कार्य-सचालन, चुनाव और बहस के लवे नियम होते थे। शुरू-शुरू की बौद्ध-सभाओ के बारे मे लिखते हुए मार्क्विस ऑव जेटलैंड ने कहा है—"बहुतो को यह जानकर ताज्जुब होगा कि हिंदुस्तान मे, दो हजार या इससे भी ज्यादा साल पहले, बौद्धो की सभाओ मे हमारी अपनी आजकल की पार्लमेंट के दस्तूर-अमल मिलते हैं। सभा के गौरव का निवाह करने की खातिर एक खास पदाधिकारी मुकर्रिर किया जाता था—यह हाउस ऑव कामन्स के 'मिस्टर स्पीकर' का पूर्व रूप था। एक और पदाधिकारी इसलिए मुकर्रिर होता था कि जब जरूरत हो, एक निश्चित 'कोरम' का प्रवन्ध करे—यह हमारी व्यवस्था के 'पार्लमेंटरी चीफ ह्विप' के जवाब का पदाधिकारी होता था। सदस्य लोग कोई भी विषय पेश करने के लिए प्रस्ताव ले आते थे, फिर इस पर बहस होती थी। कुछ हालतो मे एक ही वार बहस का होना काफी होता था, दूसरी हालतो मे इसका तीन वार होना लाजिमी होता, यह पार्लमेंट के इस दस्तूर की पेशवदी थी कि किसी भी बिल को क़ानून के रूप में आने से पहले उसे पार्लमेंट के सामने तीन बार पढा जाना चाहिए। अगर विचारणीय विषय पर मतभेद होता, तो उसे बहुमत से तय किया जाता और 'बैलेट' या गुप्त पर्ची के जरिये मत पडते थे।"[1]

इस तरह हिंदुस्तान के पुराने सामाजिक ढाचे मे कुछ गुण थे, और दर-असल ये गुण न रहे होते, तो वह इतने दिनो तक कायम न रह पाता। इसके पीछे हिंदुस्तानी सस्कृति का फिलसफियाना आदर्श था—इन्सानी एकता का और इसमे धन-दौलत हासिल करने पर नही, बल्कि भलाई, सौंदर्य और सचाई पर जोर दिया गया था। इस बात की कोशिश की गई थी कि इज्जत, ताक़त और दौलत एक ही जगह न इकट्ठा हो। व्यक्ति और वर्ग के कर्तव्यो पर जोर दिया गया था, अधिकार पर नही। स्मृतियो मे अलग-अलग वर्णों के धर्मों, कर्तव्यो का बयान किया गया है, इनमे से किसीमे उनके अधिकारो की सूची नही दी गई है। मकसद यह होता था कि वर्ग के भीतर, खासतौर पर गावो मे, और एक दूसरे ही मानी मे जात के भीतर भी, ऐसी हालत रहे कि उसे बाहर की मदद की जरूरत न हो, वह अपने मे पूर्ण हो। यह एक बंधी

[1] प्रोफेसर रालिन्सन की पुस्तक 'दि लिगेसी ऑव इडिया' (१९३७) मे पृष्ठ ११ (भूमिका) पर उद्धृत।

हुई व्यवस्था थी, जिसमे अपने चौखटे के भीतर तो तब्दीली की, आज़ादी की, और अपने को ठीक-ठाक बिठा लेने की गुजाइश थी, लेकिन जो लाज़िमी तौर पर बराबर ज्यादा अलग-थलग और सख्त पाबदियो की तरफ ले जानेवाली थी। रफ्ता-रफ्ता इसमे फैलने की और नये गुणो को ग्रहण करने की ताकत जाती रही। मजबूत निहित स्वार्थों ने बडी तब्दीलियो को और शिक्षा को फैलने से रोक रखा। पुराने अधविश्वास, जिन्हे ऊपर के वर्ग के लोग अध-विश्वास समझते थे, कायम रहे और उनमे नये जुडते गये। कौमी अर्थतत्र ही नही बध गया, बल्कि विचार भी स्थिर हो गया, वह पुरानी लकीर का पाबद, सख्त, न फैलनेवाला और न तरक्की करनेवाला हो गया।

वर्णो की कल्पना और अमल मे बडप्पन के आदर्श ने जगह कर ली थी और जाहिर है कि यह लोकतत्री विचारो के खिलाफ पडता था। इसे अपने उदार कर्तव्यो का खूब एहसास था, लेकिन शर्त यह थी कि लोग स्थापित व्यवस्था को चुनौती न दें और अपनी-अपनी पैतृक जगहो पर कायम रहे। हिंदुस्तान के कारनामे और उसकी कामयाबिया बहुत करके ऊचे वर्ग के लोगो तक महदूद थी, नीचे स्तर के लोगो को बहुत कम मौके हासिल थे और उनकी तरक्की पर सख्त पाबदिया लगी थी। ये ऊचे वर्ग के लोग छोटे-छोटे सीमित गिरोहो मे बटे हुए नही थे, वे बडे-बडे थे और ताकत, अधिकार और प्रभाव उनमे खूब था। इसलिए वे कामयाबी के साथ एक लबे ज़माने तक इस तरह बने चले आये। लेकिन वर्ण-व्यवस्था और हिंदुस्तानी सामाजिक सगठन की जिस कमज़ोरी और कमी पर बात जाकर टूटती थी, वह यह थी कि इसने बहुत बडी जनता को गिराये रखा और उसे उठने, शिक्षा, सस्कृति और धन-दौलत के मामले मे तरक्की करने का मौक़ा न दिया। इस पस्ती की वजह से सभी तरफ तनज्जुली फैली और इसके असर से ऊचे वर्ग के लोग भी न बच पाये। इससे वह सङाध पैदा हुई, जो हिंदुस्तान की जिंदगी और अर्थ-तत्र पर अपना असर बनाये रही। समाज के इस ढाचे मे और उस ज़माने के दुनिया के और हिस्सो के ढाचो मे ज्यादा फर्क न था, लेकिन पिछली कुछ पीढियो मे दुनिया मैं जो तब्दीलिया हुई हैं, उनकी वजह से यह फर्क बहुत नुमाया हो गया है। आज के समाज मे वर्ण-व्यवस्था और उसके साथ लगी हुई बहुत-सी चीज़ें बेमानी, रुकावट डालनेवाली, प्रतिक्रिया पैदा करनेवाली और तरक्की मे बाधक हैं। इसके चौखटे के भीतर अब बराबरी नही कायम रह सकती, न तरक्की के मौके मिल सकते हैं, न इसमे राजनैतिक लोकतत्र की गुजाइश है और आर्थिक लोक-तत्र की तो उससे भी कम है। इन दो विचारो के बीच सघर्ष छिडा हुआ है और इनमे से सिर्फ एक ज़िदा रह सकता है।

९ : बाबर और अकबर : हिंदुस्तानी बनने का सिलसिला

अब फिर पीछे वापस चलिये। अफगान लोग हिंदुस्तान मे बस गये थे और हिंदुस्तानी बन गये थे। उनके हाकिमो के सामने पहले यह सवाल था कि लोगो के विरोध को किस तरह कम किया जाय, फिर उनको अपने पक्ष मे कैसे किया जाय। इसलिए उनकी निश्चित नीति यह रही कि अपने शुरू के निर्दय ढग को नरम किया जाय और उन्होने बाहरी विजेताओ की हैसियत से नही, बल्कि हिंदुस्तान मे जन्मे और पले हुए लोगो की हैसियत से हुकूमत करने की कोशिश की। जो बात शुरू-शुरू मे नीति के ढग पर बरती गई, वह ज्यो-ज्यो इन पच्छिमोत्तरी लोगो पर हिंदुस्तान के वातावरण का असर पडा और उसने इन्हे जज्ब किया, त्यो-त्यो एक लाज़िमी प्रवृत्ति बनती गई। ऊपर से तो यह सिलसिला चलता ही रहा, जनता मे भी खुद-ब-खुद ऐसे ज़बरदस्त सोते फूट निकले, जिनका मकसद विचारो और रहन-सहन के ढग मे एक समन्वय पैदा करना था। एक मिली-जुली सस्कृति ज़ाहिर होने लग गई और ऐसी बुनियाद पड गई, जिस पर अकबर ने बाद मे इमारत खडी की।

अकबर हिंदुस्तान के मुगल खानदान का तीसरा बादशाह था, फिर भी दरअसल इसीने सल्तनत की बुनियाद पक्की की। उसके बाबा बाबर ने १५२६ मे दिल्ली के तख्त पर कब्ज़ा किया था, लेकिन वह हिंदुस्तान के लिए परदेसी था और बराबर अपने को परदेसी समझता रहा। वह उत्तर से, एक ऐसी जगह से आया था, जहा उसने अपने मध्य एशियाई देश मे तैमूरियो की नई जागृति देखी थी और जहा ईरान की कला और सस्कृति का गहरा असर पडा था। अपने साथी-सगियो से मिलने की, वहा की सोहबतो की और ज़िंदगी की उन आसाइशो की, जो बगदाद और ईरान से वहा फैली थी, उसे बराबर चाह बनी रही। उन उत्तरी पर्वत-प्रदेशो के बर्फिस्तान की और फरगाना के अच्छे गोश्त और फल-फूलो की उसे गहरी ख्वाहिश होती थी। जो कुछ उसने यहा देखा, उससे चाहे जैसी मायूसी उसे हुई हो, वह कहता है कि हिंदुस्तान एक बहुत ही बढिया मुल्क है। हिंदुस्तान मे आने के चार साल बाद बाबर मर गया और उसका बहुत-सा वक्त लडाई मे और आगरा की राजधानी को सजाने मे बीता और इस काम के लिए उसने कुस्तुतुनिया के एक मशहूर मेमार को बुलाया और काम पर लगाया था। कुस्तुतुनिया मे यह सुलेमान का आलीशान ज़माना था और उस शहर मे शानदार इमारतें खडी हो रही थी।

बाबर ने हिंदुस्तान बहुत कम देखा और चूकि वह चारो तरफ से विरोधी

लोगो से घिरा हुआ था, इसलिए बहुत-कुछ चीजें उसके देखने से रह गईं। लेकिन उसके बयान से इस बात का पता चलता है कि उत्तरी हिंदुस्तान का बहुत-कुछ सास्कृतिक ह्रास हो चुका था। कुछ तो इसकी वजह थी तैमूर का किया हुआ विध्वस, कुछ यह कि बहुत-से विद्वान और कलाकार और मशहूर कारीगर दक्खिन हिंदुस्तान मे चले गये थे। बाबर का कहना है कि होशियार काम करनेवालो और कारीगरो की कमी न थी, लेकिन कारीगरी मे ईजाद का कौशल न रह गया था। यह भी जान पडता है कि जिंदगी की आमाइशो और आराम की चीजो मे हिंदुस्तान ईरान के मुकाबले मे बहुत पिछडा हुआ था। मैं नही कह सकता कि इसकी वजह क्या था, यह कि हिंदुस्तानी दिमाग जिंदगी के इस पहलू की ओर से लापरवाह था, या यह कि बाद मे कुछ ऐसी घटनाए घटी, जिनका यह नतीजा हुआ। शायद ईरानियो के मुकाबले मे उन दिनो हिंदुस्तानी ऐशो-आराम और आसाइशो की तरफ इतना नही खिचते थे। अगर इन्हे इन चीजो की काफी परवाह होती, तो आसानी मे वे इन्हे ईरान से हासिल कर सकते थे, क्योंकि दोनो मुल्को के बीच अकसर आना-जाना लगा रहता था। लेकिन ज्यादा सभव यह है कि यह सूरत बाद मे पैदा हुई और यह हिंदुस्तान के ह्रास और सास्कृतिक कट्टरपन का एक और चिह्न था। पहले के जमानो मे, जैसाकि सस्कृत-काल के साहित्य और चित्रो से पता लगता है, लोगो की रुचि के परिमार्जन मे कमी न थी और उन जमानो को देखते हुए रहन-सहन का मान बहुत ऊचा और आडबरवाला था। उस वक्त भी, जब बाबर हिंदुस्तान मे आया, दक्खिन के विजयनगर के बारे मे बहुत-से यूरोपीय यात्रियो ने बयान किया है कि कला, सस्कृति, सुरुचि और ऐशो-आराम का यहा का दर्जा बहुत ऊचा था।

लेकिन उत्तरी हिंदुस्तान मे सास्कृतिक ह्रास बहुत नुमाया है। बधे-तुले विश्वासो और एक कट्टर सामाजिक सगठन ने समाजी कोशिशो और तरक्की मे रुकावट डाली। इस्लाम के और बाहर के बहुत-से लोगो के, जिनके रहन-सहन जुदा थे, आने से इन विश्वासो और इस सगठन पर असर पडा। विदेशी की विजय के और जो कुछ बुरे नतीजे हो, उससे एक फायदा होता है—यह लोगो के मानसिक क्षितिज को विस्तृत कर देता है और उन्हे इस बात के लिए मजबूर करता है कि वे अपनी घरौंदो से बाहर निकले। वे इस बात का अनुभव करने लगते हैं कि जैसा उन्होने समझ रखा था, दुनिया उससे कही बडी और विविध है। अफगानो की विजय का भी यही असर पडा था और उसकी वजह से बहुत-सी तब्दीलिया हुई थी। मुगलो की विजय का इससे भी ज्यादा असर पडा, क्योंकि ये लोग अफगानो से

कही ज्यादा तहजीव-याफ्ता थे और रहन-सहन के तरीको मे आगे वढे हुए थे। और भी तब्दीलिया हुईं। खासतौर पर उन्होंने वे आसाइशें पेश की, जिनके लिए कि ईरान मशहूर था। यहातक कि वहा की दरबारी जिंदगी के वहुत वने-चुने शिष्टाचार भी यहा आये। दक्खिन की वहमनी रियासत का कलिकट के जरिये ईरान से सीधा सपर्क था।

हिंदुस्तान मे वहुत-सी तब्दीलिया हुईं और कला और इमारतो और दूसरी सास्कृतिक दिशाओ मे नई प्रेरणाए देखने मे आईं। लेकिन यह सब इस वात का नतीजा था कि पुरानी दुनिया की ऐसी दो शैलियो का आपस मे सपर्क हुआ, जो अपनी उठान के दिनो की जीवनी-शक्ति और रचनात्मक शक्ति खो चुकी थी और जो कट्टरपन के चौखटो मे घिरी हुई थी। हिंदुस्तानी सस्कृति वहुत कदीम और थकी हुई थी, अरव-ईरान की मिली-जुली सस्कृति की दुपहरी भी कव की ढल चुकी थी और उसका पुराना कौतूहल का भाव और मानसिक साहस, जिसके लिए अरववाले मशहूर थे, अव न दिखते थे।

वावर की शख्सियत दिलकश है, वह नई जागृति की ठीक-ठीक नुमाइदगी करनेवाला शहजादा है, जो साहसी और वहादुर है, और कला, साहित्य और रहन-सहन का प्रेमी है। उसके पोते अकवर मे और भी आकर्षण है और गुणो मे भी वह उससे कही वढकर है। योग्य सेनापति की हैसियत से वह साहसी और दिलेर है, फिर भी उसमे वडी दया और कोमलता भी है, वह आदर्शवादी और सपनो का देखनेवाला है, फिर भी वह कार्य-क्षेत्र का आदमी है, लोगो का ऐसा नेता है कि अपने अनुयायियो मे गहरी स्वामिभक्ति उकसा सके। योद्धा की हैसियत से उसने हिंदुस्तान के वडे हिस्सो पर फतह हासिल की, लेकिन उसकी निगाहे एक दूसरी ही तरह की विजय पर लगी हुई थी, वह लोगो के दिलो और दिमागो पर फतह हासिल करना चाहता था। उसकी इन मजबूत कर देनेवाली आखो मे, जैसाकि उसके दरवार के एक पुर्तगाली जेसुइट ने हमे वताया है, "धूप मे दमकते हुए समुदर" की-सी झलक थी। अखड हिंदुस्तान के पुराने स्वप्न ने उसमे नया रूप ग्रहण किया, और यह एकता महज सियासी एकता न थी, वल्कि ऐसी थी कि सव लोगो को एक चेतना मे ढालनेवाली थी। सन १५५६ से लेकर, अपने राज्य-काल के करीब पचास साल तक उसने बराबर यही कोशिश की। वहुत-से राजपूत सरदारो को, जो किसी तरह दूसरे के काबू मे आनेवाले न थे, उसने अपनी तरफ मिला लिया। उसने एक राजपूत राजकुमारी से व्याह किया और इस तरह उसका वेटा जहागीर आधा

मुगल और आधा राजपूत हिंदू था। जहागीर का वेटा शाहजहा भी एक राजपूत माता की कोख से पैदा हुआ था। इस तरह यह तुर्क-मगोल वश तुर्क या मगोल होने की वनिस्वत कही ज्यादा हिंदुस्तानी था। अकवर राजपूतो का वडा प्रशसक था और उनसे अपना सबध मानता था, और अपनी ब्याह-सवधी और दूसरी नीति से उसने राजपूत राजाओ से दोस्ती पैदा कर ली थी, उसकी वजह से उसकी सल्तनत मे वडी पायदारी आई। मुगलो और राजपूतो के इस सहयोग ने, जो वाद के शहशाहो के जमाने मे भी बना रहा, न महज सरकारी हुकूमत और फौज पर असर डाला, बल्कि कला, सस्कृति और रहने के तरीको पर भी। मुगल अमीर रफ्ता-रफ्ता और भी ज्यादा हिंदुस्तानी होते गये और राजपूतो पर ईरानी सस्कृति का असर पडा।

अकबर ने बहुत-से लोगो को अपनी तरफ कर लिया और साथ ही रखा। लेकिन वह राजपूताना मे मेवाड के राणा प्रताप की स्वाभिमानी और अदम्य आत्मा का दमन करने मे कामयाब न हुआ और राणा प्रताप ने एक ऐसे व्यक्ति से, जिसे वह विदेशी विजेता समझता था, रिश्ता जोडने की अपेक्षा जगल मे मारा-मारा फिरना अच्छा समझा।

अकबर ने अपने आस-पास बहुत से शानदार लोगो को इकट्ठा कर लिया था, जो उसके आदर्शों के समर्थक थे। इनमे अबुलफज़ल और फैजी नाम के दो मशहूर भाई थे और बीरबल, राजा मानसिंह और अब्दुल रहीम खानखाना थे। उसका दरबार नये-नये मजहबो के लोगो के और उन लोगो के, जिनके पास नये विचार थे या नई ईजादें थी, मिलने की जगह बन गया। उसकी सव तरह के विचारो की रवादारी और उसका सब तरह के विश्वासो और मतो को प्रोत्साहन इस हद तक पहुचा कि कुछ ज्यादा कट्टर मुसलमान उससे नाराज हो गये। उसने एक ऐसे समन्वित धर्म का प्रचार करने की भी कोशिश की, जो सवको मान्य होता। इसीसे राज्य मे उत्तर हिंदुस्तान मे हिंदुओ और मुसलमानो के सास्कृतिक मेल-जोल ने एक लबा डग आगे वढाया। खुद अकबर जितना मुसलमानो मे लोकप्रिय था, उतना ही हिंदुओ मे भी। मुगल वश की स्थापना ऐसी मजबूती से हो गई, मानो वह हिंदुस्तान का अपना वश हो।

१० : यंत्रों की तरक्की और रचनात्मक स्फूर्ति में एशिया और यूरोप के बीच में अंतर

अकबर मे जानकारी हासिल करने का शौक कूट-कूटकर भरा हुआ था, यह जानकारी चाहे रूहानी बातो की हो, चाहे दुनियावी मामलो की।

यंत्रों में उसकी दिलचस्पी थी, इसी तरह युद्ध-विज्ञान में भी थी। लड़ाई के हाथियों की वह बड़ी कद्र करता था और ये उसकी फौज का एक खास अंग थे। उसके दरबार के पुर्तगाली जेसुइट बताते हैं कि "उसकी दिलचस्पी बहुत-सी बातों में थी और वह उन सबके बारे में जानकारी हासिल करने का यत्न करता था। उसे न महज सिपाही और फौजी मामलों का पूरा-पूरा ज्ञान था, बल्कि बहुत-सी यांत्रिक कलाओं का भी।" "अपने ज्ञान के शौक" में वह "सभी चीजों का एक साथ स्वाद लेना चाहता था—इस तरह, जैसे कोई भूखा आदमी अपना खाना एक ही निवाले में खा लेना चाहता है।"

फिर भी यह ताज्जुब की बात है कि वह दरअसल एक मुकाम तक पहुंचकर रुक गया और इसने उसे उन रास्तों को टटोलने के लिए नहीं उकसाया, जो उसके सामने खुले हुए थे। 'महान-मुगल' के रूप में उसकी प्रतिष्ठा बड़ी ऊंची थी और खुश्की पर फौजी ताकत भी बढ़-चढ़ कर थी, लेकिन समुद्री शक्ति उसकी कुछ भी न थी। १४९८ ई. में, केप के रास्ते वास्को डि-गामा कालिकट तक पहुंचा था, १५११ में अल्बुकर्क ने मलाका पर कब्जा करके हिंद-महासागर में पुर्तगाली समुद्री शक्ति कायम कर ली थी। पच्छिमी तट पर गोआ पुर्तगाल के कब्जे में आ चुका था। इन सब बातों ने अकबर और पुर्तगालियों के बीच कोई संघर्ष नहीं पैदा किया। लेकिन समुंदर के रास्ते मक्का जानेवाले यात्रियों को—और इनमें कभी-कभी शाही घराने के लोग भी होते थे—पुर्तगाली लोग महसूल वसूल करने के लिए पकड़ लिया करते थे। यह जाहिर था कि जमीन पर अकबर की जो भी ताकत रही हो, समंदर के मालिक पुर्तगाली ही रहे। इसके समझने में दिक्कत न होनी चाहिए कि खुश्की की एक ताकत, जो सारे महाद्वीप पर छाई हो, समुद्री ताकत को ज्यादा अहमियत न देगी, अगरचे दरअसल हिंदुस्तान के गुजरे जमाने में बड़प्पन की एक वजह यह भी रही है कि समुद्री रास्तों पर उसका काबू रहा है। अकबर को एक बड़े महाद्वीप पर विजय पानी थी और पुर्तगालियों से भिड़ने के लिए उसके पास वक्त न था और यद्यपि ये पुर्तगाली अक्सर डंक मार दिया करते थे, फिर भी अकबर उन्हें ज्यादा अहमियत न देता था। एक बार उसने जहाजों के बनवाने का विचार किया भी, लेकिन यह ज्यादातर दिल बहलाव के लिए था, समुद्री शक्ति को तरक्की देने के खयाल से उतना न था।

इसके अलावा तोपखाने के बारे में मुगलों की फौजें और उस जमाने की हिंदुस्तान की और रियासतों की फौजें भी, आमतौर पर आटोमान

सल्तनत से आये हुए तुर्कों पर भरोसा करती थी। तोपखाने के सबसे बड़े पदाधिकारी का नाम रूमी खा पड गया—रूम—पूरबी रोम, यानी कुस्तुतुनिया को कहते हैं। ये विदेशी विशेषज्ञ मुकामी लोगो को काम सिखा लिया करते थे, लेकिन अकबर ने या किसी दूसरे ने ही अपने आदमियो को शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाहर क्यो नही भेजा, या इस काम मे शोध के जरिये तरक्की करने मे दिलचस्पी क्यो न ली ?

एक और भी विचार करने की बात है। जेसुइटो ने अकबर को एक छपी हुई इजील भेट की थी और शायद एक या दो और छपी हुई किताबें भी दी थी। उसे छपाई के बारे मे कौतूहल क्यो न हुआ, जिससे सरकारी कामो मे और दूसरे बड़े उद्देश्यो मे भी उसे बे-इतिहा मदद मिलती ?

फिर घडियो को ले लीजिये। मुगल अमीरो मे इनका बडा रिवाज था, और इन्हें पुर्तगाली और बाद मे अग्रेज यूरोप से ले आया करते थे। अमीरो की आसाइश की चीजो मे इनकी गिनती होती थी, आम लोग धूप-घडियो या बालू या पानी की घडियो से अपना सतोष करते थे। इस बात को जानने की कोई कोशिश न हुई कि कमानी की ये घडिया कैसे बनती थी, न उनके यहा बनवाने की ही कोई कोशिश हुई। यत्रो की तरफ रुझान की यह कमी गौर के काबिल है, खासतौर पर ऐसी हालत मे, जबकि हिदुस्तान मे दस्तकारी और कारीगरी मे होशियार लोगो की कोई कमी न थी।

इस जमाने मे हिदुस्तान ही मे ऐसा नही हुआ कि यह रचनात्मक स्फूर्ति और ईजाद की शक्ति अपग हो गई थी। यही, बल्कि इससे भी गिरी हुई दशा सारे पच्छिमी और मध्य-एशिया की हो रही थी। चीन के बारे मे मैं कह नहीं सकता, लेकिन मेरा खयाल है कि इसी तरह की पस्ती वहा भी आ गई थी। यह बात ध्यान मे रखने की है कि चीन और हिदुस्तान, दोनो ही मुल्को मे, इससे पहले के जमानो मे, विज्ञान के अनेक महकमो मे काफी तरक्की हुई थी। जहाज के बनाने और दूर-दूर देशो से समुद्र के रास्ते व्यापार करने के कारण यत्र-सबधी तरक्की के लिए बराबर प्रोत्साहन मिलता रहता था। यह सही है कि इन दोनो मुल्को मे या कही और ही, उस जमाने मे कल-पुर्जो मे कोई बहुत बडी तरक्की न हुई। इस नजर से पद्रहवी सदी की दुनिया उस वक्त से हजार-दो-हजार साल पहले की दुनिया से बहुत मुख्तलिफ न थी।

अरब लोग, जिन्होंने कुछ हद तक व्यावहारिक विज्ञान की शुरूआत मे मदद दी थी और इल्म को उस वक्त तरक्की दी थी, जब यूरोप के बीच के युगो मे अधकार फैला हुआ था, अब पिछड गये थे और उनकी अहमियत

जाती रही थी। कहा जाता है कि सातवी सदी मे सबसे पहले बननेवाली घडियो मे कुछ घडिया अरबवालो की बनाई हुई थी। दमिश्क मे एक मशहूर घडी थी, और इसी तरह हारू-अल-रशीद के ज़माने मे बगदाद मे भी। लेकिन अरबो की तनज्जुली के साथ-साथ इन मुल्को से घडिया बनाने का हुनर भी उड गया, अगरचे यूरोप के कुछ मुल्को मे यह तरक्की कर रहा था और घडिया वहा मुश्किल से मिलनेवाली चीजो मे नही समझी जाती थी।

कैक्सटन[1] से बहुत पहले स्पेन के अरबी मूर लकडी के ठप्पो से छपाई किया करते थे।[2] यह काम हुकूमत सरकारी हुक्मो की नकलें करने के लिए किया करती थी। ठप्पे का छपाई से आगे वहा तरक्की न हुई, और यह भी बाद मे रफ्ता-रफ्ता उठ गई। आटोमान तुर्कों की यूरोप और पच्छिमी एशिया मे बहुत दिनो तक सबसे बडी मुसलमानी ताक़त रही है, लेकिन कई सदियो तक उन्होने छापेखाने के काम की ओर ध्यान न दिया, अगरचे यूरोप मे उनकी सल्तनत से मिले हुए मुल्को मे बहुत बडी तादाद मे किताबें छपती रहती थी। इसकी जानकारी उन्हे जरूर रही होगी, लेकिन इस ईजाद से फायदा उठाने की उनकी कोशिश न हुई। कुछ हद तक मज़हबी जज्बा इसके खिलाफ पडता था, कुरान-जैसी पवित्र किताब का छापना बेअदबी मे शुमार किया जाता था, क्योकि छपे हुए तख्तो का बेजा इस्तेमाल हो सकता था या उन पर पैर पड सकता था या वे कूडे मे फेंके जा सकते थे। यह नेपोलियन था, जिसने छापेखाने का मिस्र मे सबसे पहले प्रचार किया और वहा से यह रफ्ता-रफ्ता और अरब मुल्को मे फैला।

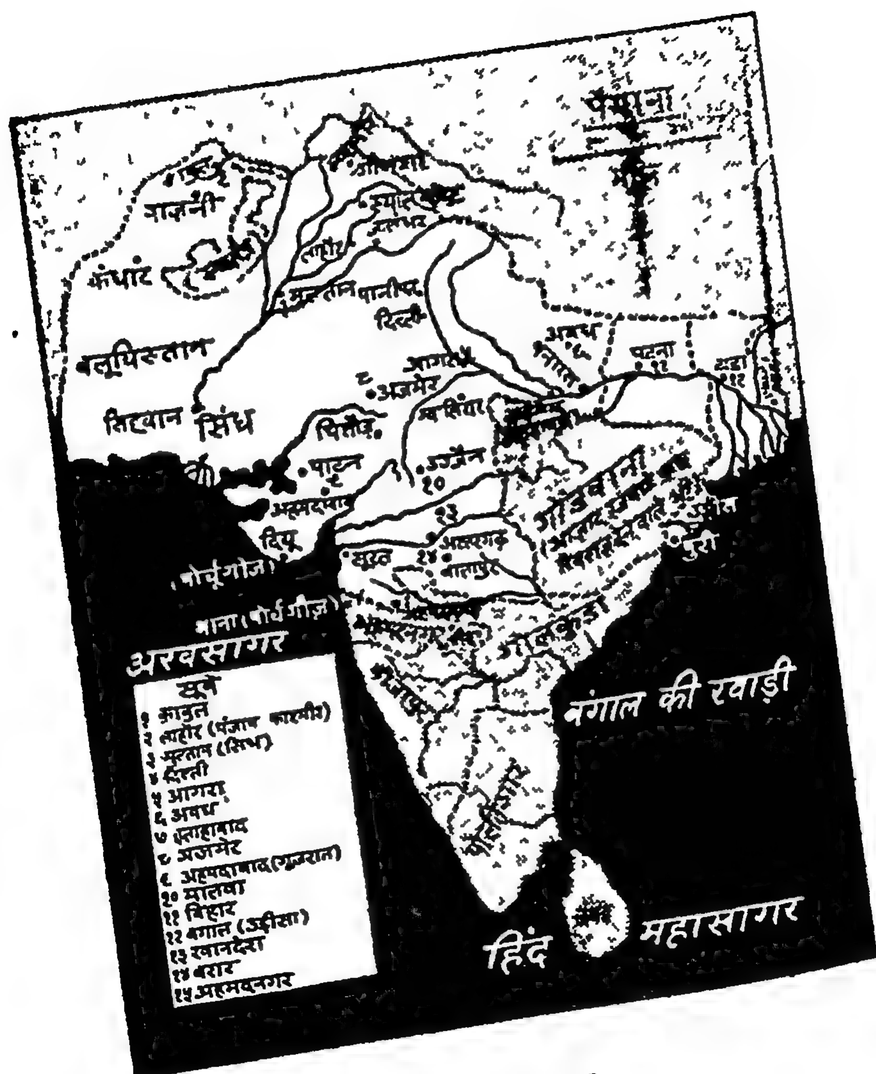
जब एशिया मूर्छित और अपनी पुरानी कोशिशो की वजह से थक गया था, उस वक्त यूरोप मे, जो बहुत-सी बातो मे पिछडा हुआ था, तब्दीलियो के आसार दिख रहे थे। वहा एक नई चेतना पैदा हो गई थी, एक नया जोश काम कर रहा था, जो वहा के साहसियो को समुदर-पार भेज रहा था और वहा के विचारको के दिमागो को नई-नई दिशाओ मे ले जा रहा

[1] इसने इंग्लिस्तान में सबसे पहले छापेखाने का प्रचार किया। —स०

[2] मैं नहीं कह सकता कि इस तरह की छपाई का काम स्पेन के अरबो ने कैसे सीखा। शायद यह मंगोलों के जरिये उन तक चीन से पहुचा था और उत्तरी और पच्छिमी यूरोप मे पहुचने से बहुत पहले यह बात हुई थी। मंगोलों के मैदान मे आने से पहले भी कारडोवा से काहिरा तक और दमिश्क से बग़दाद तक की अरबी दुनिया के चीन से अकसर संपर्क होते रहे थे।

था। नई जागृति (रिनेज़ा) ने विज्ञान की तरक्की मे ज्यादा मदद न दी; कुछ हद तक इसने लोगो को विज्ञान से विमुख किया और विश्वविद्यालयो मे इसने जिस तरह की फिलसफियाना और दकियानूसी शिक्षा शुरू की, उसने एक तरह से उन वैज्ञानिक विचारो के प्रचार को रोका, जिनसे लोग खूब वाकिफ हो चुके थे। कहा जाता है कि अठारहवी सदी तक आधे से ज्यादा पढे-लिखे अंग्रेज यह मानने से इन्कार करते थे कि जमीन अपनी धुरी पर घूमती रहती है या सूर्य के चारो तरफ परिक्रमा करती है, बावजूद इसके कि कोपर्निकस, गैलिलियो और न्यूटन सामने आ चुके थे और अच्छी दूरबीनें भी इस्तेमाल मे आ रही थी। यूनानी और लातीनी साहित्य को पढकर बतलीमूस के इस सिद्धात मे उनका अब भी विश्वास था कि धरती के आस-पास विश्व घूमता है। उन्नीसवी सदी का मशहूर राजनीतिज्ञ, डब्ल्यू० ई० ग्लैड्स्टन, अच्छा विद्वान होने के बावजूद न विज्ञान को समझता था और न उसके लिए उमे आकर्षण था। आज भी शायद बहुत-से राजनीतिज्ञ हैं (सिर्फ हिंदुस्तान में ही नही), जो विज्ञान और उसके तरीको की बहुत कम जानकारी रखते हैं, अगरचे वे ऐसी दुनिया मे रहते हैं, जहा विज्ञान बराबर अमल मे लाया जा रहा है और वे खुद बडे पैमाने पर विनाश और हत्या के लिए उसे इस्तेमाल में लाते हैं।

फिर भी 'रिनेज़ा' ने यूरोप के दिमाग को बहुत-से पुराने बधनो से छुडा दिया था, और जिन बुतो मे वह मुब्तिला था, उनमें से बहुतो को तोड दिया था। यह बात चाहे 'रिनेज़ा' की वजह से कुछ अशो मे और घुमाव के साथ पैदा हुई हो, चाहे उसके बावजूद, चीजो की जाच-पडताल की एक नई भावना अपना असर दिखला रही थी, और यह भावना न महज पुराने क़ायमशुदा प्रमाणो का विरोध करती थी, बल्कि हवाई और अस्पष्ट खयालो का भी। फ्रान्सिस बेकन ने लिखा था कि "इन्सानी ताकत और इन्सानी ज्ञान के रास्ते मिले-जुले चलते हैं, बल्कि करीब-करीब एक हैं, फिर भी चूकि हवाई बातो में पडने की लोगो मे एक बुरी आदत-सी पड गई है, इसलिए महफ़ूज यह होगा कि हम विज्ञान को उन बुनियादो पर खडा करें, जिनका अमल से ताल्लुक़ है और खयाली हिस्से पर क्रियात्मक हिस्से की मुहर लगा दें।" बाद मे, सत्रहवीं सदी में, सर टामस ब्राउन ने लिखा था—"लेकिन ज्ञान का सबसे बडा दुश्मन, जिसने सत्य का सबसे ज्यादा खून किया है, प्रमाणो मे अधविश्वास रहा है, खासतौर पर प्राचीन आदेशो में विश्वास। क्योकि (जैसाकि सभी देख सकते हैं) मौजूदा जमाने के ज्यादातर लोग गुजरे हुए जमानो को ऐसे अधविश्वास के साथ देखते हैं कि एक के प्रमाण



पैमाना
गज़नी
कंधार
बलूचिस्तान
सिंध
मुल्तान
पानीपत
दिल्ली
आगरा
अजमेर
चित्तौड़
पाटन
उज्जैन
अवध
पटना
गोंडवाना
सूरत
दिउ
पोर्चुगीज़
पुरी
अरबसागर
बंगाल की खाड़ी
हिंद महासागर
सूबे
१ काबुल
२ लाहौर (पंजाब काश्मीर)
३ मुल्तान (सिंध)
४ दिल्ली
५ आगरा
६ अवध
७ इलाहाबाद
८ अजमेर
९ अहमदाबाद (गुजरात)
१० मालवा
११ बिहार
१२ बंगाल (उड़ीसा)
१३ खानदेश
१४ बरार
१५ अहमदनगर

अकबर का साम्राज्य

दूसरे की अक्ल को दबा लेते हैं। जो लोग हमारे जमाने से दूर हैं, उनकी रचनाए, जो शायद ही समकालीनो या बाद के लोगो की टीका-टिप्पणी से बची हो, अब ऐसी हो गई हैं, मानो हमारे काबू से परे है, और जितनी ही वे पुरानी हो, उतनी ही परम सत्य के नजदीक जान पडती है। मेरी समझ मे यह खुले तौर पर अपने को धोखा देना है और सचाई के रास्ते से बहुत दूर जाना है।"

अकबर सोलहवी सदी का आदमी था। इस सदी ने यूरोप मे गति-विज्ञान का जन्म देखा, जो इन्सानी जिंदगी मे इन्कलाबी तरक्की पैदा करनेवाला था। इस नई तलाश को लेकर यूरोप आगे बढा, पहले तो इसकी रफ्तार धीमी थी, लेकिन यह बराबर बढती गई, यहातक कि उन्नी-सवी सदी मे इसने आकर एक नई दुनिया तैयार कर ली। जब यूरोप कुदरती ताकतो से फायदा उठा रहा था और उन्हे अपने काम मे ला रहा था, तब एशिया बेहोश और गतिहीन हो रहा था और आदमी की मजदूरी और मशक्कत पर भरोसा करते हुए पुरानी लीक पीटता चला आ रहा था।

ऐसा यह क्यो था ? एशिया इतना बडा प्रदेश है और इसके हिस्से इतने जुदा-जुदा हैं कि किसी एक जवाब से काम नही चल सकता। हर एक मुल्क पर, खासतौर पर चीन और हिंदुस्तान-जैसे बडे मुल्को पर, अलग-अलग विचार करने की जरूरत है। उस जमाने मे और बाद मे भी, चीन यकीनी तौर पर यूरोप से ज्यादा सस्कृत था और वहा के लोग यूरोप के किसी मुल्क के लोगो के मुकाबले मे ज्यादा सभ्य जिंदगी बसर करते थे। हिंदुस्तान मे भी जाहिरा तौर पर हमे एक तडक-भडकवाले दरबार का और पनपते हुए व्यापार, तिजारत, कारीगरी और दस्तकारी का दृश्य देखने मे आता है। उस जमाने मे अगर कोई हिंदुस्तानी यात्री यूरोप जाता, तो उसे बहुत-सी बातो मे यूरोप पिछडा हुआ और अनपढ दिखता। लेकिन जो गतिशीलता का गुण वहा पैदा हो गया था, वह हिंदुस्तान मे करीब-करीब गायब था।

किसी सभ्यता का ह्रास बाहरी हमलो से उतना नही होता, जितना भीतरी नाकामियो से। यह इसलिए खत्म हो सकती है कि कुछ मानो में उसका काम पूरा हो चुका है और उसे बदलती हुई दुनिया के सामने कोई नई चीज नही पेश करनी है, या इसलिए कि जो लोग इसकी नुमाइंदगी करते हैं, उनके गुणो मे छीज आ गई है और अब वे योग्यता के साथ उसका बोझ नही सम्भाल सकते। यह हो सकता है कि समाजी सस्कृति ऐसी है कि एक हद से आगे वह तरक्की करने में बाधा डालती है और आगे तरक्की

११ : एक मिली-जुली संस्कृति का विकास

अकबर ने इमारत ऐसी मजबूत गढ़ी की थी कि यह बावजूद कुछ ढीले उत्तराधिकारियों के एक सौ साल तक और कायम रही। मुग़लों के क़रीब-क़रीब हर एक राज्य-काल के बाद तख़्त के लिए शाहज़ादों में आपस की लड़ाइयां हुईं, जिनसे मरकज़ी ताक़त कमज़ोर पड़ती गई। लेकिन दरबार की तड़क-भड़क बनी रही, और आलीशान मुग़ल बादशाहों की शोहरत सारे एशिया और यूरोप में फैल गई। आगरा और दिल्ली में खूबसूरत इमारतें तैयार हुईं, जिनमें पुराने हिंदुस्तानी आदर्शों के साथ एक नई सादगी और ऊंचे दर्जे का सुडौलपन मिलता है। यह भारतीय मुग़ल-कला उत्तरी और दक्खिनी हिंदुस्तान के मंदिरों की और दूसरी इमारतों की पस्त और बहुत रंगी-चुनी, विस्तृत सजावटवाली कला से नुमाया तौर पर जुदा है। चोटी के मेमारों और कलावतों ने मुहब्बत के हाथों से आगरे में ताजमहल खड़ा किया।

आलीशान मुग़लों में से आख़िरी, यानी औरंगजेब ने, घड़ी को उलटा चलाने की कोशिश की और इस कोशिश में उसे तोड़ ही दिया। जबतक

में हिंदुस्तान में अमरीका से, यूरोप के रास्ते, तंबाकू पहुंच गया था। बावजूद जहांगीर के इसे दबाने की कोशिशों के, इसका जल्दी से और हैरत-अंगेज ढंग से चलन हो गया था।

मुग़ल जमाने में बराबर हिंदुस्तान का मध्य-एशिया से नजदीकी संपर्क रहा है। यह संपर्क रूस तक पहुंच चुका था और तिजारती और सियासी दूतों के आमद-रफ्त के हवाले मिलते हैं। एक रूसी मित्र ने मेरा ध्यान रूसी तारीख़ों के ऐसे हवालों की तरफ दिलाया है। १५३२ में खोजा हुसन नाम का बाबर बादशाह का एक एलची दोस्ती का संबंध कायम करने के लिए मास्को पहुंचा। ज़ार मिखायल फ़ेडोरोविच (१६१३-१६४५) के जमाने में हिंदुस्तानी व्यापारी वोल्गा के तट पर बस गये थे। सन १६२५ में फौजी हाकिम की आज्ञा से अस्तराख़ान में एक हिंदुस्तानी सराय बनी थी। हिंदुस्तानी दस्तकार और खासतौर पर कपड़ा बुननेवाले मास्को बुलाये गये थे। १६९५ में, सिमियन मेलेंकी नाम का एक रूसी गुमाश्ता दिल्ली आया था और औरंगजेब उससे मिला था। १७७२ में महान पीतर अस्तराख़ान पहुंचा था और उसने हिंदुस्तानी व्यापारियों से भेंट की थी। १७४३ में हिंदुस्तानी साधुओं का एक दल, जिन्हें फ़क़ीर बताया गया, अस्तराख़ान पहुंचा। इनमें से दो साधु रूस में बस गये और रूसी प्रजा बन गये।

मुगल बादशाहो ने कौमी रविश का साथ दिया और जबतक वे एक मिली-जुली कौमियत को तैयार करने और मुल्क के मुख्तलिफ अनासिरो का समन्वय करने की कोशिश मे रहे, तबतक उनकी मजबूती बनी रही। जब औरगजेब ने इस तहरीक का विरोध किया और उसे दबाना शुरू किया और हिंदुस्तानी हाकिम की हैसियत से नही, बल्कि मुसलमान हाकिम की हैसियत से राज्य करना चाहा, तब मुगल सल्तनत टूटने लगी। अकबर और कुछ हद तक उसके उत्तराधिकारियो के काम पर पानी फिर गया और बहुत-सी ताकतें, जिन्हे अकबर की नीति ने काबू मे कर रखा था, फिर आजाद हो गई और उन्होने सल्तनत को चुनौती दी। नये आदोलन उठ खडे हुए, जिनके नजरिये तग जरूर थे, लेकिन जो उभरती हुई कौमियत की नुमाइदगी करते थे, और अगरचे वे इतने मजबूत नही थे कि पायदार हुकूमत कायम कर सकें, फिर भी ऐसे जरूर थे कि मुगल सल्तनत को तोड-फोड दें।

पच्छिमोत्तर से आनेवाले हमलावरो और इस्लाम ने हिंदुस्तान को काफी जोरदार टक्कर दी थी। इसने हिंदू-समाज मे पैठी हुई बुराइयो को खोलकर दिखा दिया था, यानी जात-पात की सडाध को, अछूतपने को और अलग-थलग रहने के रवैये को, एक बेतुकी हद तक पहुचा देने को। इस्लाम के भाई-पने के और इस मजहब के माननेवालो की उसूली बराबरी के खयाल ने उन लोगो पर जबरदस्त असर खासतौर पर डाला, जिन्हें हिंदू-समाज के भीतर बराबरी का दर्जा देने से इन्कार किया गया था। विचारो के इस सघर्ष से बहुत-से नये आदोलन उठे, जिनका मकसद एक धार्मिक समन्वय कायम करना था। बहुतो ने मजहब बदला लेकिन, इसमे से ज्यादातर नीची जातो के लोग थे और खासकर बगाल के। कुछ ऊची जात के लोगो ने भी नये मजहब को कुबूल किया, या तो इसलिए कि दरअसल उसमे यकीन लाये, लेकिन ज्यादातर सियासी और आर्थिक कारणो से। हुक्मरानो के मजहब को कुबूल करने मे जाहिरा नफे थे।

इस व्यापक मत-परिवर्तन के बावजूद हिंदू-धर्म अपने विविध रूपों में मुल्क का खास मजहब बना रहा—यह ठोस, अलग-थलग रहनेवाला, अपने मे पूर्ण और अपनी जगह पर पक्का था। ऊचे वर्ण के लोगो में विचारो के मैदान में अपने बडप्पन मे कोई सदेह न पैदा हुआ और फिलसफे और अध्यात्म के मसलो का हल हासिल करने के लिहाज से वे इस्लाम के नजरिये को अनगढ-सा समझते रहे। इस्लाम का एकेश्वरवाद भी उन्हें अपने धर्म मे मिलता था और साथ ही अद्वैतवाद था, जो उनके ज्यादातर फिलसफे की बुनियाद में था। हर एक को आजादी थी कि वह चाहे इन सिद्धातो को

करें, लेकिन हिंदू जाहिरा तौर पर इसे महत्व न देते थे। उस जमाने की इस लापरवाही के रुख से आज की हालत बिलकुल उलटी है, आज मजहब की तब्दीली पर बड़ा शोर मचता है और यह तब्दीली चाहे इस्लाम के हक़ मे हो, चाहे ईसाई मत के हक मे, इसे बहुत नापसद किया जाता है। ज्यादातर इसके राजनैतिक कारण हैं, और इनमे खासकर मजहब की बिनाह पर निर्वाचन-क्षेत्रों का बन जाना है। हर एक मजहब बदलनेवाले आदमी के बारे मे यह खयाल किया जाता है कि उसने एक मजहबी गिरोह की गिनती बढ़ाई और इस तरह आखिरकार उसकी नुमाइदगी और सियासी ताक़त में तरक्की की। इस मकसद से मर्दुमशुमारी मे भी हेर-फेर करने की कोशिश की जाती है। लेकिन सियासी वजहों से हटकर भी, हिंदू-धर्म मे दूसरे मजहब-वालों को दीक्षा देने की और जो मजहब से अलहदा हो गये हैं, उन्हें वापस ले लेने की रुचि पैदा हो गई। हिंदू-धर्म पर इस्लाम के जो असर पड़े हैं, उनमे यह भी एक है, अगरचे अमली तौर पर इसकी वजह से हिंदुस्तान मे दोनों मे सघर्ष पैदा होते हैं। कट्टर हिंदू इसे अब भी नही पसद करते।

काश्मीर मे मुसलमान बनाने का एक लबा सिलसिला रहा है, जिससे वहा की ९५ फी-सदी आबादी आज मुस्लिम है, अगरचे इसने बहुत-से अपने पुराने हिंदू रिवाजों को कायम रखा है। उन्नीसवी सदी के बीच मे इस रियासत के हिंदू शासक ने यह पाया कि इनमे से बहुत ज्यादा तादाद मे लोग एक साथ हिंदू-धर्म मे वापस आने के लिए राज़ी या ख्वाहिशमद हैं। उसने बनारस के पडितों के पास अपने आदमियो को भेजकर पुछवाया कि ऐसा किया जा सकता है या नही। पडितों ने इस तरह के मत-परिवर्तन के खिलाफ व्यवस्था दी, और मामला वही पर खत्म हो गया।

हिंदुस्तान मे बाहर से आनेवाले मुसलमान कोई नया तर्ज़-अमल या राजनैतिक और आर्थिक ढाचा अपने साथ नही लाये। बावजूद इसके कि इस्लाम सभी मजहब के लोगो को भाई मानता है, उनमे गिरोहबदिया थी और उनका नज़रिया सामतवादी था। कारीगरी और उद्योग-धधो के सग-ठन के लिहाज़ से उस वक्त हिंदुस्तान मे जो हालत थी, उससे वे पिछड़े हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान के समाजी सगठन और आर्थिक ज़िदगी पर बहुत कम असर पड़ा। यह ज़िदगी अपनी पुरानी रफ्तार से जारी रही और सभी लोग, वे चाहे हिंदू हो, चाहे मुसलमान, इसके भीतर अपनी-अपनी जगह पर जम गये थे।

औरतों के दर्जे मे तनज्जुली हुई। पुराने कानूनो मे भी विरासत के मामले मे और घर मे उनके दर्जे के बारे मे इन्साफ नही बरता गया था,

फिर भी उन्नीसवी सदी के इंग्लिस्तान के कानून के मुकाबले मे इन पुराने क़ानूनों मे औरतो का ज्यादा लिहाज रखा गया था। ये विरासत सबंधी कानून हिंदुओ की सम्मिलित कुटुंब-प्रथा का खयाल रखकर बनाये गये थे और मुश्तरका जायदाद दूसरे खानदान मे न चली जाय, इसका बचाव करते थे। शादी के बाद औरत दूसरे खानदान की हो जाती थी। आर्थिक दृष्टि से वह अपने बाप या पति या बेटे की आश्रित समझी जाती थी, लेकिन उसकी अपनी जायदाद हो सकती थी और होती थी, बहुत तरह से उसकी आदर-प्रतिष्ठा होती थी और उसे समाजी और सांस्कृतिक कामो मे हिस्सा लेने की काफी आज़ादी थी। हिंदुस्तानी इतिहास मे मशहूर औरतो के नाम भरे पडे हैं, जिनमे विचारक और फिलसूफ भी है और हाकिम और लडाई मे हिस्सा लेनेवाली भी हुई है। यह आजादी बराबर कम होती रही। विरासत के बारे मे इस्लामी कानून औरतो के हक मे ज्यादा इन्साफ-पसद था, लेकिन वह हिंदू औरतो पर लागू न होता था। जो तब्दीली उनके सामने आई, वह उनके खिलाफ पडनेवाली थी—यानी परदे का रिवाज बहुत कडा हो गया—मुसलमान औरतो मे यह और भी कडा था। यह रिवाज उत्तर मे सब जगह और बगाल मे भी फैल गया, लेकिन दक्खिन और पच्छिम इस बुरी प्रथा से बचे रहे। उत्तर मे भी यह रिवाज ऊचे वर्ग के लोगो मे ही रहा और खुशकिस्मती से आम जनता इससे बची रही। औरतो को अब शिक्षा के कम मौके हासिल होते थे और अब वे ज्यादातर अपनी गिरस्ती मे घिर गई थी।[1] आगे बढने के बहुत-से रास्तो को बद करके और एक पाबद ज़िदगी मे घेरकर, उन्हे यह बताया गया कि सतीत्व की रक्षा उनका परम धर्म है और इसका नाश परम पाप है। यह था मर्दो का बनाया हुआ सिद्धात, लेकिन मर्द इसे अपने ऊपर लागू नही करते थे। तुलसीदास ने अपने प्रसिद्ध काव्य, हिंदी रामायण मे, जिसका आदर उचित ही है और जो जहागीर के ज़माने मे रचा गया था, औरतो की जो तस्वीर खीची है, वह हद दर्जे की ग़ैर-इन्साफी और पक्षपात जाहिर करनेवाली है।

कुछ तो यो कि हिंदुस्तान के ज्यादातर मुसलमान हिंदू-धर्म से मत-परिवर्तन किये हुए लोग थे और कुछ इसलिए कि हिंदू-मुसलमानो का यहा लबे ज़माने तक, खासतौर पर उत्तरी हिंदुस्तान मे, साथ रहा, दोनो के

---

[1] फिर भी मशहूर स्त्रियों की बहुत-सी मिसालें उस ज़माने में और बाद मे भी मिलती है, जिनमें विदुषी भी हैं और शासन करनेवाली भी। अठारहवीं सदी मे लक्ष्मीदेवी ने 'मिताक्षरा' पर, जो मध्य-युग का मशहूर क़ानूनी ग्रंथ है, बडी टीका तैयार की।

बीच बहुत-सी आम बातें, आदतें, रहन-सहन के ढग और रुचिया पैदा हो गई थी, जो सगीत, चित्रकारी, इमारतो, खाने, कपडे और एक-सी परपरा मे दिखाई देती हैं। वे मिल-जुलकर शाति के साथ एक क़ौम के लोगो की तरह रहा करते थे, एक-दूसरे के जलसो और त्योहारो मे शरीक होते थे, एक बोली बोलते थे, और बहुत-कुछ एक ही ढग से रहते थे, और जिन आर्थिक मसलो का उन्हें सामना करना पडता, वे भी एक-से थे। अमीर लोग और वे लोग, जिनके पास जमीनें थी, और उनके पिछ-लगे दरबार का रुख देखते थे। (ये लोग जमीदार या जमीन के मालिक न होते थे। वे लगान वसूल न करते थे, बल्कि उन्हे सरकारी मालगुज़ारी वसूल करने और उसे अपने काम मे लाने की आज्ञा मिली रहती थी। यह हक आमतौर पर हीन हयाती हुआ करता था।) इनकी एक पेचीदा और आडबरवाली और रगीचुनी आम तहजीब अलग तैयार हो गई। ये एक-से कपडे पहनते, एक-सा खाना खाते, एक-सी कलाओ मे दिलचस्पी लेते थे। इनके दिल-बहलाव फौजी थे, शिकार और मर्दानगी के खेल। इनकी पसद का खास खेल चौगान (पोलो) होता और हाथियो की लडाई भी इनके यहा बहुत आम-पसद थी।

यह सब राह-रस्म और एक-सी जिंदगी उस हालत मे कायम हुई, जब वर्ण-व्यवस्था मौजूद थी, और वह दोनो के मिलकर एक हो जाने मे अडगा डालनेवाली थी। आपस के शादी-ब्याह यो ही कभी हो जाते हो, और उस वक्त भी दोनो पक्ष मिलकर एक नही होते थे, बल्कि होता यह था कि हिंदू औरत मुसलमान घराने की हो रहती थी। आपस मे खान-पान नही होता था, लेकिन इस मामले मे बहुत कडाई न थी। औरतो के परदे में अलग-थलग रहने ने समाजी जिंदगी की तरक्की मे रुकावट पैदा की। यह बात मुसलमानो पर ज्यादा लागू होती थी, क्योकि उनमे परदा ज्यादा कडा था। अगरचे हिंदू और मुसलमान मर्द आपस मे अकसर मिलते रहते थे, पर दोनो ही तरफ की औरतो को ये मौके न मिल पाते थे। अमीर और बडे घरानो की औरतें इस तरह ज्यादा अलग-थलग ज़िंदगी बिताती थीं, और आपस मे एक-दूसरे से नावाकिफ रहते हुए इन्होंने जुदा-जुदा खयाल रखनेवाले दल बना लिये थे।

गाव के आम लोगो की, और इसके मानी होते हैं कि आबादी के ज्यादातर हिस्से की, ज़िंदगी ज्यादा गठी हुई थी, और मिले-जुले आधार पर क़ायम थी। गाव के महदूद घेरे के अदर हिंदुओ और मुसलमानो के गहरे सबध होते थे। वर्ण-व्यवस्था यहा कोई रुकावट नही डालती थी और हिंदुओ ने मुसलमानों की भी एक जात मान ली थी। ज्यादातर मुसलमान

ऐसे थे, जिन्होंने अपना पुराना मजहब बदल लिया था और पुरानी परंपरा को अब भी भूले न थे। वे हिंदू विचारो, कथाओ और पुराणो की कहानियो से वाकिफ होते थे, वे एक तरह का काम करते, एक-सी जिंदगी बिताते, एक-से कपडे पहनते और एक ही बोली बोलते थे। ये एक-दूसरे के त्योहारो मे शरीक होते और कुछ नीम-मजहबी त्योहार ऐसे भी होते, जो दोनो के लिए आम थे। इनके लोक-गीत एक ही थे। इनमे से ज्यादातर किसान, दस्तकारी करनेवाले या देहाती धंधे करनेवाले लोग होते थे।

एक तीसरा बडा गिरोह, जो अमीरो और किसानो व दस्तकारो के बीच का था, व्यापारियो और तिजारत-पेशा लोगो का था। यह ज्यादातर हिंदुओ का था और अगरचे इसे कोई सियासी ताकत हासिल न थी, फिर भी आर्थिक संगठन बहुत-कुछ इसीके काबू मे था। इस वर्ग के लोगो के मुसलमानो से संपर्क, ऊपर और नीचे के दोनो ही वर्गों के लोगो के मुकाबले में, कम थे। बाहर से आये हुए मुसलमानो का रुख सामंतवादी था और तिजारत की तरफ वे मुखातिब न होते थे। इस्लाम की यह मनाही भी कि सूद न खाना चाहिए, उनके तिजारत के रास्ते मे अडचन पैदा करनेवाली थी। वे अपने को शासक-वर्ग का और अमीर समझते थे और सरकारी ओहदेदार, माफ़ीदार या फौजी अफसर हुआ करते थे। बहुत-से आलिम भी थे, जिनका दरबार से लगाव रहता था या जो मजहबी या दूसरी अकादेमियो की देख-रेख करते थे।

मुगलो के जमाने मे बहुत-से हिंदुओ ने दरबार की भाषा फारसी मे किताबें लिखी। इनमे से कुछ अपने ढंग की किताबो मे चोटी की रचनाएं मानी जाती हैं। साथ-ही-साथ मुस्लिम आलिमो ने संस्कृत से पुस्तको के फारसी मे तरजुमे किये और हिंदी मे भी किताबें लिखी। हिंदी के सबसे मशहूर कवियो मे दो मुसलमान हैं—मलिक मुहम्मद जायसी, जिसने "पद्मावत" लिखा, और अब्दुल रहीम खानखाना, जो अकबरी दरबार के अमीरो मे था और जिस पर अकबर के बेटे की देख-रेख की जिम्मेदारी थी। खानखाना अरबी, फारसी और संस्कृत का विद्वान था और उसकी हिंदी कविता ऊंचे दर्जे की है। कुछ वक्त तक वह शाही फौज का सिपहसालार भी था, फिर भी उसने मेवाड के राणा प्रताप की प्रशंसा की है, जो बराबर अकबर से लडता रहा और जिसने अकबर के आगे कभी हथियार नही डाले। खानखाना युद्ध में अपने दुश्मन की बहादुरी और देश-भक्ति और आत्म-सम्मान की सराहना करता है और उसे मिसाल के काबिल बताता है।

अकबर ने भी इसी बहादुरी और दोस्ती की बुनियाद पर अपनी नीति क़ायम की थी, और उसके बहुत-से वज़ीरो और सलाहकारो ने भी यह नीति सीख ली थी। खासतौर पर वह राजपूतो से मेल रखता था, क्योकि उनके जिन गुणो की वह तारीफ करता था, वे उसमे भी थे, यानी लापरवाही की हद तक पहुची हुई दिलेरी, बहादुरी और आत्म-सम्मान और अपने वचन से कभी न डिगने की बान। उसने राजपूतो को अपना तरफदार बना लिया था, लेकिन अपने तारीफ के काबिल गुणो के बावजूद राजपूत एक ऐसे मध्ययुगीन समाज की नुमाइदगी करनेवाले थे, जो नई ताकतो के उठ खडे होने के साथ-साथ पुराना पड रहा था। अकबर को इन नई ताकतो का खुद एहसास न था, क्योकि वह भी अपनी समाजी विरासत के घेरे मे कैद था।

अकबर को हैरतअगेज कामयाबी हासिल हुई, क्योकि उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के मुख्तलिफ लोगो के बीच उसने एकता की भावना पैदा कर दी। एक विदेशी शासक-वर्ग की मौजूदगी इसमे रुकावट डालती थी, फिर मजहब और जात-पात की रुकावटे थी, और एक स्थिर और कट्टर व्यवस्था के मुकाबले मे तबलीगी मजहब की मौजूदगी ने रुकावटें पैदा कर रखी थी। ये रुकावटें दूर नही हुई, लेकिन उनके बावजूद एकता की भावना ने तरक्की की। लोगो का यह आकर्षण उसके व्यक्तित्व के लिए न था, बल्कि जिस ढाचे का उसने निर्माण किया था, उसके लिए था। उसके बेटे और पोते, जहागीर और शाहजहा, ने उस ढाचे को क़ुबूल किया और उसकी हदो के भीतर काम करते रहे। ये बहुत खास योग्यता के लोग न थे, लेकिन उन्हे अपने राज्य-काल मे सफलता मिली। यह इसलिए कि जो रास्ता अकबर ने मज़बूती के साथ कायम कर दिया था, उस पर वे चलते रहे। इनके बाद औरंगजेब आया, जो इनसे कहीं ज्यादा काबिल था, लेकिन जो दूसरे ही ढाचे का आदमी था। वह इस बने हुए रास्ते से हटकर चला और इस तरह उसने अकबर के काम पर पानी फेर दिया। फिर भी वह उसे बिलकुल न मिटा सका। यह बडी हैरतअगेज बात है कि बावजूद उसके और उसके कमजोर और निकम्मे उत्तराधिकारियो के, अकबर के तैयार किये हुए ढाचे की इज्जत लोगो के दिलो मे कायम रही। यह भावना ज्यादातर उत्तर और मध्य हिंदुस्तान में रही, दक्खिन और पच्छिम मे नही थी। इसलिए अब पच्छिमी हिंदुस्तान से इसके खिलाफ चुनौती आई।

१२ : औरंगज़ेब उलटी गंगा बहाता है : हिंदू-राष्ट्रीयता की तरक्क़ी : शिवाजी

शाहजहां फ्रांस के 'शानदार बादशाह' चौदहवें लुई का समकालीन था और उस वक्त मध्य यूरोप में तीस साला जंग हो रही थी। उधर जब वार्साई का महल तैयार हो रहा था, यहां आगरे में ताजमहल और मोती मस्जिद और दिल्ली में जुम्मा मस्जिद और शाही महल के दीवाने-आम और दीवाने-ख़ास तैयार हुए। परियों-जैसी दर्शनीय ये सुंदर इमारतें मुग़ल शान-शौकत की चरम सीमा की नुमाइंदगी करती हैं। दिल्ली के दरबार और तख्ते-ताऊस की शान वारसाई से कहीं बढ़-चढ़कर थी। लेकिन वारसाई की तरह ये भी ग़रीब और दलित लोगों के आधार पर कायम थीं। गुजरात और दक्खिन में भयानक अकाल पड़ा हुआ था।

इस बीच इंग्लिस्तान की समुद्री ताकत बढ़ और फैल रही थी। यूरोपियों में सिर्फ पुर्तगालियों को अकबर ने देखा था। उसके बेटे जहांगीर के ज़माने में अंग्रेज़ी जहाज़ी बेड़े ने हिंद-महासागर में पुर्तगालियों को हराया और पहले जेम्स का राजदूत सर टामस रो १६१५ में जहांगीर के दरबार में हाज़िर हुआ। उसे कारख़ाने कायम करने की इजाज़त मिल गई। सूरत में कारख़ाना शुरू किया गया और १६३९ में मद्रास की नींव पड़ी। सौ साल से ज्यादा अरसे तक हिंदुस्तान में किसी ने अंग्रेज़ों को कोई महत्व न दिया। समुद्री रास्तों के मालिक अब अंग्रेज़ बन बैठे थे और उन्होंने पुर्तगालियों को करीब-करीब हटा दिया था। इस वाकये की मुगल बादशाहों या उनके सलाहकारों के लिए कोई अहमियत न थी। जब औरंगज़ेब के ज़माने में मुग़ल साम्राज्य साफ तौर पर कमज़ोर पड़ रहा था, उस वक्त अंग्रेज़ों ने लड़कर अपना क़ब्ज़ा बढ़ाने की एक संगठित कोशिश की। यह १६८५ की घटना है। औरंगज़ेब अगरचे कमज़ोर हो रहा था और दुश्मनों से घिरा था, अंग्रेज़ों को हटाने में कामयाब हुआ। इस वक्त से पहले ही फ्रान्सीसी भी हिंदुस्तान में पैर जमाने की जगह पा चुके थे। ठीक उस वक्त, जबकि हिंदुस्तान की राजनैतिक और आर्थिक हालत बिगड़ रही थी, यूरोप की बाढ़ लेती हुई शक्तियां हिंदुस्तान और पूरबी मुल्कों में फैल रही थीं।

फ्रान्स में चौदहवें लुई का लंबा राज्य-काल चल रहा था और यह आनेवाली क्रांति के बीज बो रहा था। इंग्लिस्तान में तरक्की करते हुए मध्य-वर्ग ने अपने राजा का सिर काट दिया था। क्रामवेल का थोड़े ज़माने का गणराज्य दमक दिखा चुका था, दूसरा चार्ल्स आ और जा चुका था, और

दूसरा जेम्स भाग चुका था। बहुत-कुछ नये व्यापारी-वर्ग की नुमाइंदगी करनेवाली पार्लामेंट राजा को दबाकर शक्तिशाली बन बैठी थी।

यह वह ज़माना था, जब एक घरेलू युद्ध के बाद अपने बाप शाहजहां को क़ैद करके, औरंगज़ेब मुग़लों के तख़्त पर बैठा। अकबर की ही एक ऐसी शख़्सियत थी, जो इस परिस्थिति का अंदाज़ा लगा सकती थी और उन नई ताक़तों को, जो उठ रही थीं, क़ाबू में ला सकती थी। शायद वह भी इस सल्तनत के विनाश को थोड़े वक़्त के लिए ही रोक सकता था, उसे बचा न सकता था। हां, यह बात दूसरी थी कि अपने कौतूहल और ज्ञान और प्यास की वजह से वह उन नई 'तक्नीकों' के महत्व को समझता, जो उठ रहे थे और आर्थिक हालत में पैदा होनेवाली तब्दीलियों की अटकल लगाता। औरंगज़ेब अपने मौजूदा ज़माने को भी अच्छी तरह समझ न पाया; वह उलटी चाल चलनेवाला आदमी था और अपनी सारी क़ाबलियत और उत्साह के बावजूद उसने अपने पूर्वजों के काम को मिटाने की कोशिश की। वह धर्मांध और नीरस आदमी था और उसे कला या साहित्य से कोई प्रेम न था। हिंदुओं पर पुराना और घृणित 'जज़िया' कर लगाकर और उनके बहुत-से मंदिरों को तुड़वाकर उसने अपनी बहुत बड़ी प्रजा को बुरी तरह नाराज़ कर दिया। उसने गर्वीले राजपूतों को भी, जो मुग़ल सल्तनत के खंभे थे, नाराज़ कर दिया। उत्तर में सिख उठ खड़े हुए, जो हिंदू और मुसलमानी विचारों के एक प्रकार के समन्वय की नुमाइंदगी करनेवाले लोग थे, लेकिन जिन्होंने दमन से बचने के लिए एक फ़ौजी बिरादरी बना ली थी। हिंदुस्तान के पच्छिमी समुद्र-तट के क़रीब के योद्धा मराठों को भी उसने नाराज़ कर दिया, जो प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज थे, और जिनके यहां उस वक़्त एक चमत्कारी सेनानायक पैदा हो चुका था।

सारी मुग़ल-सल्तनत में एक तूफ़ान-सी आई हुई थी और नई जागृति की भावना तरक़्क़ी कर रही थी, जिसमें धर्म और जातीयता का मेल था। यह ज़रूर है कि इस जातीयता को हम ज़माने-हाल की मज़हब से अलग-थलग रहनेवाली जातीयता नहीं कह सकते, न यह ऐसी थी कि इसका संबंध सारे देश से रहा हो। इसमें सामंतवादी रंग था, और मुक़ामी जज़्बे और धार्मिक भावनाओं का पुट था। राजपूत, जो औरों से ज़्यादा सामंतवादी थे, अपने-अपने वंशों का ध्यान करते थे, सिख, जिनका औरों के मुक़ाबले में एक छोटा दल पंजाब में था, पंजाब के बाहर की न सोचते थे। लेकिन

खुद मजहब की एक गहरी क़ौमी भूमिका थी और उसकी सभी परंपराएं हिंदुस्तान से ताल्लुक रखनेवाली थीं। प्रोफेसर मैकडानेल ने लिखा है कि "हिंदी-यूरोपीय-कुल के लोगों में हिंदुस्तानी ही एक ऐसे है, जिन्होंने एक बड़ा क़ौमी धर्म—यानी ब्राह्मण धर्म—तैयार किया और एक लोक-व्यापी धर्म—यानी बौद्ध-धर्म—को जन्म दिया। और सभी ऐसे है, जिन्होंने इस दिशा में मौलिकता दिखाना तो दूर रहा, दरअसल बाहरी मजहबों को अख्तियार किया है।" मजहब और राष्ट्रीयता के इस मेल ने दोनों ही तत्वों से ज़ोर और ताकत हासिल की, लेकिन इस मेल में उसकी कमजोरी भी समाई हुई थी, क्योंकि इस तरह की जातीयता सिर्फ एक अंश में जातीयता कहला सकती थी और यह हिंदुस्तान के उन सभी लोगों को, जो इस मजहबी दायरे से बाहर के थे, एक में मिलानेवाली नहीं थी। हिंदू-राष्ट्रीयता हिंदुस्तान की ज़मीन की एक स्वाभाविक उपज थी, लेकिन यह लाज़िमी तौर पर उस बड़ी राष्ट्रीयता के रास्ते में रुकावट डालती थी, जो मजहबी भेद-भावों से ऊपर उठ जाना चाहती है।

यह सही है कि ऐसे ज़माने में, जब एक बड़ी सल्तनत टूट रही थी और बहुत-से हिंदुस्तानी और विदेशी साहसी अपने-अपने वास्ते छोटी-छोटी हुकूमतें कायम कर लेने की कोशिश में थे, आजकल के अर्थ में जातीयता का अस्तित्व मुश्किल से हो सकता था। हर एक साहसी अपनी ताकत बढ़ाना चाहता था, हर एक गिरोह अपनी-अपनी फिक्र में था। जो इतिहास इस वक्त हमारे सामने आता है, उसमें महज इन साहसियों का बयान है, और वह इन साहसियों के कारनामों को जितना आगे लाता है, उतना उन महत्त्ववाली घटनाओं को नहीं, जो सतह के नीचे-नीचे घट रही थी। फिर भी हमें इस बात की झलक मिल जाती है कि यद्यपि बहुत-से साहसी इस वक्त मैदान में थे, सब लुटेरे ही न थे। खासतौर पर मराठों की एक ज्यादा विस्तृत कल्पना थी और ज्यों-ज्यों उनकी ताकत बढ़ी, इस कल्पना ने भी विस्तार पाया। वारेन हेस्टिंग्स ने १७८४ में लिखा था—"हिंदुस्तान और दक्खिन के सब लोगों में मराठे ही एक ऐसे हैं, जिनमें राष्ट्रीयता का सिद्धांत मिलता है, और इसकी कौम के हर एक व्यक्ति पर छाप है, और अगर उनके राज्य पर कोई खतरा गुजरा, तो यह शायद उनके सरदारों में आम मकसद के हक़ में एका पैदा कर दे।" शायद उनकी यह राष्ट्रीय भावना उन इलाकों तक महदूद थी, जहां मराठी भाषा बोली जाती है। फिर भी मराठे अपनी राजनैतिक और फौजी व्यवस्था और आदतों में उदार थे और उनके भीतर आपस में जम्हूरियत की भावना थी। इन सब बातों से उनमें मजबूती पैदा

होती थी। शिवाजी औरंगजेब से लडा जरूर, लेकिन उसने मुसलमानो को अपने यहा बराबर नौकरिया भी दी।

आर्थिक सगठन का टूट जाना भी मुगल-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने का एक कारण रहा है। किसानो के बलवे बार-बार होते रहते थे और इनमे से कुछ बडे पैमाने पर हुए थे। १६६९ से लेकर जाट किसानो ने बार-बार दिल्ली सल्तनत के खिलाफ और राजधानी से नज़दीक ही विद्रोह किया। ग़रीबो का एक दूसरा बलवा सतनामियो का था, जिनके बारे में एक मुगल अमीर ने कहा था कि "यह कमीने विद्रोहियो का एक गिरोह है, जिसमे सुनार, बढई, मेहतर, चमार और दूसरे नीच लोग शामिल हैं।" अबतक शहज़ादे और अमीर और उन्हीके दर्जे के आदमी विद्रोह किया करते थे। अब एक दूसरा ही वर्ग इसका प्रयोग कर रहा था।

उस वक्त, जबकि सल्तनत मे फूट और बगावत फैल रही थी, मराठो की नई ताकत तरक्की पर थी और अपने को पच्छिमी हिंदुस्तान मे मजबूत कर रही थी। शिवाजी, जिसका जन्म १६२७ मे हुआ था, पहाडी इलाको के हट्टे-कट्टे छापामार लोगो का एक आदर्श नेता था, और उसके सवार दूर-दूर तक छापा मारने जाते थे, यहातक कि उन्होंने सूरत शहर को, जहा अंग्रेज़ो की कोठिया थी, लूटा और मुगल सल्तनत के दूर के हिस्सो पर 'चौथ' कर लगाया। शिवाजी उभरती हुई हिंदू-राष्ट्रीयता का प्रतीक था और पुराने साहित्य से प्रेरणा हासिल करता था, वह दिलेर था और उसमे नेतृत्व के बडे गुण थे। उसने मराठो को एक मज़बूत और सगठित फौजी दल का रूप दिया, उन्हे एक क़ौमी भूमिका दी, और ऐसी ताकत बना दिया, जिसने मुगल सल्तनत को बिगाडकर छोडा। वह १६८० मे मरा, लेकिन मराठो की ताकत बढती गई, यहातक कि वह हिंदुस्तान की एक आला ताक़त बन गई।

१३ : शक्ति प्राप्त करने के लिए मराठो और अंग्रेज़ो का संघर्ष : अंग्रेज़ों की जीत

औरगज़ेब की मृत्यु के बाद के सौ सालो मे हिंदुस्तान पर अधिकार पाने के लिए कई ताकतो के दाव-पेंच चलते रहे। मुगल सल्तनत तेज़ी के साथ टूटकर बिखर गई थी और शाही सूबेदार आज़ाद बन बैठे थे। फिर भी दिल्ली के मुगल उत्तराधिकारी की इज्ज़त बनी हुई थी, उस वक्त भी, जबकि वह बेबस और दूसरो के हाथो मे कैदी था, नाम के लिए उसीकी फरमाबरदारी जारी रही। इन छोटी-छोटी हुकूमतो की कोई खास ताकत

या अपनी अहमियत न थी, सिवाय इसके कि वे ताकत के खास दावेदारों की मदद कर सकते थे, या उनके रास्ते मे रुकावटें पैदा कर सकते थे। दक्खिन मे अपनी फौजी स्थिति के कारण शुरू मे हैदराबाद के निज़ाम की एक खास अहमियत जान पडती थी, लेकिन जल्द ही यह मालूम पड गया कि यह अहमियत बिलकुल बनावटी है और बाहरी ताकतो ने इसे "भूसा भरकर फुलाकर खडा कर रखा है"। जोखिम और खतरे से अपने को बचाते हुए, दूसरो की मुसीबतो से फायदा उठाने की और दोरुखे-पन की इसमे खास काबलियत थी। सर जॉन शोर ने इसे "हद दर्जे का गया-गुज़रा शक्तिहीन और इसलिए गुलामी मे डूबने की तरफ झुका हुआ" बताया है। मराठे निज़ाम को अपने मातहत खिराज देनेवाले सरदारो मे से एक समझते थे। इससे बचने की और आज़ादी जताने की कोशिश निज़ाम ने की नही कि उसे मराठे फौरन दड देते थे और उसकी कमज़ोर और दब्बू सेना को मार भगाते थे। उसने ब्रिटिश ईस्ट-इडिया कपनी की बढती हुई ताकत की शरण ली और अपनी इस तावेदारी के ज़रिये रियासत कायम रखी। और जब अग्रेज़ो की मैसूर के टीपू सुल्तान के खिलाफ जीत हुई, तब दरअसल हैदराबाद रियासत ने बगैर किसी खास कोशिश के अपना क्षेत्र बहुत बढा लिया।

सन १७८४ मे हैदराबाद के निज़ाम के बारे मे लिखते हुए, वारेन हैस्टिग्स कहता है—"उसकी रियासत छोटी है और थोडी मालगुज़ारी-वाली है, उसकी फौजी ताकत बहुत-ही तुच्छ है, और वह खुद कभी भी बहादुरी या साहस के लिए मशहूर नही रहा है, बल्कि इसके खिलाफ उसका खास उसूल यह रहा जान पडता है कि पडोसियो मे लडाई भडकाई जाय और खुद उसमे हिस्सा लिये बगैर उनके झगडो और कमज़ोरियो से फायदा उठाया जाय, और लडाई से बचने की खातिर चाहे जैसा नीचा देखना पडे, देख लिया जाय।"[1]

अठारहवी सदी मे हिंदुस्तान मे अधिकार के चार दावेदार थे—दो इनमे से हिंदुस्तानी थे और दो विदेशी। हिंदुस्तानी थे-मराठे और दक्खिन मे हैदरअली और उसका बेटा टीपू सुल्तान, विदेशी थे अग्रेज़ और फ्रान्सीसी। सदी के पहले आधे हिस्से मे ऐसा जान पडता था कि इनमे से मराठे सारे हिंदुस्तान पर हुकूमत कायम कर लेंगे और मुग़ल सल्तनत के उत्तराधिकारी बन जायगे। सन १७३७ मे ही उनकी फौजें दिल्ली के दरवाज़े पर पहुंच

[1]टामसन की पुस्तक 'दि मेकिंग ऑव दि इडियन प्रिंसेज़' (१९४३) में पृ० १ पर उद्धृत।

गई थी और कोई ताक़त इतनी मजबूत न रह गई थी कि उनका मुकाबला कर सके।

ठीक उसी वक्त (१७३९ में) एक नई बला आई। पच्छिमोत्तर से ईरान का नादिरशाह दिल्ली पर टूट पड़ा, उसने बड़ी मार-काट और लूट-मार मचाई और यहां से बेशुमार खज़ाना और 'तख्ते ताऊस' ले गया। उसके लिए यह धावा कोई मुश्किल काम न था, क्योंकि दिल्ली के हाकिम कमज़ोर और नामर्द हो चुके थे और लड़ाई के आदी न रह गये थे और मराठों से नादिरशाह का सामना नहीं हुआ। एक मानी में, उसके धावे ने मराठों का काम आसान कर दिया, जो बाद के सालों में पंजाब में भी फैल गये। दुबारा ऐसा जान पड़ा कि हिंदुस्तान मराठों के हाथ में चला जायगा।

नादिरशाह के हमले के दो नतीजे हुए। एक तो यह कि दिल्ली के मुगल हाकिमों का अधिकार का रहा-सहा दावा खत्म हो गया; अब से वह धुंधली परछाईं-जैसे और नाम के हाकिम बन गये, और जिस किसीके हाथ में ताकत होती, वे उसकी कठपुतली होते। बहुत हद तक नादिरशाह के आने से पहले भी उनकी यह हालत हो चुकी थी, उसने इस सिलसिले को पूरा कर दिया। फिर भी परंपरा और कायम-शुदा रिवाजों का ऐसा ज़ोर होता है कि अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी और दूसरे लोग भी उनके पास प्लासी की लड़ाई के पहले तक नज़र और खिराज भेजते रहे, और उसके बाद भी बहुत दिनों तक कंपनी अपनी हैसियत दिल्ली के बादशाह के मुख्तार की समझती रही और १८३५ तक उसीके नाम के सिक्के ढलते रहे।

नादिरशाह के हमले का दूसरा नतीजा यह हुआ कि अफ़ग़ानिस्तान हिंदुस्तान से अलहदा हो गया। अफगानिस्तान, जो मुद्दतों से हिंदुस्तान का हिस्सा रह चुका था, अब जुदा होकर नादिरशाह की सल्तनत का हिस्सा बन गया। कुछ दिनों बाद, एक मुकामी विद्रोह की वजह से, नादिरशाह को उसीके अफसरों ने कत्ल कर दिया और अफग़ानिस्तान खुदमुख्तार रियासत बन गया।

नादिरशाह की वजह से मराठों पर कोई आंच न आई थी और वे पंजाब में फैलते रहे। लेकिन १७६१ में एक दूसरे अफगान हमलावर, अहमदशाह दुर्रानी, ने उन्हें बुरी तरह से हराया। यह उस वक्त अफगानिस्तान का हाकिम था। इस आफ़त में मराठों की फौज के चुने हुए लोग काम आये और कुछ वक्त के लिए उनका सल्तनत कायम करने का सपना मिट गया। रफ्ता-रफ्ता उन्होंने अपने को संभाला और मराठों की सल्तनत कई खुद-मुख्तार रियासतों में बंट गई। पूना के पेशवा की सरपरस्ती में इनका

आत्म-सयम और मेहनत करने की अद्भुत शक्ति दिखाई। औरों के मुकाबले में उसने बहुत पहले अनुभव यह किया कि समुद्री ताकत का बड़ा महत्व है और इस ताकत के आधार पर अंग्रेज-जैसा जोर बंध सकता है। उसने मिल-जुलकर इन्हें मुल्क से निकाल बाहर करने के लिए एक सगठन तैयार करने की भी कोशिश की और इस सिलसिले मे मराठों, निजाम और अवध के शुजाउद्दौला के पास पैगाम भेजे। लेकिन इसका नतीजा कुछ न रहा। उसने अपना समुद्री बेड़ा तैयार करना शुरू किया और मालद्वीप टापू पर कब्जा कर लिया और उसे जहाज बनाने और समुद्री कार्रवाइयों का अड्डा बनाया। अपनी फौज के साथ कूच करते हुए वह रास्ते मे एक मुकाम पर मर गया। उसके बेटे टीपू ने जहाजी बेड़े को मजबूत करने के काम को जारी रखा। टीपू ने नेपोलियन और कुस्तुनतुनिया के सुल्तान के पास भी पैगाम भेजे थे।

उत्तर मे, रणजीतसिंह की अधीनता मे, पजाब मे एक सिख रियासत तैयार हो रही थी, जो बाद मे काश्मीर और पच्छिमोत्तर के सरहदी सूबे तक फैली। लेकिन यह तो एक किनारे की रियासत थी और हिंदुस्तान पर कब्जा पाने के लिए जो लड़ाई हो रही थी, उस पर उसका ज्यादा असर न था। ज्यो-ज्यो अठारहवी सदी खत्म होने पर आई, यह साफ जाहिर हो गया कि लड़ाई सिर्फ दो ताकतो मे है, यानी मराठो और अंग्रेजो मे। और सभी रियासतें और इलाके इन दोनो के मातहत या इनसे जुड़े हुए थे।

मैसूर के टीपू सुल्तान को अंग्रेजो ने आखिरकार १७९९ मे हरा दिया और इससे अब मराठा और ब्रिटिश ईस्ट इडिया कपनी के बीच लड़ाई के लिए मैदान खाली हो गया। चार्ल्स मेटकाफ ने, जो हिंदुस्तान के सबसे काबिल अंग्रेज अफसरो मे से एक था, १८०६ मे लिखा था—"हिंदुस्तान मे दो से ज्यादा बड़ी ताकतें नही है, ब्रिटिश और मराठे, और बाकी रियासतो मे से हर-एक इन दोनो मे से एक के असर मे है। जितने इच हम पीछे हटेंगे, वे इनके कब्जे मे आयेंगे।" लेकिन मराठा सरदारो मे आपस मे वैर चल रहा था और अंग्रेजो ने इनसे अलग-अलग लड़कर इन्हे हराया। इन्होने कुछ मार्के की लड़ाइया जीती थी, खासतौर पर १८०४ मे आगरे के पास इन्होने अंग्रेजो को बुरी तरह परास्त किया। लेकिन १८१८ में मराठा-शक्ति आखिरकार कुचल दी गई और मध्य हिंदुस्तान मे उसकी नुमाइंदगी करनेवाले बड़े-बड़े सरदारो ने हार मानकर ईस्ट इडिया कपनी की सरपरस्ती कुबूल कर ली। उस वक्त अंग्रेज हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े हिस्से के बेरोक हाकिम बन गये, जो मुल्क पर सीधे या अपने कठपुतले और मातहत

राजाओ की मारफत हुकूमत करते थे। पजाब और कुछ दूर के हिस्से अब भी उनके काबू से बाहर थे, लेकिन हिंदुस्तान मे अग्रेजी सल्तनत जम चुकी थी और बाद मे सिखो, गोरखो और बरमियो से इनकी जो लडाइया हुईं, उन्होने नक़शा भर दिया।

१४ : सगठन और यंत्र-कला में अंग्रेजो की श्रेष्ठता और हिंदुस्तान का पिछड़ा होना

इस ज़माने पर अब नज़र डालते हुए करीब-करीब ऐसा जान पडता है कि इत्तिफाकिया हालत के एक सिलसिले और भाग्य के सबब से हिंदुस्तान पर अधिकार कर सकने मे अग्रेज़ कामयाब हुए। जो शानदार इनाम उन्हे हासिल हुआ है, उसे देखते हुए अद्‌भुत रूप से थोडी कोशिशो से उन्होंने एक बडी सल्तनत जीत ली और अपार दौलत पाई, और इस तरह दुनिया की इनी-गिनी ताकतो मे गिने जाने लगे। ऐसा जान पडता है कि कोई छोटी-सी घटना ऐसी घट सकती थी, जिससे उनकी उम्मीदो पर पानी फिर जाता और उनके हौसले खत्म हो जाते। कई मौको पर उन्हे हैदरअली, टीपू, मराठो, सिखो और गोरखो ने हराया। किस्मत ने इतना साथ न दिया होता, तो हिंदुस्तान से उनके पैर उखड जाते, या ज्यादा-से-ज्यादा वे समुद्री-तट के कुछ इलाको मे बने रहते।

फिर भी अगर उस ज़माने के हालत को ग़ौर से देखा जाय, तो मालूम पडेगा कि जो कुछ हुआ, वह एक तरह से लाज़िमी था। खुशकिस्मती ज़रूर थी, लेकिन खुशकिस्मती से फायदा उठाने के लिए काबिलियत भी होनी चाहिए। हिंदुस्तान उस वक्त, मुगल सल्तनत के टूट जाने के बाद, एक उथल-पुथल की कैफियत मे था। कई सदियो को देखा जाय, तो वह इतना कमज़ोर और बेबस कभी नही हुआ था। सगठित शक्ति के टूट जाने से साहसियो और सल्तनत के नये दावेदारो के लिए रास्ता खुल गया था। इन साहसियो और दावेदारो मे अग्रेज ही ऐसे थे, जिनमें वे गुण थे, जो कामयाबी के लिए ज़रूरी होते हैं। एक बडी बात जो उनके खिलाफ पडती थी, वह यह थी कि वे विदेशी थे और एक दूर देश से आये हुए थे। लेकिन यही बात, जो उनके खिलाफ़ पडती थी, उनके माफिक़ भी आई, क्योकि किसीने उनकी तरफ ज्यादा ध्यान न दिया और न उनको हिंदुस्तान के अधिकार का भावी दावेदार समझा। यह अचरज की बात है कि यह धोखा प्लासी की लडाई के बहुत बाद तक कायम रहा और ज़ाब्ते की बातो मे उनका दिल्ली के कठपुतली बादशाह के मुख्तार की हैसियत से पेश आना,

इस धोखे को चलाता रहा। बगाल का जो ये माल लूटकर ले गये और उनके व्यापार के तरीको ने यह यकीन पैदा किया था कि ये विदेशी धन-दौलत के चाहनेवाले हैं, राज अधिकार नही चाहते, और अगरचे ये तकलीफ-देह लोग हैं, फिर भी थोडे वक्त के हैं—कुछ तैमूर और नादिरशाह-जैसे, जो आये और लूट का माल लेकर फिर अपने घर को वापस चले गये।

ईस्ट इडिया कपनी शुरू मे व्यापार के लिए कायम हुई थी और उसका फौजी अमल सिर्फ इस व्यापार की हिफाजत करना था। रफ्ता-रफ्ता, करीब-करीब इस तरह कि लोगो को पता भी न चला, इसने अपना इलाक़ा बढ़ा लिया था और जो खास तरीका इसने अख्तियार किया, वह यह था कि मुकामी झगडो मे विरोधी दलो मे से किसी एक को मदद देना। कपनी की फौजे ज्यादा अच्छी सिखाई गई थी और जिसकी तरफ भी वे मदद देती, उसे फायदा पहुचता और कपनी अपनी सहायता के लिए खासी कीमत वसूल करती। इस तरह कपनी की ताकत बढी और उसके फौजी अमल ने तरक्की की। लोग इन फौजो को इस तरह देखने लगे कि वे किराये पर ली जा सकती हैं। जब लोगो को इस बात का पता चला कि अंग्रेज किसीकी मदद करनेवाले नही थे, बल्कि वे तो अपना ही खेल खेल रहे थे, और वह था हिंदुस्तान मे सियासी ताकत कायम करना, उस वक्त तक वे मुल्क मे अपने को मजबूती से कायम कर चुके थे।

विदेशियो के खिलाफ एक भावना यकीनी तौर पर मौजूद थी, और यह बाद के सालो मे और भी बढ़ी। लेकिन एक आम और व्यापक कौमी भावना से यह बहुत दूर की चीज थी। पृष्ठभूमि मे सामतवाद था और लोग मुकामी सरदारो की वफादारी बजाते थे। जैसाकि चीन के जगी सरदारो के ज़माने मे हुआ था, मुल्क की व्यापक मुसीबतो ने लोगो को इस बात पर मजबूर किया कि जो भी फौजी सरदार कायदे से तनख्वाह दे सकता हो और लूट के मौके देता हो, उसके यहा नौकरी कर ली जाय। ईस्ट इडिया कपनी की फौजो मे ज्यादातर हिंदुस्तानी सिपाही होते थे। सिर्फ़ मराठो मे कुछ कौमी भावना थी, और यह भावना मुकामी सरदारो की वफादारी पर नही थी; फिर भी यह कौमी जज्बा तग और महदूद था। उन्होंने अपने बरताव से बहादुर राजपूतो को अपने खिलाफ कर लिया। बजाय इसके कि वे उनकी दोस्ती हासिल करते, उन्हे अपना दुश्मन बना बैठे, या ज्यादा-से-ज्यादा असतुष्ट जागीरदार। खुद मराठा सरदारो मे तीखा वैमनस्य था और बावजूद इसके कि पेशवा के मातहत उनका एक गुट-सा था, उनमे कभी-कभी खाना-जगी हुआ करती थी। नाजुक मौको पर

ये एक-दूसरे के काम न आते और अलग-अलग लड़कर ये हरा दिये जाते थे।

फिर भी मराठो ने बहुत-से काबिल लोग पैदा किये, जो राजनीतिज्ञ भी थे और योद्धा भी। इनमे नाना फडनवीस, पेशवा बाजीराव (प्रथम), ग्वालियर के महादाजी सिंधिया और इदौर के यशवतराव होल्कर की गिनती होनी चाहिए। और उस अद्‌भुत औरत को, यानी इदौर की रानी अहिल्याबाई को भी, न भूलना चाहिए। उनके सैनिक अच्छे होते थे, अपनी जगह पर डटे रहनेवाले और मौत का बहादुरी से सामना करनेवाले थे। लेकिन इस सब बहादुरी के पीछे युद्ध के ज़माने मे और शाति के जमाने मे भी अकसर महज़ एक जा-बाज़ी और अताईपन होता, जो एक हैरत की बात है। दुनिया के बारे मे उनका अज्ञान हद दर्जे का था और उनकी हिंदुस्तान के भूगोल की भी जानकारी बडी महदूद थी। जो बात और भी बुरी थी, वह यह थी कि वे इस बात का पता लगाने का भी कष्ट नही उठाना चाहते थे कि बाहर क्या हो रहा है और उनके दुश्मन क्या करने मे लगे हुए हैं। इन हालतो मे दूरदेशीवाली राजनीतिज्ञता और कार-आमद अमल की क्या गुजाइश हो सकती थी? उनकी तेज़ी और रफ्तार से अकसर दुश्मन ताज्जुब मे आकर घबरा उठते थे, लेकिन युद्ध को ये महज़ कुछ बहादुरी के धावे समझते और इससे ज़्यादा कुछ नही। छापामार लडाई मे वे बे-जोड थे। बाद में उन्होंने अपनी फ़ौजो को ज्यादा नियमित ढग से सगठित किया। नतीजा यह हुआ कि एक तरफ वे जिरह-बख्तर से बोझिल हुए, दूसरी तरफ उनकी तेज़ रफ्तार जाती रही, और वे इन नई परिस्थितियो के अनुकूल अपने को आसानी से न बना पाये। वे अपने को होशियार समझते थे और थे भी, लेकिन सुलह की हालत मे या युद्ध मे उन्हे धोखा दे सकना मुश्किल न था, क्योकि वे एक पुराने और दकियानूसी चौखटे मे घिरे हुए थे और उसके बाहर निकलना न चाहते थे।

हिंदुस्तानी शासको ने शुरू मे ही विदेशियो की सिखाई हुई फौजो की तरतीब और क़ायदे की बरतरी देख ली थी। वे फ्रान्सीसी और अंग्रेज़ी अफसरो को अपनी फौजो को कवायद कराने के लिए रखने लगे थे और इन दोनो के मुकाबले ने हिंदुस्तानी फौजो की तैयारी में मदद पहुचाई। हैदरअली और टीपू को समुदरी ताकत की अहमियत का भी कुछ खयाल था और उन्होने अंग्रेज़ो को चुनौती देने के लिए एक जहाजी बेडा तैयार करने की कोशिश भी की, लेकिन यह काम उन्होंने देर मे शुरू किया और इस कारण कामयाब न रहा। मराठो ने भी इस दिशा में एक हलकी-सी कोशिश की थी। हिंदुस्तान

मे उस जमाने मे जहाज़ बना करते थे, लेकिन थोडे वक्त मे एक बेडा खडा कर देना आसान न था, खासतौर से तब, जबकि बराबर मुक़ाबले का सामना करना पडे। जब फ्रान्सीसी ताकत खत्म हुई, तो बहुत-से फ्रान्सीसी अफसरो को भी, जो हिंदुस्तानी हुकूमतो की फौजो मे थे, जाना पडा। जो विदेशी अफसर बच रहे थे, यानी अग्रेज़, वे अकसर नाजुक मौको पर अपने मालिको का साथ छोड देते थे और कुछ मौको पर दगा देकर उन्हे फौज और खज़ाने के साथ दुश्मनो के (अग्रेज़ो के) सुपुर्द कर देते थे। हिंदुस्तानी ताकतो का विदेशी अफसरो पर भरोसा करना न महज़ उनके फौजी सगठन का पिछडापन ज़ाहिर करता है, बल्कि ऐसा भी था कि इससे उन्हे अकसर धोखा खाना पडता था और इन अफसरो के एतबार के काबिल न होने की वजह से उन्हे सदा खतरा रहता था। हिंदुस्तानी राज्यो के हुक्कामो मे और फौज मे कुछ लोग अकसर अग्रेज़ो को गुप्त रूप से मदद पहुचानेवाले हुआ करते थे।

अगर मराठे अपने गुट और गिरोहवार कौमियत के बावजूद दीवानी और फौजी सगठन मे पिछडे हुए थे, तो दूसरी हिंदुस्तानी ताकते तो और भी पिछडी हुई थी। राजपूत दिलेर ज़रूर थे, लेकिन उनके ढग सामतवादी थे। वीर होते हुए भी वे नाकारा थे और आपस की फूट मे मुब्तिला रहते थे। उनमे से बहुतेरे सामतवादी स्वामिभक्ति की भावना से और कुछ अशो मे अकबर की पुरानी नीति के फलस्वरूप मिटती हुई दिल्ली की हुकूमत के तरफदार बने रहे। लेकिन दिल्ली की हुकूमत इतनी कमज़ोर हो चुकी थी कि वह इससे फायदा न उठा सकी और राजपूतो का ह्रास होता रहा और वे दूसरो के हाथो के खिलौने बनते गये, और आखिरकार मराठा सिंधिया के प्रभाव मे आ गये। उनके कुछ सरदारो ने अपनी हिफ़ाजत करने के लिए होशियारी से जोड-तोड लगाने की कोशिशे की। उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के बहुत-से मुस्लिम हाकिम और सरदार उतने-ही सामतवादी और खयालो मे उतने ही पिछडे हुए थे, जितने कि राजपूत लोग। उनका होना-न-होना बराबर था, सिवाय इसके कि आम लोगो की मुसीबतो और झझटो को ये और बढाते रहते थे। इनमे से कुछ ने मराठो की सरपरस्ती कुबूल कर ली।

नेपाल के गोरखे बडे ऊचे दर्जे के और कायदे के सिपाही थे और ईस्ट इडिया कपनी की किसी भी फौज से अच्छे नही, तो बराबरी के तो ज़रूर थे। अगरचे इनका सगठन पूरी तरह से सामतवादी था, फिर भी उन्हे अपने देश से ऐसा गहरा प्रेम था कि ये उसकी हिफाज़त के लिए जी

उस आदमी का नाम विश्वासघात और दगाबाजी का पर्याय हो गया है, उसी तरह, जिस तरह कि हाल मे क्विसलिंग का नाम बन गया है।

इस तरह, अंग्रेज एक ऊंचे दर्जे के सियासी और फौजी संगठन की नुमाइंदगी करते थे, जो खूब मजबूत था और उनके यहां बड़े काबिल नेता थे। अपने दुश्मनो के मुकाबले मे उनकी जानकारी कहीं बढ़ी-चढ़ी थी और वे हिंदुस्तान की फूट और यहां की ताकतो के आपस के झगडो का पूरा फायदा उठाते थे। समुंदरो पर उनका कब्जा था, इसलिए उन्हे महफूज़ फौजी रसद कैंप भी मिले हुए थे और मदद हासिल करने के ज़रिये उनके लिए खुले थे। थोडे वक्त के लिए हार भी गये, तो फिर ताकत इकट्ठी करके दुबारा हमला शुरू कर सकते थे। प्लासी की लड़ाई के बाद बंगाल के हाथ मे आ जाने से उन्हे बडी दौलत मिली थी और इस तरीके पर मराठो से और दूसरो से भी लडाई जारी रखने के ज़रिये उन्हे हासिल हो गये थे और हर नई जीत के साथ-साथ ये ज़रिये बढते ही जाते थे। अगर हिंदुस्तानी ताकतें हारती थी, तो उनके लिए तबाही आ जाती थी और इसका वे कोई इलाज न कर पाती थी।

जंग और जीत और लूटमार के इस ज़माने ने मध्य हिंदुस्तान और राजपूताना और दक्खिन और पच्छिम मे यह हालत कर दी था कि बहुत-से इलाको मे हुकूमत ही न रह गई थी और वहा मार-धाड और बेबसी और मुसीबत का आलम था। उन पर से फौजें गुज़र जाती थी और उनके पीछे लुटेरे आते थे और वहा के मुसीबत के मारे लोगो की कोई खबर लेने-वाला न होता था। जो आता, वह उनके माल-असबाब को लूटने के लिए ही आता। हिंदुस्तान के कुछ हिस्सो की हालत करीब-करीब वैसी हो गई थी, जैसी तीस साल की लड़ाई के ज़माने मे मध्य-यूरोप की हुई थी। हालत आमतौर पर सभी जगह बिगडी हुई थी, लेकिन सबसे ज्यादा बिगडी हालत उन इलाको की थी, जहा अंग्रेज़ो का अधिकार था या उनकी सरपरस्ती थी। एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि "जो तस्वीर मद्रास मे या अवध और हैदराबाद की मातहत रियासतो मे हमें देखने मे आती है, उससे ज्यादा दहशतनाक तस्वीर का खयाल नही किया जा सकता। इन जगहो में मुसीबत की बवा आई हुई थी, इनके मुकाबले मे वे प्रदेश, जहा नाना फडनवीस की हुकूमत थी, अमन-चैन के नख्लिस्तान-जैसे थे।"

इस ज़माने से ठीक पहले हिंदुस्तान के बडे हिस्से, बावजूद मुगलो की हुकूमत के टूट जाने के, बद-अमनी से एकदम बरी थे। बंगाल में एक हद तक आज़ाद मुगल सूबेदार अल्लावर्दी के लंबे राज्य-काल मे अमन

हो जाती। ऐसी सूरतें हिंदुस्तान मे, उसकी पाच हज़ार साल की तारीख मे, और दूसरी जगहो मे पहले भी पैदा हो चुकी हैं।

१५ : रजीतसिंह और जयसिंह

यह ज़ाहिर है कि हिंदुस्तान विदेशियो की विजय का शिकार इसलिए हुआ कि उसके लोगो मे कमिया थी और अग्रेज़ एक ऊची और तरक्की करती हुई समाजी व्यवस्था की नुमाइदगी करनेवाले थे। दोनो तरफ के नेताओ के बीच नुमाया फर्क था, हिंदुस्तानी—वे चाहे जितने काबिल हो—खयाल और अमल के तग दायरे मे रहनेवाले लोग थे और उन्हे इस बात का पता न था कि दूसरी जगहो मे क्या हो रहा है और इसलिए वे तब्दील होती हुई हालतो मे अपने को ठीक-ठीक बिठा न पाये। अगर कुछ शख्सो मे बातो को जानने का शौक पैदा भी हुआ, तो वे उन घेरो को तोड न पाते थे, जिनमे वे बधे हुए और कैद थे। इसके बर-अक्स अग्रेज बहुत दुनियासाज़ लोग थे और उनके मुल्क और फ्रान्स और अमरीका मे होनेवाली घटनाओ ने उन्हें जगा दिया था। दो बडी क्रातिया गुज़र चुकी थी। फ्रान्सीसी इन्कलाबी फौजो के और नेपोलियन के धावो ने सारी युद्ध की कला बदल दी थी। अनजान-से-अनजान अग्रेज अपनी हिंदुस्तान-यात्रा के बीच मे दुनिया के कई हिस्सो को देख चुका होता था। खुद इग्लिस्तान मे मार्के की खोजें हो चुकी थी, जिनका नतीजा यह हुआ था कि वहा औद्योगिक क्राति हो गई थी, अगरचे शायद बहुत-ही थोडे लोग ऐसे थे, जो इसके दूर तक पहुचने वाले असर का अदाज़ा लगा सकते थे। लेकिन तब्दीली का खमीर ज़ोरो से काम कर रहा था और लोगो पर असर डाल रहा था। इन सबके पीछे वह प्रसारशील स्फूर्ति थी, जिसने अग्रेज़ो को दूर-दराज़ मुल्को मे भेजा।

जिन लोगो ने हिंदुस्तान का इतिहास लिखा है, वे लडाइयो और हगामो और राजनैतिक और फौजी नेताओ के बयान मे इतने फस गये हैं कि उन्होंने यह बहुत कम लिखा कि हिंदुस्तान के दिमाग़ मे क्या तब्दीलिया हो रही थी और उसकी समाजी और आर्थिक व्यवस्था किस तरफ़ जा रही थी। इस गदले बयान के भीतर से बीच-बीच मे, और इत्तिफाक से, कुछ झलकिया मिल जाती हैं। ऐसा जान पडता है कि इस भयानक दौर मे लोग आमतौर पर पस्त और कुचले हुए-से थे। वे दुर्भाग्य के चक्र को चुपके से बरदाश्त कर लेते थे, एक चकाचौंध और उदासीनता का उन पर आलम छाया हुआ था। बहुत-से व्यक्ति ऐसे ज़रूर रहे होगे, जिनमे बातो को समझने की ख्वाहिश थी और जो उन नई ताकतो को समझना चाहते थे, जो काम कर

रही थी, लेकिन घटनाओ की बाढ मे वे आ गये थे, और उन पर असर न डाल सके।

उन व्यक्तियो मे, जिनमे जिज्ञासा भरी हुई थी, एक महाराजा रजीतसिंह था, जो एक जाट सिख था और जिसने पजाब मे एक राज्य बना लिया था। यह राज्य बाद मे काश्मीर और सरहदी सूबे तक फैला। उसमे कमजोरिया थी और बुरी आदते भी थी, फिर भी वह एक अद्‌भुत आदमी था। जैकमो नाम का फ़ान्सीसी उसे "हद दर्जे का बहादुर" बताता है और कहता है कि "यह करीब-करीब पहला हिंदुस्तानी है, जिसमे मैंने जिज्ञासा का भाव देखा है। लेकिन उसकी जिज्ञासा ऐसी थी कि वह सारी क़ौम की उदासीनता की कमी को पूरा करनेवाली थी। उसकी बातचीत से हमेशा डर लगता है।"[1] इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हिंदुस्तानी हमेशा अलग-थलग रहनेवाले होते है, उनमे भी खासतौर पर आला दिमाग लोग। इनमे से बहुत कम ने हिंदुस्तान मे आनेवाले विदेशी फौजी नेताओ और साहसियो से राह-रस्म रखना पसद किया होगा, क्योकि उनके बहुत-से कारनामो ने उनमे दहशत पैदा की होगी। इस तरह विचारशील लोग विदेशियो से जहातक होता, बचकर अपनी प्रतिष्ठा बचाये रखते और उनसे सिर्फ रस्मी मौको पर मुलाकात करते, या उस वक्त, जब मिलना लाजिम हो जाता। जिन हिंदुस्तानियो से अग्रेज मिलते, वे आमतौर पर या तो ओहदापरस्त लोग होते या जी-हुजूरीवाले, जो उन्हे और वजीरो को घेरे रहते और अकसर घूसखोर और षड्‌यत्री हिंदुस्तानी दरबारी होते।

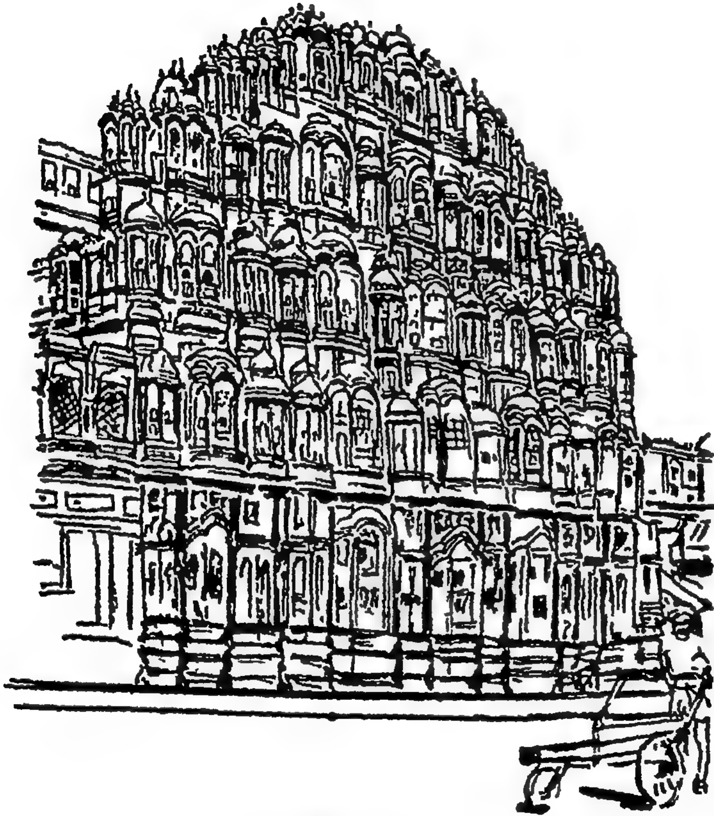
रजीतसिंह मानसिक जिज्ञासावाला आदमी ही न था, उसमे बडी मानवता भी था। उस वक्त, जब हिंदुस्तान और सारी दुनिया मे बेदर्दी और पाशविकता छाई हुई थी, उसने एक राज्य बनाया और जबरदस्त फौज खडी कर ली, फिर भी वह खून-खराबी पसद नही करता था। प्रिसेप ने लिखा है कि "एक अकेले आदमी ने इतनी बडी सल्तनत इतनी कम गुनहगारी के साथ कभी न कायम की थी।" चाहे जैसा भी जुर्म हो, उसने मौत की सज़ा उठा दी थी—उस वक्त, जब इंगलिस्तान मे छोटी-छोटी चोरियो के लिए भी मौत की सजाए दी जाती थी। आसबार्न, जो उससे मिला था, लिखता है—"जग के मौको को छोडकर उसने कभी किसीकी जान न ली, अगरचे खुद उसकी ज़िदगी पर कई बार हमले हुए थे, और उसका राज्य बहुत-से ज्यादा सभ्य बादशाहो के मुकाबले मे निर्दयता और दमन के कामो से मुक्त पाया जायगा।"[2]

[1] एडवर्ड 'दि मेकिंग ऑव इडियन प्रिंसेज'। पृ० १५७, १५८।

एक दूसरा, और और ही ढग का हिंदुस्तानी राजनीतिज्ञ, राजपूताना मे जयपुर का सवाई जयसिह था। उसका ज़माना कुछ और पहले का है। १७४३ मे उसकी मृत्यु हुई। औरंगज़ेब के मरने से बाद के ज़माने मे जो टूट-फूट हुई, उस वक्त यह हुआ है। वह इतना होशियार और मौकापरस्त था कि एक के बाद एक तेज़ी से आनेवाले धक्को से और तब्दीलियो से अपने को संभाल सका। उसने दिल्ली के बादशाह की सरपरस्ती कुबूल कर ली। जब उसने देखा कि आगे बढते हुए मराठे इतने मज़बूत है कि उन्हे रोका नही जा सकता, तो उसने बादशाह की तरफ से उनसे समझौता कर लिया। लेकिन उसके राजनैतिक और फौजी कारनामो मे मेरी दिलचस्पी नही है। वह एक बहादुर योद्धा और पक्का राजनीतिज्ञ था, लेकिन वह इससे कही बढकर था। वह गणितज्ञ था और ज्योतिर्विद था। वह वैज्ञानिक था और नगर-निर्माण करनेवाला था और इतिहास के अध्ययन मे उसकी दिलचस्पी थी।

जयसिह ने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, बनारस और मथुरा मे बडी-बडी वेधशालाए तैयार कराई। पुर्तगाली पादरियो से यह जानकर कि पुर्तगाल मे ज्योतिर्विद्या तरक्की पर है, उसने एक पादरी के साथ अपना एक आदमी पुर्तगाल के राजा इमानुएल के दरबार मे भेजा। इमानुएल ने अपने दूत जेवियर डि सिल्वा को डि ला हायर की तालिकाओ के साथ जयसिह के पास भेजा। इन तालिकाओ का अपनी तालिकाओ से मिलान करने पर वह इस नतीजे पर पहुचा कि पुर्तगाली तालिकाए कम शुद्ध थी और उनमे कई गलतिया थी। इन गलतियो का कारण उसने यह बताया कि जिन यत्रो का उपयोग किया गया था, उनके "व्यास घटिया" थे। जयसिह हिंदुस्तानी गणित का पूरा जानकार तो था ही उसने पुरानी यूनानी किताबे भी देखी थी और यूरोप मे उसके ज़माने मे गणित मे जो तरक्की-हुई थी, उसे भी जानता था। उसने उकलैदिस आदि कुछ यूनानी किताबो के और सम तथा गोलीय त्रिकोणमिति और लघु गणको के निर्माण और व्यवहार पर यूरोपीय ग्रथो के सस्कृत मे तरजुमे कराये थे। उसने ज्योतिर्विद्या की अरबी किताबो के भी तरजुमे कराये थे।

उसने जयपुर शहर की स्थापना की। नगर-निर्माण मे दिलचस्पी रखने के कारण उसने अपने समय के बहुत-से यूरोपीय शहरो के नकशे इकट्ठे किये और फिर अपना नकशा तैयार किया। जयपुर के अजायबघर मे पुराने यूरोपीय शहरो के इन नक़शो मे से कई अब भी सुरक्षित हैं। जयपुर के शहर की आयोजना इतनी अच्छी और बुद्धिमत्तापूर्ण थी कि यह अब भी नगर-निर्माण की एक मिसाल पेश करता है।



हवामहल, जयपुर

थोड़ी ही उम्र के भीतर-भीतर, और युद्धों और दरबारी षड्यन्त्रों में फंसे रहते हुए भी, जयसिंह ने यह सब और बहुत-कुछ और भी किया। जयसिंह की मृत्यु से ठीक चार साल पहले नादिरशाह का हमला हुआ था। किसी भी जमाने में और कहीं भी जयसिंह एक मार्के का आदमी हुआ होता। राजपूताने के खास सामन्तवादी वातावरण में पैदा होने और हिंदुस्तान के इतिहास के एक इतने अंधियारे जमाने में भी, जबकि टूट-फूट, युद्ध और हंगामे ही दिखाई पड़ते थे, उसके वैज्ञानिक कारनामे बड़े महत्व के हैं। इससे यह पता चलता है कि हिंदुस्तान में वैज्ञानिक जिज्ञासा का लोप नहीं हुआ था और कोई ऐसा खमीर काम कर रहा था कि अगर उसे मौका दिया जाता, तो वह बड़े कीमती नतीजे सामने लाता। यह बात नहीं कि जयसिंह अपने जमाने का एक अनोखा आदमी रहा हो और एक अप्रिय और अनुपयुक्त वातावरण में उत्पन्न हुआ अकेला विचारक रहा हो। वह अपने युग की ही उपज था और अपने साथ काम करनेवाले बहुत-से विज्ञानकर्मियों को उसने इकट्ठा कर लिया था। इनमें से कुछ को उसने समाज के रिवाज और रोक-टोक की परवा न करके पुर्तगाल में एलची बनाकर भेजा था। ऐसा संभव जान पड़ता है कि मुल्क में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों तरह के वैज्ञानिक काम के लिए अच्छी-खासी सामग्री मौजूद थी। लेकिन उसे विकास का अवसर न मिला। दुर्व्यवस्था और हंगामों के खत्म हो जाने के बाद भी वैज्ञानिक कामों के लिए अधिकारियों से कोई बढ़ावा न मिला।

१६ : हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि : इंगलिस्तान के दो रूप

जिस वक्त ये सब दूर तक असर करनेवाले राजनैतिक उलट-फेर हो रहे थे, हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि क्या थी? वी० एन्स्टे ने लिखा है कि ठीक अठारहवीं सदी तक "पैदावार और औद्योगिक और व्यापारिक संगठन के हिंदुस्तानी तरीके दुनिया के किसी हिस्से में रायज तरीकों के मुकाबले में नीचे न ठहरेंगे।" हिंदुस्तान तिजारती माल पैदा करनेवाला एक बहुत ही तरक्कीयाफ्ता मुल्क था और अपने यहां से तैयार किया हुआ माल यूरोप और दूसरे देशों में भेजता था। उसकी महाजनी की व्यवस्था खूब अच्छी और देश-भर में बहुत संगठित थी और बड़े-बड़े रोजगारियों की हुंडियां हिंदुस्तान में सब जगह सकारी जाती थीं। और हिंदुस्तान ही क्या, ईरान, काबुल, हेरात, ताशकंद और मध्य-एशिया की और जगहों में भी क़बूल की जाती थीं। व्यावसायिक सरमाये का उदय हो चुका और गुमाश्तों, माल पहुंचानेवालों और दलालों और बीच के व्यापारियों का जाल-सा बिछा

हुआ था। जहाज़ बनाने का धंधा ज़ोरो पर था और नेपोलियन के ज़माने की लडाइयो मे एक अंग्रेज़ एडमिरल का खास जहाज़ (फ्लैग-शिप) हिंदुस्तान के एक कारखाने का बना हुआ था। दरअसल, तिजारत और व्यापार और माली मामलों मे औद्योगिक क्राति (इडस्ट्रियल रिवोल्यूशन) के ज़माने से पहले तक हिंदुस्तान किसी भी मुल्क के मुकाबले मे तरक्की कर चुका था। अगर मुल्क मे शाति और पायदार हुकूमत के लबे दौर न गुज़रे होते और आमद-रफ्त के रास्ते आने-जाने और तिजारत के लिए महफूज़ न होते, तो ऐसी तरक्की नामुमकिन होती।

विदेशी साहसिक शुरू मे हिंदुस्तानी तिजारती माल की खूबियो से खिचकर यहा आये, क्योंकि इस माल की यूरोप मे वडी खपत थी। ब्रिटिश ईस्ट इडिया कपनी का शुरू के दिनो मे खास धधा ही हिंदुस्तानी माल का यूरोप मे रोज़गार करना था और यह तिजारत कपनी के लिए वडे फायदे की साबित हुई, और कपनी के हिस्सेदारो को लबे नफे मिलते रहे। चीज़ो की तैयारी के तरीके हिंदुस्तान मे ऐसे कारगर और सगठित थे और हिंदुस्तान के कारीगरो और शिल्पियो की हुनरमदी इस दर्जे की थी कि वे तैयारी के ज्यादा ऊचे तकनीक से, जो उस वक्त इग्लिस्तान मे कायम हो रहा था, वडी कामयावी से मुकावला कर सकते थे। जिस वक्त इग्लिस्तान मे वडी मशीनो का युग शुरु हुआ, उस वक्त हिंदुस्तानी माल वहा पटा पडता था और उसे भारी चुगी लगाकर और कुछ चीज़ो का आना तो कतई बद करके, रोकना पडा।

सन १७५७ मे, यानी उसी साल, जबकि प्लासी की लडाई हुई, क्लाइव ने बगाल के मुर्शिदावाद को "लदन के इतना विस्तृत, आवाद और सपन्न शहर" बताया है, फर्क इतना है कि इनमे से पहले—मुर्शिदावाद—मे ऐसे लोग है, जो दूसरे—लदन—के मुकावले मे बे-इतिहा मालामाल है।" पूरबी बगाल मे ढाका का शहर अपनी वारीक मलमल के लिए मशहूर था। ये दो शहर, महत्व के होते हुए भी, हिंदुस्तान के बाहरी छोर के करीब मे थे। इस विस्तृत देश मे सभी जगह और भी बडे शहर, और बहुत बडे व्यापार और तिजारत के मरकज़ थे और तेजी से समाचार और व्यापार-भाव की जानकारी पहुचाने के लिए वडी होशियारी से व्यवस्था की गई थी। बडे-बडे व्यापारियो के यहा, अक्सर लडाई तक के समाचार, ईस्ट इंडिया कपनी के अफसरो के पास आये समाचारो से बहुत पहले पहुच जाते थे। इस तरह हिंदुस्तान का अर्थ-तत्र औद्योगिक क्राति से पहले जितनी तरक्की मुमकिन थी, उतनी तरक्की कर चुका था। उसमे और भी तरक्की की

गुंजाइश थी, या वह कड़े समाजी ढांचे की वजह से बहुत बंध गया था, यह बता सकना कठिन है। फिर भी यह बहुत संभव जान पड़ता है कि सामान्य हालतों में इसमें वह तब्दीली पैदा हो जाती, जिससे वह अपने को अपने ही तरीके पर नई औद्योगिक परिस्थितियों के माफिक ढाल लेता। अगरचे वह तब्दीली के लिए तैयार हो चुका था, फिर भी इस तब्दीली के लिए खुद उसकी व्यवस्था में एक क्रांति के आने की जरूरत थी। इस तब्दीली के पैदा करने के लिए शायद एक प्रवर्तक की जरूरत थी। यह ज़ाहिर था कि कल-कारखानों से पहले का इसका अर्थ-तंत्र चाहे जितना तरक्की कर चुका हो, उन मुल्कों के माल से, जहां कल-कारखाने कायम हो चुके थे, यह ज्यादा दिनों तक मुकाबला नहीं कर सकता था। यह लाज़िमी था कि या तो यह अपने कल-कारखाने खड़े करे या यह विदेशी आर्थिक पैठ के आगे झुक जाय, जो सियासी दखलदाज़ी का रास्ता खोल देती। जो कुछ हुआ, वह यह था कि विदेशियों की सियासी हुकूमत यहां पहले आई, और इसके ज़रिये उस अर्थ-तंत्र का बड़ी तेज़ी से नाश हुआ, जो कायम हो चुका था और उसकी जगह पर कोई निश्चित या रचनात्मक चीज़ आई नहीं। ईस्ट इंडिया कंपनी अंग्रेजी राजनैतिक शक्ति और अंग्रेज़ निहित स्वार्थों तथा आर्थिक शक्ति, दोनों की नुमाइंदगी करती थी। यह सियासी ताकत रखनेवाली थी और चूंकि यह तिजारतियों की कंपनी थी, यह धन कमाने पर भी तुली हुई थी। ठीक उस वक्त, जब यह बड़ी तेज़ी से और अपार धन कमा रही थी, सन १७७६ में, एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वेल्थ ऑव नेशन्स' में लिखा था—"एक मात्र व्यापारियों की कंपनी की हुकूमत किसी भी देश के लिए शायद सबसे बुरी हुकूमत है।"

अगरचे हिंदुस्तानी व्यापारियों और माल तैयार करनेवालों के वर्ग अमीर थे और सारे देश में फैले हुए थे और उनका आर्थिक व्यवस्था पर क़ाबू था, फिर भी उनमें राजनैतिक शक्ति नहीं थी। हुकूमत स्वेच्छाचारी और अब भी, बहुत हद तक, सामंतवादी थी। दरअसल यह शायद जितनी सामंतवादी इस ज़माने में थी, उतनी हिंदुस्तान के इतिहास में और कभी भी पहले नहीं रही थी। इस वजह से कोई मज़बूत मध्य-वर्ग नहीं था, या ऐसा वर्ग भी, जो ताकत अपने हाथ में कर लेने के लिए सचेत हो, जैसा पच्छिमी देशों में था। आमतौर से लोग उदासीन और गुलामी की मनोवृत्ति रखनेवाले हो रहे थे। इस तरह एक खाई पैदा हो गई थी, जिसका भरना इन्क़लाबी तब्दीली लाने के लिए जरूरी था। शायद यह खाई हिंदुस्तानी समाज की स्थिर प्रकृति के कारण पैदा हुई थी, क्योंकि यह समाज

एक बदलती हुई दुनिया मे तब्दीली से इन्कार करता था, और जो भी सभ्यता तब्दीली की राह मे रुकावट डालती है, उसका ह्रास होता है। यह समाज, जिस ढग का भी था, अब उसका रचनात्मक काम खत्म हो चुका था। तब्दीली को आना ही था।

उस जमाने मे अग्रेज सियासी नजर से कही ज्यादा तरक्कीयाफ्ता थे। उनके यहा राजनैतिक क्राति हो चुकी थी और उन्होने अपने राजा की ताकत से ऊपर पार्लमेंट की ताकत कायम कर ली थी। उनके मध्य-वर्ग के लोग, अपनी नई शक्ति की चेतना रखते हुए, खूब फैलना चाहते थे। यह जीवनी-शक्ति और स्फूर्त्ति, जो तरक्की करनेवाले और प्रगतिशील समाज के लक्षण हैं, इग्लिस्तान मे साफ तौर पर दिखाई देते हैं। ये कई तरीको पर सामने आते हैं, सबसे ज्यादा उन ईजादो और खोजो मे सामने आते हैं, जिन्होने औद्योगिक क्राति का आह्वान किया।

यह सब होते हुए भी, अग्रेजी शासक-वर्ग कैसा था ? अमरीका के मशहूर इतिहासकार, चार्ल्स और मेरी बेयर्ड, ने हमे बताया है कि अमरीका की क्राति की कामयाबी ने अमरीका के शाही सूबो से किस तरह अग्रेजी शासक-वर्ग को अचानक दूर कर दिया—"यह वर्ग एक वहशियाना जाब्ता फौजदारी का आदी था, और आदी था एक तग, गैर-रवादार शिक्षण की व्यवस्था का, नौकरियो और विशेषाधिकारो के एक बडे समूह के रूप मे कल्पित हुकूमत का, खेतो और दूकानो मे मेहनत करनेवाले मर्दों और औरतो को हिकारत से देखने का, जनता को शिक्षा देने से इन्कार का, एक क़ायमशुदा मजहब को मुनकिरो और कैथलिको पर लादने का, देहातो और गावो मे जमीदारो और पादरियो के राज का, फौज और जहाजी नौकरियो मे बेरहमी और अत्याचार का, जमीदारो की हुकूमत की रोक-थाम करने-वाली उस प्रथा का, जिसमे जेठे बेटे को विरासत का हकदार माना जाता है, पदो, निठल्ले ओहदो और पेन्शनो की खातिर राजा की चापलूसी मे लगे हुए झुड-के-झुड भुक्कड लोगो का, और मजहब और राज की ऐसी व्यवस्था का, जो घमड और लूट के इस बडे ढेर के बोझ को जनता पर लादती है। अग्रेजी राजा की नौ-आबादियो की प्रजा की इस बोझ के पहाड से अमरीका के क्रातिकारियो ने रक्षा की। इस मुक्ति के दस-बीस साल के भीतर उन्होने कानून और नीति मे वे सुधार कर लिये, जिनके लिए मातृ-देश (इग्लिस्तान) मे सौ या इससे ज्यादा साल के बराबर आदोलन की जरूरत पडी—और जिनकी बदौलत इन सुधारो के लिए आदोलन करनेवाले राजनीतिज्ञो को अग्रेजी इतिहास मे अमर स्थान

दिया गया।"[1]

अमरीकी आजादी के ऐलान पर, जो आजादी के इतिहास की एक उल्लेखनीय घटना है, १७७६ में दस्तखत हुए थे, और छ साल बाद नो-आबादिया इंग्लिस्तान से अलग हो गई। तब उनकी असली मानसिक, आर्थिक और समाजी क्रांति शुरू हुई। अंग्रेजों की प्रेरणा से इंग्लिस्तान के नमूने पर जमीन की जो व्यवस्था कायम हो गई थी, वह बिलकुल बदल दी गई। बहुत-से विशेषाधिकार खत्म कर दिये गये और बड़ी जमींदारियों को जब्त करके उन्हें टुकड़ों में बांट दिया गया। जागरण और दिमागी और आर्थिक सर-गरमी और उद्योग का एक जोशीला जमाना आया। सामंतवादी निशानियों से और विदेशी अधिकार से मुक्त होकर आजाद अमरीका ने तरक्की के लंबे डग भरे।

फ्रान्स में, बड़ी क्रांति ने बैस्तील के कैदखाने को, जो पुरानी व्यवस्था का प्रतीक था, तोड़ डाला, और राजा और सामंतवाद को हटाकर दुनिया के सामने इन्सानी हकों का ऐलान किया।

फिर इस वक्त इंग्लिस्तान में क्या हुआ? अमरीका और फ्रान्स की इन इन्कलाबी तब्दीलियों से दहशत खाकर, इंग्लिस्तान और भी प्रतिक्रिया-वादी हो गया और उसका भयानक और बर्बर जाब्ता फौजदारी और भी वहशियाना बन गया। सन १७६० में जब तीसरा जार्ज गद्दी पर बैठा, तब १६० ऐसे जुर्म थे, जिनके लिए मर्दों, औरतों और बच्चों को मौत की सजा मिल सकती थी। जब १८२० में उसका राज्य-काल खत्म हुआ, तब इस भयानक सूची में करीब सौ ऐसे जुर्म और जुड़ चुके थे, जिनके लिए मौत की सजा करार दी गई थी। ब्रिटिश फौज के आम सिपाही के साथ ऐसा बरताव किया जाता था, जैसा जानवरों के साथ भी न होता हो। ऐसी बेदर्दी और बेरहमी बरती जाती थी कि रोंगटे खड़े होते हैं। मौत की सजाएं आम थीं, और उससे भी ज्यादा आम था सरे-आम कोड़े लगाने का रिवाज। सैकड़ों कोड़े तक लगाये जाते थे, यहांतक कि या तो मौत हो ही जाती थी, या ज्यों-त्यों बच गये, तो सजा पानेवालों के कुचले हुए जिस्म मरने के दिन तक इस दंड की कहानी कहते रहते थे।

इस मामले में और बहुत-सी और बातों में, जिनका इन्सानियत और व्यक्ति की प्रतिष्ठा से संबंध है, हिंदुस्तान कहीं आगे था और उसकी तहजीब कहीं ऊंची थी। उस जमाने में हिंदुस्तान में इंग्लैंड या यूरोप के मुकाबले

[1] 'दि राइज ऑव अमेरिकन सिविलाइजेशन' (१९२८), जिल्द १, पृ० २९२।

मे ज्यादा साक्षरता थी, अगरचे तालीम का ढर्रा पुराना था। शायद नागरिक सुविधाए भी ज्यादा थी। यूरोप मे आम जनता की दशा बहुत पिछडी हुई थी और हिदुस्तान की जनता की हालत के मुकाबले मे अच्छी न थी। लेकिन सबसे भारी फर्क यह था कि पच्छिमी यूरोप मे नई ताकतें और जिंदा धाराए साफ तौर पर काम कर रही थी और उनके साथ-साथ तब्दीलिया पैदा हो रही थी, हिदुस्तान मे स्थिति कही ज्यादा स्थिर और गतिहीन थी।

इंग्लिस्तान का हिदुस्तान मे आगमन हुआ। १६०० मे, जब रानी एलिजाबेथ ने ईस्ट इडिया कपनी को परवाना दिया, उस वक्त शेक्सपियर जिंदा था और उसका लिखना जारी था। १६११ मे इजील का मजूरशुदा अग्रेजी तरजुमा निकला, १६०८ मे मिल्टन का जन्म हुआ, उसके बाद हैंपडेन और क्रामवेल सामने आये और राजनैतिक क्राति हुई। १६६० मे इग्लिस्तान की रायल सोसायटी कायम हुई, जिसने विज्ञान को तरक्की देने मे इतना हिस्सा लिया। सौ साल बाद, १७६० मे, कपडा बुनने की तेज ढरकी की ईजाद हुई, उसके बाद जल्दी-जल्दी, एक-एक करके, कातने की कल, भाप के इजन और मशीन के करघे निकले।

इग्लिस्तान के इन दो रूपो मे कौनसा इग्लिस्तान हिदुस्तान मे आया? शेक्सपियर और मिल्टनवाला, उदार बातो और लेखो और बहादुरी के कारनामोंवाला, राजनैतिक क्राति और आजादी के हक मे लडाई करनेवाला, विज्ञान और उद्योग की तरक्की को आगे बढानेवाला इग्लिस्तान यहा आया, या वहशियाना जाब्ता फौजदारीवाला, बर्बर व्यवहार करनेवाला और सामतवादी और प्रतिक्रियावादी इग्लिस्तान आया?—क्योकि इग्लिस्तान के दो रूप रहे हैं, जिस तरह हर एक मुल्क मे जातीय चरित्र और तहजीब के दो पहलू होते हैं। एडवर्ड टामसन ने लिखा है—"हमारी सभ्यता की सबसे ऊची और आम सतहो के बीच इग्लिस्तान मे हमेशा एक बडा फर्क रहा है, मुझे बडा शक है कि इस तरह की चीज और भी किसी मुल्क मे—जिससे हम अपना मुकाबला करना चाहेंगे—है या नहीं और यह फर्क इतनी धीमी रफ्तार से घट रहा है कि अकसर यह जान पडता है कि यह घट ही नही रहा है।"[1]

दोनो इग्लिस्तान एक-दूसरे पर असर डालते हुए साथ-साथ चल रहे हैं, और एक-दूसरे से जुदा नही किये जा सकते, न यही हो सकता था कि इनमे से एक दूसरे को बिलकुल भुलाकर हिदुस्तान मे आये। फिर भी हर

[1] 'मेकिंग ऑव इडियन प्रिंसेज' (१४९३) पृ० २६४।

बडे अमल मे एक ही आगे आता है और दूसरे पर हावी रहता है, और यह लाज़िमी था कि हिंदुस्तान मे यह ग़लत किस्म का इग्लिस्तान अपना खेल खेले और इस रविश मे ग़लत किस्म के हिंदुस्तान से उसका सपर्क हो और इसे वढावा मिले।

सयुक्त राज्य अमरीका की आज़ादी का करीब-करीब वही ज़माना है, जो हिंदुस्तान का आज़ादी खोने का है। पिछली डेढ सदियो पर नज़र डालते हुए एक हिंदुस्तानी, किसी कदर लालच-भरी और ख्वाहिश-भरी निगाहो से उस बडी तरक्की को देखता है, जो अमरीका ने इस ज़माने मे कर ली है और इसका मुकाबला उन बातो से करता है, जो हिंदुस्तान मे हुई हैं, या नही हो पाई हैं। बिला शक यह सही है कि अमरीकियो मे बहुत-से गुण हैं, और हममे बहुत-सी कमज़ोरिया हैं, और अमरीका मे बिलकुल नया मैदान था, और उन्हे बिलकुल आरभ से ही शुरुआत करनी थी, जबकि हम पुरानी यादो और परपराओ से जकडे हुए थे। शायद फिर भी यह बात कल्पना मे आनेवाली नही है कि अगर ब्रिटेन ने (उसीके शब्दो मे) हिंदुस्तान का यह भारी बोझ न सभाला होता और हमे इतने लबे अरसे तक खुदमुख्तारी की मुश्किल कला, जिससे हम इतने ग़ैर-वाक़िफ़ थे, सिखाने की कोशिश न की होती, तो हिंदुस्तान न महज़ ज्यादा आज़ाद और खुशहाल होता, बल्कि विज्ञान और कला मे, और उन सभी बातो मे, जो ज़िदगी को जीने के काबिल बनाती हैं, कहीं ज्यादा तरक्की कर चुका होता।

: ७ :

आख़िरी पहलू—१

ब्रिटिश शासन का मज़बूत पड़ना और राष्ट्रीय-आंदोलन का उदय

१ : साम्राज्य की विचारधारा : नई जाति

एक अंग्रेज ने, जो हिंदुस्तान से और उसके इतिहास से खूब वाकिफ है, यह लिखा है कि "शायद और किसी चीज़ के मुकाबले, जो हमने की हो, हमारा हिंदुस्तान के इतिहास को लिखना ज्यादा खलता है।" हिंदुस्तान की ब्रिटिश हुकूमत के इतिहास मे हिंदुस्तान को सबसे ज्यादा बुरा क्या लगता है, यह कहना मुश्किल है। फहरिस्त लंबी है और उसमे कई तरह की बातें हैं। लेकिन यह सच है कि हिंदुस्तान के इतिहास का, और खासतौर से ब्रिटिश-युग का, अंग्रेज़ो द्वारा बयान बेहद बुरा लगता है। करीब-करीब हमेशा ही इतिहास विजेताओ द्वारा लिखा जाता है और उसमे उनका नज़रिया मिलता है, या कम-से-कम विजेता के बयान को प्रधानता दी जाती है और वही सबसे ऊपर माना जाता है। बहुत मुमकिन है कि हिंदुस्तान मे आर्यों के बारे मे शुरू के जो बयान मिलते हैं, उनमे, यानी पुराणो और परपराओ मे, आर्यों की बडाई की गई हो और विजित जनता के प्रति बेइन्साफी हुई हो। कोई शख्स अपने-आपको जातीय दृष्टिकोण या सास्कृतिक पाबदियो से बिलकुल बचा नहीं सकता, और जिस वक्त जातियो या देशो के बीच झगडा होता है; उस वक्त ग़ैर-तरफदारी की कोशिश को भी अपनी जनता के प्रति विश्वास-घात समझा जाता है। इस झगडे की एक हद दर्जे की मिसाल है लडाई। उसमे जहातक दुश्मन कौम का सवाल है, सारी गैर-जानिबदारी और सारा इन्साफ उठाकर ताक मे रख दिया जाता है। दिमाग अनुदार होता जाता है और सिवाय एक चीज के उसमे और हर एक चीज के लिए दरवाज़ा बद हो जाता है। उस वक़्त की सबसे बडी जरूरत है अपने कामो को ठीक ठहराना और दुश्मन के कामो की निंदा करना और उनको काला करके सामने लाना। किसी बहुत ही गहरे कुए के तले मे सत्य छिपा रहता है और झूठ को खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी से अहमियत दी जाती है।

उस वक्त भी, जबकि खुले तौर पर लडाई चालू नही होती, मुखालिफ देशो और स्वार्थों मे अकसर छिपा हुआ युद्ध और सघर्ष चलता रहता है। और उस देश मे, जहा हुकूमत विदेशी हो, यह सघर्ष तो जन्म-जात होता है और बराबर चलता रहता है। जनता के दिमाग पर उसका असर होता है और उसके विचारो और काम-काज की धारा बदल जाती है। युद्ध की जह-नियत कभी भी बिलकुल गायब नही होती। पुराने वक्तो मे, जब युद्ध और उसके नतीजो को—यानी किसी भी जनता की हार, उसकी गुलामी और उसके प्रति नृशसता को—घटना-चक्र की एक स्वाभाविक-सी बात समझा जाता था, तब उनको ढकने या किसी दूसरे दृष्टिकोण से उचित ठहराने की कोई खास जरूरत नही थी। ऊचे मापदड की तरक्की के साथ चीजो को न्याय्य ठहराने की जरूरत पैदा हो गई है और इसकी वजह से कभी-कभी तो जान-बूझकर, लेकिन ज्यादातर अनजान मे, चीजो को तोडा-मरोडा जाता है। इस तरह पाखड नेकी को सराहता है और एक कोफ्त पैदा करनेवाले सदाचार का और बुरे कामो का मेल-जोल दिखता है।

किसी भी देश मे, खासतौर से हिंदुस्तान-जैसे बडे देश मे, जहा का इतिहास जटिल है और जहा मिली-जुली सस्कृतिया हैं, यह हमेशा मुमकिन है कि ऐसे तथ्य और ऐसी प्रवृत्तिया निकल आयें, जिनसे कोई एक निश्चित मत तर्कसगत मालूम पडे, और तब वहा नई दलील के लिए उसको बुनियाद मान लिया जाता है। अपनी समानताओ और निश्चित मापदड के बावजूद भी अमरीका विरोधात्मक बातो का देश कहा जाता है। फिर हिंदुस्तान मे ये विरोधात्मक बातें और विषमताए कितनी ज्यादा भरी होगी! किसी भी दूसरी जगह की तरह हमको यहा वह चीज मिल जायगी, जिसकी हमको तलाश है और तब इस पूर्व-निश्चित आधार पर हम सम्मतियो और धार-णाओ की एक इमारत तैयार कर सकते हैं। लेकिन फिर भी उस इमारत की बुनियाद झूठी होगी और असलियत की सही तस्वीर सामने नही आयगी।

मौजूदा जमाने के हिंदुस्तान का इतिहास, यानी ब्रिटिश-युग का इतिहास, आजकल की घटनाओ से इतना ज्यादा जुडा हुआ है कि उसका मतलब लगाने मे हमारे ऊपर आजकल की तरफदारियो और जज्बो का एक जबरदस्त असर होता है। इस बात की सभावना है कि अग्रेज और हिंदुस्तानी दोनो ही गलती करें, हालाकि यक़ीनी तौर पर उनकी गलतिया विरोधी दिशाओ मे होगी। उन कागजातो और उल्लेखो का ज्यादातर हिस्सा, जिससे इतिहास की शक्ल तैयार होती है और वह लिखा जाता है,

ब्रिटिश ज़रियो से आता है और उसमे लाज़िमी तौर पर ब्रिटिश नज़रिया होता है। ठीक उन्ही परिस्थितियो ने, जिनसें हार और फूट हुई, इस कहानी के हिंदुस्तानी पक्ष का उचित बयान होने से रोक दिया और जो कुछ भी काग़ज़ात थे, उनको १८५७ के महान विद्रोह मे नष्ट कर डाला गया। जो कुछ काग़ज़ात बच रहे, वे घरो मे छिपा दिये गए और इस डर से कि नुकसान पहुच सकता है, वे प्रकाशित न हो सके। वे कागज़ात अलग-अलग बिखरे रहे, उनके बारे मे किसीको खबर भी नही थी और उनमे से ज्यादातर उन कीडे-मकोडो के हमले की वजह से, जिनकी देश मे कोई कमी नही है, हस्तलिखित हालत मे ही बरबाद हो गए। एक बाद के ज़माने मे, जब इनमें से कुछ कागज़ात पाये गए, तो उन्होंने कितनी ही ऐतिहासिक घटनाओ पर एक नई रोशनी डाली, यहातक कि अग्रेज़ो के लिखे हिंदुस्तानी इतिहास मे भी कुछ रद्दो-बदल हुई और हिंदुस्तानी धारणाए, जो अकसर ब्रिटिश धारणाओ से जुदा होती थी, बनी। इन धारणाओ के पीछे उन स्मृतियो और परपराओ का अधार था, जो बहुत गुज़रे ज़माने का नही था, बल्कि उस वक्त का था, जब हमारे दादा और परदादा उन घटनाओ के साक्षी और कभी-कभी शिकार थे। इतिहास के रूप मे इस परपरा की कीमत चाहे न हो, फिर भी उसका महत्व है, क्योकि उससे आज के हिंदुस्तानी दिमाग़ की पृष्ठभूमि समझने मे मदद मिलनी है। हिंदुस्तान मे अग्रेजो की निगाह में जो बदमाश था, वह हिंदुस्तानियो के लिए अकसर एक नायक होता था, और वे लोग, जिनको अग्रेज़ो ने खुश होकर इज्ज़त बख्शी, ज्यादातर हिंदुस्तानियो की निगाह मे देशद्रोही रहे और वह धब्बा उनके वारिसो पर लगा आता है।

अमरीका के इन्कलाब का हाल अग्रेज़ो और अमरीकियो ने अलग-अलग ढग से लिखा है, और आज भी, जब पुराना आवेश ठडा पड गया है और जब दोनो राष्ट्रो मे दोस्ती है, हर एक पक्ष का बयान दूसरे पक्ष को बुरा मालूम देता है। खुद हमारे ही वक्त मे, बहुत-से मशहूर अग्रेज़ राजनीतिज्ञो के लिए लेनिन एक राक्षस और लुटेरा था, फिर भी करोडो आदमियो ने उसको एक उद्धार करनेवाला माना है और वे उसको इस युग का सबसे बडा आदमी कहते हैं। इस मुकाबले मे हमको हिंदुस्तानियो की नाराजगी की हलकी-सी झलक मिल जायगी, जो उनको उस वक्त होती है, जब उन्हें स्कूलो और कालेजो मे उस इतिहास को पढने के लिए मजबूर किया जाता है, जो हिंदुस्तान के गुज़रे जमाने की हर तरह से निंदा करता है, जो उन लोगो पर कलक लगाता है, जिनकी याद इन लोगो को प्रिय और

गुनद है और जो हिंदुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के लोगों की बड़ाई करता है और उनका आदर करता है।

एक बार अपने शिष्ट व्यंग्यपूर्ण ढंग से गोपाल कृष्ण गोखले ने विधाता की उस अगम्य बुद्धि की चर्चा की, जिसने हिंदुस्तान का अंग्रेज़ों से संपर्क रचा। चाहे यह उस अगम्य बुद्धि की वजह से हो, चाहे यह ऐतिहासिक भाग्य की किसी प्रक्रिया की वजह से हो, या सिर्फ़ एक संयोग हो, हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों के आने की वजह से बिलकुल मुख्तलिफ जातियां एक-दूसरे के पास आ गईं, या यों कहिये कि उन दोनों को पास आना चाहिए था, लेकिन जो-कुछ हुआ, वह यह था कि वे शायद ही एक-दूसरे की तरफ बढ़ी हों और उनके आपसी संपर्क सीधे नहीं थे, बल्कि घुमा-फिराकर पैदा हुए थे। उन थोड़े-से आदमियों पर, जिन्होंने अंग्रेज़ी पढ़ ली थी, अंग्रेज़ी साहित्य और अंग्रेज़ी राजनैतिक विचारों का असर हुआ। हालांकि इन राजनैतिक विचारों का अपनी जगह ज़ोर था, फिर भी उस वक्त हिंदुस्तान में उनकी कोई असलियत नहीं थी। जो अंग्रेज हिंदुस्तान में आये थे, वे राजनैतिक या सामाजिक क्रांतिकारी नहीं थे। वे लोग तो अनुदार और रूढ़िवादी थे और वे इंग्लैंड के सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी सामाजिक वर्ग की नुमाइंदगी करते थे और कुछ मानों में तो इंग्लैंड खुद यूरोप के देशों में सबसे ज्यादा अनुदार था।

हिंदुस्तान पर पच्छिमी तहज़ीब का आघात एक गतिशील समाज और 'आधुनिक' चेतना का एक ऐसे गतिहीन समाज पर आघात था, जो मध्य-युगीन विचारधारा से बंधा हुआ था और जो अपने ढंग से कितना ही तरक्की-यापता या रंगा-चुना हो, अपनी जन्मजात खामियों की वजह से तरक्की नहीं कर सकता था। और फिर भी यह एक अजीब-सी बात है कि इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के नुमाइंदे हिंदुस्तान में अपने इस उद्देश्य से बिलकुल बेखबर ही नहीं थे, बल्कि एक वर्ग के रूप में उनमें ऐसी किसी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व ही नहीं था। इंग्लैंड में इनके वर्ग ने ऐतिहासिक प्रक्रिया का विरोध किया, किंतु विरोधी ताकतें बहुत जबरदस्त थीं और उनको रोका नहीं जा सका। हिंदुस्तान में उनके लिए खुला मैदान था और वे उस तरक्की और परिवर्तन पर रोक लगाने में कामयाब हुए, जिसकी एक बड़े दायरे में वे नुमाइंदगी करते थे। हिंदुस्तान के सामाजिक प्रतिक्रियावादी समुदायों को उन्होंने बढ़ावा दिया और उनकी स्थिति को मजबूत किया और उन सब लोगों का, जो राजनैतिक और सामाजिक रद्दो-बदल चाहते थे, विरोध किया। जो कुछ रद्दो-बदल हुई भी, वह तो उनके बावजूद थी या वह उनकी

दूसरी कार्रवाइयो के आकस्मिक नतीजे की तरह थी। भाप के इजन और रेल की शुरुआत मध्ययुगीन ढांचे मे रद्दो-बदल की तरफ एक बडा कदम था, लेकिन उसमे अग्रेजो का इरादा अपने राज्य को सुदृढ करने का था, और वे उससे देश के अदरूनी हिस्सो को अपने फायदे के लिए और चूसने मे सुविधा चाहते थे। हिंदुस्तान मे ब्रिटिश अधिकारियो की नीति और उसके कुछ आकस्मिक नतीजो में एक विरोध है और उससे उलझन पैदा होती है और खुद वह नीति ढक जाती है। पश्चिम के इस आघात की वजह से हिंदुस्तान मे रद्दो-बदल तो हुई, लेकिन वह हिंदुस्तान के अग्रेजो के बावजूद हुई। वे लोग उस रद्दो-बदल की रफ्तार को धीमा करने मे कामयाब हुए और इस हद तक कि आज भी वह रद्दो-बदल पूरी नही हो पाई है।

सामतवादी जमीदार और उनके भाई-बद, जो इग्लैड से हिंदुस्तान मे हुकूमत करने के लिए आये, दुनिया के ऊपर एक सामतवादी नजर रखते थे। उनके लिए हिंदुस्तान एक बहुत बडी जागीर थी, जिसकी मालिक ईस्ट इडिया कपनी थी और जमीदार अपनी जागीर और अपने काश्तकारो का सबसे अच्छा और स्वाभाविक नुमाइदा था। जब ईस्ट इडिया कपनी ने हिंदुस्तान की अपनी इस जागीर को ब्रिटिश बादशाह को सौंप दिया, तो हिंदुस्तान के खर्चे पर उसे एक बहुत बडी रकम हरजाने के तौर पर दी गई, लेकिन वह नजरिया उसके बाद भी बराबर बना रहा। (और उस वक्त से हिंदुस्तान कर्जदार बना। यह हिंदुस्तान की खरीद की कीमत थी, जो खुद हिंदुस्तान ने दी थी) और तब हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार जमीदार (या जमीदार का कारिंदा) बन गई। हर अमली व्यवहार मे वह सरकार अपने-आपको हिंदुस्तान समझती, ठीक उसी तरह से, जैसे ड्यूक ऑव डेवनशायर को उसके साथी 'डेवनशायर' समझ सकते हैं। वे करोडो आदमी, जो हिंदुस्तान मे रहते थे और काम करते थे, वे तो सिर्फ जमीदार के किसी-न-किसी ढग के काश्तकार थे, जिनको अपना किराया या कर देना होता था और जिनको स्वाभाविक सामतवादी ढाचे मे अपनी जगह रखनी होती थी। उस ढाचे को चुनौती देना उनके लिए विश्व के नैतिक आधार के खिलाफ एक गुनाह था। उसके मानी थे दैवी विभाजन से इन्कार।

हिंदुस्तान मे ब्रिटिश हुकूमत के बारे मे ऐसी धारणा बुनियादी तौर पर बदली नही है, हालांकि अब उसको दूसरे ढग से जाहिर किया जाता है। वह पुराना तरीका, जिसमे खुले तौर पर मनमाना कर वसूल किया जाता था, अब बदल गया है और उसकी जगह टेढे और होशियार तरीको ने ले ली है। यह बात मानी गई कि जमीदारो को अपने किसानो का हितैषी होना

चाहिए और उनके हितो को लाभ पहुचाने की कोशिश करनी चाहिए। यह बात भी मान ली गई कि ज्यादा सच्चे और नमकहलाल काश्तकार को तरक्की देकर जागीर के दफ्तर मे जगह देनी चाहिए। लेकिन जमींदारी प्रथा के लिए कोई चुनौती बर्दाश्त नहीं की जा सकती थी। जागीर का काम पहले ही की तरह चलता रहना चाहिए, चाहे उसमे कुछ काम करनेवाले लोग बदल जाय। जब घटनाओ के दबाव ने किसी रद्दो-बदल को लाजिमी बना दिया, तो इस बात की शर्त लगाई गई कि जागीर के दफ्तर के सब नमकहलाल नौकरो की जगह बराबर बनी रहे, जमींदार के पुराने और नये दोस्तो, साथियो और अनुयायियो के लिए इतजाम हो, पुराने नौकरो को पेन्शने बराबर मिलती रहे और पुराना जमींदार खुद अब जागीर के कृपालु पोषक और सलाहकार की तरह काम करे और इस तरह बुनियादी रद्दो-बदल ला सकनेवाली कोशिशो पर ही पानी फिर जाय।

हिंदुस्तान के हितो को अपने हितो से एक करके दिखाने की भावना ऊची प्रशासनिक सेवाओ मे, जो पूरी तरह ब्रिटिश हाथो मे थी, सबसे ज्यादा तेज थी। बाद के बरसो मे ये सेवाए उस गुथी हुई और सुसगठित सस्था मे परिणत हो गई, जिसे इडियन सिविल सर्विस का नाम मिला है। एक अंग्रेज लेखक के शब्दो मे यह "दुनिया की सबसे ज्यादा मजबूत 'ट्रेड यूनियन' है।" वे हिंदुस्तान का सचालन करते थे, वे खुद हिंदुस्तान थे और कोई भी चीज, जो उनके हितो को चोट पहुचाती थी, लाजिमी तौर पर हिंदुस्तान के लिए घातक होनी चाहिए। इडियन सिविल सर्विस के जरिये से और उस इतिहास से, जो ब्रिटिश जनता के सामने रखा गया, उसके अलग-अलग स्तरो मे यही धारणा अलग-अलग हद तक फैल गई। हुकूमती-वर्ग तो कुदरती तौर पर बिलकुल इसी तरह सोचता था, लेकिन मजदूरो और किसानो पर भी कुछ हद तक इसका असर हुआ और हालाकि अपने ही देश मे उनकी एक नीची जगह थी, फिर भी उन्होंने हुकूमत और साम्राज्य का घमड महसूस किया। वहा मजदूर और किसान जब हिंदुस्तान मे आता, तो वह यहा लाजिमी तौर पर हुकूमती वर्ग का हो जाता। हिंदुस्तान के इतिहास और उसकी सस्कृति से वह बिलकुल अनजान होता और वह हिंदुस्तान के अंग्रेजो मे प्रचलित विचारधारा को ही मजूर कर लेता, क्योंकि जाचने या लागू करने के लिए उसके पास कोई दूसरा मापदड नही होता था। ज्यादा-से-ज्यादा उसमे एक धुधली नेकनीयती होती, लेकिन वह भी उस ढाचे के अदर सख्ती से जकडी हुई होती। सौ साल तक यह विचारधारा ब्रिटिश जनता के हर हिस्से मे पैठती रही—एक कौमी विरासत बन गई। यह

एक निश्चित और अविचल धारणा थी, जो हिंदुस्तान के सिलसिले मे उनके दृष्टिकोण का सचालन करती और उसने एक अप्रकट तरीके से उनके घरेलू नजरिये पर भी असर डाला। खुद हमारे ही युग मे वह विचित्र समुदाय, जिसके पास कोई निश्चित मापदड या सिद्धात नही है और जिसकी बाहरी दुनिया की ज्यादा जानकारी नही है, यानी ब्रिटिश मजदूर पार्टी के नेतागण, हिंदुस्तान की मौजूदा व्यवस्था के सबसे ज्यादा कट्टर समर्थक रहे हैं। कभी-कभी उन्हें अपनी घरेलू और औपनिवेशिक नीति मे, अपनी बातो और अपने व्यवहार मे विरोध दिखाई देता और उनमे एक धुधली-सी बेचैनी भर जाती है। लेकिन चूकि वे अपने को खासतौर से सहज बुद्धि-वाला व्यावहारिक आदमी समझते हैं, अपने अतरतम की सारी उथल-पुथल को वे सख्ती से दबा देते है। व्यावहारिक आदमियो को लाजिमी तौर पर अपने-आपको किसी परिचित या स्थापित परिपाटी की बुनियाद पर ही खड़ा करना चाहिए; किसी ऐसे सिद्धांत या नियम के लिए, जिसकी जाच-पडताल न हुई हो—उन्हे अधेरे मे छलाग न मारनी चाहिए।

वाइसरायो को, जो हिंदुस्तान मे इग्लैंड से सीधे ही आते हैं, इडियन सिविल सर्विस के ढाचे से मेल बिठाना होता है और उन्ही पर निर्भर रहना पड़ता है। इग्लैंड के अधिपति और शासक-वर्ग का होने की वजह से उनको प्रचलित आई० सी० एस० दृष्टिकोण को अपनाने मे कोई दिक्कत नही होती और निरकुश सत्ता, जिसकी कही और मिसाल नही मिलेगी, उनके तरीको और अभिव्यक्ति के ढग मे बारीक रद्दो-बदल पैदा करती है। अधिकार आदमी को बिगाड देता है, लेकिन निरकुश अधिकार तो बिलकुल ही बिगाड देता है और आज की विस्तृत दुनिया मे न तो किसी आदमी को इतनी बडी जनता पर ऐसा निरकुश अधिकार मिला है और न मिलता है, जैसा हिंदुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को है। वाइसराय एक ऐसे ढग से बातचीत करता है, जिसको न तो इंग्लैंड के प्रधान मत्री और न सयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति ही अपना सकते हैं। अगर उसकी कोई दूसरी मुमकिन मिसाल हो सकती है, तो वह हिटलर की है। और यह बात सिर्फ वाइसराय मे ही नही है, बल्कि उसकी कौन्सिल के अग्रेज सदस्यो मे, गवर्नरो मे, यहातक कि उन छुटभइयो मे भी है, जो मजिस्ट्रेट या महकमों के सेक्रेटरियो की हैसियत से काम करते हैं। वे एक ऐसी ऊची चोटी से बातचीत करते हैं, जहा पहुचा नही जा सकता और उनको सिर्फ इस बात का ही पक्का यकीन नही होता कि जो कुछ वे कहते या करते है, वह सही है, बल्कि इस बात का भी कि जो-कुछ वे कहते या करते हैं, उसके बारे मे मृत्युलोक के अदने प्राणी चाहे

कुछ भी सोचे, उनको उसे सही मानना होगा, क्योंकि ताकत और शान उन्ही की है।

वाइसराय की कौन्सिल के कुछ मेंबरो की नियुक्ति सीधे इग्लैंड से ही होती है और वे इडियन सिविल सर्विस के मेंबर नही होते। आमतौर पर उनके तरीको मे और सिविल सर्विसवालो के तरीको मे एक फर्क होता है। उस ढाचे मे वे काम तो काफी आसानी से करते हैं, लेकिन उनमे पूरी तरह से सुनिश्चित सत्ता की श्रेष्ठ और आत्म-सतोषी गर्व नही होती। कौन्सिल के हिंदुस्तानी मेंबरो मे (जो अभी हाल ही मे जोडे गए हैं), जो जाहिरा बडे लोग है, चाहे जितने या जैसे अक्लमद हो, यह बात और भी कम होती है। चाहे उनका ओहदा कितना ही बडा क्यो न हो, जो हिंदुस्तानी सिविल सर्विस मे है, वे उस विशेष दायरे मे नही होते। उनमे से कुछ अपने साथियो की नक़ल करने की कोशिश करते हैं, लेकिन कोई ज्यादा कामयाबी के साथ नही। उनमे एक ऐसा दिखावा आ जाता है कि वे हँसी के पात्र हो जाते है।

मेरा ऐसा खयाल है कि इडियन सिविल सर्विस के अग्रेज मेंबरो की नई पीढी पिछले लोगो से विचारो और सरिश्ते मे कुछ दूसरे ढग की है। पुराने ढाचे से वे आसानी से मेल नही बिठा पाते, लेकिन सारी ताकत और नीति का दारोमदार पुराने बडे मेंबरो पर होता है, इसलिए इन नये लोगो की वजह से कोई फर्क नही होता। उनको या तो स्थापित व्यवस्था को मजूर करना होता है और या जैसाकि कभी-कभी हुआ भी है, उनको इस्तीफ़ा देकर अपने घर वापस जाना होता है।

मुझे याद है कि जब मैं लडका था, उन दिनो हिंदुस्तान के ब्रिटिश-सचालित अखबार सरकारी खबरो—नौकरी, तबादला और तरक्की की खबरो—से भरे रहते थे। उनमे यहा के अग्रेज-समुदाय के कार्यक्रम का, पोलो, घुड-दौड, नाच और नाटको का, ही ज़िक्र होता था। हिंदुस्तान की जनता के बारे मे, उसके राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक या सांस्कृतिक जीवन के बारे मे, शायद ही कोई बात होती। उन अखबारो के पढने से तो इस बात का अदाज़ भी नही होता था कि कही हिंदुस्तानियो का भी अस्तित्व है।

बबई मे चार टीमो मे—हिंदू, मुस्लिम, पारसी और यूरोपीयो मे—चतुरगी (क्वाडरैंगुलर) क्रिकेट मैच हुआ करते थे। यूरोपीय टीम को बबई प्रेसीडेंसी के नाम से पुकारा जाता था, बाकी सब टीमे हिंदू, मुस्लिम या पारसी थी। इस तरह बबई का प्रतिनिधित्व यूरोपीयो से होता था और

ऐसा मालूम पडता कि और टीमे तो बाहरी हैं, जिनको क्रिकेट मैच की खातिर मान्यता दी है। ये चतुरगी मैच अब भी होते रहते हैं और उन पर काफी बहस होती है और अब इस बात की माग की जाती है कि क्रिकेट टीम का चुनाव धार्मिक बुनियाद पर नही होना चाहिए। मेरा ऐसा खयाल है कि बबई 'प्रेसीडेंसी टीम' को अब 'यूरोपियन टीम' कहा जाता है।

हिंदुस्तान मे अग्रेजी क्लब आमतौर पर प्रादेशिक नामो से पुकारे जाते हैं—मसलन बगाल क्लब, इलाहाबाद क्लब, वगैरह। वे अग्रेजो या यूरोपीयो तक ही सीमित होते है। उनका प्रादेशिक नाम होने पर या इस बात पर कि इनमे प्रवेश एक खास समुदाय का ही होता है और वे बाहरवालो को शामिल करना पसद नही करते, कोई आपत्ति नही हो सकती। लेकिन इन नामो की बुनियाद उस ब्रिटिश खयाल पर है कि वे ही असली हिंदुस्तानी हैं, वे ही असली बगाल या असली इलाहाबाद हैं, और सब तो सिर्फ फालतू लोग हैं, जो अपनी जगह पहचानें, तो उनकी कुछ कीमत भी है, नहीं तो उनसे सिर्फ परेशानी ही बढती है। ग़ैर-यूरोपीयो का बहिष्कार एक जातीय कारण से ज्यादा होता है, बनिस्बत इस वजह के कि वे लोग, जिनकी सस्कृति एक-सी है, अपनी फुरसत के वक्त मे मनोरजन या सामाजिक मेल-जोल के मौके पर बाहरी लोगो का दखल नही चाहते। मुझे खुद इस बात मे कोई आपत्ति नही कि विशुद्ध अग्रेजी या यूरोपीय क्लब हो और शायद ही कोई हिंदुस्तानी उनमे घुसना चाहे। लेकिन जब इस सामाजिक बहिष्कार की बुनियाद साफ तौर से जातीयता पर होती है, और जब शासक-वर्ग अपनी श्रेष्ठता का दिखावा करता है, तो इसका दूसरा पहलू हो जाता है। बबई मे एक मशहूर क्लब है, जिसमे (सिवाय एक नौकर की हैसियत से) किसी भी हिंदुस्तानी को, चाहे वह किसी देशी रियासत का राजा ही क्यो न हो, या बडा उद्योगपति ही क्यो न हो, दर्शको के कमरे तक मे जाने पर प्रतिबध था। जहातक मुझे पता है, उस क्लब मे इस तरह का प्रतिबध अब भी है।

हिंदुस्तान मे भेद-भाव अग्रेज बनाम हिंदुस्तानी के रूप मे नही है। यह ऐसा है कि एक तरफ यूरोपीय हैं, और दूसरी तरफ एशियाई। हिंदुस्तान मे हर एक यूरोपीय, चाहे वह जर्मन हो, पोल हो या रूमानियन, खुद-ब-खुद शासक जाति का मेबर बन जाता है। रेल के डिब्बो पर, स्टेशन पर ठहरने के कमरो पर, पार्कों मे बेंचो पर लिखा होता है—"सिर्फ यूरोपीयो के लिए।" दक्षिण अफ्रीका मे या दूसरी जगहो मे ही यह कोई कम बुरी चीज नही है, लेकिन खुद अपने ही देश मे यह चीज बहुत ज्यादा अपमानजनक है और अपनी गुलामी की याद दिलाती है।

यह सच है कि जातीय श्रेष्ठता और शाही अहकार के इस ऊपरी दिखावे मे धीरे-धीरे तब्दीली होती जा रही है, लेकिन रफ्तार बहुत धीमी है और अकसर ऐसी घटनाए होती रहती हैं, जिनसे पता लगता है कि यह तब्दीली सतही है। राजनैतिक दबाव और लडाकू राष्ट्रीयता के उत्थान से लाजिमी तौर पर तब्दीली होती है और पुराने भेद-भावो और ज्यादतियो को इरादतन कम करने की कोशिश होती है, लेकिन फिर जब वह राजनैतिक आदोलन एक विकट स्थिति मे पहुच जाता है और जब उसको कुचला जाता है, तो फिर वही पुराना साम्राज्यवादी और जातीय अक्खडपन पूरी तौर पर उभर पडता है।

अग्रेज सजग और समझदार होते हैं, लेकिन जब वे दूसरे देशो मे जाते हैं, तो उनमे अपने चारो तरफ की जानकारी का एक विचित्र अभाव होता है। हिंदुस्तान मे, जहा शासक-शासित सबध की वजह से असली समझदारी मुश्किल होती है, इस जानकारी का अभाव खासतौर से दिखाई देता है। ऐसा मालूम होता है कि यह सब इरादतन है, ताकि सिर्फ वही देखें, जो वे देखना चाहते हैं, और बाकी सबके लिए आखें बद रखें। लेकिन निगाह बचाने से सचाई गायब तो हो नही जाती, और जब वह जबरदस्ती ध्यान खीचती है, तो इस अप्रत्याशित घटना से इस तरह नाराजगी और झुझलाहट होती है, मानो कोई चाल चली गई हो।

इस वर्णव्यवस्था के देश मे अग्रेजो ने, खासतौर से इडियन सिविल सर्विसवालो ने, एक नई जाति बनाई, जो बहुत सख्त है और सबसे अलग-थलग रहनेवाली है, यहातक कि उस जाति मे सिविल सर्विस के हिंदुस्तानी सदस्य भी असलियत मे शामिल नही है, हालाकि वे उसीका बिल्ला पहने रहते हैं और उसके नियमो का पालन करते है। उस जाति मे अपनी निजी जबरदस्त अहमियत के बारे मे धार्मिक निष्ठा की-सी भावना बन गई है और उस निष्ठा के आस-पास अपना एक पुराण तैयार हो गया है, जो उसे बनाये रखता है। निहित स्वार्थों और निष्ठा का गठ-बधन बहुत ताकतवर होता है और अगर उसे कोई चुनौती दी जाय, तो उससे बडी तीखी नफरत और नाराजगी पैदा हो जाती है।

२ : बगाल की लूट से इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति को मदद

सत्रहवी सदी के शुरू मे ईस्ट इडिया कपनी को मुगल सम्राट से सूरत मे एक फैक्टरी चालू करने की इजाजत मिल गई थी। कुछ साल बाद उन्होंने दक्खिन मे कुछ जमीन खरीदी और मद्रास की बुनियाद डाली। सन १६६२ मे पुर्तगाल की तरफ से दहेज की शक्ल मे इगलैंड के चार्ल्स

द्वितीय को बबई का टापू भेंट किया गया, और उसने उसे कपनी को दे दिया। सन १६९० मे कलकत्ते की बुनियाद पडी। इस तरह सत्रहवी सदी के आखिर तक अग्रेजो को हिंदुस्तान मे पैर रखने की कई जगहे मिल गई थी और उन्होंने हिंदुस्तानी समुद्र-तट पर अपने कई अड्डे कायम कर लिये थे। वे अदर की तरफ धीरे-धीरे बढे। सन १७५७ मे प्लासी की लडाई से पहली बार उनके कब्जे मे एक बहुत बडा प्रदेश आया और कुछ ही बरसो मे बगाल, बिहार, उडीसा और पूर्वी तट उनके कब्जे मे आ गये। दूसरा बडा कदम क़रीब चालीस साल बाद, उन्नीसवी सदी के शुरू मे, उठाया गया और इससे वे दिल्ली के दरवाजे तक आ पहुचे। तीसरा अगला बडा कदम १८१८ मे मराठो की आखिरी हार के बाद था, और सिख-युद्ध के बाद १८४९ मे चौथे कदम से तस्वीर ही पूरी हो गई।

इस तरह अग्रेज मद्रास के शहर मे २०० बरसो से हैं, बगाल, बिहार वगैरह पर उनकी हुकूमत को १८७ बरस हो गये, दक्खिन की तरफ उन्होंने अपना राज्य करीब १४५ बरस पहले बढाया। सयुक्त प्रात, मध्य-हिंदुस्तान और पच्छिमी हिंदुस्तान मे जमे हुए उन्हे करीब १२५ साल हुए, और पजाब मे वे ९५ बरस पहले जमे। (यह हिसाब जून, १९४४ से, जब यह किताब लिखी जा रही है, लगाया गया है) मद्रास का शहर एक बहुत छोटा-सा हिस्सा है और अगर उसे छोड दें तो, बगाल और पजाब के कब्जे के बीच मे सिर्फ १०० साल का फर्क है। इस दौरान मे ब्रिटिश नीति और हुकूमती ढग मे बार-बार तब्दीलिया होती रही। ये रद्दो-बदल इग्लैंड की नई तब्दीलियो और हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य के सगठन को खयाल मे रखते हुए हुईं। हर नये जीते हुए हिस्से के साथ व्यवहार इन तब्दीलियो के मुताबिक अलग-अलग होता और साथ ही वह इस बात पर भी निर्भर होता कि जिस शासक-समुदाय को अग्रेजो ने हराया था, वह किस ढग का था। इस तरह बगाल मे, जहा जीत बहुत आसानी से हुई, मुस्लिम जमीदारो को शासक-वर्ग समझा गया और ऐसी नीति अपनाई गई कि उनकी ताकत टूट जाय। दूसरी तरफ पजाब मे ताकत सिखो से छीनी गई थी और वहा अग्रेजो और मुसलमानो मे कोई बुनियादी झगडा नही था। हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से मे अग्रेजो के विरोधी मराठे रहे थे।

एक खास ध्यान देने की बात यह है कि हिंदुस्तान के वे हिस्से, जो अग्रेजो के कब्जे मे सबसे ज्यादा अरसे से रहे है, आज सबसे ज्यादा ग़रीब हैं। असल मे एक ऐसा नक़्शा तैयार किया जा सकता है, जिससे ब्रिटिश राज्य-काल के फैलाव और क्रमिक निर्धनता की वृद्धि का घनिष्ठ सबध प्रकट हो। कुछ बड़े

शहरो से या कुछ नये औद्योगिक प्रदेशो से इस जाच मे कोई बुनियादी फर्क नही आता। जो बात ध्यान देने की है, वह यह है कि कुल मिलाकर आम जनता की हालत क्या है, और इस बात मे कोई शक नही है कि हिंदुस्तान के सबसे ज्यादा गरीब हिस्से बगाल, बिहार, उडीसा और मद्रास प्रेसीडेंसी के हिस्से है। रहन-सहन का सबसे अच्छा मापदड पजाब मे है। अग्रेजो के आने से पहले बगाल निश्चित रूप से एक धनी और समृद्धिशाली प्रात था। इन विषमताओ के कई कारण हो सकते है। लेकिन यह बात समझ पाना मुश्किल है कि बगाल, जो इतना धनी और समृद्धिशाली था, ब्रिटिश-शासन के १८७ वर्षो मे, अग्रेजो द्वारा उसकी दशा सुधारने और वहा की जनता को खुशहाली की कला सिखाने की जबरदस्त कोशिशो के बावजूद आज गरीब, भूखे और मरते हुए लोगो का भयानक समूह है।

हिंदुस्तान मे ब्रिटिश-शासन का पहला पूरा तजुर्बा बगाल को हुआ। उस राज की शुरुआत खुल्लम-खुल्ला लूट-मार से हुई, और उसमे ज्यादा-से-ज्यादा जमीन का लगान सिर्फ जिदा किसान से ही नही, बल्कि उसके मरने पर भी वसूल किया जाता था। हिंदुस्तान के अग्रेज इतिहासकार एडवर्ड टाम्सन और जी० टी० गैरट हमको बताते है कि "अग्रेजो के दिमाग मे दौलत के लिए इतना जबरदस्त लालच भरा हुआ था कि कोर्टेज और पिजारो के युग के स्पेनवासियो के समय से लेकर आजतक उसकी मिसाल नही मिल सकती। खासतौर से बगाल मे तो उस वक्त तक शाति नही हो सकती थी, जबतक कि वह चूसते-चूसते खोखला न रह जाय।" "इसके बाद कितने ही वर्षो तक अग्रेजी व्यवहार की भयकर आर्थिक अनैतिकता के लिए क्लाइव खासतौर से जिम्मेदार था"[1]—वही क्लाइव, वही साम्राज्य-निर्माता, जिसकी मूर्त्ति लदन मे इडिया आफिस के सामने खडी है! यह तो खुली हुई लूट थी। 'पैगोडा वृक्ष' को बार-बार हिलाया गया। यहातक कि वह वक्त आया कि बगाल को अत्यत भयकर अकालो ने बरबाद कर दिया। बाद मे इस ढर्रे को तिजारत बताया गया, लेकिन उससे क्या असर होता है? इस तिजारत को सरकार का नाम दिया गया और तिजारत क्या थी, खुली लूट थी। इस ढग की मिसाल इतिहास मे नही है। और यहा यह बात ध्यान मे रखने की है कि यह चीज अलग-अलग नामो मे और अलग-अलग शक्लो मे कुछ वर्षो तक ही नही, बल्कि कई पीढियो तक चलती रही। खुली और सीधी लूट-मार की जगह, कानूनी हुलिया मे, शोषण ने ले ली, और

हालाकि उसकी वजह से खुलापन कम हो गया, लेकिन हालत बदतर हो गई। हिंदुस्तान मे शुरू की पीढियो मे ब्रिटिश राज्य मे जो हिंसा, धन-लोलुपता, पक्षपात और अनैतिकता थी, उसका अदाज भी लगाना मुश्किल है। एक बात ध्यान देने की है कि एक हिंदुस्तानी लफ्ज, जो अग्रेज़ी भाषा मे शामिल हो गया है, 'लूट' है। एडवर्ड टामसन ने कहा है और यह बात सिर्फ बगाल के हवाले मे ही नही कही गई है कि "ब्रिटिश हिंदुस्तान के शुरू के इतिहास का ध्यान आता है, जो शायद दुनिया भर मे राजनैतिक छल की सबसे बडी मिसाल है।"

इस सबका नतीजा, यहातक कि शुरू के बरसो मे ही इसका नतीजा, यह हुआ कि १७७० का अकाल पडा, जिसने बगाल और बिहार की करीब एक-तिहाई आबादी को खत्म कर दिया। लेकिन यह सब प्रगति के हक मे हुआ था और बगाल इस बात पर घमड कर सकता है कि इग्लैंड मे औद्योगिक क्राति को जन्म देने मे उसने बहुत मदद की। अमरीकी लेखक ब्रुक ऐडम्स हमको बताते हैं कि यह किस तरह हुआ—"हिंदुस्तानी दौलत के (इग्लैंड मे) आने से और राष्ट्र की पूजी मे बहुत बडी बढवार हो जाने से सिर्फ उसकी ताकत का भडार ही नही बढा, बल्कि उससे उसकी गति मे लचीलेपन के साथ-साथ बहुत तेजी भी आई। प्लासी के बाद बहुत जल्दी ही बगाल की लूट लदन मे पहुचने लगी और तुरत ही उसका असर हुआ मालूम देता है, क्योकि सब प्रामाणिक लेखक इस बात से सहमत हैं कि औद्योगिक क्राति सन १७७० से शुरू हुई। प्लासी की लडाई १७५७ मे हुई और उसके बाद जिस तेजी से तब्दीली हुई, उसकी बराबरी की शायद कही भी मिसाल नही है। सन १७६० मे 'फ्लाइग शटल' का आविष्कार हुआ और लकडी की जगह कोयले का इस्तेमाल शुरू हुआ। सन १७६४ मे हारग्रीव्स ने 'स्पिनिंग जेनी' का आविष्कार किया, सन १७७६ मे क्रापटन ने कातने की अपनी मशीन निकाली, सन १७८५ मे कार्टराइट ने शक्ति-सचालित करघा पेटेंट कराया और १७६८ मे वाट ने अपना भाप का इजन पूरा किया। हालाकि इन मशीनो से उस समय के गतिशील आदोलनो को निकासी का रास्ता मिला, लेकिन वह गति और तीव्रता उनकी वजह से नही थी। आविष्कार खुद तो गतिहीन होते हैं, वे उस पर्याप्त शक्ति भडार के इकट्ठा होने की प्रतीक्षा करते हैं, जो उन्हें चालू करे। उस भडार की शक्ति हमेशा ही रुपये के रूप मे होगी—तिजोरी मे इकट्ठा रुपया नही, बल्कि फेर मे पडा हुआ रुपया। हिंदुस्तान के खजाने के आने और उसके बाद जो रुपये की लेन-देन फैली, उसके पहले इस काम के लिए काफी शक्ति नही थी।

"शायद जब से दुनिया शुरू हुई है, किसी भी पूजी से कभी भी इतना मुनाफा नही हुआ, जितना कि हिंदुस्तान की लूट से, क्योंकि, करीब-करीब पचास बरस तक ग्रेट ब्रिटेन का कोई भी मुकाबला करनेवाला नही था।"[1]

३ : हिंदुस्तान के उद्योग-धंधो और खेती की बरबादी

शुरू के ज़माने मे ईस्ट इंडिया कपनी का खास काम और वह उद्देश्य जिसके लिए उसकी स्थापना हुई थी, यह था कि हिंदुस्तान से तैयार माल, जैसे कपडा वगैरह और साथ ही मसालो को, पूरब से यूरोप ले जाकर बेचा जाय, जहा इन चीज़ो की बहुत माग थी। इंग्लैंड मे औद्योगिक प्रक्रिया मे उन्नति के साथ ही उद्योगपति पूजीपतियो का एक नया वर्ग बना और उसने इस नीति मे रद्दो-बदल की माग पेश की। अब हिंदुस्तानी चीजो के लिए ब्रिटिश बाज़ार बद करना और ब्रिटिश माल के लिए हिंदुस्तानी बाज़ार खोलना था। इस नये वर्ग का ब्रिटिश पार्लमेंट पर असर हुआ और वह हिंदुस्तान मे और ईस्ट इडिया कपनी के कामकाज मे ज्यादा दिलचस्पी लेने लगा। शुरू मे कानून के ज़रिये ब्रिटेन मे हिंदुस्तानी माल पर रोक लगा दी गई और चूकि हिंदुस्तान के निर्यात-व्यापार मे ईस्ट इडिया कपनी का एकाधिपत्य था, इसलिए इस रोक का असर विदेशी बाज़ारो पर भी पडा। इसके बाद इस बात की जबरदस्त कोशिश हुई कि देश के अदर ही ऐसे टैक्स वगैरह लगाये जाय कि हिंदुस्तानी माल कम जगह पहुचे और महगा पडे और इस देश के अदर खुद हिंदुस्तानी माल का चलन रोका गया। दूसरी तरफ ब्रिटिश माल पर कोई रोक नही थी। हिंदुस्तानी कपडे का कार-बार नष्ट हो गया और जुलाहो व दूसरे लोगो की बहुत बडी तादाद पर इसका असर हुआ। बगाल और बिहार मे यह प्रक्रिया तेज़ थी और दूसरी जगहो मे जैसे-जैसे ब्रिटिश राज्य फैलता गया और रेलें बनती गई, इसका धीरे-धीरे असर हुआ। पूरी उन्नीसवी सदी मे यह सिलसिला जारी रहा और साथ ही कई पुराने धधे भी बरबाद हो गए। इनमे पानी के जहाज बनाने का धधा था, शीशे का, कागज़ का, धातुओं के काम करनेवालो का धधा था और कई दूसरी तरह के धधे थे।

कुछ हद तक यह लाज़िमी था, क्योंकि पुराने ढग का नई औद्योगिक

---

[1] ब्रुक ऐडेम्स . 'दी लॉ ऑव सिविलाइज़ेशन एड डिके' (१९२८) पृष्ठ २५९-६०। केट मिचेल द्वारा 'इडिया' (१९४३) में उद्धृत।

प्रक्रिया से संघर्ष हुआ। लेकिन राजनैतिक और आर्थिक दबाव से इसकी रफ्तार तेज़ कर दी गई और नये तरीकों को हिंदुस्तान में काम में लाने की कोई कोशिश नहीं हुई। दरअसल, कोशिश तो इस बात की हुई कि ऐसा होने न पाये और इस तरह हिंदुस्तान की आर्थिक तरक्की को रोक दिया गया। हिंदुस्तान में मशीनें बाहर से मंगाई नहीं जा सकती थीं। एक ऐसी खाली जगह पैदा हो गई थी, जिसको सिर्फ ब्रिटिश माल से भरा जा सकता था और इसकी वजह से बड़ी तेजी से बेकारी और गरीबी बढ़ी। आधुनिक औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था कायम हुई और हिंदुस्तान औद्योगिक इंग्लैंड का एक खेतिहर उपनिवेश बन गया, जो कच्चा माल देता और इंग्लैंड के तैयार माल को अपने यहां खपाता।

कारीगर-पेशा लोगों के खत्म हो जाने की वजह से बहुत बड़े पैमाने पर बेकारी फैली। ये करोड़ों आदमी, जो अबतक तरह-तरह के सामान तैयार करने के काम में और अलग-अलग धंधों में लगे हुए थे, अब क्या करते? वे कहां जाते? अब उनका पुराना पेशा खुला हुआ नहीं था और नये पेशे के लिए रास्ता रोका हुआ था। हां, वे मर सकते थे, असह्य हालत से बचने का यह रास्ता तो हमेशा खुला होता ही है और वे लोग करोड़ों की तादाद में मरे भी। हिंदुस्तान के अंग्रेज़ गवर्नर जनरल लार्ड बेंटिक ने १८३४ में कहा—"व्यापार के इतिहास में तकलीफ की ऐसी दूसरी मिसाल पाना मुश्किल है। जुलाहों की हड्डियां हिंदुस्तान के मैदानों को सफेद किये हुए हैं।"

फिर भी उनमें से बहुत बड़ी तादाद में लोग बच रहे और ज्यों-ज्यों ब्रिटिश नीति देश के अदरूनी हिस्सों में फैलती गई और बेकारी पैदा हुई, ऐसे लोगों की तादाद बढ़ती गई। इन झुंड-के-झुंड कारीगरों के पास कोई काम नहीं था और उनकी सारी पुरानी कारीगरी बेकार थी। उन लोगों ने जमीन की तरफ निगाह उठाई, क्योंकि जमीन अब भी मौजूद थी। लेकिन जमीन पूरी तरह से घिरी हुई थी, वह उनको फायदे के साथ खपा नहीं सकती थी। इस तरह वे जमीन पर एक बोझ बन गए और यह बोझ बढ़ता गया और इसके साथ ही देश की ग़रीबी बढ़ती गई और रहन-सहन का मापदंड बेहद गिर गया। हुनरदारों और कारीगरों के जमीन पर जबरदस्ती वापस आने की हलचल से कृषि और उद्योग-धंधों का संतुलन बिगड़ता गया। धीरे-धीरे लोगों के लिए खेती ही अकेला धंधा रह गया, क्योंकि और कोई ऐसा धंधा या काम नहीं था, जिससे पैसा पैदा किया जा सके।

हिंदुस्तान का अधिकाधिक देहातीकरण होता गया। हर प्रगतिशील देश

मे पिछली सदी मे खेती से उद्योग-धधो की तरफ और गाव से कसबे के लिए आवादी का तवादला हुआ है, लेकिन ब्रिटिश नीति की वजह से यहा उलटी ही वात थी। इस सबध मे आकडे ध्यान देने लायक हैं। उन्नीसवी सदी के वीच मे, यह वाताया जाता है कि आवादी का ५१ फी-सदी खेती पर निर्भर था, हाल ही मे इसके अनुपात का अदाज है ७४ फी-सदी (यह अदाज लडाई छिडने से पहले का है)। हालाकि लडाई के दौरान मे औद्योगिक काम मे वहुत लोग लगे है, फिर भी आवादी की वढवार की वजह से १९४१ की मर्दुमशुमारी के मुताविक खेती पर गुजर करनेवाले लोगो का अनुपात वढ गया है। कुछ वडे-वडे शहरो की वढती से (जो खासतौर छोटे क़सवो की आवादी के तवादले से हुई है) एक सरसरी निगाह से देखनेवाले को गलतफहमी हो सकती है और उससे उसे हिंदुस्तानी हालतो का गलत अदाज होगा।

इस तरह हिंदुस्तानी जनता की भयकर ग़रीबी की यह असली बुनियादी वजह है, और यह अपेक्षाकृत हाल के ही वक्त की है। दूसरी वजहे, जिनसे यह ग़रीवी वढी है, वे खुद—वीमारी और निरक्षरता—इस ग़रीबी का, अपर्याप्त भोजन आदि का, परिणाम हैं। वहुत ज्यादा आवादी होना एक दुर्भाग्य की वात है, और जहा कही ज़रूरी हो सकता हो, इसको कम करने के उपाय काम मे लाने चाहिए, फिर भी यहा की आवादी के घनत्व का उद्योग-धधो मे वढे-चढे देशो की आवादी से मिलान किया जा सकता है। यह आवादी ज़रूरत से ज्यादा सिर्फ उसी देश के लिए है, जो खेती पर ज़रूरत से ज्यादा निर्भर है, और एक उचित अर्थ-व्यवस्था मे सारी आवादी उपयोगी काम मे लग सकती है और उससे देश की सपत्ति वढ़ेगी। असल मे घनी आवादी तो कुछ खास हिस्सो मे, जैसे बगाल मे और गगा के मैदानो मे ही है, और वहुत-से विस्तृत प्रदेश अव भी छितरे हुए हैं। यहा यह बात याद रखने की है कि ग्रेट ब्रिटेन हिंदुस्तान के मुकाबले मे दूने से भी ज्यादा घना वसा हुआ है।

उद्योग-धधो का सकट तेजी से खेती के काम मे भी फैल गया और वह वहा पर एक स्थायी सकट हो गया। (वटवारे की वजह से) खेत दिन-व-दिन ज्यादा छोटे और इतने ज्यादा विखरे हुए होने लगे कि अदाज नही किया जा सकता। खेतिहरी कर्ज का वोझ बढने लगा और ज़मीन अकसर साहूकारो के क़ब्जे मे पहुच जाती। दसियो लाख की तादाद मे बे-ज़मीन मज़दूर बढ़ गये। हिंदुस्तान एक औद्योगिक पूजीवादी हुकूमत के मातहत था। लेकिन उसकी अर्थ-व्यवस्था उस युग की थी, जिसमे पूजीवाद

शुरू नही हुआ था, फिर भी उस अर्थ-व्यवस्था मे से कई एक ऐसी चीजें निकली हुई थी, जिनसे पैसा पैदा किया जा सकता था। हिंदुस्तान आधुनिक औद्योगिक पूजीवाद का बेबस एजेंट बन गया, जिसमे उसकी सारी बुराइया तो थी, लेकिन फायदा एक भी नही था।

जब उद्योग-धधो से पहले की अर्थ-व्यवस्था बदलकर पूजीवादी औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था आती है, तो जन-साधारण को अपनी तकलीफ की शक्ल मे एक बहुत बडी कीमत चुकानी पडती है और उसमे बहुत मुश्किले होती हैं। शुरू मे तो यह बात खासतौर से थी, जब ऐसी रद्दो-बदल के लिए या उसके दुष्परिणामो को कम करने के लिए कोई योजना नही बनाई जाती थी और हर एक चीज़ व्यक्तिगत सूझ और व्यक्तिगत प्रयत्न पर छोड दी जाती थी। इस रद्दो-बदल के दौरान मे इग्लैंड मे भी यही मुश्किल थी, लेकिन कुल मिलाकर यह बहुत ज्यादा नही थी, क्योंकि रद्दो-बदल बडी तेजी से हुई और जो कुछ बेकारी हुई, वह फौरन ही नये कार-बार मे खप गई। लेकिन इसके मानी यह नही हैं कि इन्सानी तकलीफ की शक्ल मे उसकी कीमत अदा नही की गई। असलियत मे उसका पूरा-पूरा भुगतान हुआ, लेकिन वह हुआ दूसरे लोगो के जरिये, खासतौर से हिंदुस्तान की जनता के जरिये। उसकी शक्ल थी अकाल, मौत, बेकारी। यह कहा जा सकता है कि पच्छिमी यूरोप के औद्योगीकरण के सिलसिले मे ज्यादातर कीमत हिंदुस्तान ने, चीन ने और दूसरे उपनिवेशो ने दी, जिनकी अर्थ-व्यवस्था के सचालन पर यूरोपीय ताकतो का असर था।

यह बात जाहिर है कि औद्योगिक तरक्की के लिए हिंदुस्तान मे बराबर साधन रहे हैं। यहा सगठन-सामर्थ्य है, तकनीकी योग्यता है, हुनरदार काम करनेवाले हैं और हिंदुस्तान के लगातार शोषण के बाद भी कुछ पूजी बच रही है। ब्रिटिश पार्लमेंट की जाच कमेटी के सामने सन् १८४० मे गवाही देते हुए इतिहासकार माटगुमरी मार्टिन ने कहा—"हिंदुस्तान की औद्योगिक सामर्थ्य इतनी ही है, जितनी कि उसकी कृषि-सामर्थ्य। और वह शख्स, जो उसे खेतिहर देश की ही हैसियत में लाना चाहता है, वह उसे सभ्यता के पैमाने मे गिराना चाहता है।" और हिंदुस्तान मे अग्रेजो ने ठीक यही चीज़ करने की जी-जान से बराबर कोशिश की और हिंदुस्तान मे एक सौ पचास बरस की हुकूमत के बाद उनको कितनी कामयाबी मिली है, इसका अदाज हिंदुस्तान की मौजूदा हालत से हो सकता है। जबसे हिंदुस्तान मे आधुनिक उद्योग-धधो को बढाने की माग हुई है (और मेरा ऐसा खयाल है कि यह मांग कम-से-कम १०० बरस पुरानी है), हमसे यह कहा जाता

है कि हिंदुस्तान तो खासतौर से खेतिहर देश है और यह उसके (हिंदुस्तान के) ही हित मे है कि वह खेती से चिपका रहे। औद्योगिक बढवार से सतुलन बिगड सकता है और उससे उसके खास व्यवसाय—खेती को नुक़सान हो सकता है। ब्रिटिश उद्योगपतियो और अर्थशास्त्रियो ने हिंदुस्तान के किसान के लिए जो चिता प्रकट की है, वह तो सचमुच कृतज्ञता की चीज़ है। इस बात को ध्यान मे रखते हुए, साथ ही हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार ने जो उसके लिए बडा भारी फिक्र दिखाया है, उसको ध्यान मे रखते हुए, कोई भी व्यक्ति सिर्फ इस नतीजे पर पहुचेगा कि किसी सर्वशक्तिमान दुर्भाग्य ने, किसी मानवोपरि शक्ति ने, उनके इरादों और उपायो को उलट दिया है और उस किसान को पृथ्वीतल के सबसे ज्यादा गरीब और सबसे ज्यादा दुखी प्राणियो मे से एक बना दिया है।

अब किसी भी शख्स के लिए हिंदुस्तान की औद्योगिक तरक्क़ी को रोकना मुश्किल है, लेकिन अब भी जब कभी कोई विस्तृत और व्यापक योजना तैयार की जाती है, तो हमारे ब्रिटिश दोस्त, जो हम पर अब भी अपनी सलाह की बौछार करते रहते हैं, इस बात की चेतावनी देते हैं कि खेती की अवहेलना न की जाय और उसको पहली जगह दी जाय। मानो कोई भी हिंदुस्तानी, जिसमे रत्ती-भर भी अक्ल है, खेती की अवहेलना कर सकता है और किसान को भुला सकता है! हिंदुस्तानी किसान से ही हिंदुस्तान नही है तो और किससे है? उसकी ही तरक्की और बेहतरी पर हिंदुस्तान की तरक्की निर्भर होगी। लेकिन खेती-सबधी हमारा सकट, जो बहुत गभीर है, असल मे उद्योग के सकट से, जिससे वह पैदा हुआ, जुडा हुआ है। दोनो का विच्छेद नही हो सकता और न उनका अलग-अलग निबटारा किया जा सकता है। उनके बीच जो असतुलन है, उसको दूर करना ज़रूरी है।

आधुनिक उद्योग-धधो मे पनपने की हिंदुस्तान को सामर्थ्य का अदाज़ उस कामयाबी से हो सकता है, जो आगे बढने का मौका मिलने पर उसने दिखाई है। दरअसल यह कामयाबी हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार और ब्रिटेन के निहित स्वार्थों के जबरदस्त विरोध के बावजूद हुई है। उसको पहला असली मौका १९१४-१८ की लडाई के दौरान मे मिला, जब ब्रिटिश-माल के आने मे रुकावट हो गई। हिंदुस्तान ने उसका फायदा उठाया तो, लेकिन ब्रिटिश-नीति की वजह से वह फायदा अपेक्षाकृत बहुत कम हद तक ही उठाया जा सका। तबसे सरकार पर बराबर दबाव रहा है कि हिंदुस्तानी उद्योग-धधो की तरक्की के लिए सारी रुकावटो और उन निहित स्वार्थों

को, जो रास्ता रोकते हैं, दूर करके सुविधा दी जाय। जाहिरा तौर पर तो सरकार ने इसे अपनी नीति के रूप मे मजूर कर लिया है, लेकिन वैसे सरकार ने हर असली तरक्की को और खासतौर से बुनियादी धधो की तरक्की को रोका है। खुद सन १९३५ के विधान मे यह बात खासतौर से साफ कर दी गई थी कि हिंदुस्तान मे ब्रिटिश-उद्योग के निहित स्वार्थो के सिल-सिले मे हिंदुस्तानी विधानमडल कोई दखल नही दे सकते थे। लडाई से पहले के सालो मे बार-बार और बडी ज़ोरदार कोशिशें हुई कि बुनियादी और बडे धंधे शुरू हो जाय, लेकिन सबको सरकारी नीति ने मिटा दिया। लेकिन सरकारी रोक की सबसे ज्यादा आश्चर्यजनक मिसाले लडाई के दौरान मे, जब उत्पादन के लिए लडाई की ज़रूरत सबसे बडी थी, देखने को मिली। हिंदुस्तानी उद्योग के प्रति ब्रिटिश अरुचि को पार कर सकने के लिए ये अहम ज़रूरतें भी काफी नही हुई। घटनाओ के वेग मे उस उद्योग की तरक्की हुई है, लेकिन दूसरे देशो के उद्योग की तरक्की के मुकाबले मे या उस तरक्की के मुकाबले मे, जो यहा पर मुमकिन थी, यह तरक्की नही के बराबर है।

हिंदुस्तानी उद्योग की तरक्की का शुरू मे खुला विरोध था और बाद मे उसकी जगह छिपे विरोध ने ले ली, और वह भी उतना ही कारगर रहा है। यह सब ठीक उसी तरह था, जैसे खुले नज़राने की जगह चुगी, आबकारी और उत्पादन-कर ने ली और आर्थिक तथा मुद्रा-नीतिया बनी, जिनसे हिंदुस्तान के खर्च पर ब्रिटेन का लाभ होता था।

बहुत अरसे तक गुलामी मे रहने से और आज़ादी के अभाव से कई बुराइया होती हैं और शायद इनमे सबसे बडी आतरिक क्षेत्र मे होती है। नैतिक गिरावट होती है और जनता का उत्साह खत्म हो जाता है। चाहे यह स्पष्ट ही हो, लेकिन इसको नापना मुश्किल है। किसी राष्ट्र के आर्थिक ह्रास के क्रम को देखना या उसको नापना ज्यादा आसान है। जब हम हिंदुस्तान मे ब्रिटिश आर्थिक नीति को पीछे फिरकर देखते हैं, तो यह मालूम होता है कि हिंदुस्तान की जनता की मौजूदा गरीबी इस नीति का लाज़िमी नतीजा है। इस ग़रीबी के बारे मे कोई रहस्य नहीं है, हम उसकी वजहे देख सकते हैं और उन तरीको को भी देख सकते हैं, जिनसे मौजूदा हालत आई है।

४ : राजनैतिक और आर्थिक हैसियत से हिंदुस्तान पहली बार एक दूसरे देश का पुछल्ला बनता है

हिंदुस्तान के लिए यहा पर ब्रिटिश राज्य की स्थापना एक बिलकुल नई चीज़ थी और उसका किसी दूसरे हमले से या राजनैतिक और आर्थिक

रद्दो-बदल से मिलान नही किया जा सकता था। "हिंदुस्तान पहले भी जीता जा चुका था, लेकिन उन लोगो के द्वारा, जो उसकी सीमाओ के ही अदर बस गये और जिन्होने अपने-आपको उसकी ज़िदगी मे शामिल कर लिया। (ठीक उसी तरह, जैसे नार्मन लोगो ने इग्लैंड को और मचू लोगो ने चीन को जीता)। उसने (हिंदुस्तान ने) अपनी आज़ादी कभी भी नही खोई थी और वह कभी भी गुलाम नही बना था। कहने का मतलब यह है कि वह कभी भी ऐसे आर्थिक या राजनैतिक ढाचे मे नही बधा था, जिसका सचालन-केंद्र उसकी सीमाओ के बाहर था और वह कभी भी किसी ऐसे शासक-वर्ग के मातहत नही रहा था, जो हर तरह से स्थायी रूप से विदेशी था।"[1] पहले सारे शासक-वर्ग, चाहे वे देश से बाहर से आये हो, या देश के अदर के ही रहे हो, हिंदुस्तान के सामाजिक और आर्थिक जीवन की बनावट के ऐक्य को मजूर करते और उन्होने उस ढाचे से अपना मेल बिठाने की कोशिश की। उस शासक-वर्ग मे हिंदुस्तानियत आ जाती और उसकी जडें इस देश मे ही गहरी जम जाती। ये नये शासक बिलकुल दूसरे ढग के थे, जिनकी बुनियाद दूसरी जगह थी और उनमे और औसत हिंदुस्तानियो में एक बडी खाई थी, जिसका भरना कठिन था। उनकी परपरा मे, उनके दृष्टिकोण मे, उनकी आमदनी मे और उनके रहन-सहन के ढर्रों मे फर्क था। हिंदुस्तान मे आनेवाले शुरू के अंग्रेज़ो ने इग्लैंड से अलग हो जाने पर हिंदुस्तान के रहने के बहुत-से ढर्रे अपना लिये। लेकिन यह सिर्फ एक ऊपरी चीज़ थी और जब हिंदुस्तान और इग्लैंड मे आने-जाने की सुविधाए बढ गईं, तो इसको भी इरादतन छोड दिया गया। यह महसूस किया गया कि हिंदुस्तान मे ब्रिटिश शासक -वर्ग को हिंदुस्तानियो से बिलकुल अलग एक अपनी ही ऊची दुनिया मे रहते हुए अपनी शान बनाये रखनी चाहिए। दो दुनियाए थी, एक अंग्रेज़ अफसरो की दुनिया और दूसरी हिंदुस्तान के करोडो आदमियो की दुनिया और उन दोनो मे सिवाय एक-दूसरे की नफरत के और कोई एक-सी बात नही थी। पहले जातिया एक-दूसरे मे घुल गई थी, या कम-से-कम ऐसे ढाचे मे बैठ गई थी, जिसमे लोग एक-दूसरे पर भरोसा करते थे। अब भेद-भाव का बोलबाला था और वह इस बात से और बढ गया कि अधिपति-जाति के पास राजनैतिक और आर्थिक शक्ति थी और उसमे किसी तरह की रुकावट नही थी और न उस पर कोई प्रतिबंध था।

नया पूजीवाद सारी दुनिया मे जो बाज़ार तैयार कर रहा था, उससे

[1] के० एस० शेल्वकर : 'दि प्रॉब्लम ऑ[illegible]' (पेंगुइन स्पेशल, लदन, १९४०)।

हर सूरत में हिंदुस्तान के आर्थिक ढांचे पर असर होता। ऐसे गांव, जहां बाहरी मदद की जरूरत न थी और जहां परंपरा से धंधे आपस में बंटे हुए थे, अब अपनी पुरानी शक्ल में बने नहीं रह सकते थे। लेकिन जो तब्दीली हुई, वह स्वाभाविक ढंग से नहीं थी और उसने हिंदुस्तानी समाज की सारी आर्थिक बुनियाद को तहस-नहस कर दिया। एक ऐसा ढांचा, जिसके पीछे सामाजिक अनुमति और नियंत्रण था और जो जनता की सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा था, अचानक ही अपने-आप बदल दिया गया और एक दूसरा ढांचा, जिसका संचालन बाहर से होता था, लाद दिया गया। हिंदुस्तान दुनिया के बाजार में नहीं आया, बल्कि वह ब्रिटिश ढांचे का एक नौआबादी और खेतिहरों की हैसियत [illegible] पुछल्ला बन गया।

गांवों का संगठन, जो अबतक हिंदुस्तानी अर्थ-व्यवस्था की बुनियाद में रहा था, छिन्न-भिन्न हो गया और उनके आर्थिक और व्यवस्था-संबंधी काम, दोनों ही जाते रहे। सन १८३० में सर चार्ल्स मेटकाफ ने, जो हिंदुस्तान के ब्रिटिश अधिकारियों में सबसे काबिल लोगों में था, इन गांवों के संगठनों के बारे में जो शब्द कहे हैं, वे अक्सर दुहराये गये हैं—"ग्राम्य जातियां छोटे-छोटे गणराज्यों की तरह हैं, जिनके पास अपनी जरूरत की करीब-करीब सभी चीजें हैं। वे बाहरी रिश्तों से करीब-करीब आजाद हैं। ऐसा मालूम होता है कि उनका स्थायित्व वहां भी है, जहां और चीजों का नहीं है। इन ग्राम्य जातियों से, जिनमें हर एक की एक अलग आजाद सत्ता है, इन सब से बहुत ऊंचे दर्जे का सुख और सुविधाएं प्राप्त हैं और बहुत हद तक आजादी और स्वावलंबन का उपभोग होता है।"

गांवों के धंधों की बरबादी से इन लोगों को बहुत बड़ा धक्का लगा। कृषि और उद्योग का संतुलन बिगड़ गया, श्रम का परंपरा से चला आया विभाजन टूट गया और अलग-अलग कामवाले आदमियों की इस बहुत बड़ी तादाद को किसी समुदाय के काम में आसानी से नहीं लगाया जा सकता था। जमींदारी-प्रथा के जारी करने से जमीन की मिल्कियत के बारे में एक बिलकुल नई धारणा बनी और उससे इन लोगों पर एक और जबरदस्त चोट हुई। अबतक जो धारणा थी, उसमें जमीन पर तो इतना नहीं, बल्कि जमीन की उपज पर खासतौर से सामूहिक स्वामित्व था। शायद अंग्रेज गवर्नर इसको पूरी-पूरी तरह समझ नहीं पाये, लेकिन शायद कुछ अपनी वजहों से उन्होंने खासतौर पर इरादतन अंग्रेजी व्यवस्था जारी की। वे खुद भी तो अंग्रेजों के जमींदार-वर्ग के प्रतिनिधि थे। शुरू में तो उन्होंने छोटे-छोटे अरसों के लिए मालगुजार नियुक्त किये, यानी वे लोग, जिन पर जमीन का लगान

या मालगुज़ारी वसूल करने और उसको सरकार को अदा करने की ज़िम्मेदारी थी। बाद मे यही लोग बढकर जमींदार हो गये। ज़मीन और उसकी उपज पर से गाववालो का काबू हटा दिया गया। अबतक उस समूची जाति के लिए जो विशेष हित या विशेष स्वार्थ था, अब वह इस नये ज़मीन के मालिक की निजी सपत्ति हो गई। इससे ग्राम्य जाति की मिली-जुली और सहयोगपूर्ण ज़िदगी की व्यवस्था टूट गई और धीरे-धीरे सहयोगपूर्ण काम और सेवाओ का ढाचा भी गायब होने लगा।

ज़मीन को इस ढग से जायदाद बना देने से सिर्फ एक बडा आर्थिक परिवर्तन ही नही हुआ, बल्कि उसका असर ज्यादा गहरा हुआ और उसने सहयोगपूण सामुदायिक सामाजिक ढाचे की सारी हिंदुस्तानी धारणा पर ही चोट की। ज़मीन के मालिको का एक नया वर्ग सामने आया, एक ऐसा वर्ग, जिसको ब्रिटिश सरकार ने खडा किया था और जो बहुत हद तक उस सरकार से मिला-जुला था। पुराने ढाचे के टूटने से नई समस्याए पैदा हुई और शायद इस नई हिंदू-मुस्लिम समस्या की शुरुआत वही पर पाई जा सकती है। ज़मीदारी-प्रथा पहले-पहल बगाल और बिहार मे जारी की गई, जहा उस ढाचे मे, जो स्थायी बदोबस्त के नाम से मशहूर है, बडे-बडे ज़मीदार बनाये गये, बाद मे यह महसूस किया गया कि यह व्यवस्था सरकार के लिए फायदेमद नहीं है, क्योकि मालगुज़ारी तय थी और बढाई नही जा सकती थी। इसलिए हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सो मे कुछ निश्चित समय के ही लिए नया बदोबस्त किया गया। यहा समय-समय पर मालगुज़ारी बढती रही। कुछ सूबो मे किसानो को ही मालिक बनाया गया। मालगुज़ारी की वसूलयाबी मे बेहद सख्ती की वजह से सभी जगह और खासतौर से बगाल म यह नतीजा हुआ कि पुराने ज़मीन के मालिक बरबाद हो गये और उनकी जगह नये मालदार व्यापारियो ने ले ली। इस तरह से बगाल खासतौर से हिंदू ज़मीदारो का सूबा हो गया, और हालाकि उनके काश्तकार हिंदू और मुसलमान दोनो ही थे, लेकिन उनमे ज्यादातर मुसलमान ही थे।

अग्रेज़ो ने अपने अग्रेज़ी नमूने के बडे-बडे ज़मीदार बनाये और उसकी खास वजह यह थी कि कुछ थोडे-से आदमियो से बरतना और निबटना कही ज्यादा आसान था, बनिस्बत इसके कि काश्तकारो की एक बहुत बडी तादाद से सीधा व्यवहार किया जाय। मकसद तो यह था कि लगान की शक्ल मे ज्यादा-से-ज्यादा रुपया जल्दी-से-जल्दी वसूल किया जाय। अगर ज़मीन का मालिक ठीक समय मे काम न कर पाता, तो फौरन उसको निकाल दिया

जाता और उसकी जगह दूसरे को दे दी जाती। साथ ही यह बात भी जरूरी समझी गई कि एक ऐसा वर्ग भी पैदा किया जाय, जिसके स्वार्थ और अंग्रेजों के स्वार्थ एक हों। हिंदुस्तान के ब्रिटिश अधिकारियों के दिमाग में विद्रोह का डर भरा हुआ था और उन्होंने अपने कागजात में इसका बार-बार जिक्र किया। गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने १८२९ में कहा था—"अगर व्यापक सार्वजनिक उपद्रव या क्रांति के खिलाफ सुरक्षा का भाव था, तो मैं यह कहूंगा कि हालांकि स्थायी बंदोबस्त कई ढंग से खराब रहा है, लेकिन उसमें कम-से-कम यह फायदा जरूर है कि उसने मालदार ज़मींदारों का एक ऐसा बहुत बडा समुदाय यकीनी तौर पर पैदा कर दिया है, जिनका ब्रिटिश राज्य के जारी रखने में बहुत बडा स्वार्थ है और जिसका आम जनता पर पूरा क़ाबू है।"

इस तरह से ब्रिटिश राज्य ने ऐसे वर्ग बनाये और निहित स्वार्थ कायम किये, जो उस राज्य से बंधे हुए थे और ऐसी रियायतें या विशेषाधिकार दिये, जो उस राज्य के बने रहने पर ही निर्भर थे और उनके ज़रिये उसने (ब्रिटिश राज्य ने) अपने-आपको सुदृढ किया। ज़मींदार थे, राजा और नवाब लोग थे और साथ ही सरकार के विभिन्न महकमों में पटवारी और गांव के मुखिया से लेकर और बडे-बडे अहलकार और नौकर थे। सरकार के दो खास महकमे थे, एक मालगुज़ारी का, दूसरा पुलिस का। इन दोनों महकमों के सिर पर हर जिले में कलक्टर या जिला मजिस्ट्रेट होता था, जो हुकूमत की धुरी था। अपने जिले में यह निरंकुश रूप से काम करता और उसके हाथों में पुलिस, न्याय, मालगुज़ारी और हुकूमत के सारे कामों की बागडोर होती। अगर उसके हलके से लगी हुई कोई छोटी-सी देशी रियासत होती, तो वह उसके लिए ब्रिटिश एजेंट का काम देता।

इसके अलावा हिंदुस्तानी फौज थी, जिसमें अंग्रेज और हिंदुस्तानी दोनों सिपाही होते, लेकिन अफसर सिर्फ अंग्रेज ही होते। इसका बराबर, खासतौर से १८५७ के विद्रोह के बाद, पुनर्संगठन किया गया और आखिरकार यह संगठन के लिहाज़ से ब्रिटिश फौज से ही जोड दी गई। इसका इनज़ाम इस तरह किया गया कि उसके मुख्तलिफ हिस्सों में एक समतोल बना रहे और बडी जगहें अंग्रेजों के पास रहें। "मुख्य बात तो यह है कि काफी यूरोपीय फौजों के ज़रिये स्थिति पर काबू रहे, नहीं तो मुल्क के लोगों का एक-दूसरे के खिलाफ जोड-तोड लगाया जाय।" यह बात १८५८ की फौजी पुनर्संगठन के सिलसिले में सरकारी रिपोर्ट में कही गई है। इस फौज का सबसे पहला काम वह था, जो एक कब्ज़ा बनाये रखनेवाली फौज का होता है। इसको

'अदरूनी-सुरक्षा-फौज' कहा जाता था और इसका ज्यादा हिस्सा ब्रिटिश था। सरहदी सूबे मे हिंदुस्तानी खर्चे पर अग्रेजी फौजो के सीखने का मैदान कायम हुआ था। 'फील्ड आर्मी', जिसमे ज्यादातर हिंदुस्तानी थे, विदेशो मे लडने के लिए थी और उसने कई ब्रिटिश साम्राज्यवादी लडाइयो मे हिस्सा लिया और उसके खर्चे का बोझ हिंदुस्तान पर डाला गया। इस बात का भी इनजाम किया गया कि हिंदुस्तानी फौज बाकी आबादी से अलग रहे।

इस तरह हिंदुस्तान को (अग्रेजो द्वारा) अपने जीते जाने का, फिर ईस्ट-इडिया कपनी से ब्रिटिश ताज के हाथो मे पहुचने का, ब्रिटिश साम्राज्य का बरमा आदि दूसरी जगहो मे फैलने का, अफ्रीका, फारस आदि पर चढाई का और खुद हिंदुस्तानियो से ही अपनी हिफाजत का खर्च भुगतना पडा। साम्राज्यवादी अफसरो के लिए उसे सिर्फ फौजो के अड्डो की तरह ही नही बरता गया, और उसके लिए उसे कुछ देना तो दूर रहा, बल्कि इसके अलावा ब्रिटिश फौज की इग्लैंड मे शिक्षा के लिए भी उसको खर्च देना होता था। इस रकम को 'कैपिटेशन' शीर्षक मे लिया जाता था। असल मे ब्रिटेन के हर ढग के कामो का, मसलन चीन और फारस मे कूटनीतिज्ञ या राजनैतिक प्रतिनिधियो के रखने का खर्च, हिंदुस्तान से इग्लैंड तक की टेलीग्राफ़ लाइन का पूरा खर्च, भूमध्य सागर मे जहाजी बेडे को रखने के खर्च का एक हिस्सा और यहातक कि लदन मे तुर्की के सुल्तान के स्वागत करने तक का खर्च हिंदुस्तान को ही देना होता था।

यकीनी तौर पर हिंदुस्तान मे रेलो का बनाना बहुत जरूरी और अच्छा था, लेकिन उसमे बेहद फिजूलखर्ची की गई। हिंदुस्तानी सरकार ने उस सारी पूजी पर, जो उसमे लगी, ५ प्रतिशत ब्याज देने की गारटी कर दी और कितने खर्चे की वाजिब ढग से जरूरत थी, उसका अदाज या इसकी जाच करना भी जरूरी नही समझा। सारी खरीदारिया इग्लैंड मे हुई।

सरकार का मुल्की ढाचा भी फिजूलखर्ची से भरा हुआ था और उसमे ऊची तनख्वाहोवाली जगहे यूरोपीयो के लिए सुरक्षित थी। हुकूमती मशीन को हिंदुस्तानी बनाने की रफ्तार बहुत धीमी थी, और वह भी सिर्फ़ बीसवी सदी मे ही नजर आई। यह प्रक्रिया हिंदुस्तानी हाथो मे ताक़त लाने की बजाय ब्रिटिश राज्य को सुदृढ करने का एक और दूसरा तरीका साबित हुई। असली मार्के की जगहे ब्रिटिश हाथो मे बनी रही और हुकूमत मे हिंदुस्तानी ब्रिटिश राज्य के एजेंटो की तरह ही काम कर सकते थे।

इन सब तरीको के अलावा वह नीति थी, जो ब्रिटिश-राज्य के युग मे बराबर जान-बूझ कर बरती गई, जिसमे हिंदुस्तानियो मे फूट डाली गई

और एक गिरोह को दूसरे गिरोह की कीमत पर बढावा दिया गया। ब्रिटिश-राज्य के शुरू के ज़माने मे इस नीति को खुले तौर पर मंज़ूर किया गया और असल मे एक साम्राज्यवादी ताकत के लिए यह नीति स्वाभाविक थी। राष्ट्रीय आदोलन की तरक्की के बाद उस नीति ने एक फितरती और ज्यादा खतरनाक शक्ल ले ली, और हालाकि उस नीति की मौजूदगी को माना नही गया, लेकिन उसको पहले से भी ज्यादा तेज़ी के साथ बरता गया।

हमारी आज की करीब-करीब सारी बडी समस्याए, मसलन राजा और नवाब, अल्पसख्यक समस्या, विभिन्न देशी और विदेशी निहित स्वार्थ, उद्योग-धधो का अभाव और खेती की अवहेलना, सामाजिक सेवाओ का बेहद पिछडापन और जनता की भयकर ग़रीबी, ब्रिटिश राज्य के दौरान मे ही और ब्रिटिश नीति के परिणामस्वरूप ही पैदा हुई हैं। शिक्षा की तरफ एक खास ढग का रुख रहा है। केये की 'लाइफ ऑव मेटकाफ' मे कहा गया है कि "ज्ञान के विस्तार का यह डर एक बडा रोग बन गया जो सरकारी अधिकारियो को हर तरह की चिता मे डालकर बेहद परेशान करता और छापेखानो और बाइबिलो की बाबत सोचकर उनके रोगटे खडे हो जाते। उन दिनो हमारी यह नीति थी कि हिंदुस्तान के रहनेवालो को ज्यादा-से-ज्यादा बर्बरतापूर्ण हालत मे और अधेरे मे रखा जाय और उनमे किसी भी ढग से ज्ञान का प्रकाश फैलाने की कोशिश का, चाहे वह हमारी तरफ से होती या और किसी तरफ से, ज़ोरदार विरोध किया जाता।"[1]

साम्राज्यवाद को इसी ढग से काम करना होता है, नही तो वह साम्राज्यवाद नहीं रहता। आधुनिक ढग के आर्थिक साम्राज्यवाद से नये ढग का आर्थिक शोषण शुरू हुआ, जो पहले युगो मे प्रचलित नही था। उन्नीसवी सदी मे हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य के इतिहास से एक हिंदुस्तानी को लाज़िमी तौर पर मायूसी और नाराज़गी होगी, फिर भी कितने ही क्षेत्रो मे अग्रेज़ो की श्रेष्ठता का, यहातक कि हमारी कमज़ोरियो और फूट का भी फायदा उठाने की उनकी सामर्थ्य का पता लगता है। वह जनता, जो कमज़ोर होती है और जो समय की चाल मे पीछे रह जाती है, परेशानियो को न्योता देती है, और अत मे वह खुद ही दोषी होती है। अगर उन परिस्थितियो मे, घटनाओ के स्वाभाविक क्रम मे, ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके नतीजो की आशा की जा सकती थी, तो साथ ही उसका विरोध भी लाज़िमी था और उन दिनो में अतिम सघर्ष भी लाज़िमी था।

---

[1] एडवर्ड टामसन द्वारा उद्धृत।

५ : हिंदुस्तानी रियासतें

आज हिंदुस्तान मे हमारी एक बहुत बडी समस्या रजवाडो या देशी रियासतो की है। ये रियासतें दुनिया-भर मे अपने ढग की अनोखी हैं और उनमे आपस मे राजनैतिक और सामाजिक हालतो मे, और लबाई-चौडाई मे, बहुत बडा फर्क है। गिनती मे वे ६०१ हैं। इनमे से करीब १५ काफी बडी समझी जा सकती हैं और इनमे सबसे बडी रियासतें हैं—हैदराबाद, काश्मीर, मैसूर, त्रावणकोर, बडोदा, ग्वालियर, इदौर, कोचीन, जयपुर, जोधपुर, बीका-नेर, भोपाल और पटियाला। कुछ मझोली रियासतें हैं और फिर कई सौ छोटी-छोटी रियासतें हैं, जिनके रकबे बहुत कम हैं, यहातक कि उनमे से कुछ तो नक्शे मे सुई की नोक से भी ज्यादा बडी नही हैं। ये छोटी रियासतें ज्यादातर काठियावाड, पच्छिमी हिंदुस्तान और पजाब मे हैं।

इनमे से कुछ रियासते इतनी बडी है, जितना फ्रान्स है, और कुछ एक औसत किसान के खेत के ही बराबर हैं। लेकिन उनमे इसके अलावा और भी कितने ही ढग के फर्क हैं। उद्योग-धधो के लिहाज से मैसूर सबसे ज्यादा उन्नत है, शिक्षा के लिहाज से मैसूर, त्रावणकोर और कोचीन ब्रिटिश-भारत से बहुत आगे हैं।[1] वैसे ज्यादातर रियासतें बहुत ज्यादा पिछडी हुई हैं और कुछ तो बिलकुल सामती हैं। वे सभी निरकुश हैं, हालाकि उनमे से कुछ मे आम लोगो के जरिये चुनी हुई कौन्सिलें कायम कर दी गई हैं, जिनके अधिकार बहुत ज्यादा सीमित हैं। हैदराबाद मे, जो सबसे बडी रियासत है, एक अजीब ढग की सामती हुकूमत है और वहा पर नागरिक स्वतत्रता तो नही के बराबर है। यही दशा राजपूताना और पजाब की ज्यादातर रियासतो की है। नागरिक स्वतत्रता का अभाव तो सभी रियासतो मे दिखाई देता है

ये रियासते इकट्ठी नही हैं। वे सारे हिंदुस्तान मे फैली हुई हैं और टापुओ की तरह हैं, और गैर-रियासती हिस्सो से घिरी हुई हैं। उनकी बहुत बडी तादाद एक अर्द्ध-स्वतत्र अर्थ-व्यवस्था को भी कायम रखने मे

[1] सार्वजनिक शिक्षा के लिहाज से त्रावणकोर, कोचीन, मैसूर और बड़ौदा ब्रिटिश-भारत से बहुत आगे हैं। यह एक बडी दिलचस्प बात है कि त्रावणकोर मे सार्वजनिक शिक्षा का सगठन सन १८०१ से शुरू हुआ, (इग्लैंड में यह सन १८७० से शुरू हुआ)। इस वक्त त्रावणकोर मे पुरुषों की साक्षरता ५८ प्रतिशत है और स्त्रियो की साक्षरता ४१ प्रतिशत है। ब्रिटिश-भारत की साक्षरता से यह चौगुनी से भी ज्यादा है। त्रावणकोर सार्वजनिक स्वास्थ्य का भी सगठन ज्यादा अच्छा है। त्रावणकोर मे सा जनिक सेवाओ और कार्रवाइयो मे स्त्रिया एक अहम हिस्सा लेती हैं।

असमर्थ है, यहातक कि उनमे से सबसे बडी रियासतें भी अपनी स्थिति की वजह से, और अपने पडोसी हिस्सो के पूरे-पूरे सहयोग के बिना अपनी अर्थ-व्यवस्था नही चला सकती। अगर रियासती और गैर-रियासती हिंदुस्तान मे आर्थिक सघर्ष हो, तो रियासतो को आर्थिक प्रतिबंधो और टैक्स वगैरह के जरिये झुकाया जा सकता है। यह बात बिलकुल साफ है कि राजनैतिक और आर्थिक दोनो ही दृष्टियो से ये रियासते, यहातक कि उनमे से सबसे बडी रियासतें भी, अलग नही की जा सकती और उनका स्वतत्र अस्तित्व नही रह सकता। इस तरह उनकी गाडी चल नही सकती और साथ ही इसकी वजह से बाकी हिंदुस्तान को भी बहुत बडा नुकसान होगा। सारे हिंदुस्तान मे ये विरोधी प्रदेश हो जायगे और अगर उन्होंने हिफाजत के लिए विदेशी ताकत का सहारा लिया, तो यह बात खुद आजाद हिंदुस्तान के लिए खतरनाक होगी। असल मे अगर सारा ही हिंदुस्तान, जिसमे रियासते भी शामिल हैं, राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से एक ऐसी सत्ता के अधीन न होता, जो उनकी रक्षा करती है, तो ये रियासतें आज जिंदा भी न होती। उस मुमकिन सघर्ष के अलावा, जो रियासती और गैर-रियासती हिंदुस्तान मे होता रहता, यह बात याद रखने की है कि रियासत के निरकुश शासक पर, उसकी ही प्रजा द्वारा, जो स्वतत्र सस्थाओ की माग करती, दबाव पडता। इस आजादी के हासिल करने की कोशिशे ब्रिटिश ताकत की मदद से दबा दी गई हैं या रोक रखी गई हैं।

अपनी बनावट की वजह से खुद उन्नीसवी सदी मे ही ये रियासतें उन परिस्थितियो मे बेमेल हो गई। आज की हालतो मे हिंदुस्तान को बीसियो पृथक और स्वतत्र इकाइयो मे बाटने की योजना भी नामुमकिन है। इससे सिर्फ हमेशा का सघर्ष ही नही पैदा होगा, बल्कि सारी योजना-बद्ध आर्थिक और सास्कृतिक प्रगति भी नामुमकिन हो जायगी। यहा हमको यह बात याद रखनी चाहिए कि जब ये रियासतें बनी, और जब इन्होंने ईस्ट इडिया कपनी से सधिया की, उस वक्त उन्नीसवी सदी के शुरुआत मे यूरोप बहुत-से छोटे-छोटे राज्यो मे बटा हुआ था। तब से कई लडाइयो और कई क्रातियो ने यूरोप की शक्ल बदल दी है और आज भी इसकी शक्ल बदल रही है, लेकिन बाहरी दबाव से हिंदुस्तान की शक्ल तो पत्थर की तरह जड रखी गई और उसको बदलने नही दिया गया। यह बात बिलकुल वाहियात मालूम होती है कि हम १४० बरस पहले की किसी सधि का उठा ले, जो आमतौर पर लडाई के मैदान मे या उसके फौरन बाद दो प्रतिद्वंद्वी सेनापतियो मे तय हुई और यह कहें कि यह अस्थायी समझौता तो हमेशा चलेगा।

उस सुलहनामे मे रियासती जनता को कुछ कहने का मौका नही मिला था और उस वक्त एक तरफ एक ऐसी व्यापारी सस्था थी, जिसका सिर्फ अपने स्वार्थों से या अपने मुनाफे से ही ताल्लुक था। इस व्यापारिक सस्था ने ब्रिटिश ताज या पार्लामेंट के एजेंट की तरह काम नही किया, बल्कि सिद्धात रूप मे उसने उस दिल्ली के सम्राट के एजेंटो की तरह काम किया, जो शक्ति और अधिकार का स्रोत समझा जाता था, हालाकि वैसे खुद वह बिलकुल अशक्त था। ब्रिटिश ताज या पार्लामेंट का इन सुलहनामो से कोई भी ताल्लुक नही था। समय-समय पर जब ईस्ट इडिया कपनी की सनद फिर से चालू की जाती, सिर्फ उसी वक्त पार्लामेंट हिंदुस्तानी मामलो पर सोच-विचार करती थी। इस बात से कि ईस्ट-इडिया कपनी हिंदुस्तान में उस अधिकार के बल-बूते पर काम कर रही थी, जो मुगल सम्राट ने 'दीवानी' के रूप मे दिया था, वह ब्रिटिश ताज या पार्लामेंट के सीधे हस्तक्षेप से मुक्त थी। हा, एक दूसरे ढग से अगर पार्लामेंट चाहती, तो चार्टर को रद्द कर सकती थी, या उसे फिर से जारी करते वक्त नई शर्तें लगा सकती थी। यह खयाल कि इग्लैंड का बादशाह, या पार्लामेंट उसूली तौर पर नाममात्र के दिल्ली के सम्राट के एजेंट या मातहत की तरह काम करें, इग्लैंड मे पसद नही किया गया, और इसलिए वे बराबर ईस्ट इडिया कपनी के कामो से अलहदा रहे। हिंदुस्तानी लडाइयो मे जो रुपया खर्च हुआ, वह हिंदुस्तानी रुपया था और उसको ईस्ट इडिया कपनी ने ही वसूल किया और उसीने उसको खर्च किया।

बाद मे जब ईस्ट इडिया कपनी के कब्जे मे आये हुए प्रदेश का क्षेत्रफल बढ गया और उसका राज्य सुदृढ हो गया, तो ब्रिटिश पार्लामेंट ने हिंदुस्तानी मामलो मे ज्यादा दिलचस्पी लेना शुरू किया। सन १८५८ में हिंदुस्तानी ग़दर और विद्रोह के धक्के के बाद ईस्ट इडिया कपनी ने हिंदुस्तान का राज्य (हिंदुस्तान के खर्चे पर, एवज मे रुपया पाकर) ब्रिटिश ताज को सौप दिया। उस तबादले मे हिंदुस्तानी रियासतो और बाकी हिंदुस्तान को अलग-अलग नही माना गया। सारे हिंदुस्तान को एक इकाई की तरह बरता गया और हिंदुस्तान मे ब्रिटिश पार्लामेंट हिंदुस्तानी सरकार के जरिये, जिसका प्रभुत्व रियासतो के ऊपर भी था, काम करने लगी। ब्रिटिश ताज या पार्लामेंट से इनका कोई अलग रिश्ता नही था। वे तो हर तरह से उस सरकारी ढाचे के हिस्से थे, जिसकी नुमाइदगी हिंदुस्तानी सरकार करती थी। बाद के बरसो मे इस सरकार ने, जब कभी उसको बदलती हुई नीति के लिए ऐसा मुनासिब मालूम हुआ, इन सुलहनामो की अवहेलना की और रियासतो के ऊपर अपना आधिपत्य जमा लिया।

इस तरह जहातक देशी रियासतो का सवाल है, ब्रिटिश ताज तो उस तस्वीर मे मौजूद ही नही था। यह तो सिर्फ हाल के ही वरसो की वात है कि रियासतो की तरफ से किसी ढग की आजादी का हक जताया गया है और यह कहा गया है कि हिंदुस्तान की सरकार के अलावा उनका ब्रिटिश ताज से विशेष सबध है। यहा एक ध्यान देने की वात यह है कि ये सुलहनामे तो सिर्फ कुछ रियासतो के साथ है, सिर्फ चालीस रियासते ही सधियो से ताल्लुक रखती हैं और बाकियो को तो सनदे मिली हुई हैं। हिंदुस्तानी रियासतो की आवादी का तीन-चौथाई इन चालीस रियासतो मे है और उनमे से छ मे इस आवादी का हिस्सा एक-तिहाई से भी ज्यादा है।[1]

सन १९३५ के गवर्नमेंट ऑव इडिया एक्ट मे पहली वार ब्रिटिश पार्लमेंट का रियासतो और बाकी हिंदुस्तान के साथ सबध मे कुछ भेद-भाव किया गया। रियासतो को हिंदुस्तान की सरकार के निरीक्षण और नियत्रण से हटाकर वाइसराय के मातहत कर दिया गया और उसको इस सिलसिले मे ताज का प्रतिनिधि (क्राउन रेप्रेजेंटेटिव) कहा गया। साथ ही वाइसराय हिंदुस्तानी सरकार का अध्यक्ष भी था। हिंदुस्तानी सरकार का राजनैतिक विभाग, जिस पर रियासतो की जिम्मेदारी थी, अव वाइसराय की एक्जीक्यूटिव कौन्सिल के नीचे से हटाकर सिर्फ वाइसराय के ही मातहत कर दिया गया।

इन रियासतो की सत्ता कैसे शुरू हुई? कुछ तो विलकुल नई हैं, जिनको अग्रेजो ने ही वनाया है और कुछ मुगल सम्राट की वनाई हुई है और अग्रेजो ने उनको सामती शासक के रूप मे वने रहने दिया, लेकिन कुछ को, खास-तौर से मराठा सरदारो को, अग्रेजी फौजो ने हराया और फिर उनको सामत-पद दिया। करीव-करीब इन सभी का आरभ ब्रिटिश-राज्य के आदिकाल मे मिल सकता है, उनका इतिहास इससे ज्यादा पुराना नही है। अगर कुछ वक्त के लिए उनकी स्वतत्र सत्ता रही थी, तो वह आजादी सिर्फ थोडे-से अरसे के लिए ही रही, और वह आजादी लडाई से या लडाई की धमकी से खत्म भी हो गई। इनमे से कुछ रियासतें—और ये रियासतें खासतौर से राजपूताने मे हैं—मुगलो के वक्त से पहले की हैं। त्रावणकोर का एक वहुत

[1]ये छ रियासतें हैं—हैदराबाद (एक करोड बीस लाख और एक करोड़ तीस लाख के बीच मे); मैसूर (पिचहत्तर लाख), त्रावणकोर (साढ़े बासठ लाख), बड़ौदा (चालीस लाख), काश्मीर (तीस लाख), ग्वालियर (तीस लाख), कुल मिलाकर तीन करोड साठ लाख। सारी हिंदुस्तानी रियासतो की आबादी नौ करोड़ है।

पुराना, करीब १००० बरस का इतिहास है। कुछ राजपूत-वंश ऐतिहासिक-काल से भी पहले के बताये जाते है। उदयपुर के महाराणा सूर्यवंशी है और उनका वंश-वृक्ष उसी तरह है, जैसे जापान के मिकाडो का। लेकिन ये राजपूत-सरदार मुगल-सामंत बन गये, बाद मे मराठों के मातहत हुए और आखिर मे अंग्रेज़ो के मातहत हो गये। एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रतिनिधियो ने "अब राजाओ को अपनी ठीक जगह पर ला दिया, और उस अव्यवस्था से, जिसमे वे डूबे हुए थे, उनको ऊपर उठा दिया। जब उनको इस तरह उठाकर फिर से स्थापित किया, तो ये राजे इतने असहाय और बेबस थे कि जितनी दुनिया के शुरू वक्त से आजतक कोई भी ताकत रही होगी। अगर ब्रिटिश सरकार ने दखल न दिया होता, तो राजपूत रियासते गायब हो गई होती और मराठा रियासते टूटफूट गई होती। जहातक अवध या निज़ाम के राज्यो का सवाल है, उनका तो कोई अस्तित्व ही नही था। वे तो ज़िंदा ही सिर्फ इसी वजह से मालूम देती थी कि उनकी रक्षक-शक्ति उनमे सांस फूकती जाती थी।"[1]

आज की प्रमुख रियासत हैदराबाद शुरू मे छोटी-सी थी। उसकी सीमाएं टीपू सुल्तान की हार के बाद और मराठा युद्ध के बाद बढ़ाई गई। यह बढ़ती अंग्रेज़ो की वजह से हुई और इस खुली शर्त पर कि निज़ाम उनकी मातहती मे काम करेगा। असल मे टीपू की हार के बाद उसके राज्य का हिस्सा पहले मराठा नेता पेशवा को नज़र किया गया था, लेकिन उसने इन शर्तों पर लेने से इन्कार कर दिया।

दूसरी सबसे बडी रियासत, काश्मीर, को सिख-युद्ध के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने मौजूदा महाराजा के परदादे को बेच दिया था। बाद मे हुकूमत मे बद-इंतज़ामी का बहाना लेकर उसको ब्रिटिश नियंत्रण मे ले लिया गया। बाद मे महाराजा के अधिकार उसको वापस लौटा दिये गये। मैसूर की मौजूदा रियासत को टीपू के साथ लडाइयो के बाद अंग्रेज़ो ने बनाया। बहुत अरसे तक वह खुद ब्रिटिश हुकूमत मे ही रही।

[1] 'दि मेकिंग ऑव दि इंडियन प्रिंसेज़'; पृष्ठ २७०-७१। इस किताब मे और टामसन की 'लाइफ ऑव लॉर्ड मेटकाफ' मे हैदराबाद मे ब्रिटिश नियंत्रण और छल का स्पष्ट चित्रण है। हिंदुस्तानी रियासतों के मसले पर ग़ौर करने के लिए सरकार द्वारा नियुक्त की हुई बटलर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट मे कहा—"यह ऐतिहासिक सचाई नहीं है कि जब हिंदुस्तानी रियासतें ब्रिटिश ताक़त के संपर्क में आईं, तो वे आज़ाद थीं। कुछ को अंग्रेज़ों ने बचा लिया और कुछ रियासतों को उन्होंने बनाया भी।"

अगर हिंदुस्तान मे सचमुच ही कोई आजाद राज्य है, तो वह है नेपाल, जो उत्तरी-पूर्वी सीमा पर है और उसकी स्थिति अफगानिस्तान से मिलती-जुलती है। हा, एक तरह से वह सारे हिंदुस्तान से अलहदा है। और सब रियासतें तो उस घेरे मे आ गई, जिसको 'सहायक सधि' के नाम से पुकारा जाता है, जिसमें सारी असली ताकत ब्रिटिश सरकार के हाथो मे होती और वह रेजीडेंट या एजेंट के जरिये काम करती। अकसर राजा के वजीर भी ब्रिटिश पदाधिकारी होते, जिनको उनके ऊपर जबरदस्ती लाद दिया जाता। लेकिन सुशासन और सुधार की सारी जिम्मेदारी उस शासक पर ही होती, जो इन परिस्थितियो मे दुनिया मे सबसे ज्यादा दृढ निश्चयी होने पर भी कुछ नही कर सकता था (और आमतौर से उस शासक मे न तो कोई निश्चय ही होता, और न कोई योग्यता ही)। हिंदुस्तानी रजवाडो के बारे मे सन १८४६ मे हेनरी लारेंस ने लिखा था—"अगर निश्चित रूप से बद-अमली कायम करने की कोई तरकीब थी, तो वह देशी राजा और वजीर की उस हुकूमत मे थी, जो विदेशी सगीनो की मदद पर निर्भर था, और जिसका नियत्रण ब्रिटिश रेजीडेंट के जरिये होता था। अगर ये सब योग्य और समझदार होते और साथ ही भले भी होते, तो भी सरकारी गाडी के पहिये शायद ही आसानी से चल सकते। अगर एक ही इन्साफपसद हाकिम, चाहे वह यूरोपीय हो या हिंदुस्तानी, ढूढ पाना मुश्किल है, तब ऐसे तीन आदमी, जो एक साथ मिलकर काम कर सके, कहा मिल सकते हैं? तीनो बेहद शैतानी कर सकते हैं, लेकिन उनमे से एक शख्स भी, अगर दूसरा रुकावटें डाले, तो भलाई कर ही नही सकता।"

इससे भी पहले, सन १८१७ मे, सर टामस मनरो ने गवर्नर जनरल को लिखा था—"सहायक फौजो को काम मे लाने के सिलसिले मे कई बहुत बडी आपत्तिया हैं। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति यह होती है कि हर ऐसे देश की सरकार, जहा उस फौज का इस्तेमाल होता है, कमजोर और अत्याचारी हो जाती है, वहा समाज के उच्च वर्गों मे आत्म-सम्मान की भावना गायब हो जाती है और वहा की सारी जनता का पतन होता है और गरीबी बहुत बढ जाती है। हिंदुस्तान मे कुशासन का आमतौर पर इलाज यह है कि महलो मे शातिपूर्ण क्रांति हो या खुला हिंसात्मक विद्रोह हो या विदेशी आक्रमण और आधिपत्य हो। लेकिन ब्रिटिश फौज की मौजूदगी से उस इलाज का कोई मौका नही रहता, क्योकि वह फौज घरेलू और बाहरी दुश्मनो के बावजूद उस राजा को तख्त पर बिठाये ही रखती है। वह उसको आलसी बना देती है, क्योकि वह अपनी हिफाजत के लिए गैर-आदमियो पर

भरोसा करता है। वह शासक जालिम और लालची बन जाता है, क्योंकि उसे यह दिखाया जाता है कि अब उसे अपनी प्रजा की नफरत का कोई डर नही है। जहा कही इस 'सहायक सधि' की प्रथा को अपनाया जाता है, वहा पर, अगर शासक असाधारण योग्यता का आदमी हो, तो शायद बात दूसरी हो, लेकिन वैसे तो उस सधि की छाप गावो की बरबादी और घटती हुई आबादी मे दिखाई देती है। अगर खुद वह राजा उस (ब्रिटिश) सधि का पूरी-पूरी तरह पालन करने को तैयार भी हो, तो उसके कुछ खास ऐसे पदाधिकारी ज़रूर निकल आयगे, जो उसको उस सधि को तोडने को मजबूर करेगे। जबतक देश मे कही भी ऊचे दर्जे की आज़ादी है, जो विदेशियो के नियत्रण को हटा देना चाहती है, तबतक ऐसे सलाहकार भी मिल जायगे। हिंदुस्तान के निवासियो के बारे मे मेरी अच्छी राय है और मैं नहीं समझता कि यह भावना कभी बिलकुल ही गायब हो पायगी। और इसलिए मुझे इस बात मे कोई शक नही है कि यह प्रथा हर जगह अपना पूरा असर दिखायगी और हर राज्य को, जिसकी रक्षा की यह जिम्मेदारी लेती है, बरबाद कर देगी।"[1]

ऐसी शिकायतो के बावजूद हिंदुस्तानी रियासतो के सिलसिले में यह नीति बनी और उसका नतीजा लाज़िमी तौर पर यह हुआ कि अत्याचार और अनीति की बढती हुई। इन रियासतो की सरकारें अकसर खराब होती थी, लेकिन हर सूरत मे वे बिलकुल लाचार भी होती थी। इन रियासतो मे कुछ ब्रिटिश रेज़ीडेंट या एजेंट मेटकाफ की तरह ईमानदार और भले होते थे, लेकिन आमतौर पर उनमे उन दोनो मे से एक भी बात नही थी, और वे बिना किसी जिम्मेदारी के अपने विशेषाधिकारो का इस्तेमाल करते थे। इन अग्रेज़ साहसिको ने, जो अपनी कौमियत और सरकारी मदद की वजह से अपने को महफूज़ समझते थे, रियासती खज़ानो मे घोटाला किया। उन्नीसवी सदी के पहले पचास बरसो मे, इन रियासतो मे और खासतौर से अवध और हैदराबाद मे, जो कुछ हुआ, उस पर यकीन करना मुश्किल है। सन १८५७ के गदर से कुछ ही पहले, अवध ब्रिटिश भारत मे शामिल कर लिया गया।

उस वक्त ब्रिटिश-नीति इस तरह कब्ज़ा करने के पक्ष में थी और ब्रिटिश हुकूमत के द्वारा रियासत को हथियाने के लिए हर बहाने का फायदा उठाया जाता। लेकिन १८५७ के ग़दर और महाविद्रोह ने रियासती मामलो

[1] टामसन द्वारा 'दि मेकिंग ऑव दि इंडियन प्रिंसेज' (१९४३) मे पृष्ठ २२-२३ पर उद्धृत।

मे उस नीति की कीमत ब्रिटिश सरकार को जता दी। कुछ छोटे-छोटे अपवादो को छोडकर हिंदुस्तानी रजवाडे उस विद्रोह से अलग ही नही रहे, बल्कि उन्होने कुछ जगहो मे अग्रेजो को उसे कुचलने मे मदद दी। इससे ब्रिटिश नीति का रियासतो की तरफ रुख बदल गया, और यह तय किया गया कि उनको बनाये रखा जाय और यही नही, बल्कि उनको और ज्यादा मजबूत किया जाय।

ब्रिटिश 'प्रभुत्व' के सिद्धात की घोषणा की गई, और अमली तौर पर हिंदुस्तान की सरकार के राजनैतिक विभाग का रियासतो पर बराबर और सख्त नियत्रण रहा है। राजाओ को हटा दिया गया है और उनके अधिकार छीन लिये गये है, ब्रिटिश सेवाओ मे से लिये गये मत्री उन पर लाद दिये गये हैं। रियासतो मे ऐसे बहुत-से मत्री काम कर रहे हैं और वे अपनी जिम्मेदारी अपने नाम-मात्र के अध्यक्ष उस राजा के मुकाबले मे ब्रिटिश-सत्ता के प्रति कही ज्यादा समझते हैं।

कुछ राजा अच्छे हैं, कुछ बुरे हैं, लेकिन अच्छे राजाओ को हर कदम पर रोक दिया जाता है। वर्ग के रूप मे वे पिछडे हुए हैं, उनका दृष्टिकोण सामतवादी है, और ब्रिटिश सरकार के साथ ताल्लुकात को छोडकर, जब वे खासतौर से अदब से पेश आते हैं, उनके ढग तानाशाही के हैं। शेल्वकर ने हिंदुस्तानी रियासतो के बारे में सही ही कहा है कि "वे हिंदुस्तान में अग्रेजो का पाचवा दस्ता है।"

६ : हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य की परस्पर विरोधी बातें : राममोहन राय : समाचार-पत्र : सर विलियम जोन्स : बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा

हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य के इतिहास पर गौर करते हुए हमको पग-पग पर एक खास विरोधाभास दिखाई देता है। अग्रेजो का हिंदुस्तान मे इसलिए आधिपत्य हुआ और वे दुनिया की एक प्रमुख शक्ति इसलिए बन गये कि वे बडी मशीनो की नई औद्योगिक सस्कृति के अगुआ थे। वे एक ऐसी नई ऐतिहासिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे, जो दुनिया को बदलने जा रही थी, और हालाकि उनको पता नही था, वे परिवर्तन और क्राति के प्रतिनिधि थे। फिर भी सिवाय उस रद्दो-बदल के, जो उन्हे अपनी स्थिति सुदृढ करने और देश और जनता का अपने फायदे के लिए शोषण करने के सिलसिले मे जरूरी मालूम हुई, उन्होंने हर तरह की रद्दो-बदल

को जान-बूझकर रोका। उनका उद्देश्य और दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी था। कुछ हदतक तो उसकी वजह उस सामाजिक वर्ग की पृष्ठभूमि थी, जिसके वे सदस्य थे, लेकिन ज्यादातर से उसकी वजह यह थी कि वे जानबूझकर प्रगतिशील दिशा मे रद्दो-बदल को रोकना चाहते थे, क्योकि उस रद्दो-बदल से हिंदुस्तानी जनता मजबूत होती और उसका नतीजा यह होता कि हिंदुस्तान पर अंग्रेजी प्रभुत्व घट जाय। जनता का डर उनकी सारी विचारधारा और सारी नीति मे समाया हुआ था, क्योंकि न तो वे उस जनता मे घुलना-मिलना ही चाहते थे और न वे ऐसा कर ही सकते थे। उनको तो एक विदेशी शासक-समुदाय की तरह अलग और एक बिलकुल जुदा और विरोधी जनता मे घिरा रहना था। परिवर्तन हुए और कुछ तो प्रगतिशील दिशाओ मे भी हुए, लेकिन वे ब्रिटिश नीति के बावजूद हुए, हालाकि उनको उत्तेजना पच्छिम के सपर्क मे आने से अंग्रेजो द्वारा ही मिली।

व्यक्तिगत रूप से अंग्रेजो ने, जिनमे शिक्षा-प्रसार मे दिलचस्पी रखनेवाले लोग भी थे, पूर्व मे दिलचस्पी रखनेवाले लोग थे, सपादक थे और मिशनरी लोग थे, और साथ ही और दूसरे आदमियो ने हिंदुस्तान मे पच्छिमी सस्कृति लाने मे एक अहम हिस्सा लिया और अपनी इस कोशिश मे उनको अकसर खुद अपनी सरकार से झगडना पडा। उस सरकार को आधुनिक शिक्षा-प्रसार के असर का डर था और इसीसे उसने उसके रास्ते मे बहुत-सी अडचने डाली, फिर भी हिंदुस्तान मे अंग्रेजी विचार, साहित्य और राजनैतिक परपरा का प्रवेश करा देने का श्रेय उन योग्य और उत्सुक अंग्रेजो को है, जिन्होंने अपने चारो तरफ हिंदुस्तानी विद्यार्थियो के उत्साही समुदायों को इकट्ठा किया और जिन्होंने अपनी सस्कृति के फैलाने की बडी जोरदार कोशिशें की। (जब मैं 'अंग्रेजी' लफ्ज कहता हू, तो उसमे सारे ग्रेट ब्रिटेन के निवासियों और आयरलैंड के रहनेवालो को शामिल करता हू, हालाकि मैं यह जानता हू कि यह गलत और अनुचित है। लेकिन मुझे 'ब्रिटिश' लफ्ज़ नापसद है और शायद उस लफ्ज़ मे आयरलैंड का समावेश नही होता। आयरलैंड, स्काटलैंड और वेल्स के निवासियो के सामने मैं क्षमा-प्रार्थी हू। हिंदुस्तान मे उन सबका व्यवहार एक-सा रहा है और यहा उन सबको एक ही समूह की तरह देखा गया है।) खुद ब्रिटिश सरकार भी, जिसको शिक्षा नापसद थी, परिस्थितियो से विवश हुई और उसको अपने बढते हुए काम के लिए क्लर्कों के तैयार करने और उनको शिक्षा देने का इतज़ाम करना पडा। इन छोटी-छोटी जगहो मे काम करने के लिए

इंग्लैंड से बड़ी तादाद में आदमियों को लाकर रखना उनकी बिसात के बाहर था। इस तरह धीरे-धीरे शिक्षा का प्रसार हुआ और हालांकि वह बहुत सीमित थी और ग़लत ढंग की थी, फिर भी उसने नये और सक्रिय विचारों के लिए दिमाग़ को खोल दिया।

छापने की मशीन को, और असल में हर एक मशीन को ही, हिंदुस्तानी दिमाग़ के लिए भड़कीला और सनसनीखेज समझा गया। उनको किसी भी ढंग से बढ़ावा नहीं देना था, क्योंकि उनसे औद्योगिक तरक्की हो सकती थी और राजद्रोह फैल सकता था। ऐसा कहा जाता है कि एक बार हैदराबाद के निजाम ने विलायती मशीनें देखने की इच्छा प्रकट की, तो इस पर वहां के रेज़ीडेंट ने उनके लिए एक छापने की मशीन और एक हवा भरने का पंप मंगा दिया। निजाम की क्षणिक उत्सुकता के शांत हो जाने के बाद ये चीजें एक तरफ रख दी गईं। लेकिन जब कलकत्ते की सरकार ने यह सुना, तो उसने रेज़ीडेंट के प्रति अपनी नाराजगी जाहिर की और एक हिंदुस्तानी रियासत में छापने की मशीन चलाने पर तो उसको ख़ासतौर से फटकारा गया। इस पर रेज़ीडेंट ने कहा कि अगर सरकार चाहे, तो वह उस मशीन को खुफिया तौर पर तुड़वा सकता है।

लेकिन जहां निजी छापेखानों को बढ़ावा नहीं दिया गया, वहां साथ ही सरकार का काम बिना छपाई के चल नहीं सकता था और इसलिए कलकत्ता, मद्रास और दूसरी जगहों में सरकारी छापेखाने खोले गये। पहला निजी छापाखाना बैप्टिस्ट पादरियों ने श्रीरामपुर में चलाया, और पहला अखबार एक अंग्रेज ने कलकत्ते में सन १७८० में निकाला।

ये, और ऐसी ही और दूसरी तब्दीलियां धीरे-धीरे हुईं और हिंदुस्तानी दिमाग़ पर उनका असर हुआ। उनसे 'आधुनिक' चेतना फैली। सीधे तौर पर तो यूरोप के विचारों से हिंदुस्तान का एक बहुत छोटा-सा ही समुदाय प्रभावित हुआ, क्योंकि हिंदुस्तान तो अपनी निजी दार्शनिक पृष्ठभूमि से चिपका रहा, जिसको वह पश्चिमी पृष्ठभूमि से अच्छा समझता था। पश्चिम का असली असर और आघात तो जिंदगी के अमली पहलू पर हुआ, जो साफ़ तौर पर पूर्व से बेहतर था। नये तरीकों को—रेल, छापेखाना, दूसरी मशीनों और लड़ाई के ज्यादा होशियारी के तरीकों की—अवहेलना नहीं की जा सकती थी। ये तरीके परोक्ष रूप से पुराने तरीकों को धकेलकर ऊपर आ गये और हिंदुस्तान के दिमाग़ में संघर्ष पैदा हुआ। सबसे ज्यादा स्पष्ट और गहरी रद्दो-बदल यह थी कि पुरानी खेतिहरी की व्यवस्था हट गई और उसकी जगह व्यक्तिगत संपत्ति और जमींदारी की विचारधारा

ने ली, अर्थ-व्यवस्था में रुपये का लालच हुआ और जमीन एक खरीदारी की चीज हो गई। जो चीज पहले रिवाज से मजबूती से जमी हुई थी, अब रुपये से उखड़ गई।

खेती-संबंधी, शिक्षा-संबंधी, तकनीकी और दिमागी—ये सभी तब्दीलियां हिंदुस्तान के और दूसरे बड़े हिस्सों में बहुत पहले बंगाल में देखने में आईं। उसकी वजह यह थी कि बंगाल में और दूसरे प्रदेशों के मुकाबले ब्रिटिश राज्य ५० बरस पहले कायम हो चुका था। इसीसे अठारहवीं सदी के पिछले पचास बरसों में और उन्नीसवीं सदी के पहले पचास बरसों में, बंगाल ने ब्रिटिश-भारतीय जीवन में एक प्रमुख भाग लिया। बंगाल सिर्फ ब्रिटिश हुकूमत का ही केंद्र नहीं था, बल्कि उसने अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिंदुस्तानियों के पहले दल को तैयार किया, जो ब्रिटिश ताकत की छाया में ही हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में फैल गया। बंगाल में उन्नीसवीं सदी में कितने ही महापुरुष पैदा हुए, जिन्होंने सारे हिंदुस्तान का सांस्कृतिक और राजनैतिक मामलों में पथ-प्रदर्शन किया, और उन्हींकी कोशिशों से आगे चलकर नया राष्ट्रीय आंदोलन साकार हुआ। बंगाल को ब्रिटिश राज्य की ज्यादा लंबी जानकारी ही नहीं थी, बल्कि उसको ब्रिटिश राज्य के उस शुरू के वक्त का भी तजुरबा था, जब वह बहुत ज्यादा सख्त और लचीला दोनों था। उसने इस राज्य को मंजूर कर लिया था और उत्तरी और मध्य-भारत के सिर झुकाने के बहुत पहले ही उसने उस राज्य से अपना मेल बिठा लिया था। सन १८५७ के महाविद्रोह का बंगाल में करीब-करीब नहीं के बराबर असर था, वैसे उस विद्रोह की पहली चिनगारी संयोग से कलकत्ते के पास दमदम में ही प्रकट हुई थी।

ब्रिटिश राज्य से पहले बंगाल मुगल-साम्राज्य का एक बाहरी सूबा था। उसकी अहमियत थी, लेकिन वह केंद्र से कटा हुआ-सा था। मध्य-युग के शुरू-शुरू में वहां के हिंदुओं में कई गंदे ढंग की पूजाएं और तांत्रिक रस्में चालू थीं। तब हिंदू-सुधार आंदोलन शुरू हुआ और उसका सामाजिक रीतियों और कानूनों पर असर हुआ, यहांतक कि कुछ दूसरी जगहों से भी विरासत के कुछ मान्य नियम कुछ हद तक बदल गये। चैतन्य ने, जो एक बड़े विद्वान थे और बड़ी निष्ठा और भावना के व्यक्ति थे, श्रद्धा की बुनियाद पर एक ढंग का वैष्णववाद स्थापित किया और बंगाल की जनता पर बहुत प्रभाव डाला। बंगालियों में ऊंची बौद्धिक प्रतिभा और उतनी ही दृढ भावुकता का एक विचित्र सम्मिश्रण हुआ। उन्नीसवीं सदी के पिछले बरसों में प्रेम और मानव-सेवा की निष्ठा की इस परंपरा के एक दूसरे

सत-स्वभाव के व्यक्ति रामकृष्ण परमहस थे। उनके नाम पर एक सेवा की सस्था स्थापित हुई, जिसकी सामाजिक सेवाओ का लेखा बेजोड है। रामकृष्ण मिशन के सदस्य पुराने फ्रेन्सिस्कनो की तरह धैर्य और प्रेम के साथ सेवा करने के आदर्श से भरे हुए हैं, और क्वेकरो की तरह वे कुशल हैं, और उनमे दिखावा नही है। वे लोग अस्पताल और शिक्षा-सबधी सस्थाए चलाते हैं, और जब कभी हिंदुस्तान मे कही भी और कभी-कभी विदेशो मे, कोई व्यापक दुर्घटना होती है, तो वे वहा की पीडित जनता को सहारा देने मे और उनकी सेवा करने मे लग जाते हैं।

रामकृष्ण पुरानी हिंदुस्तानी परपरा के प्रतिनिधि थे। उनसे पहले, अट्ठारहवी सदी मे ही बगाल मे एक और प्रमुख व्यक्ति हो चुके थे। वह थे राजा राममोहन राय। वह एक नये ढग के आदमी थे। उनमे पुरानी और नई, दोनो ही तरह की, शिक्षा का मेल था। वह हिंदुस्तानी विचारधारा और हिंदुस्तानी दर्शन-शास्त्र से सुपरिचित थे, और साथ ही वह सस्कृत, अरबी और फ़ारसी के विद्वान थे। वह उस हिंदू-मुस्लिम सस्कृति की उपज थे, जो उस समय हिंदुस्तान के सास्कृतिक वर्ग के लोगो मे फैली थी। हिंदुस्तान मे अग्रेज़ो के आने से और साथ ही उसकी कई तरह की श्रेष्ठता की वजह से, राममोहन राय के जिज्ञासु और साहसी मस्तिष्क ने उनकी सस्कृति के आधारो को जानना चाहा। उन्होने अग्रेज़ी पढी, लेकिन इतना काफी न था, उन्होंने पच्छिम के धर्म और वहा की सस्कृति के स्रोत को खोज पाने के लिए यूनानी, लातीनी और इब्रानी भाषाए पढी। हालाकि उस वक्त तकनीकी परिवर्तन इतने ज़ाहिर नही थे जितने कि वे बाद मे हुए, फिर भी पच्छिमी सभ्यता के तकनीकी पहलू और विज्ञान की तरफ उनका खिचाव हुआ। दार्शनिक और विद्वत्तापूर्ण रुचि की वजह से राममोहन राय लाज़िमी तौर पर पुराने साहित्य की ओर झुके। उनका ज़िक्र करते हुए पूर्वीय विषयो के जानकार मोनियर विलियम्स ने कहा है—"दुनिया के वह पहले आदमी हैं, जिन्होंने धर्मों का आपस मे मिलान करते हुए अध्ययन करने की परिपाटी की खोज की।" फिर भी, साथ-ही-साथ, वह शिक्षा को आधुनिक ढाचे मे ढालने के लिए उत्सुक थे और वह उसे पुरानी परिपाटी के चगुल से निकालना चाहते थे। उन शुरू के दिनो मे भी वह वैज्ञानिक तरीको के पक्ष मे थे, और उन्होने गवर्नर जनरल को गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, जीव-विज्ञान आदि दूसरी उपयोगी विद्याओ की शिक्षा की ज़रूरत पर ज़ोर देते हुए लिखा।

वह केवल एक विद्वान और अन्वेषक ही नही थे, सबके ऊपर वह एक

सुधारक थे। शुरू के दिनों मे उन पर इस्लाम का असर हुआ था और बाद में कुछ हद तक ईसाई-धर्म का, लेकिन फिर भी वह अपने धर्म में दृढता के साथ जमे रहे। हा, उस धर्म को उन्होंने उन कुरीतियो और कुप्रथाओं से, जो उस वक्त उमसे जुड गई थी, छुडाने की कोशिश की। सती-प्रथा को बद करने के लिए उन्हींके आदोलन की वजह से खासतौर से सरकार ने उस पर रोक लगाई। यह सती-प्रथा, जिसमें स्त्रियों को पति के साथ चिता पर जलाया जाता था, कभी भी व्यापक नही थी। ऊचे वर्ग मे कभी-कभी ऐसी घटनाए हो जाया करती थी। शायद यह रिवाज हिंदुस्तान मे तातारो के साथ आया। उनमे यह रिवाज था कि मालिक के मरने के बाद उसके नोकर अपने-आपको मार डालते। शुरू के सस्कृत-साहित्य मे सती-प्रथा को बुरा कहा गया है। अकबर ने उसे रोकने की कोशिश की और मराठे भी उसके खिलाफ थे।

राममोहन राय हिंदुस्तानी अखबारो के कायम करनेवालो मे एक थे। सन १७८० के बाद हिंदुस्तान के अग्रेजो ने कई अखबार निकाले। ये आमतौर पर सरकार की कडी आलोचना करते और सरकार से अकसर उनका झगडा होता और उन पर सेंसर रहता। हिंदुस्तान मे अखबारो की आजादी के लिए सबसे पहले अग्रेजो ने आवाज उठाई। इन अग्रेजो मे से एक जेम्स सिल्क बकिघम थे, जिनकी अब भी याद की जाती है। सरकार की वजह से इनको हिंदुस्तान छोडकर बाहर जाना पडा। पहला अखबार, जिस पर हिंदुस्तानी नियत्रण था और जिसका सपादन भी हिंदुस्तानियो ने किया, सन १८१८ मे (अग्रेजी भाषा मे) निकला। और उसी साल श्रीरामपुर के बैप्टिस्ट पादरियो ने बगाल मे दो पत्र—एक मासिक और एक साप्ताहिक निकाले। हिंदुस्तानी भाषा मे सामयिक रूप से निकलनेवाले ये पहले पत्र थे। उसके बाद अग्रेजी मे और हिंदुस्तानी भाषाओ मे कई अखबार और कई सामयिक पत्र कलकत्ता, बबई और मद्रास से कुछ ही समय के अदर निकलने लगे।

इसी बीच मे अखबारो की आजादी के लिए लडाई शुरू हो चुकी थी, जो कितने ही उतार-चढाव के साथ अबतक जारी है। सन १८१८ मे मशहूर रेगुलेशन न० ३ का जन्म हुआ, जिसके मुताबिक किसी शख्स को बिना मुकदमा चलाए नजरबद किया जा सकता था। यह रेगुलेशन आज भी अमल मे लाया जाता है और बहुत-से आदमी इस १२६ बरस पहले की धारा [illegible] जेल मे रखे जाते है।

[illegible] राय का कई अखबारो से सबध था। उन्होंने अग्रेजी और

बंगला, इन दो भाषाओं की मिली-जुली एक पत्रिका निकाली और बाद में उन्होंने एक साप्ताहिक पत्र फारसी भाषा में इस कारण प्रकाशित किया कि सारे हिंदुस्तान में उसका चलन हो सके। उस वक्त हिंदुस्तान में फारसी ही सारे सभ्य समाज की भाषा थी। लेकिन १८२३ में प्रेस-नियंत्रण के लिए नये कानून बनने पर इसको बंद होना पड़ा। राममोहन राय ने और दूसरे आदमियों ने इन कानूनों का ज़ोरदार विरोध किया, यहांतक कि उन्होंने इंग्लैंड में मंत्रिमंडल के पास एक अर्ज़ी भेजी।

राममोहन राय के संपादकीय काम का खासतौर से उनके सुधार-आंदोलन से संबंध था। कट्टर समुदायों को उनका समन्वयकारी और विश्वबंधुत्व का दृष्टि-बिंदु बहुत नापसंद था और वे उनके बहुत-से सुधारों का भी विरोध करते थे। लेकिन उनके अपने भी कट्टर समर्थक थे। इन्हीं में ठाकुर-कुटुंब भी था, जिसने बाद में बंगाल की नई जागृति में एक खास हिस्सा लिया। राममोहन राय दिल्ली-सम्राट की ओर से इंग्लैंड गये और वहां ब्रिस्टल में ही उनकी मृत्यु हो गई।

राममोहन राय ने और ठाकुर-कुटुंब ने अंग्रेज़ी घर पर पढ़ी। कोई अंग्रेज़ी स्कूल या कालेज उस वक्त नहीं थे और सरकारी नीति हिंदुस्तानियों को अंग्रेज़ी सिखाने के सख्त खिलाफ थी। सन १७८१ में सरकार ने कलकत्ते में हिंदू कालेज और कलकत्ता मदरसा कायम किया। पहली संस्था संस्कृत की पढ़ाई के लिए थी और दूसरी संस्था अरबी की पढ़ाई के लिए। सन १७८१ में बनारस में एक संस्कृत कालेज खोला गया। शायद १८१० के बाद ईसाई पादरियों की तरफ से अंग्रेज़ी सिखाने के लिए कुछ स्कूल खुले। सन १८१० के बाद सरकारी हलकों में भी ऐसे खयाल के लोग हुए, जो अंग्रेज़ी पढ़ाने के तरफदार थे, लेकिन उनके मत का विरोध किया गया। जो भी हो, तजुरबे के तौर पर, दिल्ली के अरबी स्कूल में अंग्रेज़ी दर्जे भी शुरू किये गये और ऐसे दर्जे कलकत्ते की कुछ संस्थाओं में भी खोले गये। अंग्रेज़ी पढ़ाने के पक्ष में अंतिम निर्णय सन १८३५ की फरवरी के मैकॉले के शिक्षा-संबंधी नोट से हुआ। बाद में कलकत्ते में प्रेसीडेंसी कालेज कायम हुआ। सन १८५७ में कलकत्ता, बंबई और मद्रास की यूनिवर्सिटियों का काम शुरू हुआ।

अगर एक तरफ हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार हिंदुस्तानियों को अंग्रेज़ी पढ़ाने के खिलाफ़ थी, तो दूसरी तरफ ब्राह्मण विद्वान कुछ दूसरे ही कारणों से अंग्रेज़ों को संस्कृत पढ़ाने के और भी ज्यादा खिलाफ थे। जब सर विलियम जोन्स, जो पहले से ही कई भाषाएं जानते थे और जो एक बड़े विद्वान थे, हिंदुस्तान के सुप्रीम कोर्ट के जज बनकर आये, तो उन्होंने संस्कृत

सीखने की अपनी इच्छा प्रगट की। और हालाकि बहुत बडा पारितोषिक देने को कहा गया, लेकिन कोई भी ब्राह्मण एक विदेशी और विधर्मी को देव-वाणी सिखाने को तैयार नही हुआ। जोन्स को आखिर बहुत मुश्किलो से एक अ-ब्राह्मण वैद्य मिले, जो अपनी खास शर्तों पर ही सस्कृत पढाने को तैयार थे। हिंदुस्तान की प्राचीन भाषा को सीखने के लिए जोन्स इतने ज्यादा उत्सुक थे कि उन्होने सारी शर्तें मान ली। सस्कृत ने, और खासतौर से पुराने भारतीय नाटको ने, उनको मोह लिया। उन्हीके लेखो और अनुवादो से यूरोप को पहली बार सस्कृत-साहित्य के भडार की झलक मिली। सन १७८४ मे जोन्स ने बगाल की एशियाटिक सोसाइटी कायम की, जो बाद मे रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कहलाई। हिंदुस्तान अपने प्राचीन-साहित्य की खोज के लिए जोन्स और दूसरे यूरोपीय विद्वानो का बहुत एहसानमद है। यह सही है कि हर युग मे उस साहित्य के ज्यादा हिस्से से लोग परिचित थे, लेकिन उनकी जानकारी कुछ खास समुदायो तक ही सीमित थी और सास्कृतिक क्षेत्र मे फारसी का आधिपत्य हो जाने से लोगो का ध्यान उधर से हट गया था। हस्तलिखित ग्रथो की तलाश से बहुत-से अपरिचित ग्रथ सामने आये और आधुनिक आलोचनापूर्ण ढग के अपनाने से इस विस्तृत साहित्य को, जो सामने आया, एक नई पृष्ठभूमि मिली।

छापने की मशीन के चलन और उपयोग से प्रचलित हिंदुस्तानी भाषाओ की वृद्धि को बहुत बडा प्रोत्साहन मिला। इनमे से कुछ भाषाए, मसलन हिंदी, बगला, गुजराती, मराठी, उर्दू, तमिल, और तेलुगू बहुत अरसे से सिर्फ़ प्रचलित ही नही थी, बल्कि उनमे साहित्य-निर्माण हो चुका था। उनकी बहुत-सी किताबें आम जनता मे खूब प्रचलित थी। ज्यादातर ये महाकाव्य या कविताए गीतो और भजनो के सग्रह के रूप मे होती, जिनको आसानी से याद रखा जा सकता था। उनमे उस वक्त करीब-करीब गद्य साहित्य बिलकुल न था। ज्यादा गभीर लेख सस्कृत और फारसी मे होते थे, और हर सुसस्कृत आदमी के लिए उनमे से किसी एक को जानना जरूरी था। इन दो प्राचीन भाषाओ का एक प्रभाव-स्थान रहा और उनसे आम लोगो की प्रातीय भाषाओ की तरक्की मे रुकावट हुई। किताबो की छपाई से और अखबारो से इन प्राचीन भाषाओ का गढ टूटा और फौरन ही प्रातीय भाषाओ मे गद्य-साहित्य की तरक्की हुई। उस वक्त के ईसाई पादरियो ने, खासतौर से श्रीरामपुर के बैप्टिस्ट मिशनरियो ने, इस काम मे बहुत मदद की। गैर-सरकारी तौर पर पहले-पहल उन्होंने ही छापेखाने क़ायम किये थे और बाइबिल का हिंदुस्तानी भाषाओ मे, गद्य मे अनुवाद करने

की उनकी कोशिशों को काफी कामयाबी मिली।

सुपरिचित भाषाओं से काम लेने में कोई मुश्किल नहीं थी। लेकिन ईसाई पादरी और भी आगे बढ़े और उन्होंने कुछ छोटी और अविकसित भाषाओं को भी अपनाया और उनको स्वरूप दिया। उन भाषाओं के लिए उन्होंने व्याकरण बनाये और शब्द-कोष तैयार किये। यहांतक कि उन्होंने पहाड़ियों और जंगल के आदिवासियों की बोल-चाल की भाषा को सीखा और उनके लिए लिपि भी निकाली। इस तरह हालांकि ईसाई-धर्म-प्रचारकों का काम हिंदुस्तान में हमेशा ही प्रशंसनीय नहीं रहा, लेकिन इस मामले में, और साथ ही लोक-साहित्य के संकलन के सिलसिले में उन्होंने सचमुच ही हिंदुस्तान की बहुत सेवा की है।

शिक्षा-प्रसार के सिलसिले में ईस्ट इंडिया कंपनी की जो झिझक थी, वह सही साबित हुई, क्योंकि सन १८३० में कलकत्ते के हिंदू कालेज के विद्यार्थियों की एक टोली ने कुछ सुधारों की मांग की। (इस कालेज में सिर्फ संस्कृत ही पढ़ाई जाती थी और अंग्रेजी बिल्कुल नहीं पढ़ाई जाती थी।) उन्होंने कंपनी की राजनैतिक ताकत को सीमित करने और अनिवार्य रूप से मुफ्त शिक्षा देने की मांग की। हिंदुस्तान में निःशुल्क शिक्षा अति प्राचीन समय से प्रचलित थी। वह शिक्षा पुरानी लकीर की थी और कोई बहुत अच्छी या लाभदायक नहीं थी, लेकिन वह बिना किसी खर्च के गरीब विद्यार्थी को भी मिलती थी। उसमें शिक्षक को कुछ व्यक्तिगत सेवा करनी पड़ती थी। इस मामले में हिंदू और मुस्लिम परंपराएं एक-सी थीं।

लोगो से कब्जा छीन लिया गया और स्कूलो और कालेजो की गुज़र की आमदनी खत्म हो गई। इस तरह, एक बहुत बडा रकबा छीना गया और बहुत-से पुराने घराने बरबाद हो गये। वे शिक्षण-सस्थाए, जो इस मुआफी पर गुज़र करती थी, खत्म हो गई और उनसे ताल्लुक रखनेवाले अध्यापको की एक बहुत बडी तादाद बेकार हो गई।

इस तरीके से बगाल की पुरानी सामतवादी जमात, जिसमे हिंदू और मुसलमान दोनो ही थे, और साथ ही वे लोग, जो इनके सहारे गुज़र करते थे, बरबाद हुए। एक वर्ग के रूप मे मुसलमान ज्यादा सामतवादी थे और मुआफी का फायदा उठानेवाले भी ज्यादातर वही थे, इसलिए हिंदुओ के मुकाबले मे उनकी ज्यादा हानि हुई। हिंदुओ मे मध्यम वर्ग के लोगो की मुसलमानो के मुकाबले मे कही ज्यादा बडी तादाद थी, जो व्यापार और व्यवसाय मे या दूसरे पेशो मे लगी हुई थी। ये लोग दूसरी चीज़ो से ज्यादा आसानी से मेल बिठा सकते थे और उन्होने तेज़ी से अग्रेज़ी शिक्षा को अपनाया। साथ ही वे अग्रेज़ो के लिए छोटी नौकरियो मे ज्यादा उपयोगी थे। मुसलमान अग्रेज़ी शिक्षा से अलग रहे और बगाल मे खुद अग्रेज़ शासक उनके खिलाफ थे। उनको यह डर था कि पुराने शासक-वर्ग के बचे हुए ये हिस्से कही उपद्रव न करे। इस तरह शुरू मे बगाली हिंदुओ को छोटी सरकारी नौकरियो मे एकाधिपत्य मिल गया और वे लोग उत्तरी सूबो मे भी भेजे गये। बाद पुराने घरानो के कुछ बचे हुए मुसलमानो को भी इन नौकरियो मे शामिल कर लिया गया।

अग्रेज़ी शिक्षा से हिंदुस्तानी क्षितज विस्तृत हुआ, अग्रेजी साहित्य और सस्थाओ के लिए दिल मे इज्जत हुई, हिंदुस्तानी जिदगी के कुछ पहलुओ और उनकी कुछ रीतियो के खिलाफ विद्रोह हुआ और राजनैतिक सुधार की माग बढ़ी। इस नई पेशेवर जमात ने राजनैतिक हलचल मे नेतृत्व किया और सरकार के सामने अपने पक्ष को रखा। असल मे अग्रेज़ी पढे-लिखे इन पेशेवर लोगो का एक नया वर्ग बन गया, जो आगे चलकर सारे ही हिंदुस्तान मे फैलनेवाला था। यह एक ऐसा वर्ग था, जिस पर पच्छिमी विचारो और तरीको का असर था और जो आम लोगो से अलग रहा करता था। सन १८५२ मे कलकत्ते मे ब्रिटिश इडियन एसोसिएशन क़ायम हुआ। यह इडियन नेशनल काग्रेस का पूर्वाभास था, लेकिन अभी सन १८८५ मे होनेवाली काग्रेस की शुरुआत तक तो एक पीढी का अरसा पडा था। इसी अरसे मे १८५७-५८ का विद्रोह हुआ, उसका दमन हुआ और उसके नतीजे सामने आये। उस सदी के बीच मे बगाल मे, और उत्तरी और

मध्य हिंदुस्तान मे जो फर्क था, वह यह था कि जहा एक तरफ बंगाल मे नये पढ़े-लिखे (खासतौर से हिंदू लोग) अंग्रेजी साहित्य और विचारो से प्रभावित हो चुके थे और राजनैतिक-वैधानिक सुधार के लिए इंग्लैंड की तरफ आखे उठाये हुए थे, वहा दूसरी तरफ ये दूसरे हिस्से विद्रोह की भावनाओ से खौल रहे थे।

और जगहो के मुक़ाबले मे बंगाल मे ब्रिटिश राज्य का और पश्चिम का असर ज्यादा साफ दिखाई देता है। खेतिहरी अर्थ-व्यवस्था बिल्कुल टूट गई थी और पुराना सामतवादी वर्ग खत्म कर दिया गया था। उनकी जगह जमीन के नये मालिक आ गये थे, जिनका जमीन से परपरा का लगाव बहुत ही कम था, और जिनमे पुराने सामतवादी जमीदारो के गुण तो करीब-करीब कोई भी नही थे, लेकिन जिनमे उनकी ज्यादातर बुराइया जरूर थी। किसानो को अकाल और लूट का सामना करना पड़ा और वे बेहद ग़रीब हो गये। तरह-तरह के कारीगर लोगो की जमात तो करीब-करीब मिटा ही दी गई। इन टूटी-फूटी बुनियादो पर ऐसे नये समुदाय और नये वर्ग खड़े हुए, जो ब्रिटिश राज्य की उपज थे और जो उससे कितने ही रूपो मे सबधित थे। साथ ही वे सौदागर लोग थे, जो ब्रिटिश कार-बार और तिजारत के दलाल थे और जो उसकी जूठन से फायदा उठाते थे। इनके अलावा, छोटी नौकरियो मे और विद्वत्तापूर्ण व्यवसायो मे वे पढ़े-लिखे लोग थे, जो विभिन्न परिमाण मे अंग्रेजी विचारो से प्रभावित हुए थे और जो प्रगति के लिए ब्रिटिश ताकत की तरफ आशा से आखे लगाये हुए थे। इनमे हिंदू समाज के सामाजिक ढाचे और उसकी कट्टर रीतियो के खिलाफ विद्रोह हुआ। उन्होंने प्रेरणा के लिए अंग्रेजी उदारता और सस्थाओ की तरफ आखे उठाई।

बंगाल के हिंदुओ के ऊपरी दर्जे पर यह असर हुआ। हिंदुओ की आम जनता पर कोई ज़ाहिरा असर नही हुआ और शायद वहा के हिंदू नेताओ ने भी आम जनता के बारे मे कुछ नही सोचा। कुछ गिने-चुने आदमियो को छोड़कर, मुसलमानो पर कोई असर नही हुआ और वे जान-बूझकर इस नई शिक्षा से अलहदा रहे। वे पहले भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे, अब और भी ज्यादा पिछड़ गये। उन्नीसवी सदी मे बंगाल मे कितने ही प्रतिभाशाली हिंदू हुए, लेकिन उस दौरान मे बंगाल मे उस प्रतिभा का शायद एक भी मुसलमान नेता नही हुआ। जहातक आम जनता का सवाल है, हिंदुओ और मुसलमानो मे कोई भी खास फर्क नही था।
मे आदतो का, रहन-सहन का, भाषा का, गरीबी और

पन था। असलियत मे हिंदुस्तान भर मे कही भी हिंदुओ और मुसलमानो मे इतना कम अतर नही था, जितना बगाल मे था। शायद ९८ फी-सदी मुसलमान पहले हिंदू थे और अब उन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया था और वे आमतौर पर समाज के सबसे निचले दर्जे के थे। जनसख्या के लिहाज़ से शायद मुसलमान हिंदुओ के मुकाबले मे कुछ ज्यादा थे। (आज-कल बगाल मे आबादी का अनुपात यह है ५३ फी-सदी मुसलमान, ४६ फी-सदी हिंदू, १ फी-सदी और दूसरे लोग।)

ब्रिटिश सत्ता के शुरू के ये सब नतीजे, और विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक और राजनैतिक आदोलन, जो उनकी वजह बगाल मे हुए, हिंदुस्तान मे और दूसरी जगहो मे भी दिखाई देते हैं, लेकिन कम और अलग-अलग परिमाण मे। दूसरी जगहो मे सामतवादी ढाचे का और पुरानी अर्थ-व्यवस्था का खात्मा धीरे-धीरे हुआ और मुकाबले मे कम हद तक हुआ। असलियत मे उस ढाचे ने विद्रोह किया और यहातक कि कुचले जाने के बाद भी वह थोडा-बहुत बच रहा। उत्तरी हिंदुस्तान के मुसलमान बगाल के अपने धर्म-भाइयो के मुकाबले मे सास्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से ऊचे थे, लेकिन पच्छिमी शिक्षा से वे भी अलहदा रहे। हिंदुओ ने इस शिक्षा को ज्यादा आसानी से अपनाया और वे पच्छिमी विचारो से ज्यादा प्रभावित हुए। छोटी सरकारी नौकरियो मे और दूसरे अच्छे पेशो मे मुसलमानो के मुकाबले मे हिंदू कही ज्यादा थे। सिर्फ पजाब मे ही यह फर्क इतना ज्यादा नही था।

सन १८५७-५८ मे विद्रोह भडका और उसे कुचल दिया गया, लेकिन बगाल करीब-क़रीब उससे अछूता रहा। पूरी उन्नीसवी सदी मे वहा अग्रेजी पढी-लिखी जमात ने इग्लैंड की तरफ श्रद्धा से देखा और उन्होंने इग्लैंड की मदद से और उसके सहयोग से आगे बढने की आशा की। सस्कृति के मैदान मे एक नई जागृति हुई और बगला भाषा की असाधारण उन्नति हुई और बगाल के नेता राजनैतिक हिंदुस्तान के नेता के रूप मे सामने आये।

उन दिनो बगाल के दिमाग मे इग्लैंड के प्रति जो आदर और विश्वास भरा हुआ था, उसकी और साथ ही, सुदृढ सामाजिक रीतियो के खिलाफ़ विद्रोह की झलक उस हृदय-स्पर्शी सदेश से मिलती है जो अपनी मृत्यु से कुछ महीने पहले, अपनी अस्सीवी वर्ष-गाठ पर (मई १९४१) मे श्री रवीद्र-नाथ ठाकुर ने दिया। उन्होंने कहा—"जब मैं पीछे मुडकर अपने जीवन के युग को देखता हू और अपने बचपन की बढवार के इतिहास को स्पष्टता से

देखता हू, तो उस परिवर्तन को देखकर, जो मेरे रुख मे हुआ और जो मेरे देशवासियो की मनोवृत्ति मे हुआ है—एक ऐसा परिवर्तन, जिसके अदर एक अत्यत दुख का कारण निहित है—तो मैं चकित रह जाता हू।

"मानव के वृहत्तर ससार से हमारा सीधा सपर्क उस अग्रेज जनता के तत्कालीन इतिहास से जुडा हुआ है, जिससे उन शुरू के दिनो मे हमारा परिचय हुआ। विशेष रूप मे उन्हीके विस्तृत साहित्य के द्वारा हमने अपने हिंदुस्तानी तटो पर आनेवाले इन आगतुको के बारे मे अपने विचार बनाये। उन दिनो हमको जिस ढग की शिक्षा दी जाती थी, न तो वह काफी थी और न वह कई तरह की थी, और उसमे वैज्ञानिक जिज्ञासा की भावना भी जाहिर नही होती थी। इस तरह उनका क्षेत्र खासतौर मे सीमित होने की वजह से उन दिनो के पढे-लिखे आदमी अग्रेजी भाषा और साहित्य की ओर जाते। उनके दिन और रात, वर्क के ओजस्वी भाषणो से, मैकॉले के लबे-लबे वाक्यो से, शेक्सपियर के ड्रामा, बायरन के काव्य और खासतौर से उन्नीसवी सदी की अग्रेजी राजनीति की उदारता की विवेचना से जगमगाते रहते।

"हालाकि उन समय अपनी राष्ट्रीय आजादी पाने की कुछ दूसरी कोशिशें की जा रही थी, लेकिन दिल मे अग्रेज-जाति की उदारता मे हमारा विश्वास लुप्त नही हुआ था। हमारे नेताओ के दिलो मे यह यकीन इतना पक्का जमा हुआ था कि उनको यह आशा थी कि विजेता अपनी ही मेहरबानी से विजित जनता की आजादी का रास्ता खोल देगा। इस विश्वास की बुनियाद इस बात पर थी कि उस वक्त इग्लैड मे उन सब लोगो को शरण मिल जाती थी, जिनको सरकारी कोप की वजह से अपने देश को छोडकर भागना होता था। उन राजनैतिक सत्यार्थियो का, जिन्होने अपनी जनता की इज्जत के लिए मुसीबतें उठाई थी, इग्लैड मे खुला स्वागत होता था। अग्रेजो के स्वभाव मे इस उदार मानवता की अभिव्यक्ति से मैं प्रभावित हुआ और इस तरह मैंने उनको अपने सर्वोच्च सम्मान का आसन दिया। उनके राष्ट्रीय स्वभाव की यह उदारता साम्राज्यवादी अहकार मे अभी कलुषित नहीं हुई थी। करीब इसी वक्त, जब मैं लडका ही था, इग्लैड मे मुझे पार्लमिंट मे, और बाहर भी, जॉन ब्राइट के भाषण सुनने के अवसर मिले। उन व्याख्यानो की जबरदस्त उदारता ने, जो सारी सकरी राष्ट्रीय सीमाओ को पार किये हुए थी, मेरे दिमाग पर इतनी गहरी छाप डाली कि आज भी, जब सारा माया-जाल हट गया है, उसका थोडा-सा असर हुआ है।

"सचमुच ही अपने शासकों की दया पर घृणास्पद निर्भरता की भावना कोई अभिमान की चीज़ नही थी। हा, जो बात खास थी, वह यह थी कि हमने मानवीय महानता को, चाहे उसकी अभिव्यक्ति एक विदेशी आदमी मे ही क्यो न हुई हो, जी-जान से मजूर किया। मानवता के सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ उपहारो पर किसी विशेष जाति या विशेष देश का एकाधिपत्य नही हो सकता। उनके क्षेत्र को न तो सीमित ही किया जा सकता है और न वे कजूस के ज़मीन में गड़े हुए सग्रह को तरह हो सकते हैं। यही वजह है कि अग्रेज़ी साहित्य, जिसने गुज़रे हुए ज़माने मे हमारे दिमाग़ का पोषण किया, अब भी हमारे अतरतम मे गूजता है।"

आगे चलकर श्री रवींद्रनाथ जातीय-परपरा से निर्धारित उचित व्यवहार के भारतीय आदर्श की चर्चा करते हैं—"स्वय-सकीर्ण और दीर्घ काल से सम्मानित इन सामाजिक रीतियो का जन्म उस सीमित भौगोलिक प्रदेश मे हुआ और वही पर इनका चलन रहा, जो सरस्वती और द्रिसद्वती नदियो के बीच मे था और उसको ब्रह्मावर्त्त कहा जाता था। इस तरह आडबर पूर्ण व्यवहारवाद धीरे-धीरे स्वतत्र विचार पर छा गया और 'उचित व्यवहार' का वह विचार, जो मनु को ब्रह्मावर्त्त मे सुस्थापित मिला, धीरे-धीरे सामाजिक अत्याचार के रूप मे परिणत हो गया।

"मेरे बचपन के दिनो मे बगाल के सस्कृत और पढ़े-लिखे समुदाय मे, जो अग्रेज़ी शिक्षा मे पला था, समाज के इन कठोर नियमों के विरुद्ध विद्रोह की भावना भरी हुई थी। उन्होंने व्यवहार के इन निश्चित नियमो के स्थान पर अग्रेज़ी अर्थ मे सभ्यता के अर्थ को मजूर कर लिया।

"खुद हमारे ही घराने मे केवल उसके तार्किक और नैतिक वेग के कारण इस भावना-परिवर्तन का स्वागत किया गया और उसका प्रभाव हमारे जीवन के हर एक क्षेत्र में महसूस हुआ। उस वातावरण के जन्म लेने की वजह से और साहित्य मे हमारा एक आतरिक पक्षपात होने के कारण मैंने अग्रेज़ी को अपने हृदयासन पर बिठा दिया। इस तरह मेरे जीवन के पहले अध्याय समाप्त हुए। तब वह समय आया, जब हमारी दिशाए भिन्न हुईं, और उस वक्त धोखे को जानकर बडी तकलीफ हुई। उसके बाद मुझे दिन-ब-दिन यह देखने को ज़्यादा मिला कि वे लोग, जो सभ्यता की सर्वोच्च सचाइयो को मजूर करते हैं, राष्ट्रीय स्वार्थ का सवाल आने पर कितनी आसानी से अपने-आपको उनसे अलग कर लेते हैं।"

७ : सन् १८५७ का महा विद्रोह : जातीय अहंकार

करीब एक सदी तक ब्रिटिश हुकूमत मे रहकर बगाल ने उससे अपना मेल बिठा लिया था। किसान अकाल से बरबाद हो गये थे और नये आर्थिक बोझो से पिस रहे थे। नये पढे-लिखे लोग पच्छिम की तरफ देख रहे थे और यह उम्मीद कर रहे थे कि अग्रेजी उदारता के जरिये तरक्की होगी। यही बात कमो-बेश दक्खिनी और पच्छिमी हिंदुस्तान मे, मद्रास और बबई मे थी। लेकिन उत्तरी सूबो मे इस तरह का कोई भी झुकाव या फरमा-बरदारी नही थी और विद्रोह की भावना आम जनता मे, और खासतौर से सामतवादी सरदारो और उनके अनुयायियो में, बढ रही थी। जनता मे भी असतोष और जोरदार ब्रिटिश विरोधी भावनाए खूब फैली थी। ऊचे वर्ग के लोगो को इन विदेशियो की अकड और उनका अपमानजनक व्यव-हार बहुत अखरता। जनता को ईस्ट इडिया कपनी के अफसरो के लालच या अनजानपन की वजह से बहुत मुसीबतें उठानी पडती। ये अफसर उनकी बहुत अरसे से प्रचलित रीतियो की अवहेलना करते और देशवासियो के विचारो का कोई ध्यान ही नही देते। एक बहुत बडी आबादी पर मनमानी करने की ताक़त से उनके दिमाग फिर गये थे और उन्हे कोई भी रोक या लगाम बरदाश्त नही थी। यहातक कि नई न्याय-प्रणाली, जो उन्होंने कायम की, वह भी एक आतक की चीज बन गई, क्योकि एक तो उसमे बहुत-सी उलझनें थीं और दूसरे न्यायाधीश देश की भाषा और प्रथाओ से अप-रिचित थे।

सन १८१७ मे ही सर टॉमस मुनरो ने गवर्नर जनरल लॉर्ड हेस्टिंग्ज को ब्रिटिश हुकूमत के फायदे बताने के बाद कहा—"लेकिन ये फायदे बहुत महगे पडे हैं। जनता की आजादी, राष्ट्रीय स्वभाव और जनता को जो चीज भी सम्माननीय बनाती है, उसके बलिदान की कीमत पर ये फायदे खरीदे गये हैं। इसलिए अग्रेजी ताकत से हिंदुस्तान को जीतने का नतीजा यहा की जनता को उठाने की जगह उसको गिराना होगा। शायद जीत की ऐसी कोई भी मिसाल नही है, जिसमे देशवासियो को सरकारी काम से इतना ज्यादा अलग कर दिया गया है, जितना कि ब्रिटिश भारत मे।"

इस तरह मुनरो ने हुकूमती ढाचे मे हिंदुस्तानियो को शामिल करने के लिए कहा। एक साल बाद मुनरो ने फिर कहा—"विदेशी विजेताओ ने देशवासियो के साथ हिंसा का और अकसर बहुत ज्यादा बेरहमी का बरताव किया है, लेकिन किसीने भी उनसे इतनी नफरत का बरताव नही

किया, जितना हमने किया है। किसीने भी सारी जनता को अविश्वसनीय बताकर, ईमानदारी के लिए असमर्थ बताकर, इतना कलंकित नही किया, जितना हमने किया है। हमने सिर्फ उसी जगह उनको भरती करना ठीक समझा, जहा हमारा काम उनके बिना चल नही सकता था। यह बात सिर्फ अनुदार ही नही मालूम देती, बल्कि बेजा है कि हम विजित जनता के चरित्र को ही कलंकित कर दें।"[1]

दो सिख लडाइयो के बाद सन १८५० तक ब्रिटिश हुकूमत पंजाब मे फैला दी गई। महाराजा रजीतसिंह, जिसने पजाब की सिख हुकूमत को बढ़ाया और कायम रखा था, सन १८३९ मे मर गया। सन १८५६ मे अवध को छीन लिया गया। वैसे तो करीब पचास बरसो से अवध ब्रिटिश हुकूमत मे ही था, क्योंकि वह एक अधीन राज्य था, वहा का नाममात्र का शासक बेबस था और बहुत बिगडा हुआ था और वहा पर ब्रिटिश रेजीडेंट सर्वशक्तिमान था। उसमे मुसीबतो की हद हो गई थी और उसमे सहायक सधि के ढाचे की सारी बुराइया दिखाई देती थी।

मई, सन १८५७ मे मेरठ की हिंदुस्तानी फौज ने बगावत की। विद्रोह का खुफिया तौर पर बहुत अच्छा सगठन किया गया था, लेकिन नियत समय से पहले ही इस उभार से नेताओ की सारी योजना ही बिगड गई। यह सिर्फ एक फौजी बगावत से कही ज्यादा बडी चीज थी। उसने बडी तेजी से विद्रोह का रूप ले लिया और वह हिंदुस्तानी आजादी की लडाई हो गई। आम जनता के लोकप्रिय विद्रोह के रूप मे यह लडाई दिल्ली, सयुक्त प्रात (वर्तमान उत्तर प्रदेश) बिहार और मध्य हिंदुस्तान के कुछ हिस्सो तक ही सीमित थी। खासतौर से तो यह एक सामतवादी विद्रोह था, जिसके अगुआ सामतवादी सरदार या उनके साथी थे और जिसमे विदेशी-विरोधी व्यापक भावनाओ से सहायता मिली। लाजिमी तौर पर इसकी निगाह बचे-खुचे मुगल राजवश पर थी, जो अब भी दिल्ली के महलो मे था, लेकिन दुर्बल, अशक्त और बूढा हो गया था। इस विद्रोह मे हिंदुओ और मुसलमानो, दोनो ने ही हिस्सा लिया।

इस विद्रोह मे ब्रिटिश हुकूमत को अपना पूरा-पूरा जोर लगाना पडा। लेकिन आखिर मे उसका दमन हिंदुस्तानी मदद से हुआ। पुरानी हुकूमत की सारी पैदायशी कमजोरिया ऊपर आ गई। यह हुकूमत विदेशी राज्य

---

[1] एडवर्ड टामसन द्वारा 'दि मेकिंग ऑव दि इंडियन प्रिंसेज' (१९४३) में उद्धृत। पृष्ठ २७३, २७४।

को उखाड फेंकने की अपनी आखिरी जी-तोड कोशिश कर रही थी। सामंतवादी सरदारों को विस्तृत प्रदेशो मे आम जनता की सहानुभूति प्राप्त थी, लेकिन वे लाचार थे, असगठित थे और उनके सामने कोई रचनात्मक आदर्श या सामूहिक हितकर मकसद नही था। इतिहास मे वे अपना काम पूरा कर चुके थे, और आगे उनके लिए कोई जगह नही थी। उनमे ऐसे भी बहुत-से लोग थे, जिनको विदेशी राज्य के खिलाफ होनेवाले विद्रोह से सहानुभूति तो थी, लेकिन जिन्होंने सयानेपन से काम लिया और अलग खडे हुए इस बात को देखते रहे कि कौन-सा पक्ष अधिक सबल है और किसकी जीत की संभावना है। बहुत-से लोगो ने देशद्रोहियो का काम किया। कुल मिलाकर हिंदुस्तानी रजवाडे या तो अलग रहे, या उन्होंने अंग्रेजो की मदद की, क्योंकि जो कुछ भी उनके पास था, उसे जोखिम मे डालने मे उन्हें डर लगता था। नेताओ मे कोई भी कौमी एकता लानेवाली भावना नही थी, सिर्फ एक विदेशी-विरोधी भावना थी और उसके साथ अपने सामंतवादी विशेषाधिकारो को बनाये रखने की इच्छा थी, और यह उस राष्ट्रीय भावना की जगह नही ले सकती थी।

अंग्रेजो को गुरखो की मदद मिली, लेकिन उससे भी ज्यादा ताज्जुब की बात यह है कि उन्हें सिखो की मदद मिली। सिख उनके दुश्मन रहे थे और अंग्रेजो ने कुछ ही बरस पहले उनको हराया था। यह सचमुच ही अंग्रेजो के लिए एक तारीफ की बात थी या बुराई की, यह अपने-अपने खयाल की बात है। हा, यह ज़रूर ज़ाहिर है कि उस वक्त हिंदुस्तानी जनता को एक सूत्र मे बाधनेवाली कौमी भावना की कमी थी। आजकल जैसी कौमियत तो अभी आने को थी, अभी हिंदुस्तान को बहुत तकलीफ और मुसीबतें सहनी थी, इसके पहले कि वह उस सबक को सीखता, जो उसे सच्ची आज़ादी देता। किसी पराजित आदर्श के लिए, यानी सामंतवादी ढाचे के लिए, लडने से आज़ादी हासिल नही हो सकती थी।

विद्रोह मे छापामार लडाई करनेवाले कुछ मार्के के नेता सामने आये। उनमे से एक तो फिरोजशाह था, जो दिल्ली के बहादुरशाह का रिश्तेदार था। लेकिन उनमे सबसे ज्यादा प्रतिभावान नेता था तात्या टोपी, जिसने अंग्रेज़ो को उस वक्त भी कितने ही महीनो तक परेशान किया, जबकि हार उसके सामने साफ तौर पर दिखाई दे रही थी। आखिर मे जब वह नर्मदा को पार करके मराठा प्रदेशो मे अपने ही आदमियो से स्वागत और सहायता पाने की आशा से पहुचा, तो सिर्फ उसका स्वागत ही नही हुआ, बल्कि उसके साथ दगा भी की गई। इन सबके ऊपर एक नाम और है, जिसके लिए

आम जनता मे अब भी इज्जत है; और वह नाम है लक्ष्मीबाई का, जो झासी की रानी थी; जिसकी उम्र बीस बरस की थी और जो लडते-लडते मारी गई। उन अग्रेज़ सेनापतियो ने, जिन्होंने उसका मुकाबला किया, उसके बारे मे यह कहा कि वह बागी नेताओ मे "सर्वोत्तम और सबसे ज्यादा बहादुर" थी।

गदर के अग्रेज़ी स्मारक कानपुर मे और दूसरी जगहो मे बना दिये गये हैं। उन हिंदुस्तानियो के, जिन्होंने अपनी जाने दी, कोई स्मारक नही हैं। कभी-कभी विद्रोही हिंदुस्तानियो ने बडा क्रूर और बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया, वे लोग असगठित थे, दबे हुए थे और वे अकसर ब्रिटिश अत्याचारों की खबरो से नाराज़ हो उठते थे। लेकिन इस तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है, जिसने हिंदुस्तान के दिमाग पर अपनी छाप डाली और मेरे सूबे में तो खासतौर से, गाव और कसबो मे, उसकी याद बनी हुई है। हर शख्स उसको भूल जाना चाहेगा, क्योकि वह एक बडी भयानक और घृणास्पद तस्वीर है, और अगरचे वर्तमान युद्ध मे नात्सियो द्वारा बर्बरता के नये माप-दड बन गये है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि उसमे इन्सान अपनी बुरी-से-बुरी शक्ल मे सामने आता है। लेकिन उसको सिर्फ उस वक्त ही भुलाया जा सकता है और उसके बाद उस वक्त ही वह अनासक्तिपूर्ण और अव्यक्तिगत हो सकती है, जब वह सचमुच ही गुजरे ज़माने की चीज़ हो जाय और उसका मौजूदा वक्त से कोई ताल्लुक न रहे। लेकिन जब याद दिलाने वाली कडिया मौजूद हैं और जब उन घटनाओ के पीछे की भावना बनी हुई है और दिखाई देती है, तो हमारी जनता मे उनकी याद भी बनी रहेगी और उसका असर दिखाई देगा। तस्वीर को ढक देने की कोशिश से वह मिट नही जाती, बल्कि वह दिमाग़ मे और भी ज्यादा गहरी घुस जाती थी। सिर्फ स्वाभाविक रूप से उससे बरतने पर ही उसका असर कम किया जा सकता है।

विद्रोह और उसके दमन का इतिहास मे बहुत ही गलत और झूठा चित्र दिया गया है। उसके बारे मे हिंदुस्तानी क्या सोचते हैं, यह बात किताब के पन्नो मे शायद ही कही पता लगती हो। सावरकर ने 'दि हिस्ट्री ऑव दि वार ऑव इडियन इडिपेडेंस' नामक किताब करीब तीस साल पहले लिखी, लेकिन वह किताब फौरन ही ज़ब्त कर ली गई और वह अब भी ज़ब्त है। कुछ स्पष्टभाषी और सम्माननीय अग्रेज़ इतिहासकारो ने कभी-कभी परदा उठाया है और हमको उस जातीय अहकार और उस हुकूमती मनोवृत्ति की झलक मिली है, जो एक बहुत बडे पैमाने पर व्यापक थी।

केये और मैलीसन की 'हिस्टरी ऑव दि म्यूटिनी' मे और टॉमसन और गैरेट की 'राइज़ एड फुलफिलमेट ऑव ब्रिटिश रूल इन इडिया' मे जो बयान दिये गये हैं, उनकी भयकरता से आदमी बेचैन हो उठता है। "हर एक हिंदुस्तानी, जो अग्रेजो की तरफ से लड नही रहा था, औरतो और बच्चो का हत्यारा माना गया। दिल्ली के रहनेवालो का (और उनमे ऐसे भी लोग थे, जो हमारी सफलता की खुले तौर पर अपनी इच्छा प्रकट करते थे) कत्ले-आम करने का हुक्म दे दिया गया।" तैमूर और नादिरशाह के दिन याद आ गये, लेकिन यह नया आतक तो इतने ज्यादा वक्त तक रहा और इतने बडे हिस्सो मे कि उनके कारनामे भी फीके पड गये। लूट-मार की सरकारी तौर पर एक हफ्ते के लिए इजाज़त मिली और वह क़रीब एक महीने तक जारी रही। उसके साथ कत्ले-आम भी जारी था।

ख़ुद इलाहाबाद के मेरे ही शहर और ज़िले मे और उसके पडोस मे जनरल नील ने अपने ख़ूनी मुकदमे किये। "सिपाही और ग़ैर-सिपाही सभी ख़ूनी मुकदमे कर रहे थे और वे उम्र या स्त्री-पुरुष का लिहाज़ किये बग़ैर बिना मुकदमे के ही देशी आदमियो को कत्ल कर रहे थे। हमारी ब्रिटिश पार्लमेंट के पुराने कागजो मे गवर्नर जनरल की रिपोर्टों में यह बात दर्ज है 'कि बागियो की तरह बूढी औरतो और बच्चो का भी बलिदान कर दिया जाता है।' उनको इरादतन फासी नही दी गई, बल्कि गावो मे आग लगाकर ही उनको मार डाला गया ' और जो बच रहे, उनको गोली मार दी गई।" "फासी देनेवाले स्वयसेवको के दल ज़िले मे गये और उस वक्त शौकिया फासी देनेवालो की कमी नही थी। एक शख्स ने तो बडी तारीफ के साथ उन लोगो की गिनती बताई, जिनको उसने एक 'कलात्मक ढग से' खत्म कर दिया था। कुछ को उसने आम के पेडो पर लटकाकर फासी दे दी थी, कुछ को उसने हाथी की पीठ पर से पटक दिया था और इस जगली न्याय के शिकार हुए लोगो को तफरीह के लिए आठ के अक की शक्ल मे एक साथ बाधा गया था।" यही बात कानपुर मे हुई, लखनऊ मे हुई और दूसरी जगहो मे हुई।

जनरल नील की उसके कृतज्ञ देशवासियो द्वारा मूर्ति खडी की गई—हिंदुस्तान के ख़र्चे से। वह मूर्ति तो ब्रिटिश राज्य की सच्ची प्रतीक है, जैसी वह उस वक्त थी और बाद मे रही। निकल्सन की मूर्ति पुरानी दिल्ली मे अब भी नगी तलवार ताने खडी है।[1]

इस पुराने इतिहास का ज़िक्र करना बुरा है, लेकिन उन घटनाओ के

[1] यह अब हटा दी गई है। —स०

पीछे जो भावना थी, वह उन घटनाओ के साथ ही खत्म नही हुई। वह बाक़ी बच रही और अब भी जब कभी कोई सकट आता है, तो वही चीज़ फिर दिखाई देती है। अमृतसर और जलियावाले बाग के बारे मे दुनिया जानती है, लेकिन गदर के बाद जो कुछ हुआ है, उसका उसको पता नही है, यहातक कि उसका भी, जो हमारे ही ज़माने मे हुआ है और जिसने नई पीढी मे कड़ुवाहट भर दी है। साम्राज्यवाद और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर राज्य बुरा होता है। यही बात जातीय अहकार के साथ है। लेकिन अगर साम्राज्यवाद और जातीय अहकार जुड जायें, तो उनसे तो एक बहुत ही भयकर हालत होगी और आखिर मे उससे सबधित सभी लोगों मे गिरावट आयेगी। इग्लैंड के भविष्य के इतिहासकारो को इस बात पर गौर करना होगा कि इग्लैंड के पतन मे उसके साम्राज्यवाद और उसके जातीय अहकार का कितना असर रहा—उन चीज़ो का असर, जिन्होंने उसके सार्वजनिक जीवन को दूषित कर दिया था और जिन्होंने उसे अपने ही इतिहास और साहित्य के पापो का विस्मरण करा दिया था।

जब से हिटलर मशहूर हुआ और जर्मनी का डिक्टेटर बना, हमको जातीय अहकार के बारे मे बहुत-कुछ सुनने को मिला है। उन सिद्धान्तो की निंदा की गई है, और आज भी सयुक्त राष्ट्रो के नेता उनकी निंदा करते है। जीव-विज्ञान के विशेषज्ञ बताते हैं कि जातीयता एक कोरी काल्पनिक चीज़ है और अधिपति जाति जैसी कोई चीज नही है। लेकिन जब से ब्रिटिश राज्य शुरू हुआ है, हमको हिंदुस्तान मे जातीय अहकार की सारी शक्लें देखने को मिली हैं। इस हुकूमत का सारा आदर्शवाद उस अधिपति-जाति के सिद्धात पर था और सरकारी ढाचा उसी की बुनियाद पर खडा था। असलियत मे अधिपति-जाति की भावना तो साम्राज्यवाद मे जन्मजात है। उसमे कोई धोखा नही था, जो लोग हुकूमत कर रहे थे, उन्होंने इसकी स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की। शब्दो से ज्यादा ताकत उस बरताव मे थी, जो जनता के साथ किया जाता था। पीढी-के-बाद-पीढी मे, एक-के-बाद-दूसरे साल मे, हिंदुस्तान के साथ एक राष्ट्र के रूप मे और हिंदुस्तानियों के साथ व्यक्तिगत रूप मे बेइज़्ज़ती और नफरत से भरा हुआ बरताव किया गया है। हमको बताया जाता था कि अग्रेज़ो की एक शाही जाति थी, जिसको हम पर हुकूमत करने का और हमको गुलामी मे रखने का दैवी अधिकार मिला हुआ था, जब हम विरोध करते थे, तो हमको शाही जाति के सिंह स्वभाव की याद दिलाई जाती। एक हिंदुस्तानी की तरह यह लिखते हुए मुझे शर्म महसूस होती है, क्योंकि उसकी याद से तकलीफ पहुचती है और

जिस बात से और भी ज्यादा तकलीफ होती है, वह यह है कि इस बेइज्जती के सामने हमने अरसे तक सिर झुकाया और उसको बरदाश्त किया। इसके खिलाफ मैंने तो किसी भी ढग से विरोध को पसद किया होता, चाहे उसका नतीजा कुछ ही क्यो न आता। और फिर भी यह अच्छा है कि अंग्रेज और हिंदुस्तानी दोनों ही उसको जान लें, क्योंकि यह तो इग्लैंड के हिंदुस्तान के साथ सबध की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। मनोवृत्ति की अहमियत होती है और जातीय स्मृतिया गहरी होती हैं।

एक उदाहरण स्वरूप उद्धरण से हम यह महसूस कर सकेंगे कि हिंदुस्तान मे ज्यादातर अंग्रेजो के क्या खयाल हैं और वे किस तरह बरताव करते हैं। सन १८८३ मे इल्बर्ट-बिल-आदोलन के समय सेटनकेर ने, जो हिंदुस्तानी सरकार के विदेश-सचिव रहे थे, ऐलान किया कि "यह बिल उस प्रिय विश्वास के विरुद्ध जाता है, जो हिंदुस्तान मे हर अंग्रेज के दिल में है, चाहे वह कितनी ही बडी जगह पर हो या छोटी जगह पर हो, चाहे वह चीफ़ कमिश्नर हो या वाइसराय हो या चाय-बागान के मालिक का सहायक हो—कि वह उस जाति का सदस्य है, जिसको ईश्वर ने जीतने और हुकूमत करने के लिए बनाया है।"[1]

८ : ब्रिटिश हुकूमत की तरकीब : सतुलन

सन १८५७-५८ का विद्रोह खासतौर से एक सामतवादी उठान था, हालांकि वैसे उसमे कुछ राष्ट्रीयता से प्रेरित हिस्से भी थे। फिर भी, साथ-ही-साथ रजवाडो की और दूसरे सामतवादी सरदारो की मदद से अंग्रेज उसको कुचलने मे कामयाब हुए। जो लोग विद्रोह मे शामिल हुए, वे आमतौर पर वे थे, जिनके विशेष अधिकारो को या जिनकी ताकतो को ब्रिटिश हुकूमत ने छीन लिया था, या वे लोग थे, जिनको इस बात का डर था कि कही उनकी किस्मत दूसरे सरदारो की-सी न हो। ब्रिटिश नीति ने कुछ झिझक के बाद इस पक्ष में फैसला किया था कि धीरे-धीरे राजा और नवाबो की हुकुमत खत्म कर दी जाय और सारे देश मे सीधे ब्रिटिश राज्य को कायम कर लिया जाय। विद्रोह से इस नीति मे रद्दो-बदल हुई, सिर्फ राजा और नवाबो के ही पक्ष मे नही, बल्कि ताल्लुकेदारो और बडे जमीदारो के भी पक्ष मे। यह महसूस किया गया कि इन सामती या अर्ध-सामती सरदारो के जरिये आम जनता पर काबू करना ज्यादा आसान है। अवध

---

[1] एडवर्ड टॉमसन द्वारा 'राइज एंड फुलफिलमेट ऑव ब्रिटिश रूल इन इडिया' में उद्धरित।

के ये ताल्लुकेदार मुगलो के मालगुजार काश्तकार रहे थे, लेकि
हुकूमत के कमज़ोर हो जाने से ये लोग सामतवादी ज़मीदारो की ·
करने लगे थे। करीव-करीव वे सभी विद्रोह मे शामिल हुए। हा
कुछ ऐसे होशियार लोग भी थे, जिन्होने अपनी वचत का रास्त
रखा। उनकी वगावत के वावजूद ब्रिटिश हुकूमत ने उनको (कुछ
को छोडकर) फिर से कायम करना चाहा और अच्छी सेवा और ह
की शर्त पर उनको फिर से उनकी जागीरें लौटाने का फैसला किय
तरह से ये ताल्लुकेदार, जो अपने-आपको अवध के सामत कहने
महसूस करते है, ब्रिटिश हुकूमत के खभे वन गये।

हालाकि विद्रोह का सीधा असर तो देश के कुछ हिस्सो पर ह
लेकिन उसने सारे हिंदुस्तान को, और खासतौर से ब्रिटिश हुकूमत को
झकोर दिया। सरकार ने फिर से सारे ढाचे का सगठन किया। ब्रिटि
ने, यानी पार्लमेट ने, देश को ईस्ट-इडिया कपनी से अपने हाथो मे ले
हिंदुस्तानी फौज, जिसने गदर की शुरुआत की थी, नये सिरे से स
हुई। ब्रिटिश राज्य, जो अव अच्छी तरह कायम हो चुका था, की न
अव स्पष्ट की गई, सुदृढ की गई और उसके अनुसार काम किया जाने
उसकी वुनियादी वाते ये थी—ऐसे निहित स्वार्थों को कायम करन
उनकी हिफाजत करना, जो ब्रिटिश हुकूमत से वधे हुए थे, और
विभिन्न हिस्सो मे सतुलन वनाये रखने की नीति और फूट डाल
प्रवृत्तियो को वढावा देना।

राजे और वडे ज़मीदार वे वुनियादी निहित स्वार्थ थे, जो इ
पैदा किये गये और जिनको वढावा दिया गया। लेकिन एक नया
था, जो ब्रिटिश हुकूमत से वधा हुआ था और अव उसकी अहमिय
यह वर्ग उन हिंदुस्तानियो का था, जो नौकरियो मे और खासतौर
जगहो पर थे। पहले तो जहातक मुमकिन हो सकता था, हिं
को भरती नही किया जाता था और मुनरो ने उनकी भरती के
दिया था। अव तजुरवे से यह वात जाहिर हो गई कि भरती कि
स्तानी ब्रिटिश हुकूमत पर इतने ज्यादा निर्भर होते थे कि उन
किया जा सकता था और उनको हुकूमत के एजेंट की तरह वरत
था। गदर से पहले के दिनो मे छोटी नौकरियो के ज्यादात
सदस्य वगाली रहे थे। ये लोग उत्तरी सूवो मे, जहा कहीं
हुकूमत के सिविल या फौजी दफ्तरो मे क्लर्कों की ज़रूरत ह
जाते और इस तरह ये सब जगह फैल गये थे। ५७

यहातक कि पंजाब में, जहां-जहां हुकूमती या फौजी अड्डे थे, इन लोगों की नौ-आबादियां बस गईं। ये बंगाली ब्रिटिश फौजों के साथ रहने और उनके बड़े वफादार नौकर साबित हुए। विद्रोह करनेवालों ने इनका अंग्रेज़ी ताकत से लगाव मान लिया था और विद्रोही उनसे बहुत ज्यादा नफरत करते थे और उनको गालियां देते थे।

इस तरह पर नीचे की नौकरियों में हिंदुस्तानीपने का सिलसिला शुरू हो गया था, अगरचे सभी असली ताकत अंग्रेजों के हाथ में थी। ज्यों-ज्यों अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार हुआ, नौकरियों में बंगालियों का एकाधिपत्य कम हुआ और हुकूमत के न्याय और व्यवस्था-संबंधी दोनों ही महकमों में और दूसरे हिंदुस्तानी भी आये। यह भारतीयकरण ब्रिटिश राज्य को मजबूत करने का सबसे ज्यादा कारगर तरीका हो गया। इस तरह हर जगह एक ऐसी सिविल फौज या एक ऐसा सिविल अड्डा बन गया, जो कब्ज़ा करनेवाली हथियारबंद फौज से भी ज्यादा अहम था। इस सिविल फौज में कुछ ऐसे लोग थे, जो लायक थे और जिनमें देशभक्ति और राष्ट्रीय प्रवृत्ति थी, लेकिन सिपाही की तरह, जो व्यक्तिगत हैसियत से देशभक्त हो सकता था, वे नियम और अनुशासन में बंधे हुए थे और हुक्म-उदूली, विश्वास-घात और विद्रोह का दंड बहुत कठोर था। सिर्फ यह सिविल फौज ही नहीं बनी, बल्कि उसमें भरती होने की उम्मीद का एक बहुत बड़ी तादाद पर, जो दिनो-दिन बढ़ रही थी, असर हुआ, और उस असर ने उन लोगों को बिगाड़ दिया। उसमें एक ढंग का रोब था, एक ढंग की सुरक्षा थी और नौकरी खत्म होने के बाद पेन्शन का इंतज़ाम था और अगर अपने अफसरों के सामने काफी अदब दिखाया जाता, तो और दूसरी खामियों के होने पर भी कोई खतरा नहीं था। ये सिवल नौकर ब्रिटिश हुकूमत और जनता के बीच में बिचौलिये थे। और अगर उनको अपने अफसरों का अदब करना पड़ता था, तो वे भी अपनी जगह पर अपने मातहतों से और आम जनता से अदब करा सकते थे।

आमदनी के दूसरे ज़रियों के अभाव में सरकारी नौकरियों की अह-मियत और भी ज्यादा हो गई। कुछ लोग वकील या डाक्टर हो सकते थे, लेकिन सिर्फ उसीकी वजह से कामयाबी होना कोई जरूरी नहीं था। उद्योग-धंधे तो नहीं के बराबर थे। तिजारत कुछ खास वर्गों के हाथों में थी और उनमें उसके लिए एक खास सूझ थी। वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन्हीं लोगों के हाथों में रहती और वे लोग एक-दूसरे की मदद करते। नई शिक्षा तिजारत या उद्योग-धंधे के लिए कोई योग्यता नहीं साबित होती थी, उसकी निगाह

तो ग्रामतौर से सरकारी नौकरी पर थी। शिक्षा इतनी सकरी थी कि किसी दूसरे पेशे की उसमे गुजायश नही थी; समाज-सवधी नौकरियो का करीब-करीब कोई अस्तित्व ही नही था। इस तरह सिर्फ सरकारी नौकरी ही वाकी वची, लेकिन ज्यो-ज्यो कालेजो से ग्रेजुएट निकलते गये, इन सरकारी नौकरियो मे भी उन लोगो का खपना मुश्किल हो गया और उनमे पहुचने के लिए भयकर प्रतियोगिता होने लगी। वेकार ग्रेजुएटो का एक ऐसा गिरोह हो गया, जिसमे से सरकार हमेशा ही अपने लिए आदमी ले सकती थी, जो लोग नौकरियो मे थे, उनकी सुरक्षा के लिए ये लोग एक खतरा वन गये। इस तरह ब्रिटिश सरकार हिंदुस्तान मे सबसे वडी नौकरी देनेवाली सस्था ही नही थी, वल्कि नौकरी देनेवाली (रेलो की नौकरिया भी इसमे शामिल है) सिर्फ वही एक वडी सस्था थी। इस तरह एक वहुत वडा नौकरशाही ढाचा तैयार हो गया, जिसकी व्यवस्था और जिसका नियन्त्रण चोटी के आदमियो के जरिये होता था। यह मेहरवानी देश पर ब्रिटिश पजा कसने के लिए की गई, जिसके जरिये उसे अपने विरोधी तत्त्वों को कुचलना था और साथ ही उन लोगो मे, जो सरकारी नौकरियो की तरफ आखें उठाये हुए थे, फूट और होड पैदा करना था। उसकी वजह से नैतिक गिरावट आई, सघर्ष हुआ; क्योकि सरकार विभिन्न समुदायो को आपस मे लडा सकती थी।

सतुलन और प्रतितोलन की नीति को हिंदुस्तानी फौज मे इरादतन वढावा दिया गया। विभिन्न समुदायो को इस तरह रखा कि उनमे राष्ट्रीय ऐक्य की भावना न उठ सके। जातीय और साप्रदायिक वफादारी को वढ़ावा दिया गया। फौज को आम जनता से विलकुल अलग रखने की हर एक कोशिश की गई, यहातक कि मामूली अखवार भी हिंदुस्तानी सिपाहियो तक पहुचने नही दिये जाते थे। सारी खास-खास जगहें अग्रेजो के हाथो मे रखी जाती और किसी भी हिंदुस्तानी को शाही कमीशन नही मिल सकता था। एक गैर-तजुरवेकार अग्रेज फौजी ज्यादा-से-ज्यादा तजुरवेकार और पुराने हिंदुस्तानी गैर-कमीशन अफसर से या वाइसराय कमीशनवाले अफसर से वडा होता। फौजी हैडक्वार्टर्स मे सिवाय हिसाव के महकमे मे एक मामूली-से क्लर्क की जगह के हिंदुस्तानियो को और कोई जगह नही दी जाती थी। और ज्यादा सुरक्षा के लिए यह नीति थी कि लडाई के ज्यादा कारगर हथियार हिंदुस्तानियो को दिये ही नही जाते, वे तो हिंदुस्तान की ब्रिटिश फौजो के लिए ही होते। हिंदुस्तान के हर महत्वपूर्ण केंद्र मे हिंदुस्तानी पलटन के साथ इन ब्रिटिश टुकडियो को, जिन्हे 'अदरूनी सुरक्षा फौज'

कहा जाता था, ज़रूर रखा जाता। इनका काम था अराजकता का दमन करना और जनता को आतंकित करना। एक ओर तो यह अंदरूनी फौज थी, जिसमे अंग्रेजो की प्रधानता थी और यह फौज देश मे कब्ज़ा कायम रखने का काम करती। दूसरी ओर हिंदुस्तानी फौज का ज्यादातर हिस्सा 'फील्ड आर्मी' की तरह काम करता, यानी उसका सगठन देश के बाहर लडाई लडने के लिए होता। हिंदुस्तानी सिपाहियो की भरती कुछ खास जमातो से ही की जाती थी, जो खासतौर से उत्तरी हिंदुस्तान मे थी और जिनको लडाकू जातिया कहा जाता था।

एक बार फिर हमको हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य का जन्मजात विरोधाभास दिखाई देता है। उन्होंने सारे देश को एक राजनैतिक सूत्र मे बाधा और इस तरह वे नई सक्रिय शक्तिया फूट पडी, जिन्होंने सिर्फ उस ऐक्य की ही बाबत नही सोचा, बल्कि उन्होंने हिंदुस्तान की आज़ादी पर लक्ष्य किया। दूसरी तरफ ब्रिटिश हुकूमत ने उसी ऐके को, जो उसीने खुद ही पैदा किया था, तोड-फोड देने की कोशिश की। उस वक्त राजनैतिक दृष्टि से उस फूट के मानी हिंदुस्तान के बटवारे के नही थे। उसका मकसद तो राष्ट्रवादी तत्त्वो को कमज़ोर करना था, ताकि सारे देश पर ब्रिटिश राज्य बना रहे। फिर भी विच्छेद के लिए यह एक कोशिश तो थी ही, क्योंकि हिंदुस्तानी रियासतो को इतनी ज्यादा अहमियत दे दी गई, जितनी उन्हे पहले कभी भी नही मिली थी। इसके लिए प्रतिक्रियावादी तत्त्वो को बढावा दिया गया और उनकी सहायता की आशा की गई। विभाजन को और हर एक समुदाय को हर दूसरे समुदाय के खिलाफ प्रोत्साहन दिया गया। धार्मिक या प्रांतीय बुनियाद पर ऐके को मिटानेवाली प्रवृत्तियो को भी बढावा दिया गया और देशद्रोहियो के वर्ग का, जो अपने पर असर डालनेवाली हर रद्दो-बदल से घबराता था, सगठन किया गया। एक विदेशी साम्राज्यवादी ताकत के लिए यह एक स्वाभाविक नीति थी और हालाकि हिंदुस्तानी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से वह बहुत ज्यादा नुकसान पहुचानेवाली थी, फिर भी उस पर ताज्जुब करना एक नासमझी होगी। लेकिन इस सचाई को जान लेना भी ज़रूरी है, क्योंकि उसके बिना हम बाद की घटनाओ को समझ नही सकते। इसी नीति से हिंदुस्तान की राष्ट्रीय ज़िंदगी के वे अहम तत्त्व पैदा हुए, जिनकी आजकल हमको अकसर याद दिलाई जाती है। उनको इसीलिए पैदा किया गया था और उनको इसीलिए बढावा दिया गया था कि उनमे मतभेद हो और फूट हो और अब यह कहा जाता है कि वे पहले आपस मे एका करें।

ब्रिटिश ताकत के हिंदुस्तान के प्रतिक्रियावादियो के साथ इस स्वाभाविक गठबंधन से वह ताकत उनके प्रतिक्रियावादियो की हिमायती हो गई और उसने उन बहुत-सी प्रथाओं को बने रहने मे सहारा दिया, जिनकी वह वैसे निंदा ही करती थी। जिस वक्त अंग्रेज आये, हिंदुस्तान रिवाजो से बंधा हुआ था और पुराने रिवाजो का अत्याचार अकसर एक भयकर चीज होती है। फिर भी रिवाज बदलते हैं और उन्हे मजबूरन बदलते हुए वातावरण से कुछ-न-कुछ हद तक मेल बिठाना होता है। रिवाज ही ज्यादातर हिंदू कानून थे और ज्यो-ज्यो रिवाज बदलते गये, क़ानून मे भी तब्दीली होती गई। असलियत मे हिंदू कानून मे ऐसी कोई बात ही नही थी, जिसको रिवाज से बदला न जा सके। अंग्रेज़ो ने इस रिवाजी लचीले क़ानून की जगह उन अदालती फ़ैसलो को दे दी, जिनकी बुनियाद पुराने ग्रथो पर थी। ये फ़ैसले नमूने बन गये और इनका सख्ती से पालन करना होता था। सिद्धात रूप से तो यह एक फायदे की बात थी, क्योकि इससे ज्यादा यक-सा-पन आ गया और निश्चितता भी ज्यादा हो गई। लेकिन जिस ढग से यह किया गया था, उसका नतीजा यह हुआ कि बाद के रिवाजो का ध्यान रखे बिना प्राचीन कानून को स्थायी बना दिया गया। इस तरह पुराना क़ानून, जो बहुत-सी जगहो पर कुछ हद तक रिवाजो से बदल दिया गया था और इस तरह जिसका जीवन शेष हो गया था, पत्थर की तरह जडवत कर दिया गया और उसमे सुपरिचित पारपरिक ढग से परिवर्तन लानेवाली हर एक प्रवृत्ति का दमन किया गया। वैसे हर एक समुदाय के लिए अब भी इस बात का मौका था, कि वह इस बात को साबित करे कि कोई खास रिवाज कानून से भी बढकर है, लेकिन कानूनी अदालतो मे यह बात साबित करना बेहद मुश्किल था। रद्दो-बदल सिर्फ नये कानून से ही हो सकती थी, लेकिन ब्रिटिश सरकार की, जिसको कानून बनाने का अधिकार था, अपने सहायक अनुदार हिस्सो को विरोधी बनाने की कोई इच्छा नही थी। बाद मे जब आशिक रूप मे निर्वाचित असेंबलियो को कानून बनाने के कुछ अधिकार दिये गये, तो हर ऐसी कोशिश पर, जिससे समाज-सुधार सबधी कानून बन सकते थे, अधिकारियो ने नाराज़गी ज़ाहिर की और उन कोशिशो को सख्ती से दबाया गया।

९ : उद्योग-धधों की तरक़्क़ी : प्रातीय भेद-भाव

सन १८५७-५८ के विद्रोह के असर से हिंदुस्तान धीरे-धीरे पनपा। ब्रिटिश नीति के बावजूद जबरदस्त ताकते काम कर रही थी और हिंदुस्तान को बदल रही थी और एक नई सामाजिक सजगता आ रही थी। हिंदु-

स्तान के राजनैतिक एके से, पच्छिम के साथ सपर्क से, विज्ञान और मशीनो मे तरक्की की वजह से, यहातक कि सारे देश मे उसी गुलामी के दुर्भाग्य से, नई विचारधाराए बनी, धीरे-धीरे उद्योग-धधो की तरक्की हुई और कौमी आज़ादी के लिए एक नया आदोलन खडा हुआ। हिंदुस्तान की जागृति दोहरी थी—उसने पच्छिम की तरफ निगाह की, और साथ ही उसने अपनी तरफ, अपने गुज़रे हुए ज़माने की तरफ भी निगाह की।

हिंदुस्तान मे रेलो के आने से औद्योगिक युग का सकारात्मक पहलू सामने आया, अबतक ब्रिटेन के तैयार माल की शक्ल मे उसका नकारात्मक पहलू ही सामने आया था। सन १८६० मे हिंदुस्तान मे औद्योगीकरण रोकने की गरज़ से मशीन के आयात पर जो चुगी लगी हुई थी, हटा दी गई और बडे पैमाने के उद्योग-धधे की शुरुआत हुई। इनमे खासतौर से ब्रिटिश-पूजी लगी थी। सबसे पहले बगाल का जूट उद्योग शुरू हुआ और इसका सचालन-केंद्र स्काटलैंड मे डडी मे था। उसके बहुत बाद अहमदाबाद और बबई मे कपडे की मिलें चालू हुईं। इनमे ज्यादातर हिंदुस्तानी पूजी थी और इन पर हिंदुस्तानी नियत्रण था। इसके बाद खानो का नबर आया। हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार बराबर अडचनें डालती रही। हिंदुस्तानी कपडे के माल पर एक उत्पादन-कर लगाया गया, ताकि वह हिंदुस्तान मे भी लकाशायर के सूती माल से मुकाबला न कर सके। हिंदुस्तानी-सरकार की नीति एक पुलिस सरकार की नीति थी। यह बात इस तथ्य से सबसे ज्यादा जाहिर होती है कि बीसवी सदी तक उसमे खेती, उद्योग-धधो और व्यापार से ताल्लुक रखनेवाला कोई महकमा ही नही था। जहातक मेरा खयाल है, केंद्रीय सरकार मे खेती का महकमा, खासतौर से उस दान से चालू किया गया, जो एक अमरीकी यात्री ने हिंदुस्तान मे खेती की तरक्की के लिए दिया। (यह महकमा अब भी बहुत छोटा है।) उसके कुछ ही बाद सन १९०५ मे उद्योग और व्यापार के लिए एक महकमा खोला गया। लेकिन ये महकमे बहुत थोडा काम करते थे। उद्योग-धधो की तरक्की को जान-बूझकर रोका गया और हिंदुस्तान के स्वाभाविक आर्थिक विकास को बाध दिया गया।

हालाकि हिंदुस्तान की आम जनता बेहद गरीब थी और उसकी गरीबी बढती जा रही थी, लेकिन चोटी पर के थोडे-से आदमी इन नई हालतो मे खूब मृद्ध हो रहे थे और पूजी इकट्ठी कर रहे थे। इन्ही लोगो ने राजनैतिक सुधारो की और पूजी लगाने के मौको की माग की। राजनैतिक क्षेत्र मे सन १८८५ मे इडियन नेशनल काग्रेस कायम हुई। उद्योग-धधे

और व्यवसाय धीरे-धीरे बढे। और यहा एक बडी दिलचस्प बात यह है कि जिन लोगो ने इस काम को शुरू किया, वे वही लोग थे, जो पीढी-दर-पीढी सैकडो बरस से उद्योग-धधो मे और व्यवसाय मे लगे हुए थे। कपडे के कारबार का नया केंद्र अहमदाबाद, मुगलो के जमाने मे, बल्कि उससे भी पहले से, एक मशहूर माल तैयार करनेवाला तिजारती केंद्र था और उसका तैयार माल विदेशो मे जाता था। अफ्रीका और फारस की खाडी के देशो से व्यापार करने के लिए अहमदाबाद के इन पुराने सौदागरो के पास अपने निजी जहाज थे। पास ही मे भडोच नाम का बदरगाह यूनान और रोम के दिनो मे भी मशहूर था।

गुजरात, काठियावाड और कच्छ के आदमी बहुत पुराने जमाने से माल तैयार करते थे, तिजारत और सौदागरी करते थे और समुद्र पार-कर दूसरी जगहो को आते-जाते रहते थे। हिंदुस्तान मे बहुत-से परिवर्तन हुए, लेकिन नई हालतो मे अपना मेल बिठाते हुए वे अपना तिजारती काम बराबर करते रहे। आजकल वे उद्योग और व्यवसाय के काम मे सबसे ज्यादा आगे बढे हुए लोगों मे से हैं। पारसी लोग, जो तेरह सौ बरस पहले गुजरात मे आकर बसे, इस सिलसिले मे गुजराती कहे जा सकते हैं। (उनकी भाषा बहुत समय से गुजराती है।) मुसलमानो मे उद्योग और तिजारत मे सबसे ज्यादा बढे हुए लोग खोजा, मेमन और बोहरा वर्ग के हैं। ये सब हिंदू थे, बाद मे इन्होंने इस्लाम को अपनाया और ये सब शुरू में गुजरात, काठिया-वाड या कच्छ के ही रहनेवाले थे। इन गुजरातियो की हिंदुस्तानी उद्योग और कारबार मे ही प्रधानता नही है, बल्कि वे बरमा, लका, पूरबी अफ्रीका, दक्षिण अमरीका आदि दूसरे देशो मे भी फैल गये है।

राजपूताने के मारवाडियो का अदरूनी तिजारत पर नियत्रण रहता और वे हिंदुस्तान के सारे सचालन केंद्रो मे पाये जाते। वे लोग बडी-बडी पूजीवाले थे और साथ ही देहाती साहूकार थे। सुपरिचित मारवाडी कोठी के रुक्के की हिंदुस्तान मे हर जगह, और यहांतक कि विदेशो मे भी, साख होती। हिंदुस्तान मे मारवाडी अब भी बडी पूजी के प्रतिनिधि हैं और इधर तो उद्योग-धधो को भी उन्होंने अपने हाथो मे ले लिया है।

उत्तर-पच्छिम के सिंधियो की भी एक पुरानी व्यावसायिक परपरा है। शिकारपुर या हैदराबाद मे उसका प्रधान केंद्र था और वे मध्य-एशिया मे और दूसरी जगहो मे आते-जाते रहते। आज (लडाई छिडने से पहले) दुनिया-भर मे शायद ही कोई ऐसा बदरगाह होगा, जहा कम-से-कम एक-दो सिंधी दूकानें न हो। कुछ पजाबियो की भी एक लबी व्यापारी परपरा है।

मद्रास के चेट्टी लोग भी वहुत पुराने जमाने से व्यवसाय मे, खासतौर से साहूकारी मे, बढे-चढे रहे हैं। 'चेट्टी' शब्द संस्कृत के 'श्रेष्ठी' से वना है, जिसके मानी हैं सौदागरी समुदाय का नेता। प्रचलित 'सेठ' शब्द भी श्रेष्ठी से वना है। मद्रास के चेट्टियो ने सिर्फ दक्खिन हिंदुस्तान मे ही एक महत्वपूर्ण हिस्सा नही लिया, वल्कि वे सारे वरमा मे, यहातक कि उसके देहातो मे भी फैले हुए हैं।

साथ ही हर सूवे मे व्यापार और व्यवसाय ज्यादातर पुराने वैश्य-वर्ग के हाथो मे था। ये लोग व्यापार मे वहुत पुराने जमाने से लगे हुए थे। वे लोग थोक माल वेचते, फुटकर माल वेचते और साहूकारी करते। हर गाव मे एक वनिये की दूकान होती, जो देहाती जिंदगी की जरूरत की चीजें वेचता और गाववालो को काफी सूद पर कर्ज देता। देहाती कर्ज का ढाचा करीव-करीव पूरी तरह से इन वनियो के ही हाथो मे था। उत्तर-पच्छिम के आजाद प्रदेश मे भी ये लोग वस गये और इन्होंने महत्वपूर्ण काम किये। ज्यो-ज्यो गरीवी वढी, देहाती कर्ज भी तेजी से वढा और साहूकारो ने जमीन को गिरवी रखवा लिया और आगे चलकर उसमे से ज्यादातर पर अपना कब्जा कर लिया। इस तरह साहूकार जमीदार भी वन गये।

ज्यो-ज्यो नये लोग विभिन्न व्यापारो मे घुसे, व्यावसायिक, व्यापारी और साहूकारी वर्गों की अलग सत्ता धुधली होने लगी। लेकिन वह सत्ता वनी वरावर रही, और आज भी वह दिखाई देती है। इसकी वजह वर्ण-व्यवस्था है, या परपरा का ववन है, या विरासत मे पाई हुई योग्यता है, या ये सव वाते मिल कर ही इसका कारण हैं, यह ठीक-ठीक कहना मुश्किल है। वेशक ब्राह्मणो मे और क्षत्रियो मे व्यापार को एक नीची नजरसे देखा गया। यहातक कि धन-सग्रह को भी अच्छा नही समझा गया। सामतवादी युग की तरह जमीन के कब्जे को सामाजिक हैसियत का प्रतीक समझा जाता था। इल्म की, चाहे उसके साथ जमीन पर अधिकार न भी हो, सव जगह इज्जत की जाती थी। ब्रिटिश हुकूमत के जमाने मे सरकारी नौकरी मे अमन था, रुतवा था और शान थी। वाद मे जव हिंदुस्तानियो को इडियन सिविल सर्विस मे घुसने की छूट मिली, तो यह नौकरी, जिसको 'स्वर्गीय' वताया जाता था—जिसका स्वर्ग लदन का ह्वाइट हाल था—अग्रेजी पढे-लिखे लोगो के लिए इद्र-लोक की तरह हो गई। आलिम पेशो के लिए भी इज्जत थी, लेकिन इनमे खासतौर से कुछ वकीलो ने नई अदालतो मे वडा रुपया कमाया था और उनका वहुत रोव-दाव था और उनकी वहुत ऊची हैसियत थी, इसलिए नौजवानो का वकालत की तरफ खिचाव हुआ।

लाज़िमी तौर पर राजनैतिक और समाज-सुधार आदोलनो मे इन वकीलो ने खास हिस्सा लिया।

सबसे पहले बगालियो ने वकालत शुरू की और उनमे से कुछ लोग बहुत ज्यादा कामयाब हुए और उन्होंने वकालत पर जादू-सा कर दिया। ये लोग राजनैतिक नेता भी थे। रुझान न होने से या दूसरी वजहो से वे बढते हुए उद्योग-धधो से अपना मेल नही बिठा सके। उसका नतीजा यह हुआ कि जब देश की ज़िंदगी मे उद्योग-धधे एक अहम हिस्सा लेने लगे और राजनीति पर गहरा असर डालने लगे, तो राजनीति के मैदान मे बगाल की पहले की अहमियत घटने लगी। पहले सरकारी कर्मचारियो के बाने मे या और दूसरी हैसियत से बगाली अपने सूबे के बाहर जाते थे, अब वह धारा उलटी हो गई और दूसरे सूबो के आदमी बगाल मे, और खासतौर से कलकत्ते मे, आने लगे और वे वहा की तिजारती और व्यावसायिक ज़िंदगी मे समा गये। कलकत्ता ब्रिटिश-पूजी और उद्योग का खास केंद्र रहा है और अब भी है, और वहा के कारबार मे अग्रेज और स्काटलैंडवालो का आधिपत्य है। लेकिन अब मारवाडी और गुजराती भी उनकी बराबरी पर पहुच रहे है, यहातक कि कलकत्ते मे छोटे-छोटे काम भी ग़ैर-बगालियो के हाथो मे हैं। कलकत्ते के हज़ारो टैक्सी ड्राइवर करीब-करीब बिना किसी अपवाद के सभी पजाब के सिख हैं।

बबई हिंदुस्तानियो के हाथो मे उद्योग, व्यवसाय, बैंकिंग, बीमा आदि का प्रधान केंद्र बन गया। इन सब कामो मे पारसी, गुजराती और मारवाडी अगुआ थे। यहा एक खास बात यह है कि महाराष्ट्रियो या मराठो ने इन कामो मे करीब-करीब कोई हिस्सा नही लिया। बबई अब एक बहुत बडा शहर है, जहा सब जगह के लोग रहते हैं, लेकिन वहा की ज्यादातर आबादी गुजराती और महाराष्ट्रीय है। मराठो ने पाडित्य और बडे पेशो मे प्रतिभा दिखाई है, और जैसी आशा की जा सकती है, वे अच्छे सिपाही हैं, उनमे बहुत बडी तादाद मे लोग कपडे की मिलो मे मजदूरो की तरह भी काम करते हैं। वे लोग मेहनती होते हैं और मजबूत होते हैं और सारे सूबे को देखते हुए गरीब हैं, उनको शिवाजी की परपरा का और अपने पुरखो के कारनामो का अभिमान है। गुजरातियो का शरीर कोमल होता है, वे ज्यादा शिष्ट और धनी होते हैं और व्यापार और व्यवसाय तो मानो उनके लिए घर का काम है। शायद ये फर्क खासतौर से भौगोलिक हैं। मराठा प्रदेश बीहड और उजाड है और गुजरात धनी है और उपजाऊ है।

हिंदुस्तान के जुदा-जुदा हिस्सो मे ये और ऐसे ही और दूसरे फर्क़ दिखाई देते हैं। ये फर्क अब भी बने हुए हैं, हालाकि वैसे धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं। मद्रास बडे मेधावियो का सूबा है। उसने बडे-बडे दार्शनिक, गणितज्ञ और वैज्ञानिक पैदा किये हैं। बबई अब करीब-करीब पूरी तरह से अपनी सारी भलाइयो और बुराइयो के साथ व्यापार मे लगा हुआ है। बगाल उद्योग और व्यापार मे पिछडा हुआ है, लेकिन उसने कुछ बढिया वैज्ञानिको को पैदा किया है। उसकी प्रतिभा खासतौर से कला और साहित्य मे प्रकट हुई है। पजाब मे कोई प्रमुख व्यक्ति नही हुआ, लेकिन वह एक आगे बढने-वाला सूबा है, और कई क्षेत्रो मे उन्नति कर रहा है। वहा के लोग होशियार होते हैं और अच्छे मिस्त्री बन सकते हैं और वे छोटे व्यापार या छोटे धधो मे कामयाब होते हैं सयुक्त प्रात और दिल्ली मे एक अजीब खिचडी है, और कुछ लिहाज से ये सब हिंदुस्तान का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे पुरानी सस्कृति के केंद्र हैं और साथ ही उस ईरानी सस्कृति के भी, जो मुगल और अफगान-युग मे यहा आई। इसीलिए इन दोनो का मेल-जोल यहा सबसे ज्यादा दिखाई देता है और उसमे पच्छिमी सस्कृति भी आकर मिल गई है। हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सो के मुकाबले यहा सबसे कम प्रातीयता है। बहुत अरसे से उन्होने अपने को हिंदुस्तान का दिल समझा है और दूसरे लोगो ने भी उसको इसी तरह देखा है। आम बातचीत मे उनको अकसर हिंदुस्तानी कहा जाता है।

यह बात ध्यान रखने की है कि ये फर्क भौगोलिक हैं, धार्मिक नही। एक बगाली मुसलमान पजाबी मुसलमान के मुकाबले बगाली हिंदू से ज्यादा मिलता-जुलता है, यही बात दूसरे लोगो के साथ है। अगर हिंदुस्तान मे या और कही, बहुत-से बगाली मुसलमान और हिंदू एक साथ मिलें, तो फौरन ही एक जगह इकठ्ठे हो जायगे और बडा अपनापन-सा महसूस करेंगे। पजाबी भी, चाहे वे हिंदू हो या मुसलमान या सिख, यही करेंगे। बबई प्रेसीडेंसी के मुसलमानो (खोजा, मैमन और बोहरो) मे बहुत-से हिंदू-रिवाज हैं। खोजो को (जो आग़ा खा के अनुयायी है) और बोहरो को उत्तर के मुसलमान कट्टर मुसलमान नही मानते।

वैसे तो सभी मुसलमान, लेकिन खासतौर से बगाल और उत्तर के मुसलमान, बहुत अरसे तक सिर्फ अग्रेजी शिक्षा से ही दूर नही रहे, बल्कि उन्होने उद्योग-धधो की तरक्की मे भी बहुत कम हिस्सा लिया। कुछ हद तक तो इसकी वजह उनकी सामतवादी विचारधारा थी और कुछ हद तक इसकी वजह (रोमन कैथलिक-धर्म की तरह) इस्लाम की सूद-लेने के

लिए मनाही थी। लेकिन अजीब-सी बात है कि सबसे ज्यादा शैतान साहूकार पठानो की एक खास जाति के लोग हैं, जो सरहद के रहनेवाले हैं। इस तरह उन्नीसवी सदी के पिछले पचास वर्षों मे मुसलमान अंग्रेज़ी शिक्षा मे पिछडे हुए थे और इसी वजह से पच्छिमी विचारो मे, साथ ही सरकारी नौकरी और उद्योग-धधो मे भी, पिछडे हुए थे।

हिंदुस्तान मे उद्योग-धधो की तरक्की ने, हालाकि वह बहुत धीमी और रुकी हुई थी, प्रगति दिखाई और अपनी तरफ लोगो का ध्यान आकर्षित किया। फिर भी आम जनता की गरीबी के मसले पर या धरती के भार पर कोई भी फर्क नही पडा। उन करोडो आदमियो मे से, जो बेकार थे या अध-बेकार थे, कुछ लाख आदमी उद्योग-धधो मे चले गये। लेकिन यह तब्दीली इतनी ज़रा-सी थी कि हिंदुस्तान के बढते देहातीकरण पर इसका कोई असर नही हुआ। व्यापक बेकारी और ज़मीन पर दबाव का नतीजा यह हुआ कि मज़दूर बहुत बडी तादाद मे अपमानजनक हालतो मे भी काम करने के लिए विदेशो मे गये। वे दक्षिण अफ्रीका, फीजी, ट्रिनिडाड, जमैका, गिनी, मौरीशस, लका, बरमा और मलाया गये। वे छोटे-छोटे समुदाय या व्यक्ति, जिनको यहा पर विदेशी राज्य मे तरक्की और बेहतरी का मौका मिला, आम जनता से अलग कर दिये गये और आम जनता की हालत बदतर होती गई। इन समुदायो के पास थोडी-सी पूजी इकट्ठी हुई और आगे उन्नति के लिए ठीक वातावरण तैयार किया गया। लेकिन ग़रीबी और बेकारी के बुनियादी मसले ज्यो-के-त्यो बने रहे।

१० : हिंदुओ और मुसलमानो में सुधारवादी और दूसरे आंदोलन

तकनीकी तब्दीलियो और उनके ज़ोरदार नतीजो की शक्ल मे पच्छिम की असली टक्कर हिंदुस्तान से उन्नीसवी सदी मे हुई। विचारो के मैदान मे भी धक्का लगा और रद्दो-बदल हुई और वह क्षितिज, जो बहुत अरसे से एक सकरे खोल मे घिरा हुआ था, विस्तृत हुआ। पहली प्रतिक्रिया अल्पसख्यक अंग्रेज़ी पढे-लिखे वर्ग तक ही सीमित थी और उसमे करीब-करीब हर पच्छिमी चीज़ के लिए तारीफ थी और स्वीकृति थी। हिंदू-धर्म की कुछ सामाजिक प्रथाओ और रीतियो से नाराज़गी की वजह से बहुत-से हिंदू ईसाई-धर्म की ओर खिचे और बगाल मे कुछ मशहूर आदमियो ने भी अपना धर्म बदल लिया। इसलिए राजा राममोहन राय ने इस बात की कोशिश की कि हिंदू-धर्म को इस नये वातावरण के अनुरूप किया जाय

और उन्होने ब्रह्म समाज की स्थापना की, जिसकी बुनियाद समाज-सुधार पर थी और जिसे अक्ल कुबूल कर सकती थी। उनके उत्तराधिकारी केशवचद्र सेन ने उसमे ईसाई-दृष्टिकोण को वढा दिया। ब्रह्म समाज का वगाल के नये, वढते हुए मध्यम वर्ग पर असर हुआ, लेकिन एक धार्मिक विश्वास के रूप मे वह वहुत थोडे लोगो तक ही सीमित रहा। हा, इन लोगो मे कुछ प्रमुख व्यक्ति थे और कुछ प्रमुख घराने थे। ये घराने भी, हालाकि इनकी धार्मिक और सामाजिक सुधार मे वेहद उत्सुकता थी, धीरे-धीरे वेदात के पुराने हिंदुस्तानी दार्शनिक आदर्शों की तरफ लौटते हुए दिखाई दिये।

हिंदुस्तान मे और दूसरी जगहो मे भी ऐसे ही रुझान काम कर रहे थे, और हिंदू-धर्म के उस समय प्रचलित सख्त सामाजिक ढाचे और वहुरूपिया स्वभाव के खिलाफ असतोष था। उन्नीसवी सदी के पिछले आधे हिस्से मे एक वहुत वडा सुधार-आदोलन शुरू किया गया। इसको शुरू करनेवाले स्वामी दयानद सरस्वती गुजरात के रहनेवाले थे, लेकिन इस आदोलन का सवसे ज्यादा असर पजाब के हिंदुओ पर हुआ। यह सुधार-आदोलन था आर्य समाज का और इसकी पुकार थी—"वेदो की ओर चलो।" इस पुकार के असलियत मे ये मानी थे कि वेदो के समय के आर्य-धर्म मे बाद मे जो कुछ बातें जुड गई थी, उनको अलग कर दिया जाय। बाद मे वेदात दर्शन जिस स्वरूप मे उन्नत हुआ, उसकी, अद्वैतवाद की केंद्रीय विचारधारा की, 'सर्व ब्रह्ममय जगत्' के दृष्टिकोण की, और साथ ही और वहुत-सी तब्दीलियो की जोरदार निंदा की गई, यहातक कि वेदो की भी एक खास ढग से व्याख्या की गई। आर्य समाज, इस्लाम और ईसाई-धर्म की, खासतौर से इस्लाम की, प्रतिक्रिया के रूप मे था। यह भीतरी सुधार का और एक जिहादी आदोलन था और साथ ही वाहरी हमलो के खिलाफ हिफाजत के लिए यह एक सुरक्षा सगठन था। इसने हिंदू-धर्म मे विधर्मियो की शुद्धि करके अपनाने की प्रथा डाली और इस तरह अपने दीन मे शामिल करनेवाले दूसरे धर्मों से उसके झगडो की सभावना हो गई। आर्य समाज, जिसमे वहुत-सी बातें इस्लाम से मिलती-जुलती थी, हर हिंदू चीज का हिमायती हो गया। उसे दूसरे धर्मों का हिंदू-धर्म पर सक्रमण वरदाश्त नही था। यहा पर एक खास बात है कि खासतौर से पजाब और सयुक्त प्रात के मध्यम वर्ग के हिंदुओ मे यह फैला। एक वक्त ऐसा भी था, जब सरकार इसको राजनैतिक-क्रातिकारी आदोलन समझती थी, लेकिन सरकारी नौकरो की वहुत बडी तादाद ने इसको बिलकुल मान्य बना

दिया। लड़के-लड़कियों के शिक्षा-प्रसार मे इसने बहुत अच्छा काम किया है। साथ ही स्त्रियों की हालत सुधारने मे और दलित जातियों की हैसियत और मान्यता को उठाने मे भी इसने बहुत अच्छा काम किया है।

करीब-करीब स्वामी दयानद के ही जमाने मे, बगाल मे एक दूसरे ही ढग की शख्सियत सामने आई और उसकी जिंदगी ने बहुत-से नये अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगो पर असर डाला। यह शख्सियत थी श्री रामकृष्ण परमहस की, जो बहुत सादा आदमी थे, कोई विद्वान भी नही थे और वैसे उन्हे समाज-सुधार मे भी कोई दिलचस्पी नही थी। लेकिन वह निष्ठावाले आदमी थे। वह चैतन्य और दूसरे भारतीय सतो की ही परपरा मे थे। खासतौर से तो वह धार्मिक थे, लेकिन बहुत ही उदार थे, और आत्म-साक्षात्कार की अपनी खोज मे वह मुसलमान और ईसाई तत्त्वज्ञो के पास गये और उनके पास वर्षों तक रहे और उनके कठोर नियम-अनुशासन का पालन किया। कलकत्ते मे कालीघाट मे वह बसे और उनके असाधारण व्यक्तित्त्व और चरित्र ने धीरे-धीरे लोगों का ध्यान अपनी तरफ खीचा। जो लोग इनको देखने गये—यहांतक कि वे लोग भी, जो उन पर हँसा करते थे, जब उनके पास गये—तो उनसे बहुत ज्यादा प्रभावित हुए और ऐसे बहुत-से लोगो ने, जो पच्छिमी रग मे पूरी तरह रग गये थे, वहा पहुचकर यह महसूस किया कि कोई एक ऐसी चीज भी थी, जो उनसे छूट गई थी। धार्मिक विश्वास की बुनियादी बातो पर जोर देते हुए उन्होंने हिंदू-धर्म और दर्शन के जुदा-जुदा पहलुओ को एक-दूसरे के साथ जोड दिया। ऐसा जान पडता था कि उनके व्यक्तित्त्व से उन सबकी नुमाइदगी होती थी। असलियत मे उनके क्षेत्र मे दूसरे धर्म भी सम्मिलित थे। वह हर तरह की साम्प्रदायिकता के खिलाफ थे और उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि सभी रास्ते सचाई की तरफ़ ले जाते हैं। वह कुछ उन सतो की तरह थे, जिनके बारे मे एशिया और यूरोप के पुराने इतिहास मे हमको पढने को मिलता था। आधुनिक जीवन के सदर्भ मे उनको समझना कठिन है, फिर भी वह हिंदुस्तान के बहुरगे साचे के अनुरूप थे और यहा के बहुत-से आदमियो के हृदय मे उनके प्रति इज्ज़त और श्रद्धा थी, और उनके व्यक्तित्त्व के चारो ओर एक दिव्य ज्योति थी। जिन लोगो ने उनको देखा, उन पर उनके व्यक्तित्त्व ने असर डाला और बहुत-से लोगों पर, जिन्होंने उनको नही देखा, उनकी जिंदगी की कहानी का असर हुआ है। इन दूसरी तरह के लोगो मे एक रोम्या रोला हैं, जिन्होंने परम-हसजी की और उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानद की जीवनियां लिखी हैं।

विवेकानद ने अपने गुरुभाइयो के साथ सेवा के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जिसमे साप्रदायिकता नही है। विवेकानद का आधार पुराने ज़माने मे था, और उनमे हिंदुस्तान की देन का अभिमान था, लेकिन साथ ही ज़िंदगी के मसलो को हल करने का उनका ढग इस ज़माने का था और वह हिंदुस्तान के गुज़रे हुए और मौजूदा ज़माने की खाई पर एक पुल की तरह थे। बगला और अग्रेज़ी मे वह एक ओजस्वी वक्ता थे और बगला पद्य और काव्य के एक सुन्दर लेखक थे। वह एक खूबसूरत और रोबीले आदमी थे और उनमे शान और गभीरता भरी हुई थी, उनको अपने मे और अपने मिशन मे भरोसा था, साथ ही वह सक्रिय और तीव्र शक्ति से भरपूर थे और हिंदुस्तान को आगे बढाने की उनमे गहरी लगन थी। बेबस और गिरे हुए हिंदू दिमाग के लिए वह एक जीवनौषधि के रूप मे आये, और इसको उन्होने अपने पर भरोसा करना सिखाया और अपने पुराने ज़माने की जानकारी कराई। सन १८९३ मे शिकागो मे वह दुनिया-भर के धर्म-सम्मेलन मे शामिल हुए। एक साल उन्होंने सयुक्त राज्य अमरीका मे बिताया, यूरोप की यात्रा एथेंस और कुस्तुतुनिया तक की, और मिस्र, चीन और जापान भी गये। जहा कही भी वह गये, उन्होंने सिर्फ अपनी मौजूदगी से ही नही, बल्कि जो कुछ कहा, उससे, और अपने कहने के ढग से, एक हलचल मचा दी। एक बार इस हिंदू सन्यासी को देख लेने के बाद उसे और उसके सदेश को भुला देना मुश्किल था। अमरीका मे विवेकानद को 'तूफानी हिंदू' कहा गया। पच्छिमी देशो की अपनी यात्रा का खुद उन पर बहुत असर पडा। उन्होने अग्रेज़ो की लगन की और अमरीकी जनता की दृढता और बराबरी की भावना की तारीफ की। हिंदुस्तान मे अपने एक दोस्त को उन्होने लिखा—"किसी भी नये विचार के प्रचार के लिए अमरीका सर्वोत्तम क्षेत्र है।" लेकिन पच्छिम के धर्म के स्वरूप ने उनको प्रभावित नही किया और भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक पृष्ठिभूमि मे उनका विश्वास और भी मज़बूत हो गया। उनके लिहाज़ से हिंदुस्तान अपने पतन के बावजूद, अब भी 'प्रकाश' की नुमाइदगी करता था।

उन्होंने वेदात दर्शन के अद्वैतवाद का प्रचार किया और उन्हे इस बात का पक्का यकीन था कि विचारशील मानव जाति के लिए आगे चलकर सिर्फ वेदात ही धर्म हो सकता है—वजह यह है कि वेदात सिर्फ आध्यात्मिक ही नही है, बल्कि तर्क-सगत है और साथ ही उसका बाहरी दुनिया की वैज्ञानिक खोजो से भी सामजस्य है। "इस विश्व का सृजन किसी

विश्वोपरि ईश्वर ने नहीं किया और न वह किसी बाहरी दिमाग की कृति है। वह स्वय-भू, स्वय-सहारक, स्वय-पोषक, एक अनत अस्तित्त्व, ब्रह्म है।" वेदात का आदर्श आदमी और उसकी सहज दैवी प्रकृति की एकता का था, मानव मे ईश्वर-दर्शन ही सच्चा ईश्वर-दर्शन है, प्राणियो मे मनुष्य सबसे बडा है, लेकिन "अदृश्य वेदात को दैनिक जीवन मे सजीव-काव्यमय हो जाना चाहिए, बेहद उलझी हुई पौराणिक गाथाओ मे से निकलकर उसका साफ नैतिक स्वरूप सामने आना चाहिए, और रहस्यपूर्ण योगीपने के भीतर से एक वैज्ञानिक और अमली मनोविज्ञान सामने आना चाहिए।" हिंदुस्तान इसलिए गिर गया था कि उसने अपने-आपको संकरा कर लिया था, और उसने अपने को एक खोल मे बद कर लिया था। इस तरह दूसरे राष्ट्रो से उसका सपर्क छूट गया और उसकी हालत एक जड सभ्यता की-सी हो गई। वर्ण-व्यवस्था, जो अपनी शुरू की शक्ल मे ज़रूरी और वाछनीय थी और जिसका उद्देश्य शख्सियत और आज़ादी को बढाना था, बेहद गिर गई और अपने मकसद से ठीक उलटी चलने लगी और उसने आम जनता को कुचला। वर्ण-व्यवस्था एक ढग का सामाजिक सगठन है, जिसको धर्म से अलग रखना चाहिए था। सामाजिक सगठन मे तो समय के साथ परिवर्तन होना चाहिए। विवेकानद ने कर्म-काड की बेमानी गूढ-विवेचना की, और खासतौर से ऊचे वर्ण के लोगो की छुआछूत की, बहुत ज़ोरो से निंदा की। "हमारा धर्म रसोईघर मे है, हमारा ईश्वर खाना बनाने का बर्तन है और हमारा धर्म है, 'मुझे न छुओ, मैं पवित्र हू'।"

वह राजनीति से अलग रहे और उन्हे अपने वक्त के राजनीतिज्ञ नापसद थे। लेकिन उन्होंने आज़ादी, बराबरी और जनता को उठाने की ज़रूरत पर बार-बार ज़ोर दिया। "सिर्फ सोच-विचार और काम-काज की आज़ादी ही ज़िंदगी, तरक्की और खुशहाली की शर्त है। जहा यह आज़ादी नही है, वहा उस आदमी को, उस जाति को, उस राष्ट्र को ज़िंदा नही रखा जा सकता।" "हिंदुस्तान के लिए अगर कोई आशा है, तो वह यहा की आम जनता मे है। ऊपरी वर्ग के लोग, भौतिक और नैतिक दृष्टि से मुर्दा है।" वह पच्छिमी प्रगति और हिंदुस्तान की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को मिला देना चाहते थे। "यूरोपीय समाज हो और हिंदुस्तान का धर्म हो।" "बराबरी, आज़ादी, काम और शक्ति मे तुम्हारी भावनाए ज्यादा-से-ज्यादा पच्छिमी हो और साथ ही धर्म, सस्कृति और सस्कारो मे तुम्हारी नस-नस हिंदुत्व से भरी हो।" दिन-ब-दिन विवेकानद का अतर्राष्ट्रीय

दृष्टिकोण बढता गया। "खुद राजनीति और समाज-विज्ञान मे जो समस्याए बीस बरस पहले सिर्फ राष्ट्रीय थी, अब सिर्फ राष्ट्रीय आधार पर हल नही की जा सकती। उनका आकार और परिमाण बेहद बढ रहा है। उनका हल सिर्फ उसी वक्त हो सकता है, जब उनको अतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सुलझाया जाय। आज की आवाज़ है अतर्राष्ट्रीय सस्थाए, अतर्राष्ट्रीय सहयोग, अतर्राष्ट्रीय कानून। इससे एकता जाहिर होती है। उसी तरह पदार्थ के बारे मे विज्ञान का नज़रिया दिन-ब-दिन ज्यादा विस्तृत हो रहा है।" और फिर—"अगर सारी दुनिया साथ न दे, तो तरक्की हो भी नही सकती, यह चीज़ दिन-ब-दिन ज्यादा साफ होती जा रही है कि कोई भी समस्या जातीय, राष्ट्रीय या और दूसरी सकरी बुनियाद पर हल नही हो सकती। हर विचार को इतना बढना होता है कि वह सारी दुनिया मे छा जाय और हर मकसद को इतना ज्यादा फैलना होता है कि उसके घेरे मे सारा मानव-जगत, यहातकिक सारी जिंदगी ही समा जाय।" ये सब बातें विवेकानद के वेदात दर्शन के दृष्टिकोण के अनुरूप थी और हिंदुस्तान मे एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक उन्होंने इसका प्रचार किया। "मुझे इस बात का पक्का यक़ीन है कि कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र अपने को दूसरो से अलहदा करके नही रह सकता और जहा कही भी महानता, नीति या पवित्रता के झूठे खयालो की वजह से ऐसी कोशिश की गई है, वहा अलहदा होनेवाले के लिए नतीजा हमेशा ही विनाशकारी रहा है।" "दुनिया के दूसरे राष्ट्रो से हमारी अलहदगी हमारी गिरावट का कारण है और उसका इलाज सिर्फ यही है कि हम फिर से बाक़ी दुनिया की धारा मे शामिल हो जायें। गतिशीलता जीवन का चिह्न है।"

उन्होने एक जगह लिखा है—"मैं समाजवादी हू, लेकिन इसलिए नही कि मैं उसे एक पूर्ण (दोषहीन) व्यवस्था समझता हू, बल्कि इसलिए कि पूरी रोटी न मिलने से आधी रोटी मिलना ही बेहतर है। दूसरी व्यवस्थाए आजमाई जा चुकी हैं और उनमे कमी पाई गई है। इसको भी आजमाने दो—और कुछ नही तो सिर्फ इसके नयेपन के ही लिए।"

विवेकानद ने बहुत-सी बातें कही, लेकिन एक चीज़, जिसको उन्होंने अपने व्याख्यानो और लेखो मे बराबर कहा है, 'अभय' है। उनकी निगाह में आदमी तरस के काबिल पापी नही है, बल्कि उसमे ईश्वर का अश है। तब उसे किसी चीज़ का डर काहे को हो? "अगर दुनिया मे कोई पाप है, तो वह है दुर्बलता, दुर्बलता को दूर करो, दुर्बलता पाप है, दुर्बलता

मृत्यु है।" यह उपनिषदो का महान उपदेश था। भय से बुराई और दुख और पछतावा होता है। ये सब चीजें बहुत हो ली और कोमलता भी बहुत हो ली। "अब हमारे देश को जिन चीजो की जरूरत है, वे हैं लोहे के पुट्ठे, फौलाद की नाडिया और ऐसी प्रबल मन शक्ति, जिसको रोका न जा सके। ये सब चीजे हो, जो विश्व के रहस्य और भेद के अदर भी पैठ जाये और जैसे भी हो अपना काम पूरा करें, चाहे उसके लिए समुद्र के तले जाकर मौत का भी सामना करना पडे।" उन्होने जादू-टोने और रहस्यवाद की निंदा की और कहा कि "ये गिलगिली चीजें है, उनमे बडी सचाई हो सकती है, लेकिन उन्होंने हमको बरबाद कर दिया है। और सत्य की कसौटी यह है—कोई भी चीज, जो तुम्हे शारीरिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक रूप से कमजोर बनाती है, उसको जहर की तरह छोड दो, उसमे कोई जिंदगी नही है, वह सत्य नही हो सकती। सत्य मजबूती लाता है। सत्य पवित्रता है, ज्ञान है ये रहस्यवाद, चाहे उनमे थोडा-सा सत्य का अश हो, लेकिन आमतौर पर कमजोर बनाते हैं अपने उपनिषदो पर ध्यान दो, जिनमें चमक है, शक्ति है और आभा है। इन रहस्यवादी चीजो से, इन कमजोर बनानेवाली चीजो से अलग हो जाओ। इस फिलसफे को उठाओ, सबसे बडा सत्य दुनिया मे सबसे ज्यादा सरल भी है, इतना सरल, जितना तुम्हारा निजी अस्तित्व।" "अधविश्वास से सावधान रहो। अधविश्वासी मूर्ख की जगह अगर तुम कट्टर नास्तिक हो, तो मैं ज्यादा पसद करू। नास्तिक जिंदा होता है, उससे कुछ बन पड सकता है। लेकिन जब अधविश्वास हममे समा जाता है, तो दिमाग गायब हो जाता है और तब जिंदगी का खात्मा शुरू हो जाता है। जादू-टोना, और अधविश्वास हमेशा ही कमजोरी की निशानी है।[1]

[1] इनमे से ज्यादातर उद्धरण स्वामी विवेकानद के 'लेक्चर्स फ्रॉम कोलबो टु अलमोडा' से और 'लैटर्स फ्रॉम स्वामी विवेकानद' से लिये गये हैं। ये दोनो ही किताबें अद्वैत आश्रम, मायावटी, अलमोडा (हिमालय) से प्रकाशित हुई हैं। दूसरी किताब के सन १९४२ के सस्करण मे पृष्ठ ३९० पर, एक खत खास है, जो विवेकानद ने एक मुसलमान दोस्त को लिखा था। उसमे वह लिखते हैं:

"हम उसे चाहे वेदांतवाद कहे या और कोई वाद कहें, लेकिन यह सच है कि धर्म और विचार मे अद्वैतवाद आखिरी चीज है और यही सिर्फ एक ऐसी स्थिति है, जहा से कोई आदमी दूसरे धर्मों को भी प्रेम से देख सकता है। हमारा ऐसा विश्वास है कि भविष्य मे जाग्रत मानव-जगत का

इस तरह हिंदुस्तान के दक्खिनी सिरे के कन्याकुमारी अंतरीप से लेकर हिमालय तक विवेकानंद ने गर्जना की और उन्होंने इस काम में अपने-आपको खपा डाला, यहांतक कि सन १९०२ में, जब वह सिर्फ उनतालीस बरस के ही थे, उनकी मृत्यु हो गई।

विवेकानंद के ही समकालीन थे रवींद्रनाथ ठाकुर। वैसे वह एक बाद की पीढ़ी के थे। ठाकुर-परिवार ने उन्नीसवीं सदी में बंगाल में कई सुधार-आंदोलनों में खास हिस्सा लिया था। इस घराने में आध्यात्मिक रूप से बहुत उन्नत लोग थे, बढ़िया लेखक और कलाकार थे, लेकिन इनमें रवीन्द्रनाथ सबसे बढ़कर हुए। और दरअसल वह रफ्ता-रफ्ता इस दर्जे पर पहुंच गये कि हिंदुस्तान-भर में उनका कोई सानी न रह गया। रचनात्मक काम के उनके लंबे जीवन ने दो पीढ़ियों को ढक लिया और इसका ऐसा महसूस होता है, मानो वह हमारे ही जमाने के हों। वह राजनीतिज्ञ नहीं थे, लेकिन वह हिंदुस्तानी जनता की आजादी के प्रति इतने सचेत और इतने जागरूक थे कि वह हमेशा ही अपने काव्य और संगीत के शीशमहल में नहीं रह सकते थे। जब-जब वह किसी घटनाक्रम को बरदाश्त नहीं कर सके, वह बार-बार बाहर आये और उन्होंने ब्रिटिश सरकार को या अपनी ही जनता को चेत-धन यही होगा। इब्रानियों और अरबों के मुकाबले ज्यादा पुरानी जाति होने की वजह से हिंदुओं को और जातियों की अपेक्षा इस सत्य पर जल्दी पहुंचने का श्रेय मिल सकता है; लेकिन व्यवहार-रूप में अद्वैतभाव, जिसमें सारे मानव-समाज को आत्मवत बरता जाता है, अभी व्यापक रूप से हिंदुओं में आना बाकी है।

"दूसरी तरफ हमारा अनुभव यह है कि अगर कभी भी किसी धर्म के अनुयायी इस साम्य पर रोजाना की अमली जिंदगी में कुछ हद तक पहुंच पाये हैं, तो वे इस्लाम के और सिर्फ इस्लाम के ही अनुयायी हैं। हां, यह बात दूसरी है कि इस बरताव के ज्यादा गहरे सिद्धांतों को, जिन्हें हिंदू आमतौर पर स्पष्ट रूप से देखते हैं, वे लोग न जानते हों और न समझ पाते हों।

'हमारे यहां के लिए इन दो महाधर्मों का, हिंदू और इस्लाम का सम्मिलन—वेदांती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर—ही एकमात्र आशा है।

"मेरे दिमाग के सामने भविष्य के उस पूर्ण भारत की तस्वीर है, जो इस अवस्था और संघर्ष से ऊपर उठेगा और जो प्रतिभावान और अजेय होगा और जिसमें वेदांती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर होगा।" यह खत अलमोड़ा से १० जून, १८९८ को लिखा गया था।

दूती-जैसी भाषा में चेतावनी दी। बीसवीं सदी के शुरू के सालों में बंगाल में जो स्वदेशी आंदोलन चला, उसमें उन्होंने एक खास हिस्सा लिया और बाद में उस वक्त भी, जब उन्होंने अमृतसर के हत्याकांड के समय अपनी 'सर' की पदवी का परित्याग किया। शिक्षा के मैदान में उनका जो रचनात्मक काम खामोशी से शुरू हुआ, उसने 'शांतिनिकेतन' को भारतीय संस्कृति का एक प्रधान केंद्र ही बना दिया है। हिंदुस्तान के दिमाग पर, और खास-तौर से बाद की नई पीढ़ियों पर, उनका बेहद असर हुआ है। सिर्फ बंगला ही नहीं, जिसमें वह खुद लिखते थे, बल्कि हिंदुस्तान की सभी आधुनिक भाषाएं कुछ हद तक उनकी रचनाओं से प्रभावित हुई हैं। पूर्व और पच्छिम के आदर्शों में सामंजस्य स्थापित करने में उन्होंने और किसी भी हिंदुस्तानी के मुकाबले ज्यादा मदद की है और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता के आधार को चौड़ा किया है। वह हिंदुस्तान के सबसे बड़े अंतर्राष्ट्रीयतावादी रहे है। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में उन्होंने विश्वास किया है और उसके लिए काम किया है और वह हिंदुस्तान का संदेश दूसरे देशों को ले गये हैं और दूसरे देशों का संदेश अपनी जनता के लिए लाये हैं। फिर भी इस अंत-र्राष्ट्रीयता के होते हुए भी उनके पैर हिंदुस्तान की जमीन पर ही मजबूती से जमे रहे हैं और उनका मस्तिष्क उपनिषदों के ज्ञान से ओत-प्रोत रहा है। आम ढर्रे के खिलाफ, ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गई, उनका नजरिया ज्यादा इन्कलाबी होता गया। घोर व्यक्तिवादी होते हुए भी रूसी इन्कलाब के बड़े कारनामों के वह प्रशंसक थे, खासतौर पर शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य और साम्य-भावना के। राष्ट्रवाद के प्रति निष्ठा मनुष्य के विचारों को संकीर्ण बना देती है, और जब राष्ट्रवाद की साम्राज्यवाद से टक्कर होती है, तब हर ढंग की निराशाएं और मानसिक उलझनें पैदा हो जाती हैं। जिस तरह एक दूसरे स्तर पर गांधीजी ने हिंदुस्तान की बेहद सेवा की है, उसी तरह ठाकुर ने देश की इस रूप में बड़ी भारी सेवा की है कि उन्होंने जनता को कुछ हद तक उसके सोच-विचार के संकीर्ण घेरे से धकेल बाहर निकाला, और उसके दृष्टिकोण को ज्यादा विस्तृत और व्यापक बनाया। रवींद्रनाथ हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े मानव-हितैषी थे।

बीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से में ठाकुर और गांधी यक़ीनी तौर पर हिंदुस्तान के दो खास और मार्के के पुरुष रहे हैं। उनकी सम और विषम बातों का मिलान शिक्षाप्रद है। कोई भी दो व्यक्ति अपने स्वभाव या मान-सिक गठन में एक-दूसरे से इतने ज्यादा जुदा नहीं हो सकते। रवींद्रनाथ एक संभ्रांत कलाकार थे, जो आम लोगों से सहानुभूति रखने की वजह से

लोकतंत्रवादी बन गये थे। वह खासतौर से हिंदुस्तान की सास्कृतिक परपरा के नुमाइदे थे—उस परपरा के, जो जिंदगी को उसके पूरे रूप मे अगीकार करती है, और जिसमे नाच और गाने के लिए जगह है। गाधीजी खासतौर से आम जनता के आदमी थे, और करीब-करीब हिंदुस्तानी किसान का ही स्वरूप थे और वह हिंदुस्तान की दूसरी पुरानी परपरा के नुमाइदे थे। यह परपरा थी सन्यास और त्याग की। फिर भी रवीद्रनाथ खास-तौर से विचार-जगत के आदमी थे और गाधीजी अनवरत कर्मण्यता के। दोनो का ही अपने-अपने ढग से विश्व-व्यापी दृष्टिकोण था और साथ ही दोनो ही पूरी तरह हिंदुस्तानी थे। ऐसा प्रतीत होता था कि वे हिंदुस्तान के जुदा-जुदा, लेकिन आपस मे मेल रखनेवाले, पहलुओ की नुमाइदगी करते थे और एक-दूसरे के पूरक थे।

रवीद्रनाथ और गाधीजी पर विचार करते हुए हम अपने मौजूदा जमाने तक आ जाते हैं। लेकिन हम तो एक पहले युग पर विचार कर रहे थे। हम तो यह देख रहे थे कि विवेकानद ने और दूसरे लोगो ने हिंदुस्तान की विगतकालीन महानता पर जो जोर दिया और उस पर अपना जो अभिमान प्रकट किया, उसका आम जनता पर और खासतौर से हिंदुओ पर क्या असर हुआ। विवेकानद खुद सावधान थे और उन्होने जनता को भी इस बात से सचेत कर दिया कि वह विगत काल मे ही न विचरती रहे और उन्होंने उससे भविष्य की तरफ निगाह उठाने को कहा। उन्होने लिखा—"हे ईश्वर, हमारा यह देश भूतकाल मे अपने शाश्वत विचरण से कब मुक्त होगा?" लेकिन खुद उन्होंने और साथ ही दूसरे लोगो ने उस भूतकाल को आमत्रित किया था और उसमे एक सम्मोहन था और उससे छुटकारा नही था।

गुजरे हुए जमाने की ओर निगाह उठाने और वहा शाति और पोषण पाने के काम मे प्राचीन साहित्य और इतिहास के फिर से अध्ययन से मदद मिली। बाद मे पूर्वी समुद्रो मे हिंदुस्तानी उपनिवेशो की कहानियो से भी इसमे मदद मिली। हिंदू मध्यम वर्ग मे फिर से अपनी आध्यात्मिक और राष्ट्रीय विरासत मे विश्वास बढाने मे श्रीमती एनी बेसेंट का जबरदस्त हाथ रहा। इस सबमे एक आध्यात्मिक और धार्मिक भावना मिली हुई थी, लेकिन साथ ही इसमे एक सुदृढ राजनैतिक पृष्ठभूमि भी थी। उठता हुआ मध्यम वर्ग राजनैतिक प्रवृत्तिवाला था और उसे धर्म की कोई खास तलाश नही थी। उसे एक सास्कृतिक नीव की जरूरत थी, जिसे वह पकड़ सकता और जिससे उसे अपनी क्षमता मे विश्वास होता. एक ऐसी चीज

जो उस सारी मायूसी और हीनता को दूर करती, जिसको विदेशी जीत और विदेशी हुकूमत ने पैदा किया था। हर देश मे राष्ट्रीयता की तरक्की के साथ धर्म के अलावा एक ऐसी तलाश होती है, और गुज़रे ज़माने पर ध्यान देने का रुझान होता है। ईरान जान-बूझकर इस्लाम से पहले की अपनी महानता के युग मे पैठा है, और इससे उसकी धार्मिक निष्ठा में किसी तरह की कमी नहीं हुई। उस युग मे जाने का मकसद उस वक्त की याद को ताज़ा करना था। ईरान मे मौजूदा राष्ट्रीयता को मज़बूत करने के लिए उस याद का उपयोग किया गया है। यही बात और दूसरे देशों मे भी है। हिंदुस्तान के गुज़रे ज़माने मे कितने ही सांस्कृतिक पहलू हैं और उनकी महानता सारी हिंदुस्तानी जनता की, चाहे वह हिंदू, मुसलमान या ईसाई कुछ भी हो, एक मिली-जुली विरासत है और उन लोगों के पुरखों ने ही तो उसका निर्माण किया था। यह बात कि बाद मे उन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया, उनकी इस विरासत को मिटा नहीं देती—ठीक उसी तरह, जैसे यूनानी जब ईसाई हो गये, तब भी उनका अपने पुरखों की महान उपलब्धियों के लिए अभिमान कम नहीं हुआ और न इटलीवाले रोमन गणराज्य या रोमन साम्राज्य के दिनों को ही अपने धर्म-परिवर्तन के बाद भूले। अगर हिंदुस्तान को सारी जनता ने भी इस्लाम या ईसाई मत को अपना लिया होता, तब भी वह सांस्कृतिक विरासत उसको उकसाने के लिए बनी रहती और उसको उससे वह गंभीरता और शान मिलती, जो मानसिक तजर्बे और जीवन की समस्याओं मे होकर निकले हुए एक सभ्य अस्तित्व के लंबे इतिहास से उसकी जनता को मिलती है।

अगर हम एक आज़ाद राष्ट्र रहे होते और देश मे मौजूदा वक्त में सब मिल-जुलकर सामूहिक भविष्य के लिए काम कर रहे होते, तो हम सबने इस गुज़रे वक्त का बराबर अभिमान के साथ देखा होता। दरअसल मुगल ज़माने मे बादशाह और उनके खास साथी, नये होने के नाते, इस गुज़रे ज़माने के साथ अपने को मिलाना चाहते थे और दूसरों की तरह उस पर अभिमान महसूस करना चाहते थे। लेकिन इतिहास के सयोग ने और उसकी रविश ने दूसरे ही ढंग से काम किया और जो तब्दीलियां हुई, उन्होंने स्वाभाविक तरक्की को रोक दिया। इसमे कुछ हद तक मानवीय नीति और दुर्बलताओं की भी मदद थी। यहां यह उम्मीद की जा सकती है कि पच्छिम के आघात से और वैज्ञानिक और आर्थिक तब्दीली से जो नया मध्यम वर्ग पैदा हुआ, उसमे हिंदुओं और मुसलमानों मे एक-सी ही पृष्ठ-भूमि रहती। कुछ हद तक ऐसा हुआ भी, लेकिन कुछ हद तक ऐसे फ़र्क़

भी उठ खड़े हुए, जो पहले सामती और अर्ध-सामती वर्ग मे और आम जनता मे या तो थे ही नही, या अगर थे, तो बहुत कम थे। हिंदू और मुसलमान आम जनता मे एक-दूसरे मे छाट करना मुश्किल था और ऊपरी वर्ग मे ढग-ढर्रे हिंदू और मुसलमान दोनो मे ही एक थे। यही नही, उनकी एक-सी सस्कृति थी, एक-से रिवाज थे, और एक-से त्योहार थे। मध्यम वर्ग मनोवैज्ञानिक रूप से अलग-अलग हुए और बाद मे और दूसरी तरह के फर्क भी आ गये।

पहली बात तो यह है कि शुरू मे मुसलमानो मे यह बीच का वर्ग करीब-करीब था ही नही। उनके पच्छिमी शिक्षा, उद्योग और व्यवसाय से अलग रहने की वजह से और सामती ढर्रे से चिपके रहने की वजह से हिंदू आगे निकल गये, क्योकि उन्होने इन सब चीजो से फायदा उठाया। ब्रिटिश नीति का झुकाव हिंदुओ के पक्ष मे था और मुसलमानो के खिलाफ था। यह बात पजाब मे नही थी और इसीलिए और जगहो के मुकाबले वहा के मुसलमानों ने पच्छिमी तालीम को आसानी से अपनाया। लेकिन पजाब मे अग्रेजो का कब्जा होने से पहले ही हिंदू बहुत आगे बढ गये थे। इसलिए पजाब में भी, जहा हिंदुओ और मुसलमानो के लिए एक-सी हालतें थी, हिंदू माली हालत के लिहाज से आगे थे। विदेशी-विरोधी भावनाए हिंदू और मुसलमान आम जनता और ऊचे वर्ग मे बराबर थी। सन १८५७ के बलवे मे दोनो ही शामिल थे, लेकिन उसका दमन मुसलमानो को ज्यादा महसूस हुआ। यह सही भी था, क्योकि दोनो के मुकाबले मे उन्हे ज्यादा नुकसान उठाना पडा। इस विद्रोह से दिल्ली की सल्तनत के बने रहने के सपने बिलकुल खत्म हो गये। वह सल्तनत तो बहुत पहले, यहातक कि अग्रेजो के रगमच पर आने के पहले ही खत्म हो चुकी थी। मराठो ने उसे खत्म कर दिया था और खुद दिल्ली पर भी उनका नियत्रण था। पजाब मे रजीतसिंह का राज्य था। अग्रेजो के दखल दिये बिना ही उत्तर मे मुगल साम्राज्य खत्म हो चुका था और दक्खिन मे भी वह तितर-बितर हो चुका था। फिर भी नाममात्र का सम्राट दिल्ली के महलो मे था और हालाकि पहले उसे मराठो से और बाद मे अग्रेजो से पेन्शन मिलती थी, फिर भी वह मुग़ल वश का प्रतीक तो था ही। लाजिमी तौर पर गदर के दौरान मे बागियो ने इस प्रतीक से फायदा उठाने की कोशिश की, अगरचे वह खुद कमजोर था और इसके लिए तैयार नही था। उस ग़दर के खात्मे के मानी ये हुए कि यह प्रतीक भी खत्म हो गया।

ज्यो-ज्यों ग़दर के आतक के बाद लोग धीरे-धीरे पनपे, उनके दिमाग़

में एक खालीपन आया और खाली जगह को भरने के लिए किसी चीज की जरूरत थी। जाहिरी तौर पर ब्रिटिश हुकूमत को तो मंजूर करना ही था, लेकिन मुगलकाल से विच्छेद में सिर्फ एक नई सरकार ही सामने नहीं आई, बल्कि उसके साथ उलझन और घबराहट आई और आत्म-विश्वास घटता गया। असल में यह विच्छेद तो ग़दर से बहुत पहले हो चुका था और जैसा कि मैं जिक्र कर चुका हूं, उसकी वजह से बंगाल में और दूसरी जगहों में नई आंदोलन हुए, लेकिन हिंदुओं के मुक़ाबले में मुसलमान ज्यादा-तर अपने खोल में समाये हुए थे और पच्छिमी तालीम से बचते थे। वे बराबर इस बात का सपना देखते थे कि पुरानी हालत फिर से वापस आयेगी। अब ग़दर के बाद इस तरह के सपने नहीं देखे जा सकते थे, लेकिन सहारे के लिए किसी चीज की जरूरत थी। नई तालीम से वे अब भी अलग थे। धीरे-धीरे बहुत मुश्किल और बहस-मुबाहसे के बाद सर सैयद अहमद खां ने उनके दिमाग को अंग्रेजी शिक्षा की तरफ मोड़ा और अलीगढ कालेज कायम किया। सरकारी नौकरी के लिए सिर्फ़ यही एक रास्ता था और इस नौकरी का लालच इतना जबरदस्त साबित हुआ कि पुरानी नाराजी और पुरानी धारणाएं ठहर न सकीं। यह बात कि हिंदू शिक्षा में और नौकरियों में बहुत आगे निकल गये थे, नापसंद की गई और खुद वैसा ही करने के लिए एक जबरदस्त दलील साबित हुई। पारसी और हिंदू तो उद्योग-धंधों में भी आगे बढ़ रहे थे, लेकिन मुसलमानों की निगाह सिर्फ़ सरकारी नौक-रियों की तरफ थी।

लेकिन काम-काज के इस नये रुझान ने, जो असल में कुछ थोड़े-से ही लोगों तक महदूद था, उनके दिमाग के शक और उलझन को दूर नहीं किया। हिंदुओं ने ऐसी ही हालत में पीछे निगाह डाली थी और प्राचीन युग में शांति की तलाश की थी। पुराने फ़िलसफ़े, पुरानी कला और पुराने साहित्य और इतिहास से कुछ सकून मिला। राममोहन राय, दयानंद, विवेकानंद और दूसरे लोगों ने नई विचारधारा के आंदोलन चलाये थे। जहां एक ओर तो उन्होंने अंग्रेजी साहित्य के भरे-पूरे भंडार से लाभ उठाया था, दूसरी ओर उनका दिमाग प्राचीन संतों और शूरवीरों से भरा हुआ था। उनके दिमाग़ में इनके विचार और काम थे और वे गाथाएं और परंपराएं थी, जिनको उन्होंने अपने बचपन से बराबर सीखा था।

इस गुजरे हुए जमाने की बहुत-सी बातों का मुसलमानों से भी इतना ही लगाव था, क्योंकि वे इन परंपराओं से वाकिफ थे, लेकिन यह बात महसूस की गई और यह खासतौर से मुसलमानों के ऊंचे तबके में ही महसूस की गई

कि उन के लिए अपने-आपको इन अर्ध-धार्मिक परपराओ के साथ मिलाना ठीक नही था और उनको किसी तरह का भी बढावा देना इस्लाम की भावना के खिलाफ होगा। उन्होंने अपनी कौमी बुनियाद की दूसरी जगह तलाश की। कुछ हद तक उन्हे यह हिंदुस्तान के अफगान और मुगल-युग मे मिली, लेकिन उस खाली जगह को भरने के लिए यह काफी नही थी। वे युग हिंदू और मुसलमानो के लिए एक-से थे और हिंदुओ के दिमाग से विदेशी हस्तक्षेप की भावना गायब हो गई थी। मुगल शासको को हिंदुस्तानी राष्ट्रीय शासको की तरह देखा गया। हा, औरगजेब के बारे मे अलग-अलग राये थी। यहा एक ध्यान देने की बात यह है कि अकबर को, जिसकी हिंदू खासतौर से तारीफ करते थे, इधर कुछ मुसलमानो ने नापसद किया है। पिछले साल हिंदुस्तान मे उसके जन्म-दिन का ४००-वा वार्षिकोत्सव मनाया गया। हर जमात के लोग (और इनमे कुछ मुसलमान भी थे) इस जलसे मे शामिल हुए, लेकिन मुस्लिम लीग अलहदा रही, क्योकि अकबर तो हिंदुस्तान की एकता का प्रतीक था !

सास्कृतिक बुनियाद की तलाश मे हिंदुस्तानी मुसलमान (यानी उनमे बीच के तबके के कुछ लोग) इस्लामी इतिहास की तरफ गये और वे उस जमाने मे पहुचे, जब इस्लाम बगदाद, स्पेन, कुस्तुतुनिया, मध्य-एशिया आदि मे विजेता के रूप मे छाया हुआ था। इस इतिहास मे दिलचस्पी हमेशा से रही है और पडोसी इस्लामी देशो से कुछ ताल्लुकात भी रहे थे। मक्का मे हज के लिए यात्री जाते थे और वहा दूसरे देश के मुसलमानो से मुलाकात होती थी। लेकिन ये सब ताल्लुक महदूद थे और सतही थे, और इसका हिंदुस्तानी मुसलमानो के आम नजरिये पर कोई खास असर नही हुआ। वह तो सिर्फ हिंदुस्तान तक महदूद था। दिल्ली के अफगान बादशाहो ने, खासतौर से मुहम्मद तुगलक ने, काहिरा के खलीफा को अपना सरपरस्त माना था। बाद मे कुस्तुतुनिया के आटोमन बादशाह खलीफा बन गये, लेकिन उनको हिंदुस्तान मे माना नही जाता था। हिंदुस्तान के मुगल बादशाहो ने किसी खलीफा को या हिंदुस्तान के बाहर के किसी मजहबी नेता को अपना सरपरस्त नही माना। उन्नीसवी सदी की शुरुआत मे मुगल ताकत के खत्म होने के बाद ही हिंदुस्तान की मस्जिदो मे तुर्की के सुल्तान का नाम लिया जाना शुरू हुआ। गदर के बाद यह आम रवैया हो गया।

इस तरह हिंदुस्तान के मुसलमानो ने इस्लाम के उस पुराने बडप्पन से कुछ मनोवैज्ञानिक सतोष पाना चाहा, जो खासतौर से दूसरे देशो मे था। तुर्की के आजाद मुस्लिम ताकत बने रहने पर (और इस वक्त तुर्की

ही एकमात्र आजाद मुस्लिम ताकत थी) उन्होंने अभिमान किया। इस भावना का हिंदुस्तानी कौमियत से कोई संघर्ष या विरोध नही था। असल मे खुद बहुत-से हिंदू इस्लामी इतिहास से सुपरिचित थे और वे उसके प्रशसक थे। उन्होंने तुर्की के साथ सहानुभूति प्रकट की, क्योंकि उन्होंने उसे यूरोपीय ज्यादतियो का एशियाई शिकार समझा। फिर भी एक भेद था, और हिंदुओं के लिए इस भावना ने वह मनोवैज्ञानिक जरूरत पूरी नही की, जो मुसलमानो के लिए पूरी हुई।

गदर के बाद हिंदुस्तानी मुसलमान इस झिझक मे थे कि किस रास्ते को अपनाये। ब्रिटिश सरकार ने जानबूझकर उनका हिंदुओ से भी ज्यादा दमन किया था। इस दमन से खासतौर से मुसलमानो के उस हिस्से पर असर पडा था, जिसमे नया बीच का तबका या 'बूर्जुआ' वर्ग पैदा होता। उन्होंने बहुत मायूसी महसूस की और वे बहुत ज्यादा ब्रिटिश विरोधी थे और साथ ही रूढिवादी और अनुदार थे। सन १८७० के बाद उनकी तरफ़ ब्रिटिश नीति मे धीरे-धीरे तब्दीली आई और वह उनके मुआफिक हुई। इस तब्दीली की खास वजह ब्रिटिश सरकार की सतुलन की नीति थी, जिसको बराबर बरता जा रहा था। फिर भी इस सिलसिले मे सर सैयद अहमद खा का भी बहुत बडा हाथ था। उनको इस बात का पक्का यकीन था कि ब्रिटिश सरकार के सहयोग से ही वह मुसलमानो को ऊपर उठा सकते हैं। वह उन्हे अंग्रेजी तालीम के पक्ष मे करने के लिए फिक्रमद थे और उनके कट्टरपन को दूर करना चाहते थे। उन्होंने जो यूरोपीय सभ्यता देखी थी, उससे वह बहुत प्रभावित थे। असल मे उनके यूरोप से लिखे हुए कुछ खतो से यह बात जाहिर होती है कि उस सभ्यता से वह इतने चकाचौंध थे कि उनकी सतुलन की बुद्धि जाती रही थी।

सर सैयद एक जोशीले सुधारक थे और वह इस जमाने के वैज्ञानिक विचार और इस्लाम में मेल बिठाना चाहते थे। इसके करने के मानी ये नही थे कि किसी बुनियादी धारणा पर चोट की जाय, बल्कि वह यह चाहते थे कि धर्म-ग्रथो की तर्क-सगत व्याख्या की जाय। उन्होंने इस्लाम और ईसाई-धर्म के बुनियादी यकसापन की तरफ इशारा किया। उन्होंने मुसलमानो मे परदा-प्रथा की आलोचना की। तुर्की के खलीफा के प्रति वफादारी या उसकी मातहती के वह खिलाफ थे। सबसे बडी बात यह थी कि वह नई शिक्षा को मुसलमानो मे फैलाना चाहते थे। कौमी तहरीक की शुरुआत ने उनको डरा दिया, क्योकि उनका यह खयाल था कि ब्रिटिश अधिकारियो के विरोध से उन्हें अपने तालीमी कामो मे अंग्रेजो की मदद नही

मिल सकेगी। उनकी मदद सर सैयद को जरूरी मालूम पडी। इसलिए उन्होंने मुसलमानो की ब्रिटिश विरोधी भावनाओ को घटाने की कोशिश की और उनको नेशनल काग्रेस से भी, जो उस वक्त बन रही थी, अलग रखने की कोशिश की। अलीगढ कालेज का एक जाहिरा मकसद यह भी था कि वह "हिंदुस्तान के मुसलमानो को ब्रिटिश ताज की योग्य और उपयोगी प्रजा बनाये।" वह राष्ट्रीय काग्रेस के खिलाफ इसलिए नही थे कि वह एक ऐसी सस्था थी, जिसमे हिंदुओ की प्रधानता थी, बल्कि इसलिए कि उनके लिहाज से वह राजनैतिक दृष्टि से बहुत ज्यादा तेज थी (हालाकि उन दिनो काग्रेस बहुत नरम विचारो की ही सस्था थी) और वह ब्रिटिश सहायता और सहयोग चाहते थे। उन्होंने यह बात दिखाने की कोशिश की कि कुल मिलाकर मुसलमानो ने गदर मे हिस्सा नही लिया था और बहुत-से लोग ब्रिटिश ताकत के प्रति वफादार रहे थे। वह किसी भी लिहाज से हिंदू-विरोधी नही थे और न वह साम्प्रदायिक अलहदगी चाहते थे। उन्होने इस बात पर बार-बार जोर दिया कि धार्मिक मतभेदो का कोई भी कौमी या राजनैतिक महत्व नही होना चाहिए। उन्होंने कहा—"क्या तुम सब एक ही देश के रहनेवाले नही हो?" "याद रखो हिंदू और मुसलमान शब्द तो धार्मिक छाट के लिए हैं, वरना सब लोग, हिंदू, मुसलमान और यहातक कि ईसाई भी, जो इस देश मे रहते हैं, इस लिहाज से सिर्फ एक ही कौम के लोग हैं।"

सर सैयद अहमद खा का असर मुसलमानो के ऊचे तबके के कुछ हिस्सो तक ही महदूद था। उनका देहाती या शहरी आम जनता से वास्ता नही था। यह आम जनता अपने ऊचे तबके से करीब-करीब बिलकुल अलहदा थी और वह हिंदू आम जनता के कही ज्यादा करीब थी। जहा मुस्लिम ऊचे वर्ग के कुछ लोग मुगल जमाने के शासक समुदायो की औलाद थे, वहा आम जनता की ऐसी कोई पृष्ठ-भूमि या परपरा नही थी। उनमे से ज्यादातर सबसे निचले दर्जे के हिंदुओ से मुसलमान बने थे और उनकी बहुत बुरी हालत थी। वे सबसे ज्यादा ग़रीब थे और सबसे ज्यादा सताये हुए थे।

सर सैयद के कई काबिल और मशहूर साथी थे। उनके तर्कसगत काम मे उन्हे बहुत-से लोगो ने सहयोग दिया। इन सहयोग देनेवालो मे सैयद चिराग़ अली और नवाब मोहसिन-उल-मुल्क थे। उनके तालीमी कामो की तरफ मुशी करामत अली, दिल्ली के मुशी जकाउल्ला, डा० नजीर अहमद, मौलाना शिबली नूमानी और शायर हाली, जो उर्दू साहित्य

मे एक खास जगह रखते हैं, खिचे। जहातक मुसलमानो मे अंग्रेज़ी तालीम शुरू करने का और मुस्लिम दिमाग को राजनैतिक आदोलन से अलग करने का सवाल था, सर सैयद कामयाब हुए। एक मुस्लिम एजुकेशनल कान्फ्रेंस शुरू की गई और मुसलमानो के बढते हुए बीच के तबके का, जो नौकरियो या दूसरे पेशो मे था, इसकी तरफ ध्यान गया।

फिर भी बहुत-से मशहूर मुलसमान काग्रेस मे शामिल हुए। ब्रिटिश नीति अब निश्चित रूप से मुसलमानो की, या यो कहा जाय, मुसलमानो के उन हिस्सो की तरफदार हो गई, जो कौमी आदोलन के खिलाफ थे। लेकिन बीसवी सदी के शुरू मे मुसलमानो की नई पीढी मे कौमियत और राजनैतिक कार्रवाई के लिए झुकाव मालूम पडा। इस तरफ से ध्यान हटाकर उसके लिए एक निकासी देने की गरज़ से सन १९०६ में ब्रिटिश प्रेरणा से और अग्रेज़ो के एक खास मददगार आगा खा के नेतृत्व मे मुस्लिम लीग चालू हुई। लीग के दो खास मकसद थे। एक तो ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी, और दूसरे मुस्लिम हितो की हिफाज़त।

एक बात ध्यान देने की है कि ग़दर के बाद हिंदुस्तानी मुसलमानो मे जितने भी खास आदमी थे (और इनमे ही सर सैयद थे), वे सब पुरानी पारपरिक शिक्षा की ही उपज थे। हा, बाद मे उन लोगो ने अग्रेज़ी भी सीखी और वे नये विचारो के असर मे आये। नई पच्छिमी तालीम ने उनमे कोई बडी शख्सियत नही पैदा की। गालिब उर्दू के मशहूर शायर थे और हिंदुस्तान मे उस सदी के खास लेखको मे से एक थे। वह ग़दर से पहले के ज़माने के थे।

बीसवी सदी के शुरू के सालो मे पढे-लिखे मुसलमानो मे दो धाराए थी—एक, जो खासतौर से कम उम्रवालो मे थी, कौमियत की तरफ थी, और दूसरी हिंदुस्तान के गुज़रे हुए ज़माने से और कुछ हद तक मौजूदा ज़माने से अलग रहती थी और इस्लामी देशो मे, खासतौर से तुर्की मे, जहा खलीफा रहता था, उसकी ज्यादा दिलचस्पी थी। इस्लामी मुल्को की तरफदार जिस तहरीक को तुर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद ने आगे बढाया था, उसके कुछ मददगार ऊचे तबके के मुसलमानो मे मिले, लेकिन सर सैयद ने इसका विरोध किया और उन्होने तुर्की और सुल्तान मे दिलचस्पी लेने के लिए हिंदुस्तानियो को मना किया। इस नये तुर्क-आदोलन की कई प्रतिक्रियाए हुई। हिंदुस्तान के ज्यादातर मुसलमानो ने शुरू मे इसको कुछ शक-भरी निगाह से देखा और सुल्तान के लिए आमतौर पर हमदर्दी थी। उसको तुर्की मे यूरोपीय ताक़तो की जालसाज़ियो के खिलाफ एक रोक की

चीज समझा जाता था। लेकिन कुछ दूसरे लोग भी थे और उन्हीमे मौलाना अबुल कलाम आज़ाद थे, जिन्होने नौजवान तुर्कों का स्वागत किया, और उनके साथ सवैंधानिक और सामाजिक सुधार का जो भविष्य था, उसको पसद किया। जब त्रिपोली जग मे सन १९११ मे इटली ने तुर्की पर अचानक हमला किया और बाद मे सन १९१२-१३ मे बाल्कन का जग हुआ, उस वक्त हिंदुस्तानी मुसलमानो मे तुर्की के लिए हमदर्दी की एक हैरत-अगेज़ लहर उठी। वैसे तो यह हमदर्दी सभी हिंदुस्तानियो को थी, लेकिन मुसलमानो मे यह बहुत ज़्यादा थी और ऐसा मालूम पडता था कि मानो वह उनका अपना सवाल है। आखिरी बची हुई मुस्लिम ताकत के खात्मे का अदेशा था; भविष्य के लिए उनके विश्वास का सबसे बडा लगर बरबाद हो रहा था। डा० एम० ए० अन्सारी तुर्की के लिए एक जबरदस्त मेडीकल मिशन ले गये और उसके लिए ग़रीबो तक ने चदा दिया, खुद मुसलमानो की बेहतरी की किसी तहरीक के लिए इतनी जल्दी रुपया नही इकट्ठा हुआ, जितना कि इस वक्त तुर्की के लिए हुआ। पहली बडी जग मुसलमानो के लिए एक इम्तिहान के तौर पर थी, क्योंकि तुर्की दूसरी तरफ था। उन्होंने अपनी बेबसी महसूस की, वे कुछ कर ही नही सकते थे। जब लडाई खत्म हुई, तो उनके दबे हुए जज़्बे खिलाफत आदोलन के रूप मे फूट पडे।

हिंदुस्तान के मुसलमानी दिमाग की तरक्की मे सन १९१२ भी एक खास साल है, क्योंकि उसमे दो नये साप्ताहिक निकलने शुरू हुए। उनमे से एक तो 'अल हिलाल' था, जो उर्दू मे था और दूसरा अग्रेजी मे 'दि कामरेड' था। 'अल हिलाल' को मौलाना अबुल कलाम आजाद (वर्तमान काग्रेस सभापति) ने चलाया था। वह एक चौबीस बरस के नौजवान थे। उनकी शुरू की पढाई-लिखाई काहिरा मे अल-अजहर विश्वविद्यालय मे हुई थी और जिस वक्त वह पद्रह और बीस बरस के ही बीच मे थे, उसी वक्त वह अपनी अरबी और फारसी की काबलियत के लिए मशहूर हो गये थे। इसके अलावा उनको हिंदुस्तान के बाहर की इस्लामी दुनिया की अच्छी जानकारी थी और उन्हें उन सुधार-आदोलन का पूरा पता था, जो वहा पर चल रहे थे। साथ ही उन्हे यूरोपीय मामलो की भी जानकारी थी। उनका नज़रिया बुद्धिवादी था और साथ ही इस्लामी साहित्य और इतिहास की उन्हे पूरी जानकारी थी। उन्होंने इस्लामी धर्म-ग्रथो की बुद्धिवादी नज़रिये से व्याख्या की। इस्लामी परपरा से वह छके हुए थे और उनके मिस्र, तुर्की, सीरिया, फिलिस्तीन, ईराक और ईरान के मशहूर मुस्लिम नेताओ और सुधारको से ज़ाती ताल्लुकात थे। इन देशो के इखलाकी और

राजनैतिक हालात का उन पर बहुत ज्यादा असर था। अपने लेखों की वजह से इस्लामी देशों में और किसी हिंदुस्तानी मुसलमान की अपेक्षा वह ज्यादा परिचित थे। उन लड़ाइयों में, जिनमें तुर्की फंस गया, उनकी बेहद दिलचस्पी हुई, और उनकी हमदर्दी तुर्की के लिए सामने आई। लेकिन उनके ढंग में और नजरिये में और दूसरे बुजुर्ग मुसलमान नेताओं के नजरिये में फर्क था। उनका नजरिया ज्यादा विस्तृत और तर्क-संगत था और इसकी वजह से न तो उसमें सामंतवाद था और न संकरी धार्मिकता और न साम्प्रदायिक अलहदगी। इसने उनको लाजिमी तौर पर हिंदुस्तानी क़ौमियत का हामी बना दिया। उन्होंने तुर्की में और दूसरे इस्लामी देशों में कौमियत की तरक्क़ी को खुद देखा था। उस जानकारी का उन्होंने हिंदुस्तान में इस्तेमाल किया और उन्हें हिंदुस्तानी क़ौमी आंदोलन का वही रुख दिखाई दिया। हिंदुस्तान के दूसरे मुसलमानों को इन देशों के आंदोलनों की शायद ही जानकारी रही हो और वे अपने सामंती वातावरण में घिरे रहे। वे सिर्फ़ मजहबी नजर से चीजों को देखते थे और तुर्की के साथ उनकी हमदर्दी सिर्फ़ धर्म के नाते थी। इस जबरदस्त हमदर्दी के बावजूद वे तुर्की की कौमी और ग़ैरमजहबी तहरीकों के साथ न थे।

अबुल कलाम आजाद ने अपने हफ्तेवार रिसाले 'अल-हिलाल' में एक नई भाषा में बात की। वह भाषा सिर्फ विचार या नजरिये के लिहाज से ही नई नहीं थी, बल्कि उसका गठन भी दूसरे ढंग का था। उसकी वजह यह थी कि आजाद की शैली में जोर था, मर्दानगी थी और अपनी फारसी पृष्ठभूमि के कारण कभी-कभी वह समझने में कुछ मुश्किल होती थी। उन्होंने नये विचारों के लिए नई शब्दावली का इस्तेमाल किया और उर्दू भाषा आज जैसी भी है, उसको बनाने में एक निश्चित असर डाला। मुसलमानों के पुराने कट्टरपंथी नेताओं में इस सबके लिए अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई, और उन्होंने आजाद के विचारों और उनके नजरिये की आलोचना की। लेकिन उनमें से काबिल-से-काबिल लोग भी आजाद से बहस या दलील में, यहांतक कि धर्म-ग्रंथों और पुरानी परंपराओं की बुनियाद पर भी, आसानी से टक्कर नहीं ले सकते थे। वजह यह थी कि इन चीजों के बारे में उनके मुकाबले में आजाद की जानकारी ज्यादा थी। उनमें मध्य-युग के इल्म, अठारहवीं सदी के तर्कवाद और मौजूदा जमाने के नजरिये का एक अजीब मेल था।

पुरानी पीढ़ी के कुछ ऐसे लोग थे, जिन्होंने आजाद के लेखों को पसंद किया। इनमें एक तो विद्वान मौलाना शिबली नूमानी थे, जो खुद तुर्की

घूमकर आये थे और जो अलीगढ कालेज के सिलसिले मे सर सैयद अहमद खा के साथ थे। जो भी हो, अलीगढ कालेज की परपरा बिलकुल जुदा और राजनैतिक और सामाजिक दोनो ही नजरो से अनुदार थी। उसके ट्रस्टी नवाब और जमीदार थे, जो सामती ढाचे के ही नुमाइदे थे। एक के बाद दूसरे ऐसे अग्रेज प्रिंसिपलो के अधीन रहकर, जो सरकारी हलको से नजदीकी ताल्लुक रखते थे, इसमे अलहदगी के रुझान ने तरक्की की और कौमियत के खिलाफ और काग्रेस के खिलाफ नजरिया कायम हो गया। वहा के विद्यार्थियो के सामने जो खास मकसद रखा गया, वह सरकारी नौकरियो मे जगह पाने का था। उसके लिए सरकारी मदद करने का रुख जरूरी था और उसमे कौमियत और बगावत की गुजाइश नही थी। अलीगढ कालेज का समुदाय अब नये पढे-लिखे मुसलमानो का नेतृत्व कर रहा था और उसने कभी-कभी खुले आम, लेकिन ज्यादातर परदे के पीछे से, करीब-करीब हर मुस्लिम आदोलन पर असर डाला। बहुत-कुछ उन्हीकी कोशिशो का नतीजा था कि मुस्लिम लीग का जन्म हुआ।

अबुल कलाम आजाद ने कट्टरता के और कौमियत के विरोधी इस गढ पर हमला किया। सीधे तौर पर नही, बल्कि ऐसे विचारो का प्रचार करके, जो अलीगढ की परपरा को ही खोखला कर देते। मुसलमानो के बुद्धिजीवी लोगो के दायरे मे इस नौजवान लेखक और सपादक ने हलचल मचा दी। नई पीढी के दिमाग मे उनके शब्दो से एक उबाल पैदा हुआ। यह उबाल तुर्की, मिस्र, ईरान और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीय आदोलन की घटनाओ से पहले ही शुरू हो चुका था। आजाद ने उसको एक निश्चित धारा दी और उन्होने यह जताया कि इस्लाम और इस्लामी देशो से सहानुभूति मे और हिंदुस्तानी कौमियत मे कोई सघर्ष नही था। इससे मुस्लिम लीग को काग्रेस के पास लाने मे मदद मिली। आजाद खुद भी, १९०६ मे लीग के पहले ही जलसे मे, जब वह लडके ही थे, शरीक हुए थे।

ब्रिटिश सरकार के नुमाइदो ने 'अल हिलाल' को पसद नही किया। प्रेस ऐक्ट के मातहत उससे जमानत मागी गई और आखिर सन १९१४ मे उसका प्रेस जब्त कर लिया गया। इस तरह दो साल की छोटी-सी ज़िंदगी के बाद 'अल हिलाल' खत्म हो गया। इसके बाद आजाद ने एक दूसरा साप्ताहिक 'अल-बलाग' निकाला, लेकिन ब्रिटिश सरकार द्वारा आजाद के कैद किये जाने पर यह भी सन १९१६ मे खत्म हो गया। चार साल तक वह कैद मे रखे गये और जब वह बाहर आये, तो उन्होने फौरन ही नेशनल काग्रेस के नेताओ मे अपनी जगह हासिल कर ली। तब से वह बराबर काग्रेस

का वर्ग ऊपर आ रहा था, और राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में लोकव्यापी राजनैतिक आंदोलन के अनुभव से भी एक बहुत बड़ा फ़र्क़ पैदा हो गया था।

अगरचे आम मुस्लिम जनता और नये मध्यम वर्ग के रुझान के बनाने मे खासतौर से घटना-प्रवाह का हाथ था, फिर भी मध्यम वर्ग को, और खासतौर से उसकी नई पीढी को, प्रवाहित करने में सर मुहम्मद इक़बाल का एक महत्वपूर्ण भाग था। आम जनता पर उनका शायद ही असर हुआ हो। इक़बाल ने उर्दू मे जोशीली राष्ट्रीय कविताए लिखना शुरू किया और ये कविताए बहुत प्रचलित हो गईं। बाल्कन युद्ध के दौरान में उन्होंने इस्लामी विषयो की तरफ ध्यान दिया। तत्कालीन परिस्थितियो से और मुसलमानो की सामूहिक भावना से वह प्रभावित हुए थे और उन्होंने खुद इन भावनाओ पर असर डाला और उनकी तेज़ी को बढाया। फिर भी वह कोई लोक-नेता नही थे; वह एक शायर थे, एक बुद्धिजीवी आदमी और फिलसूफ़ थे, और पुराने सामंती ढाचे से उनका लगाव था। उनका घराना शुरू मे काश्मीरी ब्राह्मण था। फारसी और उर्दू दोनों ही की शायरी मे उन्होंने मुसलमान पढ़े-लिखे लोगो को एक दार्शनिक पृष्ठभूमि दी और इस तरह उनके दिमाग़ को अलहदगी की दिशा मे हटाया। इसमे शक नहीं कि उनकी शोहरत उनकी शायरी की वजह से थी, लेकिन इससे भी ज्यादा बडी वजह यह थी कि उस वक्त, जबकि मुस्लिम दिमाग सहारे के लिए किसी लगर की तलाश मे था, उन्होंने उसकी जरूरत को पूरा किया। पुराने इस्लामी विश्व के आदर्श मे अब कोई मानी नही रहे थे; अब खिलाफत नही थी और सभी इस्लामी देश और खासतौर से तुर्की, बहुत ज्यादा कौमी विचार के थे और उन्हें दूसरे देशो की इस्लामी जनता की जरा भी फिक्र नहीं थी, और दूसरी जगहो की तरह एशिया मे भी राष्ट्रीयता का ज़ोर था। हिंदुस्तान मे राष्ट्रीय आंदोलन ताक़तवर हो गया था और उसने ब्रिटिश हुकूमत को बराबर चुनौती दी। उस राष्ट्रीयता ने हिंदुस्तान के मुस्लिम दिमाग़ को खूब लुभाया। आज़ादी की लडाई मे मुसलमानो की बड़ी तादाद ने खास हिस्सा लिया था। फिर भी हिंदुस्तानी क़ौमियत पर हिंदू हावी थे और उसके स्वरूप मे हिंदूपन था। इससे मुस्लिम दिमाग़ में एक संघर्ष उठ खडा हुआ, बहुत-से लोगो ने उस कौमियत को मंजूर किया, और उन्होंने उसे अपनी वांछित दिशा की ओर मोडने की कोशिश की। बहुत-से लोगो की उसके साथ सहानुभूति थी, लेकिन वे अनिश्चितता से अलग बने रहे। फिर भी, ऐसे भी बहुत-से लोग थे, जो उस अलहदगी की दिशा

मे बहने लगे, जिसके लिए इकबाल के काव्यमय और फिलसफियाना नज-रिये ने उनको तैयार किया था।

जहांतक मेरा खयाल है, यही वह पृष्ठभूमि है, जिसमे से इधर हाल के बरसो मे हिंदुस्तान के बटवारे की आवाज उठी है। और बहुत-सी वजहे थी और हर तरफ की गलतिया थी, साथ ही खासतौर से ब्रिटिश सरकार की अलहदगी पैदा करने की वह नीति थी, जो जान-बूझकर बरती गई थी। लेकिन इन सबके पीछे यह मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि थी, जो और दूसरे ऐतिहासिक कारणो के अतिरिक्त हिंदुस्तान मे मुस्लिम मध्यम वर्ग के देर से जन्म लेने के कारण पैदा हुई थी। विदेशी हुकूमत के खिलाफ राष्ट्रीय सघर्ष के अलावा हिंदुस्तान मे जो अदरूनी सघर्ष है, वह असल मे सामती ढाचे के बचे हुए हिस्सो मे और आधुनिक विचार और सस्थाओ मे है। यह सघर्ष राष्ट्रीय स्तर पर है और साथ ही हर बडे समुदाय मे, मसलन हिंदू, मुसलमान आदि मे है। राष्ट्रीय आदोलन, जिसकी नुमाइदगी खासतौर से राष्ट्रीय काग्रेस करती है, यकीनीतौर पर विचारो और सस्थाओ से मेल बिठाने की ऐतिहासिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति करता है। हा, उसमे कुछ पुरानी बुनियादो स भी मेल बिठाने की कोशिश है। इसी वजह से उसकी ओर सभी तरह के लोग आकर्षित हुए, वैसे उनमे आपस मे बहुत फर्क है। जहातक हिंदुओ का सवाल है, एक कडे सामाजिक ढाचे ने तरक्की के रास्ते मे रुकावट डाली है, और यही नही, बल्कि दूसरे समुदायो को डरा दिया है। लेकिन यह सामाजिक ढाचा खुद खोखला हो गया है और इसका कडापन तेजी से गायब हो रहा है। जो भी हो, अब वह इतना ताकतवर नही है कि व्यापक राजनैतिक और सामाजिक मानो मे उस राष्ट्रीय आदो-लन का बढती को रोक सके, जिसमे अब इतना वेग पैदा हो गया है कि वह सब अडचनो के बावजूद अपने रास्ते पर आगे बढता जाता है। मुसलमानो मे सामती हिस्से ताकतवर बने रहे हैं और वे आम मुस्लिम जनता पर आम-तौर से अपना नेतापन बनाये रखने मे कामयाब हुए है। हिंदू और मुसलमान मध्यम वर्ग की तरक्की मे करीब-करीब एक पीढी का फर्क है, और वह फर्क राजनैतिक, आर्थिक और कई दूसरी दिशाओ मे जाहिर होता है। इसी पिछडेपन की वजह से मुसलमानो मे डर की मनोवृत्ति पैदा होती है।

पाकिस्तान या हिंदुस्तान के बटवारे का प्रस्ताव इस पिछडेपन का नही है। यह बात दूसरी है कि कुछ लोगो की भावुकता को यह प्रस्ताव बहुत रुचिकर हो। उससे तो इस बात की सभावना ज्यादा है कि कुछ वक्त

के लिए सामंतवादियों का पंजा और ज्यादा मजबूत हो जाय, और उससे मुसलमानों की आर्थिक प्रगति में देरी हो। इकबाल पाकिस्तान की सबसे पहले सलाह देनेवालों में से एक थे, फिर भी ऐसा मालूम पड़ता था कि उन्होंने उसके जन्म-जात खतरे और उसके निकम्मेपन को महसूस कर लिया था। एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि बातचीत के सिलसिले में इक़बाल ने उनको बताया कि उन्होंने मुस्लिम लीग के अधिवेशन के सभापति होने के नाते पाकिस्तान की सलाह दी थी, लेकिन उन्हें इस बात का यक़ीन था कि पाकिस्तान कुल मिलाकर सारे हिंदुस्तान के ही लिए और खासतौर से मुसलमानों के लिए घातक होगा। शायद उनके विचार बदल गये थे, या शायद पहले उन्होंने इस मामले पर ज्यादा गौर ही नहीं किया था, क्योंकि उस वक़्त उसकी कोई अहमियत नहीं थी। पाकिस्तान या हिंदुस्तान के बटवारे की बाद में पैदा हुई शक्ल से जिंदगी के उनके नज़रिये का मेल ही नहीं बैठता।

अपने आखिरी बरसों में इकबाल समाजवाद की तरफ़ दिन-ब-दिन ज्यादा झुके। सोवियत रूस की जबरदस्त तरक्की ने उनको आकर्षित किया। यहांतक कि उनकी शायरी की दिशा भी बदली। अपनी मृत्यु से कुछ महीने पहले, जब वह रोग-शैया पर पड़े थे, उन्होंने मुझे बुलाया, और मैंने खुशी से उनके बुलावे की तामील की। ज्यों-ज्यों हम दोनों ने बहुत-सी चीजों पर बातचीत की, मैंने यह महसूस किया कि बहुत-से भेदों के बावजूद, हम दोनों में बहुत-सी बातें एक-सी थीं और हमारे लिए एक साथ काम करना आसान होता। वह पुरानी बातों को याद कर रहे थे और एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ जाते। मैं उनकी बात चुपचाप सुनता रहा और खुद बहुत कम बोला। मैंने उनको और उनकी शायरी की तारीफ़ की, और मुझे यह महसूस करके बहुत खुशी हुई कि वह मुझे पसंद करते थे और मेरे बारे में उनकी अच्छी राय थी। बिछुड़ने से पहले उन्होंने मुझसे कहा—"तुममें और जिन्ना में क्या बात एक-सी है? वह एक राजनीतिज्ञ है और तुम देशभक्त हो।" मेरी ऐसी आशा है कि अब फिर मेरे और मि० जिन्ना के अंदर बहुत-सी एक-सी बातें हैं। जहांतक मेरे देशभक्त होने का सवाल है, मुझे नहीं मालूम कि इन दोनों में, कम-से-कम इस शब्द के संकुचित मानी में, यह कोई एक विशेषता की बात है। हिंदुस्तान से मुझे बहुत लगाव है और मैंने बहुत अरसे से ऐसा महसूस किया है कि अपनी समस्याओं को समझने और सुलझाने के लिए राष्ट्र-प्रेम के अलावा और किसी चीज की भी जरूरत है। सारी दुनिया की समस्याओं को सुलझाने के लिए तो यह

और भी ज्यादा ज़रूरी है। लेकिन इस बात मे इकबाल सही थे कि मैं कोई राजनीतिज्ञ नही हू, अगरचे मैं राजनीति के शिकजे मे आ फसा हू और उसका शिकार बन गया हू।

१२ : भारी उद्योग-धंधो की शुरुआत : तिलक और गोखले : पृथक निर्वाचन-पद्धति

हिंदू-मुस्लिम समस्याओ की ओर पाकिस्तान और बटवारे की नई माग की पृष्ठभूमि को समझ पाने की ख्वाहिश से मैं करीब आधी सदी आगे बढ आया। इस अरसे मे बहुत-सी तब्दीलिया हुईं। ये तब्दीलिया सरकार के ऊपरी ढाचे मे उतनी नही हुईं, जितनी जनता के दिमाग़ मे। कुछ मामूली सवैधानिक सुधार ज़रूर हुए और अकसर इनका दिखावा होता है, लेकिन उनसे ब्रिटिश राज्य के हुकूमतपरस्ती के ढग मे कोई फर्क नही आया, न उन्होंने ग़रीबी और बेकारी के मसलो को ही छुआ। सन १९११ मे जमशेदजी टाटा ने लोहे और फौलाद का कारखाना उस जगह पर कायम करके, जो बाद मे जमशेदपुर कहलाया, हिंदुस्तान मे भारी उद्योग-धधो की नीव डाली। सरकार ने इस कारखाने को और दूसरे उद्योग-धधो को शुरू करने की कोशिशो को नापसदगी की निगाह से देखा और उनको किसी भी ढग से प्रोसाहन नहीं दिया। अमरीकी विशेषज्ञो की ही मदद से यह लोहे और फ़ौलाद का उद्योग शुरू हुआ। उसका बचपन बडी डावाडोल हालत मे बीता, किंतु बाद मे १९१४-१८ का महायुद्ध उसकी मदद को आ गया। बाद मे फिर यह मुरझाने लगा और ऐसा खतरा मालूम दिया कि यह अग्रेज साहूकारो के हाथ मे पहुच जायेगा, लेकिन क़ौमी दबाव ने इसको बचा लिया।

हिंदुस्तान मे कारखानो मे काम करनेवाले मजदूरो की जमात बढ रही थी। वह असगठित थी और बेबस थी और यह जमात उन किसानो मे से ही तैयार हुई थी, जिनका रहन-सहन का मापदड बेहद नीचा था और इस बात से उनकी मजदूरी की बढती मे या उनकी दशा-सुधार मे रुकावट हुई। जहातक बे-हुनर मज़दूरो का सवाल है, करोडो बेकार आदमी थे और उनमे से काम करनेवाले आदमियो को रखा जा सकता था और ऐसी हालत मे कोई हडताल कामयाब नही हो सकती थी। सबसे पहली ट्रेड यूनियन काग्रेस सन १९२० के आस-पास सगठित की गई। इस सर्वहारा-वर्ग की तादाद इतनी काफी नही थी कि उससे हिंदुस्तानी राजनैतिक मैदान मे कोई असर पडता। किसानो और जमीन के मजदूरो के मुकाबले में वे नही के बराबर थे। सन १९२० के बाद कारखानो के मज़दूरो की आवाज़ सुनाई पडने लगी, लेकिन यह बहुत कमज़ोर थी। अगर रूसी

क्राति ने लोगो को कारखानो के मजदूरो को अहमियत देने के लिए मजबूर न किया होता, तो शायद उसकी अवहेलना कर दी जाती। कुछ बडी और सुसगठित हडतालो की तरफ भी ध्यान गया।

किसान, अगरचे वे सभी जगह थे और उनकी समस्या हिंदुस्तान मे सबसे बडी थी, इससे भी ज्यादा खामोश थे और उनको राजनैतिक नेताओ और सरकार दोनो ने ही भुला दिया था। राजनैतिक आदोलन मे शुरू मे ऊपरी मध्यम वर्ग के आदर्शवादी रुझानो का और खासतौर से पेशेवर जमातो का और उन लोगो का, जो नई हुकूमती मशीन मे जगह पाना चाहते थे, जोर था। जब राष्ट्रीय काग्रेस, जिसको सन १८८८ में क़ायम किया गया था, बालिग हुई, तो एक नया नेतृत्व सामने आया, जो पिछले के मुकाबले मे ज्यादा जोरदार और निचले मध्यम वर्ग के लोगो, विद्यार्थियो और नौजवानो की ज्यादा बडी तादाद की नुमाइदगी करने-वाला था। बग-भग के खिलाफ जबरदस्त आदोलन मे इस तरह के कई काबिल और जोरदार नेता सामने आये, लेकिन नये युग के सच्चे प्रतीक महाराष्ट्र के बाल गगाधर तिलक थे। पुराने नेतृत्व का प्रतिनिधित्व भी एक महाराष्ट्रीय सज्जन करते थे। इनका नाम था गोपाल कृष्ण गोखले। उनकी उम्र तो ज्यादा नही थी, लेकिन वह थे बड़े योग्य। क्रातिकारी नारे हवा मे गूज रहे थे। मिजाज बिगडे हुए थे और सघर्ष लाज़िमी था। इस सघर्ष को बचाने की गरज से काग्रेस के बुजुंग, दादाभाई नौरोजी, जिनकी सब इज्जत करते थे और जिनको सारे देश का ही बुजुर्ग माना जाता था, और जो अपनी उम्र की वजह से इस काम से अलग हो गये थे, फिर सामने आय। लेकिन यह बचाव थोडे दिनो को ही हुआ और सन १९०७ मे सघर्ष हुआ और उसमे जाहिरा तौर पर पुराने उदार दल की जीत हुई। लेकिन इसकी जीत इस वजह से हुई कि सस्था के सगठन पर उसका नियत्रण था और काग्रेस मे मताधिकार बहुत सकरा था। इस बात मे कोई भी शक नही था कि हिंदुस्तान मे राजनैतिक दृष्टि से जगे हुए लोगो का ज्यादातर काफी हिस्सा तिलक और उनके समुदाय की तरफ था। काग्रेस की अहमियत घट गई और उसकी दिलचस्पी दूसरे मामलो मे हो गई। बगाल मे आतकवादी काम सामने आया। रूसी और आयरिश क्रातिकारियो का अनुकरण किया जा रहा था।

इन क्रातिकारी विचारों का मुसलमान नौजवानो पर भी असर हो रहा था। अलीगढ कालेज ने इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए और इसी वक्त सरकारी प्रेरणा से आग़ा खा ने और दूसरे लोगो ने मुसलमानो के लिए एक

राजनैतिक मच बनाने और इस तरह उनको काग्रेस से अलग रखने के लिए मुस्लिम लीग को शुरू किया। इससे भी ज्यादा अहमियत की बात यह थी कि मुसलमानो के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्रो का फ़ैसला किया गया। हिंदुस्तान के भविष्य पर यह एक असर डालनेवाली चीज़ थी। भविष्य मे मुसलमान सिर्फ जुदे मुसलमान निर्वाचन-क्षेत्रो से ही खडे हो सकते थे और चुने जा सकते थे। उनके चारो तरफ एक राजनैतिक दीवार खडी कर दी गई और उनको बाकी हिंदुस्तान से अलहदा कर दिया गया। इस तरह आपस मे घुल-मिलकर एक हो जाने की वह प्रक्रिया, जो सदियो से चल रही थी और जो वैज्ञानिक प्रगति से लाज़िमी तौर पर तेज़ हो रही थी, अब उलट दी गई। यह दीवार शुरू मे छोटी-सी थी, क्योकि निर्वाचन का क्षेत्र सकुचित था, लेकिन हर बार मताधिकार के बढने से वह दीवार बढती गई और उससे सार्वजनिक और सामाजिक जीवन के सारे ढाचे पर इस तरह असर पडा, मानो सारे ढाचे मे घुन लग गया हो। इससे म्युनिसिपल और स्थानिक स्वराजी सस्थाओ मे ज़हर फैला, जिससे आखिर मे बेहद गलत ढग के विभाजन करने पडे। काफी बाद मे पृथक मुस्लिम ट्रेड यूनियनें बनी, अलग विद्यार्थी-सगठन बने और अलग व्यापार चैंबर कायम हुए। चूकि मसलमान इन सारे कामो मे पिछडे हुए थे, इसलिए ये सस्थाए खुद-ब-खुद पैदा नही हुईं, बल्कि इनको ऊपर से कृत्रिम रूप से बनाया गया और उनका नेतृत्व पुराने ढग से अर्ध-सामती लोगो के हाथो मे रहा। इस तरह कुछ हद तक मुस्लिम मध्यम वर्ग, यहातक कि आम मुस्लिम लोग भी, तरक्की की उन धाराओ से अलग हो गये, जो बाकी हिंदुस्तान पर असर डाल रही थी। हिंदुस्तान मे ऐसे बहुत-से निहित स्वार्थ थे, जिनको ब्रिटिश सरकार ने पैदा किया था, या जिनकी उसने हिफाज़त की थी। अब पृथक-निर्वाचन क्षेत्रो का एक नया और ज़बरदस्त निहित स्वार्थ पैदा किया गया।

यह कोई ऐसी अस्थायी खराबी नही थी, जो बढती हुई राजनैतिक चेतना के साथ खत्म हो जाती। सरकारी नीति से पोषण पाकर वह बढी और चारो तरफ फैली, यहातक कि इसने देश की सारी असली समस्याओ को, चाहे वे राजनैतिक हो या सामाजिक या आर्थिक, ढक लिया। इससे बटवारे पैदा हुए और भय पैदा हुए, और वे भी ऐसी जगहो मे, जहाँ पहले उनका नाम भी नही था। इससे असलियत मे सरक्षित समुदाय ही कमज़ोर हो गया, क्योकि उसमे कृत्रिम सहारे पर खडा होने की प्रवृत्ति बढी, और वहा आत्मनिर्भरता की बात सोची ही नही गई।

ऐसे समुदायो और अल्पसख्यको से, जो शिक्षा की दृष्टि से और

आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे, व्यवहार की स्पष्ट नीति यह थी कि उनको अपनी कमी पूरी करने की हर ढग से मदद की जाती। खासतौर से इस काम मे एक प्रगतिशील शिक्षण-नीति से मदद मिलती। मुसलमानो के लिए और दूसरे अल्पसख्यको के लिए, या दलित वर्ग के लिए, जिसको इसकी सबसे ज्यादा जरूरत थी, ऐसी कोई भी चीज नही की गई। सारी दलील नौकरियो मे छोटी-छोटी जगहो के लिए थी और वजाय मापदड ऊचा उठाने के, अकसर योग्यता का बलिदान किया जाता।

इस तरह पृथक निर्वाचन से वे समुदाय, जो कमजोर थे, या पिछड़े हुए थे, और ज्यादा कमजोर हो गये। उससे अलहदगी की भावना को बढ़ावा मिला और राष्ट्रीय एके की तरक्की मे रुकावट पडी। पृथक निर्वाचन के मानी थे लोकतत्र से इन्कार। उसने अत्यत प्रतिक्रियावादी ढग के नये निहित स्वार्थ पैदा किये, उससे मापदड नीचे हो गये, और उसने सारे ही देश के सामने जो असली आर्थिक समस्याए थी, उनसे ध्यान हटा दिया। ये पृथक-निर्वाचन-क्षेत्र मुसलमानो से शुरू हुए और बाद मे ये दूसरे अल्प-सख्यको और दूसरे समुदायो मे भी फैल गये। यहातक कि हिंदुस्तान इन अलग-अलग तत्वो का एक जमघट बन गया। शायद उन्होने कुछ वक्त के लिए थोडा-सा फायदा किया भी हो, वैसे मुझे खुद तो ऐसा कोई फ़ायदा नजर नही आता। लेकिन हिंदुस्तानी जिंदगी के हर महकमे को उन्होंने निस्सदेह एक जबरदस्त चोट पहुचाई है। उनसे हर ढग की अलहदगी की प्रवृत्तिया पैदा हुई हैं और आखिर मे हिंदुस्तान के बटवारे की ही माग की गई है।

ये पृथक निर्वाचन-क्षेत्र शुरू करने के वक्त लॉर्ड मार्ले भारत-सचिव थे। इन्होंने पहले तो इसका विरोध किया, लेकिन आगे चलकर वाइसराय के दबाव की वजह से वह इसके लिए रजामद हो गये। इस ढग के अदर जो जन्मजात खतरे हैं, उनका उन्होने अपनी डायरी मे जिक्र किया है और यह बताया है कि उनसे प्रतिनिधि सस्थाओ की तरक्की मे लाजिमी तौर से देर होगी। शायद इसी चीज को वाइसराय और उनके साथी चाहते थे। हिंदुस्तानी सवैधानिक सुधारो पर माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट मे साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रो के खतरों पर फिर जोर दिया गया है। "सम्प्रदायो और वर्गों के आधार पर बटवारे के मानी ऐसे राजनैतिक दल तैयार करना है, जो एक-दूसरे के खिलाफ सगठित है। उससे लोग चीजों को नागरिक का दृष्टि से नही, बल्कि बटवारे की दृष्टि से देखते हैं। • इसीलिए हमारी निगाह मे साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्र का एक ढाचा स्वशासन के सिद्धान्त की तरक्की के लिए एक बहुत जबरदस्त रुकावट है।"

: ८

आखिरी पहलू—२

राष्ट्रीयता बनाम साम्राज्यवाद

१ : मध्यम वर्ग की बेबसी : गांधीजी का आगमन

पहला महायुद्ध शुरू हुआ। राजनीति उतार पर थी। इसकी खास वजह यह थी कि कांग्रेस दो हिस्सों—गरम दल और नरम दल—मे बंटी हुई थी। साथ ही इसकी वजह युद्ध के ज़माने की रुकावटें और पाबंदियां भी थी। फिर भी एक प्रवृत्ति खासतौर से नजर आ रही थी। मुसलमानो मे बढते हुए मध्यम वर्ग की विचारधारा अधिकाधिक राष्ट्रवादी होती जा रही थी और यह मध्यम वर्ग मुस्लिम लीग को कांग्रेस की तरफ धकेल रहा था, यहातक कि उन दोनो ने हाथ भी मिला लिये।

लडाई के दौरान मे उद्योग-धंधे बढे और उनमे बहुत ज्यादा मुनाफा हुआ। बंगाल की जूट की मिलो मे १०० फी-सदी से लेकर २०० फी-सदी तक सालाना मुनाफा हुआ। इस मुनाफे का कुछ हिस्सा तो लंदन और डंडी मे विदेशी पूंजी के मालिको के पास चला गया और कुछ हिस्से से हिंदुस्तानी करोड़पति और भी मालदार हुए। फिर भी उन मजदूरो की, जिनकी बदौलत यह मुनाफा हुआ था, रहन-सहन की हैसियत इतनी गिरी हुई थी कि उस पर यकीन नहीं हो सकता। उनके रहने की कोठरियां बेहद गंदी और बीमारी पैदा करनेवाली थी। उनमे न तो कोई खिडकी होती और न कोई धुआ निकलने का रास्ता ही होता। वहा न कोई रोशनी का इंतजाम था, न पानी का और न वहा पर सफाई का ही कोई इंतजाम था। और यह सब उस कलकत्ते के नजदीक ही था, जिसको महलो का शहर कहा जाता था और जिस पर विदेशी पूंजी का आधिपत्य था। बंबई में हिंदुस्तानी पूंजी ज्यादा नजर आती थी। एक जाच कमीशन के मुताबिक वहा १५ फुट लंबे और १२ फुट चौडे एक कमरे मे ६ कुटुंब, यानी कुल मिलाकर ३० बड़े और छोटे प्राणी एक साथ गुजर करते थे। इनमें से तीन औरतो का प्रसव-काल नजदीक था और उस अकेले कमरे मे हर कुटुंब का अलग-अलग चूल्हा था। यह एक विशेष उदाहरण है, किंतु यह कोई बहुत असाधारण अपवाद नहीं है। उन्नीस सौ बीस और तीस के बीच के, जबकि कुछ सुधार भी हो चुके थे, इन उदाहरणो से

उस वक्त की हालत का पता लगता है। इन सुधारो के पहले क्या हालत रही होगी, यह सोचकर कल्पना भी ठिठककर रह जाती है।[1]

कारखानो के मजदूरो की ये अंधेरी कोठरिया मैंने देखी हैं। मुझे याद है कि मैं वहा सास लेने के लिए छटपटाने लगा था और जब बाहर आया, तो नाराजी और नफरत से भरा हुआ था। मुझे यह भी याद है कि एक बार मैं झरिया की कोयले की खान मे अदर घुसा था और मैंने वहा मजदूर औरतो की हालत देखी थी। इस तस्वीर को मैं कभी भी भुला नही सकता और न उस चोट को ही भुला सकता हू, जो इन्सानो को इस तरह काम करते देखकर मुझे लगी। बाद मे औरतो के जमीन के अदर काम करने पर रोक लगा दी गई। लेकिन अब फिर वह रोक हट गई है, चूकि कहा यह जाता है कि लड़ाई की ज़रूरतो की वजह से और ज्यादा मजदूरो की ज़रूरत हो गई है। इतने पर भी दसियो लाख आदमी भूखे रहते हैं और बेकार हैं। आदमियो की कोई कमी नही है। लेकिन मजदूरी इतनी कम है और काम करने की शर्तें इतनी बुरी है कि काम की तरफ कोई खिचाव नही होता।

सन १९२८ मे ब्रिटिश ट्रेड यूनियन काग्रेस का भेजा हुआ एक शिष्ट-मडल हिंदुस्तान आया। अपनी रिपोर्ट मे उसने कहा कि "असम की चाय मे साल-ब-साल दस लाख हिंदुस्तानियो का पसीना, भूख और मायूसी शामिल होती हैं।" सन १९२७-२८ की रिपोर्ट मे बगाल के तदुरुस्ती के महकमे के डायरेक्टर ने कहा कि उस सूबे का किसान वर्ग "एक ऐसी खुराक पर गुजर कर रहा है, जिस पर चूहे भी पाच हफ्ते से ज्यादा ज़िदा नही रह सकते।"

आखिर पहला महायुद्ध खत्म हुआ और शाति के साथ चैन और तरक्की आने के बजाय दमनकारी कानून और पजाब मे फौजी कानून आये। हमारी जनता मे बेइज्जती की तीखी भावना और बेहद नाराजी भरी हुई थी। उस वक्त, जबकि देश की मर्दानगी को कुचला जा रहा था और लगातार शोषण की निर्दय प्रक्रिया से हमारी गरीबी बढ रही थी और हमारी शक्ति जाया हो रही थी, सुधारो और नौकरियो के भारतीयकरण की लबी-चौडी बातचीत करना हमारी हँसी उडाना और अपमान करना था। हम लोग एक बेबस कौम बन गये थे।

---

[1] यह उद्धरण और बयान बी० शिवराव की 'दि इडस्ट्रियल वर्कर इन इंडिया' (एलेन एड अनविन, लदन, १९३९) से लिया गया है। इसमे हिंदुस्तान के मजदूरों के मसलों और उनके रहने की हालतों पर गौर किया गया है।

लेकिन हम कर क्या सकते थे और इस कुटिल तरीके को कैसे रोकते ? ऐसा मालूम पडता था कि किसी सर्वशक्तिमान राक्षस के चगुल मे हम बेबस हैं, हमारे जिस्म के हिस्सो को लकवा मार गया है और हमारे दिमाग़ मुर्दा हो गये हैं। किसान-वर्ग दब्बू था और उसमे डर समाया हुआ था, कारखाने के मजदूरो की हालत भी कोई बेहतर न थी। मध्य-वर्ग के और पढे-लिखे लोग, जो इस अधेरे वातावरण में रोशनी दिखा सकते थे, खुद ही इस अधेरे मे डूबे हुए थे। कुछ हद तक तो उनकी हालत किसानो से भी ज्यादा दयनीय थी। असगठित दिमागी लोगो की एक बडी तादाद किसी किस्म का हाथ का काम या वैज्ञानिक हुनर नही जानती थी और वह खेती से अनभिज्ञ थी। उन लोगो ने भी मायूस, बेबस और बेकार लोगो की जमात की गिनती को बढाया और वे लोग दलदल मे दिन-ब-दिन ज्यादा नीचे घुसते गये। कुछ मुट्ठी-भर कामयाब वकीलो, डाक्टरो, इजीनियरो या क्लर्कों से आम जनता मे क्या फर्क आ सकता था ? किसान भूखे रहते थे, लेकिन अपने वातावरण के खिलाफ सदियो से एक बेजोड सघर्ष करते-करते उनको बरदाश्त करना आ गया था, यहातक कि गरीब और भूखे होने पर भी उनमे एक खास ढग की खामोशी की शान थी और सर्वशक्तिमान भाग्य के आगे सिर झुकाने की भावना थी। यह बात मध्यम वर्ग मे और खासतौर से नये छोटे बूर्जुआ वर्ग मे नही थी, क्योकि उनकी पृष्ठभूमि उनकी जैसी नही थी। वे लोग पूरी तरह पनप भी नही पाये थे कि पानी फिर गया। उनकी समझ मे ही नही आता था कि किधर नजर डालें, क्योकि उनको पुराने या नये, किसी मे भी उम्मीद दिखाई नही दे रही थी। हालाकि तकलीफ थी, लेकिन उनका सामाजिक उद्देश्य से कोई मेल नही था, कोई सार्थक काम करने का सतोष भी उन्हें हासिल न था। रिवाजो के भार से दबे होने के नाते वे जन्म से पुराने तो थे, किंतु उनमे पुरानी सस्कृति का अभाव था। आधुनिक विचार उन्हें आकर्षित करता था, लेकिन उनमे उसके अदरूनी तत्व, आधुनिक सामाजिक और वैज्ञानिक चेतना की कमी थी। कुछ लोगो ने तो गुजरे जमाने के मुर्दा ढाचे को मजबूती से पकडे रहने की कोशिश की और उससे मौजूदा तकलीफ से राहत पाने की उम्मीद की। किंतु वहा चैन कैसे मिल सकता था, क्योकि जैसा श्री रवीद्रनाथ ठाकुर ने कहा है, हमको अपने भीतर मुर्दा चीजो को नही पालना चाहिए, क्योकि मुर्दा तो मुर्दापन लानेवाला है। दूसरे लोगो ने पच्छिम की असफल और फीकी नकल की। इस तरह मन और शरीर की सुरक्षा के लिए पागलो की तरह कही पैर रखने की जगह तलाश करते रहे, पर उसे पा न सकने के कारण वे लोग हिंदुस्तानी जिंदगी के अधेरे

सागर मे बे-सहारा लोगो की तरह बिना मकसद के तैरते रहे।

हम क्या कर सकते थे? गरीबी और पस्तहिम्मती की इस दलदल से, जो हिंदुस्तान को अपने अदर खीचे जाती थी, हम उसे किस तरह बाहर ला सकते थे? उत्तेजना, तकलीफ और उलझन के कुछ बरसो से ही नही, बल्कि लबी पीढियो से हमारी जनता ने अपने खून और मेहनत, आसू और पसीने की भेट दी थी। हिंदुस्तान के शरीर और आत्मा मे यह प्रक्रिया बहुत गहरी घुस गई थी और उसने हमारे सामाजिक जीवन के हर एक पहलू मे जहर डाल दिया था। यह सब उस बीमारी की तरह था, जो नसो, नाडियो और फेफडों का क्षय करती है और जिसमे मौत धीरे-धीरे (लेकिन यकीनी तौर पर) होती है। कभी-कभी हम यह सोचते थे कि कोई जाहिरा और ज्यादा तेज तरीका, मसलन हैजा या प्लेग बेहतर होता। लेकिन वह एक आया-गया खयाल था। वजह यह है कि सिर्फ साहसिकता से हम कही नही पहुच सकते और गहरी पैठी हुई बीमारियो के ऊपरी इलाज से कोई नतीजा नही होता।

और तब गाधीजी का आना हुआ। गाधीजी ताजी हवा के उस प्रबल प्रवाह की तरह थे, जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी सास लेना सभव बनाया। वह रोशनी की उस किरण की तरह थे, जो अधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आखो के सामने से परदे को हटा दिया। वह उस बवडर की तरह से थे, जिसने बहुत-सी चीजो को, खासतौर से मजदूरो के दिमाग को उलट-पुलट दिया। गाधीजी ऊपर से आये हुए नही थे, बल्कि हिंदुस्तान के करोडो आदमियो की आबादी मे से ही उपजे थे। उनकी भाषा वही थी, जो आम लोगो की थी और वह बराबर उस जनता की ओर और उसकी डरावनी हालत की ओर ध्यान आकर्षित करते थे। उन्होंने कहा कि तुम लोग, जो किसानो और मजदूरो के शोषण पर गुजर करते हो, उनके ऊपर से हट जाओ, उस व्यवस्था को, जो गरीबी और तकलीफ की जड है, दूर करो। तब राजनैतिक आजादी की एक नई शक्ल सामने आई और उसमे एक नया अर्थ पैदा हुआ। उनकी ज्यादातर बातो को हमने आशिक रूप मे माना और कभी-कभी तो बिलकुल ही नही माना। लेकिन यह सब एक गौण बात थी। उनकी सीख का सार था निर्भयता और सत्य, और इन दोनो के साथ सक्रियता मिली हुई थी और उसमे हमेशा आम लोगों की बेहतरी का खयाल था। हमारी प्राचीन पुस्तको मे यह कहा गया था कि किसी आदमी या किसी राष्ट्र के लिए सबसे बडा उपहार है अभय—निर्भयता; सिर्फ शारीरिक हिम्मत ही नही, बल्कि दिमाग से डर का हट जाना। हमारे इतिहास के ही प्रभात मे जनक और याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जनता के

नेताओ का काम उसको (जनता को) निर्भय बनाना है। लेकिन ब्रिटिश राज्य के अदर हिंदुस्तान मे जो सबसे अहम लहर थी, उसमे डर—कुचलनेवाला, दम घोटनेवाला, मिटा देनेवाला—डर था—फौज का, पुलिस का, चारो तरफ फैले हुए खुफिया विभाग का डर था, अफसरो की जमात का डर था, कुचलनेवाले कानूनो और जेल का डर था, जमीदार के कारिंदे का डर था, साहूकार का डर था, बेकारी और भूखे मरने का डर था, जो हमेशा ही नजदीक बने रहते थे। चारो तरफ समाये हुए इस डर के ही खिलाफ गाधी की शात, किंतु दृढ आवाज उठी—"डरो मत!" क्या यह ऐसी आसान बात थी? नही। फिर भी डर के अपने कल्पना-चित्र होते हैं और वे असलियत से भी ज्यादा डरावने रहते हैं और अगर ठडे दिमाग से असलियत का विश्लेषण किया जाय और उसके नतीजो को खुशी से भुगतने को तैयार रहा जाय, तो उसका बहुत-सा आतक अपने-आप खत्म हो जाता है।

इस तरह मानो अचानक ही लोगो के ऊपर से डर का काला लबादा हटा दिया गया, यह नही कि वह पूरी तरह हटा दिया गया, लेकिन फिर भी एक बहुत बडी, एक हैरत-अगेज हद तक, तो हटा ही दिया गया। चूकि डर झूठ का करीबी दोस्त है, इसलिए निडरता के साथ सच आता ही है। हिंदुस्तान की जनता जैसी भी थी, उससे कोई बहुत ज्यादा सच बोलनेवाली नही बन गई, और न उस जनता ने रातो-रात अपने बुनियादी स्वभाव को ही बदल लिया। फिर भी एक बडी तब्दीली दिखाई पडी, क्योकि झूठ और लुक-छिपकर काम करने की जरूरत कम हो गई। यह तब्दीली मानोवैज्ञानिक थी—ठीक इस ढग से, मानो कोई मनोविश्लेषक प्रक्रिया का विशेषज्ञ रोगी के भूतकाल मे गहरा घुस गया हो और उसने उस रोगी की मानसिक विकृति के कारण को जानकर उसे रोगी के सामने खोल दिया हो और इस तरह उसको उसके बोझ से छुटकारा दिला दिया हो।

साथ ही वह मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया भी थी, जिसमे उस विदेशी राज्य के सामने लबे अरसे से सिर झुकाये रखनेपर शर्म महसूस हुई, जिसने हमे गिरा दिया था और जिसने हमारी बेइज्जती की थी। इसमे यह इरादा भी मिला हुआ था कि चाहे नतीजा कुछ भी हो, अब आगे सिर न झुकाया जाय।

जैसे हम पहले थे, उसके मुकाबले हम कोई बहुत ज्यादा सच्चे नही बन गये, लेकिन अटल सत्य के प्रतीक गाधीजी बराबर हमारे सामने थे, जो हमको ऊपर खीचते थे और जो सत्य पर डट रहने का हमे वास्ता दिलाते

थे। सत्य क्या है? पक्के तौर पर मैं यह नही जानता और शायद हमारे सत्य सापेक्षिक हैं और पूरे-के-पूरे हमारी पहुच के परे हैं। अलग-अलग आदमी सत्य को अलग-अलग तरह से लेते है और हर आदमी पर अपनी-अपनी पृष्ठभूमि, शिक्षा और प्रवृत्तियो का बडा असर होता है। वही बात गाधीजी के साथ लागू है। लेकिन आदमी के लिए कम-से-कम वह तो सत्य है ही, जो वह खुद महसूस करता है और जो वह खुद समझता है। इस परिभाषा के अनुसार गाधीजी की तरह सत्य की धारणा रखनेवाले किसी भी शख्स को मैं नही जानता। राजनीतिज्ञ के लिए यह गुण बहुत खतरनाक है, क्योकि इस तरह तो वह अपने दिमाग को खोलकर सामने रख देता है और जनता को भी उस दिमाग के बदलते हुए पहलुओ को देखने देता है।

हिंदुस्तान में अलग-अलग हद तक गाधीजी ने करोडो आदमियो पर असर डाला, कुछ लोगो ने तो अपनी ज़िदगी का ताना-बाना पूरी तरह बदल दिया, दूसरे लोगो पर थोडा-सा असर हुआ और वह असर पूरी तरह तो नही, लेकिन फिर भी मिट गया। वजह यह थी कि उसका कुछ हिस्सा पूरी तरह अलहदा भी नही किया जा सकता था। अलग-अलग लोगो मे अलग-अलग प्रतिक्रियाए हुई और हर एक आदमी इस सवाल का अपना अलग जवाब देगा। कुछ लोग तो शायद करीब-करीब एल्किबियेडीज़ के शब्दो मे कहे—"इसके अलावा जब हम किसीको बात करते देखते हैं, तो चाहे वह कितना ही ओजस्वी वक्ता क्यो न हो, हम उसकी बात की रत्ती-भर भी परवाह नही करते। लेकिन जब हम तुमको सुनते हैं या किसीको तुम्हारी बात दोहराते हुए सुनते हैं, तो चाहे उसके कहने का ढग कितना ही भद्दा क्यों न हो और चाहे सुननेवाला मर्द, औरत या बच्चा हो, हम भौंचक्के रह जाते हैं और ऐसा मालूम होता है कि हम पर जादू कर दिया गया हो। और सज्जनो, जहांतक मेरा अपना सवाल है, अगर मुझे यह डर न हो कि आप यह कहेंगे कि मैं बिलकुल पागल हो गया हू, तो मैं कसम खाकर कह सकता हू कि उसके लफ्ज़ो ने मेरे ऊपर कैसा असाधारण असर डाला—और अगर फिर वे दोहराये जाय, तो आज भी उनका वही असर होगा। ठीक उस वक्त, जब मैं उसे बोलते हुए सुनता हू, तो मैं एक ढग के पवित्र आवेश से उत्तेजित हो उठता हू, जो कोरोबेंट की उत्तेजना से भी बदतर है और मेरा दिल फौरन ज़बान पर आ जाता है और मेरी आखो मे आसू आ जाते हैं—आह! यह सिर्फ़ मेरे साथ ही नही होता, बल्कि यही हाल और बहुत-से लोगो का भी होता है।

"हा, मैंने पेरिक्लीज़ और दूसरे बडे ओजस्वी वक्ताओ को भी सुना

है, और मेरा खयाल था कि वे सब बहुत ओजस्वी हैं, लेकिन उनमे से किसी-का भी मेरे ऊपर असर नही हुआ, मेरी समूची आत्मा को वे कभी उलट नही पाये और न उनके असर से मैंने ऐसा ही महसूस किया कि मैं हीनतम से भी हीन हू, लेकिन इधर इस पिछले दिन से मेरे दिमाग की हालत ऐसी हो गई है कि मैं महसूस करता हू कि मैं अबतक जिस ढग से रहता आया हू, अब आगे उसी तरह मैं नही रह सकता।

"और एक चीज़ मैंने किसी और के साथ महसूस नही की—एक ऐसी चीज़, जिसकी तुम मुझमे उम्मीद ही नही कर सकते हो और वह है एक तरह की शर्मिदगी। दुनिया मे सिर्फ सुकरात ही ऐसा आदमी है, जो मुझे शर्मिदा महसूस करा सकता है। क्योकि उससे बचने की कोई तरकीब नही है, इसलिए मैं जानता हू कि मुझे काम को उसी तरह करना चाहिए, जैसे वह करने को कहता है। फिर भी ज्यो ही मैं उसकी नज़र से हट जाता हू, तो मैं इस बात की परवाह नही करता कि मैं भेड-चाल चलने के लिए क्या करता हू। इसलिए मैं फरार की तरह भाग जाता हू और जबतक मुमकिन हो सकता है, उसकी पकड के बाहर रहता हू। और जब मैं फिर दूसरी बार मिलता हू, तो मुझे वे सब बातें याद आ जाती हैं, जो मुझे पहली बार मजूर करनी पडती थी, और तब कुदरतन मैं अपने को शर्मिदा महसूस करता हू ।

"यही कि मैं साप से भी ज्यादा ज़हरीली चीज का काटा हुआ हू, दरअसल इससे ज्यादा पीडा पहुचानेवाली कोई चीज हो ही नही सकती। मैं दिल मे या दिमाग मे या उसे तुम चाहे जो कुछ कहो, उसमे डस लिया गया हू ।"[1]

२ : गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस गतिशील सस्था बन जाती है

काग्रेस मे गाधीजी पहली बार दाखिल हुए और फौरन ही उस सस्था के सविधान मे पूरी तरह तब्दीली आई। उन्होंने काग्रेस को एक लोकतन्त्री और लोक सगठन बना दिया। वैसे तो पहले भी वह लोकतत्री थी, लेकिन पहले उसके मतदाताओ का क्षेत्र सकुचित था और वह केवल बडे लोगो तक ही सीमित थी। अब उसमे किसान भी आये और अपनी नई शक्ल में अब वह किसानो की एक बहुत बडी सस्था मालूम पडने लगी और उसमे मध्यम वर्ग के लोगो का, हालाकि उनकी तादाद थोडी थी, काफी ज़ोर था। कांग्रेस का यह खेतिहर-प्रधान स्वरूप बढनेवाला था। औद्योगिक मज़दूर

---

[1] 'दि फाइव डाइलॉग्स ऑव प्लैटो' (एवरीमैन्स लाइब्रेरी)

भी उसमे आये, लेकिन सिर्फ अपनी व्यक्तिगत हैसियत मे, न कि अपने पृथक और सगठित रूप मे।

इस सस्था का मकसद और उसकी बुनियाद थी सक्रियता। ऐसी सक्रियता, जिसकी बुनियाद शातिपूर्ण ढग पर थी, अबतक जो रवैया था, वह था सिर्फ बात करना और प्रस्ताव पास करना, या आतकवादी काम करना। इन दोनो को ही अलग हटा दिया और आतकवाद की तो खासतौर मे निंदा की गई, क्योंकि वह तो काग्रेस की बुनियादी नीति के खिलाफ था। काम करने का एक नया तरीका निकाला गया, जो वैसे तो बिलकुल शातिपूर्ण था, लेकिन साथ ही उसमे जिस चीज को गलत समझा जाता था, उसके सामने सिर झुकाना मजूर नही किया गया था। उसका नतीजा यह हुआ कि तरीक़े मे जो तकलीफ और मुसीबतें थी, उनको बरदाश्त करने की रज़ामदी थी। गाधीजी एक अजीब किस्म के शात आदमी थे, क्योंकि वह तो सक्रिय थे और उनमे गतिशील शक्ति भरी हुई थी। किस्मत या जो-कुछ वह बुरा समझते थे, उसके सामने सिर झुकाने की भावना उनमे नही थी। उनमें मुकाबला करने की ताकत भरी हुई थी। हा, उनका ढग शातिपूर्ण और मीठा था।

सक्रियता की पुकार दोहरी थी। जाहिर है, विदेशी राज्य को चुनौती देने और उसका मुकाबला करने की सक्रियता तो थी ही, साथ ही अपनी निजी सामाजिक कुरीतियो का मुकाबला करने की सक्रियता भी थी। काग्रेस के बुनियादी मकसद—हिंदुस्तान की आजादी—के अलावा और शातिपूर्ण सक्रियता के साथ, काग्रेस के खास आधार थे क़ौमी एकता, जिसमे अल्पसख्यकों के मसलो को हल करना शामिल था और दलित जातियो को ऊपर उठाकर छूत-छात के अभिशाप को खत्म करना।

ब्रिटिश राज्य की असली बुनियाद डर, रोब और उस सहयोग पर थी, जो वे लोग मन या बेमन से देते थे, जिनके निहित स्वार्थ ब्रिटिश राज्य मे केंद्रित थे। गाधीजी ने इन बुनियादो पर चोट की। उन्होंने कहा कि खिताबो को छोडो, और अगरचे बहुत ज्यादा लोगो ने खिताब नही छोड, फिर भी अग्रेजो द्वारा दिये हुए खिताबो की आम इज़्ज़त गायब हो गई और ये गिरावट के प्रतीक बन गये। नया मापदड बना और नया मूल्याकन हुआ और वाइसराय के दरबार और रजवाडो की शान और सजावटें, जो इतना असर डाला करती थी, अब जनता की हद दर्जे की गरीबी और तकलीफ़ के वातावरण मे बेहद भद्दी, नामुनासिब, यहातक कि लज्जाजनक मालूम पडने लगी। अमीर आदमी अपनी दौलत का शानदार दिखावा करने के लिए

उत्सुक नही थे। कम-से-कम ऊपरी तौर पर उनमे से बहुत-से लोगो ने अपना रहन-सहन सादा बनाया और सिर्फ उनकी पोशाक से उनमे और मुकाबले मे मामूली आदमियो मे कोई फर्क नही मालूम पड सकता था।

काग्रेस के पुराने नेता, जो एक अलग और ज्यादा निष्क्रिय परपरा मे पले हुए थे, इस नई रद्दो-बदल को आसानी से अपना नही सके और आम जनता के उभार से उन्हे परेशानी हुई। फिर भी विचारो और भावनाओ की जो लहर देश मे बही, वह इतनी जबरदस्त थी कि वे लोग भी कुछ हद तक उसके नशे से भर गये। बहुत थोडे-से लोग बाहर निकल गये और उनमे एक श्री एम० ए० जिन्ना भी थे। उन्होने काग्रेस को हिंदू-मुस्लिम सवाल पर किसी राय के फर्क की वजह से नही छोडा, बल्कि काग्रेस को इस वजह से छोडा कि वह उसकी नई और अधिक उन्नत विचारधारा से मेल नही बिठा सके। इससे भी ज्यादा बडी वजह यह थी कि उनको हिंदुस्तानी मे बोलने-वाले, सादगी से रहनेवाले लोगो से, जिनकी काग्रेस मे भीड बढ रही थी, नफरत थी। राजनीति के सबध मे उनका खयाल उस ऊचे ढग का था, जो विधान सभाओ के कमरो या कमेटी के कमरो के अनुरूप ही होता है। कुछ बरसो तक तो वह मैदान से बिलकुल अलग मालूम दिये, यहातक कि उन्होने हमेशा के लिए हिंदुस्तान छोडने का इरादा कर लिया। वह इग्लैड मे बस गये और वहा उन्होने कई बरस बिताये।

यह कहा जाता है और मेरे खयाल से यह सच भी है कि हिंदुस्तानी स्वभाव खासतौर से खामोशी का है। शायद पुरानी जातियो का जिंदगी की तरफ यही रुख बन जाता है, फिलसफे का लबी परपरा भी शायद उसी तरफ ले जाती है। फिर भी गाधीजी, जो बिलकुल हिंदुस्तानी साचे मे ढले हुए है, इस खामोशी से बिलकुल उलटे है। शक्ति और सक्रियता के तो वह महारथी रहे हैं और वह एक ऐसे शख्स हैं, जो अपने-आपको ही आगे नही बढाते, बल्कि दूसरो को भी आगे बढाते है। जहातक मैं जानता हू, हिंदुस्तानी जनता की निष्क्रियता से लडने और उसे दूर करने की जितनी कोशिश उन्होने की है, उतनी और किसीने नही की।

उन्होने हमको गावो मे भेजा और सक्रियता के नये सदेश को ले जाने-वाले अनगिनत दूतो के काम-काज से देहात मे चहल-पहल मच गई। किसान को झकझोरा गया और वह अपनी निष्क्रियता की खोल से बाहर निकलने लगा। हम लोगो पर असर दूसरा था, लेकिन कम गहरा नही था, क्योकि असलियत यह है कि हमने पहली बार ग्रामीण को कच्ची झोपडी और भूख की उग्र छाया से, जो उसका हमेशा पीछा करती रहती थी, चिपटे हुए देखा।

हमने किताबो और विद्वत्तापूर्ण भाषणो के मुकाबले अपना हिंदुस्तानी अर्थशास्त्र इन आखों-देखी हालतो से ज्यादा जाना। वह भावनात्मक अनुभव, जो हमको पहले हो चुका था, वह अब पक्का हुआ और उसके सबूत सामने आये। इसलिए आगे चलकर हमारे विचारो मे और चाहे जो रद्दो-बदल होती, अब अपनी जिंदगी के पुराने ढर्रे और पुराने मापदंड को वापस नही लौटा जा सकता था।

आर्थिक, सामाजिक और दूसरे मामलो मे गाधीजी के विचार बहुत सख्त थे। उन्होंने इन सबको काग्रेस पर लादने की कोशिश नही की। हा, उन्होंने अपनी विचारधारा का बराबर पोषण किया और इस प्रक्रिया में कभी-कभी अपने लेखो के द्वारा उसमे रद्दो-बदल भी की, लेकिन कुछ विचारो को उन्होंने काग्रेस मे पैठाने की कोशिश की। वह बडी सावधानी से आगे बढे, क्योंकि वह जनता को अपने साथ ले चलना चाहते थे। कभी वह काग्रेस के लिहाज से बहुत आगे बढ जाते और उनको पीछे आना होता। उनके विचारो को अक्षरश तो बहुत लोगो ने नही माना और कुछ लोगो का तो उसके बुनियादी दृष्टिकोण से ही मतभेद था। लेकिन उस वक्त की मौजूदा परिस्थितियो के अनुकूल होने की वजह से वह जिस बदली हुई शक्ल मे काग्रेस मे आये, उस तरह बहुत लोगो ने उनको मजूर कर लिया। दो तरह से उनके विचारो की पृष्ठभूमि का धुधला, लेकिन बहुत काफी असर हुआ। एक तो यह कि हर चीज की बुनियादी कसौटी यह थी कि वह आम जनता को किस हद तक फायदा पहुचाती है, और दूसरी यह कि चाहे उद्देश्य सही ही क्यो न हो, लेकिन साधनो का हमेशा खयाल होना चाहिए और उनकी अवहेलना नही की जा सकती, क्योंकि साधन का असर उद्देश्य पर पडता है और ये उद्देश्य मे तब्दीली पैदा कर सकते हैं।

गाधीजी, खासतौर से, एक धार्मिक आदमी थे, जो अपने अस्तित्व के अतरतम से भी हिंदू थे, फिर भी धर्म के उनके दृष्टिकोण का किसी परपरा, किसी कर्म-काड या किसी प्रचलित धारणा से कोई भी सबध नही था।[1]

---

[1] १ जनवरी, १९२८ मे फेडरेशन आव इटर नेशनल फेलोशिप मे गाधीजी ने बताया कि "लबे अध्ययन और तजुरबे के बाद मैं इन नतीजो पर पहुचा हू कि (१) सब धर्म सच्चे हैं (२) सब धर्मों मे थोडी-बहुत गलतिया भी हैं (३) सभी धर्म मुझको इतने प्यारे हैं, जितना खुद मेरा हिंदू-धर्म। दूसरे धर्मों के लिए भी मेरी उतनी ही श्रद्धा है, जितनी खुद अपने धर्म के लिए है। इसलिए धर्म-परिवर्तन का खयाल नामुमकिन है दूसरों के लिए हमारी प्रार्थना यह कभी नहीं होनी चाहिए—'प्रभो! दूसरों को भी

बुनियादी तौर पर उनका ताल्लुक तो उस नैतिक कानून से था, जिसको उन्होंने प्रेम या सत्य के कानून का नाम दिया है। सत्य और अहिंसा उनको एक ही चीज़ या एक ही चीज़ के अलग-अलग पहलू मालूम देते हैं और उसके लिए दोनो मे से एक ही शब्द मे दोनो के मानी आ जाते हैं। हिंदू-धर्म की बुनियादी भावना को समझने का दावा करते हुए भी वह ऐसी हर क्रिया और हर चीज़ को नामजूर कर देते हैं, जो उनकी आदर्शवादी व्याख्या से मेल नही खाती। उनका कहना है कि ये चीजें या तो बाद मे जोड दी गई है या बिगडी हुई शक्लो मे है। गाधीजी ने कहा है—"उस प्रचलित ढग या रीति का, जिसको मैं समझ नही सकता हू, या नैतिक बुनियाद पर मैं जिसकी हिमायत नही कर सकता हू, मैं गुलाम होने को तैयार नही हू।" और इस तरह अमली तौर पर अपनी पसंद का रास्ता अपनाने के लिए वह असाधारण रूप मे स्वतत्र है। उस रास्ते के बदलने के लिए, उससे अपना मेल बिठाने के लिए और ज़िदगी और काम के अपने फिलसफे मे तरक्की करने के लिए वह आज़ाद हैं। लेकिन जिस चीज़ मे बुनियाद पर फैसला होता है, वह तो नैतिक कानून है, जो उनकी समझ मे आया है। वह फिलसफा सही है या गलत है, इस पर बहस की जा सकती है, लेकिन वह उस बुनियादी पैमाने को हर चीज़ के लिए और खासतौर से अपने लिए इस्तेमाल करने पर ज़ोर देते हैं। औसत आदमी के लिए राजनीति मे और ज़िदगी के दूसरे पहलुओ मे इससे परेशानी होती है और अकसर गलतफहमिया होती हैं। लेकिन किसी भी परेशानी की वजह से वह अपनी पसद के सीधे रास्ते से नही हटते। हा, एक खास हद तक वह बदलती हुई हालत से बराबर अपना मेल बिठाते रहते हैं। जिस सुधार और जिस नसीहत की वह दूसरो को सलाह देते हैं, उस पर वह पहले खुद अमल करते हैं। वह हमेशा चीज़ो को अपने-आप से शुरू करते है और उनके लफ्जो और कामो मे इस तरह का मेल होता है, जैसा हाथ मे और दस्ताने मे होता है। और इसलिए चाहे जो कुछ होता रहे, उनका समूचा व्यक्तित्व कभी भी गायब नही होता, और उनकी ज़िदगी और कामो मे हमेशा ही एक सजीव पूर्णता दिखाई देती है। अपनी नाकामियो मे भी वह ऊचे उठते दिखते है।

अपनी इच्छाओ और आदर्शों के अनुसार जिस साचे मे वह हिंदुस्तान को ढालने जा रहे थे, वह क्या था? "मैं उस हिंदुस्तान के लिए काम करूगा,

---

तू यही ज्ञान-ज्योति दे, जो तूने मुझको दी है।' बल्कि 'उनकी सर्वोच्च उन्नति के लिए उन्हें जितने भी सत्य और प्रकाश की ज़रूरत है, वह सब तू उनको दे'।"

जिसमे गरीब-से-गरीब भी यह महसूस करेगा कि यह उसका देश है और जिसके निर्माण मे उनकी खुद की कारगर आवाज है, ऐसा हिंदुस्तान, जिसमे सारी जातिया आपसी मुहब्बत के साथ रहेगी। ऐसे हिंदुस्तान मे छुआछूत या नशे के अभिशाप के लिए कोई भी जगह नही हो सकती। स्त्रियो को भी वही अधिकार प्राप्त होगे, जो पुरुषो को है। जिस हिंदुस्तान का मैं सपना देखता हू, वह यह है।" जहा एक तरफ उन्हें अपनी हिंदू विरासत का अभिमान था, वहा साथ ही उन्होने हिंदू-धर्म को एक सार्वलौकिक बाना पहनाने की कोशिश की और सत्य के घेरे मे सब धर्मों को शामिल किया। अपनी सास्कृतिक विरासत को सकरा करने से उन्होंने इन्कार किया। उन्होने लिखा है—"हिंदुस्तानी संस्कृति न तो बिलकुल हिंदू ही है और न बिलकुल मुसलमानी।" आगे चलकर वह कहते है—"मैं चाहता हू मेरे घर मे सब देशो की संस्कृति ज्यादा-से-ज्यादा आजादी के साथ फैले। लेकिन उनमे से कोई भी मुझे वहा ले जाय, यह मैं न चाहूगा। दूसरे लोगो के मकानो मे एक भिखारी या गुलाम या अनचाहे आदमी की तरह रहने को मैं तैयार नही हू।" आधुनिक विचारधारा का उन पर असर तो हुआ है, लेकिन उन्होंने अपनी जडो को कटने नही दिया और वह उनको मजबूती से पकडे रहे है।

और इस तरह उन्होंने पच्छिमी ढंग से प्रभावित चोटी के मुट्ठी-भर लोगो मे और जनता मे दीवारो को तोडने की और फिर से असली मेल कायम करने की कोशिश की। उन्होने पुरानी जडो के सजीव हिस्सो को खोजकर, उनके ऊपर नई इमारत को खडी करने और आम जनता को उसकी नीद और निष्क्रिय दशा से सचेत करके सक्रिय बनाने की कोशिश की। उनका एक निश्चित रास्ता था, फिर भी उनकी प्रकृति के कई पहलू थे। इसमे दूसरो पर जिस चीज की खासतौर से छाप पडती थी, वह यह था कि गाधीजी ने सर्वसाधारण से अपने-आपको एकाकार कर दिया था और अपनी और जनता की भावनाओ को एकरूप कर लिया था और हिंदुस्तान के ही नही, बल्कि दुनिया-भर के गरीब और लुटे हुए लोगो के साथ उनकी हैरत-अगेज हमदर्दी थी। इन गिरे हुए लोगो को उठाने की लगन के सामने और दूसरी चीजो की तरह धर्म का भी गौण स्थान था। "एक अध-भूखे राष्ट्र का न तो धर्म हो सकता है, न कला और न सगठन।" "करोडो भूखे आदमियो को जो चीज भी काम की हो सकती है, वही मेरे दिमाग मे खूबसूरत चीज है। आज हम सबसे पहले जिंदगी देनेवाली चीजो को महत्व दे और उसके बाद जिंदगी के सारे अलकार और उसकी सारी परिष्कृतिया अपने-आप आ जायेगी। मैं उस कला और साहित्य को चाहता हू, जो करोडो

आदमियो के लिए काम का हो।" इन दुखी और अपहरित आदमियो के मसले उनके दिमाग़ को घेरे रहे और सारी चीज़ें इन्हींके चारो तरफ घूमती हुई मालूम दी। "करोडो आदमियो के लिए यह एक शाश्वत चौकीदारी है। एक शाश्वत मूर्च्छा है।" गाधीजी ने कहा है कि उनकी आकाक्षा यह है कि "हर आख से हर एक आसू पोछ लिया जाय।"

यह कोई अचभे की बात नहीं है कि इस आश्चर्यजनक रूप से मज़बूत आदमी ने, जिसमे आत्म-विश्वास है और एक असाधारण ढग की ताकत भरी हुई है और जो हर इन्सान की बराबरी का और आज़ादी का हिमायती है और जिसके पैमाने मे ग़रीब-से-ग़रीब आदमी का खयाल है, हिंदुस्तान की जनता को मोहित किया और एक चुबक की तरह उसको अपनी तरफ खीचा। उसको वह ऐसा महसूस हुआ कि वह विगत और भविष्य को जोडनेवाली कड़ी है और जिसकी वजह से ऐसा महसूस हुआ कि दुख-भरा वर्तमान भविष्य के लिए सीढी की तरह है। यह बात सिर्फ सर्वसाधारण मे ही नही पैदा हुई, बल्कि बुद्धिजीवियो और दूसरे लोगो मे हुई। हा, यह ज़रूर है कि इन लोगो के दिमाग मे अक्सर परेशानी और उलझन हुई और अपनी ज़िंदगी-भर की आदतो में रद्दो-बदल करने मे उनको ज्यादा मुश्किल मालूम दी। इस तरह उन्होंने न सिर्फ़ अपने अनुयायियो मे, बल्कि अपने विपक्षियों मे भी और उन बहुत से ग़ैर-तरफदार लोगो मे, जो सोचने और काम करने के बारे मे कोई फैसला नही कर सकें, एक मनोवैज्ञानिक क्राति पैदा की।

काग्रेस गाधीजी के कहने मे थी, लेकिन यह एक अजीब ढग का काबू था; क्योकि काग्रेस सक्रिय थी, क्रातिकारी थी और कई पहलुओवाली ऐसी सस्था थी, जिसमे तरह-तरह की रायें थी और वह आसानी से इस या उस तरफ नही ले जाई जा सकती थी। अक्सर गाधीजी ने ऐसी स्थिति को झुककर स्वीकार कर लिया कि दूसरो की इच्छा पूरी हो सके। कभी-कभी तो उन्होंने अपने खिलाफ फैसलो को भी मजूर कर लिया। अपने लिए कुछ अहम मामलो में गाधीजी ज़िद्दी थे, और कई मौको पर उनमे और काग्रेस मे नाता टूट गया। लेकिन हमेशा ही वह हिंदुस्तान की आज़ादी और जोशीली कौमियत के प्रतीक थे। हिंदुस्तान को गुलाम बनानेवाले सभी लोगो के वह कभी न झुकनेवाले विपक्षी थे। इस प्रतीक होने के नाते ही लोग उनको घेरते थे और उनके नेतृत्व को मजूर करते थ—वैसे चाहे वे बहुत-से मामलो मे गाधीजी से सहमत न रहते हो। जिस वक़्त कोई सक्रिय सघर्ष छिड़ा हुआ न हो, उस वक़्त लोगो ने उनके नेतृत्व को हमेशा मजूर नही किया, लेकिन जब सघर्ष

लाजिमी हुआ, तो यह प्रतीक सबसे ज्यादा अहम बन गया और बाक़ी सब चीज़ें गौण हो गईं।

इस तरह १९२० मे नेशनल काग्रेस और बहुत हद तक सारे देश ने इस नये अनदेखे रास्ते को अपनाया और उसकी ब्रिटिश ताकत के साथ बार-बार लडाई हुई। इस नये ढग मे और उस हालत मे, जो पैदा हो गई थी, सघर्ष का बीज था। लेकिन इसके पीछे राजनैतिक चालें या पैतरे नही थे, बल्कि हिंदुस्तानी जनता को मजबूत बनाने की ख्वाहिश थी, क्योंकि उस ताकत के ही बूते पर वे आजादी हासिल कर सकते थे और उसको कायम रख सकते थे। एक के बाद दूसरा सविनय अवज्ञा आदोलन हुआ और उसमे बेहद मुसीबतें उठानी पडी। लेकिन उन मुसीबतो को खुद न्योता दिया गया था, और इसलिए उनसे ताक़त मिलती थी। ये मुसीबतें उस क़िस्म की नहीं थीं, जो गैर-रजामद आदमी को दबोच देती है और जिनका नतीजा होता है मायूसी और पस्त-हिम्मती। सरकारी दमन के भयानक विस्तृत जाल मे पकडे जाने की वजह से गैर-रजामद आदमियो को भी मुसीबतें उठानी पडी और कभी-कभी तो रजामद आदमी भी हार मान गये और झुक गये। लेकिन बहुत-से लोग सच्चे और मजबूत बने रहे और उस सारे तजुरबे की वजह से और भी ज्यादा पक्के हो गये। किसी वक्त भी, यहातक कि अपने बुरे दिनो मे भी, काग्रेस किसी बडी ताकत या विदेशी हुकूमत के सामने झुकी नही। हिंदुस्तान की आजादी की तडपन और विदेशी हुकूमत की मुखालफ़त की वह प्रतीक बनी रही। यही वजह थी कि ज्यादातर हिंदुस्तानियो को उसके साथ हमदर्दी थी। चाहे उनमे से बहुत-से आदमी बहुत कमजोर रहे हो, या अपना परिस्थितियो मे वे खुद कुछ भा न करने के लिए मजबूर रहे हो, फिर भी नेतृत्व के लिए उनकी निगाह काग्रेस की तरफ थी। कुछ लिहाज से काग्रेस एक पार्टी थी, साथ ही वह कई पार्टियो के लिए एक मिला-जुला प्लेटफार्म रही है, लेकिन खासतौर से वह सिर्फ इतने से कुछ ज्यादा माने रखती है, क्योंकि वह तो हमारी जनता की बहुत बडी तादाद की सबसे भीतरी ख्वाहिश की नुमाइदगी करती है। हालाकि उसकी फेहरिस्त मे मेंबरो की गिनती बहुत बडी थी, फिर भी उसकी व्यापकता की उस गिनती से बहुत कम झलक मिलती है। मेंबर होना लोगो की शामिल होने की मरजी पर नही, बल्कि दूर-दूर के गावो मे हमारे पहुचने पर निर्भर था। अक्सर (आजकल की तरह) हम एक गैर-कानूनी सस्था रहे हैं—क़ानून की निगाह मे हमारा कोई अस्तित्व ही नही रहा है और पुलिस हमारी किताबो और कागजो को उठा ले गई है।

उस वक्त भी, जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन जारी नही था, हिंदुस्तान मे ब्रिटिश सरकारी मशीन से असहयोग का आम रुख बराबर बना रहा। हा, उस वक्त उसका आक्रामक पहलू हट गया। इसके मानी ये नही हैं कि अंग्रेजो से असहयोग हो। जब बहुत-से सूबो मे कांग्रेसी सरकारें कायम हुई, तो लाजिमी तौर पर सरकारी और इतजामी मामलो मे काफी सहयोग हुआ, लेकिन इतने पर भी वह पृष्ठभूमि नही बदली और सरकारी कामो के अलावा कांग्रेसियो का क्या व्यवहार हो, इस बारे मे हिदायतें दी गई थी। हालाकि कभी-कभी अस्थायी समझौता या मेल लाजिमी हो जाता था, लेकिन फिर भी हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता और विदेशी साम्राज्यवाद मे कोई स्थायी शाति नही हो सकती थी। आजाद हिंदुस्तान इग्लैड को सिर्फ बराबरी के दर्जे पर ही सहयोग दे सकता था।

३ : सूबो में कांग्रेसी सरकारें

ब्रिटिश पार्लमेंट ने कई साल तक कमीशनो और कमेटियो के काम के बाद और साथ ही बहसो के बाद, सन १९३५ मे एक गवर्नमेंट ऑव इंडिया एक्ट पास किया। इस एक्ट मे एक तरह का प्रांतीय स्वशासन और सघीय ढाचा रखा गया था, लेकिन इसमे इतने रोक और पेंच थे कि राजनैतिक और आर्थिक, दोनो तरह की, सत्ता ब्रिटिश सरकार के हाथो मे ज्यो-की-त्यो बनी रही। सच तो यह है कि कई ढग से उस एक्जीक्यूटिव कौन्सिल की ताकत को, जो ब्रिटिश सरकार के सामने ही जवाबदेह थी, बढा दिया था और उसकी बुनियाद को मजबूत कर दिया था। सघीय ढाचा एक ऐसी शक्ल मे था कि असली तरक्की नामुमकिन थी। ब्रिटिश सत्ता से सचालित उस हुकूमती ढाचे मे दखल देने या उसमे सुधार करने के लिए हिंदुस्तानी जनता के नुमाइदो के लिए कोई रास्ता ही नही था। उसमे किसी ढग की ढील या तब्दीली सिर्फ ब्रिटिश पार्लमेंट के जरिये हो सकती थी। इस तरह इस ढाचे के प्रतिक्रियावादी होने के साथ ही उसमे स्व-विकास का तो कोई भी बीज नही था, ताकि किसी क्रातिकारी परिवर्तन की नौबत न आये। इस एक्ट से ब्रिटिश सरकार की रजवाडो से, जमीदारो से और हिंदुस्तान की दूसरी प्रतिक्रियावादी जमातो से दोस्ती और भी ज्यादा मजबूत हो गई। पृथक निर्वाचन-पद्धति को इससे बढावा दिया गया और इस तरह अलग होनेवाली प्रवृत्तियो को बढावा मिला। इस एक्ट ने ब्रिटिश व्यापार, उद्योग, बैंकिंग और जहाजी व्यापार को, जिनका पहले से ही आधिपत्य था, अब और ज्यादा सुदृढ कर दिया। इस एक्ट मे ऐसी धाराएं साफ तौर पर रख दी गई कि उनकी इस हैसियत पर कोई रोक या पाबदिया नही

लगाई जा सकती थी। इस प्रतिबंध की परिभाषा यह की गई कि कोई भेद-भाव नही बरता जायगा।[1] इस क़ानून के मुताबिक भारतीय राजस्व, फ़ौज और विदेश नीति के सारे मामलो में पूरा नियन्त्रण ब्रिटिश हाथों मे ज्यो-का-त्यो बना रहा। इसने वाइसराय को पहले से भी कहीं ज्यादा ताकत सौंप दी।

प्रातीय स्वशासन के सीमित क्षेत्र में ज्यादा अधिकार हस्तांतरित किये गये, या कम-से-कम ऐसा मालूम पड़ा ही। ताहम एक लोकप्रिय सरकार की स्थिति बड़ी विचित्र थी। उस पर ग़ैर-ज़िम्मेदार केंद्रीय हुकूमत और वाइसराय की ताक़तो की रोक-थाम लगी हुई थी। वाइसराय की तरह प्रातीय गवर्नर भी दखल दे सकते थे, किसी क़ानून को रोक सकते थे और अपने निजी फैसले और अधिकार के बल पर जनता के नुमाइदे मन्त्रियों और सूबो की असेंबलियो के साफ़ विरोध के होते हुए भी कोई नया क़ानून जारी कर सकते थे। सरकारी आमदनी का एक बहुत बड़ा हिस्सा कुछ निहित स्वार्थों के लिए तय था और उसमे हाथ भी नही लगाया जा सकता था। बड़ी नौकरियो और पुलिस का बचाव किया गया था और मत्री लोग उनको छू भी नही सकते थे। उनका नज़रिया एकदम तानाशाही का था और अपने पथ-निर्देश के लिए पहले की ही तरह मन्त्रियों की जगह उनकी निगाह गवर्नर की तरफ़ रहती थी। लेकिन फिर भी ये ही लोग थे, जिनके ज़रिये लोकप्रिय सरकारो को काम करना था। सरकार का सारा जटिल ढाचा ज्यो-का-त्यो बना रहा; ऊपर गवर्नर से लेकर मामूली अहलकार और पुलिस के आदमी तक उस ढाचे में कोई भी तब्दीली नही हुई। बस सिर्फ़ उनके बीच मे किसी जगह पर चुनी हुई असेंबली के प्रति जिम्मेदार कुछ मंत्री बिठा दिये।

[1] हिंदुस्तान में ब्रिटिश उद्योग और व्यापार के प्रतिनिधि इन प्रतिबंधी धाराओं को हटाने का अब भी भयंकर विरोध करते हैं। ब्रिटिश विरोध के होते हुए भी अप्रैल, १९४५ में केंद्रीय असेंबली में इन प्रतिबंधों को हटाने प्रस्ताव पास किया गया। हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता और सारी हिंदुस्तानी इनको हटाने की कट्टर पक्षपाती हैं और हिंदुस्तानी उद्योगपति तो इस सिलसिले में ज्यादा व्यग्र हैं। फिर भी यह बात ध्यान देने की है कि लंका में कुछ हिंदुस्तानी व्यापारी अपने लिए वैसा ही संरक्षण माग रहे हैं, जो खुद अपने देश में ब्रिटिश व्यवसायियों को दे दिये जाने पर खलते हैं। निजी लाभ के बहाव मे आदमी न्याय और इन्साफ़ के लिए ही सिर्फ़ अंधा नहीं हो जाता, बल्कि मामूली अक़्ल की बात और सीधी-सादी दलील भी उसे नजर नहीं आती।

गये थे, जो अपनी शक्ति भर काम करते थे। अगर गवर्नर (जो ब्रिटिश सत्ता का प्रतिनिधि था) और उसके नीचे काम करनेवाले सरकारी नौकर मंत्रियो का पूरा-पूरा साथ देते, तो सरकारी मशीन आसानी से चल सकती थी। वरना—और इसकी संभावना भी बहुत ज्यादा थी, चूंकि पुरानी तानाशाही पुलिस-सरकार और लोकप्रिय सरकार के रवैये मे बहुत बड़ा फ़र्क़ होता है—उनमे बराबर कश-म-कश और संघर्ष होना लाज़िमी था। यहा-तक कि उस वक्त भी, जबकि गवर्नर और सेवाओ और लोकप्रिय सरकार की नीति मे कोई साफ़ मतभेद न हो, वे लोग उस सरकार के कार्य मे रुकावट डाल सकते थे, देर कर सकते थे, उसको तोड़-मरोड़ सकते थे और उस पर पानी तक फेर सकते थे। क़ानूनी तौर पर ऐसी कोई चीज़ नही थी, जो गवर्नर या वाइसराय को अपने मनमाने ढग से काम करने से रोक सकती, और इसमे चाहे मंत्रियो और असेंबली का सक्रिय विरोध ही क्यो न हो, संघर्ष का डर ही सिर्फ़ एक कारगर रोक थी। मंत्री लोग इस्तीफा दे सकते थे और असेंबली मे और कोई वर्ग बहुमत को अपनी ओर कर नही सकता था और तब सार्वजनिक आंदोलन हो सकते थे। यह तो वही पुराना संवैधानिक संघर्ष था, जो निरंकुश राजा और पार्लमेंट मे दूसरे देशो मे अक्सर होता आया है और जिससे क्रांतियां हुई हैं और राजा को दबना पड़ा है। और सब बातो के साथ ही यहां पर तो राजा एक विदेशी सत्ता थी, जिसको विदेशी फ़ौज और आर्थिक ताक़त का सहारा था, और जिसको विशेष हितोवाले समुदायों और उन जी-हुजूरो से, जिनको उसने इस देश मे पैदा किया था, मदद मिलती थी।

इसी वक्त हिंदुस्तान से बरमा अलहदा किया गया। बरमा मे ब्रिटिश और हिंदुस्तानी और कुछ हद तक चीनी आर्थिक और व्यावसायिक स्वार्थों में संघर्ष चल रहा था। इसीलिए ब्रिटिश नीति यह रही थी कि बरमावासियों में भारतीय-विरोधी और चीनी-विरोधी भावनाओ को बढ़ावा दिया जाय। कुछ वक्त तक तो इस नीति से मदद मिली, लेकिन जब यह आज़ादी से इन्कार के साथ जुड़ गई, तो उसका नतीजा यह हुआ कि बरमा मे एक ज़बरदस्त आंदोलन जापानियो के पक्ष मे शुरू हो गया, और जब १९४२ मे जापानियो ने हमला किया, तो यह ऊपर सतह पर आ गया।

हिंदुस्तानी विचारधारा के हर एक हिस्से ने १९३५ के एक्ट का प्रबल विरोध किया। उसमे उस हिस्से की, जो प्रांतीय स्वशासन से संबंधित था, तीखी आलोचना की गई, क्योंकि उसमें बहुत-से रोक-थाम थे और उसमें गवर्नर और वाइसराय को विशेषाधिकार दिये गये थे। उसमें संघीय

कबायली इलाके
१८४५ में ब्रिटिशभारत
देशी राज्य

१९४१ में जनसंख्या
देशी राज्य
ब्रिटिश भारत

भारत १९३५ में

ढाचे से ताल्लुक़ रखनेवाला हिस्सा और भी ज्यादा खला। स्वय सघीय हिस्से का विरोध नही किया गया, क्योकि यह तो आमतौर पर माना जाता था कि हिंदुस्तान के लिए सघीय ढाचा मौजू था, लेकिन जिस सघीय ढाचे का प्रस्ताव किया गया था, उसमे ब्रिटिश राज्य और हिंदुस्तान मे निहित स्वार्थों को मजबूत किया गया था। सिर्फ प्रातीय स्वशासन से ताल्लुक रखनेवाला हिस्सा अमल मे लाया गया और काग्रेस ने चुनाव लडने का फैसला किया। लेकिन इस सवाल पर कि उक्त एक्ट की सीमाओ के अदर ही प्रातीय हुकूमत की जिम्मेदारी ली जाय या नही, काग्रेस के अदर बडी तीखी बहस हुई। ज्यादातर सूबो मे चुनाव मे काग्रेस की ज़बरदस्त कामयाबी हुई, फिर भी जबतक यह बात साफ न हो जाय कि गवर्नर या वाइसराय का हस्तक्षेप नही होगा, मत्रिमडल की ज़िम्मेदारी लेने मे झिझक थी। कुछ महीनो के बाद कुछ अस्पष्ट आश्वासन इस सबब मे दिये गये और जुलाई, १९३७ मे काग्रेसी सरकारे कायम हुई। आखिर मे, ग्यारह मे से आठ सूबो मे ऐसी सरकारें बनी, और जो सूबे बाकी बचे, वे थे बगाल, सिंध और पजाब। सिंध का सूबा हाल ही मे बनाया गया था, छोटा-सा और एक ढग से गैर-मुस्तकिल था। बगाल मे जहातक विधानमडल का सवाल है, काग्रेस अकेले तो सबसे बडी पार्टी थी, लेकिन कुल मिलाकर वह बहुसख्यक नही थी, इसलिए वह शासन-कार्य मे शामिल नही हुई। हिंदुस्तान मे ब्रिटिश पूजी का बगाल (या कलकत्ता कहना ज्यादा सही होगा) प्रधान केंद्र होने की वजह से यूरोपीय व्यवसायी वर्गों को हैरत-अग्रेज ढग से ज्यादा नुमाइदगी दी गई थी। गिनती मे वे सिर्फ मुट्ठी-भर हैं (शायद कुछ हजार हो), फिर भी उनको २५ जगहें दी गई हैं, जबकि सारे सूबे की आम गैर-मुसलमान आबादी को, जो एक करोड सत्तर लाख है, ५० जगहे दी गई हैं। इस गिनती मे अनुसूचित जातियो की आबादी शामिल नही है। बगाल की राजनीति मे विधानमडल मे इस ब्रिटिश दल की एक अहम जगह है और वह मत्रिमडल को बना-बिगाड सकता है।

यह बात साफ है कि हिंदुस्तानी मसले के अस्थायी हल की हालत मे भी काग्रेस १९३५ के एक्ट को मजूर नही कर सकती थी। उसकी प्रतिज्ञा आजादी के लिए थी और उसे इस एक्ट से लडना था। फिर भी अधिकाश ने यही तय किया कि प्रातीय स्वशासन के कार्यक्रम को चलाया जाय। इस तरह उसकी दुहरी नीति थी—एक तो आजादी की लडाई को जारी रखना और दूसरे विधानमडलो के जरिय रचनात्मक काम और सुधार करना। खेतिहर जनता के सवाल पर, खासतौर से, फौरन ही ध्यान देना जरूरी था

हालांकि कांग्रेस का शुमार के लिहाज से बहुमत था और इसलिए एक तरह से, जरूरी न होते हुए भी, इस सवाल पर भी गौर किया गया कि कांग्रेसी दूसरे दलो को अपने साथ मिलाकर संयुक्त सरकार बनायें। फिर भी सरकारी काम मे ज्यादा-से-ज्यादा लोगो को अपने साथ ले लेना ज्यादा अच्छा था। हमेशा ही, कैसी भी मिली-जुली सरकार बनाने मे कोई निहित बाधा नही है, और असल मे सरहदी सूबे मे और असम मे ऐसी सरकार बनाने की बात मान भी ली गई। सच तो यह है कि कांग्रेस खुद एक ढग की सम्मिलित सस्था या सयुक्त मोर्चा थी, जिसमे बहुत-से दल थे और वे हिंदुस्तान की आज़ादी की लगन से एक साथ बधे हुए थे। अपने अदर इस ढग की भिन्नता के होते हुए भी, उसमे एक अनुशासन और एक सामाजिक दृष्टिकोण था और एक अपने शातिपूर्ण ढग से लडने की सामर्थ्य थी। इससे ज्यादा बडे सम्मेलन के मानी थे ऐसे लोगो के साथ मिलना, जिनका राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण बिलकुल जुदा था और जिनकी खासतौर से दफ्तरों मे या मत्री-पद मे दिलचस्पी थी। उस हालत मे सघर्ष तो शुरू से था—ब्रिटिश हितो के प्रतिनिधियो से सघर्ष, वाइसराय और गवर्नर से और दूसरे बडे-बडे अफसरो से, साथ ही जमीन मे और उद्योग-धधो मे निहित स्वार्थों से किसानो के मामलो मे या मज़दूरो की हालतो पर सघर्ष था। गैर-कांग्रेसी अनासिर आमतौर पर राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से अनुदार थे, और उनमे से कुछ तो विशुद्ध पदलोलुप थे। अगर ऐसे अनासिर सरकार मे शामिल होते, तो वे हमारे सारे सामाजिक कार्यक्रम को रद्द कर देते या कम-से-कम अडचनें डालते और उसमे देर करते। यही नही, दूसरे मत्रियो की पीठ पीछे गवर्नर के साथ षड्यत्र भी हो सकते थे। ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ सयुक्त मोर्चा जरूरी था। इसमे किसी तरह की भी फूट हमारे मक़सद के लिए नुकसान पहुचानेवाली होती। न आपस मे बाधनेवाला कोई मसाला ही होता, और न कोई परस्पर मान्य निष्ठा ही होती, और न कोई एक आदर्श होता और मत्रियो के व्यक्तिगत रूप मे अलग-अलग दृष्टिकोण होते, और वे अलग-अलग दिशाओ मे चलते।

स्वाभाविक तौर पर हमारे सार्वजनिक जीवन मे ऐसे बहुत-से लोग शामिल थे, जो सिर्फ राजनीतिज्ञ थे और उससे ज्यादा कुछ नही थे और वे अच्छे और बुरे दोनो ही मानो मे अपना हित साधनेवाले पदलोलुप लोग थे। कांग्रेस मे और साथ ही और जमातो मे भी और दूसरे काबिल और देशभक्त स्त्री-पुरुष और साथ ही मतलबी और पदलोलुप लोग भी थ। लेकिन १९२० के बाद से कांग्रेस एक सवैधानिक राजनैतिक संस्था से कहीं ज्यादा बड़ी

चीज़ रही थी और वास्तविक अथवा निहित क्रांतिकारी काम का वायु-मंडल उसे घेरे रहता था और वह अक्सर क़ानून के दायरे से बाहर हो जाती थी। महज़ इसलिए कि इस काम का हिंसा, गुप्त-मन्त्रणा या षड्यंत्र या क्रांतिकारी काम की अन्य साधारण बातो से कोई ताल्लुक नही था, कांग्रेस कुछ कम क्रांतिकारी नही थी। यह बात दूसरी है कि उसकी नीति सही थी या ग़लत, कारगर थी या नही, इस पर बहस की जा सकती है। लेकिन यह बात साफ़ है कि उसमे होश-भरा जोश था और एक बहुत ऊंचे दर्जे की सहनशीलता थी। शायद हिम्मत से थोड़ी देर के लिए हिंसात्मक काम के उफ़ान मे शामिल होना आसान है और उसमे मौत तक का स्वागत हो सकता है। लेकिन इसके मुक़ाबले मे, दिन-प्रति-दिन, माह-प्रति-माह, साल-दर-साल महज़ अपनी ही इच्छा से जीवन के उपहारो को छोड़कर जीवन को चलाना ज्यादा मुश्किल है। यह एक ऐसा इम्तिहान है, जिसमे किसी भी जगह शायद गिने-चुने आदमी ही कामयाब हो सकें और यह एक अचमे की बात है कि हिंदुस्तान में इतने आदमी कामयाब हुए !

विधानमंडलो मे कांग्रेस-पार्टिया इस बात के लिए चिंतित थीं कि किसी सकट के घिरने से पहले मजदूरो और किसानो के पक्ष मे नये क़ानून पास कर दें। किसी मडराते हुए सकट की भावना बराबर मौजूद थी; सकट तो उसमे बीज रूप से था ही। क़रीब-क़रीब हर सूबे मे एक और सदन था। जो बहुत सीमित निर्वाचन पर निर्भर था और इस तरह उसमे ज़मीन या उद्योग से संबधित स्वार्थों की नुमाइंदगी थी। प्रगतिशील क़ानून बनाने पर और दूसरे ढग की रोक थी। मिली-जुली सरकारो से ये सारी परे-शानिया और बढ जातीं, और यह तय किया गया कि सिवाय सरहदी सूबे और असम के शुरू मे ऐसा न किया जाय।

किसी भी सूरत से यह फ़ैसला आखिरी फ़ैसला नही था और तब्दीली की गुजाइश बराबर ध्यान में रखी गई, लेकिन तेजी से बदलती हुई हालतों ने इस तब्दीली को ज्यादा मुश्किल बना दिया और सूबो की कांग्रेसी सर-कारें उन बहुत-से मसलो में, जिन पर फ़ौरन ही ध्यान देने की ज़रूरत थी, फस गई। बाद के बरसो मे उस फ़ैसले की अक्लमदी पर बहुत बहस हुई है और उस पर अलग-अलग रायें हैं। किसी घटना के समाप्त होने पर अक्लमद होना ज्यादा आसान है, लेकिन अब भी मेरा अपना खयाल यही है कि राजनैतिक नज़र से और परिस्थितियो के लिहाज़ से हमारे लिए वह फ़ैसला क़ुदरती था और तर्कसगत था। फिर भी यह सच है कि फ़िरक़ेवार सवाल पर उसका बहुत बुरा असर पड़ा और उसकी वजह से बहुत-से मुसलमानो

में शिकायत और अलहदगी का सवाल पैदा हुआ। इससे बहुत-से प्रतिक्रिया-वादी तत्वो ने फायदा उठाया और उन्होंने कुछ खास गिरोहों मे अपनी स्थिति मजबूत कर ली।

राजनैतिक या सवैधानिक नजर से, इस नये एक्ट से और सूबो मे काग्रेसी सरकारो के कायम होने से, सरकारी ब्रिटिश ढाचे मे कोई खास फर्क नही हुआ। असली ताकत वही रही, जहा वह एक लबे अरसे से थी, लेकिन मनोवैज्ञानिक नजरिये से एक बहुत बडा फर्क हुआ और ऐसा मालूम पडा, मानो देश मे बिजली दौड गई हो। शहरो के मुकाबले देहात मे यह तब्दीली ज्यादा नजर आई। हा, शहरो के औद्योगिक केंद्रो के मजदूरो मे भी यही प्रतिक्रिया हुई। एक इस ढग की भावना थी, मानो जनता को कुचलनेवाला बहुत बडा बोझ हट गया हो और बहुत चैन हो, बहुत अरसे से दबी हुई सामूहिक शक्ति को छुटकारा मिला और यह बात चारो तरफ नजर आती थी। कम-से-कम कुछ वक्त के लिए पुलिस और खुफ़िया विभाग का डर गायब हो गया, यहातक कि गरीब-से-गरीब किसान मे भी आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास की भावना बढी। पहली बार उसने यह महसूस किया कि उसकी भी अहमियत है और उसको नजरअदाज नही किया जा सकता। अब सरकार कोई अनजान दैत्य की तरह नही रही थी, जिसे ऐसे सरकारी अफसरो की अनगिनती तहो ने उससे अलग कर रखा हो और जिस पर असर डालना तो दूर रहा, जिस तक आसानी से पहुचा भी नही जा सकता था और जिसके अफसर उसको ज्यादा-से-ज्यादा चूसने पर तुले हुए थे। समर्थ के आसन पर अब उन लोगो का कब्जा था, जिनको उसने अक्सर देखा था, सुना था और जिनसे उसने बातचीत की थी, कभी-कभी वे लोग साथ-साथ जेल मे भी रहे थे और उनमे आपस मे साथियो की-सी भावना थी।

सूबो की सरकारो के खास केंद्रो मे, पुरानी हुकूमत के गढ़ो मे, कई प्रतीकात्मक दृश्य देखे गये। प्रातीय सचिवालय इनका नाम था और यही सारे बडे-बडे दफ्तर थे और यह जगह बहुत ऊची और लोगो की पहुच से परे समझी जाती थी। यहा से ऐसे गुप्त हुक्म निकलते थे, जिनको कोई चुनौती नही दे सकता था। पुलिस के आदमी या लाल वर्दीवाले अरदली, जिनकी कमर की चपरासो मे चमकती हुई कटारे लटकती थी, इन पर पहरा देते थे और सिर्फ वे लोग, जो खुशक़िस्मत थे या बहुत साहसी थे और या जो बहुत बडी तिजोरियोवाले थे, इनको पारकर अदर पहुच सकते थे। अब अचानक ही गाव के और शहर के झुड-के-झुड लोग इन पवित्र हदो मे घुसते और जहा मन चाहा, घूमते। उनकी हर एक चीज में दिलचस्पी

४ : हिंदुस्तान में ब्रिटिश-अनुदारता बनाम भारतीय गतिशीलता

नई प्रातीय असेबलियो में देहाती हल्को की नुमाइदगी बहुत ज्यादा थी और इसका लाजिमी नतीजा यह हुआ कि उन सब में कृषि-सबधी सुधारो की माग हुई। स्थायी बंदोबस्त और दूसरे कारणो से बगाल में काश्तकारो की हालत सब जगह से ज्यादा खराब थी। उनके बाद उन सब बड़े-बड़े सूबों का नबर था, जहा जमीदारी-प्रथा थी। इनमें खास सूबे थे बिहार और सयुक्त प्रात। उसके बाद वे सूबे थे, जहा शुरू मे काश्तकार को खुद जमीन का मालिक बनाया गया था, लेकिन जहा बडी-बडी जमीदारिया भी बन गई थी। ये सूबे थे मद्रास, बबई और पजाब। बगाल में हर कारगर सुधार के रास्ते में स्थायी बदोबस्त की अडचन थी। क़रीब-क़रीब सभी आदमी इस मामले मे एकमत है कि स्थायी बदोबस्त खत्म हो जाना चाहिए, यहातक कि एक सरकारी कमीशन ने भी इसको खत्म करने की सिफ़ारिश की है, लेकिन निहित स्वार्थोंवाले ऐसा इतजाम करते हैं कि यह तब्दीली रुक जाती है या उसमे देर हो जाती है। इस मामले में पजाब खुशक़िस्मत रहा, क्योंकि उसके पास नई जमीन थी।

काग्रेस के लिए कृषि-सबधी सवाल खास सामाजिक मसला था और उसके अध्ययन और इस सबध मे नीति बनाने के लिए काफ़ी समय दिया गया था। यह नीति हर सूबे मे अलग-अलग थी, क्योंकि हर सूबे की हालत अलग-अलग थी और साथ ही सूबो की काग्रेस कमेटियो का वर्ग-गठन अलग-अलग था। केंद्रीय सस्था द्वारा निर्धारित एक अखिल भारतीय नीति थी, जिसमे हर सूबे ने अपनी हालत विशेष को ध्यान मे रखकर और बातें जोड़ ली। इस लिहाज से सयुक्त प्रात की काग्रेस सबसे आगे थी और वह इस नतीजे पर पहुच गई थी कि जमीदारी प्रथा को खत्म कर देना चाहिए। गवर्नर और वाइसराय के विशेषाधिकारो और सूबे के ऊपरी सदन को, जिनमे ज्यादातर जमीदार थे, छोडने पर भी १९३५ के गवर्नमेंट ऑव इडिया एक्ट के मातहत ऐसा करना नामुमकिन था। इसलिए इस ढाचे के ऊपरी घेरे के अदर ही तब्दीली करनी थी। हा, यह बात दूसरी थी कि कोई क्रातिकारी बात उठ खडी हो और वह खुद इस प्रथा को खत्म कर दे। इसलिए सुधार करना मुश्किल हो गया और उसमें बहुत-सी उलझनें पैदा हुईं और इसमे आशा से अधिक समय लगा।

फिर भी कृषि-संबधी महत्वपूर्ण सुधार किये गये और साथ ही देहाती

कर्ज की समस्या पर भी प्रहार किया गया। इसी तरह कारखानो मे मजदूरो की हालत, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफ़ाई, स्थानीय स्वराज्य-सस्थाओ, प्रारंभिक और विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा, साक्षरता, उद्योग, ग्रामोन्नति आदि दूसरे मसलो को सुलझाया गया। पहली सरकारो ने इन सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याओ को भुला दिया था और ध्यान से उतार दिया था; उनका काम तो पुलिस और कर-वसूली विभाग को कुशल बनाना था और वे बाक़ी विभागो को अपने ढग से चलने की इजाज़त देती थीं। कभी-कभी थोडी-सी कोशिश की गई थी, और कमीशनें और जाच-कमेटिया नियुक्त की गई थी और ये बरसो के सफ़र और मेहनत के बाद लंबी-चौड़ी रिपोर्टें तैयार करतीं। तब वे रिपोर्टें अपनी-अपनी दराजो मे रख दी जातीं और उन पर कोई कार्रवाई नही की जाती। यही नहीं, बल्कि बार-बार सार्वजनिक माग के होते हुए भी सही और पूरे आकडे भी इकट्ठे नही किये गये थे। किसी भी दिशा मे प्रगति करने के मामले मे इन आकडों की कमी और पूरी-पूरी खबर के अभाव से बडी भारी रुकावट रही है। इस तरह आम हुकूमती काम के अलावा प्रातीय सरकारो के सामने काम का पहाड था, जो बरसों की लापरवाही का नतीजा था, और हर तरफ़ ऐसी समस्याए थी, जिन पर फ़ौरन ध्यान देना ज़रूरी था। पुलिस-सरकार को बदलकर जन-नियत्रित सरकार बनाना था। एक तो वैसे ही यह काम कोई आसान काम नहीं था, फिर उनके महदूद अधिकारो की वजह से, लोगो को ग़रीबी की वजह से और प्रातीय और केंद्रीय सरकार के (जो वाइसराय के मातहत पूरी तरह स्वेच्छाचारी और तानाशाही थी) जुदा दृष्टिकोण होने की वजह से, यह काम और भी ज्यादा मुश्किल हो गया।

इन सब खामियो और रुकावटों को हम जानते थे और हम अपने दिल में यह महसूस करते थे कि जबतक हालतो में जड से तब्दीली न आये, तबतक हम ज्यादा बडा काम नही कर सकते थे और इसलिए आज़ादी की प्रबल इच्छा थी, फिर भी आगे बढने की लालसा हममे भरी हुई थी, और हमारी ख्वाहिश थी कि दूसरे देशों को, जो कई ढग से आगे बढे हुए थे, हम दौड़कर पकड लें। संयुक्त राज्य अमरीका हमारे सामने था, और यही नही, कुछ पूरबी देश भी थे, जो तेजी से आगे बढ रहे थ। लेकिन हमारे सामने जो सबसे बडी मिसाल थी, वह थी सोवियत सघ की, जिसने लडाई, आतरिक सघर्ष और अदम्य प्रतीत होनेवाली कठिनाइयों से भरे बीस बरसों के अदर ही बड़ी भारी तरक्की की थी। साम्यवाद की तरफ़ कुछ लोग खिचे और कुछ लोग नहीं भी खिचे थे, लेकिन सब लोग शिक्षा,

संस्कृति, स्वास्थ्य-प्रबंध, शरीर-रक्षा और राष्ट्रीयताओं के मसलों के हल के बारे में सोवियत संघ की प्रगति से आकर्षित हुए थे। वे लोग पुराने पचड़ों से सोवियत संघ के एक नया संसार बनाने के आश्चर्यपूर्ण भगीरथ प्रयत्न से प्रभावित थे। यहांतक कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जो बहुत ज्यादा व्यक्तिवादी थे और जो साम्यवाद के कुछ पहलुओं से खुश नहीं थे, इस नई सभ्यता के प्रशंसक बन गये, और उन्होंने अपने देश की मौजूदा अवस्था के साथ उसका मिलान किया। अपने आखिरी संदेसे में, जो उन्होंने मृत्यु-शैया से दिया था, उन्होंने सोवियत रूस की उस लगन और उसकी बारहा कोशिशों की चर्चा की, "जिससे उसने रोग और निरक्षरता का मुकाबला किया और अज्ञान और निर्धनता को मिटाने में कामयाबी हासिल की और एक महादेश के मुंह पर से हीनता की भावना को मिटा दिया। उसकी सभ्यता वर्गों और मतों के आपस के भेद-भावों से बिलकुल मुक्त है। उसकी तेज़ और आश्चर्यपूर्ण प्रगति से मुझे एक साथ ही प्रसन्नता और ईर्ष्या दोनों हुई। जब मैं दूसरी जगह दो सौ राष्ट्रीयताएं देखता हूं, जो कुछ बरस पहले ही विकास के जुदा-जुदा स्तरों पर थीं और जो अब एक साथ प्रेमपूर्वक आगे बढ़ रही हैं, और जब मैं अपने देश की तरफ देखता हूं, जहां विकसित और बुद्धिमान मनुष्य बर्बरता के बहाव में बह रहे हैं, तो मुझे विवश होकर दोनों जगहों की सरकारों का फर्क दिखाई देता है—एक सहयोग के सहारे चलती है, और दूसरी की बुनियाद शोषण पर है, और इसी वजह से यह भेद-भाव मुमकिन है।"

अगर दूसरे लोग यह कर सकते हैं, तो हम क्यों नहीं कर सकते? हमें अपनी सामर्थ्य में, अपनी बुद्धि में, अपनी लगन में, अपनी सहनशीलता में और सफलता में भरोसा था। हम अपनी मुश्किलों को, अपनी गरीबी और पिछड़ेपन को, अपने प्रतिक्रियावादी दलों और वर्गों को और आपसी फर्कों को जानते थे, फिर भी हम उनका सामना कर उन्हें जीत सकते हैं। हम जानते थे कि कीमत बहुत महंगी है, फिर भी हम उसे देने के लिए तैयार थे, क्योंकि अपनी मौजूदा हालत में जो कीमत हम रोज़ाना चुका रहे थे, उससे ज्यादा और कोई कीमत नहीं हो सकती थी। लेकिन हम अपनी नई समस्याओं का हल किस तरह शुरू करते, जब हर घुमाव पर ब्रिटिश राज्य और ब्रिटिश आधिपत्य की समस्या का हमको सामना करना पड़ता और जो हमारे हर प्रयत्न को बेकार कर देता।

फिर भी, चूंकि इन सूबों की सरकारों में हमारे लिए अवसर था (चाहे वह कितना ही सीमित और संकुचित क्यों न हो), हम उससे पूरा-पूरा

फायदा उठाना चाहते थे। लेकिन हमारे मन्त्रियो के लिए यह बडा जी तोडनेवाला काम था। वे बेहद काम और जिम्मेदारी से घिरे हुए थे, क्योकि न तो उनमे सामजस्य था और न समान दृष्टिकोण था। बदकिस्मती से इन मंत्रियो की सख्या बहुत छोटी थी। उनसे यह उम्मीद की जाती थी कि वे सादा रहन-सहन की और सार्वजनिक खर्च मे किफायत की मिसाल पेश करेगे। उनकी तनख्वाहे थोडी थी और एक विचित्र दृश्य दिखाई देता कि उस मत्री के सेक्रेटरी या दूसरे मातहत लोग, जो इडियन सिविल सर्विस के सदस्य थे, तनख्वाह और भत्ता मिलाकर इतना रुपया पाते थे, जो मन्त्रियो के वेतन से चार या पाच गुना था। हम लोग सिविल सर्विसवालो की तनख्वाह मे हाथ भी नही लगा सकते थे। यही नही, रेल से मत्री दूसरे या कभी-कभी तीसरे दरजे मे सफर करता, जबकि उसका सहकारी उसी गाडी मे पहले दरजे मे या ठाठ के साथ रिजर्व डिब्बे मे सफर करता!

अक्सर यह कहा गया है कि केंद्रीय काग्रेस-कार्यकारिणी ने ऊपर से हुक्म जारी करके इन सूबो की सरकारो के काम मे बराबर दखल दिया। यह बिलकुल गलत बात है। अदरूनी इतजाम मे कोई भी हस्तक्षेप नही था। काग्रेस-कार्यकारिणी जो चीज चाहती थी, वह यह थी कि सारे बुनियादी राजनैतिक मामलो मे सब सूबो की सरकारो की एक-सी नीति हो और वह काग्रेसी कार्यक्रम, जो चुनाव के घोषणा-पत्र मे रखा गया था, जहातक मुमकिन हो, आगे बढाया जाय। खासतौर से गवर्नरो और हिंदुस्तान-सरकार के प्रति इनकी नीति एक-सी होती थी।

केंद्रीय सरकार मे, जो अब भी बिलकुल गैर-जिम्मेदार और ताना-शाही थी, कोई रद्दो-बदल किये बिना प्रातीय स्वशासन का कार्यक्रम चालू करने का एक ज्यादा मुमकिन नतीजा यह था कि प्रातीयता और भेद की तरक्की हो और इस तरह हिंदुस्तानी एकता की भावना कम हो। तोड-फोडवाले हिस्सो और प्रवृत्तियो को बढावा देने की अपनी नीति को आगे बढाते वक्त शायद यह बात ब्रिटिश सरकार के ध्यान मे थी। हिंदुस्तान-सरकार, जो न तो हटाई जा सकती थी और जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पुरानी परिपाटी की नुमाइदगी करती थी, अब चट्टान की तरह मजबूती के साथ जमी हुई थी, और हर सूबे की सरकार के साथ उसकी एक-सी नीति थी। नई दिल्ली और शिमला की हिदायतो के मुताबिक गवर्नर भी उसी तरह काम करते थे। यदि काग्रेसी सूबो की सरकारो की प्रतिक्रिया अलग-अलग हुई होती, और सबकी अपनी निजी नीति होती, तो उनका किस्सा अलग-अलग खत्म कर दिया जाता। इसलिए यह लाजिमी था कि

ये सूबों की सरकारें एक साथ रहें, और हिंदुस्तान-सरकार के सामने एक मिला-जुला मोर्चा लें। दूसरी तरफ खुद हिंदुस्तान-सरकार भी इस बात की फ़िक्र मे थी कि इनका आपसी सहयोग टूट जाय और वह हर सूबे की सरकार से अलग-अलग निबटना चाहती थी और वह दूसरी जगह मिलते-जुलते मसलों का जिक्र भी नहीं उठाना चाहती थी।

अगस्त, १९३७ में सूबों की कांग्रेसी सरकारो के क़ायम होने के बाद फ़ौरन ही कांग्रेस-कार्य समिति ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया

"कार्य-समिति कांग्रेसी मंत्रियों से इस बात की सिफ़ारिश करती है कि वे विशेषज्ञों की एक कमेटी नियुक्त करें, जो उन जरूरी और अहम मसलो पर ग़ौर करे, जिनका हल राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और सामाजिक आयोजन की किसी भी योजना के लिए जरूरी है। इस हल के लिए व्यापक सर्वे करनी होगी और आंकड़े इकट्ठे करने होंगे और साथ ही एक सुस्पष्ट और सुनिश्चित सामाजिक आदर्श जरूरी होगा। इनमे से बहुत-से मसलों का प्रांतीय आधार पर पूरा-पूरा हल नहीं होगा, क्योंकि एक-दूसरे से लगे हुए प्रांतो के हित आपस मे घुले-मिले हैं। नदियों की विस्तृत सर्वे करना है, ताकि ऐसी नीति निर्धारित हो सके कि विनाशकारी बाढ़ें रोकी जा सकें और उनके पानी से सिंचाई के काम में फ़ायदा उठाया जा सके, ज़मीन के कटाव का मसला सोचा जा सके, मलेरिया रोका जा सके और पानी से बिजली पैदा करने की या ऐसी ही और दूसरी योजनाओ पर ग़ौर हो सके। इस मक़सद के लिए सारी नदी-घाटी की जांच और सर्वे हो और बड़े पैमाने पर सरकारी तौर से योजना बने। उद्योग-धंधों की तरक्क़ी और नियंत्रण के लिए कितने ही सूबों का मिलजुलकर एक साथ काम करना जरूरी है। इसलिए कार्य-समिति यह सलाह देती है कि पहले विशेषज्ञो की अंतर्प्रांतीय कमेटी नियुक्त की जाय, जो समस्याओ की साधारण प्रकृति पर ग़ौर करे और वह अपनी राय जाहिर करे कि किस तरह और किस ढंग से उनको हल करने के लिए आगे बढ़ा जाय। विशेषज्ञों की यह कमेटी अलग-अलग समस्याओ के लिए अलग-अलग कमेटी या बोर्ड तैनात करने की सलाह दे सकती है और ये कमेटियां संबंधित प्रांतीय सरकारो को मिल-जुलकर काम करने और कार्यक्रम के संबंध में सलाह दे सकती हैं।"

इस प्रस्ताव से उस सलाह की झलक मिलती है, जो किसी वक्त सूबो की सरकारों को दी गई थी। इससे यह भी जाहिर होता है कि आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में सूबो की सरकारों मे आपसी सहयोग

बढाने के लिए काग्रेस-कार्यसमिति कितनी ख्वाहिशमद थी। हालांकि सलाह काग्रेसी सरकारो के नाम दी गई थी, फिर भी वह सिर्फ़ उन्ही तक सीमित नही थी। नदियों की विस्तृत सर्वे मे सूबो की सीमाएं टूट जाती थी, गगा नदी की घाटी की सर्वे और गगा-नदी-कमीशन नियुक्त करना उसी वक्त समव था, जब तीन प्रातीय सरकारें, यानी सयुक्त प्रात, विहार और बगाल, एक-दूसरी का साथ दें। इस काम का वेहद महत्व है और आज भी यह करना बाकी है।

इस प्रस्ताव से यह भी जाहिर है कि काग्रेस बडे पैमाने पर उठाई गई सरकारी योजना को कितना महत्व देती है। जबतक केंद्रीय सरकार लोकप्रिय नियत्रण मे नही थी, और जबतक सूबों की सरकारो पर से बेडिया नही हटती थी, तबतक इस तरह की योजना बनाना असमव था। फिर भी हमे ऐसी उम्मीद थी कि कुछ जरूरी प्रारभिक कार्य किया जा सकता है और भविष्य की योजनाओ की बुनियाद रखी जा सकती है। १९३८ के आख़िरी महीनो मे नेशनल प्लानिग कमेटी (राष्ट्रीय आयोजना समिति) बनी और मैं उसका सभापति हुआ।

मैं अक्सर काग्रेसी सरकारो के काम की आलोचना करता और उनकी प्रगति के धीमेपन पर झुझलाता। लेकिन अब सिहावलोकन करते हुए, उनके कारनामो पर, जो उन्होंने सवा दो साल के छोटे-से अरसे मे दिखाये, मैं आश्चर्य मे पड जाता हू। उनके ये कारनामे उन अनगिनत मुश्किलो के बावजूद थे, जो उन्हे बराबर घेरे रहती थी। बदकिस्मती से उनके कुछ अहम कामो का नतीजा नही निकल पाया, क्योंकि जिस वक्त वह पूरा होने को था, उन लोगो ने इस्तीफा दे दिया और बाद मे उनके वारिस ने, यानी ब्रिटिश गवर्नर ने, उस काम को ढहा दिया। खेतिहर और मजदूर दोनो ही तरह की जनता को फायदा हुआ और उनकी ताकत बढ गई। एक अत्यत महत्वपूर्ण और गहरी उपलब्धि यह थी कि बुनियादी शिक्षा नाम की एक व्यापक शिक्षा-प्रणाली को शुरू कर दिया गया। इसकी बुनियाद सिर्फ शिक्षा के नवीनतम सिद्धात पर ही नही थी, बल्कि हिंदुस्तानी हालतो के लिए यह खासतौर से मौजू थी।

हर एक निहित स्वार्थ ने प्रगतिशील परिवर्तन के रास्ते मे अडचनें डाली। कानपुर के सूती कपडे के कारखानो मे मजदूरो की हालतो के " सिले मे जाच करने के लिए सयुक्त प्रातीय सरकार ने एक कमेटी मु" की। इस कमेटी के साथ मिल-मालिको ने (खासकर यूरोपीय ने, वैसे तो उनमे कुछ हिंदुस्तानी भी शामिल थे) ज्यादा से-ज्यादा

बरताव किया, और उन्होंने बहुत-सी बातें और आकडे बताने से इन्कार कर दिया। मजदूरो को बहुत अरसे से मिल-मालिको और सरकार के सगठित विरोध का सामना करना पडा था और पुलिस मिल-मालिको की मदद को हमेशा तैयार रहती थी। इसलिए इस नीति मे काग्रेसी सरकारो ने जो रद्दो-बदल की, वह मिल-मालिको को नागवार मालूम हुई। श्री बी० शिवराव, जिन्हे हिंदुस्तान मे मजदूर आदोलन का लबा तजुरबा है और जो उसके उदार पक्ष के है, हिंदुस्तान मे मिल-मालिको की चाल के बारे मे लिखते हैं—"हडताल के मौको पर मिल-मालिको मे जो औचित्य-अभाव और कार्य-क्षमता दिखाई देती है और जिस तरह पुलिस की मदद ली जाती है, उस पर उन लोगो को, जो हिंदुस्तानी परिस्थितियो से अपरिचित है, विश्वास नही होगा।" ज्यादातर देशो की सरकारें, अपने गठन के कारण मिल-मालिको की तरफ झुकी हुई है। श्री शिवराव बताते हैं कि हिंदुस्तान मे इसकी एक खास वजह और है—"व्यक्तिगत शत्रुभाव के अलावा कुछ अपवादो को छोडकर हिंदुस्तान मे हाकिमो मे इस बात का डर सवार रहता है कि यदि ट्रेड यूनियनो को बढने का मौका दिया जाय, तो यह लोकव्यापी जागृति मे सहायक होगा और भारत मे राजनैतिक सघर्ष के समय-समय पर असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आदोलनकी शक्ल मे उभरते रहने की वजह से उन लोगो ने शायद यह महसूस किया कि इस हालत मे जन सगठन के सिलसिले मे कोई जोखिम उठाना मुनासिब नही है।"[1]

सरकारें नीति निश्चित करती हैं, विधानमडल कानून बनाते हैं; लेकिन इस नीति को अमल मे लाना और इन कानूनो को लागू करना, आखिर मे स्थायी सेवाओ और इतजामी महकमो पर निर्भर होता है। प्रातीय सरकारो को इस तरह लाजिमी तौर पर स्थायी सेवाओ और खास-तौर से इडियन सिविल सर्विस और पुलिस पर भरोसा करना पडता था। ये सेवाए एक तानाशाही की और जुदा परपरा मे पली थी और वे इस नये वातावरण को और जनता की अपने अधिकारो पर जोर देने की प्रवृत्ति को नापसद करती थी। उन्हे यह बात नापसद थी कि उनकी निजी अह-मियत कम हो और वे उन लोगो के मातहत हो, जिनको वे गिरफ्तार करने और जेल भेजने के आदी थे। शुरू-शुरू मे तो उनमे शकाए उपजी कि न जाने क्या होगा। लेकिन कोई खास क्रातिकारी बात नही हुई, और धीरे-धीरे वे अपने पुराने ढर्रे पर जम गये। मन्त्रियो के लिए उन लोगों के काम

[1] बी० शिवराव : 'दि इंडस्ट्रियल वर्कर इन इंडिया' (लंदन, १९३९)

मे दखल देना आसान नही था और कुछ खास हालतो मे साफ सबूत होने पर ही वे ऐसा कर सकते थे। सेवाओ का एक घनिष्ठ सगठन था और अगर किसी आदमी का तबादला किया जाता तो उसकी जगह आनेवाला आदमी भी सभवत उसी ढग से काम करता। सेवाओ की पुरानी प्रतिक्रियावादी और निरकुश मनोवृत्ति को अचानक ही पूरी तरह बदलना नामुमकिन था। कुछ शख्स बदल सकते थे, कुछ नई हालतो से मेल बिठाने की कोशिश कर सकते थे, लेकिन उनकी एक बहुत ही बडी तादाद दूसरे ही ढग से सोचती थी और हमेशा एक दूसरे ही ढग से काम करती आई थी। उनमे अचानक ही ऐसा महान परिवर्तन कैसे हो सकता था और वे एकदम एक नई परपरा के कट्टर हामी कैसे हो सकते थे? ज्यादा-से-ज्यादा उनकी एक जड और निश्चेष्ट निष्ठा हो सकती थी, असलियत के बमूजिब इस नये काम मे उनका कोई खास उत्साह हो ही नही सकता था, क्योंकि एक तो उनका उसमे विश्वास ही नही था, और दूसरे, उसमे उनके निजी निहित स्वार्थों को भी धक्का लगता था। बदकिस्मती से आमतौर पर इस निश्चेष्ट निष्ठा का भी अभाव था।

सिविल सर्विस के बडे सदस्यो में, जो अरसे मे तानाशाही के ढग और निरकुश शासन के आदी थे, एक ऐसी भावना थी कि ये मत्री लोग और असेंबली के मेबर एक ऐसे मैदान मे दखल देनेवाले हैं, जो बिलकुल उन्ही (सिविल सर्विसवालो) के लिए रिजर्व हो चुका है। यह पुरानी धारणा कि ये स्थायी सेवाए और खासतौर मे उनका ब्रिटिश अश ही हिंदुस्तान था और बाकी सब तो महत्वहीन और फालतू था, गहरी जमी हुई थी। इन नये आदमियो को बरदाश्त करना आसान नही था और फिर उनसे हुक्म लेना तो और भी ज्यादा मुश्किल था। उनको ऐसा महसूस हुआ, जैसा किसी कट्टर हिंदू को उस वक्त महसूस होता है, जब अछूत उसके निजी मदिर के पवित्र स्थानो मे जबरदस्ती घुस आते हो। जातीय बडप्पन और शान की इमारत, जो इतनी मेहनत से तैयार की गई थी और जो उनके लिए मजहब-जैसी चीज बन गई थी, अब चटख रही थी। ऐसा कहा जाता है कि चीनियो का 'चेहरे' मे बहुत विश्वास होता है, फिर भी मुझे इस बात मे शक है कि 'चेहरे' के प्रति उनकी इतनी ममता होगी, जितनी हिंदुस्तान मे रहनेवाले ब्रिटिश लोगो की है। इन लोगो के लिए यह व्यक्तिगत, जातीय या राष्ट्रीय शान की ही चीज नही है; उसका उनके राज्य और निहित स्वार्थों से भी घनिष्ठ सबंध है।

फिर भी इन हस्तक्षेप करनेवालो को उन्हें बरदाश्त करना था, लेकिन

ज्यो-ज्यो खतरे की भावना दूर हटती गई, यह सहनशीलता भी धीरे-धीरे कम होती गई। हुकूमत के हर विभाग मे यह रुख समाया हुआ था, और राजधानी से दूर ज़िलो मे तो यह खासतौर से ज़ाहिर था—खासतौर से उन महकमो मे, जो शाति और व्यवस्था से सबधित थे और जिनके सिलसिले मे ज़िला मजिस्ट्रेट और पुलिस को खास हक हासिल थे। नागरिक स्वतंत्रता पर कांग्रेसी सरकारो के ज़ोर देने की वजह से मुक़ामी हाकिमो को बहाना मिल गया और उन्होंने ऐसी चीजे होने दी, जिनके लिए आमतौर पर कोई भी सरकार इजाजत नही देती। असल मे मुझे तो इस बात का पक्का यकीन है कि मौको पर तो इन अवाछनीय घटनाओ के लिए मुक़ामी हाकिमो या पुलिस से बढावा मिला। जो बहुत-से फिरक़ेवार झगडे हुए, उनकी बहुत-सी वजहे थी, लेकिन यह बात है कि हर मौक़े पर मजिस्ट्रेट और पुलिस निर्दोष नही थे। तजुरबे से यह बात मालूम हुई कि मौक़े पर कुशलता से और फुर्ती से काम लेने से झगडा खत्म हो गया। जो चीज़ हमको बार-बार देखने को मिली, वह एक हैरत-अगेज काहिली थी। उन मौको पर जान-बूझकर अपने फर्ज़ की अदायगी को टाल दिया जाता था। यह बात साफ हो गई कि उनका उद्देश्य काग्रेसी सरकारो को बदनाम करना था। सयुक्त प्रात के औद्योगिक नगर कानपुर मे, मुकामी हाकिमों की बद-इतज़ामी और निकम्मेपन की एक खास मिसाल सामने आई और यह बात इरादतन ही हो सकती थी। फिरकेवार झगडे, जिनसे कभी-कभी मुकामी दगे हो जाया करते थे, १९३० के कुछ पहले के और कुछ बाद के बरसो मे नज़र आते थे। काग्रेसी सरकारो के दफ्तर सभालने के बाद कई ढग से वे बहुत कम हुए। उसकी शक्ल बदल गई, और अब वह निश्चित रूप से राजनैतिक थी, और अब जान-बूझकर उसको बढावा दिया जाता था और उसका सगठन किया जाता था।

सिविल सर्विस की एक खास शोहरत थी, जिसे खुद उसने फैला रखा था, यानी यह कि वह बहुत कार्य-कुशल है। लेकिन यह बात साफ़ हो गई कि उस सकरे दायरे के काम के अलावा, जिसके लिए वह अभ्यस्त थी, वह बेबस और निकम्मी थी। लोकतत्री ढग से काम करने की उसको शिक्षा नही मिली थी और उसको जनता का सहयोग और उसकी सद्भावनाए नही मिल सकती थी, और साथ ही उसे जनता से डर भी था और नफरत भी थी। सामाजिक प्रगति की तीव्रगामी बड़ी योजनाओ का उसको कोई अदाज नही था, और वह अपनी कल्पनाहीनता और अपने साहबी ढग से उनमे सिर्फ अडचन ही डाल सकती थी। कुछ लोगो को छोडकर, उच्च-

तर सेवाओ के अग्रेज़ो और हिंदुस्तानियो, दोनो पर ही, यह बात लागू थी। उन नये कामो के लिए, जो उनके सामने थे, वे एकदम से गैर-मौजू थे।

वैसे तो जन-प्रतिनिधियो मे भी बहुत अयोग्यता और बहुत-सी खामिया थी, लेकिन शक्ति और उत्साह से जन-साधारण के सपर्क मे यह कमी पूरी हो जाती थी। उन लोगो की ख्वाहिश थी और उनमे यह ताकत थी कि अपनी निजी गलतियो से आगे के लिए सबक सीखते। उनमे शक्ति थी, छलकती हुई ज़िदगी थी, तनाव का ध्यान था, काम को किसी-न-किसी तरह पूरा करने की ख्वाहिश थी। ब्रिटिश शासक-वर्ग और उनके साथियो की उपेक्षा और अनुदारता से मिलान करते हुए एक विचित्र असाम्य दिखाई देता था। इस तरह हिंदुस्तान मे, जो परपराओ का देश था, एक व्यग्य-चित्र दिखाई दिया। अग्रेज़, जो एक सक्रिय समाज के नुमाइदे की हैसियत से यहा आये थे, वे अब निष्क्रिय समाज की अपरिवर्तनशील परपरा के खास खभे बन गये थे। हिंदुस्तानियो मे ऐसे बहुत-से लोग थे, जो नई सक्रिय परपरा की नुमाइदगी करते थे और जो सिर्फ राजनैतिक क्षेत्र मे ही नही, बल्कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र मे भी परिवर्तन करने के लिए उत्सुक थे। हा, उन हिंदुस्तानियो के पीछे बडी-बडी ताकतें काम कर रही थी, जिनका शायद खुद उनको भी पता नही था। अभिनय के इस व्यग से यह सचाई ज़रूर ज़ाहिर होती थी कि गुज़रे हुए ज़माने मे हिंदुस्तान मे अग्रेज़ो ने चाहे जो सृजनात्मक और प्रगतिशील काम किया हो, लेकिन अब बहुत अरसे से वह खत्म हो गया है, और अब वह हर तरह की तरक्की के लिए रुकावट डालनेवाला है। उनकी अफसरी ज़िदगी का रवैया धीमा था और वे हिंदुस्तान के सामने जो अहम मसले थे, उनका हल करने मे असमर्थ थे। उनके कथन तक, जिनमे कुछ स्पष्टता और दृढता थी, अब अस्तित्वहीन, अनुपयुक्त और खोखले होते थे।

एक इस प्रकार का कथन प्रचलित है, जिसका ब्रिटिश अधिकारियो ने प्रचार किया है कि अपनी उच्चतर सेवाओ के ज़रिये ब्रिटिश सरकार हमको स्व-शासन की कठिन और जटिल कला सिखाती रही है। अग्रेज़ो के यहा आने और हमको सीख देने के हज़ारो बरस पहले हम अपना काम खुद और वह भी काफी कामयाबी के साथ करते आये थे। बेशक हममे कुछ अच्छे गुणो की कमी है, जो हममे होने चाहिए। लेकिन कुछ भूले हुए लोग तो यहातक कहते हैं कि हमारे अदर ये कमिया ब्रिटिश हुकूमत के ही दौरान मे आ गई हैं। हमारी खामिया चाहे जो हो, हमको यह बात साफ मालूम देती

थी कि यहा की स्थायी सेवाए हिंदुस्तान को किसी भी तरक्की की दिशा मे ले जाने के लिए बिलकुल असमर्थ हैं। ठीक उन्ही गुणो ने, जो उनमे थे, उनको निकम्मा बना दिया था, क्योंकि पुलिस-राज मे जिन गुणो की ज़रूरत होती है, वे उन गुणो से, जिनकी प्रगतिशील लोकतत्री समाज में ज़रूरत होती है, बिलकुल जुदा होते हैं। इससे पहले कि दूसरो को सिखाने की सोचें, उनके लिए अपनी शिक्षा को भूल जाना ज़रूरी था और उनको लेथ[1] नदी मे नहाना था, ताकि वे अपने विगत काल को बिलकुल भूल जायें।

निरकुश केंद्रीय सरकारो के नीचे सूबो की लोकप्रिय सरकारो की अजीब स्थिति थी और इस वजह से तरह-तरह की असाम्य स्थिति देखने को मिली। कांग्रेसी सरकारें नागरिक स्वतत्रता को बनाये रखने के लिए उत्सुक थी और उन्होने सूबो के खुफिया विभाग की व्यापक कार्रवाइयो को रोका। इस खुफिया विभाग का खास काम राजनीतिज्ञों का और उन लोगो का, जिनको सरकार-विरोधी विचारो का समझा जाता था, पीछा करना था। जहा एक तरफ ये कार्रवाइया रोक दी गईं, वहा शाही (केंद्रीय) खुफिया विभाग बराबर और शायद पहले से भी ज्यादा ज़ोरो के साथ काम करता रहा। सिर्फ हमारे ही खतो पर सेंसर नही होता था, बल्कि मत्रियो तक के पत्र-व्यवहार का भी सेंसर होता था, लेकिन यह सब चुपचाप होता था और सरकारी-तौर पर मजूर नही किया जाता था। पिछले पच्चीस या इससे भी ज्यादा बरसो से मैंने ऐसा एक भी खत नही लिखा, जिसको मैंने हिंदुस्तान मे डाला हो, फिर चाहे उसे हिंदुस्तान भेजता हो या विदेश, जिसको लिखते वक्त मुझे यह ध्यान न रहा हो कि यह देखा जायेगा और शायद इसकी नक़ल भी की जायगी। टेलीफोन पर बात करते हुए भी मुझे इस बात का ध्यान रहता है कि सभवत मेरी बातचीत बीच मे सुनी जाये। जो पत्र मेरे पास आये हैं, उनको भी सेंसर से गुज़रना पड़ा है। इसके मानी ये नही हैं कि हमेशा ही और हर खत का सेंसर होता है, कभी-कभी सब खतो को देखा गया है और कभी-कभी कुछ छटे हुए खतो को ही। इसका लडाई से कोई ताल्लुक नही है, उस वक्त तो दोहरा सेंसर होता है।

खुशकिस्मती से हम लोगो ने हमेशा खुले मे काम किया और हमारी राजनैतिक कार्रवाइयो मे छिपाने की कोई भी चीज़ नही रही। फिर भी इस खयाल का बराबर बना रहना कि हमको सुना जायेगा, हमारा पीछा किया जायेगा और हमारे पत्र-व्यवहार का सेंसर किया जायेगा, अच्छा

[1] यूनानी गाथाओ में वर्णित नरक की वह नदी, जिसमें नहाने से नहानेवालों को पिछली बातें भूल जाती हैं। —सं०

नही लगता, उससे झुझलाहट पैदा होती है और एक तरह की रोक रखनी होती है, जिससे कभी-कभी आपसी रिश्तो पर भी बुरा असर पडता है। सेंसर ऊपर से झाक रहा हो, तो मन की बात लिखना आसान नही होता।

मन्त्रियो को बहुत मेहनत करनी होती थी और कुछ की तो तदुरुस्ती ने साथ छोड दिया। उनका स्वास्थ्य गिर गया और उनकी सारी ताजगी गायब हो गई और उनका बिलकुल थका हुआ और मुरझाया हुआ शरीर बाकी बच रहा। लेकिन उद्देश्य के प्रति उनकी निष्ठा उनको खीच ले चली और उन्होने अपने आई० सी० एस० सेक्रेटरियो और उनके सहकारियो से भी खूब काम कराया, उनके दफ्तरो की बिजलिया काफी रात गये तक जलती रहती। जब नवबर, १९३९ मे काग्रेसी सरकारो ने इस्तीफे दिये, तो बहुत-से लोगो ने चैन की सास ली। इसके बाद सरकारी दफ्तर फिर तीसरे पहर ठीक चार बजे बद होने लगे और फिर वे उन मठो के कमरो की तरह हो गये, जहा खामोशी रहती थी और जहा जन-साधारण का स्वागत नही था। जिंदगी का पुराना रवैया और उसकी धीमी रफ्तार फिर आ गई और तीसरे पहर और शाम का वक्त पोलो, टेनिस, ब्रिज, आदि क्लब के खेलो के लिए खाली रहता। दुस्वप्न तिरोहित हो गया था और दैनिक व्यापार और खेल-कूद फिर पुराने ढर्रे से चलाये जा सकते थे। यह सच है कि इस वक्त सिर्फ यूरोप मे लडाई जारी थी और हिटलर के सैनिको ने पोलैंड को कुचल दिया था। लेकिन यह सब तो एक दूर देश मे था। फ़ौजी सिपाही अपना फर्ज़ अदा कर रहे थे, लड रहे थे और मर रहे थे। यहा भी फर्ज़ अदा करना था और वह फर्ज़ यह था कि गोरे आदमियो के बोझ को शान से और काबलियत से ढोया जाय।

काग्रेसी सरकारो ने सूबो मे थोडे-से अरसे तक काम किया, लेकिन उससे ही हमारी यह धारणा और ज्यादा पक्की हो गई कि हिंदुस्तान मे तरक्की के लिए सबसे बडा रोडा वह राजनैतिक और आर्थिक ढाचा है, जो अंग्रेजो ने यहा लाद दिया है। यह भी बिलकुल सच था कि बहुत-सी पुरानी आदतें और सामाजिक रीति-रिवाज प्रगति के लिए बाधक थे और उनको हटाना था। फिर भी हिंदुस्तान की अर्थ-व्यवस्था के विकसित होने की पैदाइशी प्रवृत्ति को इन आदतो और रीति-रिवाजो ने इतना नही रोका, जितना अंग्रेजो के राजनैतिक और आर्थिक घातक फदे ने रोका। अगर यह फौलादी ढाचा न होता, तो विकास लाज़िमी तौर पर होता और साथ ही बहुत-से सामाजिक परिवर्तन होते और बीते हुए रिवाज वगैरह खत्म हो जाते। इसीलिए इस ढाचे को हटाने पर ध्यान देना था, और दूसरे

मामलो मे जो शक्ति खर्च की जाती थी, उससे फायदा नही के बराबर था और वह रेगिस्तान मे हल चलाने की तरह था। गुज़रे ज़माने की अर्ध-सामती ज़मीदारी प्रणाली पर ही उस ढाचे की बुनियाद थी, और साथ ही वह ढाचा उस प्रणाली की हिफाज़त करता था। ब्रिटिश राजनैतिक और आर्थिक ढाचे से हिंदुस्तान मे किसी भी तरह का लोकतन्त्र मेल नही खाता था और उन दोनो मे सघर्ष लाज़िमी था। इसलिए १९३७-३९ का आशिक लोकतन्त्र हमेशा ही सघर्ष के करीब बना रहता। इसलिए ब्रिटिश सरकारी मत यह था कि हिंदुस्तान मे लोकतन्त्र नाकामयाब रहा, क्योकि वे लोग तो उसको सिर्फ इस पैमाने पर ही देख सकते थे कि उनका उस ढाचे पर, उस मूल्याकन पर और उन निहित स्वार्थों पर, जो उन्होने बनाये थे, क्या असर हुआ। चूकि जिस लोकतन्त्र को वे पसद कर सकते थे, वह दब्बू ढग का था और जो लोकतन्त्र सामने आया, उसमे आमूल परिवर्तन करने का इरादा था, इसलिए ब्रिटिश ताकत के लिए जो रास्ता बचा, वह यही था कि वह फिर से तानाशाही हुकूमत पर आ जाये और लोकतन्त्र के सारे दिखावे को खत्म कर दे। इस दृष्टिकोण की वृद्धि और यूरोप मे फासिस्त-मत के जन्म और तरक्की मे एक विशेष साम्य है। यहातक कि वह कानूनी राज्य, जिस पर अग्रेज़ लोगो को हिंदुस्तान मे अभिमान था, अब खत्म हुआ और उसकी जगह एक ऐसा घेरा-सा डाल दिया गया, जिसमे आर्डिनेंस और विशेषाधिकारो का राज था।

५ : अल्पसंख्यको का सवाल : मुस्लिम लीग : मोहम्मद अली जिन्ना

पिछले सात बरसो मे मुस्लिम लीग की बढती एक असाधारण घटना है। १९०६ मे जब यह शुरू हुई तो अग्रेजो ने इसको इस इरादे से बढावा दिया कि मुसलमानो की नई पीढी नेशनल काग्रेस से अलहदा रहे। उसके बाद सामत तत्वो से सचालित, यह एक छोटी-सी उच्च-वर्गीय सस्था रही। आम मुस्लिम जनता मे इसका कोई असर नही था, और न वह इसको जानती थी। अपनी बनावट से ही यह एक छोटे-से समुदाय तक सीमित थी और उसके नेतागण स्थायी थे, जो अपने स्थायित्व को बनाये रखते थे। इतने पर भी घटनाओ ने और मुसलमानो मे मध्यम-वर्ग की बढती ने उसको काग्रेस की तरफ धकेला। पहले महायुद्ध और तुर्की मे खिलाफत और मुस्लिम तीर्थ-स्थानो के मसले की वजह से हिंदुस्तान के मुसलमानो पर एक ज़बरदस्त असर हुआ और वे अत्यत ब्रिटिश-विरोधी हो गये। मुस्लिम लीग बनी हुई ही इस ढग से थी कि वह इस जगी हुई और उत्तेजित

जनता का कोई पथ-निर्देश या नेतृत्व नही कर सकी। असल मे मुस्लिम लीग मे एक घबराहट पैदा हुई और करीब-करीब वह खत्म हो गई। काग्रेस के घनिष्ठ सपर्क मे एक नई मुसलमान सस्था, खिलाफत कमेटी, पैदा हुई। बहुत बडी तादाद मे मुसलमान काग्रेस मे शरीक हो गये और उसके जरिये काम करने लगे। १९२०-२३ के पहले असहयोग आदोलन के बाद खुद खिलाफत कमेटी भी रफ्ता-रफ्ता मिटने लगी, क्योकि अब उसका आधार—तुर्की खिलाफत का मामला—ही खत्म हो गया था। राजनैतिक कार्रवाई से मुस्लिम जनता दूर हटने लगी। यह बात हिंदू जनता मे भी हुई, लेकिन उसका परिमाण कम था। फिर भी मुसलमानो की, खासतौर से बीच के वर्ग के मुसलमानो की, बहुत बडी तादाद काग्रेस के जरिये काम करती रही।

इस दौरान मे कई छोटी-छोटी मुस्लिम सस्थाएं काम करती रही और अक्सर उनमे आपस मे झगडे हुए। उन्हे न तो कोई सार्वजनिक सहयोग हासिल था, और सिवाय उस अहमियत के जो ब्रिटिश सरकार ने उन्हे दे दी थी, न उनकी कोई राजनैतिक अहमियत थी। उनका खास काम था विशेष रियायतो और सरक्षणो की माग करना। वे चाहते थे कि विधानमडलो और सेवाओ मे मुसलमानो का खास खयाल रखा जाये। यह ठीक है कि इस मामले मे वे एक निश्चित मुस्लिम नजरिये की नुमाइदगी करती थी, क्योकि शिक्षा, सेवाओ और उद्योग मे हिंदुओ के ऊचे दर्जो और ज्यादा तादाद की वजह से भी मुसलमानो मे घबराहट और नाराजी थी। श्री मोहम्मदअली जिन्ना ने भारतीय राजनीति से विदा ली, और यही नही, बल्कि हिंदुस्तान से भी विदा ले ली और वह इग्लैंड मे जाकर बस गये।

सन १९३० के दूसरे सविनय अवज्ञा आदोलन मे मुसलमानो का सहयोग बहुत काफी था, अगरचे वह १९२०-२३ के मुकाबले मे कम था। इस आदोलन के सिलसिले में जिन लोगो को जेल भेजा गया, उनमे कम-से-कम दस हजार मुसलमान थे। उत्तरी पच्छिमी सरहदी सूबे ने, जो करीब-क़रीब पूरे तौर से मुस्लिम सूबा है (९५ फी-सदी मुसलमान), इस आदोलन मे एक खास और अहम हिस्सा लिया। यह ज्यादातर खान अब्दुल गफ्फार-खा के काम और शख्सियत की वजह से हुआ, जो इस सूबे के पठानो के माने हुए और प्रिय नेता थे। मौजूदा वक्त मे हिंदुस्तान मे जितनी महत्वपूर्ण घटनाए हुई है, उनमे सबसे ज्यादा अचभा गफ्फार खा के उस कमाल पर है, जिससे उन्होंने अपने झगडालू और भडकीले लोगो को राजनैतिक कार्रवाई के शातिपूर्ण ढग सिखा दिये, जिनमे बहुत तकलीफें

तकलीफ सचमुच ही बेहद थी और उसकी तीखी याद बनी हुई है, फिर भी उनका अनुशासन और आत्म-सयम ऐसा था कि पठानो ने सरकारी ताक़त के ख़िलाफ या अपने विरोधियो के खिलाफ एक भी हिंसा का काम नही किया। जिसे वक्त इस बात को ध्यान मे रखा जाय कि पठान, जो अपनी बदूक को अपने भाई से ज्यादा प्यार करता है, जो बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाता है, और जो थोडी-सी उत्तेजना पर मार डालने के लिए मशहूर हैं, तब यह आत्म-अनुशासन एक अचरज की चीज़ मालूम होता है।

अब्दुल गफ्फार ख़ा के नेतृत्व मे सरहदी सूबा राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ मजबूती से जमा रहा और इसी तरह राजनैतिक दृष्टि से जगे हुए मध्यम-वर्ग के मुसलमानो ने दूसरी जगहो मे भी साथ दिया। किसानो और मजदूरो मे कांग्रेस का असर काफी था। सयुक्त प्रात-जैसे सूबो मे यह असर खासतौर से था, क्योकि वहा पर किसानो और मजदूरो के सिलसिले मे बहुत बढा-चढा कार्यक्रम था। फिर भी यह बात सच थी कि कुल मिलाकर आम मुस्लिम जनता फिर से पुराने, मुकामी और सामती नेताओ की तरफ लौट रही थी। ये नेता उस जनता के सामने हिंदू और दूसरे हितो के खिलाफ मुस्लिम हितो के सरक्षको के रूप में आये।

साप्रदायिक समस्या मे अल्पसख्यको के अधिकारो का इस तरह मेल बिठाना था कि जिसमे बहुसख्यको की कारंवाई के खिलाफ उन्हे काफी सर-क्षण हो। यहा यह बात ध्यान मे रखने की है कि हिंदुस्तान के अल्पसख्यक यूरोप की तरह जातीय या राष्ट्रीय अल्पसख्यक नही हैं—वे धार्मिक रूप से अल्पसख्यक हैं। जातीय रूप से हिंदुस्तान मे एक अजीब मिश्रण है, लेकिन यहा जातीय सवाल न तो उठे हैं और न उठ ही सकते हैं। इन जातीय भिन्नताओ के ऊपर धर्म है, जो एक-दूसरे मे घुला-मिला हुआ है, और उनको अलग-अलग पहचानना अक्सर मुश्किल होता है। ज़ाहिर है धार्मिक दीवारें स्थायी नही होती, क्योकि एक से दूसरे मे धर्म-परिवर्तन हो सकता है और धर्म बदलने से उस आदमी की जातीय पृष्ठभूमि, सास्कृतिक और भाषा सबधी विरासत मिट नही सकती। लफ्ज़ के असली मानो मे, धर्म ने हिंदु-स्तानी राजनैतिक झगडो मे करीब-करीब कोई हिस्सा नही लिया, हा, वैसे इस लफ्ज़ का अक्सर इस्तेमाल किया जाता है और उससे नाजायज़ फायदा उठाया जाता है। अपने सहज रूप मे धार्मिक मतभेदो से कोई अड़चन नही होती, क्योकि उनमे आपस मे बहुत भारी सहनशीलता है। राजनैतिक मामलो मे धर्म की जगह साप्रदायिकता ने ले ली है। यह वह सकरी मनोवृत्ति है, जिसने अपनी बुनियाद किसी धार्मिक गिरोह पर बना ली है, लेकिन

जिसका मकसद दरअसल राजनैतिक ताकत अपने हाथ मे कर लेना और अपने समुदाय को बढावा देना है।

काग्रेस व और दूसरी सस्थाओ ने मुख्तलिफ गिरोहो की रजामदी से इस साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की बार-बार कोशिश की है। कुछ थोडी-सी कामयाबी मिली, लेकिन एक बुनियादी दुश्वारी थी, यानी ब्रिटिश सरकार की मौजूदगी और उसकी नीति। कुदरती तौर पर ब्रिटिश लोग किसी ऐसे असली समझौते के पक्ष मे नही थे, जिससे वह राजनैतिक आदोलन, जो अब उनके खिलाफ व्यापक हो गया है, मजबूत हो। एक ऐसी तीन-तरफ़ा स्थिति बन गई थी, जिसमे खास रियायतें देकर सरकार एक-दूसरे को लडा सकती थी। अगर और पार्टिया काफी अक्लमद होती, तो उन्होंने इस रुकावट को भी पार कर लिया होता, लेकिन उनमे अक्लमदी और दूरदर्शिता की कमी थी। जब-जब वे किसी समझौते पर पहुचनेवाली ही होती, तभी सरकार कोई ऐसा कदम उठाती कि सतुलन बिगड जाता।

जिस तरह राष्ट्र-सघ (लीग ऑव नेशन्स) ने निश्चित किया था, उस तरह अल्पसख्यको की हिफाजत के लिए साधारण प्रबध करने के सिलसिले मे कोई झगडा नही था। सिर्फ उतनी ही नही, बल्कि उससे कुछ ज्यादा बातें मजूर थी। धर्म, सस्कृति, भाषा और व्यक्ति और समुदाय के बुनियादी 'अधिकारो की रक्षा की जाती और एक ऐसे सविधान मे, जो बराबरी से सब पर लागू होता, बुनियादी सवैधानिक प्रावधानो के जरिये ये सुनिश्चित किये जाते। इसके अलावा हिंदुस्तान का सारा इतिहास अल्पसख्यको या विचित्र जातीय समुदाय के प्रति सहनशीलता का ही नही, बल्कि प्रोत्साहन का साक्षी था। यूरोप मे जैसे तीखे धार्मिक झगडे रहे, और जैसा धार्मिक उत्पीडन हुआ है, उस ढग की चीज हिंदुस्तान के इतिहास मे कही भी दिखाई नही देती। इसलिए धार्मिक और सास्कृतिक उदारता और सहनशीलता के विचारो को सीखने के लिए हमको कही बाहर नही जाना था, ये बातें तो हिंदुस्तान की जिंदगी मे शुरू से थी। जाती और राजनैतिक अधिकारो के सिलसिले में हम पर फ्रान्सीसी और अमरीकी क्रातियो का, और साथ ही ब्रिटिश पार्लमेंट के सवैधानिक इतिहास का, असर पडा था। समाजवादी विचारधारा और सोवियत क्राति का असर तो बाद मे हुआ, और उसने हमारी विचारधारा मे आर्थिक दृष्टिकोण को बहुत महत्व दे दिया।

व्यक्ति और समुदाय के ऐसे सारे अधिकारो की पूरी हिफाजत के अलावा यह बात सबको मजूर थी कि सरकारी तौर पर और व्यक्तिगत साधनो से ऐसी हर एक सामाजिक और पारपरिक रुकावट को हटा दिया

जाये, जिससे आपस मे दुर्भावनाए होती हैं, और यह वात मजूर थी कि शिक्षा के और आर्थिक दृष्टिकोण से पिछडे हुए वर्गो को इस वात मे मदद दी जाये कि वे जल्दी-से-जल्दी अपनी कमियो से छुटकारा पा लें। यह वात खासतौर से दलित जातियो पर लागू थी। साथ ही यह वात भी साफ थी कि नागरिकता की वे सारी सुविधाए, जो पुरुषो को प्राप्त होगी, स्त्रियो को भी प्राप्त होगी।

तव क्या वात वाकी थी? यह डर कि वहुसख्यक अल्पसख्यको को राजनैतिक रूप से दवा देगे। साधारणतया इस तादाद के मानी थे किसान और मजदूर, जिनमे हर धर्म के माननेवाले वे आम लोग थे, जिनको वहुत अरसे से सिर्फ विदेशी राज्य ने ही नही, वल्कि खुद अपने ऊचे वर्ग के लोगो ने चूसा था। धर्म और सस्कृति की हिफाज़त का आश्वासन देने के वाद जो वडे मसले सामने आते थे, वे आर्थिक होते, और उनका किसी आदमी के धर्म से कोई ताल्लुक न होता, और अगर धर्म खुद किसी निहित स्वार्थ की नुमाइदगी न करे, तो धार्मिक झगडो का कोई सवाल ही नही था। हा, वर्ग-सघर्ष शायद होते। फिर भी लोग धार्मिक-विच्छेद की दिशाओ मे सोचने के ऐसे आदी हो गये थे और सरकारी नीति और साम्प्रदायिक व धार्मिक सस्थाओ से इसके लिए वरावर वढावा मिलता रहता था कि यह डर कि वहुसख्यक धार्मिक जाति, यानी हिंदू जाति, दूसरो को दवा लेगी, वहुत-से मुसलमानो के दिमाग मे वना रहा। यह वात समझ मे नही आती थी कि मुसलमानो-जैसी वडी अल्पसख्यक जाति के हितो को कोई वहुसख्यक जाति भी किस तरह चोट पहुचा सकती है, क्योकि मुसलमान खासतौर से देश के कुछ हिस्सो मे केंद्रित थे और ये हिस्से खुदमुख्तार होते। लेकिन भय मे तर्क कहा होता है।

मुसलमानो (और वाद मे और दूसरे छोटे समुदायो) के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र शुरू किये गये और उनको उनकी आवादी के अनुपात से ज्यादा जगहे दी गई। फिर भी किसी भी आम लोगो की नुमाइदा असेंवली में ज्यादा जगहे देकर अल्पसख्यको को वहुसख्यक नही वनाया जा सकता। असल मे पृथक निर्वाचन से सरक्षित समुदाय के लिए स्थिति कुछ खराव हो गई, क्योकि तव वहुसख्यको ने उनमे दिलचस्पी लेना छोड दिया। उस वक्त आपसी सोच-विचार का वहुत कम मौका था। सयुक्त निर्वाचन मे आपस मे मेल विठाने की लाज़िमी कोशिश होनी चाहिए, क्योकि तव तो हर एक उम्मीदवार को हर समुदाय का साथ लेना होता है। काग्रेस इस मामले मे आगे वढी और उसने घोषणा की कि अगर कोई ऐसा मामला हुआ, जिसका

अल्पसख्यको मे मतभेद हो, तो उसका फैसला बहुसख्यको के वोटो से नही होगा, वल्कि वह मामला एक निष्पक्ष न्यायालय को, या जरूरत पडने पर किसी अतर्राष्ट्रीय पच को सौंपा जाना चाहिए और उसका फैसला आखिर होना चाहिए।

समझ मे नही आता कि किसी भी लोकतत्री ढाचे मे किसी धार्मिक अल्पसख्यक समुदाय को इससे ज्यादा क्या सरक्षण दिया जा सकता है? साथ ही यह बात याद रखनी चाहिए कि कुछ सूबो मे मुसलमान खुद बहुसख्यक थे और चूकि वे सूबे खुदमुख्तार होते, इसलिए कुछ अखिल भारतीय बातो पर ध्यान रखते हुए, उन सूबो मे मुसलमान बहुसख्यको को अपनी पसद के मुताबिक काम करने की पूरी आज़ादी होती। केंद्रीय सरकार मे मुसलमानो का लाज़िमी तौर से एक अहम हिस्सा होता। मुस्लिम बहुसख्यक प्रातो मे साप्रदायिक-धार्मिक समस्या उलटी थी, क्योकि यहा पर दूसरे अल्पसख्यको (यानी हिंदू और सिख लोगो) की मुसलमान बहुसख्यको के खिलाफ हिफाज़त की माग थी। इस तरह पजाब मे हिंदू, मुस्लिम और सिखो का त्रिभुज था। अगर मुसलमानो का निर्वाचन-क्षेत्र अलग था, तो दूसरे लोग भी अपने लिए खास हिफाज़त की माग करते। एक बार पृथक निर्वाचन शुरू कर देने के बाद बटवारे और हिस्से का और उससे पैदा हुई कठिनाइयो का कोई खात्मा ही नही था। जाहिर है कि किसी समुदाय को ज्यादा नुमाइदगी देने के मानी ये थे कि दूसरे समुदाय को घाटा रहे और उसे अपनी आबादी के अनुपात से कम जगहे मिले। इसका नतीजा, और खासतौर से बगाल मे, बडा अजीब हुआ। वहा यूरोपीयो को बेहद नुमाइदगी देने की वजह से आम निर्वाचन के लिए दी हुई जगहें बुरी तरह कम हो गईं। इस तरह बगाल के उस बुद्धिजीवी वर्ग ने, जिसने हिंदुस्तानी राजनीति और आज़ादी की लडाई मे एक खास हिस्सा लिया था, अचानक ही यह महसूस किया कि सूबे के विधानमडल मे उसकी स्थिति बहुत कमज़ोर है और इस स्थिति को कानूनी तौर पर निश्चित और सीमित कर दिया गया है।

काग्रेस ने बहुत-सी गलतिया की लेकिन ये गलतिया अपेक्षाकृत छोटे सवालो मे या कोशिश के ढग मे थी। यह बात ज़ाहिर थी कि सिर्फ राजनैतिक कारणो से भी काग्रेस साप्रदायिक हल निकालने के लिए उत्सुक और चिंतित थी और इस तरह तरक्की के रास्ते की अडचनो को दूर करना चाहती थी। विशुद्ध साप्रदायिक सस्थाओ मे ऐसी कोई उत्सुकता नही थी, क्योंकि उनके अस्तित्व का मुख्य कारण यह था कि वे अपने-अपने समु-

दायों की खास मांगों पर जोर दे और इसका नतीजा यह हुआ कि सारे ढांचे को यथावत बनाये रखने में उनका एक निहित स्वार्थ था। मेंबरों की गिनती के लिहाज से काग्रेस में ज्यादातर हिंदू थे, लेकिन साथ ही उसमें मुसलमान भी बहुत बड़ी तादाद में थे और दूसरे धार्मिक समुदाय, मसलन सिख और ईसाई वगैरह भी थे। इस तरह उसे हर चीज पर राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से सोचना होता था। उसके लिए जो चीज सबसे ज्यादा अहम थी, वह थी कौमी आजादी और एक स्वाधीन लोकतत्री राज्य की स्थापना। वह इस बात को महसूस करती थी कि हिंदुस्तान जैसे विस्तृत और बहुरंगी देश में ऐसा साधारण लोकतत्र, जिसमें सारी ताकत बहुसख्यक दल पर निर्भर हो, और जिसको अल्पसख्यकों को कुचलने या उनकी अवहेलना करने का अधिकार हो, न तो सतोषप्रद ही होगा, और न वाछनीय, वैसे उसे स्थापित करना चाहे सभव ही क्यों न हो। हम लोग एका चाहते थे और उसको मानकर चलते थे; लेकिन हमें इसकी कोई वजह दिखाई नही देती थी कि हिंदुस्तान के सास्कृतिक जीवन की अनेकता और सपन्नता को सिर्फ एक सांचे में ढाल दिया जाय। इसीलिए बहुत हद तक प्रादेशिक स्वायत्तता मान ली गई थी और व्यक्तिगत और सामुदायिक आजादी और सास्कृतिक तरक्की के लिए सरक्षण भी मजूर कर लिये गये थे।

लेकिन दो बुनियादी सवालों पर काग्रेस दृढ थी—राष्ट्रीय-ऐक्य और लोकतंत्र। ये बुनियादें ऐसी थी, जिन पर वह कायम हुई थी और आधी सदी के दौर में खुद उसके विकास ने इन बातों पर जोर दिया था। जहातक मुझे पता है, काग्रेस दुनिया-भर की ज्यादा-से-ज्यादा लोकतत्री सस्थाओं में से एक है। यह बात सिद्धात मे भी है और व्यवहार मे भी। अपनी उन दसियों हजार स्थानीय सस्थाओं के जरिये, जो देश भर में फैली हुई हैं, उसने जनता को लोकतत्री ढग की शिक्षा दी है और इसमे उसे बहुत बडी कामयाबी मिली है। इस बात से कि गाधीजी-जैसा लोकप्रिय और प्रभावशाली व्यक्तित्व उससे सबधित रहा, काग्रेस के लोकतत्र मे कोई कमी नही हुई। सकट और सघर्ष के मौकों पर पथ-निर्देश के लिए नेता की ओर देखने की अनिवार्य प्रवृत्ति थी और ऐसा हर एक देश में होता है। साथ ही ऐसे मौके यहा बराबर आये। काग्रेस को तानाशाही जमात कहने से ज्यादा ग़लत बात और कोई नही हो सकती और इस सिलसिले मे एक मजेदार और ध्यान देने लायक बात यह है कि ऐसा आरोप आमतौर पर ब्रिटिश हुकूमत के उन ऊचे प्रतिनिधियो द्वारा लगाया जाता है, जो हिंदुस्तान में निरकुशता और तानाशाही के प्रतीक हैं।

गुज़रे ज़माने मे ब्रिटिश सरकार भी—कम-से-कम सिद्धात-रूप से—हिंदुस्तान के एके और लोकतत्र की हामी रही है। उसने इस बात मे फख्र महसूस किया है कि उसके राज्य से हिंदुस्तान मे राजनैतिक एका हुआ, हालाकि वह एक गुलामी का एका था। इसके अलावा उस सरकार न हमे बताया कि वह हमको लोकतत्र के ढग और ढर्रे सिखा रही है। लेकिन विचित्र-सी बात है कि उसकी नीति साफ तौर पर हमे ऐसी दिशा मे ले गई है, जिसमे न तो ऐक्य है और न लोकतत्र। अगस्त, १९४० मे काग्रेस कार्य-कारिणी यह घोषणा करने के लिए बाध्य हुई कि हिंदुस्तान मे ब्रिटिश सरकार की नीति "जनता मे दुर्भावनाए पैदा करती है और तनाव बढाती है।" ब्रिटिश सरकार के जिम्मेदार लोगो ने हम लोगो को खुले तौर पर यह बताया कि शायद किसी नई व्यवस्था के पक्ष मे हिंदुस्तान के एके का बलिदान करना पडे और दूसरे यह कि लोकतत्र हिंदुस्तान के लिए उपयुक्त नही है। आज़ादी की और लोकतत्री सरकार कायम करने की हिंदुस्तान की माग का यही जवाब उनके पास बाकी रह गया था। इस उत्तर से यह बात भी साथ-साथ जान पडती है कि अग्रेज खुद उन दो बडे मकसदो मे, जो उन्होंने अपने सामने रखे थे, नाकामयाब हुए हैं। इस बात को समझने मे उन्हें डेढ सौ बरस लग गये।

साप्रदायिक समस्या का ऐसा हल पाने मे, जो सब पार्टियो को मजूर होता, हम लोग नाकामयाब रहे, और चूकि उस नाकामयाबी के नतीजे हमको भोगने हैं, इसलिए निश्चय ही हम उसके दोष से बच नही सकते। लेकिन किसी अहम प्रस्ताव या रद्दो-बदल को कोई भी आदमी किस तरह से सबसे मनवा सकता है? हमेशा ही ऐसे सामती और प्रतिक्रियावादी अनासिर होते है, जो हर तरह की तब्दीली के खिलाफ होते हैं, और फिर वे लोग है, जो राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक रद्दो-बदल चाहते है। दोनो के बीच ढुल-मुल समूह होते है। अगर एक छोटा गुट तब्दीली पर वीटो (निषेध) का इस्तेमाल कर सकता है, तो निश्चय ही तब्दीली कभी हो ही नही सकती। जिस वक्त शासक-वर्ग की यह नीति हो कि ऐसे समुदायो को पैदा किया जाये और उनको बढावा दिया जाये, फिर चाहे उनका परिमाण आबादी का अणु-मात्र ही क्यो न हो, तब तब्दीली सिर्फ एक सफल क्राति के ज़रिये ही हो सकती है। यह बात जाहिर है कि हिंदुस्तान मे बहुत-से सामती और प्रतिक्रियावादी समुदाय है, जिनमे से कुछ तो हिंदुस्तान की ही उपज हैं, और कुछ अग्रेजो की देन है। तादाद के लिहाज से चाहे वे छोटे ही क्यो न हो, लेकिन उनके पास ब्रिटिश ताकत की मदद है।

मुसलमानो मे मुस्लिम लीग के अलावा और बहुत-सी सस्थाए उठ खडी हुई। उनमे से एक पुरानी सस्था जमीअत-उल-उलेमा थी, जिसमे सारे हिंदुस्तान के मौलवी और पुराने ढग के आलिम थे। उसका आम नज़रिया परपरावादी और अनुदार था और खासतौर से मज़हबी था, फिर भी राजनैतिक दृष्टिकोण से उसकी विचारधारा उन्नत थी और वह साम्राज्यवाद के खिलाफ थी। राजनैतिक स्तर पर उसने अकसर काग्रेस के साथ हाथ मिलाकर काम किया और उसके बहुत-से मेबर काग्रेस के मेबर थे और वे काग्रेस-सगठन के ज़रिये काम करते थे। अहरार जमात की स्थापना बाद मे हुई और पजाब मे वह सबसे ज्यादा मज़बूत थी। इसमे खासतौर से निचले मध्यम-वर्ग के मुसलमान थे और खास हिस्सो में इसका आम जनता मे भी काफी असर था। हालाकि मोमिन लोगो की (जिसमे खासतौर से जुलाहे थे) गिनती बहुत ज्यादा थी, फिर भी वे लोग मुसलमानो मे सबसे ज्यादा ग़रीब और पिछडे हुए थे, कमज़ोर और असगठित थे। उनकी काग्रेस के साथ दोस्ती थी और वे मुस्लिम लीग के खिलाफ़ थे। कमज़ोर होने की वजह से वे राजनैतिक कार्रवाई से बचते थे। बगाल मे कृषक-सभा थी। जमीअत-उल-उलेमा के लोग और अहरारी, दोनो ही, अक्सर काग्रेस के साधारण कार्यक्रम मे और ब्रिटिश सरकार के साथ आक्रामक लडाइयों में साथ देते थे और तकलीफो का सामना करते थे। वह खास मुसलमानी सस्था, जिसकी ब्रिटिश अधिकारियों के साथ लफ्ज़ी लडाइयो के अलावा और कैसी भी लडाई नही हुई, मुस्लिम लीग है। इसमे जितने भी हेर-फेर और चढाव-उतार हुए हैं, यहातक कि उस वक्त भी, जब उसमे बहुत बडी तादाद मे लोग शामिल हुए हैं, उसका उच्चवर्गीय सामती नेतृत्व बराबर बना रहा है।

इसके अलावा शिया मुसलमान थे, जो अलग सगठित थे, पर सुसगठित नही थे और उनका खास मकसद राजनैतिक मार्गें पेश करना था। अरब मे इस्लाम के शुरू के दिनो मे खिलाफत के उत्तराधिकारी होने के सिलसिले मे एक तीखी लडाई हुई और मुसलमानो मे एक दरार पड गई, जिससे शिया और सुन्नी नाम के दो समुदाय या सप्रदाय बन गये। यह झगडा चिरजीवी हो गया और हालाकि उनकी उस दरार की अब कोई राजनैतिक अहमियत नही रही है, फिर भी दोनो समुदाय अब भी अलहदा हैं। हिंदुस्तान मे और ईरान के सिवाय और दूसरे मुसलमान मुल्कों मे सुन्नियो की तादाद ज्यादा है। ईरान मे शिया बहुसख्यक हैं। इन धार्मिक समुदायो मे कभी-कभी धार्मिक झगडे होते रहे हैं। हिंदुस्तान में शिया-सगठन, जैसा कुछ भी है, मुस्लिम लीग से अलहदा रहा है और उसका उससे

मतभेद है। वह सबके लिए संयुक्त निर्वाचन के पक्ष में है। वैसे बहुत-से मशहूर शिया लोग लीग में भी हैं।

इन सब मुस्लिम संस्थाओ ने, और इसके अलावा कुछ दूसरी मुस्लिम संस्थाओ ने (और इनमे मुस्लिम लीग शामिल नहीं है) आज़ाद मुस्लिम कान्फ्रेंस का काम बढ़ाने के लिए आपस मे हाथ मिला लिये। यह कान्फ्रेंस मुस्लिम लीग से बिलकुल अलग ढंग पर मुसलमानो के एक संयुक्त मोर्चे की तरह थी। इस कान्फ्रेंस का पहला सफल जलसा दिल्ली मे १९४० में हुआ, जिसमे सब जगह के और इन सब संस्थाओ के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

हिंदुओ की खास सांप्रदायिक संस्था हिंदू महासभा है, जो मुस्लिम लीग के बर अक्स है और मुक़ाबले में कम महत्व की है। लीग की तरह वह भी आक्रामक रूप से सांप्रदायिक है, लेकिन वह अपने दृष्टिकोण की संकीर्णता को कुछ अस्पष्ट राष्ट्रीय शब्दावली से छिपाने की कोशिश करती है। वैसे उसका दृष्टिकोण प्रगतिशील नहीं है और वह फिर से बीते हुए युग को वापस लाना चाहती है। उसे बदक़िस्मती से कुछ ऐसे नेता मिले हैं, जो मुस्लिम लीग के नेताओ की तरह बहुत ग़ैर-ज़िम्मेदार और उत्तेजक बकवास करते हैं। यह लफ़्ज़ी लड़ाई, जो दोनो तरफ़ से चलती रहती है और बराबर झुंझलाहट पैदा करती है, उनके लिए काम की जगह ले लेती है।

गुज़रे ज़माने में मुस्लिम लीग का सांप्रदायिक रुख अक्सर दिक़्क़त डालनेवाला और बेजा था, लेकिन हिंदू महासभा का रुख भी कुछ कम बेजा नहीं था। पंजाब और सिंध के अल्पसंख्यक हिंदू और पंजाब का महत्वपूर्ण सिख समुदाय समझौते के रास्ते में अक्सर रोड़े अटकाता रहा। ब्रिटिश नीति बराबर यह थी कि इन इख़्तलाफ़ों पर ज़ोर दिया जाय और उनको बढ़ावा दिया जाय और उसने कांग्रेस के खिलाफ़ इन सांप्रदायिक संस्थाओं को ज़्यादा अहमियत दी।

किसी समुदाय या पार्टी की अहमियत की, या कम-से-कम जनता पर उसके असर की, एक जांच चुनाव है। १९३७ मे हिंदुस्तान के आम चुनाव में हिंदू महासभा बिलकुल नाकामयाब रही। नक़्शे मे उसकी कोई भी जगह नहीं थी। मुस्लिम लीग ने इसके मुक़ाबले में ज़्यादा कामयाबी पाई, लेकिन कुल मिलाकर यह भी कोई बड़ी कामयाबी न थी, खासतौर से उन सूबो में, जहा मुस्लिम आबादी की प्रधानता थी। पंजाब और सिंध मे तो वह बिलकुल नाकामयाब रही, बंगाल में उसे केवल आंशिक सफलता मिली। उत्तर-पच्छिमी सूबे में बाद मे कांग्रेस ने वज़ारत बना ली। मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रांतो में लीग कुल मिलाकर ज़्यादा कामयाब रही, लेकिन

दूसरे आज़ाद तथा कांग्रेसी टिकटों पर खड़े मुसलमान भी चुने गये।

इसके बाद सूबों में कांग्रेसी सरकारों और खुद कांग्रेस-संस्था के खिलाफ़ मुस्लिम लीग की तरफ़ से एक खास आंदोलन शुरू हुआ। रोज़-रोज़ और बार-बार यह दोहराया गया कि ये कांग्रेसी सरकारें मुसलमानों पर 'ज़ुल्म' कर रही हैं। इन सरकारों में मुसलमान मंत्री भी थे, लेकिन वे मुस्लिम लीग के मेंबर नहीं थे। ये 'ज़ुल्म' क्या थे, यह आमतौर पर नहीं बताया गया। छोटी-छोटी मुक़ामी घटनाओं को, जिनका सरकार से कोई ताल्लुक़ नहीं था, तोड़ा-मरोड़ा गया और उनको बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया। कुछ महक़मों की कुछ छोटी-छोटी ग़लतियां, जिनको फ़ौरन ही ठीक कर दिया गया, 'ज़ुल्म' बन गईं। कभी-कभी बिलकुल झूठी और बे-बुनियाद शिक़ायतें की गईं, यहांतक कि एक रिपोर्ट भी निकाली गई और उसमें बड़ी-बड़ी अजीब बातें थीं, लेकिन उनका सचाई से कोई ताल्लुक नहीं था। जिन लोगों ने शिक़ायतें की थीं, कांग्रेसी सरकारों ने उन लोगों को न्योता दिया कि वे जांच के लिए ब्यौरा दें या खुद ही सरकारी मदद लेकर छान-बीन करें। इस सहयोग का किसीने भी फ़ायदा नहीं उठाया। फिर भी लीग की लड़ाई बिना किसी रोक-टोक के चलती रही। सन १९४० के शुरू में कांग्रेस मंत्रि-मंडलों के इस्तीफ़ा देने के कुछ ही बाद तत्कालीन कांग्रेस सभापति डा० राजेंद्रप्रसाद ने मिस्टर एम० ए० जिन्ना को लिखा और साथ ही एक सार्वजनिक वक्तव्य दिया और मुस्लिम लीग को कांग्रेस के खिलाफ़ फ़ेडरल कोर्ट के सामने जांच और फ़ैसले के लिए शिक़ायत और सबूत भेजने को निमंत्रित किया। मिस्टर जिन्ना ने इस प्रस्ताव से इन्कार कर दिया, और इस सिलसिले में एक शाही जांच कमीशन तैनात करने की संभावना के बारे में इशारा किया। इस तरह के कमीशन को नियुक्त करने का कोई सवाल नहीं था, और ऐसा तो सिर्फ़ ब्रिटिश सरकार ही कर सकती थी। कुछ ब्रिटिश गवर्नरों ने, जिन्होंने कांग्रेसी सरकारों के वक्त में काम किया था, सार्वजनिक रूप से यह कहा कि अल्पसंख्यकों के साथ व्यवहार के सिलसिले में उन्हें कोई भी आपत्तिजनक बात नहीं मिली थी। उन्हें सन १९३५ के एक्ट के मुताबिक़ ज़रूरत पड़ने पर अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए विशेष अधिकार मिले हुए थे।

हिटलर के अपने हाथ में ताक़त कर लेने के बाद प्रचार के नाज़ी ढंग का मैंने गहरा अध्ययन किया था और मुझे यह देखकर ताज्जुब हुआ कि कुछ वैसी ही चीज़ हिंदुस्तान में हो रही थी। एक साल बाद, १९३८ में, जब चेकोस्लोवेकिया को सूडेटनलैंड-संकट का सामना करना पड़ा, तो

वहां पर काम में लाये गये नाजीढंग का मुस्लिम लीग के खास आदमियों द्वारा अध्ययन किया गया और उन्होंने तारीफ़ के साथ उनका ज़िक्र किया। हिंदुस्तान के मुसलमानों और सुडेटनलैंड के जर्मनों का मिलान किया गया। व्याख्यानों और कुछ अखबारों में उत्तेजना और लड़ाई के लिए उकसाव साफ़ ज़ाहिर होता था। एक कांग्रेसी मुसलमान मंत्री को छुरा मार दिया गया, लेकिन मुस्लिम लीग के किसी भी नेता की तरफ़ से इसकी निंदा नहीं की गई; बल्कि सच तो यह है कि उसको माफ़ी के क़ाबिल समझा गया। जब-तब हिंसा के और दूसरे प्रदर्शन भी हुए।

इन घटनाओं से और सार्वजनिक जीवन के मापदंड के गिर जाने से मुझे बहुत ज्यादा नाउम्मीदी हुई। हिंसा, बेहूदगी और ग़ैर-ज़िम्मेदारी बढ़ रही थी और ऐसा मालूम होता था कि मुस्लिम लीग के ज़िम्मेदार नेताओं की उसके लिए रज़ामंदी थी। इनमें से कुछ नेताओं को मैंने लिखा और उनसे इस प्रवृत्ति को रोकने की प्रार्थना की, लेकिन कोई कामयाबी नहीं हुई। जहांतक कांग्रेसी सरकारों का सवाल है, यह साफ़ उनके हित में था कि वे हर अल्पसंख्यक समुदाय को अपने साथ लेतीं और उन्होंने इसके लिए पूरी-पूरी कोशिश की। असल में कुछ हल्क़ों से तो यह शिक़ायत हुई कि कांग्रेसी सरकारें मुसलमानों के साथ बेजा तरफ़दारी कर रही थीं और उसकी वजह से दूसरे समुदायों को घाटे में रहना पड़ता था। लेकिन यह सवाल किसी खास शिक़ायत का नहीं था, जिसका इलाज किया जा सके, और न वह किसी मामले पर ढंग से सोच-विचार करने का ही सवाल था। मुस्लिम लीग के मेंबरों और उससे हमदर्दी रखनेवाले लोगों की तरफ़ से मुस्लिम जनता को यह इतमीनान दिलाने का ज़बरदस्त आंदोलन चल रहा था कि बड़ी भयकर घटनाएं घट रही हैं और उनके लिए कांग्रेस क़ुसूरवार है। वे भयंकर बातें क्या थीं, यह किसीको भी नहीं मालूम था। लेकिन यह बात तय है कि इस शोर और हुल्लड़ के पीछे यहां नहीं तो कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ ज़रूर होगा। उप-चुनावों के मौक़ों पर यह आवाज़ उठाई गई कि इस्लाम खतरे में है और मुस्लिम लीगी उम्मीदवार को वोट देने के लिए मतदाताओं से क़ुरान की क़सम खाने को कहा गया।

आम मुस्लिम जनता पर इस सबका बेशक असर हुआ। फिर भी यह देखकर ताज्जुब होता है कि कितने लोगों ने उसका मुक़ाबला किया। ज्यादातर उप-चुनावों में लीग जीती और कुछ में वह हारी, और उस वक़्त भी, जबकि लीग जीती, अल्पसंख्यक मतदाताओं की ऐसी बहुत बड़ी तादाद थी, जो लीग के खिलाफ़ गई और उस पर कांग्रेस के कृषि-कार्यक्रम का

ज्यादा असर था। लेकिन अपने इतिहास में मुस्लिम लीग को पहली बार आम जनता का सहारा मिला, और जन-संगठन के रूप में उसकी तरक्क़ी शुरू हुई। जो कुछ हो रहा था, वह मुझे नापसद था, फिर भी एक ढंग से मैंने इस तब्दीली का स्वागत किया, क्योंकि मेरा ऐसा खयाल था कि शायद आखिर मे इसके फलस्वरूप सामंती नेतृत्व में तब्दीली आये और ज्यादा प्रगतिशील हिस्से आगे आयें। अबतक जो असली मुश्किल थी, वह यह थी कि मुसलमान राजनैतिक और सामाजिक नजरिये से बहुत ज्यादा पिछड़े हुए थे, और इसकी वजह से प्रतिक्रियावादी नेतागण उनका नाजायज़ फ़ायदा उठा सकते थे।

मुस्लिम लीग के अपने ज्यादातर साथियों के मुकाबले में श्री मोहम्मद अली जिन्ना ज्यादा आगे बढे हुए थे। असल में मिस्टर जिन्ना और उनके साथियो मे ज़मीन-आसमान का फर्क था और इसलिए लाज़िमी तौर पर वह मुस्लिम लीग के एकमात्र नेता थे। कई बार उन्होंने सार्वजनिक मंच से अपने साथियो की अवसरवादिता और उससे भी बड़ी खामियों पर अपना बडा भारी असंतोष जाहिर किया था। वह इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि मुसलमानो में निस्वार्थ, प्रगतिशील और साहसी समुदाय का अधिकाश कांग्रेस मे शामिल हो चुका था और उसके जरिये काम करता था। फिर भी भाग्य ने या घटना-चक्र ने उनको उन लोगों के ही बीच मे धकेल दिया था, जिनके लिए उनके दिल मे कोई इज्जत नहीं थी। वह उनके नेता थे, लेकिन वह उनको अपने साथ सिर्फ़ उसी हालत में रख सकते थे, जबकि उनकी प्रतिक्रियावादी विचारधारा मे वह खुद एक क़ैदी बन जाते। यह बात नही कि वह अनिच्छित कैदी हो। जहातक विचारधारा का सवाल है, अपनी ऊपरी आधुनिकता के होते हुए भी वह पुरानी पीढ़ी के थे, जो आधुनिक राजनैतिक विचारधारा से क़रीब-क़रीब बेखबर थी। ऐसा मालूम होता है कि अर्थशास्त्र से, जिसकी आजकल सारी दुनिया पर छाया है, वह नावाक़िफ थे। जाहिरा तौर पर उन असाधारण घटनाओं का, जो दुनिया-भर मे पहले महायुद्ध के बाद हुई थी, उन पर कोई भी असर नही हुआ था। उन्होंने कांग्रेस को उस वक्त छोडा, जब उसने आगे की तरफ़ अपना राजनैतिक डग भरा था। ज्यो-ज्यो कांग्रेस का नज़रिया ज्यादा आर्थिक और सार्वजनिक होता गया, यह खाई और भी चौडी होती गई। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि नज़रिये और विचारधारा के लिहाज से मिस्टर जिन्ना ठीक उसी जगह बने रहे, जहा वह एक पीढी पहले थे, या शायद वह अब कुछ और पीछे हट गये थे, क्योंकि अब वह दोनो चीज़ो

की—हिंदुस्तान के एके और लोकतंत्र की—निंदा करते थे। उन्होंने कहा है कि "वे लोग शासन की किसी ऐसी प्रणाली मे नहीं रहेंगे, जिसकी बुनियाद पश्चिमी लोकतंत्र के बेवकूफ़ी से भरे हुए खयालों पर है।" उनको यह बात समझने में एक लंबा अरसा लगा कि अपनी जिंदगी के काफी लंबे हिस्से मे वह बराबर जिस बात के समर्थक रहे थे, वह बेवकूफ़ी से भरी हुई थी।

खुद मुस्लिम लीग में भी मिस्टर जिन्ना अकेले-से आदमी हैं, वह अपने-आपको अपने घनिष्ठतम साथियों से भी अलग रखते हैं; उनकी इज्ज़त काफ़ी, लेकिन दूर से होती है, प्रेम करने के मुकाबले लोग उनसे डरते ज्यादा हैं। एक राजनीतिज्ञ के नाते उनकी योग्यता मे कोई भी शक नहीं है, लेकिन किसी तरह से वह योग्यता आजकल हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य की कुछ अजीब शर्तों से बनी हुई है। एक वकील-राजनीतिज्ञ और जोड़-तोड़ लगानेवाले की हैसियत से तो उनकी काबलियत जाहिर होती है; और वह उन लोगो मे से हैं, जो यह खयाल करते हैं कि राष्ट्रवादी हिंदुस्तान और ब्रिटिश ताक़त का संतुलन उनके हाथों मे है। अगर हालतें दूसरी हों और अगर उन्हें राजनैतिक और आर्थिक असली मसलों का सामना करना हो, तो यह कहना मुश्किल है कि यह योग्यता उन्हें कितनी दूर ले जायेगी। शायद उन्हें खुद भी इस बारे मे शक है, हलाकि उनकी अपने बारे मे कोई मामूली राय नहीं है। शायद यह शक उनके अंदर की उस उप-चेतन प्रवृत्ति की अंदरूनी सचाई हो, जिसकी वजह से वह तब्दीली के खिलाफ हैं और चीज़ों को ज्यों-का-त्यों चलने देना चाहते हैं और जिसकी वजह से उन लोगों के साथ-साथ, जिनसे वह पूरी-पूरी तरह सहमत नहीं है, तर्कपूर्ण विवाद और समस्याओं के गंभीर विवेचन से बचना चाहते हैं। इस मौजूदा सांचे मे तो वह सही बैठते हैं, लेकिन वह या और कोई आदमी दूसरे सांचे में सही बैठेंगे या नहीं, यह कहना मुश्किल है। किस बात की लगन उन्हें चालू रखती है और किस मक़सद के लिए वह काम करते हैं? या कहीं ऐसी बात तो नहीं है कि उनमे किसी भी चीज़ की लगन नहीं है? और शायद उन्हें सिर्फ़ राजनैतिक शतरंज में मज़ा आता है, और उसमे कभी-कभी उन्हें—"मैंने मात दे दी!"—यह कहने का मौका मिलता है? ऐसा मालूम होता है कि कांग्रेस के लिए उनमे नफ़रत है और वह दिन-ब-दिन बढ़ती गई है। उनकी नफरत और नापसंदगी ज़ाहिर है, लेकिन वह पसंद किस चीज़ को करते हैं? अपनी सारी मजबूती और पक्केपन के बावजूद वह एक विचित्र, नकारात्मक व्यक्ति हैं, जिनका उपयुक्त प्रतीक है

'न'। इसलिए उनके निश्चयात्मक पहलू को समझने की सारी-कोशिश नाकामयाब होती है और कोई भी उसकी पकड़ नहीं कर पाता।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य क़ायम होने के बाद मुसलमानों में आधुनिक ढंग की प्रमुख शख्सियतें कम ही हुई हैं। उनमें कुछ खास आदमी हुए ज़रूर, लेकिन आमतौर पर वे पुरानी संस्कृति और परंपरा के क्रम की नुमाइंदगी करते थे और वे मौजूदा प्रवाह से आसानी से मेल नहीं बिठा सके। बदलते हुए वक्त के साथ चलने की और नये वातावरण के साथ सांस्कृतिक या दूसरे ढंग से मेल बिठाने की असमर्थता का कारण कोई पैदाइशी कमी नहीं है। उसकी कुछ खास ऐतिहासिक वजहें हैं। उनमें नये औद्योगिक मध्यम-वर्ग की तरक्क़ी में देरी हुई और साथ ही मुसलमानों की पृष्ठभूमि बहुत ज्यादा सामंती थी और इस वजह से तरक्क़ी के रास्ते रुक गये और सारी प्रतिभा मुंदी रही। बंगाल में मुसलमान खासतौर से पिछड़े हुए थे, लेकिन इसकी दो साफ़ वजहें थीं—एक तो ब्रिटिश राज्य के शुरू में उनके उच्च-वर्ग की बरबादी, और दूसरी यह कि उनमें से ज्यादातर तादाद निचले दर्जे के उन हिंदुओं के धर्म-परिवर्तन से बनी थी, जिनको बहुत अरसे से तरक्क़ी का मौक़ा देने से इन्कार किया गया था। उत्तरी हिंदुस्तान में सुसंस्कृत उच्चवर्गीय मुसलमान अपनी पुरानी प्रचलित परिपाटियों और ज़मींदारी से बंधे हुए थे। इधर हाल के बरसों में काफ़ी तब्दीली हुई है, और हिंदुस्तानी मुसलमानों में एक नया मध्यम-वर्ग काफ़ी तेज़ी से पैदा हो गया है। लेकिन अब भी विज्ञान और उद्योग में वे हिंदुओं और दूसरे लोगों से बहुत पिछड़े हुए हैं। हिंदू भी पिछड़े हुए हैं और कभी-कभी तो वे काम-काज और सोच-विचार के पुराने ढंगों से मुसलमानों के मुक़ाबले ज्यादा मज़बूती से जकड़े हुए हैं। फिर भी उनमें कुछ लोग ऐसे पैदा हुए हैं, जो विज्ञान, उद्योग और दूसरे क्षेत्रों में बहुत आगे बढ़ हुए थे। छोटी-सी पारसी जाति में आधुनिक उद्योग के कुछ प्रमुख आदमी पैदा हुए हैं। एक दिलचस्प बात यह है कि श्री जिन्ना का घराना शुरू में हिंदू था।

बीते ज़माने में, हिंदू और मुसलमान दोनों की ज्यादातर प्रतिभा और योग्यता सरकारी नौकरियों में खप गई है, क्योंकि वही सबसे आकर्षक और खुला मैदान था। आज़ादी के राजनैतिक आंदोलन की तरक्क़ी के साथ यह आकर्षण कम होता गया और लगनवाले, योग्य और साहसी आदमी उसमें से खिंच आये। इसी तरह मुसलमानों के बहुत-से आला लोग कांग्रेस में आ गये। ज्यादा हाल के बरसों में नौजवान मुसलमान समाजवादी और साम्यवादी पार्टियों में भी शामिल हो गये। इन सब सच्चे और

प्रगतिशील आदमियो के होते हुए भी मुसलमानो के नेताओ का मापदंड बहुत नीचा था और उन लोगों मे अपनी तरक्की के लिए सिर्फ़ सरकारी नौकरियो की तरफ़ देखने का ही झुकाव था। मिस्टर जिन्ना दूसरी ही किस्म के थे। वह योग्य थे, दृढ़ थे और उनमें ओहदे के लिए वह लोभ नहीं था जो और बहुत-से लोगों मे था। इस तरह मुस्लिम लीग मे उनकी बेजोड़ जगह हो गई थी और उन्हें वह इज्जत मिली, जो लीग के और बहुत-से मशहूर आदमियो को नही मिल सकी थी। बदक़िस्मती से उनकी दृढता ने उनको नये विचारो के प्रति अपने दिमाग़ को खोलने से रोक दिया और अपनी निजी सस्था पर निर्विवाद नेतृत्व के कारण उनमे अपनी या दूसरी संस्थाओं में मतभेद के लिए रवादारी जाती रही। वह खुद मुस्लिम लीग थे। लेकिन एक सवाल उठता था कि जब लीग आम जनता की सस्था बनती जा रही थी, तब आखिर कबतक यह सामंतवादी नेतृत्व, जिसके विचारों का युग बीत चुका था, चलेगा?

जब मैं कांग्रेस का सभापति था, तब मैंने कई बार मिस्टर जिन्ना को लिखा और प्रार्थना की कि वह हमको निश्चित रूप से बता दें कि आखिर वह क्या चाहते हैं। मैंने उनसे पूछा कि लीग क्या चाहती है और उसका निश्चित उद्देश्य क्या है। मैं यह भी जानना चाहता था कि कांग्रेसी सरकारो के खिलाफ़ लीग की क्या शिकायतें थी। खयाल यह था कि पत्र-व्यवहार से हम मामलो को साफ़ कर लें और तब उन अहम सवालों पर, जो उठें, खुद मिलकर सोच-विचार कर लें। मिस्टर जिन्ना ने लंबे-लंबे जवाब भेजे, लेकिन उन्होंने कोई चीज़ बताई नही। यह एक असाधारण-सी बात थी कि मुझको या किसी और को भी वह यह बताने से बचना चाहते थे कि वह ठीक-ठीक क्या चाहते हैं और लीग की क्या शिक़ायतें हैं। बार-बार हम लोगों में पत्र-विनिमय हुआ, फिर भी हमेशा ही अस्पष्टता और अनिश्चितता थी, और मुझे कोई चीज ठीक-ठीक पता नही लग सकी। इससे मुझे बेहद ताज्जुब हुआ और मैंने थोड़ी-सी बेबसी महसूस की। ऐसा मालूम होता था कि मिस्टर जिन्ना किसी निश्चित बात मे फसना ही नहीं चाहते और वह समझौते के लिए बिलकुल भी उत्सुक नही हैं।

बाद मे गाधीजी और हममे से और दूसरे लोग मिस्टर जिन्ना से कई बार मिले। उनमे घंटो बातें हुईं, लेकिन वे लोग कभी भी प्रारंभिक बातो के आगे पहुंच ही नहीं पाये। हमारा प्रस्ताव यह था कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि एक जगह मिलें और अपने सारे आपसी मसलों पर सोच-विचार करें। मिस्टर जिन्ना ने कहा कि ऐसा तो सिर्फ़ तभी किया जा सकता

है, जब हम पहले खुले तौर पर यह बात मंजूर कर लें कि हिंदुस्तान के मुसलमानों की एकमात्र संस्था मुस्लिम लीग है, और साथ ही कांग्रेस अपने-आपको विशुद्ध हिंदू-संगठन समझे। इससे साफ़ तौर पर एक दिक्कत पैदा हुई। यह ठीक है कि हम लीग की अहमियत को मानते थे, और उसी वजह से हम उसके पास गये थे, लेकिन देश की दूसरी मुस्लिम संस्थाओं की, जिनमें से कुछ का तो हमारे साथ गहरा ताल्लुक़ था, हम किस तरह अवहेलना कर सकते थे? साथ ही खुद कांग्रेस में मुसलमानों की एक बहुत बड़ी तादाद थी और वे लोग हमारी सबसे बड़ी कार्यकारिणी समितियों में भी थे। मिस्टर जिन्ना की मांग को मंजूर करने के अमली तौर पर ये मानी थे कि हम अपने पुराने मुस्लिम साथियों को कांग्रेस के बाहर धकेल दें, और इस बात की घोषणा कर दें कि उनके लिए कांग्रेस का दरवाज़ा बंद है। उसके मानी ये थे कि कांग्रेस के बुनियादी रूप को ही बदल दिया जाय और उसको सबका स्वागत करनेवाली राष्ट्रीय संस्था से एक सांप्रदायिक संस्था में बदल दिया जाय। हम लोगों के लिए ऐसा सोचना नामुमकिन था। अगर कांग्रेस-संगठन खुद पहले से नहीं होता, तो हमें एक ऐसी नई राष्ट्रीय संस्था बनानी होती, जिसका दरवाज़ा हर हिंदुस्तानी के लिए खुला हो।

इस बात पर मिस्टर जिन्ना की ज़िद को, और किसी दूसरी चीज़ पर बात करने से इन्कार को, हम समझ नहीं सके। हम फिर यही नतीजा निकाल सकते थे कि वह कोई समझौता नहीं चाहते थे, और न वह अपने-आपको किसी निश्चित बात में फंसाना ही चाहते थे। उन्हें चीज़ों को यों ही बहने देने में संतोष था और उन्हें उम्मीद थी कि वह ब्रिटिश सरकार से कुछ ज्यादा बड़ी चीज़ पा सकेंगे।

मिस्टर जिन्ना की मांग की बुनियाद उस नये सिद्धांत पर थी, जिसकी उन्होंने हाल ही में घोषणा की थी कि हिंदुस्तान में दो राष्ट्र हैं, एक हिंदू, एक मुसलमान। सिर्फ़ दो ही क्यों, मैं नहीं जानता, क्योंकि अगर राष्ट्रीयता की बुनियाद मजहब पर हो, तब तो हिंदुस्तान में बहुत-से राष्ट्र थे। हिंदुस्तान के ज्यादातर गांवों में कमोबेश ये दो राष्ट्र मौजूद थे। ये ऐसे राष्ट्र थे, जिनकी सीमाएं नहीं थीं। वे एक-दूसरे से गुंथे हुए थे। एक बंगाली हिंदू और बंगाली मुसलमान, जो दोनों एक साथ रहते थे, एक ही भाषा बोलते थे जिनकी परंपरा और जिनके रिवाज बहुत-कुछ एक से थे, अलग-अलग राष्ट्र थे। यह सब समझना बहुत मुश्किल था; ऐसा मालूम होता था मानो वह किसी मध्ययुगीन सिद्धांत की तरफ़ वापस लौट रहे हों। राष्ट्र क्या है, इसकी परिभाषा देना मुश्किल है। शायद राष्ट्रीय चेतना की बुनियादी

विशेषता आपसीपन की और मिलकर बाक़ी सारी दुनिया का सामना करने की भावना है। हिंदुस्तान मे यह चीज़ कुल मिलाकर किस हद तक है, यह एक विवादास्पद बात है। इस सबंध में तो यहातक भी कहा जा सकता है कि गुज़रे ज़माने में हिंदुस्तान एक बहु-राष्ट्रीय राज्य की तरह विकसित हुआ, और उसमें धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना आई। लेकिन यह सब तो कोरी खयाली बातें हैं, जिनका हमसे शायद ही कोई ताल्लुक हो। आज सबसे ज्यादा ताक़तवर राज्य बहु-राष्ट्रीय हैं, लेकिन साथ ही उनमें सयुक्त राज्य अमरीका या सोवियत सघ की तरह राष्ट्रीय-चेतना बढ़ रही है।

मिस्टर जिन्ना के दो राष्ट्रो के उसूल से पाकिस्तान का, या हिंदुस्तान के विभाजन का खयाल पैदा हुआ। लेकिन उससे भी दो राष्ट्रो का सवाल हल नहीं हुआ, क्योंकि ये तो देश भर मे हर जगह थे। लेकिन उससे एक विचार साकार हो गया। खुद इसकी बहुत-से लोगो मे एक ज़बरदस्त प्रतिक्रिया हुई और वह हिंदुस्तान के एके की हिमायत में थी। आमतौर पर राष्ट्रीय एकता मानी हुई चीज है। सिर्फ़ उसी वक़्त, जब राष्ट्र को चुनौती दी जाती है, या उस पर हमला किया जाता है, या उसके विच्छेद की कोशिश की जाती है, एके का खासतौर से खयाल उठता है और उसको बनाये रखने की एक निश्चित प्रतिक्रिया होती है। इस तरह कभी-कभी विच्छेद की कोशिशों से एकता करने में मदद मिलती है।

कांग्रेस के और धार्मिक-साप्रदायिक सस्थाओ के नज़रिये मे एक बुनियादी फ़र्क़ था। ऐसी सस्थाओं में मुस्लिम लीग और दूसरी तरफ़, हिंदुओं में, हिंदू महासभा खास हैं। ये साप्रदायिक सस्थाए हालाकि अपने-आपको हिंदुस्तान की आज़ादी का समर्थक कहती हैं, इनकी दिलचस्पी अपने-अपने समुदायो के लिए खास सुविधाए और सरक्षण मागने में ज्यादा है। इस तरह लाज़िमी तौर पर इन सुविधाओ के लिए उन्हें ब्रिटिश सरकार का मुह ताकना पड़ता है और इसका नतीजा यह हुआ कि वे उससे सघर्ष से बचतीं। कांग्रेस का दृष्टिकोण एक सयुक्त राष्ट्र की तरह समूचे हिंदुस्तान की आज़ादी से इस तरह बधा हुआ था कि उसके लिए हर दूसरी चीज़ गौण थी, और इसके मानी थे ब्रिटिश ताक़त से बराबर मुठभेड़। हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता ने, जिसकी नुमाइंदगी कांग्रेस करती थी, ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध किया। इसके अलावा कांग्रेस के कृषि-सबधी, आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम थे। न तो मुस्लिम लीग ने और न हिंदू महासभा ने कभी ऐसे सवालो पर ग़ौर किया और न ऐसा कार्यक्रम बनाने की कोशिश ही की। हा, समाजवादी और साम्यवादी इन मामलों में बेहद दिलचस्पी लेते थे और उनके अपने

कार्यक्रम थे, जिनको उन्होंने कांग्रेस में लाने और साथ ही बाहर भी चलाने की कोशिश की।

कांग्रेस और इन धार्मिक-सांप्रदायिक संस्थाओं की नीति और काम में एक और खास फ़र्क़ था। आंदोलन के पहलू और मौक़ा मिलने पर क़ानून-निर्माण की कारवाई से बिलकुल अलहदा कांग्रेस आम जनता में कुछ खास रचनात्मक काम करने पर सबसे ज्यादा जोर देती थी। इस कार्यक्रम मे ग्रामोद्योगो की उन्नति और संगठन, दलित जातियों के उत्थान और बाद मे बुनियादी शिक्षा के प्रचार का काम था। गांव के काम में सफ़ाई और मामूली तौर पर दवा-दारू की मदद का काम भी शामिल था। इन कामों को चलाने के लिए कांग्रेस ने अलग-अलग संस्थाएं बनाईं। ये संस्थाएं अपना काम राजनैतिक स्तर से हटकर करती थीं और इनमें पूरा समय देकर काम करनेवाले हजारों आदमी खप गये, और उनमें इससे भी ज्यादा बड़ी तादाद मे अपना आंशिक समय देकर काम करनेवाले लोग थे। यह शात, अराजनैतिक रचनात्मक काम तो उस वक्त भी चालू रहता, जब राजनैतिक कारवाई उतार पर होती। लेकिन जब-जब कांग्रेस के साथ सरकार की खुली लड़ाई होती, तब-तब सरकारी मशीन इस काम को भी दबा देती। कुछ लोगो को इस काम के आर्थिक मूल्य पर शक हुवा, लेकिन उसकी सामाजिक अहमियत के बारे में कोई शक नहीं हो सकता था। इसकी वजह से पूरा समय देकर काम करनेवाले लोगों की एक बहुत बड़ी जमात तैयार हो गई, जिसमें आम जनता के बारे में पूरी जानकारी थी। इस जमात ने जनता मे स्वावलंबन और आत्म-विश्वास की भावना भर दी। कांग्रेसी स्त्रियो और पुरुषों ने ट्रेड यूनियनों व दूसरी खेतिहर संस्थाओं में भी बड़ा हिस्सा लिया, बल्कि बहुत-सी संस्थाओं को खुद उन्होंने बनाया। सबसे बड़ी और सबसे ज्यादा सुसंगठित अहमदाबाद के सूती-कपड़े के उद्योग की ट्रेड यूनियन की शुरुआत कांग्रेसियों ने की और वे उसके साथ घनिष्ठ संपर्क रखते हुए काम करते थे।

इन कामों ने कांग्रेसी कार्यक्रम को एक ठोस पृष्ठभूमि दे दी। धार्मिक-साम्प्रदायिक संस्थाएं इस पृष्ठभूमि से बिलकुल हीन थीं। ये संस्थाएं तो सिर्फ़ हलचल मचाती थी और चुनावों के दौरान में ही इनको काम करने की धुन समाती थी। सरकारी कारवाई से व्यक्तिगत डर और जोखिम की भावना, जो कांग्रेसियो के साथ हमेशा ही बराबर बनी रहती थी, इन लोगों के साथ नहीं थी। इस तरह इन संस्थाओं में अवसरवादी पद-लोलुप व्यक्तियों के घुसने की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा थी। हां, दो मुस्लिम संस्थाओं को, यानी

जमीअत-उल-उलेमा और अहरार पार्टी को, सरकारी दमन से बहुत तक-लीफ़ें उठानी पड़ीं। उसकी वजह यह थी कि राजनैतिक सतह पर ये अक्सर कांग्रेस की दिशा में ही चलती थीं।

कांग्रेस सिर्फ़ उस क़ौमी उकसाव की ही नुमाइंदगी नहीं करती थी, जो नये बूर्जुआ वर्ग की बढ़ती के साथ बढ़ गई थी, बल्कि बहुत हद तक उस प्रेरणा को भी, जो मजदूर-पेशा लोगों में सामाजिक तब्दीलियों के लिए थी। कांग्रेस खासतौर से किसानों से संबंध रखनेवाली इन्क़लाबी तब्दीलियों की हामी थी। इसकी वजह से कभी-कभी खुद कांग्रेस में अंदरूनी झगड़े हुए और जमींदार और बड़े-बड़े उद्योगपति राष्ट्रीय होते हुए भी समाजवादी तब्दीली के डर से उससे दूर रहे। खुद कांग्रेस में समाजवादियों और साम्यवादियों को जगह मिली और वे कांग्रेसी नीति पर असर डाल सकते थे। सांप्रदायिक संस्थाएं, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, सामंतवादी और अनुदार दलों से मिली-जुली थीं, और वे हर तरह के क्रांतिकारी समाजी परिवर्तन के खिलाफ़ थीं। इसलिए असली झगड़े का ताल्लुक़ धर्म से क़तई नहीं था। हां, अक्सर उस सवाल को धर्म का जामा पहना दिया जाता था। असल में झगड़ा तो उनमें था, जिनमें एक तरफ़ वे थे, जो राष्ट्रीय, लोक-तंत्री और सामाजिक दृष्टि से क्रांतिकारी नीति के समर्थक थे, और दूसरी तरफ़ वे लोग थे, जो पुराने सामंती ढांचे के खंडहरों को बनाये रखना चाहते थे। संकट के मौक़ों पर ये लोग लाज़िमी तौर पर विदेशी सहारे पर निर्भर रहते थे और इस विदेशी ताक़त की दिलचस्पी चीज़ों को ज्यों-का-त्यों बनाये रखने में थी।

दूसरे महायुद्ध के शुरू से एक अंदरूनी संकट उठ खड़ा हुआ और उसका नतीजा यह हुआ कि सूबों की कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़े दे दिये। इससे पेश्तर ही कांग्रेस ने मिस्टर जिन्ना और मुस्लिम लीग को साथ लेने की फिर कोशिश की। लड़ाई शुरू होने के बाद कांग्रेस-कार्यकारिणी की पहली मीटिंग में शामिल होने के लिए मिस्टर जिन्ना को निमंत्रण भेजा गया। वह हमारा साथ नहीं दे सके। बाद में हम उनसे मिले और विश्व-संकट को ध्यान में रखते हुए एक परस्पर मान्य नीति पर पहुंचने की कोशिश की। हम कुछ ज्यादा आगे तो नहीं बढ़ पाये, फिर भी हमने बातों को जारी रखना तय किया। इसी बीच में कांग्रेसी सरकारों ने राजनैतिक सवाल पर इस्तीफ़े दे दिये, जिसका मुस्लिम लीग या सांप्रदायिक समस्या से कोई ताल्लुक़ नहीं था। जो भी हो, मिस्टर जिन्ना ने उस मौक़े पर कांग्रेस पर एक ज़ोरदार हमला करना पसंद किया और उन्होंने लीग को 'निजात का दिन' मनाने

के लिए कहा। यह छुटकारा सूबो मे कांग्रेसी हुकूमत से था। इसके बाद उन्होंने कांग्रेस के राष्ट्रीय मुसलमानो के लिए और खासतौर से कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आजाद के लिए, जिनकी हिंदू और मुसलमान दोनो ही बहुत इज्जत करते थे, बहुत ही बेजा लफ्ज इस्तेमाल किये। 'निजात का दिन' एक थोथी-सी चीज था और मुसलमानो ने ही इस 'निजात के दिन' के खिलाफ़ हिंदुस्तान के कुछ हिस्सो मे प्रदर्शन किये। लेकिन इससे तीखापन बढ गया और यह यक़ीन और ज्यादा पक्का हो गया कि मिस्टर जिन्ना और उनके नेतृत्व मे मुस्लिम लीग का कांग्रेस से समझौता करने का या हिंदुस्तान की आजादी के आदर्श को आगे बढाने का कोई इरादा न था। उनको मौजूदा हालत पसद थी।[1]

६ : नेशनल प्लानिंग कमेटी

सन १९३८ के आखिर में कांग्रेस के सुझाव पर नेशनल प्लानिंग कमेटी बनी। उसमे पद्रह मेबर थे और साथ ही प्रांतीय सरकारो और सहयोग के लिए प्रस्तुत हिंदुस्तानी रियासतो के भी प्रतिनिधि थे। उसके मेबरो मे सुपरिचित उद्योगपति, पूजीपति, अर्थ-शास्त्री, प्रोफ़ेसर और वैज्ञानिक थे और साथ ही ट्रेड यूनियनो, कांग्रेस और ग्रामोद्योग सघ के प्रतिनिधि थे। ग़ैर-कांग्रेसी प्रांतीय सरकारें (बगाल, पजाब और सिंध) और साथ ही कुछ बडी-बडी रियासतें (हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, त्रावनकोर और भोपाल) इस कमेटी के साथ थी। एक ढग से इस कमेटी में हर तरह के प्रतिनिधि थे, और इसमे न तो राजनैतिक दीवारें थी और न हिंदुस्तान की सरकारी और ग़ैर-सरकारी जमात की ऊची दीवारें थीं। हा, इसमे हिंदुस्तान की सरकार का प्रतिनिधित्व नहीं था; उसका रुख तो असहयोग का था। उसमे बडे-बडे अनुदार व्यवसायी भी थे और ऐसे लोग भी थे, जो आदर्शवादी या सिद्धांत-

---

[1] इस किताब का लिखना खत्म करने के बाद मैंने कनाडियन विद्वान विलफ्रेड कांटवैल स्मिथ की, जिन्होंने हिंदुस्तान और मिस्र में कुछ बरस बिताये हैं, एक किताब पढ़ी। इस किताब का नाम है 'मॉडर्न इस्लाम इन इंडिया—ए सोशल एनेलिसिस' और यह लाहौर से प्रकाशित हुई है। इसमें १८५७ के भारतीय विद्रोह के बाद भारतीय मुसलमानों की विचार-धारा के विकास की बड़ी योग्यता और सावधानी के साथ जांच और छान-बीन की गई है। सर सैयद अहमद खां के बाद से हर एक प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी हलचल की और मुस्लिम लीग के विभिन्न वर्षों की उसमें चर्चा की गई है।

वादी कहे जाते हैं और साथ ही उसमें समाजवादी और साम्यवादी भी थे। सूबो की सरकारों के विशेषज्ञ और उद्योग-धंधों के डायरेक्टर भी इसमें थे। अलग-अलग क़िस्म का एक अजीब मिलाव था और यह बात साफ़ नहीं थी कि यह विचित्र मिश्रण किस तरह काम करेगा। मैंने इस कमेटी का सभापतित्व मजूर तो किया, लेकिन बड़ी झिझक और बड़े शक के साथ। काम मेरी तबीयत का था और मैं उससे अलग नही रह सकता था।

हर क़दम पर मुश्किलें हमारे सामने थी। सच्ची कारगर योजना बनाने के लिए काफ़ी मसाला नही था, और कुछ थोड़ी-सी ही बातो के बारे मे आकड़े मालूम थे। हिंदुस्तान की सरकार सहायक नहीं थी। यहांतक कि सूबो की सरकारें भी, जिनका रुख सहयोग और दोस्ती का था, अखिल भारतीय योजना-निर्माण के बारे में खासतौर से उत्सुक नहीं मालूम देती थीं, और उन्होंने हमारे काम मे दूर से ही दिलचस्पी ली। अपनी समस्याओं और परेशानियो में वे खुद ही बहुत व्यस्त थीं। जिसकी ओर से यह कमेटी बनाई गई थी, उसी कांग्रेस के कुछ अहम हिस्से इसकी तरफ़ इस तरह देखते थे, जैसे वह एक अनिच्छित बच्चा हो और जिसके बारे मे यह पता न हो कि वह किस तरह पलेगा और साथ ही जिसकी भविष्य की कार्रवाइयो के बारे में शक हो। बड़े-बड़े व्यवसायी निश्चित रूप से सशकित थे और आलोचना करते थे। लेकिन वे शायद इसलिए शामिल हुए कि उन्होंने यह महसूस किया कि कमेटी से बाहर रहने के मुक़ाबले कमेटी में अदर आकर वे अपने हितो की ज्यादा देखभाल कर सकते थे।

यह बात ज़ाहिर थी कि कोई भी बड़ी योजना ऐसी आज़ाद क़ौमी सरकार के मातहत ही चल सकती है, जो खूब दृढ़ और लोकप्रिय हो, ताकि वह सामाजिक और आर्थिक ढांचे मे बुनियादी तब्दीलियां कर सके। इस तरह योजना-निर्माण के सिलसिले मे पहली बुनियादी बात यह थी कि क़ौमी आज़ादी हासिल की जाये और विदेशी नियत्रण से छुटकारा पाया जाये। कई और रुकावटें भी थी, मसलन हमारा सामाजिक पिछड़ापन, रीति-रिवाज और परंपरावादी नज़रिया आदि। लेकिन जो भी हो, उनका सामना करना था। इस तरह योजना-निर्माण वर्तमान की नहीं, बल्कि एक अनिश्चित अपरिचित भविष्य की चीज़ थी, और उसमें आनुमानिकता की गंध थी। फिर भी उसकी बुनियाद वर्तमान पर करनी थी और हमारी यह उम्मीद थी कि यह भविष्य बहुत दूर नही है। अगर हम उपलब्ध जानकारी को क्रम से एकत्रित कर देते और उन योजनाओं के खाके तैयार कर देते, तो भविष्य के सच्चे और कारगर योजना-निर्माण की नींव तैयार हो जाती।

इसी बीच में हम सूबों की सरकारों और रियासतों को वह दिशा बता देते, जिस पर उन्हें बढ़ना चाहिए। मुख्तलिफ़ कौमी, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारंवाइयों को एक-दूसरे के सामंजस्य और समन्वय के साथ देखने की योजना की कोशिश की हमारे लिए और आम जनता के लिए एक बहुत बड़ी तालीमी अहमियत थी। उसकी वजह से लोग सोच-विचार और काम-काज की संकरी लीक से बाहर आये और उन्होंने समस्याओं पर एक-दूसरे के संबंध में ध्यान रखते हुए सोचना शुरू किया और कम-से-कम कुछ हद तक उनका नज़रिया ज्यादा चौड़ा और सहयोगपूर्ण हुआ।

प्लानिंग कमेटी के पीछे शुरू में उद्योगों की रफ़्तार बढ़ाने का खयाल था—"ग़रीबी और बेकारी, राष्ट्रीय सुरक्षा, और आर्थिक पुनर्जन्म के मसले कुल मिलाकर इसके बिना हल नहीं हो सकते। इसकी तरफ़ बढ़ने के लिए राष्ट्रीय योजना का विस्तृत ढांचा तैयार किया जाना चाहिए। इसमें बुनियादी बड़े उद्योगों की वृद्धि के लिए, बीच के पैमाने के उद्योगों के लिए और साथ ही घरेलू-धंधों के लिए इन्तज़ाम होना चाहिए"। लेकिन कोई भी योजना खेती को भुला नहीं सकती, क्योंकि वह तो लोगों का खास सहारा है। सामाजिक-सेवाएं भी उतनी ही महत्वपूर्ण थीं। इस तरह एक चीज़ से दूसरी पर पहुंच जाते थे और किसी चीज़ को या एक दिशा में तरक्की को दूसरी दिशाओं में मुनासिब तरक्की से अलग करना नामुमकिन था। इस योजना बनाने के काम पर हमने जितना ज्यादा ग़ौर किया, उतना ही उसका क्षेत्र बढ़ता गया, यहांतक कि ऐसा मालूम पड़ा कि उसमें क़रीब-क़रीब हर एक कारंवाई शामिल है। इसके मानी ये नहीं थे कि हम हर चीज़ का नियंत्रण या संचालन करना चाहते थे, लेकिन यह बात सही है कि योजना के किसी एक हिस्से के बारे में भी फ़ैसला करने के लिए हमको क़रीब-क़रीब हर एक चीज़ का ध्यान रखना पड़ता था। मेरे लिए इस काम का आकर्षण बढ़ता गया, और मेरा खयाल है कि हमारी कमेटी के दूसरे मेंबरों के साथ भी यही बात थी। लेकिन साथ ही एक तरह की अस्पष्टता और अनिश्चितता भी आई; योजना के कुछ बड़े पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करने की जगह हममें बिखरने की प्रवृत्ति थी। इसीकी वजह से हमारी कई उप-समितियों के काम में देरी हुई। उनमें किसी निश्चित उद्देश्य के लिए सीमित समय में काम करने की उत्सुकता का अभाव था।

जिस तरह हमारी कमेटी बनी हुई थी, उसके लिहाज़ से किसी बुनियादी सामाजिक नीति या समाज-संगठन के आधारभूत सिद्धांतों पर हम सब के लिए एक राय हो जाना आसान नहीं था। इन उसूलों पर गहरे

विवेचन का लाजिमी नतीजा यह होता कि शुरू में ही बुनियादी इख़्तलाफ़ उठ खड़े होते और शायद कमेटी टूट-फूट जाती। इस तरह की निर्देशक नीति का न होना एक बहुत बड़ी खामी थी, फिर भी उसके लिए कोई चारा नहीं था। हमने योजना के आम मसले पर और हर अकेली समस्या पर क़यासी नहीं, बल्कि अमली तौर पर सोचना तय किया और इस विचार-विमर्श से सिद्धांतों को अपने-आप पनपने को छोड़ दिया। मोटे तौर पर समस्या को हल करने के लिए दो ढंग से आगे बढ़ा जा सकता था—एक तो समाजवादी ढंग था, जिसके मुताबिक़ मुनाफ़े की भावना को मिटा देना था और जिसमें सम-विभाजन की महत्ता पर जोर दिया जाता। दूसरा विशद व्यवसाय का ढंग था, जिसमें मुक्त-उद्योग और मुनाफ़े की भावना को यथासंभव बनाये रखना था, और जिसमें अधिक उत्पादन पर ज्यादा जोर था। उन लोगों के नज़रिये में भी फ़र्क़ था, जो बड़े उद्योगों की तेजी से तरक्की चाहते थे, और दूसरे वे, जो ग्रामोद्योग और घरेलू धंधों की तरक्की पर ज्यादा ध्यान दिलाना चाहते थे, ताकि बेकार और अध-बेकार लोगों की बहुत बड़ी तादाद को काम मिल जाय। आगे चलकर आखिरी फ़ैसलों में फ़र्क़ होना लाज़िमी था। और अगर कमेटी की दो या और ज्यादा रिपोर्ट भी होती, तो भी कोई ऐसी बात नहीं थी, क्योंकि सारा उपलब्ध मसाला इकट्ठा हो जाता, क्रमबद्ध हो जाता और तब परस्पर मान्य बातें एक तरफ़ आ जातीं और मतभेदों को अलग जता दिया जाता। जब योजना को अमली शक्ल देने का वक्त आता, तब जो भी लोकतंत्री सरकार होती, वह अपनी बुनियादी नीति पसंद कर लेती। इस बीच में जरूरी तैयारी का एक बहुत बड़ा हिस्सा पूरा हो जाता और समस्या के मुख्तलिफ़ पहलू जनता के, सूबों की और क़ौमी सरकारों के सामने रख दिये जाते।

यह बात साफ़ है कि किसी निश्चित मक़सद या सामाजिक उद्देश्य के बिना हम किसी योजना पर खासतौर पर सोच-विचार नहीं कर सकते थे। जिस मक़सद का ऐलान किया गया, वह यह था कि जनता के रहन-सहन का एक उचित मापदंड हो और वह निश्चित रूप से सुलभ हो, यानी दूसरे शब्दों में वह मक़सद यह था कि जनता को दर्दनाक ग़रीबी से छुटकारा मिले। रुपयों के पैमाने में अर्थशास्त्रियों ने जिस कम-से-कम आंकड़े का अंदाज़ किया है, वह फ़ी आदमी हर महीने पंद्रह और पच्चीस रुपये के बीच में है। (ये सारे आंकड़े लड़ाई के पहले के हैं)। पश्चिमी मापदंड की तुलना में यह बहुत कम था, लेकिन हिंदुस्तान के मौजूदा मापदंड के लिहाज़ से यह बहुत बढ़ा-चढ़ा था। यहां फ़ी आदमी सलाना आमदनी का औसत

क़रीब पैंसठ रुपया है। अमीर और ग़रीबों के बीच में बहुत बड़ी खाई होने की वजह से और थोड़े-से ही लोगों के हाथों में दौलत इकट्ठी हो जाने की वजह से, गांववाले आदमी की आमदनी का अंदाज तो और कम है—शायद फ़ी आदमी फ़ी साल तीस रुपये के क़रीब। इन आंकड़ों से लोगों की भयंकर ग़रीबी और जनता की हालत समझ में आती है। खाने की, कपड़े की, मकान की और इन्सानी ज़िंदगी की हर ज़रूरत की कमी थी। इस कमी को दूर करने और हर आदमी के लिए एक उचित मापदंड से रहना निश्चित रूप से सुलभ बनाने के लिए राष्ट्रीय आमदनी बहुत ज्यादा बढ़ानी थी और इस अधिक उत्पादन के साथ-ही-साथ संपत्ति का ज्यादा सम-विभाजन करना था। हमने हिसाब लगाया और देखा कि रहन-सहन के सचमुच प्रगतिशील मापदंड के लिए राष्ट्रीय संपत्ति का ५०० से लेकर ६०० फ़ी-सदी तक बढाना ज़रूरी है। हमारे लिए यह छलांग तो बहुत बड़ी थी और हमने दस साल में २०० से लेकर ३०० फ़ी-सदी तक बढ़ाने का लक्ष्य बनाया।

हमने योजना के लिए दस बरस का वक्त तय किया और उसमें हर अरसे और आर्थिक ज़िंदगी के हर हिस्से के लिए नियंत्रित आंकड़े दिये। उद्देश्य के सिलसिले में कुछ कसौटियों की भी सलाह दी गई :

(१) शरीर-पोषण में सुधार—ऐसी संतुलित खुराक हो, जिसमें हर वयस्क कामगर को २४०० से लेकर २८०० कैलोरी की इकाइयां हासिल हों।

(२) उस वक्त की क़रीब १५ गज़ की खपत से बढ़कर फ़ी आदमी, फ़ी साल कम-से-कम ३० गज़ कपड़ा हो।

(३) आवास-स्तर बढ़कर फ़ी आदमी कम-से-कम १०० वर्ग फ़ुट हो।

इसके अलावा कुछ और चीज़ों की तरक्क़ी को बराबर ध्यान में रखना था :

(क) कृषि-उत्पादन में वृद्धि हो।
(ख) औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि हो।
(ग) बेकारी मे घटती हो।
(घ) फ़ी-आदमी आमदनी बढ़े।
(ङ) निरक्षरता का खात्मा हो।
(च) सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं में बढ़ती हो।

(छ) फी एक हजार की आबादी के लिए एक आदमी के हिसाब से डाक्टरी मदद का इंतजाम हो।

(ज) ज़िंदगी की औसत उम्मीद में बढ़ोतरी हो।

कुल मिलाकर देश के सामने जो उद्देश्य था, वह यह था कि जहांतक मुमकिन हो, राष्ट्र स्वयं-पर्याप्त हो। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अलग नहीं किया गया, लेकिन हम आर्थिक साम्राज्यवाद की भंवर में पड़ने से बचने के लिए उत्सुक थे। न तो हम खुद किसी साम्राज्यवादी ताक़त के शिकार होना चाहते थे और न हम ऐसी प्रवृत्तियों को अपने अंदर बढ़ाना चाहते थे। देश की उपज पर पहला हक खाने का, कच्चे और तैयार माल की घरेलू ज़रूरतों को पूरा करने के लिए होगा। फालतू पैदावार को विदेशी बाजार में दर गिराने के लिए नहीं झोंका जायेगा, बल्कि उसका इस्तेमाल दूसरे देशों से उन चीज़ों के विनिमय के लिए होगा, जिनकी हमको ज़रूरत हो सकती है। अपनी कौमी अर्थ-व्यवस्था को निर्यात बाजार पर अवलंबित करने से दूसरे देशों से हमारे झगड़े हो सकते थे और उन बाजारों के हमारे लिए बंद होने से हमारी अर्थ-व्यवस्था चकनाचूर हो सकती थी।

हालांकि हमने किसी सुनिश्चित सामाजिक सिद्धांत से शुरुआत नहीं की, फिर भी हमारे सामाजिक उद्देश्य बहुत-कुछ साफ थे और उनमें योजना-निर्माण के लिए परस्पर मान्य आधार था। इस योजना का गुर नियंत्रण और समन्वय था। इस तरह जहां युक्त उद्योग के लिए मनाही नहीं थी, वहीं साथ ही उसका क्षेत्र खासतौर से सीमित कर दिया गया था। प्रतिरक्षा संबंधी उद्योगों के सिलसिले में यह तय किया गया कि उनका नियंत्रण राज्य करे और वही उनका मालिक हो। दूसरे बुनियादी उद्योगों के सिल-सिले में अधिकांश की यह राय थी कि उन पर राज्य का कब्ज़ा हो, लेकिन समिति के एक काफी बड़े अल्पमत की यह राय थी कि राज्य का उन पर नियंत्रण ही काफ़ी होगा। हां, इन उद्योगों पर यह नियंत्रण बहुत सख्त होता। यह बात भी तय की गई कि सार्वजनिक उपयोगिताओं पर राज्य के किसी-न-किसी प्रतिनिधि—केंद्रीय सरकार, प्रांतीय सरकार, या स्थानीय बोर्ड—का क़ब्ज़ा हो। इस बात की राय दी गई कि लंदन ट्रान्सपोर्ट बोर्ड-जैसी किसी चीज का सार्वजनिक उपयोगिताओं पर नियंत्रण हो। दूसरे ख़ास और बड़े उद्योग-धंधों के बारे में कोई खास नियम नहीं बनाया गया, लेकिन यह बात साफ कर दी गई कि योजनाबद्ध कार्यक्रम की वजह से किसी-न-किसी अंश में नियंत्रण ज़रूरी था और यह नियंत्रण अलग-अलग उद्योग पर अलग-अलग परिमाण में हो सकता था।

था। इन साधनो से कुल मिलाकर जमीन और उद्योग के सिलसिले मे बहुत काफी हद तक सरकारी नियत्रण हो जाता, हालाकि इस नियत्रण का परिमाण अलग-अलग जगह पर बदलता रहता। साथ ही एक सीमित क्षेत्र मे व्यक्तिगत उपक्रम भी जारी रहता।

इस तरह खास समस्याओ पर विवेचन के ज़रिये हमारी नीति और हमारे सामाजिक आदर्श का विकास हुआ। उनमे खाली जगहे भी थी, कही-कही अस्पष्टता भी थी, यहातक कि कुछ मौको पर उलटी बातें भी थी। उसूली तौर पर यह योजना पूर्णता से बहुत दूर थी। लेकिन मुझे इस बात पर एक ताज्जुब था कि कमेटी मे इतने विषम तत्वो के होते हुए भी हम इतनी हद तक एक राय के हो सके! बडे व्यवसायियों का अकेला सबसे बडा दल था और बहुत-से मामलो पर, खासतौर से तिजारती और आर्थिक मामलो पर, उसका नजरिया निश्चित रूप से अनुदार था। तेजी से तरक्की करने की प्रेरणा और यह यकीन कि सिर्फ इसी तरह हम गरीबी और बेकारी के मसलो को हल कर सकेंगे, ये दोनो बातें इतनी जबरदस्त थी कि हम लोगो को अपनी प्रचलित लीक छोडनी पडी, और हमको नई धाराओ मे सोचना पडा। हमने किताबी ढग को अलग रखा था, और चूकि प्रत्येक अमली मसला एक बडे सदर्भ मे देखा गया, इसलिए हम लोग लाजिमी तौर से एक निश्चित दिशा मे चले। प्लानिंग कमेटी के सदस्यो की सहयोग की भावना मेरे लिए तो एक विशेष कृतज्ञता और शाति की बात थी, क्योकि राजनीति के झगडो से मिलान करते हुए य हपहलू बहुत सुखद था। हम लोग अपने मतभेदो को जानते थे। फिर भी हर एक नजरिये का विवेचन करने के बाद, हम एक ऐसे समन्वयकारी नतीजे पर पहुचने की कोशिश करते, जो सबको या हममे से ज्यादातर को मजूर हो, और इस कोशिश मे हम अक्सर कामयाब होते थे।

हमारी जैसी स्थिति थी, उसमे सिर्फ अपनी कमेटी मे ही नही, बल्कि हिंदुस्तान के बडे मैदान मे हम उस वक्त विशुद्ध समाजवादी योजना नही बना सकते थे। फिर भी मेरे सामने यह बात साफ हो गई कि जैसे-जैसे हमारी योजना बढती गई, वैसे-ही-वैसे वह लाजिमी तौर पर हमको एक ऐसी दिशा मे ले जा रही थी, जिसमे हम समाजवादी ढाचे की कुछ बुनियादी बातो की जड जमाते जा रहे थे। इसमे समाज की शोषक प्रकृति को कम करना था और तरक्की की बहुत-सी रुकावटो को दूर करना था, और इस तरह एक तेजी से फैलनेवाले सामाजिक ढाचे की तरफ ले जाना था। उसकी बुनियाद जन-साधारण के फायदे पर, उसके मापदड को ऊचा उठाने

पर; उसकी तरक्की के लिए मौका देने और इस तरह दबी हुई अटूट प्रतिभा और सामर्थ्य को छुटकारा देने पर थी। और इस सबकी कोशिश लोकतंत्री आज़ादी के संदर्भ मे करनी थी, जिसमे बहुत हद तक कम-से-कम ऐसे कुछ समूहों का भी सहयोग हो, जो आमतौर पर समाजवादी सिद्धांतो के खिलाफ़ थे। उस सहयोग की वजह से चाहे योजना मे कुछ थोडी-सी कमी या कम-ज़ोरी ही क्यो न हो, लेकिन मुझे वह सहयोग जरूरी जचा। शायद मैं ज़रूरत से ज़्यादा आशावादी था। लेकिन मैंने ऐसा महसूस किया कि जिस वक्त सही दिशा मे एक बडा कदम उठाया जा रहा हो, उस वक्त खुद परिवर्तन की प्रक्रिया के वेग से आगे की प्रगति का काम और आपस मे मेल बिठाना आसान हो जायेगा। अगर संघर्ष होना लाज़िमी था, तो उसका भी सामना किया जाता। लेकिन यदि उसे हटाया जा सकता था या कम किया जा सकता था, तो निश्चय ही वह एक बहुत बडा फायदा था। खास-तौर से इसलिए कि राजनैतिक क्षेत्र मे ही हमारे लिए काफी झगडा था और भविष्य मे डावाडोल हालतें भी पैदा हो सकती थी। इस तरह योजना के लिए आम सहमति एक बहुत कीमती चीज़ थी। किसी आदर्शवाद की बुनियाद पर योजना का खाका खीचना आसान था, लेकिन किसी भी योजना को काफी हद तक कारगर बनाने के लिए उसके पीछे जिस मंजूरी और आम रज़ामंदी की ज़रूरत थी, वह कही ज्यादा मुश्किल चीज़ थी।

हालांकि योजना-निर्माण मे बहुत काफी नियंत्रण और संचालन होता है और कुछ हद तक व्यक्तिगत स्वतंत्रता मे दखल दिया जाता है, फिर भी आज के हिंदुस्तान के संदर्भ मे, असल मे, उससे आज़ादी बहुत बढ जायेगी। हमारे पास आज़ादी है ही कहा, जो हम उसे खो देगे! अगर हम लोकतंत्री राज्य के ढांचे के साथ बंधे रहे और यदि हमने सहकारी उद्योग को बढावा दिया, तो शक्ति के केंद्रीकरण के ज्यादातर खतरे टाले जा सकते हैं।

अपनी पहली बैठको मे ही हमने एक लंबी प्रश्नावली बनाई और वह मुख्तलिफ सूबो की और रियासती सरकारो, सार्वजनिक संस्थाओ, विश्व-विद्यालयो, व्यापार-मंडलों, ट्रेड यूनियनो, अन्वेषक संस्थाओ आदि को भेजी गई। मुख्तलिफ समस्याओ के बारे मे छान-बीन करने और उन पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए उनतीस सब-कमेटिया नियुक्त की गईं। इनमे से आठ सब-कमेटिया खेती की समस्याओ पर थी, कुछ उद्योग-धंधो से ताल्लुक रखती थी, पांच का व्यापार और अर्थ-व्यवस्था से संबंध था, का यातायात से, दो का शिक्षा से, दो का लोक कल्याण से, एक का

योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था मे स्त्रियों की जगह से; और दो का सामाजिक संबंधो और संस्थाओ से। कुल मिलाकर इन सब-कमेटियो के ३५० मेंबर थे और इनमे से कुछ लोग कई कमेटियो मे थे। उनमे से ज्यादातर लोग अपने-अपने विषयो मे विशेषज्ञ थे—व्यापारी, सरकारी और म्युनिसिपल कर्मचारी, विश्वविद्यालयो के अध्यापक, वैज्ञानिक, इंजीनियर, ट्रेड यूनियनो के मेंबर और सार्वजनिक जीवन के कार्यकर्ता। इस तरह देश की उपलब्ध प्रतिभा के एक बड़े हिस्से को हमने इकट्ठा किया। वे आदमी, जिनकी व्यक्तिगत रूप मे हमारा साथ देने की इच्छा थी, लेकिन जिनको इजाज़त नही मिली, वे लोग हिंदुस्तान की सरकार के हाकिम और नौकर थे। हमारे काम मे इतने लोगो का साथ होने की वजह से हमे कई तरह की मदद थी। हम उनके विशेष ज्ञान और अनुभव का फायदा उठा सकते थे और साथ ही वे अपने विशेष विषयो पर बड़ी समस्याओ को ध्यान मे रखते हुए सोचते थे। इसकी वजह से सारे देश मे योजनाबद्ध काम के लिए ज्यादा दिलचस्पी हुई। लेकिन इस बड़ी तादाद का एक नुकसान भी था, क्योंकि इसकी वजह से काम मे लाज़िमी तौर पर देर होती थी। कमेटी के मेंबर देश मे अलग-अलग हिस्सो के थे और वे लोग कार्य-व्यस्त आदमी थे और उनका बार-बार एक साथ मिलना मुश्किल होता था।

राष्ट्रीय काम-काज के मुख्तलिफ हिस्सो मे इतने लायक और उत्सुक लोगो के संपर्क मे आने से मुझे तसल्ली हुई। इन संपर्कों से मैंने खुद बहुत बड़ी जानकारी हासिल की। हमारे काम करने का ढंग यह था कि हर सब-कमेटी की एक अस्थायी रिपोर्ट प्लानिंग कमेटी के पास आती और वह उस पर अपनी सहमति या आंशिक आलोचना करके फिर उसी सब-कमेटी के पास भेज देती। तब एक निश्चित रिपोर्ट तैयार की जाती और उसकी बुनियाद पर उस विषय पर निर्णय किये जाते। इस बात की बराबर कोशिश होती रहती थी कि हर विषय के फ़ैसलो का हर दूसरे विषय के फ़ैसलो के साथ ताल-मेल हो। इस तरह सारी निश्चित रिपोर्टों पर गौर करने के बाद प्लानिंग कमेटी सारी समस्या का, उसके विस्तार और जटिलता का सिंहावलोकन करती और खुद अपनी एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार करती और उसके साथ सब-कमेटियो की रिपोर्ट परिशिष्ट की तरह दे दी जाती। असल मे सब-कमेटियो की रिपोर्टों पर ग़ौर करने के दौरान में ही उस आखिरी रिपोर्ट की शक्ल भी धीरे-धीरे तैयार होती जा रही थी।

कभी-कभी इतनी देर होती कि झुंझलाहट होती। उसकी खास वजह यह थी कि सब-कमेटिया उस वक्त की पाबंदी नही करती थी, जो उन्हे दिया

जाता था; लेकिन कुल मिलाकर हमने काफी तरक्की की और बहुत काफी काम पूरा कर लिया। शिक्षा के सिलसिले मे दो दिलचस्प बातें तय हुई। हमने इस बात की सलाह दी कि शिक्षा की हर सीढ़ी के लिए लडकों और लडकियो के शारीरिक स्वास्थ्य का एक मापदड ज़रूर तय हो और सबकी तदुरुस्ती कम-से-कम उतनी तो हो। साथ ही हमने इस बात की भी सलाह दी कि अठारह और बाईस बरस की उम्र के बीच मे हर नौजवान लडके या लडकी को एक साल तक सामाजिक या श्रमिक सेवा अनिवार्य रूप से करने की प्रणाली हो, ताकि वह राष्ट्रीय उपयोगिता, खेती, उद्योग और सार्वजनिक उपयोगिता के काम मे अपना हिस्सा अदा कर सके। यह काम सबके लिए लाज़िमी होता और इसमे सिर्फ उन्हीको छूट मिलती, जो शारीरिक या मानसिक रूप से इसके लिए अयोग्य होते।

जब सितबर, १९३९ मे दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ, तो यह सलाह दी गई कि नेशनल प्लानिंग कमेटी को अपना काम स्थगित कर देना चाहिए। नवबर मे सूबो की कांग्रेसी सरकारो ने इस्तीफा दे दिया और इससे हमारी परेशानी और भी बढ गई, क्योकि सूबो मे गवर्नरो के सर्वेसर्वा हो जाने पर हमारे काम मे कोई दिलचस्पी नही ली गई। व्यवसायी लोग लडाई की ज़रूरत की चीज़ो से रुपया बनाने मे पहले कभी के मुकाबले अब ज्यादा व्यस्त हो गये और उनकी दिलचस्पी योजना-निर्माण मे उतनी नही रही, जितनी रुपया बनाने मे। हालत दिन-ब-दिन बदलती जा रही थी। जो भी हो, हमने काम को जारी रखना तय किया और ऐसा महसूस किया कि लडाई के लिहाज़ से यह और भी ज्यादा ज़रूरी था। लडाई की वजह से औद्योगीकरण ज़रूर बढता और जो काम हम कर चुके थे या कर रहे थे, उससे इस प्रक्रिया मे बहुत मदद मिल सकती थी। उस वक्त हम इजीनियरिंग उद्योग, यातायात, रासायनिक उद्योग आदि से ताल्लुक़ रखनेवाली सब-कमेटियो की रिपोर्टों पर गौर कर रहे थे और इन सब उद्योगो की लडाई के लिए सबसे ज्यादा अहमियत थी। लेकिन सरकार की हमारे काम मे दिलचस्पी नही थी, बल्कि असल मे वह तो उसके बहुत खिलाफ थी। लडाई के शुरू के महीनो मे उसकी नीति हिंदुस्तानी उद्योग को प्रोत्साहन देने की नही थी। बाद मे घटनाओ ने उसको अपनी ज़रूरत की चीज़ें हिंदुस्तान से खरीदने के लिए मजबूर किया, लेकिन इतने पर भी वह इसके खिलाफ थी कि हिंदुस्तान में कोई भी बडा बुनियादी उद्योग चालू किया जाये। उसकी रज़ामदी न होने के मानी थे रुकावटो का आना, क्योंकि बिना सरकारी मजूरी के कोई भी मशीन बाहर से नही मंगाई जा सकती थी।

प्लानिंग कमेटी ने अपना काम जारी रखा और उप-समितियों की रिपोर्टों पर विवेचन का काम उसने करीब-करीब खतम कर लिया। जो कुछ काम बाकी बच रहा था, हम उसको खतम करके अपनी विस्तृत रिपोर्ट तैयार करने के काम को हाथ मे लेते। लेकिन अक्तूबर १९४० में मुझे गिरफ्तार कर लिया गया और एक लबी मियाद के लिए जेल भेज दिया गया। मुझे इस बात की फ़िक्र थी कि प्लानिंग कमेटी का काम जारी रहे। मैंने अपने उन साथियो से, जो बाहर थे, काम को जारी रखने की प्रार्थना की। मैंने इस बात की कोशिश की कि प्लानिंग कमेटी के कागजात और उसकी रिपोर्टें मुझे जेल मे मिल जायें, ताकि मैं उनको पढ़कर विस्तृत रिपोर्ट का मसविदा तैयार कर दू। हिंदुस्तान-सरकार ने दखल दिया और रोक दिया। ऐसे कागजात न तो मुझ तक पहुचने दिये गये और न इस सिलसिले मे मुलाकातो की इजाजत मिली।

इस तरह जिस वक्त मैंने अपने दिन जेल मे बिताये, नेशनल प्लानिंग कमेटी मुरझाती रही। वह सारा काम जो मैंने किया था, हालाकि अभी वह अधूरा था, फिर भी उससे लडाई की तैयारियों में बहुत बडा फायदा उठाया जा सकता था, वह हमारे दफ्तर की दराजो मे बद रहा। दिसबर, १९४१ मे मुझे छोडा गया और मैं कुछ महीनों के लिए जेल से बाहर रहा, लेकिन और लोगों की तरह मेरे लिए भी यह वक्त बडी उलझनो और परेशानियों का था। हर तरह की नई घटनाए घट चुकी थी, प्रशात महासागर मे लडाई चल रही थी और जबतक राजनैतिक हालत बेहतर न होती, पुराने सूत्रो को इकट्ठा करके प्लानिंग कमेटी के बाकी काम को आगे चलाना मुमकिन नही था। और तब मैं फिर वापस जेल आ गया।

७ : कांग्रेस और उद्योग-धंधे : बडे उद्योग बनाम घरेलू उद्योग

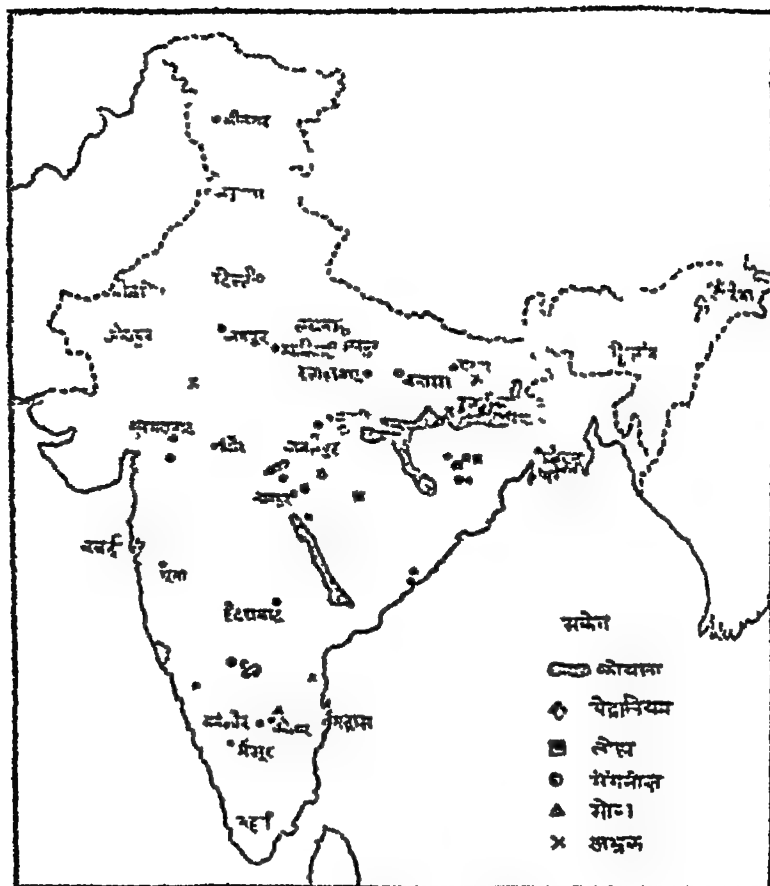
गाधीजी के नेतृत्व मे काग्रेस ने बहुत अरसे से ग्रामोद्योगों के फिर से उठाने की, खासतौर से हाथ-कताई और हाथ-बुनाई की, हिमायत की थी। वैसे किसी भी वक्त काग्रेस बडे उद्योगो की तरक्की के खिलाफ नही थी और विधानमडलो मे या दूसरी जगहो पर उसे जब भी मौका मिला, उसने इस रुझान को प्रोत्साहन दिया। सूबो की काग्रेसी सरकारें भी ऐसा करने के लिए उत्सुक थीं। सन १९१० और १९२० के बीच, जिस वक्त टाटा आयरन एड स्टील वर्क्स मुसीबत मे था, बहुत हद तक केंद्रीय असेबली मे काग्रेस पार्टी के जोर देने की वजह से सकटपूर्ण समय को पार करने के लिए सरकारी मदद दी गई। हिंदुस्तान मे जहाजो के बनाने और हिंदु-

स्तानियो द्वारा समुद्री यातायात की तरक्की का एक ऐसा मामला था, जिस पर राष्ट्रीय मत और सरकार मे झगडा होता रहता था। और हिंदुस्तानी मतो की तरह काग्रेस भी इस बात के लिए उत्सुक थी कि जहाज बनाने के हिंदुस्तानी कारबार को हर तरह की मदद दी जाये, सरकार भी उतनी ही तुली हुई थी कि बडी-बडी ब्रिटिश जहाजी कपनियो के निहित स्वार्थों की हिफाजत की जाये। इस तरह सरकारी भेद-भाव की नीति की वजह से हिंदुस्तानी जहाजी कारबार बढने से रोका गया, वैसे हिंदुस्तानी जहाजी कारबार के पास पूजी भी थी, और साथ ही इतजाम करने की सामर्थ्य और तकनीकी योग्यता भी थी। जब कभी किसी ब्रिटिश औद्योगिक, व्यावसायिक और आर्थिक हित का सवाल होता, इस तरह का भेदभाव बराबर बरता जाता।

उस बडे महासगठन, इपीरियल कैमिकल इडस्ट्रीज़, का हमेशा पक्षपात किया गया है और इससे हिंदुस्तानी उद्योगो को नुकसान हुआ है। कुछ बरस पहले उसको पजाब के खनिज पदार्थों का और दूसरी चीजो का निकालने के लिए एक लबे अरसे का पट्टा दिया गया था। जहातक मुझे पता है, इस पट्टे की शर्तें जाहिर नही की गई थी, शायद इस वजह से कि 'सार्वजनिक हित' के लिए उनको जाहिर न करना ठीक समझा गया।
और उसके लिए उसने काम किया है। क्या इस नीति मे कोई टकराव

प्रातीय काग्रेसी सरकारें पॉवर-अलकोहल का उद्योग चालू करने के लिए उत्सुक थी। कई नजर से यह जरूरी था, लेकिन सयुक्त प्रात और विहार मे एक वजह और थी। वहा पर चीनी के बहुत-से कारखाने थे और उनमे चीनी बनाने के सिलसिले मे बहुत बडे पैमाने पर शीरा बनता था, जो बिलकुल बेकार जाता था। यह तजवीज हुई कि पॉवर-अलकोहल तैयार करने के लिए इसका फायदा उठाया जाय। उसका तरीका भी आसान था और सिर्फ इस बात को छोडकर कि शैल तथा बरमा ऑयल कपनी के हितो पर असर पडता, और कोई मुश्किल भी नही थी। हिंदुस्तान-सरकार ने इन हितो की हिमायत की और पॉवर-अलकोहल तैयार करने की इजाजत देने से इन्कार कर दिया। मौजूदा लडाई के तीसरे साल मे, जब बरमा कब्जे से निकल गया, और वहा से तेल और पेट्रोल मिलना बद हो गया, तो सरकार को यह समझ आई कि पॉवर-अलकोहल जरूरी चीज थी, और उसको हिंदुस्तान में तैयार करना चाहिए। अमरीकी ग्रेडी कमेटी ने १९४२ मे इस पर बहुत ज्यादा जोर दिया।

इस तरह काग्रेस हमेशा ही हिंदुस्तान के औद्योगीकरण की हामी रही है और साथ ही वह घरेलू धधो की तरक्की की भी तरफ़दार रही है



भारत—खनिज साधन

है? शायद महत्व देने मे अतर है, और उसमे उन इन्सानी और आर्थिक बातो का भी ख़याल रखा गया है, जिन्हे हिंदुस्तान मे पहले नज़रअदाज़ कर दिया गया था। हिंदुस्तानी उद्योगपति और उनका समर्थन करनेवाले राजनीतिज्ञ उन्नीसवी सदी के यूरोप के पूजीवादी उद्योग की तरक्क़ी के ढग पर सोचते थे और उन्होंने उन बुरे नतीजो को, जो बीसवी सदी मे बिलकुल साफ शक्ल मे सामने आये, भुला दिया। हिंदुस्तान मे, जहा स्वाभाविक प्रगति १०० साल से रोक दी गई थी, ये बुरे नतीजे और भी ज्यादा सामने आते। जिस ढग से बीच के पैमाने के उद्योग हिंदुस्तान मे चालू हो रहे थे, उनकी वजह से मौजूदा आर्थिक व्यवस्था मे मजदूरो की खपत नही हो रही थी, बल्कि बेकारी बढ रही थी। जहा एक सिरे पर तो पूजी इकट्ठी होती जा रही थी, दूसरे सिरे पर गरीबी और बेकारी बढ रही थी। किसी दूसरे ढाचे मे, बडे पैमाने के उद्योग-धधो पर ज़ोर देकर, जिनमे मज़दूरो की खपत हो, और कायदे के साथ अमली नकशा बनाकर, इन बुराइयो से बचा जा सकता था।

आम जनता की बढ़ती हुई गरीबी से गाधीजी पर ज़बरदस्त असर पडा। मेरा ऐसा खयाल है कि यह सच है कि कुल मिलाकर उनके ज़िदगी के नज़रिये मे और उसमे, जिसको आधुनिक नज़रिया कहा जाता है, एक बुनियादी भेद है। आध्यात्मिक और नैतिक चीज़ो पर चोट पहुचाकर विलास की चीज़ो की बढती और दिन-ब-दिन बढनेवाले रहन-सहन की तरफ़ वह आकर्षित नही होते। आराम की ज़िंदगी के वह पक्ष मे नही हैं; उनके लिए जो सीधा रास्ता है, वह मेहनत का है, और विलास-प्रियता से विकृति होती है और गुणो का क्षय होता है। सबसे बडी बात यह है कि अमीरो और गरीबो के बीच मे, उनके रहन-सहन के ढग में और विकास के मौक़ो मे जो बहुत बडी खाई है, उससे गाधीजी के दिल को बहुत चोट पहुचती है। अपने निजी और मनोवैज्ञानिक सतोष के लिए उन्होंने उस खाई को पार किया, और गरीबो की तरफ चले गये और सुधार की ऐसी चीज़ो को अपने काम मे लाये, जो खुद ग़रीबो की बिसात के भीतर थी—उन्हीका-जैसा रहने-सहने का ढंग, उन्हीकी-सी पोशाक या उन्हीकी तरह अधढकापन! थोडे-से अमीरो और गरीब जनता मे जो बहुत बडा फर्क था, उसकी उन्हे दो खास वजहे मालूम हुई—विदेशी राज्य और उसके साथ होनेवाला शोषण, और पच्छिम की पूजीवादी औद्योगिक सभ्यता, जिसकी प्रतीक बडी मशीन थी। दोनो के ही ख़िलाफ उनकी प्रतिक्रिया हुई। बडी चाह के साथ उन्हे गुज़रे ज़माने के वे दिन याद आये, जब स्व-शासी और बहुत हद तक स्वय-

पर्याप्त ग्रामीण समुदाय थे, जहा अपने-ही-आप उत्पादन, विभाजन और उपभोग मे सतुलन था, जहा राजनैतिक और आर्थिक सत्ता फैली हुई थी और आजकल की तरह केंद्रित नही थी, जहा एक सादा लोकतत्र था, जहा ग़रीब और अमीर के बीच मे बडी खाई नही थी, जहा बडे शहरो की बुराइया नही थी और लोग जीवन देनेवाली ज़मीन के सपर्क मे रहते थे और खुली जगह मे ताज़ी और साफ हवा मे सास लेते थे।

गाधीजी मे और दूसरे लोगो मे जीवन के मानो के बारे मे ही यह सब बुनियादी फर्क था, और यही फर्क उनकी भाषा मे और उनके कामकाज मे ज़ाहिर था। उनकी भाषा साफ और ज़ोरदार थी, और उसकी प्रेरणा खासतौर से हिंदुस्तान की, लेकिन साथ ही दूसरे देशो की भी, प्राचीन नैतिक और धार्मिक शिक्षाओ मे थी। नैतिक मूल्य बराबर बना रहना चाहिए, उद्देश्य अनुचित साधनो को न्याय्य नही बना सकता, नही तो व्यक्ति और जाति मिट जाती हैं।

और फिर भी वह कोई स्वप्न देखनेवाले आदमी नही थे, जिसका ध्यान किसी काल्पनिक छाया-चित्र मे हो और जो ज़िदगी और उसकी समस्याओ से अलग हो। वह गुजरात के रहनेवाले थे, जो ऊचे दर्जे के व्यापारियो का घर है। हिंदुस्तानी गावो की और वहा की ज़िदगी की हालत की उनको अद्वितीय जानकारी थी। अपने उस निजी तजुरबे से ही उन्होने चरखे और ग्रामोद्योग का अपना कार्यक्रम तैयार किया। अगर बेकार और अर्ध-बेकार लोगो की बहुत बडी तादाद को फौरन ही कुछ राहत पहुचानी थी, अगर उस सडाध को, जो सारे हिंदुस्तान मे फैल रही थी और जनता को निकम्मी बना रही थी, रोकना था, अगर गाववालो के रहन-सहन के दर्जे को सामूहिक रूप से उठाना था, अगर बेबसो की तरह दूसरो का मुह ताकने की जगह उन्हे आत्म-निर्भरता सिखानी थी, और अगर इस सबको थोडी-सी ही पूजी के सहारे करना था, तो और कोई रास्ता नही था। विदेशी राज्य की जन्म-जात बुराइयो और शोषण के अलावा, और सुधार की बडी योजनाओ को शुरू और कारगर करने की आज़ादी के अभाव मे, हिंदुस्तान के सामने जो मसला था, वह यह था कि पूजी कम थी और श्रम की बहुतायत थी। उस निरर्थक श्रम को, उस जन-शक्ति को, जो कुछ भी उत्पादन नही कर रही थी, किस तरह काम मे लाया जाये? जन-शक्ति मे और यत्र-शक्ति मे हिमाकत-भरी तुलना की जाती है। यह ठीक है कि एक बडी मशीन हज़ारो आदमियो का काम कर सकती है, लेकिन अगर वे दस हज़ार व्यक्ति बेकार बैठे रहें और भूखो मरें, तो उस मशीन का इस्तेमाल सामाजिक हित

मे नहीं है। वह तो सिर्फ उस व्यापक दृष्टिकोण मे ही सभव होगा, जिसमे खुद सामाजिक हालतो मे रद्दोबदल होना जरूरी है। जब वहा बडी मशीन बिलकुल है ही नही, तो तुलना का कोई सवाल ही नही उठता, व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनो ही नजरो से उत्पादन के लिए जन-शक्ति का इस्तेमाल एक निश्चित लाभ है। इसमे और बडे-से-बडे पैमाने पर मशीनो का इस्तेमाल करने मे कोई अनिवार्य सघर्ष नही है। बस उसके लिए जरूरी बात सिर्फ यही है कि मशीन के इस्तेमाल मे पहला उद्देश्य श्रम को खपाने के लिए हो, न कि बेकारी बढाने के लिए।

पच्छिम के छोटे लेकिन उद्योग की दृष्टि से अति उन्नत देशो का या उन बडे देशो का, जिनकी आबादी बहुत कम और छितरी हुई है, मसलन अमरीका और सोवियत सघ का, हिंदुस्तान से मिलान करना ग़लतफ़हमी पैदा करता है। पच्छिमी यूरोप मे औद्योगीकरण सौ साल से चालू रहा है। और धीरे-धीरे वहा की आबादी ने उससे अपना मेल बिठा लिया है, आबादी पहले तो बडी तेजी से बढी, फिर उसकी तरक्की रुक गई और अब घट रही है। अमरीका और सोवियत सघ मे विस्तृत प्रदेश है, जिनमे थोडी, लेकिन बढती हुई आबादी है। वहा खेती के लिए जमीन का फायदा उठाने के लिए ट्रैक्टर बिल्कुल जरूरी है। लेकिन गगा नदी के घने बसे हुए प्रदेश मे भी ट्रैक्टर की उतनी ही जरूरत है, यह बात जाहिर नही होती, और कम-से-कम उस वक्त तक तो यह सच है ही, जबतक बहुत बडी तादाद मे आबादी गुजर के लिए जमीन का सहारा लेती है। दूसरे मसले भी उसी तरह सामने आते हैं, जैसे वे अमरीका मे सामने आये है। हिंदुस्तान मे हजारो बरसो से खेती होती आई है और जमीन का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया गया है। क्या ट्रैक्टर की मदद से जमीन को ज्यादा गहरा जोतने से यह जमीन कमजोर और खराब होगी? जब हिंदुस्तान मे रेलें बनी और उनके लिए ऊचे बाध बनाये गये, तो देश के स्वाभाविक ढाल पर कोई ध्यान नही दिया गया। इन बाधो ने स्वाभाविक बहाव मे दखल दिया है और उसका नतीजा यह हुआ है कि बार-बार बढ़ी-चढी बाढ़ें आई हैं, जमीन मे खादर हो गये हैं, और मलेरिया फैल गया है।

मैं पूरी-पूरी तरह से ट्रैक्टर और बडी मशीनो का हिमायती हू और मेरा यह पक्का यकीन है कि धरती का भार घटाने के लिए हिंदुस्तान का तेजी से औद्योगीकरण जरूरी है। साथ ही गरीबी का मुक़ाबला करने के लिए, रहन-सहन की हैसियत को उठाने के लिए, प्रतिरक्षा के लिए, और बहुत-से दूसरे कामो के लिए यह औद्योगीकरण जरूरी है। लेकिन मुझे इस बात में

भी इतना ही पक्का यकीन है कि अगर हमको औद्योगीकरण का पूरा-पूरा फायदा उठाना है, और उसके बहुत-से खतरो से बचना है, तो हमको बडी सावधानी के साथ योजनाबद्ध होकर चलना होगा। उन सब देशो मे, जहा तरक्की रुक गई है, मसलन चीन और हिंदुस्तान मे, जिनमे अपनी निजी मज़बूत परपराए है, ऐसा योजना-निर्माण बहुत जरूरी है।

चीन मे मै औद्योगिक सहकारिता (इडस्को)-आदोलन मे बहुत आकर्षित हुआ, और मुझे ऐसा लगता है कि कुछ ऐसे ही ढग का आदोलन हिंदुस्तान के लिए भी खासतौर से मुनासिब होगा। यह हिंदुस्तानी पृष्ठ-भूमि के अनुरूप होगा। यह छोटे उद्योगो को लोकतत्री आधार देगा और इससे सहकारिता की आदत बढेगी। इसे बडे उद्योग का सहयोगी बनाया जा सकता है। यह बात ध्यान मे रखने की है कि हिंदुस्तान मे बडे उद्योग की वृद्धि कितनी ही तेजी से क्यो न हो, छोटे और घरेलू धधो के लिए एक बहुत बडा क्षेत्र बराबर खुला रहेगा। खुद सोवियत रूस मे मालिक-उत्पादक सहकारी-सस्थाओ ने भी औद्योगिक बढवार मे एक अहम हिस्सा लिया है।

छोटे कारबार मे बिजली की ताकत के इस्तेमाल से उसकी तरक्की मे आसानी होती है और वह ऐसी आर्थिक स्थिति मे आ सकती है कि बडे पैमाने मे उद्योगो से मुकाबला कर सके। विकेंद्रीकरण के पक्ष मे अब लोग झुक रहे हैं, यहातक कि हैनरी फोर्ड भी उसके पक्ष मे है। वैज्ञानिक भी उन मनोवैज्ञानिक और शारीरिक खतरो की तरफ इशारा कर रहे हैं, जो बडे कारबारी शहरो की ज़िदगी मे जमीन से नाता छूट जाने पर पैदा होते है। कुछ लोगो ने तो यहातक कहा है कि मानव अस्तित्व के लिए यह ज़रूरी है कि फिर ज़मीन और खाद से नाता जोडा जाये। खुशकिस्मती से आज विज्ञान ने यह मुमकिन कर दिया है कि आबादी फैली हुई रहे और ज़मीन के सपर्क मे हो और साथ ही वह आधुनिक सभ्यता और सस्कृति की सारी सुविधाओ का फायदा उठा सके।

जो भी हो, पिछले बीसियो बरसो मे हिंदुस्तान मे हमारे सामने जो समस्या रही है, वह यह है कि मौजूदा परिस्थितियो मे विदेशी राज्य और उससे उत्पन्न निहित स्वार्थों की वजह से सीमित होते हुए भी हम किस तरह जनता की गरीबी कम कर सकते हैं और उसमे आत्म-निर्भरता की भावना भर सकते है? वैसे तो हमेशा घरेलू धधो को बढाने के पक्ष मे बहुत-सी दलीलें हैं, लेकिन जिस विशेष स्थिति मे हम थे, उसमे निश्चित रूप से वही सबसे ज्यादा कारगर चीज़ थी। जिन रास्तो को अपनाया गया, ऐसा हो

सकता है कि वे सबसे ज्यादा मौजू न हो। समस्या बडी थी, मुश्किलें थी, उलझनें थी और हमको अकसर सरकारी दमन का सामना करना पडता था। हमको धीरे-धीरे तजुरबे और गलती करके सीखना होता था। मेरा ऐसा खयाल है कि हमको सहकारी-सस्थाओ को शुरू से ही प्रोत्साहन देना चाहिए था और घर और गाव के लिए उपयुक्त छोटी मशीनों के सुधार के लिए विशेषज्ञो की तकनीकी और वैज्ञानिक जानकारी का इस्तेमाल करना चाहिए था। अब इन सस्थाओ मे सहकारी-सिद्धात लागू किया जा रहा है।

अर्थशास्त्री जी० डी० एच० कोल ने कहा है कि "खद्दर-उद्योग को बढाने का गाधीजी का आदोलन किसी शौकीन मिजाज आदमी का गुजरे हुए जमाने को लौटा लाने के लिए सिर्फ एक खिलवाड नही है, बल्कि गाव की हालत को सुधारने और गरीबी को दूर करने के लिए एक अमली कोशिश है।" बेशक यही बात थी, बल्कि उससे भी कुछ ज्यादा। उस योजना ने हिंदुस्तान को यह सोचने के लिए मजबूर किया कि गरीब किसान भी इन्सान हैं। उसने हिंदुस्तान को यह महसूस कराया कि थोडे-से शहरो की जगमगाहट के पीछे गरीबी और तकलीफ़ की कीचड थी, और इससे लोग इस बुनियादी सचाई को जान पाये कि हिंदुस्तान की आजादी और तरक्की की सच्ची कसौटी कुछ करोडपतियो के या समृद्धिशाली वकीलो के या ऐसे ही लोगों के बनने मे नही थी और न वह कौन्सिल या असेंबली बना देने मे थी, बल्कि वह किसान की जिंदगी की हालत और हैसियत बदल देने मे थी। अग्रेज़ो ने हिंदुस्तान मे एक नई जमात या जाति पैदा कर दी थी और वह थी अग्रेज़ी पढे-लिखे लोगों की जमात, जो अपनी निजी दुनिया मे रहती थी, आम जनता से अलहदा थी और जो हमेशा ही, यहातक कि विरोध के मौको पर भी, अपने शासको के मुह की तरफ देखती थी। गाधीजी ने कुछ हद तक उस खाई को पाटा और उनको अपनी दिशा बदलकर अपनी निजी जनता की तरफ देखने को मजबूर किया।

मशीन के इस्तेमाल के सिलसिले मे गाधीजी का रुख धीरे-धीरे बदलता हुआ मालूम दिया।- उन्होंने कहा—"जिस चीज़ के मैं खिलाफ़ हू, वह है मशीन के लिए पागलपन, खुद मशीन के मैं खिलाफ नही हू।" 'अगर गाव के हर घर में बिजली हो, और अगर गाववाले अपने औज़ारो को बिजली से चलायें, तो उसमे मुझे कोई ऐतराज नही होगा।" कम-से-कम वर्तमान परिस्थितियो मे, उनके लिहाज से, बडी मशीन से लाज़िमी तौर पर ताक़त और दौलत का केंद्रीकरण होता है। "मैं इसे एक पाप और अन्याय समझता

हू कि कुछ थोडे-से लोगो के हाथो मे ताकत और दौलत के केंद्रीकरण के लिए मशीन का इस्तेमाल किया जाय। आज मशीन का इस्तेमाल इसीलिए होता है।" कई किस्म के वडे उद्योगो, वडे पैमाने पर वुनियादी उद्योगो और सार्वजनिक उपयोगिताओ की जरूरत को भी उन्होने मजूर कर लिया। लेकिन इसके वारे मे उनकी शर्त यह जरूर थी कि उन पर सरकारी कब्जा हो और ये धधे उन घरेलू धधो मे दखल न दे, जिनको वह जरूरी समझते थे। अपनी तजवीजो के वारे मे जिक्र करते हुए उन्होंने कहा—"अगर इस कार्यक्रम को आर्थिक वरावरी की ठोस वुनियाद पर नही खडा किया गया, तो वह वालू पर वनी इमारत की तरह होगा।"

इस तरह घरेलू और छोटे धधो के उत्साही समर्थक भी इस वात को मानते हैं कि कुछ हद तक वडे पैमाने का उद्योग जरूरी और लाजिमी है। वस, इतनी वात जरूर है कि जहातक मुमकिन हो, वे इसको सीमित कर देना चाहेगे। इस तरह सवाल मोटे तौर पर यह रह जाता है कि इन दो तरीको मे किसे ज्यादा अहमियत दी जाये और किस तरह दोनो मे समतौल कायम किया जाये। इस वात के शायद ही कोई खिलाफ हो कि मौजूदा दुनिया के सदर्भ मे अतर्राष्ट्रीय अतर्निर्भरता के ढाचे मे भी कोई देश तवतक राजनैतिक और आर्थिक रूप से स्वतत्र नही हो सकता, जवतक कि उसके उद्योग-धधे खूव वढे हुए न हो और जवतक उसके शक्ति-स्रोत पूरी-पूरी तरह विकसित न हो। जीवन के करीव-करीव हर क्षेत्र मे आधुनिक औद्योगिक हुनर के विना वह देश रहन-सहन के ऊचे मापदड पर न तो पहुच ही सकता है और न उस मापदड को वनाये रख सकता है और न गरीवी को मिटा सकता है। उद्योगो मे पिछडे हुए देश से दुनिया का सतुलन वरावर विगडता रहेगा और दूसरे उन्नत देशो की आक्रामक प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिलेगा। अगर राजनैतिक आजादी हुई, तो वह सिर्फ नाम के लिए होगी और आर्थिक नियत्रण धीरे-धीरे दूसरो के हाथो मे चला जायेगा। इस नियत्रण से खुद उसकी छोटे पैमाने की अर्थ-व्यवस्था विगड जायेगी, जिसको अपनी जिदगी के नजरिये के माफिक वनाये रखने की उसने कोशिश की थी। इस तरह घरेलू और छोटे उद्योग-धधो की वुनियाद पर किसी देश की अर्थ-व्यवस्था वनाने की कोशिश कामयाव नहीं हो सकती। देश के वुनियादी मसलो को न तो वह हल कर सकती है और न आजादी को कायम रख सकती है, और सिवाय एक नौआवादी की शक्ल मे, उसका दुनिया के ढाचे मे मेल भी नही वैठ सकता।

क्या किसी देश मे विलकुल दो ढगो की अर्थ-व्यवस्था मुमकिन है—

एक वह, जिसकी बुनियाद बड़ी मशीन और औद्योगीकरण पर हो; और दूसरी वह, जिसमे घरेलू-धधो की प्रधानता हो? यह बात मुमकिन नही मालूम देती, क्योकि उनमे से किसी एक की जीत होगी, और इसमे कोई शक नही है कि जीत बडी मशीन की होगी। हा, अगर उसे जबरदस्ती रोक दिया जाये, तो बात दूसरी है। इस तरह यह दो ढगो के उत्पादन और दो ढगो की अर्थ-व्यवस्था के समतोल का सवाल नही है। उनमे एक की प्रधानता और महत्ता होगी और दूसरी उसमें, जहा मुमकिन होगा, पूरक की तरह जुडी होगी। वह अर्थ-व्यवस्था, जिसकी बुनियाद नई-से-नई तकनीकी जानकारी पर होगी, लाजिमी तौर पर आधिपत्य उसीका होगा। अगर औद्योगिक हुनर के लिहाज से आजकल की तरह बडी मशीन की जरूरत हो, तो उसकी सारी अच्छाइयो-बुराइयो के बावजूद बडी मशीन को अपनाना होगा। उस हुनर के लिहाज से जहा कही उत्पादन मे विकेंद्रीकरण मुमकिन हो, वहा वह वाछनीय होगा। लेकिन हर सूरत में नये-से-नये चलन को बनाये रखना होगा, क्योकि उत्पादन के बीते हुए और पुराने ढरों से चिपके रहने पर (सिवाय किसी खास वजह से और वह भी अस्थायी रूप से हो) तरक्क़ी रुक जायगी।

छोटे और बडे पैमाने के उद्योग-धधो के अपने गुणो के बारे मे कोई दलील देना अब खासतौर से बेमानी मालूम देता है, जबकि दुनिया ने और उसके सामने आनेवाली हालत की प्रभावी सचाइयो ने बडे उद्योगों के पक्ष मे फैसला दे दिया है। खुद हिंदुस्तान मे भी इन्ही सचाइयो की वजह से फैसला हो गया है, और किसीको इसमे शक नहीं है कि नजदीक भविष्य मे हिंदुस्तान मे तेजी से औद्योगीकरण होगा। उस दिशा मे हिंदुस्तान खुद काफी आगे जा चुका है। बिना नियत्रण और योजना-निर्माण के औद्योगीकरण की बुराइया अब मानी जाने लगी हैं। ये बुराइया बडे उद्योग के साथ लाजिमी तौर से लगी हुई हैं या ये सामाजिक और आर्थिक ढाचे की वजह से हैं, यह एक दूसरी बात है। अगर उनकी जिम्मेदारी आर्थिक ढाचे पर ही हैं, तो निश्चय ही हमको उस ढाचे को बदलने की कोशिश करनी चाहिए, न कि पद्धति के वाछनीय और लाजिमी नतीजो को दोष देना चाहिए।

असली सवाल यह नहीं हैं कि दो मुख्तलिफ तत्वों और पैदावार के तरीकों के बीच मिक़दार का समतोल किया जाये, बल्कि यह कि एक नये तरीक़े को कैसे अख्तियार किया जाये, जिसके कई समाजी नतीजे हो सकते हैं। इस गुणात्मक परिवर्तन के आर्थिक और राजनैतिक पहलू महत्व-पूर्ण हैं, लेकिन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलू भी उतने ही महत्वपूर्ण

हैं। खासतौर से हिंदुस्तान मे, जहा हम सोच-विचार और काम-काज के पुराने तरीको से बहुत अरसे से बधे रहे हैं, नये तजुरबे और नई प्रक्रियाए, जो नये विचारो और नये क्षितिज की तरफ ले जाये, जरूरी हैं। इस तरह हम अपने जीवन के गतिहीन स्वभाव को बदल देगे और उसको गतिशील और सजीव बना देगे, और हमारे मस्तिष्क क्रियाशील और साहसपूर्ण हो जायेगे। जब दिमाग को मजबूरन नई हालतो का सामना करना पडता है, तो नये तजुरबे होते हैं।

अब यह बात आमतौर पर मानी जाती है कि बच्चो की शिक्षा का किसी दस्तकारी या हाथ के काम से करीबी ताल्लुक होना चाहिए। उससे दिमाग को उत्तेजना मिलती है और दिमाग के और हाथ के काम मे समतौल पैदा होता है। उसी तरह मशीन से भी बढती उम्र मे लडके या लडकी के दिमाग को उत्तेजना मिलती है। मशीन से वास्ता पडने पर वह विकसित होता है (हा, उचित व्यवस्था के ही अदर, न कि उस हालत मे, जबकि कारखाने मे दुखी मजदूर की तरह उसे पीसा जाता है) और नया क्षितिज सामने आता है। मामूली वैज्ञानिक प्रयोग, जैसे खुर्दबीन से देखना और प्रकृति की साधारण-सी प्रक्रिया की व्याख्या से एक तरह की उत्तेजना आती है, जिंदगी की किसी प्रक्रिया की समझ आती है और इस बात की ख्वाहिश जगती है कि पुरानी बातो पर निर्भर रहने की जगह हम खुद तजुरबे करें और जानकारी हासिल करे। अपने पर भरोसा करने और सहकारिता की भावना की वृद्धि होती है और वह मायूसी, जो पुरानी सडन से पैदा होती है, कम होती है। ऐसी सभ्यता, जिसकी बुनियाद सदा परिवर्तन-शील और प्रगतिशील यान्त्रिक पद्धति पर होती है, इसी दिशा मे ले चलती है। ऐसी सभ्यता पुराने ढग से बिलकुल जुदा है और उसका आधुनिक औद्योगीकरण से गहरा ताल्लुक है। लाजिमी तौर से उससे नई समस्याए और नई परेशानिया सामने आती हैं। लेकिन उसमे उनको पार करने की तरकीब का भी पता लगता है।

शिक्षा के साहित्यिक पहलू के प्रति मुझमे पक्षपात का भाव है और मैं प्राचीन साहित्य का प्रशसक हू। लेकिन मुझे इस बात का विश्वास है कि बच्चो को भौतिकी और रासायन-शास्त्र मे और खासतौर से प्राणीशास्त्र मे प्रारभिक शिक्षा देना और विज्ञान के उपयोगो की जानकारी कराना जरूरी है। सिर्फ इसी तरह वे आधुनिक दुनिया को समझ सकते है, उसके साथ मेल बिठा सकते है और कम-से-कम कुछ हद तक वैज्ञानिक स्वभाव बना सकते हैं। विज्ञान और आधुनिक औद्योगिक प्रशिल्प की जबरदस्त

कामयाबिया आश्चर्यजनक हैं (निकट भविष्य मे ये कामयाबिया और भी ज्यादा हो जायेंगी)। उसी तरह वैज्ञानिक यत्रो के कौशल मे, आश्चर्यजनक रूप से कोमल किंतु शक्तिशाली मशीनो मे, उस सबमे, जिसका जन्म विज्ञान की साहसपूर्ण खोज से हुआ है, प्रकृति की प्रक्रियाओ मे और कारखानो की आकर्षक झलक मे, अपने अनगिनत काम करनेवालो के जरिये विज्ञान के सुदर विस्तार मे, विचार और व्यवहार के क्षेत्र मे, और सबसे अधिक इस बात मे कि यह सब मानव-मस्तिष्क की ही देन है, एक आश्चर्य भरा हुआ है।

८ : औद्योगिक प्रगति पर सरकारी रोक : लड़ाई के जमाने का उत्पादन और सामान्य उत्पादन

हिंदुस्तान मे भारी उद्योग की नुमाइदगी टाटा आयरन एड स्टील वर्क्स, जमशेदपुर, से होती थी। उस ढग की कोई और दूसरी चीज नही थी और दूसरे इजीनियरिग कारखाने तो असल मे दूकानें थीं। सरकारी नीति की वजह से खुद टाटा-कारबार की तरक्की बहुत धीमी हुई थी। पहले महायुद्ध के दौरान मे जब रेल के इजनो और डिब्बो की कमी पडी थी, तो टाटा कारबार ने इजन बनाने का इरादा किया, और मेरा ऐसा खयाल है कि उसके लिए उन्होने बाहर से मशीनें तक मगा ली। लेकिन जब लडाई खत्म हुई, तो हिंदुस्तान की सरकार और रेलवे बोर्ड ने (जो केंद्रीय सरकार का एक महकमा है), ब्रिटिश इजनो को ही लेना तय किया। यह जाहिर है कि उनके लिए जाती तौर पर तो कोई बाजार है नही, क्योंकि रेलो पर या तो सरकारी कब्जा है या ब्रिटिश कपनियो का, और इसलिए टाटा कपनी को अपना इरादा छोडना पडा।

अगर हिंदुस्तान को औद्योगिक ढग से या दूसरे ढग से बढाना है, तो उसकी तीन बुनियादी जरूरतें हैं—भारी इजीनियरी और मशीन बनानेवाले उद्योग-धधे, वैज्ञानिक खोज की सस्थाए और बिजली की ताक़त। सारी योजना की बुनियाद इन पर होनी चाहिए और नेशनल प्लानिग कमेटी ने इस पर ज्यादा-से-ज्यादा जोर दिया। हमारे यहा तीनो की ही कमी थी, और औद्योगिक फैलाव मे बराबर रुकावटें थी। एक प्रगतिशील नीति से ये रुकावटें तेजी से हट सकती हैं, लेकिन सरकारी नीति तो प्रगति के खिलाफ थी और वह साफ तौर से हिंदुस्तान मे भारी उद्योग-धधो की तरक़्क़ी को रोकना चाहती थी। उस वक्त भी, जब दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ, बाहर से जरूरी मशीनें मगाने की इजाजत नही दी गई; बाद मे जहाजी

मुश्किलों का बहाना किया गया। हिंदुस्तान में न तो पूंजी की कमी थी और न होशियार हुनरदार आदमियों की ही कमी थी। सिर्फ़ मशीनों की कमी थी और उद्योगपति उनके लिए हल्ला मचा रहे थे। अगर बाहर से मशीनें मंगाने का मौक़ा दिया गया होता, तो सिर्फ़ हिंदुस्तान की आर्थिक हालत ही बेहद बेहतर नहीं हुई होती, बल्कि सुदूर पूर्व के युद्ध-क्षेत्र का तमाम नक्शा ही बदल गया होता। बहुत-सी चीज़ें, जो बाहर से लाई जाती थीं, और जिनको हवाई जहाज़ से बहुत मुश्किलों में बहुत खर्च करके लाया जाता था, हिंदुस्तान में ही तैयार की जा सकती थीं। चीन और पूर्व के लिए हिंदुस्तान सचमुच ही एक अस्त्रागार बन गया होता और यहां की औद्योगिक उन्नति कनाडा या आस्ट्रेलिया की उन्नति की बराबरी करती। हालांकि लड़ाई की हालतों की ज़रूरतों का अहम खयाल था, लेकिन हमेशा ही ब्रिटिश उद्योग की आगे की ज़रूरतें ध्यान में रखी जाती थीं, और हिंदुस्तान में किसी ऐसे उद्योग को बढ़ाना अच्छा न समझा जाता था, जो युद्ध के बाद के वर्षों में ब्रिटिश उद्योग-धंधों का मुक़ाबला करे। यह कोई गुप्त नीति नहीं थी। ब्रिटिश अखबारों में उसको आमतौर पर ज़ाहिर किया जाता था और हिंदुस्तान में बराबर उसका विरोध होता था।

टाटा कारबार के दूरदेश संस्थापक, जमशेदजी टाटा में काफ़ी सूझ थी और उन्होंने बंगलौर में इंडियन इंस्टीट्यूट ऑव साइन्स की शुरुआत की। इस खोज-संबंधी संस्था के ढंग की हिंदुस्तान में बहुत ही कम संस्थाएं थीं। जो संस्थाएं थीं, वे सरकारी थीं और उनका कार्य-क्षेत्र सीमित था। इस तरह वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अन्वेषण के विस्तृत क्षेत्र की, जिसके सिलसिले में अमरीका और सोवियत संघ में हज़ारों संस्थाएं, अकादेमियां और विशेष केंद्र हैं, हिंदुस्तान में क़रीब-क़रीब पूरी तरह उपेक्षा कर दी गई थी। जो कुछ होता था, वह सिर्फ़ बंगलौर में या कुछ हद तक विश्वविद्यालयों में। दूसरे महायुद्ध के शुरू होने के कुछ बाद अन्वेषण को प्रोत्साहन देने की कोशिश की गई और हालांकि उसका क्षेत्र सीमित था, फिर भी उसके नतीजे अच्छे रहे हैं।

जहां पानी के जहाज़ और रेल के इंजन बनाने के काम को निरुत्साहित किया गया और रोका गया, वहां साथ ही मोटरों का उद्योग चालू करने की कोशिश भी रद्द कर दी गई। दूसरे महायुद्ध के छिड़ने के कुछ बरस पहले इसके लिए तैयारियां शुरू की गई थीं और एक मशहूर अमरीकी मोटर बनाने की कंपनी के सहयोग से एक इंतज़ाम कर लिया गया था। अलग-अलग तैयार हिस्सों को जोड़कर मोटर बनाने का काम हिंदुस्तान

से पहले से ही कई जगहो पर हो रहा था। अब खुद इन हिस्सो को ही हिंदुस्तान मे, हिंदुस्तानी पूंजी और इतजाम से, हिंदुस्तानी कारीगरो के हाथो बनाने का इरादा था। उस अमरीकी सस्था के साथ ऐसा इतजाम कर लिया गया था कि उसकी पेटेंट चीजो को काम मे लाया जा सकता था, और शुरू मे उसकी तकनीकी देखभाल हासिल होती। बबई के सूबे की सरकार ने, जो उस वक्त काग्रेसी मत्रिमडल के हाथो मे थी, कितने ही ढग से मदद देने का वायदा किया। प्लानिंग कमेटी की इस योजना मे खासतौर से दिलचस्पी थी। असल मे हर चीज तय हो चुकी थी और सिर्फ बाहर से मशीने मगाना बाकी था। भारत-सचिव ने इसको पसद नहीं किया और अपना हुक्म मशीने मंगाने के खिलाफ दिया। भारत-सचिव की राय मे "इस वक्त इस कारबार को चालू करने की किसी भी कोशिश से मजदूर और मशीन दोनो ही, जिनकी लडाई के लिए खासतौर से जरूरत है, भटक जायेंगे।" यह बात लडाई के शुरू के महीनो की है। यह बताया गया कि श्रम की, यहातक कि कुशल श्रम की, भी बहुतायत थी, बल्कि असल मे वह तो काम की तलाश मे था। लडाई की जरूरत भी एक अजीब दलील थी; क्योकि खुद उस जरूरत के लिए ही मोटर-यातायात की माग थी। लेकिन भारत-सचिव, जो सर्वोच्च अधिकारी थे और लदन मे बैठे थे, इन दलीलो से प्रभावित नहीं हुए। यह बात भी सुनने मे आई कि एक शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी अमरीकी मोटर-कारपोरेशन ने किसी दूसरे की ओर से हिंदुस्तान मे मोटर-उद्योग शुरू करने की बात पसद नही की।

हिंदुस्तान मे लडाई के दौरान मे यातायात की एक अहम समस्या पैदा हो गई। मोटर ठेलो की कमी थी, पेट्रोल की कमी थी, रेल के इजनो की, डिब्बो की, यहातक कि कोयले की भी कमी थी। करीब-करीब सभी मुश्किले आसानी से हल हो गई होती, अगर लडाई से पहले के हिंदुस्तान के प्रस्ताव नामजूर न कर दिये गये होते। इजन, रेल के डिब्बे, मोटर-ठेले और साथ ही फौलादी गाड़िया भी हिंदुस्तान मे बनती। पेट्रोल की कमी से जो परेशानी हुई थी, वह पॉवर-अलकोहल से बहुत हद तक कम हो जाती। जहातक कोयले का सवाल है, हिंदुस्तान मे कोई कमी नही थी, कोयला बहुत तादाद मे था, लेकिन इस्तेमाल के लिए बहुत थोडा निकाला जाता था। लडाई के दौरान मे कोयले की ज्यादा माग के होते हुए भी उसकी निकासी कम हो गई है। कोयले की खानो मे हालतें इतनी खराब थी और मजदूरी इतनी कम थी कि मजदूरो को इस काम के लिए कोई कशिश न होती थी। आगे चलकर औरतो के लिए जमीन के अदर काम

करने पर जो रोक थी, वह हटा ली गई, क्योंकि उसी मजदूरी पर औरतें काम करने के लिए तैयार थी। कोयले के उद्योग को ठीक करने और मजदूरी व हालतो को सुधारने की कोशिश नही की गई, जिसने मजदूरो को आकर्षण होता। कोयले की कमी की वजह से उद्योग-धधो की तरक्की को बहुत नुकसान पहुचा, यहातक कि कुछ कारखानो को अपना काम बद कर देना पडा।

कई सौ इजन और कई हज़ार डिब्बे हिंदुस्तान से मध्य-पूर्व भेज दिये गये और इस तरह हिंदुस्तान मे यातायात की मुश्किले बढ गईं, यहातक कि कुछ रास्तो की पटरिया भी उखाडकर बाहर भेज दी गईं। आगे के नतीजो पर बिना ध्यान दिये जिस बेफ़िक्री से यह सब किया गया, उस पर आश्चर्य होता है। योजना और दूरदर्शिता का बिल्कुल अभाव था और एक समस्या के आशिक हल से फौरन ही दूसरी बडी और ज्यादा गभीर समस्याए सामने आती थी।

सन १९३९ के आखिर मे या १९४० के शुरू मे हिंदुस्तान में हवाई जहाज बनाने के उद्योग को शुरू करने की कोशिश की गई। एक अमरीकी कारबार के साथ हर एक चीज़ तय कर ली गई और हिंदुस्तान-सरकार और हिंदुस्तान मे फौजी प्रधान केंद्र को उनकी मजूरी के लिए समुद्री तार भेजे गये। कोई जवाब नही मिला। कई बार याद दिलाने पर एक जवाब आया और उसमे योजना को नापसद किया गया। जब जहाज इग्लैंड और अमरीका से खरीदे जा सकते हैं, तो उन्हे हिंदुस्तान मे बनाने की क्या ज़रूरत है?

लडाई से पहले बहुत-सी दवाइया जर्मनी से हिंदुस्तान को आती थीं। लडाई की वजह से उनका आना बद हो गया। फ़ौरन ही यह सलाह दी गई कि कुछ ज्यादा जरूरी दवाइयो को हिंदुस्तान मे बनाना शुरू कर दिया जाये। कुछ सरकारी सस्थाओ मे यह इतज़ाम आसानी से किया जा सकता था। हिंदुस्तान-सरकार ने इसको पसद नही किया और कहा कि अब हर जरूरी चीज इपीरियल कैमिकल इडस्ट्रीज के जरिये मिल सकती है। जब यह सलाह दी गई कि वही चीज़ हिंदुस्तान मे बहुत सस्ते दामो मे बन सकती है और उसका आम जनता और फौज में बिना किसी जाती मुनाफे के फ़ायदा उठाया जा सकता है, तो ऊचे अधिकारी इस बात पर नाराज हुए कि राजकीय नीति के मामले मे ऐसे ओछे खयालो से दखल दिया गया। यह कहा गया कि "सरकार कोई व्यापारिक सस्था नही है।"

सरकार व्यापारिक संस्था तो नही थी, लेकिन व्यापारिक सस्थाओ में उसकी बहुत ज्यादा दिलचस्पी थी और इनमे से एक इपीरियल कैमिकल

इडस्ट्रीज थी। इस विशाल सगठन को हिंदुस्तान मे बहुत-सी सुविधाए दी गई थी। बिना सुविधाओ के ही इसके पास इतने ज्यादा साधन थे कि सभवत कुछ हद तक टाटा को छोडकर और कोई भी हिंदुस्तानी कारबार उसका मुकाबला नही कर सकता था। इन सुविधाओं के अलावा उसको हिंदुस्तान और इग्लैंड दोनो ही जगह ऊंचे अधिकारियो की मदद हासिल थी। हिंदुस्तान के वाइसराय का पद छोडने के कुछ ही महीनो बाद लॉर्ड लिनलिथगो इपीरियल कैमिकल्स के डायरेक्टर की हैसियत से एक नये रूप मे सामने आये। इससे हिंदुस्तान की सरकार और इंग्लैंड के बडे व्यवसाय का करीबी रिश्ता जाहिर हो जाता है और यह भी कि लाज़िमी तौर पर इसका सरकारी नीति पर क्या असर होगा। शायद उस वक्त भी, जब लॉर्ड लिनलियगो हिंदुस्तान के वाइसराय थे, वह इपीरियल कैमिकल्स के एक बहुत बडे हिस्सेदार रहे हो। जो भी हो, वाइसराय की हैसियत से उन्हे जो विशेष जानकारी थी, उसे और हिंदुस्तान के रिश्ते की अपनी शान को अब उन्होंने इपीरियल कैमिकल्स की सेवा में अर्पित कर दिया है।

दिसबर, १९४२ मे वाइसराय को हैसियत से लार्ड लिनलियगो ने कहा —"हमने सप्लाई के सिलसिले मे बडे जबरदस्त काम किये हैं। हिंदुस्तान ने असाधारण अहमियत और क़ीमत की सहायता दी है।. . लडाई के पहले छ महीनो मे करीब उनतीस करोड़ रुपये के ठेके दिये गये। १९४२ मे अप्रैल से अक्तूबर तक एक सौ सैंतीस करोड़ के दिये गये। लडाई के कुल दौरान मे, अक्तूबर १९४२ के आखिर तक ये चारसौ अट्ठाईस करोड से भी ज्यादा के हो गये थे और इन आंकडो मे उस काम की कीमत शामिल नहीं है, जो आर्डनेंस फैक्टरियो मे हुआ और जिसका खुद का ही परिमाण बहुत ज्यादा है।" यह बिलकुल सच है, और इस कथन के बाद हिंदुस्तान की लडाई की तैयारियो में सहायता बेहद बढ गई है। इससे ऐसा खयाल होगा कि औद्योगिक काम मे बडी भारी तरक्की हुई और उत्पादन बहुत बढ गया है। फिर भी ताज्जुब की चीज यही है कि ज्यादा फ़र्क़ नहीं हुआ। सन १९३८-३९ मे हिंदुस्तान के औद्योगिक काम-काज का सूचनाक १११ १ था (सन १९३५ का अक १०० माना गया है)। सन १९३९-४० मे यह ११४.० था, १९४०-४१ में यह ११२.१ और १२७ ० के बीच में घटता बढता रहा, मार्च १९४२ मे यह ११८.९ था; अप्रैल १९४२ में यह गिरकर १०९ २ रह गया और तब फिर जुलाई १९४२ तक बढकर ११६. २ हो गया। ये आकडे पूरे नही हैं, क्योकि इनमे कुछ रासायनिक उद्योग और हथियारो (गोला-बारूद) के उद्योग शामिल नही हैं। फिर भी ये महत्वपूर्ण हैं।

इससे यह आश्चर्यजनक सचाई जाहिर होती है कि कुछ चीजो (गोला-बारूद) को छोडकर जुलाई, १९४२ मे हिंदुस्तान का कुल औद्योगिक काम लडाई के पहले के वक्त से कुछ थोडा-सा ज्यादा ही था। दिसबर, १९४१ मे कुछ वक्त के लिए थोडा-सा ही चढाव आया, और उस वक्त सूचनाक १२७ ० हो गया और फिर घटने लगा। फिर भी उद्योग-धधो को दिये हुए सरकारी काम की कीमत बराबर बढ रही थी। पहले छ महीनो में, यानी अक्तूबर, १९३९ से लेकर मार्च, १९४० तक, इसकी कीमत उनतीस करोड रुपये थी, और जैसा लार्ड लिनलिथगो ने कहा है, १९४२ मे अप्रैल से अक्तूबर तक के छ महीनो मे यह एक सौ सैंतीस करोड रुपये थी।

लडाई के सिलसिले मे इस लबे-चौडे काम से कुछ औद्योगिक उत्पादन मे कोई खास तरक्की नही जाहिर होती, बल्कि उससे असल में इस बात का पता लगता है कि बहुत बडे पैमाने पर सामान्य उत्पादन की जगह लडाई के लिए खास चीजो के उत्पादन ने ले ली। उस वक्त उन्होंने लडाई की जरूरतो को तो जरूर पूरा किया, लेकिन उसकी कीमत नागरिक आवश्यकताओ के उत्पादन को बेहद घटाकर दी। लाजिमी तौर पर इसका बहुत गहरा असर हुआ। जिस वक्त लदन मे हिंदुस्तान के पक्ष मे स्टर्लिंग बैलेन्स बढा और हिंदुस्तान मे थोडे-से लोगो के हाथो मे दौलत इकट्ठी हुई, कुल मिलाकर देश जरूरत की चीजो के लिए तरसता रहा। देश मे कागजी रुपया चल रहा था और उसकी तादाद दिन-ब-दिन बढ रही थी। कीमतें बढ गई और कभी-कभी तो ये इस दर्जे तक पहुची कि उन पर यकीन नही होता। सन १९४२ के ही बीच में खाद्य-सकट जाहिर होने लगा। १९३९ के पतझड मे बगाल और हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों मे अकाल ने लाखों जानें ली। लडाई का और सरकारी नीति का बोझ हिंदुस्तान के उन करोडो आदमियो पर पडा, जो उसको उठाने के काबिल न थे और बहुत बडी तादाद मे लोग एक सबसे निर्दय प्रकार की मौत—भुखमरी—के शिकार होकर खत्म हो गये।

जो आकडे मैंने दिये हैं, वे १९४२ तक के ही हैं। बाद के आकडे मुझे उपलब्ध नही हैं। शायद तब से बहुत-सी तब्दीलिया हो चुकी हैं और हिंदुस्तान के औद्योगिक काम का सूचनाक अब कुछ ज्यादा हो।[1] लेकिन जो तस्वीर सामने आती है, उसका बुनियादी पहलू बदला नही है। वही

---

[1] लेकिन ऐसा नहीं है। कलकत्ते के 'कैपीटल' ने मार्च, १९४४ के अक में भारत की औद्योगिक गति-विधियों के सूचनांक के बारे में ये आकड़े

प्रक्रियाएं काम कर रही हैं। एक के बाद दूसरा संकट पहले की ही तरह सामने आता है। वही पैबंद लगाये जाते हैं, वही अस्थायी इलाज किया जाता है, विस्तृत और योजनाबद्ध दृष्टिकोण की कमी अब भी दिखाई देती है, ब्रिटिश उद्योग-धंधों के वर्तमान और भविष्य के लिए अब भी वही पक्षपात है—और इसी बीच में लोग खाने की कमी से और महामारियों से बराबर मरते जा रहे हैं।

यह सच है कि कुछ मौजूदा उद्योग-धंधे—मसलन सूती कपड़े की मिलें, लोहे और जूट के धंधे—बहुत ज्यादा खुशहाल हो गये हैं। उद्योगपतियों में, लड़ाई के ठेकेदारों में और मुनाफाखोरों में करोड़पतियों की तादाद बहुत बढ़ गई है और हिंदुस्तान की ऊपरी सतह के थोड़े-से लोगों के हाथों में बहुत बड़ी रकमें इकट्ठी हो गई हैं। वैसे हालांकि सुपर टैक्स लागू है, लेकिन आमतौर से मजदूरों की जमात को फायदा नहीं हुआ और मजदूरों के नेता श्री एन० एम० जोशी ने केंद्रीय असेंबली में यह कहा कि लड़ाई के दौरान में हिंदुस्तान में मजदूरों की हालत बदतर हो गई है। जमीन के मालिक और बीच के दर्जे के किसान, खासतौर से पंजाब और सिंध के किसान, खुशहाल हो गये हैं, लेकिन खेतिहर आबादी के ज्यादातर हिस्से को लड़ाई की वजह से चोट पहुंची है और उसको काफी नुकसान उठाना पड़ा है। पैसे की दर घटने से और बढ़ती हुई क़ीमतों की वजह से आमतौर पर खरीददार पिस गये हैं।

सन १९४२ के बीच में ग्रेडी कमेटी नाम का एक अमरीकी टेकनीकल मिशन हिंदुस्तान आया। हिंदुस्तान के मौजूदा धंधों का निरीक्षण करके

दिये हैं :

(१९३५-३६=१००)

१९३८-३९	१११. १
१९३९-४०	११४. ०
१९४०-४१	११७. ३
१९४१-४२	१२२. ७
१९४२-४३	१०८. ८
१९४३-४४	१०८. ०
जनवरी १९४४	१११. ७

इनमें हथियारों का उत्पादन शामिल नहीं है। इस तरह चार साल लड़ाई के बाद कुल मिलाकर औद्योगिक गति-विधि लड़ाई के पहले के वक़्त से असल में कुछ कम ही है।

वह उत्पादन बढाने की सलाह देने के लिए आया था। स्वाभाविक है कि केवल युद्ध-उत्पादन से ही उसका ताल्लुक था। उसकी रिपोर्ट प्रकाशित नही की गई, शायद इस वजह से कि हिंदुस्तान-सरकार ने उसके लिए इजाज़त नही दी। हा, उसकी कुछ सिफारिशो को ज़रूर ज़ाहिर कर दिया गया। उसने पॉवर-अलकोहल तैयार करने की, फौलाद के धधो की, विद्युत उत्पादन को, एलुमिनियम और शोधे हुए गधक के उत्पादन को बढाने की सलाह दी और साथ ही उसने अनेक उद्योगो मे समझदारी बरतने की भी सलाह दी। सरकारी ढाचे के अलावा और उससे बिलकुल स्वतन्त्र रूप मे अमरीकी नमूने पर उच्च सत्ता द्वारा उत्पादन-नियत्रण की भी उसने सलाह दी। ज़ाहिर है कि हिंदुस्तान-सरकार के काहिल और फूहड ढग के लिए ग्रेडी कमेटी के दिल मे कोई इज्जत नही हुई। सरकारी ढर्रे पर घमासान लडाई का भी कोई खास असर नही हुआ था। टाटा स्टील वर्क्स के उस विशाल सगठन से, जिसका शुरू से आखिर तक हिंदुस्तानी ही सचालन करते थे, और उस सगठन की कुशलता से वह प्रभावित हुई। ग्रेडी कमेटी की प्रारभिक रिपोर्ट मे आगे यह भी कहा गया कि "मिशन पर हिंदुस्तानी श्रम की ऊचे दर्जे की सामर्थ्य और उसके बढियापन की अच्छी छाप पडी है। हिंदुस्तानी हाथ के काम मे होशियार हैं, और काम करने की हालतो के सुधारने और नौकरी की तरफ से बेफिक्री होने पर वे और भी ज्यादा मेहनत कर सकते हैं और उनका भरोसा किया जा सकता है।"[1]

पिछले दो-तीन बरसो मे हिंदुस्तान मे रासायनिक उद्योग बढा है, पानी के जहाज़ बनाने के काम मे भी कुछ तरक्की हुई है, और एक छोटा-सा हवाई जहाज़ बनाने का धधा भी शुरू कर दिया गया है। सुपर टैक्स के होते हुए भी लडाई के काम के सारे धधो ने, जिनमे कपडे और जूट की मिलें भी शामिल हैं, बहुत मुनाफा उठाया है, और बहुत बडी पूजी इकट्ठी हो गई है। नये औद्योगिक कारबार के लिए पूजी लगाने पर हिंदुस्तान-सरकार ने रोक लगा दी है। इधर हाल मे इस सिलसिले मे कुछ ढील दे दी गई है,

---

[1] कमेटी की रिपोर्ट पर आलोचना करते हुए बबई के 'कॉमर्स' ने २८ नवबर, १९४२ को लिखा—"यह तथ्य स्पष्ट है कि देश मे औद्योगिक उन्नति का गला घोटने के लिए शक्तिशाली स्वार्थ देश के बाहर काम कर रहे हैं, ताकि लडाई के बाद पच्छिम के कारबार को पूर्व के कारबार से होड़ का खतरा न रहे।"

हालाकि लड़ाई खत्म होने तक इस सिलसिले में कोई बात निश्चित रूप से नही की जा सकती। इस ढोल की ही वजह से बड़े व्यापार मे शक्ति फट पड़ने लगी है और लबी-चौड़ी औद्योगिक योजनाए बन रही हैं। ऐसा मालूम होता है कि हिंदुस्तान मे, जिसकी तरक्की बहुत अरसे से रोक दी गई थी, अब बहुत बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण होनेवाला है।

: ९ :

आखिरी पहलू—३

दूसरा महायुद्ध

१ : कांग्रेस विदेश-नीति बनाती है

बहुत अरसे तक हिंदुस्तान की और दूसरी राजनैतिक सस्थाओ की तरह काग्रेस भी देश की अदरूनी राजनीति मे फसी रही और उसने विदेशो की घटनाओ पर बहुत कम ध्यान दिया। सन १९२० के बाद के बरसो में उसने दूसरे देशो के मामलो मे कुछ दिलचस्पी लेना शुरू किया। समाजवादियो और कम्युनिस्टो के छोटे-छोटे गुटो के अलावा ऐसा और किसी सस्था ने नही किया। मुसलमान सस्थाओ की दिलचस्पी फ़िलस्तीन मे थी और वे कभी-कभी वहा के मुस्लिम अरबो से हमदर्दी रखनेवाला प्रस्ताव पास कर देती थी। तुर्की, मिस्र और ईरान की कट्टर राष्ट्रीयता पर उनकी नज़र ज़रूर रहती थी, लेकिन एक डर के साथ, क्योंकि वह राष्ट्रीयता ग़ैर-मजहवी थी, और उसके सबब से कुछ ऐसे सुधार हो रहे थे, जो उनकी समझ मे इस्लामी प्रथा से पूरी तरह मेल नही खा रहे थे। धीरे-धीरे काग्रेस की विदेश-नीति बनी, जिसकी बुनियाद सब जगह से राजनैतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद को मिटाने और आज़ाद राष्ट्रो के सहयोग पर थी। यह हिंदुस्तान की आज़ादी की माग के अनुकूल पडती थी। सन १९२० मे ही काग्रेस ने विदेश-नीति पर प्रस्ताव पास किया, जिसमे दूसरे देशो से मेल-जोल की अपनी इच्छा और खासतौर पर अपने पडोसी देशो से दोस्ताना रिश्ता पैदा करने पर ज़ोर दिया गया था। वाद मे दूसरी बडी लडाई की सभावना पर विचार किया गया, और दूसरे महायुद्ध के शुरू होने से वारह वरस पहले, १९२७ में, काग्रेस ने पहली वार उस सिलसिले मे अपनी नीति ज़ाहिर की।

यह वात हिटलर के ताकत मे आने के पाच या छ वरस पहले, और मचूरिया मे जापानियो का हमला शुरू होने के पहले हुई थी। मुसोलिनी इटली मे अपनी जड मज़बूत कर रहा था, लेकिन उस वक्त उससे दुनिया की शाति को कोई भारी खतरा नही मालूम होता था। फासिस्त इटली के

इग्लैड से दोस्ताना ताल्लुकात थे और ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इटली के तानाशाह की तारीफ करते थे। यूरोप मे छोटे-छोटे कई तानाशाह थे और आमतौर पर उनका भी इग्लैंड से दोस्ताना व्यवहार था। हा, इग्लैड और सोवियत रूस के बीच पूरा विरोध था, आर्कोस[1] पर छापा मारा जा चुका था और कूटनीतिक प्रतिनिधि वापस बुला लिये गये थे। लीग ऑव नेशन्स मे और अतर्राष्ट्रीय मजदूर आफिस मे ब्रिटिश और फ्रान्सीसी नीति निश्चित रूप से अनुदार थी। निश्शस्त्रीकरण के सिलसिले मे जो लगातार बहसे हुई, उनमे सभी देश, जो लीग ऑव नेशन्स के मेबर थे और जिनमे सयुक्त राज्य अमरीका भी था, हवाई बमबाज़ी को बिलकुल बद कर देने के पक्ष मे थे, लेकिन ब्रिटेन ने कुछ बडी शर्ते इसमे भी लगा दी। कितने ही बरसो तक ब्रिटिश सरकार ने ईराक के गावो और क़स्बो पर और हिंदुस्तान मे उत्तरी-पच्छिमी सरहद पर, बम बरसाने के लिए हवाई जहाज इस्तेमाल किये थे। कहा यह जाता था कि यह इस्तेमाल 'पहरा देने' या 'देख-भाल' करने के लिए है। इस अधिकार को बनाये रखने के लिए ज़ोर दिया गया। नतीजा यह हुआ कि लीग मे इस सिलसिले मे कोई आम समझौता नही हुआ और उसी वजह से बाद मे निश्शस्त्रीकरण कान्फ्रेंस मे भी।

वाईमर के गणतत्री-सविधान का जर्मनी लीग ऑव नेशन्स का मेबर हो गया था और यूरोप मे स्थायी शाति के पूर्व-सूचक के रूप मे लोकार्नो का स्वागत किया गया था और यह ब्रिटिश नीति की जीत समझी गई। इन घटनाओ का एक दूसरा पहलू भी था, वह यह कि सोवियत रूस को अलहदा किया जा रहा था और यूरोप मे उसके खिलाफ एक सयुक्त मोर्चा कायम किया जा रहा था। रूस ने कुछ ही वक्त पहले अपनी क्राति की दसवी वर्ष-गाठ मनाई थी, और उसने मुख्तलिफ पूर्वी देशो से दोस्ताना रिश्ते जोडे थे। पर ये देश थे—तुर्की, ईरान, अफगानिस्तान और मगोलिया।

चीनी क्राति ने भी लबे डग भरे थे, राष्ट्रवादी फौजो ने आधे चीन पर कब्ज़ा कर लिया था और बदरगाहो और भीतरी मुकामो पर विदेशी, खासतौर पर ब्रिटिश, हितो से उनका सघर्ष हुआ था। बाद मे अदरूनी झगडे हुए और कुओमिंताग प्रतिद्वद्वी दलो मे बट गया।

इधर दुनिया की स्थिति बिगडकर एक भीषण सघर्ष की ओर बढती जा रही थी, जिसमे यूरोपीय राष्ट्रो के अगुआ इग्लैंड और फ्रान्स थे, और दूसरी तरफ सोवियत रूस था, जिसके साथ कुछ पूरबी कौमें थी। सयुक्त

[1] यह लदन मे सरकारी सोवियत व्यापार-कार्यालय था। —स०

राज्य अमरीका इन दोनों गुटों से अलहदा था। रूस से अलग तो इसलिए कि उसे साम्यवाद से बेहद नफ़रत थी, और ब्रिटिश गुट से इसलिए कि एक तो उसे ब्रिटिश नीति पर विश्वास नहीं था, दूसरे वह ब्रिटिश पूंजी, उद्योग और धंधे का प्रतिद्वंद्वी था। सबसे बड़ी वजह अमरीका की अलग रहने की प्रवृत्ति और यूरोप के झगड़ों में फंसने का डर था।

ऐसी हालत में हिंदुस्तानी लोकमत लाज़िमी तौर पर सोवियत रूस और पूर्वी कौमों की तरफ था। इसके ये मानी नहीं कि आमतौर पर साम्यवाद को मंजूर कर लिया गया था। हां, यह सच है कि समाजवादी विचारों की तरफ बहुत लोगों का झुकाव था। चीनी क्रांति की कामयाबी पर बड़े जोश से खुशियां मनाई गईं और इसको हिंदुस्तान की आती हुई आजादी और एशिया में यूरोप के आधिपत्य के मिटने का सूचक माना गया। डच ईस्ट इंडीज, हिंद चीन, एशिया के पच्छिमी देशों और मिस्र के राष्ट्रीय आंदोलनों में हमारी दिलचस्पी बढ़ी। सिंगापुर को एक बहुत बड़ा समुद्री अड्डा बनाना और सीलोन (लंका) में ट्रिंकोमाली बंदरगाह का बढ़ाना, इन दोनों ही बातों को आनेवाली लड़ाई की आम तैयारी का एक हिस्सा समझा गया—उस लड़ाई का, जिसमें ब्रिटेन अपनी साम्राज्यवादी स्थिति को ज्यादा मजबूत और पक्का बनाने की कोशिश करेगा और पूरब में उठते हुए कौमी आंदोलन को और सोवियत रूस को कुचल डालेगा।

इस पृष्ठभूमि में, सन १९२७ में कांग्रेस ने अपनी विदेश नीति बनानी शुरू की। उसने घोषणा की कि हिंदुस्तान किसी भी साम्राज्यवादी लड़ाई में साथ नहीं देगा और यह कहा कि किसी भी हालत में बिना हिंदुस्तानियों की मंजूरी के उनको किसी भी लड़ाई में मजबूरन हिस्सा न लेना पड़े। बाद के बरसों में यह घोषणा अक्सर दुहराई गई और उसीके मुताबिक चारों तरफ जोरों से प्रचार किया गया। कांग्रेसी नीति और बाद में जैसा आमतौर पर माना गया, हिंदुस्तानी नीति की भी, यह घोषणा नींव बन गई। हिंदुस्तान में किसी आदमी या संगठन ने इसका विरोध नहीं किया।

इस बीच में यूरोप में तब्दीलियां हो रही थीं और हिटलर और नात्सी मत उठ चुके थे। इन तब्दीलियों के खिलाफ कांग्रेस में फौरन ही एक प्रतिक्रिया हुई और उसने उनकी निंदा की, क्योंकि हिटलर और उसका मत तो उस साम्राज्यवाद और जातिवाद के सुदृढ़ और साकारस्वरूप मालूम हुए, जिनके खिलाफ कांग्रेस लड़ रही थी। मंचूरिया में जापानी आक्रमण ने तो और भी जोरदार प्रतिक्रिया पैदा की, क्योंकि उसकी चीन के साथ सहानुभूति थी। अबीसीनिया, स्पेन, चीन-जापान-युद्ध, चेकोस्लो-

वाकिया और म्यूनिख की बातो से यह भावना और भी मजबूत हो गई, और आनेवाली लडाई के लिए तनाव बढ गया।

हिटलर के ताकत मे आने से पहले जिस लडाई का खयाल किया जा रहा था, उससे यह आनेवाली लडाई शायद कुछ दूसरे ढग की थी। यह होते हुए भी ब्रिटिश नीति बराबर नात्सियो और फासिस्तो की तरफ थी और यह यकीन करना कठिन था कि यह एक रात मे ही अचानक बदल जायेगी और आजादी और लोकतत्र की हिमायत करने लगेगी। उसके खास साम्राज्यवादी नजरिये और साम्राज्य को बनाये रखने की उसकी इच्छा मे दोनो ही बातें, चाहे जो कुछ हो, बराबर बनी रहेगी। यह भी यकीन था कि रूस और उसके आदर्शों के लिए उसकी बुनियादी मुखालफत बनी रहेगी। लेकिन यह बात दिन-ब-दिन ज्यादा साफ होती गई कि हिटलर को खुश करने की हर कोशिश के बावजूद वह यूरोप की सबसे बडी ताक़त बनता जा रहा था। उससे पुराना सतुलन बिलकुल बदल गया और ब्रिटिश साम्राज्य के महत्वपूर्ण हितो के लिए सकट बढ गया। इग्लैंड और जर्मनी के बीच अब लडाई की सभावना पैदा हो गई। और अगर यह लडाई हुई, तो हमारी नीति क्या होगी? अपनी नीति की दो खास धाराओ मे हम कैसे मेल करेंगे—यानी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध और नात्सी और फासिस्त मतो का विरोध? तब हम किस तरह अपनी राष्ट्रीयता और अतर्राष्ट्रीयता को साथ-साथ रख सकेंगे? उस वक्त की हालतो मे हमारे लिए यह एक मुश्किल सवाल था, लेकिन अगर ब्रिटिश सरकार हमे यह यकीन दिलाने के लिए कुछ कर दिखाती कि हिंदुस्तान मे उसने साम्राज्य-वादी नीति छोड दी है और अब वह जनता के सहयोग का सहारा चाहती है, तो यह सवाल मुश्किल भी नही था।

राष्ट्रीयता और अतर्राष्ट्रीयता का मुकाबला होने पर जीत लाजिमी तौर पर राष्ट्रीयता की होती। ऐसा हर एक प्रदेश मे और हर सकट के मौक़े पर हुआ है। फिर एक ऐसे देश मे, जहा पर परदेसियो का कब्जा हो, कशम-कश और तकलीफो की एक तीखी याद बनी हो, सा फैसला होना बिल-कुल कुदरती और लाजिमी था। इग्लैंड और फ्रान्स ने गणतत्री स्पेन और चेकोस्लोवाकिया को धोखा दिया, और जिसे उन्होंने ग़लती से (जैसा बाद मे साबित हो गया) क़ौमी हित समझ रखा था, उसके लिए अतराष्ट्री-यता की कुरबानी की। और अगरचे उसकी इग्लिस्तान, फ्रान्स और चीन से हमदर्दी थी और नात्सीवाद, जापानी सैन्यवाद और हमलावर तरीको से वह नफरत करता था, फिर भी सयुक्त राज्य अमरीका अपनी अलग-थलग

रहने की नीति पर डटा रहा। यह तो पर्ल हार्बर पर जापानी हमले की वजह थी कि वह एकदम पूरे ज़ोर-शोर से लड़ाई में शामिल हो गया। सोवियत रूस ने भी, जो अंतर्राष्ट्रीयता का प्रतीक माना जाता था, एक कट्टर राष्ट्रीय नीति अपनाई और इसका नतीजा यह हुआ कि उसके बहुत-से दोस्त और हमदर्द साथी एक उलझन में पड़ गये। लेकिन जर्मन फ़ौजों के अचानक और बेखबर हमले से सोवियत संघ भी लड़ाई में आ गया। इस बेमानी उम्मीद में कि वे अपने-आपको बचा लें और अलग रहें, स्कैंडी-नेविया के देशों, हालैंड और बेलजियम ने लड़ाई से बचने की कोशिश की, लेकिन वे भी इसके ज़ोरदार चक्कर में आ गये। तुर्की पांच बरसों से एक बदलती हुई ग़ैर-जानिबदारी की पतली धार पर अपने क़ौमी हितों का लिहाज़ रखते हुए टिका है। मिस्र की, जो ज़ाहिरा तौ आज़ाद मालूम होता है, लेकिन जो असल में अब-गुलाम नोआबादी की हैसियत रखता है और जो खुद लड़ाई के क्षेत्रों में आ जाता है, एक अजीब स्थिति है। अमली तौर पर वह भी लड़नेवालों में से एक है और वह संयुक्त राष्ट्रों की फ़ौजों के पूरी तरह कब्ज़े में है, लेकिन ज़ाहिरा तौर पर वह लड़नेवालों में नहीं है।

अलग-अलग सरकारों और देशों की इन नीतियों के लिए बहाने या सबब हो सकते हैं। जबतक जनता तैयार न हो जाये और पूरी तरह साथ न दे, कोई भी लोकतंत्र आसानी से लड़ाई में नहीं शामिल हो सकता, यहां-तक कि तानाशाही सरकार को भी बुनियाद बनानी पड़ती है। इनके लिए चाहे कोई भी सबब हो या कोई भी सफ़ाई हो, यह बात साफ़ है कि जब कभी कोई उलझन आई है, तो राष्ट्रीय विचारों की या उन विचारों की, जो इनके मुआफ़िक़ समझे गये, हमेशा जीत हुई है, और बाक़ी सब विचार जो उनसे मेल नहीं खाते थे, रद्द कर दिये गये हैं। यह एक असाधारण बात थी कि म्यूनिख के संकट के वक्त सैकड़ों अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं, फ़ासिस्त-विरोधी-पार्टियां आदि सब-की-सब यूरोप में बिलकुल चुप थीं। न उनमें कोई ताक़त थी, न उनका कोई असर था। कुछ आदमियों या छोटे-छोटे गुटों के विचारों में अंतर्राष्ट्रीयता आ सकती है, और वे अपने निजी या राष्ट्रीय हितों को किसी और बड़े आदर्श के लिए बलिदान करने को तैयार भी हो सकते हैं, लेकिन राष्ट्रों के साथ यह मुमकिन नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय हितों के लिए तब जोश होता है, जब उनका राष्ट्रीय हितों से कोई टकराव नहीं होता। कुछ ही महीने पहले लंदन के अखबार 'इकोनामिस्ट' ने, ब्रिटेन की विदेश-नीति पर विचार करते हुए, लिखा था—"ऐसी विदेश-नीति, जो बराबर बनाई रखी जा सकती है, वह सिर्फ़ वही है, जिसमें राष्ट्रीय हितों

की साफ तौर पर और पूरी तरह हिफाजत की गई हो। कोई भी राष्ट्र अतर्राष्ट्रीय समुदाय के फायदे को अपने निजी फायदे के मुकावले में पहली जगह नही देता। सिर्फ उसी वक़्त, जब ये दोनो बिलकुल एक हो, हम किसी कारगर अतर्राष्ट्रीयता की उम्मीद कर सकते हैं।"

अतर्राष्ट्रीयता तो सचमुच सिर्फ एक आज़ाद देश मे ही पनप सकती है। उसकी वजह यह है कि किसी भी गुलाम देश का सारा दिमाग़ और सारी ताकत अपनी आज़ादी पाने की कोशिश मे लगी रहती है। गुलामी की हालत तो उस ज़हरीले फोडे की तरह है, जो वदन के हिस्से को तदुरुस्त होने से सिर्फ रोकता ही नही है, बल्कि जो बराबर दिमाग़ को बेचैन किये रहता है और जिसका असर हर काम और हर खयाल पर दिखाई पडता है। झगडे की तो उसमे जड ही है और उसकी वजह से सारा दिमाग़ उधर लग जाता है और ज्यादा बडे सवालो पर सोच-विचार करने में रुकावट आती है। पिछली लगातार की लडाई और तकलीफो की याद व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मस्तिष्क मे बराबर बनी रहती है। एक चिडचिडापन पैदा होता है, एक जबरदस्त ज़िद पड जाती है, और जबतक बुनियादी वजह को न हटा दिया जाय, वह मिट नही सकती। और उस वक़्त भी, जब गुलामी की भावना चली गई हो, घाव धीरे-धीरे ही भरता है, क्योकि बदन की चोटो के मुकाबले मे दिमाग की चोटो के ठीक होने मे ज्यादा वक्त लगता है।

बहुत अरसे से हिंदुस्तान की यह पृष्ठभूमि थी, लेकिन गाधीजी ने हमारे राष्ट्रीय आदोलन को एक नया रुख दिया और उससे नाउम्मीदी और कडुएपन की भावना कम हो गई। कौमी भावनाए बनी रही, लेकिन जहातक मेरा खयाल है और किसी दूसरे कौमी आदोलन मे इतनी कम नफरत नही थी। गाधीजी कट्टर राष्ट्रवादी थे, लेकिन साथ-ही-साथ उन्होंने महसूस किया कि उनके पास जो सदेश था, वह सिर्फ हिंदुस्तान के लिए ही नही, बल्कि सारी दुनिया के लिए था, और वह दिल से दुनिया भर मे शाति चाहते थे। इसी वजह से उनकी राष्ट्रीयता मे दुनिया-भर का खयाल था, और उसमे किसी दूसरे पर हमला करने की बू नही थी। हिंदुस्तान की आज़ादी चाहते हुए भी वह यह विश्वास करने लगे थे कि दुनिया-भर के राष्ट्रो का एक सघ हो सही आदर्श है। उन्होंने कहा था—"मेरी राष्ट्रीयता का विचार तो यह है कि मेरा देश आज़ाद हो जाये, और ज़रूरत हो, तो सारा देश मिट जाये, ताकि मानव-जाति जीवित रह सके। जातीय विद्वेष के लिए यहा जगह नही है। यही हमारी राष्ट्रीयता होनी चाहिए।" और

फिर "मैं सारी दुनिया का खयाल रखते हुए सोचना चाहता हू। मेरी देश-भक्ति मे मानव-मात्र का हित शामिल है। इसी वजह से हिंदुस्तान की सेवा मे मानव-मात्र की सेवा आ जाती है। बिलकुल अलग होकर आज़ादी बनाये रखना दुनिया की बडी कौमो का मकसद नही है। उद्देश्य तो खुद-ब-खुद एक-दूसरे से मिलकर और एक-दूसरे पर भरोसा करते हुए रहना है। आज दुनिया के ज्यादा समझदार विचारक बिलकुल आज़ाद और एक-दूसरे के खिलाफ लडती हुई सरकारें नही चाहते। वे तो दोस्ताना और एक-दूसरे पर भरोसा रखनेवाली सरकारों का सघ बनाना चाहते है। यह बात शायद बहुत आगे चलकर भविष्य मे सभव हो। लेकिन आज़ादी की जगह दुनिया-भर की आपस की मिली-जुली आज़ादी के लिए अपनी तत्परता दिखाने मे न तो मुझे कोई बहुत बडी बात ही महसूस होती है, और न ऐसा करना नामुमकिन ही है। आज़ादी का दावा किये बगैर मैं तो पूरी तरह आज़ाद बनने की योग्यता चाहता हू।"

ज्यो-ज्यो राष्ट्रीय आदोलन मे शक्ति और विश्वास बढा, लोगो के दिमाग़ आज़ाद हिंदुस्तान की बाबत सोचने लगे—उसे कैसे होना चाहिए, उसे क्या करना होगा, और दूसरे देशो से उसका क्या और कैसा नाता होगा ? देश के बडे होने, उसकी बडी ताक़त और उसके बहुत ज्यादा फलने-फूलने की गुजाइश से लोग बडी-बड़ी बातो को ही सोचने लगे। हिंदुस्तान किसी देश या राष्ट्र-समूह के पीछे चलनेवाला नही हो सकता था। उसकी आज़ादी और उन्नति से एशिया मे और उसकी वजह से सारी दुनिया मे एक बहुत बडा फर्क होगा। उसकी वजह से इग्लैंड और उसके साम्राज्य से जो कडी हमे बाधे हुए थी, उसको तोडकर पूरा आज़ादी का खयाल हमारे सामने आया। डोमिनियन स्टेटस, चाहे वह आज़ादी के कितने ही नज़दीक क्यो न हो, हमारी पूरी तरक्की के लिए एक बिलकुल वाहियात रुकावट मालूम दिया। डोमीनियन स्टेटस के पीछे का यह विचार कि एक 'मातृ-देश' अपनी नौआबादियो से मिला हुआ है और उन सबके लिए एक ही सास्कृतिक पृष्ठ-भूमि है, हिंदुस्तान पर बिलकुल लागू नही था। अतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए, जो एक अच्छी चीज़ थी, यहा ज्यादा बडा मौका था, यह सही है, लेकिन उसके ये मानी ज़रूर थे कि साम्राज्य और कामनवेल्थ के बाहर के देशो के साथ खुलकर या पूरी तरह सहयोग नही होगा। इस तरह यह एक रोकनेवाली बात बन गई। हमारे विचार, जिनमे भविष्य की समृद्धि का चित्र था, इन सीमाओ को पारकर आगे बढे और हमने ज्यादा व्यापक सहयोग की बात सोची। हमने खासतौर से पूरब और पच्छिम के अपने

पडोसी देशो, चीन, अफ़गानिस्तान, ईरान और सोवियत सघ से गहरे रिश्ते की बातें सोची। सुदूर अमरीका से भी हम बहुत अच्छा नाता रखना चाहते थे। उसकी वजह थी और वह यह कि जैसे हम सोवियत सघ से बहुत-कुछ सीख सकते थे, उसी तरह हम सयुक्त राज्य से भी सीख सकते थे। ऐसी धारणा होती जा रही थी कि इग्लैंड से अब और कुछ सीखने की गुजाइश नही थी। और कम-से-कम यह बात तो तय थी कि उसके साथ से फायदा तभी उठाया जा सकता है, जब वे बेडिया, जो हमे बाधे हुए हैं, टूट जायें और हम बराबरी के दर्जे पर मिलें।

ब्रिटिश डोमीनियनो और उपनिवेशो मे जातीय भेदभाव और हिंदुस्तानियो के साथ बुरा बरताव, इन दोनो बातो ने उस गुट से अलहदा होने के हमारे फैसले पर काफी असर डाला। ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति की ही निगरानी मे पूरबी अफ्रीका और कीनिया और दक्खिनी अफ्रीका थे। इनकी और खासतौर पर दक्खिनी अफ्रीका की हरकतें बराबर उत्तेजना देने वाली थी। कुछ अजीब-सी बात है कि कनाडावालो, आस्ट्रेलियावालो और न्यूजीलेंड-वालो से हमारी अपने-आप ही अच्छी पटती रही। शायद उसकी वजह यह थी कि उनका एक अपना नया ढर्रा था और वे ब्रिटेन की सामाजिक रूढियो और पक्षपातो से बिलकुल अलग थे।

जब हमने हिंदुस्तान की आजादी की बात की, तो उसमे एकदम अलग रहने का खयाल नहीं था। बहुत-से दूसरे मुल्को के मुकाबले हमने ज्यादा साफ तौर पर यह महसूस किया कि पुराने ढग की पूरी राष्ट्रीय स्वतत्रता के लिए कोई भविष्य नही था, और अब दुनिया-भर के सहयोग के एक नये युग का होना जरूरी था। इसीलिए हमने इस बात को बार-बार दुहराकर साफ किया कि अतर्राष्ट्रीय ढाचे से मेल बनाये रखने के लिए दूसरे राष्ट्रो के साथ हम अपनी स्वतत्रता को सीमित करने को पूरी तरह तैयार थे। उस ढाचे मे, जहातक मुमकिन हो, सारी दुनिया या कम-से-कम उसका एक बहुत बडा हिस्सा आ जाये। या दूसरी तरफ वह कुछ हल्कों में बांट दिया जायें। हालाकि इस ज्यादा बडे ढाचे मे ब्रिटिश कामनवेल्थ खप सकती थी, लेकिन अपनी मौजूदा हालत मे वह इन विचारो से मेल नही खाती थी।

यह एक अचभे की बात है कि अपनी जोरदार राष्ट्रीय भावनाओ के होते हुए भी, हमारे विचारो मे कितनी अतर्राष्ट्रीयता आ गई। किसी भी गुलाम मुल्क की कोई भी कौमी तहरीक इस नजरिये तक नहीं आ पाई। वे दूसरे देश तो आमतौर से किसी भी अतर्राष्ट्रीय जिम्मेदारी में नही फसना

चाहते थे। हिंदुस्तान मे भी ऐसे लोग थे, जिन्होंने हमारे गणतत्री स्पेन, चीन, अबीसीनिया और चेकोस्लोवाकिया की तरफदारी करने का विरोध किया। उनका कहना था कि इटली, जर्मनी और जापान-जैसे ताकतवर देशो से क्यो दुश्मनी की जाय ? राजनीति मे आदर्शवाद की कोई जगह नही है। ब्रिटेन के हर दुश्मन को दोस्त समझा जाये। उनकी निगाह मे राजनीति का ताकत से ताल्लुक था और मौका पडने पर उस ताकत से फायदा उठाना था। लेकिन काग्रेस ने जनता मे जो विचार भर दिये थे, उनकी वजह से इन विरोधियो की हिम्मत नही पडी और उन्होने शायद ही अपने विचारो को सार्वजनिक रूप मे रखा हो। मुस्लिम लीग बराबर होशियारी के साथ चुप रही, और किसी ऐसे अतर्राष्ट्रीय मामले पर उसने कभी भी कोई जिम्मेदारी नही ली।

सन १९३८ मे काग्रेस ने एक डाक्टरी जत्था और डाक्टरी सामान चीन मे मदद के लिए भेजा। जिस वक्त इस जत्थे का सगठन किया गया, सुभाष बोस काग्रेस के सभापति थे। उन्होंने इसका विरोध नही किया, और न उन दूसरी बातो का ही, जो काग्रेस ने चीन से सहानुभूति दिखाने के लिए की या नात्सी आक्रमण के विरोध मे की। हमने ऐसे बहुत-से प्रस्ताव पास किये और ऐसे बहुत-से प्रदर्शन किये, जिनको अपने सभापतित्व-काल मे वह ठीक नही समझते थे। लेकिन बिना किसी विरोध के उन्होंने इन चीजो को मजूर कर लिया, क्योकि इन भावनाओ के पीछे किसी सार्वजनिक शक्ति का उन्हे पता था। काग्रेस-कार्यकारिणी मे उनके और उनके साथियो के दृष्टिकोण मे काफी फर्क था। यह फर्क देश के अदरूनी मामलो और दूसरे देशो के मामलों, दोनो मे ही था। नतीजा यह हुआ कि १९३९ मे एक दरार पड गई, और तब उन्होंने खुले आम काग्रेस की नीति का जोरो से विरोध किया, और तब १९३९ की अगस्त की शुरुआत मे काग्रेस-कार्यकारिणी ने एक असाधारण कदम उठाया। वह कदम यह था कि एक भूतपूर्व सभापति के खिलाफ अनुशासनात्मक कार्रवाई की गई।

२ : कांग्रेस और लड़ाई

इस तरह काग्रेस ने लडाई के सिलसिले मे अपनी दुहरी नीति तय की और उसको अक्सर दोहराया। एक तरफ फासिस्तवाद, नात्सीवाद और जापानी सैन्यवाद का विरोध था। इसकी दो वजहे थी, एक तो उनकी अदरूनी नीति और दूसरी और मुल्को पर उनकी हमला करने की नीति। जो हमले के शिकार थे, उनके लिए बहुत हमदर्दी थी और इस हमले को रोकने

के लिए लडाई या किसी और दूसरी कोशिश मे साथ देने की तत्परता थी। दूसरी तरफ हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए ज़ोर दिया जाता था—सिर्फ इसीलिए नही कि हमारा वह खास मक़सद था और उसके लिए हम बराबर मेहनत करते रहे थे, बल्कि इसलिए भी कि आनेवाली लडाई से उसका ताल्लुक था। हमने इस बात को बार-बार दुहराया कि सिर्फ आज़ाद हिंदुस्तान ही ऐसी लडाई मे सही ढग से शामिल हो सकता है, सिर्फ आज़ादी से ही हम इग्लैंड से अपने पुराने रिश्ते की कडवी विरासत को मिटा सकते हैं और अपनी पूरी-पूरी ताकत को सगठित कर सकते हैं। उस आज़ादी के बिना यह लडाई पुरानी लडाइयो की ही तरह होगी, जिसमे दो प्रतिद्वद्वी साम्राज्यवादो मे टक्कर होगी और ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने और ज्यो-का-त्यो बनाये रखने की कोशिश होगी। हमे यह बात बिलकुल नामुमकिन और वाहियात मालूम दी कि हम उसी साम्राज्यवाद की हिफाज़त के लिए साथ दें, जिसके खिलाफ हम इतने अरसे से लड रहे थे। और अगर हममे से कुछ लोग, दूर की बातो का ध्यान रखते हुए, इसे मुकाबले मे कम बुरी बात समझते, तो यह बात हमारी ताकत के बिलकुल बाहर थी कि हम अपने देशवासियो को इसके लिए तैयार कर लेते। सिर्फ आज़ादी से ही सामूहिक शक्ति मुक्त हो सकती थी और सिर्फ उसीसे कडवेपन की भावना मिटकर एक आदर्श के लिए जोश आ सकता था। इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता नही था।

काग्रेस ने खासतौर पर यह माग की कि बिना हिंदुस्तानियो की या उनके प्रतिनिधियो की मर्ज़ी के हिंदुस्तान का किसी लडाई से गठ-बधन न किया जाये और बिना ऐसी राय के हिंदुस्तानी फौज किसी भी काम के लिए देश से बाहर न भेजी जाये। केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेंबली ने भी, जिसमे विभिन्न-दल और पार्टिया शामिल थी, यही माग पेश की। बहुत अरसे से हिंदुस्तानियो की यह शिकायत थी कि हमारी फौजे देश से बाहर अक्सर साम्राज्यवादी मकसद से भेजी जाती हैं, और उनसे उन आदमियो को जीतने या कुचलने या दबाये रखने का काम लिया जाता है, जिनसे हमारा कोई झगडा नही है और जिनकी आज़ादी की कोशिशो के लिए हमारे दिल मे हमदर्दी है। हिंदुस्तानी फौज को किराये के आदमियो की तरह, ऐसे ही कामो मे बरमा, चीन, ईरान और मध्य-पूर्व और अफ्रीका के हिस्सो मे इस्तेमाल किया गया था। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतीक बन गई थी। और उसी सबब से वहा के रहनेवालो के दिलो मे हिंदुस्तान के खिलाफ भावनाए पैदा हुई। मुझे एक मिस्री का यह ताना याद है—"तुमने सिर्फ अपनी ही आज़ादी नही

खोई है, बल्कि तुम ब्रिटेन की दूसरो को गुलाम बनाने मे मदद करते हो।"

इस दुहरी नीति के दोनों हिस्से अपने-आप एक-दूसरे से मेल नही खा सके। वे दोनो आपस मे एक विरोधाभास था। लेकिन इस उलटेपन के लिए हम जिम्मेदार नही थे। यह विरोधाभास उन परिस्थितियो मे ही था, और उन परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए किसी भी नीति मे उसका जाहिर होना लाज़िमी था। बार-बार हमने इस बात का ध्यान दिलाया कि फासिस्त और नात्सी मतो की निंदा और साम्राज्यवाद का समर्थन, ये दोनो बातें एक साथ नही चल सकती। यह सच है कि फासिस्तवाद और नात्सीवाद भयकर अत्याचार कर रहे थे। लेकिन हिंदुस्तान मे व दूसरी जगहो पर साम्राज्यवाद अपने-आपको सुदृढ कर चुका था। उनमे फर्क़ किसी किस्म का नही था, वह तो सिर्फ दर्जे या वक्त का फर्क़ था। इसके अलावा पहली चीज सुदूर देशो मे थी, लेकिन पिछली चीज तो हमारे ही घर मे थी और उसमे हम सब घिरे हुए थे और उसका असर सारे वातावरण मे छाया हुआ था। हमने इस उलटी बात का मज़ाक उडाया कि सब जगह तो लोकतत्र का झडा ऊचा रखा जाय और उसीको हिंदुस्तान मे रोक रखा जाय।

हमारी दुहरी नीति मे चाहे जो विषमता रही हो, लेकिन सशस्त्र युद्ध और आक्रमण से रक्षा के सिलसिले मे अहिसा के सिद्धात का कोई सवाल नही उठा।

१९३८ की गरमियो मे मैं यूरोप के महाद्वीप मे था और अपने व्याख्यानो, लेखों और बातचीत मे मैंने अपनी इस नीति को समझाया। साथ ही मैंने इस बात की तरफ भी इशारा किया कि इन मामलो मे यो ही छोड देने मे क्या खतरा छिपा था। सुडेटनलेंड के सवाल पर नाज़ुक हालत के समय मुझसे चेकोस्लोवाकिया के कुछ परेशान निवासियो ने पूछा कि लडाई की हालत मे हिंदुस्तान का क्या इरादा है। खतरा उनके बहुत नज़दीक आ पहुचा था और फिर खतरा बहुत बडा था। अब ज्यादा बारीक बातो या पुरानी शिकायतो का मौका नही था। लेकिन फिर भी उन्होंने मेरी बातो को समझा और मेरे तर्कों से वे सहमत हुए।

सन १९३९ के मध्य मे यह पता लगा कि हिंदुस्तानी फौज देश से बाहर भेजी गई—शायद सिंगापुर को और मध्य-पूर्व को। तुरत ही बडी ज़ोरदार आवाज़ें उठी कि यह हिंदुस्तान के प्रतिनिधियो की सलाह लिये बिना किया गया है। यह बात तो मानी गई कि सकट-काल मे फौज का प्रोग्राम अक्सर गुप्त रखना पडता है, लेकिन फिर भी प्रतिनिधि नेताओ को विश्वास में लिया जा सकता था और इसके बहुतेरे तरीके थे। असेंबली

की पार्टियो के नेता थे, और हर प्रात मे जनता द्वारा चुनी हुई सरकारें थी। मामूली तौर पर केंद्रीय सरकार को इन प्रातीय मन्त्रियो से बहुत-से मामलो मे सलाह-मशवरा करना पडता था और उन्हे राज की बातें बतानी पडती थी। लेकिन इस मौके पर राष्ट्र के खुले ऐलान के होते हुए भी जनता के प्रतिनिधियो से जरा-सी भी सलाह नही ली गई। ब्रिटिश पार्लामेंट के जरिये गवर्नमेंट ऑव इडिया एक्ट (सन १९३५) मे सशोधन के लिए कदम उठाये जा रहे थे। इस समय प्रातीय सरकारे इसी एक्ट के अनुसार काम कर रही थी। अब यह कोशिश की गई कि लडाई के सिलसिले में केंद्रीय सरकार को विशेषाधिकार दे दिये जाये, और सारी शक्ति केंद्र के हाथ मे आ जाये। आमतौर पर एक लोकतत्री राज्य मे यह बात बिलकुल स्वाभाविक और तर्क-सगत होती, अगर इस बारे मे मुख्तलिफ पार्टियो की राय ले ली जाती। यह तो एक आम जानकारी की बात है कि सघ मे शामिल होनेवाले राज्य, प्रात या स्व-शासी प्रदेश अपने अधिकारो को मजबूती से पकडे रहते है और उनको किसी सकट या विशेष अवसर पर भी केंद्रीय सरकार को सौंपने को आसानी से तैयार नही होते हैं। ऐसी रस्साकशी सयुक्त राज्य अमरीका मे बराबर चलती रहती है, और जिस वक्त मैं यह लिख रहा हू, आस्ट्रेलिया मे कामनवेल्थ-सरकार की शक्ति और अधिकार बढाने के प्रस्ताव को परिपृच्छा द्वारा अस्वीकार किया गया है। इस प्रस्ताव के अनुसार उसके विभिन्न सदस्य राज्यो के अधिकार सिर्फ़ लडाई के दौरान के लिए केंद्र को दिये जा रहे थे। यह बात ध्यान मे रखने की है कि सयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया दोनो ही जगह केंद्रीय सरकार और लेजिस्लेटिव असेंबली जनता द्वारा चुने हुए लोगो की हैं, और उनमे उन मेंबर राज्यो के नुमाइदे काम करते हैं। हिंदुस्तान मे केंद्रीय सरकार बिलकुल गैर-जिम्मेदार है। वह चुने हुए जनता के प्रतिनिधियो की नही है, और किसी भी रूप मे जनता या प्रातो के प्रति उसकी कोई जिम्मेदारी नही है। प्रातीय सरकारो या परिषदो के अधिकारो को छीनकर केंद्र के अधिकार बढाने के मानी ये थे कि ये लोकतत्र को और भी दुर्बल बना दिया जाय और प्रातीय स्वराज्य की बुनियाद को ही कमजोर कर दिया जाय। इस पर बहुत नाराजी फैली। ऐसा अनुभव किया गया कि यह नीति उस आश्वासन के खिलाफ थी, जो काग्रेस-सरकारो को शुरू मे दिया गया था। साथ ही यह बात जाहिर होने लगी कि पहले की तरह बिना हिंदुस्तानियो के प्रतिनिधियो का खयाल किये ही उन पर लडाई का बोझ लाद दिया जायेगा।

काग्रेस-कार्यकारिणी ने बहुत जोरदार शब्दो मे इस नीति का विरोध किया। उसके लिहाज से यह तो काग्रेस और केंद्रीय असेंबली दोनो की ही घोषणाओ की जानबूझकर खुल्लम-खुल्ला अवहेलना थी। उसने ऐलान किया कि वह इस तरह की जबरदस्ती को रोकेगी और वह उसके निवासियों की सहमति के बिना ही हिदुस्तान को गहरा असर रखनेवाली नीतियो के लिए जिम्मेदार बनाने पर राजी नही हो सकती। फिर (१९३९ के अगस्त मे) उसने कहा कि "इस ससार-व्यापी सकट मे कार्यकारिणी की सहानुभूति उन लोगो के लिए है, जो लोकतत्र और स्वतत्रता के पक्षपाती है और काग्रेस ने यूरोप, अफ्रीका और सुदूर एशिया मे फासिस्त हमले की बार-बार निंदा की है। साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा स्पेन और चेकोस्लोवाकिया में लोकतत्र के प्रति विश्वासघात की भी निंदा की है।" लेकिन यह भी कहा गया कि "ब्रिटिश सरकार की पिछली नीति और इधर हाल की घटनाओ ने यह बात पूरी तरह दिखा दी कि यह सरकार आज़ादी और लोकतत्र की हिमायत नही करती और किसी समय भी इन आदर्शों के साथ दगा कर सकती है। हिदुस्तान ऐसी सरकार से अपना कोई नाता नही रख सकता, और उससे यह भी नही कहा जा सकता कि वह उस लोकतत्री स्वतत्रता के लिए अपना सहयोग दे, जो स्वय उसे नही दी जा रही है और जिसको धोखा दिया जा सकता है।" इस नीति के विरोध मे पहला कदम यह था कि केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेंबली के काग्रेसी सदस्यो से कहा जाय कि वे असेंबली के अगले अधिवेशन मे भाग न लें।

यह पिछला प्रस्ताव यूरोप मे लडाई शुरू होने के ठीक तीन सप्ताह पहले पास किया गया। ऐसा मालूम पडा कि हिंदुस्तान की सरकार और उसका समर्थन करनेवाली ब्रिटिश सरकार लडाई के सिलसिले मे बडे-बडे मामलो मे ही नही, छोटे-छोटे मामलो मे भी हिंदुस्तान के आम लोगो की भावनाओ का तिरस्कार करने पर तुली हुई है। सूबों मे गवर्नरो के रुख से नीति की झलक दिखाई दी। साथ ही सिविल सर्विस के हाकिमो का काग्रेस-सरकार से असहयोग बढता जा रहा था। सूबो की काग्रेसी सरकारो की दिन-ब-दिन मुश्किलें बढती जा रही थी और लोकमत के गरम अनासिर ज्यादा उत्तेजित होते जा रहे थे और उनको शकाए बढ रही थी। उनको डर यह था कि ब्रिटिश सरकार उसी ढग से पेश आयेगी, जैसे उसने पच्चीस बरस पहले, सन १९१४ मे किया था, वह सूबो की सरकारो और लोकमत का खयाल न करके लडाई को जबरदस्ती सिर मढ देगी; वह उस थोडी-सी आज़ादी को, जिसे हिंदुस्तान ने हासिल किया था, लडाई

के नाम पर कुचल देगी; और वह मनमाने ढग से अपने साधनो का नाजायज़ फ़ायदा उठायेगी।

लेकिन इन पच्चीस बरसो मे बहुत-कुछ हो चुका था, और लोगों के तेवर अब बहुत बदले हुए थे। यह ख़याल कि हिंदुस्तान को एक जायदाद की तरह इस्तेमाल किया जाय, और उसके निवासियो की नफ़रत के साथ बिलकुल परवाह न की जाय, बहुत ज्यादा बुरा लगा। क्या पिछले बीस बरसो की आज़ादी की लडाई और तकलीफो की कोई कीमत ही नही थी? क्या हिंदुस्तानी इस बेइज्ज़ती और अवहेलना के सामने सिर झुकाकर जन्मभूमि के लिए एक शर्म की चीज़ बनेंगे? उनमे से बहुत-से लोगो ने बुराई का मुकाबला करना सीख लिया था, और वे उस चीज़ के सामने, जिसे वे शर्मनाक समझते थे, सिर झुकाने के लिए हरगिज़ तैयार नही थे। और वे इस सिर न झुकाने के नतीजे को भुगतने के लिए खुशी से तैयार भी थे।

इसके अलावा ऐसे लोग भी थे—नई पीढीवाले, जिनको क़ौमी लडाई का कोई ज़ाती अनुभव नही था, न वे उसको पूरी तरह समझते थे, और उनके लिए १९२०, यहातक कि १९३० के सविनय अवज्ञा आदोलन की बातें सिर्फ इतिहास की ही चीजें थी और इससे ज्यादा और कुछ नहीं। वे तजुरबो और तकलीफो की आग मे तपे हुए नही थे और बहुत-सी चीज़ों को यो ही मान लेते थे। वे पुरानी पीढीवालो की कडी आलोचना करते थे; उनको कमज़ोर समझते थे और यह समझते थे कि ये तो छोटी बातों पर समझौता करने के लिए झुक सकते हैं। उनके लिहाज़ से सक्रिय प्रोग्राम की जगह सिर्फ उत्तेजक और जोरदार भाषा ही ले सकती थी। वे आपस में नेताओं की शख्सियत या राजनैतिक और आर्थिक उसूलो की बारीकियो पर झगडते थे। वे दुनिया की बातो पर बहस तो करते थे, लेकिन उन मामलो की उनकी कोई खास जानकारी नही थी, वे अभी पक नही पाये थे और उनमे कोई टिकाव नही था। उनमे अच्छी बातें थी, अच्छे आदर्शों के लिए बडा जोश था, लेकिन कुल मिलाकर उनसे नाउम्मीदी होती थी और हिम्मत पस्त होती थी। शायद यह एक वक्ती पहलू था, जिसको वे पार कर लेंगे, या जिसे उन्होंने अपने कडवे तजुरबो के बाद पार भी कर लिया हो।

और चाहे जो मतभेद हो, लेकिन राष्ट्रवादियो के भीतर इन सभी समूहों मे इस सकट-काल मे हिंदुस्तान के प्रति ब्रिटेन की नीति से एक-सी ही प्रतिक्रिया हुई। उन सबको उससे नाराज़ी हुई और उन्होंने कांग्रेस से उसका विरोध करने के लिए कहा। कोई भी स्वाभिमानी सजग, चेतन, राष्ट्रीयता

इस तरह के अपमान के आगे सिर नही झुकाना चाहती। उसके सामने और सब बातें गौण हो गईं।

यूरोप मे युद्ध का ऐलान हुआ और फौरन ही हिंदुस्तान के वाइसराय ने ऐलान किया कि हिंदुस्तान भी लडाई मे शामिल है। एक आदमी—एक विदेशी और वह भी एक ऐसी हुकूमत का नुमाइंदा, जिससे लोगो को नफरत थी—चालीस करोड आदमियो को, बिना उनकी रत्ती-भर मर्ज़ी के, लडाई मे उलझा दे! ज़ाहिर है कि उस ढाचे मे बुनियादी तौर पर कोई गलती है, कोई सडन है, जिसमे इस ढग से चालीस करोड आदमियो की किस्मत का फैसला किया जाता है। डोमीनियनो (उपनिवेशो) मे जनता के प्रतिनिधियो द्वारा पूरी तरह सलाह-मशवरा और हर पहलू से सोच-विचार के बाद यही फैसला किया गया। लेकिन हिंदुस्तान मे ऐसा नही हुआ और उससे हिंदुस्तानियो के दिलो को चोट पहुची।

३ : युद्ध की प्रतिक्रिया

जिस वक्त यूरोप मे लडाई शुरू हुई, मैं चुगकिंग मे था। काग्रेस के सभापति ने तार द्वारा मुझसे तुरत लौटने को कहा, और मैं जल्दी वापस आया। जिस वक्त मैं आया, काग्रेस-कार्यकारिणी की बैठक हो रही थी। इस मीटिंग मे भाग लेने के लिए मि० जिन्ना को भी बुलाया गया था, लेकिन उन्होंने असमर्थता ज़ाहिर की। वाइसराय ने हिंदुस्तान को लडाई मे शामिल ही नही किया, बल्कि कई आर्डिनेंस भी जारी कर दिये थे। ब्रिटिश पार्लमेंट ने गवर्नमेंट ऑव इडिया एक्ट मे सशोधन कर दिया था। इन कानूनो में सूबो की सरकारो के अधिकार और कार्य-क्षेत्र को सीमित किया गया था और वे अच्छे नही मालूम हुए, और खासतौर पर इस वजह से कि जनता के नुमाइंदो से इस बारे मे कोई सलाह नही ली गई थी—बल्कि असल मे उनकी अक्सर दुहराई हुई ख्वाहिशो और ऐलानो की पूरी तरह अवहेलना कर दी गई थी।

१४ दिसबर, १९३९ को लबी बहस के बाद काग्रेस-कार्यसमिति ने युद्ध-सकट के सिलसिले मे एक लबा बयान जारी किया। इसमे वाइसराय के उठाये हुए कदमो और नये कानूनो का जिक्र था, और यह कहा गया कि "कार्यसमिति को इन घटनाओ को बडे गभीर रूप मे लेना चाहिए।" फ़ासिस्त और नात्सी मतो की निंदा की गई और खासतौर पर "नात्सी जर्मन सरकार के सबसे ताज़े हमले की, जो उसने पोलैंड पर किया था" और उन लोगो के लिए, जो ऐसी चीजो का मुक़ाबला कर रहे थे, हमदर्दी ज़ाहिर की।

हालांकि सहयोग के लिए हम तैयार थे, लेकिन यह बात साफ़ कर दी गई कि "ज़बरदस्ती हमारे सिर मढ़े हुए फ़ैसलों का लाज़िमी तौर पर विरोध किया जायगा। अगर किसी ऊंचे आदर्श के लिए सहयोग की ज़रूरत है, तो यह बात ज़ाहिर है कि वह सहयोग दबाव या ज़बरदस्ती से नहीं मिल सकता। और न कार्यसमिति इस बात के लिए तैयार हो सकती है कि हिंदुस्तानी उन हुक्मों की पाबंदी करें, जो विदेशी शक्ति द्वारा दिये गये हैं। सहयोग तो बराबरवालों में होना चाहिए और उसमें आपसी रज़ामंदी होनी चाहिए और वह उस आदर्श के लिए, जिसको दोनों ही बड़ी चीज़ समझते हों। इधर हाल ही में हिंदुस्तानियों ने बड़े खतरों का सामना किया है, और अपने-आप ही आज़ादी हासिल करने और हिंदुस्तान में लोकतंत्र स्थापित करने के लिए बड़े-बड़े बलिदान किये हैं। उनकी हमदर्दी पूरी तरह लोकतंत्र और आज़ादी के लिए है। लेकिन हिंदुस्तान किसी ऐसी लड़ाई में शामिल नहीं हो सकता, जिसके लिए कहा तो यह जाये कि वह लोकतंत्र की आज़ादी के लिए है, लेकिन यह आज़ादी खुद उसे हासिल नहीं है, और यही नहीं, बल्कि जो कुछ थोड़ी-बहुत आज़ादी उसके पास है, वह भी उससे छीनी जा रही है।

"समिति इस बात से परिचित है कि ब्रिटेन और फ्रान्स की सरकारों ने यह घोषणा की है कि वे लोकतंत्र और आज़ादी के लिए लड़ रही हैं, और हमलावरों को रोकना चाहती हैं। लेकिन इधर हाल का इतिहास ऐसी बातों से भरा हुआ है और उसमें ऐसी मिसालें हैं कि कही हुई बातों में, जताये हुए आदर्शों में, और असली नीयत और मकसद में बराबर फर्क है।" पहले महायुद्ध के दौरान की, और उसके बाद की कुछ घटनाओं का भी ज़िक्र था। उस सिलसिले में यह कहा गया कि "बाद के इतिहास से यह बात फिर ताज़ा हो गई है कि जोश भरे, भरोसा दिलानेवाले ऐलानों को किस तरह बेशर्मी से पलटा जा सकता है फिर यह ज़ोर दिया गया है कि लोकतंत्र खतरे में है और उसकी रक्षा करनी है। और इस वक्तव्य से समिति पूरी तरह सहमत है। समिति यकीन करती है कि पच्छिम की जनता इस आदर्श और उद्देश्य के लिए आगे बढ़ रही है, और वह उनके लिए बलिदान करने के लिए तैयार है। लेकिन कितनी ही बार जनता के और उन लोगों के, जिन्होंने ऐसे संघर्षों में बलिदान किये हैं, आदर्शों और उनकी भावनाओं की, अवहेलना की गई है, और उनके साथ ईमानदारी नहीं बरती गई है।

"यदि लड़ाई सारी चीज़ों को ज्यों-त्यों बनाये रखने के लिए है—यानी साम्राज्यवादी कब्ज़े, उपनिवेशों, निहित स्वार्थों और विशेषाधिकारों

के बचाव के लिए है—तो हिंदुस्तान का उससे कोई वास्ता नही हो सकता। लेकिन, अगर इस वक्त सवाल लोकतत्र और लोकतत्र पर बने एक दुनिया-भर के ढाचे का है, तो हिंदुस्तान की उसमे बेहद दिलचस्पी है। समिति को पूरी तरह इतमीनान है कि हिंदुस्तानी लोकतत्र और ब्रिटिश लोकतत्र के या दुनिया के लोकतत्र के हितो मे कोई विरोध नही है। लेकिन साम्राज्यवाद और फासिस्तवाद का हिंदुस्तान मे या और जगह लोकतत्र से एक बुनियादी और अमिट झगडा है। यदि ग्रेट ब्रिटेन लोकतत्र को बनाये रखने और आगे बढाने के लिए लडाई लड रहा है, तो लाज़िमी तौर पर उसे अपने साम्राज्यवाद को खत्म कर देना चाहिए। एक आज़ाद लोकतत्री हिंदुस्तान खुशी से दूसरी आज़ाद कौमो का हमलो से आपसी हिफाज़त के लिए साथ देने को तैयार है, और वह तैयार है आर्थिक सहयोग के लिए। आज़ादी और लोकतत्र की नीव पर दुनिया-भर का एक सघ बनाने के लिए वह काम करने को तैयार है, जिसमे कि इन्सान की तरक्की के लिए दुनिया के सारे ज्ञान और साधनो को काम मे लाया जाय।"

काग्रेस-कार्यसमिति ने, राष्ट्रीय होते हुए भी अतर्राष्ट्रीय नज़रिये को अपनाया और उसकी निगाह मे लडाई सिर्फ हथियारबद फौजो की लडाई से कहीं ज्यादा बडी चीज़ थी। "जिस सकट ने यूरोप को आ घेरा है, वह सिर्फ यूरोप का ही नही, बल्कि सारी दुनिया का है। दूसरे सकटो या लडाइयो की तरह वह यो ही नही टलेगा और आज की दुनिया का ढाचा भी जैसा-का-तैसा नही बचेगा। उससे दुनिया का राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक नक़शा बिलकुल बदल जायगा। वह बदला हुआ नकशा बेहतर होगा या बदतर, यह बिलकुल दूसरी चीज़ है। यह सकट पिछली बडी लडाई के बाद तेज़ी से बढनेवाले अतर्विरोधो, सामाजिक और राजनैतिक झगडो का लाज़िमी नतीजा है। यह सकट आखिरी तौर पर उस वक्त तक नही टलेगा, जबतक ये झगडे और विरोध हट न जायँ और जबतक एक नया सतुलन कायम न हो जाय। इस सतुलन की बुनियाद इस बात पर है कि एक देश के दूसरे देश पर आधिपत्य और शोषण का खात्मा हो जाये, और आर्थिक रिश्तो को एक नये सिरे से ऐसे ढर्रे पर लाया जाये, जिसमे सबके फायदे और सबके साथ इन्साफ का ध्यान हो। सारे सवालो की कसौटी है हिंदुस्तान। वह मौजूदा ज़माने के साम्राज्यवाद की खास मिसाल है और दुनिया का कोई भी ढाचा, इस बडे और खास सवाल को यो ही छोडकर कामयाब नही हो सकता। अपने बडे साधनो की वजह से दुनिया के नये ढाचे और नये नकशे मे उसका बहुत बडा हिस्सा होगा। लेकिन ऐसा तो वह एक

आजाद राष्ट्र की हैसियत से ही कर सकता है, जिसमें इस बडे मक़सद के लिए शक्ति फूटी पडती हो। आजादी का आज बटवारा नही हो सकता। दुनिया के किसी भी हिस्से मे साम्राज्यवादी कब्जा बनाये रखने की कोशिश का लाज़िमी नतीजा एक खौफनाक विध्वस होगा।"

इसी सिलसिले मे समिति ने हिंदुस्तानी रियासतो के शासको के सहयोग की चर्चा की। उन्होने यूरोप मे लोकतन्त्र की रक्षा के लिए अपने-आपको सौंपा था। समिति ने सलाह दी कि यह ज्यादा मुनासिब होगा कि वे अपनी रियासतो मे ही लोकतन्त्र की शुरुआत करें।

समिति ने फिर हर ढग से मदद देने की उत्सुकता की बात की, लेकिन ब्रिटिश नीति के रवैये पर अपना शक जाहिर किया। उस नीति मे उसे "लोकतन्त्र या आत्म-निर्णय की मदद के लिए कोई कोशिश" दिखाई नहीं दी और "न उसे कोई ऐसा सबूत ही मिला कि मौजूदा लडाई के ऐलानो पर अमल किया जा रहा है, या आगे अमल किया जायगा।" फिर भी उसने कहा कि "अवसर के गभीर होने के नाते और इस बात से कि पिछले कुछ दिनो की घटनाओ की तेजी आदमी के दिमाग की तेजी से भी ज्यादा है, समिति इस वक्त कोई आखिरी फैसला नही देना चाहती, ताकि इस बात के साफ होने का मौका रहे कि कौनसी बातो पर इस वक्त दाव लग रहा है, असली मकसद क्या है, और हिंदुस्तान की मौजूदा मौके पर, और फिर आगे चलकर हैसियत क्या होगी।" इसीलिए उसने ब्रिटिश सरकार को इस बात के लिए आमत्रित किया कि "वह बिलकुल साफ लफ्जो में कहे कि लोकतन्त्र और साम्राज्यवाद और सारी दुनिया की एक भावी नई व्यवस्था के बारे मे उसकी लडाई के मक़सद क्या हैं, और खासतौर से यह बात कि ये युद्धोद्देश्य किस तरह अमल मे लाये जायेंगे और उनको मौजूदा वक्त मे हिंदुस्तान मे किस तरह लागू किया जायेगा? क्या उसमे साम्राज्यवाद को मिटाने और हिंदुस्तान के साथ एक आजाद राष्ट्र की तरह व्यवहार करने की बात शामिल है—उस आजाद हिंदुस्तान के साथ, जिसकी नीति जनता की इच्छाओ से तय होगी? किसी भी ऐलान की कसौटी उसको मौजूदा वक्त मे लागू करना है, क्योकि मौजूदा वक्त से न सिर्फ आज की ही बातें तय होगी, बल्कि आनेवाले दिनो का भी नकशा तैयार होगा। यह तो एक अपार दुख की बात होगी कि यह भयकर लडाई साम्राज्यवादी नीयत से लडी जाय, और उसी ढाचे को बनाये रखने का मकसद बना रहे, जो खुद लडाई की जड है और इन्सान के नीचे गिरने की वजह है।"

इस बयान मे, जो गहरे सोच-विचार के बाद निकाला गया था, हिंदु-

स्तान और इग्लिस्तान के बीच से उन अडगो को हटाने की कोशिश थी, जो उनके आपसी रिश्तो को डेढ सौ बरसो से खराब कर रहे थे। इसमे कोशिश थी कि कोई ऐसा रास्ता निकल आये कि आज़ादी के लिए हमारी बेचैनी और दुनिया के इस सघर्ष मे आम जोश और सहयोग के साथ हमारी शामिल होने की दिली इच्छा, ये दोनो बातें एक साथ चल सकें। हिंदुस्तान की आज़ादी के हक का दावा कोई नई बात न थी, यह दावा लडाई या लोक-व्यापी सकट का नतीजा नहीं था। बहुत अरसे से हमारे काम और हमारे विचारो की बुनियाद मे यही हक था और कितनी-ही पीढियों से हम इसी के चारो तरफ चक्कर काट रहे थे। हिंदुस्तान की आज़ादी का साफ ऐलान करने और लडाई की ज़रूरतो का खयाल करते हुए नई हालत के लिए हेर-फेर करने मे कोई मुश्किल न थी। अगर इग्लिस्तान की इच्छा और नीयत हिंदुस्तान की आज़ादी को मानने को तैयार होती, तो बडी-से-बडी मुश्किलें मिट जाती। सच तो यह है कि ये तब्दीलिया लडाई की ज़रूरतो मे मददगार होती। उसके बाद तो जिस बात की ज़रूरत रहती, उसे सभी पार्टियो की रज़ामदी से, आसानी से, ठीक किया जा सकता था। हर सूबे मे सूबाई सरकारें काम कर रही थी। लडाई के दौरान के लिए मरकज़ी सरकार के लिए ऐसा ढाचा बनाना आसान था, जिसमे आम जनता को यक़ीन हो। यह ढाचा लड़ाई की कोशिशो का सगठन करता और उसमे जनता का सहयोग होता। वह हथियारबद फ़ौजो का पूरी तरह साथ देता। वह ढाचा एक तरफ़ ब्रिटिश सरकार और दूसरी तरफ़ जनता और सूबो की सरकारों के बीच एक कडी की तरह होता। दूसरी सवैधानिक समस्याए लडाई के बाद के लिए मुल्तवी कर दी जाती, हालाकि मुनासिब यही था कि उनको हल करने की जल्दी से कोशिश हो। लडाई के बाद जनता के चुने हुए नुमाइदे एक स्थायी सविधान बनाते और आपसी हितो की बाबत इग्लिस्तान से समझौता करते।

काग्रेस की कार्यसमिति के लिए ऐसी तजवीज इग्लिस्तान के सामने रखना कोई आसान बात नही थी। इस वक्त ज्यादातर लोगो की अतर्राष्ट्रीय मसलो के बारे मे जानकारी नही के बराबर थी और वे हाल की ब्रिटिश-नीति के लिए नाराजी जाहिर करते थे। हम जानते थे कि एक-दूसरे पर शक और आपस मे भरोसे की कमी लफ्ज़ो के जादू से नही मिट सकती थी। फिर भी हमे उम्मीद थी कि घटनाओ की मार से इंग्लिस्तान के नेता अपने साम्राज्यवादी घेरो से बाहर आकर, दूर की चीज़ो को ध्यान में रखते हुए, हमारे प्रस्ताव को मजूर करेंगे और इस तरह इग्लिस्तान और

हिंदुस्तान के झगडे खत्म हो जायेंगे और लडाई के लिए हिंदुस्तान का जोश और उसके साधन दोनो ही रुके बाध की तरह फूट पडेंगे।

लेकिन ऐसा होना नही था। उन्होंने जवाब मे हमारी माग को नामजूर कर दिया। यह बात साफ़ हो गई कि वे हमारा साथ दोस्तो और बराबरवालो की तरह नही चाहते थे। उनकी इच्छा तो यह थी कि हम गुलामो की तरह उनका हुक्म बजायें। हम दोनो ने 'सहयोग' शब्द का इस्तेमाल किया, लेकिन दोनो ने ही उस लफ्ज के अलग-अलग मानी लगाये। हमारे लिए सहयोग के मानी थे—साथी होना, बराबरवाला होना, और उनके लिए उसके मानी थे कि उनका हुक्म हो और बिना चू किये उसको हम बजा लायें। इस हालत को मजूर करना हमारे लिए नामुमकिन था। इसके लिए तो जरूरी यह था कि हम उस सबको छोड दें, और उस सबसे मुह मोडे, जिसे हमने अपनी जिंदगी मे एक अहमियत दे रखी थी और जिसकी हम अबतक हिमायत करते रहे थे। और अगर हममे से कुछ इसके लिए राजी भी थे, तो कम-से-कम हम अपने साथ जनता को नही ले चल सकते थे। हम लोग राष्ट्रीयता की धारा से कटकर एक तरफ फिक जाते, और इसीसे नही, बल्कि उस अतर्राष्ट्रीयता से भी, जिसका हम बराबर सपना देख रहे थे।

हमारे सूबो की सरकारो की दिक्कतें बढ गई और उन्हे दो चीजो मे से एक चुन लेनी थी—या तो वे वाइसराय और गवर्नर की दस्तदाजी के सामने सिर झुकाती या उनका मुकाबला करती। बडे-बडे सरकारी नौकर गवर्नर के साथ थे और वे मत्रियो और असेबलियो की तरफ़ इस तरह देखते थे, मानो वे उनके रास्ते मे रोडा हो। फिर वही पुराना झगडा सामने आया, जिसमे एक तरफ मनचाही करनेवाला बादशाह था, और दूसरी तरफ पार्लमेंट थी। यहा एक बात और थी, वह यह कि बादशाह परदेशी था और उसकी हुकूमत हथियारो और फौज की बुनियाद पर थी। तब यह तय किया गया कि हिंदुस्तान से ग्यारह सूबो के से जिन आठ सूबो में काग्रेसी सरकारें है (यानी बगाल, सिंध और पजाब को छोडकर), वे विरोध मे इस्तीफा दे दें। कुछ लोगो की राय थी कि वे इस्तीफा न दें और काम करती रहे, ताकि गवर्नर को उन्हे बरखास्त करने की नौबत आये। यह बात जाहिर थी कि बुनियादी झगडो की वजह से, जो दिन-ब-दिन ज्यादा साफ होते जा रहे थे, उन सरकारो मे और गवर्नरो मे झगडे होने लाजिमी थे। और अगर वे सरकारें इस्तीफा न देती, तो उनको बरखास्त कर दिया जाता। उन सरकारो ने बिलकुल सवैधानिक रास्ता अपनाया, यानी इस्तीफ़ा

दिया और असेंबली को भग करके फिर से चुनावो के लिए न्यौता दिया। चूकि असेंबली मे उनके पीछे बहुमत था, इसलिए कोई नया मन्त्रिमडल कायम नही हो सकता था। लेकिन गवर्नर नये चुनावो से बचना चाहते थे, क्योकि वे अच्छी तरह जानते थे कि उसमे काग्रेस की बडी भारी जीत होगी। उन्होंने असेंबली को भग नही किया, बल्कि उसके काम को मुल्तवी कर दिया और असेंबली और मन्त्रिमडल दोनो के ही सारे अधिकारो को अपने हाथो मे ले लिया। सूबो के वे बिलकुल निरकुश मालिक हो गये। वे क़ानून बनाते, हुक्म जारी करते और जो चाहते करते, और उसमे जनता की या उसके नुमाइदो की राय का रत्ती-भर भी खयाल न होता।

ब्रिटिश-प्रवक्ताओ ने अक्सर इस बात पर जोर दिया है कि काग्रेस ने सूबो की सरकारो से इस्तीफा देने को कहकर एक हुकूमती ढग अपनाया। यह तो उलटा इलजाम लगाना है। क्योकि यह बात उन लोगो की तरफ से कही जाती है, जो नात्सियो और फासिस्तो को छोडकर सबसे ज्यादा निरकुश और तानाशाही ढग के लोग हैं। सच तो यह है कि काग्रेस-नीति की बुनियाद ही आजाद ढग से काम करना है। वाइसराय और गवर्नर के यह भरोसा दिलाने परही कि सूबो के मैदान मे कोई दखल नहीं दिया जायेगा, ये असेंबलिया और सूबाई सरकारे काम करने लगी थी। अब यह दस्तदाजी आये दिन की चीज थी, और १९३५ के एक्ट के सवैधानिक अधिकार अब और भी कम हो गये थे। जैसा कि कहा जा चुका है, इन सवैधानिक अधिकारो के ऊपर अब ब्रिटिश पार्लमेट द्वारा सशोधित एक्ट था। यह बात कि कब, कहा और कितना दखल दिया जायेगा, मरकजी सरकार, यानी वाइसराय, के लिए तय करने को छोड दी गई थी। कोई ऐसा रास्ता नही था कि सूबो की सरकारो के अधिकारो की हिफाजत की जा सके। इस हालत मे तो वे सिर्फ सिर झुकाकर ही काम कर सकती थी। वाइसराय और गवर्नर-जनरल, अपनी तैनात की हुई कार्यकारिणी की मदद से—उस कार्यकारिणी की मदद से, जिसने साथ देने का इत्मीनान दिला दिया था—लडाई की जरूरत की आड मे सूबो की सरकारो के हर फैसले को उलट-पुलट सकते थे। कोई जिम्मेदार मन्त्रिमडल ऐसी हालत मे काम नही कर सकता था। उसकी किसी एक से लडाई जरूर होती—चाहे वे गवर्नर और सिविल सर्विस के आदमी हो, या वे असेंबली मे जनता के नुमाइदे हो। हर असेंबली में, उन सूबो में, जहा काग्रेसी सरकारे थी, लडाई शुरू होने के बाद काग्रेस की माग को मजूर कर लिया गया था। और अब वाइसराय द्वारा इस माग के रद्द होने के मानी थे इस्तीफा या झगडा। आम जनता

मे सिर्फ एक भावना थी कि ब्रिटिश ताकत के साथ लडाई छेड दी जाये। लेकिन जहातक मुमकिन हो सकता था, कार्यसमिति इसकी नौबत नही आने देना चाहती थी और इसीलिए उसने नरम नीति को अपनाया। ब्रिटिश सरकार के लिए यह आसान था कि वह यहा की जनता की भावनाओ की जाच कर ले। यह बात आम चुनावो से साफ हो जाती। उसने इस चीज़ से बचने की कोशिश की, क्योंकि उसे कोई शक नही था कि चुनावो मे काग्रेस की बडी भारी जीत होगी।

बगाल और पजाब के बडे सूबो मे, और सिंध के छोटे-से सूबे मे इस्तीफ़े नही दिये गये। बगाल और पजाब दोनो ही मे गवर्नर और सिविल सर्विस का पहले से ही बोल-बाला था, इसलिए वहा कोई झगडा नही उठ सकता था। इतने पर भी बंगाल मे बाद मे गवर्नर और प्रधान मत्री की नही बनी और गवर्नर ने मत्रिमडल को इस्तीफा देने के लिए मजबूर किया। आगे चलकर सिंध के प्रधान मत्री ने वाइसराय को एक खत लिखा और उसमे ब्रिटिश नीति की बुराई-भलाई की और उसके विरोध मे उन्होंने वह सरकारी खिताब, जो उन्हें दिया गया था, छोड दिया। उन्होने इस्तीफा नही दिया। लेकिन वाइसराय ने इस खत की वजह से, गवर्नर के हाथो, उन्हें प्रधान मत्री के ओहदे से बरखास्त कराया, क्योकि यह खत वाइसराय की शान के खिलाफ़ था।

काग्रेसी सूबा-सरकारो को इस्तीफा दिये हुए अब करीब पाच बरस हो चुके हैं। इस दौरान मे हर सूबे मे एक आदमी का —गवर्नर का— राज्य रहा है। और लडाई की ओट मे, और उसके बहाने से हम उन्नीसवी सदी के बीच की खूरेज़ निरकुशता पर पहुच गये हैं। सिविल सर्विस और पुलिस का बोल-बाला है। और उनमे से कुछ, चाहे वे अग्रेज़ हो या हिंदुस्तानी, अगर ब्रिटिश सरकार की निर्दय नीति के अनुसार काम करने मे ज़रा नाखुशी जताते हैं, तो उन्हें सरकार की ज्यादा-से-ज्यादा नाखुशी का नतीजा भोगना पडता है। काग्रेसी सरकारो का किया हुआ बहुत-सा काम मिट्टी मे मिला दिया गया है और उनकी स्कीमो पर पानी फेर दिया गया है। खुशक़िस्मती से कुछ काश्तकारी कानून अभी कायम हैं, अगरचे उनके भी अक्सर ऐसे मानी लगाये जाते हैं, जिनसे किसानो को नुकसान पहुचता है।

पिछले दो सालो मे असम, उडीसा और सरहद के छोटे-से सूबे मे फिर से सूबो की सरकारें कायम कर दी गई हैं। उसमे एक चाल है, असेंबली के कुछ मेंबरो को गिरफ्तार कर लिया गया है, और इस तरह अल्प-

मत दलो को बहुमतवाला बना दिया गया है। बगाल की मौजूदा सरकार एक काफी बडे यूरोपीय गुट के सहारे पर टिकी हुई है। उडीसा का मन्त्रि-मडल ज्यादा दिना तक काम नही कर सका और उस सूबे मे फिर एक आदमी का, गवर्नर का, राज्य वापस आ गया है। सरहदी सूबे मे मन्त्रि-मडल काम करता रहा, लेकिन उसके साथ बहुमत नही था। इसी वजह से असेंबली की बैठक नहीं बुलाई जाती थी। पजाब और सिंध मे खासतौर पर हुक्म जारी किये गये, जिनकी मदद से असेंबली के काग्रेसी मेबर (जो जेल से बाहर थे) असेंबली के अधिवेशन और दूसरी सार्वजनिक कार्रवाइयो मे हिस्सा लेने से रोक दिये गये।[1]

४ · कांग्रेस की एक और तजवीज : ब्रिटिश सरकार द्वारा उसकी नामंजूरी : विन्स्टन चर्चिल

इन आठ सूबो मे एक आदमी के निरकुश शासन कायम होने के मानी चोटी के आदमियो की तब्दीली ही नहीं थी—जैसा मन्त्रिमडल के बदलने पर होता है। वह तो एक ऐसी तब्दीली थी, जिसका असर शुरु से आखिर तक पूरी सरकारी मशीन पर, उसकी भावना, उसकी नीति और उसके काम करने के ढग पर था। कार्यकारी और स्थायी सेवाओ पर से अब असेंबली की निगरानी हट गई और गवर्नर से लेकर नीचे के अदना-से-अदना आदमी तक सिविल सर्विस और पुलिसवालो का जनता की तरफ रुख बिल्कुल बदल गया। यहा सिर्फ काग्रेस के ताकत मे आने के पहले की-सी हालत ही नहीं लौटी, बल्कि हालत कही ज्यादा बिगड गई। कानूनी हालत मे तो हम उन्नीसवी सदी की निरकुश स्वेच्छाचारिता पर पहुच गये थे। अमली तौर पर यह बहुत खलनेवाली चीज थी, क्योकि पुराना आपसी भरोसा हट चुका था। सरकार के ब्रिटिश सदस्यो मे लबे अरसे से स्थापित निहित स्वार्थों के मिट जाने का डर और शक समाया हुआ था। काग्रेसी सरकार के सवा दो साल बडी मुश्किल से बरदाश्त हुए थे। उन्ही लोगो के हुक्म की तामील करना, जिन्हे थोडी-सी शिकायत पर भी जेल भेजा जा सकता था, कुछ खुशगवार नही मालूम हुआ। अब पुराने धागो को जोडने की ही इच्छा नही थी, बल्कि इन फिसादियो को मुनासिब जगहो पर पहुचा

[1] १९४५ के शुरू मे सरहदी विधान सभा की आखिरकार बजट पर विचार करनेवाली बैठक बुलानी पडी। अविश्वास के प्रस्ताव से मंत्रिमडल हटा दिया गया और उसने इस्तीफा दे दिया। तब डाक्टर खानसाहब की सदारत मे काग्रेसी मन्त्रिमंडल ने फिर पद ग्रहण किया।

देने की ख्वाहिश थी। हर एक को, चाहे वह खेत का किसान हो, कारखाने का मज़दूर हो, कारीगर हो, दूकानदार हो, उद्योगपति हो, नौकरीपेशा हो, कालेज की नौजवान लडकी हो या लडका हो, छोटी नौकरीवाला हो या कितनी ही ऊची नौकरीवाला हिंदुस्तानी, जिसने जनता की सरकार के लिए जोश दिखाया हो, उसको यह जताना था कि ब्रिटिश राज्य अब भी कायम है और उसका उसे खयाल रखना होगा। यही राज्य उनके निजी भविष्य को और उनके तरक्की के मौको को तय करेगा, न कि ये थोडे-से आदमी, जो कुछ वक्त के लिए दखल देने को आ घुसे थे। जिन लोगो ने मन्त्रियो के सेक्रेटरियो की हैसियत से काम किया था, वे अब मालिक थे। उनके और गवर्नर के बीच मे अब कोई नही था और अब वे फिर पुराने साहबी ढग से बात करने लगे, ज़िलाधीश फिर अपने हलको के सर्वेसर्वा हो गये, पुलिस को अब फिर अपनी पुरानी हरकतें करने की आज़ादी थी, क्योकि उसको भरोसा था कि उसकी गलती होने पर भी, उसके दुर्व्यवहार करने पर भी, ऊपर के अफसर उसकी मदद करेंगे और उसकी हिफाज़त करेंगे। लडाई के कुहरे मे तो हर एक चीज़ ढकी जा सकती थी।

काग्रेसी सरकारो के बहुत-से नुक्ताचीनो को भी इस नये ढँर को देख-कर हैरत हुई। अब उनको इन काग्रेसी सरकारो की खूबिया याद आने लगी, और उन्होंने उनके इस्तीफे पर सख्त नाराज़गी ज़ाहिर की। उनके मुताबिक काग्रेसी सरकारो को आगे बढे चलना था, चाहे नतीजा कुछ भी होता। कुछ अजीब-सी बात तो है, लेकिन मुस्लिम-लीग के मेबर तक आश-कित थे।

जब गैर-काग्रेसियो और काग्रेस-सरकार के आलोचको मे यह प्रतिक्रिया हुई, तो आसानी से अदाज़ हो सकता है कि काग्रेसियो, उनसे हमदर्दी रखने-वालो और असेंबली के मेबरो की क्या हालत हुई होगी। मन्त्रियो ने अपने ओहदो से इस्तीफा ज़रूर दिया था, लेकिन असेबली की मेबरी से नही, और न इन असेंब्लियो के मेबरो और स्पीकरो ने ही इस्तीफ़े दिये। फिर भी वे हटा दिये गये और उनकी कोई सुनवाई नही हुई। और न कोई नये चुनाव ही हुए। विशुद्ध सवैधानिक दृष्टिकोण से भी इसे बरदाश्त करना आसान नही था और किसी भी देश मे इससे एक विकट सकट खडा हो सकता था। काग्रेस-जैसा शक्तिशाली अर्ध-क्रातिकारी सगठन, जिसमे देश की राष्ट्रीय भावना की नुमाइदगी होती थी, और जिसका आज़ादी की लडाई का एक अपना इतिहास था, चुप होकर इस एक आदमी के निरकुश राज्य को मजूर नहीं कर सकता था। जो कुछ हो रहा था, उसके लिए वह

सिर्फ दर्शक ही नही रह सकता था, और खासतौर से इसलिए कि यह सब उसीके खिलाफ था। और हिंदुस्तान मे अग्रेजी नीति तथा सार्वजनिक और असेंबली के कामो के इस तरह कुचले जाने के खिलाफ बार-बार जोरदार कारंवाई करने की माग की गई।

ब्रिटिश सरकार ने अपने लडाई के मकसद को साफ करने और हिंदुस्तान मे आगे कोई कदम उठाने से इन्कार कर दिया। इसके बाद काग्रेस-कार्य-समिति ने ऐलान किया—"(काग्रेस की) इस माग का जो जवाब मिला है, वह बिलकुल नाकाबिल इत्मीनान है और ब्रिटिश सरकार की तरफ से गलतफहमी पैदा करने की कोशिश की गई है, और साथ ही खास नैतिक सवाल को धुधला करने की कोशिश की गई है। . . लडाई के मकसद के बारे मे और हिंदुस्तान की आजादी के बारे मे कुछ न बताने की कोशिश के, जिसमे बेकार की बातो की आड ली गई है, समिति यही मानी लगाती है कि इस देश के और प्रतिक्रियावादी हिस्सो से मिलकर हिंदुस्तान मे साम्राज्यवाद को कायम रखने की इच्छा बाकायदा बनी हुई है। काग्रेस ने इस युद्ध-सकट और उस सिलसिले की सारी समस्याओ को तो एक नैतिक दृष्टिकोण से देखा है और उसने इस युद्ध-सकट से फायदा उठाकर सौदा करने के खयाल से कुछ नही सोचा। हिंदुस्तान की आजादी और लडाई के मकसद के बारे मे (जो नैतिक और बडे सवाल हैं, उनका) पहले ठीक ढंग से फैसला हो जाना जरूरी है। इसके बाद ही और दूसरी छोटी चीजो पर गौर किया जा सकता है। किसी भी हालत मे काग्रेस सरकारी इतजाम की जिम्मेदारी के लिए मजूरी तबतक नही दे सकती, जबतक कि सच्ची ताकत जनता के नुमाइदो को न सौंप दी जाय। बिना इस ताकत के वह थोडे-से बीच के जमाने के लिए भी जिम्मेदारी लेने को तैयार नही है।"

समिति ने आगे चलकर यह कहा कि ब्रिटिश सरकार के नाम पर किये हुए ऐलानो की वजह से ही काग्रेस को मजबूर होकर ब्रिटिश-नीति से अलग होना पडा है, और उसके असहयोग का पहला कदम यह था कि सूबो की काग्रेसी सरकारो ने इस्तीफा दिया। असहयोग की आम नीति जारी रही है और जबतक ब्रिटिश सरकार अपनी नीति नही बदलती, यह आगे भी जारी रहेगी। "लेकिन कार्यसमिति काग्रेसियो को याद दिलायेगी कि हर सत्याग्रह मे यह बात बुनियादी तौर पर शामिल है कि विपक्षी से सम्मानपूर्ण समझौता करने के लिए कोई कसर न बाकी रहे। . . इसलिए कार्यसमिति सम्मानपूर्ण समझौते पर पहुचने के लिए जरिया पाने की

बराबर कोशिश करती रहेगी, हालांकि कांग्रेस की आंखों के सामने ही ब्रिटिश सरकार ने अपना दरवाज़ा बंद कर दिया है।"

देश के चारों तरफ़ फैली उत्तेजना को ध्यान में रखते हुए और इस संभावना को सोचकर कि नौजवान हिंसात्मक दंगे के तरीके को न अपना लें, समिति ने देश को अहिंसा की बुनियादी नीति की याद दिलाई और उसे तोड़ने के खिलाफ़ चेतावनी दी। अगर कोई सविनय अवज्ञा भी हो, तो उसके लिए भी यह ज़रूरी था कि वह पूरी तरह शांतिपूर्ण हो। इसके अलावा, "सत्याग्रह के मानी हैं सबके लिए शुभ-कामनाएं—और वह खासतौर पर मुखालिफ़ों के लिए।" अहिंसा के इस ज़िक्र का लड़ाई से या हमले के वक्त देश की रक्षा से कोई ताल्लुक नहीं था। उसका ब्रिटिश हुकूमत से हिंदुस्तान की आज़ादी पाने की हर कोशिश से ही ताल्लुक़ था।

ये वे महीने थे, जब यूरोप में लड़ाई, पोलैंड के कुचले जाने के बाद, एक खामोशी की हालत में थी। उस वक्त ऊपरी तौर पर शांति मालूम देती थी और हिंदुस्तान के आम लोगों के ख़याल से लड़ाई अभी काफ़ी दूर थी और खासतौर से हिंदुस्तान के ब्रिटिश अफ़सरों की निगाह में भी शायद यही बात थी। हां, उन्हें सामान जुटाने, और उसे भेजने की फ़िक्र ज़रूर थी। हिंदुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी, उस वक्त और बाद में भी, जब-तक जून, १९४१ में जर्मनी ने रूस पर हमला नहीं किया, बराबर इस बात के खिलाफ़ थी कि इंग्लैंड को लड़ाई में मदद दी जाय। उनकी संस्था ग़ैर-क़ानूनी करार कर दी गई थी। उनका असर बहुत थोड़ा था। जो कुछ असर था, वह कुछ नौजवान समूहों में था। लेकिन इस वजह से कि वे व्यापक भावना को उग्र शब्दों में व्यक्त करते थे, उन पर रोक लगा दी गई।

इसी दौरान में मरकज़ी और सूबों की असेंबलियों के लिए चुनाव करना आसान होता। लड़ाई की वजह से उसमें कोई रुकावट नहीं थी। ऐसे चुनाव से सारा वातावरण साफ़ हो जाता और देश की असली स्थिति सतह पर आ जाती। लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों को इस असलियत का ही तो डर था, क्योंकि तब उनकी बहुत-सी झूठी दलीलें आगे नहीं चल पातीं। इन दलीलों में वे बराबर अलग-अलग संस्थाओं और पार्टियों के असर का ज़िक्र करते थे। लेकिन सभी चुनावों से बचने की कोशिश की गई। सूबों में एक आदमी की हुकूमत चलती रही। मरकज़ी असेंबली, जिसके मेंबर तीन साल के लिए बहुत सीमित निर्वाचक मंडल द्वारा चुने जाते हैं, दस साल से बराबर चल रही है। उस वक्त भी, जब सन १९३९

मे लडाई शुरू हुई थी, उसकी मियाद के दो बरस खत्म हो चुके थे। हर साल बाद उसकी एक साल की मियाद और बढा दी जाती है। उनके मेबर बूढे होते जाते है, उनकी इज्जत बढती जाती है, कभी-कभी उनमे से कोई मर भी जाता है और यह याद भी धुधली होती जाती है कि चुनाव कभी हुए भी थे। चुनाव ब्रिटिश सरकार को पसद नही है। उनमे जिंदगी का ढर्रा बिगड जाता है और आपस मे लडनेवाले मजहबी फिरको और सियासी पार्टियो के हिंदुस्तान की तस्वीर गदी हो जाती है। बिना चुनाव के किसी आदमी या किसी समुदाय को, जिस पर इनायत करनी है, अहमियत देना बहुत ज्यादा आसान है।

वैसे तो सारे देश मे ही, लेकिन खासतौर पर उन सूबो मे, जहा एक आदमी का राज्य था, दिन-ब-दिन हालत मे तनाव ज्यादा बढता गया। अपनी आम कारगुजारियो के लिए भी काग्रेसियो को जेल भेजा गया। छोटे-छोटे अफसरो और पुलिस की नई ज्यादतियो से राहत पाने के लिए किसान जोरो से आवाज उठा रहे थे। इन पुलिसवालो और छोटे अफसरो पर बडो की इनायत थी, वे लडाई के नाम पर हर तरह की वसूलयाबी कर रहे थे। इस हालत के खिलाफ कुछ कारंवाई करने के लिए माग लाजिमी हो गई। और तब काग्रेस ने मार्च, १९४० मे बिहार सूबे की रामगढ नाम की जगह मे मौलाना अबुल कलाम आजाद की सदारत मे अपने सालाना जलसे मे यह तय किया कि सिर्फ सविनय अवज्ञा आदोलन ही अब अकेला रास्ता है। इतने पर भी कोई नया कदम उठाने से बचने की कोशिश की और जनता से तैयारी करने के लिए कहा गया।

अदरूनी सकट दिन-ब-दिन ज्यादा गहरा होता जा रहा था, और यह महसूस हुआ कि सघर्ष टल नही सकेगा। लडाई के सिलसिले मे एहतियात के लिए भारत-रक्षा-कानून पास हुआ था, और आम कारगुजारियो को कुचलने के लिए उसका चारो तरफ इस्तेमाल हो रहा था और बिना जुर्म लगाये ही लोग गिरफ्तार कर जेल मे ठूसे जा रहे थे।

लडाई की हालत मे अचानक तब्दीली से, जिसकी वजह से डेनमार्क और नार्वे पर हमला हुआ, और उसके कुछ ही बाद फ्रान्स की अचभे मे डालनेवाली हार हुई, लोगो पर काफी गहरा असर हुआ। अलग-अलग लोगो मे अलग-अलग प्रतिक्रियाए हुई, और यह कुदरती बात थी। लेकिन फिर भी फ्रान्स के लिए और डकर्क और हवाई हमलो के बाद इग्लैंड के लिए बडी भारी हमदर्दी की लहर आई। जिस वक्त आजाद इग्लैंड की हस्ती ही खतरे मे थी, काग्रेस, जो सविनय अवज्ञा के लिए बिलकुल तैयार

थी, इस वक्त किसी ऐसे आदोलन की सोच भी नही सकती थी। हा, कुछ ऐसे भी आदमी थे, जिनके खयाल मे इग्लिस्तान की मुश्किलो और उसके खतरे मे हिंदुस्तान के लिए मौका था। लेकिन काग्रेस के नेता इस चीज के बिलकुल खिलाफ थे कि ऐसी हालत का, जिसमे खुद इग्लिस्तान का भविष्य खतरे से भरा हुआ हो, फायदा उठाया जाये और यह खयाल उन्होने खुले तौर पर ज़ाहिर किया। उस वक्त के लिए सविनय अवज्ञा का विचार छोड दिया गया।

काग्रेस की तरफ से एक और कोशिश की गई कि ब्रिटिश सरकार से समझौता हो जाये। पहली कोशिश मे हिंदुस्तान मे तब्दीली के अलावा लडाई के मकसद और साथ ही कितनी ही दूसरी बडी-बडी बातो के बारे मे ऐलान की माग की गई थी। लेकिन इस बार प्रस्ताव छोटा और निश्चित था और उसमे सिर्फ हिंदुस्तान का ही ज़िक्र था। उसमे हिंदुस्तान की आज़ादी को मजूर करने की माग की गई और कहा गया कि केंद्र मे एक कौमी सरकार कायम की जाय, जिसके मानी थे कि मुख्तलिफ पार्टियो का सहयोग हो। उस वक्त ब्रिटिश पार्लामेंट द्वारा किसी नये कानून बनाये जाने की बात निगाह मे नही थी। सुझाव यह था कि जो मौजूदा कानूनी ढाचा है, उसीमे वाइसराय के ज़रिये कौमी सरकार बना ली जाये। जिन तब्दीलियो का ज़िक्र किया गया था, वे बडी तो जरूर थी, लेकिन आपसी समझौते और ढग से उनको ठोस शक्ल दी जा सकती थी। कानूनी और सवैधानिक तब्दीलियो का बाद मे होना ज़रूरी था, लेकिन वे कुछ वक्त के लिए रुक सकती थी, ताकि उन पर फुरसत के मौके से और ज्यादा सोच-विचार हो सके। लेकिन शर्त यह थी कि हिंदुस्तान की आज़ादी के हक को मजूर कर लिया जाय। इस हालत मे लडाई की तैयारियो मे पूरी तरह साथ देने का भरोसा दिलाया गया।

इन प्रस्तावो ने, जिनकी शुरुआत श्री राजगोपालाचार्य ने की, काग्रेस की अक्सर दुहराई गई मागो को घटा दिया। उनकी यह माग हमारी उस माग से, जो बहुत अरसे से थी, बहुत कम थी। बिना किसी क़ानूनी परेशानी के इन चीज़ो को फौरन ही अमली शक्ल दी जा सकती थी। उनमे और दूसरे बडे समुदायो और दलो से मिलकर चलने की कोशिश थी, क्योकि यह बात ज़ाहिर थी कि कौमी सरकार लाज़िमी तौर पर मिली-जुली सरकार होती। इतना ही नही, बल्कि उनमे ब्रिटिश सरकार की हिंदुस्तान मे अनोखी स्थिति का भी ध्यान रखा गया था। वाइसराय बराबर बना रहता, लेकिन यह उम्मीद की गई थी कि क़ौमी सरकार के फ़ैसलो को

वह अपने निषेध के अधिकार से रद्द नही करेगा। लेकिन सरकार के प्रमुख की हैसियत से उसकी मौजूदगी के लाज़िमी तौर पर ये मानी थे कि उसका सरकार से काफी गहरा नाता होगा। लडाई का सारा ढाचा कमाडर-इन-चीफ़ के कब्ज़े मे बना रहता, और मुल्की हुकूमत का जो जाल अग्रेज़ो ने बिछाया था, वह भी बना रहता। असल मे इस रद्दो-बदल का जो खास असर होता, वह यह था कि शासन मे एक नई भावना आती, एक नया नज़रिया कायम होता, एक नई ताकत होती और लडाई की तैयारियो में और देश के सामने जो गभीर समस्याए थी, उनको हल करने मे जनता का सहयोग होता। यह रद्दो-बदल और साथ ही लडाई के बाद हिंदुस्तान की आज़ादी का निश्चित आश्वासन—इन सबसे हिंदुस्तान मे एक ऐसी जहनियत बनती, जिसके सबब से लडाई मे पूरी-पूरी मदद मिलती।

अपने पिछले ऐलानो और तजुरबो के बाद काग्रेस के लिए इस तजवीज़ को रखना कोई आसान बात नही थी। ऐसा महसूस किया जाता था कि ऐसे घेरे मे बनी हुई कौमी सरकार बेबस होगी और उसका कुछ असर नही होगा। काग्रेसी हलक़ो मे इस पर काफी विरोध हुआ, और मैं खुद भी बडी मुश्किल से, बहुत सोच-विचार के बाद ही इसके लिए राज़ी हो सका। मैं इसके लिए खासतौर पर ज्यादा बडे अतर्राष्ट्रीय सवालो को सोच कर ही राज़ी हुआ, और मेरी इच्छा यह थी कि अगर सम्मानपूर्ण ढग से यह मुमकिन हो, तो हमको फासिस्तवाद और नात्सीवाद के खिलाफ़ लडाई मे पूरी तरह शामिल हो जाना चाहिए।

लेकिन हमारे सामने एक और ज्यादा बडी मुश्किल थी और वह थी गाधीजी का विरोध। उनका यह विरोध तो सिर्फ शाति और अहिंसा की वजह से था। लडाई मे मदद देने के हमारे पिछले प्रस्तावो का उन्होंने विरोध नही किया था, लेकिन इसमे कोई शक नही कि उन्हे बहुत बेचैनी रही होगी। लडाई के ठीक शुरू मे ही उन्होंने वाइसराय से कहा था कि काग्रेस तो सिर्फ नैतिक सहायता दे सकती है, लेकिन काग्रेस का यह रुख नही था, और यह बात बाद मे कई बार साफ कर दी गई थी। अब तो उन्होंने निश्चित रूप से विरोध किया, जिससे काग्रेस हिंसात्मक लडाई की तैयारियो मे ज़िम्मेदारी लेने को तैयार न हो जाय। इस चीज़ पर उनके इतने कट्टर विचार थे कि उन्होंने अपने साथियो; यहातक कि काग्रेस-संगठन से भी अपना नाता तोड लिया। उनके साथ काम करनेवालो के लिए यह चोट बहुत तकलीफ़देह थी, क्योकि आज की काग्रेस तो उनकी ही बनाई हुई थी। फिर भी काग्रेस-सगठन लड़ाई की हालत में भी उनके अहिंसा

के सिद्धात को लागू करने के लिए राजी नही हो सका और ब्रिटिश सरकार से समझौता करने की ख्वाहिश मे वह इतना आगे बढ गया कि उसने अपने मान्य और प्रिय नेता तक से नाता तोड दिया।

देश की हालत और कई मानो मे बिगडती जा रही थी। राजनीति के मैदान मे तो यह बात जाहिर थी। आर्थिक मामले मे भी, हालाकि कुछ किसान और कुछ मजदूर पहले से कुछ बेहतर थे, ज्यादातर लोगो को लडाई की वजह से धक्का पहुचा था। जो लोग सचमुच लडाई से मालामाल हो रहे थे, वे थे लडाई के मुनाफाखोर, ठेकेदार और वे अफसर, खासतौर पर ब्रिटिश अफसर, जो लडाई के काम मे ऊची-ऊची तनख्वाहो पर रखे गये थे। जाहिर है, सरकार का यह खयाल था कि लडाई की तैयारियो को पूरी तरह कर पाने के लिए ज्यादा मुनाफा पाने की नीयत से बहुत मदद मिलेगी और इसीलिए उसको मौका दिया गया था। रिश्वतखोरी और रियायत का बाजार खूब गरम था और उनपर कोई रुकावटे नही थी। आम लोगो की तरफ से नुक्ताचीनी का होना लडाई की तैयारियो के लिए नुकसानदेह समझा गया और उसको सब-कुछ समेटनेवाले भारत-रक्षा-कानून की गिरफ्त मे ले लिया गया। यह एक मायूसी लानेवाला दृश्य था।

इन सब चीजो ने हमको एक बार ब्रिटिश सरकार से समझौता करने की फिर कोशिश करने के लिए उकसाया। कहातक इसकी उम्मीद थी? कोई खास उम्मीद नजर नही आई। स्थायी सेवाओवाले सभी सरकारी महकमो को नियत्रण और आलोचना से ऐसा छुटकारा मिला हुआ था, जैसा पिछली दो पीढियो से नही मिला था। जिस आदमी को वे ठीक नही समझते, उसे अभियोग लगाकर या बिना अभियोग के ही जेल मे बद कर सकते थे। गवर्नरो का बडे-बडे सूबो पर काबू था और उनके अधिकारो पर कोई रोक-टोक नही थी। वे किसी तब्दीली के लिए क्यो राजी होते, जबतक कि परिस्थितिया ही उनको उसके लिए मजबूर न कर देती? इस शाही ढाचे की चोटी पर वाइसराय लार्ड लिनलिथगो थे, जिनके चारो तरफ उनकी हैसियत के मुताबिक बनाव-सजाव और शान थी। उनका जिस्म बडा था, लेकिन दिमाग सुस्त था, उनका दिमाग चट्टान की तरह ठोस लेकिन उसीकी तरह जड था, और उनमे पुराने ढग के ब्रिटिश रईसो की सारी खूबिया और कमिया मौजूद थी। उन्होंने ईमानदारी से पूरी तरह इस उलझन से निकलने की कोशिश की। लेकिन उनकी अपनी बहुत-सी कमिया थी, उनका दिमाग पुराने ढर्रे पर ही चलता था और किसी नये ढर्रे से उन्हे झिझक थी, जिस शासक-वर्ग के वह नुमाइदे थे, उसकी परिपाटी से उनका

नजरिया महदूद था। जो कुछ वह देखते और सुनते थे, वह सिविल सर्विस की आंखों और कानों से, या उन लोगों की मदद से, जो उन्हें घेरे रहते थे। जो लोग बुनियादी राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन की पुकार देते थे, उन पर उन्हें भरोसा नहीं था, वह उन लोगों को नापसन्द करते थे, जो ब्रिटिश साम्राज्य और हिंदुस्तान में उसके खास नुमाइंदे के ऊँचे मकसदों की पूरी-पूरी तरह इज्जत नहीं करते थे।

उन साल के दिनों में, जब पच्छिमी यूरोप में जर्मनी हवाई जहाजों से बम बरसा रहा था, इंग्लैंड में कुछ तब्दीली हुई। मि० नेविल चेंबरलेन हट गये थे, और कई लिहाज से यह एक शान की बात थी। जेटलैंड के लाट, जो उनकी शाही हुकूमत के एक खास रत्न थे, अब भारत-सचिव के पद से हट गये। उनके हटने पर किसी को अफसोस नहीं हुआ। और अब उनकी जगह आये मि० एमरी, जिनकी बाबत हमें करीब-करीब कुछ भी नहीं मालूम था, लेकिन जो कुछ पता था, उसके खास मानी थे। हाउस ऑफ कामन्स में, चीन पर जापान के हमले की, उन्होंने आगे से हिमायत की थी। उनकी दलील यह थी कि जापान ने चीन में जो कुछ किया, अगर हम उसकी निंदा करें, तो हमको उसी तरह हिंदुस्तान और मिस्र में ब्रिटेन ने जो कुछ किया था, उसकी भी निंदा करनी पड़ेगी। यह एक जोरदार दलील थी, जिसको तोड़-मरोड़कर एक गलत मकसद के लिए इस्तेमाल किया गया था।

लेकिन वह शख्स, जिनकी सचमुच कुछ अहमियत थी, वह थे मि० विन्स्टन चर्चिल। वह ब्रिटेन के नये प्रधान-मंत्री थे। हिंदुस्तान की आजादी के सिलसिले में उनके खयाल बिल्कुल निश्चित और स्पष्ट थे और कई बार दोहराये जा चुके थे। हिंदुस्तान की आजादी के वह कट्टर विरोधी थे, उसके लिए किसी तरह झुकने या समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। जनवरी, १९३७ में उन्होंने कहा था—"कभी-न-कभी तुम्हें गांधी, कांग्रेस, और उनके आदर्शों को कुचलना पड़ेगा।" उसी साल दिसंबर में उन्होंने कहा—"ब्रिटिश राष्ट्र का हिंदुस्तान की आजादी और प्रगति पर से अपना नियंत्रण हटाने का कोई इरादा नहीं है। .. बादशाह के ताज के सबसे ज्यादा कीमती और सबसे ज्यादा चमकीले उस हीरे को फेंक देने का हमारा कतई इरादा नहीं है, जो अकेला ही और सब डोमीनियनों और अधिकृत प्रदेशों के मुकाबले ब्रिटिश साम्राज्य की ताकत और शान को कायम रखता है।"

बाद में उन्होंने समझाया कि 'डोमिनियन स्टेटस' नाम के उन नाद-

मरे लफ्ज़ो के, जो अक्सर हमसे कहे गये थे, हिंदुस्तान के सिलसिले मे क्या मानी थे। जनवरी, १९४१ मे उन्होंने कहा था—"हमने उसको (डोमिनियन स्टेटस को) हमेशा ही आख़िरी मकसद माना है। लेकिन रस्मी तौर को छोडकर, किसीने यह नही सोचा कि हिंदुस्तान के नुमाइदे लडाई के दौरान मे कान्फ्रेंसो मे किस तरह भाग लेगे, और न यह सोचा कि हिंदुस्तान के लिए उसूलो और नीतियो को आगे चलकर कभी, कम-से-कम जहातक हमे मुनासिब तौर पर नज़र आता है, कोई अमली शक्ल दी जायेगी।" और फिर दिसबर, १९४१ मे—"बहुत-से बडे-बडे सार्वजनिक नेताओ ने व्याख्यान दिये और उन लोगो मे से मैं भी था, और मैंने भी डोमीनियन स्टेटस पर व्याख्यान दिया था, लेकिन मैंने यह कभी नही सोचा था कि हिंदुस्तान को आगे चलकर वही सवैंधानिक अधिकार मिलेंगे, जो कनाडा को प्राप्त हैं। हिंदुस्तान मे अपने साम्राज्य को छोडने के बाद इग्लैंड एक बडी ताकत नही रह पायेगा।"

यही तो विकट समस्या थी। हिंदुस्तान ही साम्राज्य था। उस पर अधिकार और उसके शोषण से ही इग्लैंड को वह शान और ताकत हासिल थी, जिसने उसे एक बडी ताकत बना दिया। मि० चर्चिल किसी ऐसे इग्लैंड की नही सोच सकते थे, जिसमे वह एक बडे साम्राज्य का मालिक न हो और इस तरह वह एक आज़ाद हिंदुस्तान की सोच ही नही सकते थे। और डोमिनियन स्टेटस का, जो बहुत अरसे से हमारी पहुच के अदर बताया जाता था, अब राज़ खुला। वह तो एक शब्द-जाल था और महज़ एक रस्म पूरी करने के लिए था। वह हमारी आज़ादी और ताकत से बहुत दूर था। अपने पूरे-पूरे मानी मे भी जो कुछ डोमीनियन स्टेटस हो सकता था, हमको तो वह मजूर नही था। हम तो चाहते थे आज़ादी। मि० चर्चिल और हमारे बीच मे सचमुच एक बहुत बडी खाई थी।

हमको उनके लफ्ज़ याद आये, और हम जानते थे कि वह बहुत जिद्दी और न झुकनेवाले शख्स हैं। उनकी नेतागिरी मे हमको इग्लैंड से बहुत कम उम्मीद हो सकती थी। हिम्मत और नेतागिरी की बहुत-सी खूबियो के होते हुए भी वह उन्नीसवी सदी के साम्राज्यवादी, अनुदार, प्रगति-विरोधी इग्लैंड के नुमाइदे थे। ऐसा मालूम होता था कि नई दुनिया, उसकी जटिल समस्याए, उसकी ताक़तो को समझ सकने मे वह असमर्थ हैं—और उससे भी कम उस भविष्य को समझ सकते हैं, जो अब बन रहा था। फ्रान्स के साथ एक सघ बनाने के उनके प्रस्ताव से (हालाकि वह प्रस्ताव एक खतरे के मौके पर किया गया था) एक दूरदर्शिता दिखाई देती थी और उसमे परि-

स्थितियो के अनुकूल होने के आसार दिखाई दिये थे। उससे हिंदुस्तान पर काफी असर हुआ। शायद जिस नये पद पर वह पहुचे थे, उसने और उस पद की जिम्मेदारियो ने उनकी निगाह को फैला दिया था। शायद अब वह अपने पहले खयालो और अपनी पहली आदतो को पार कर आगे बढ गये थे। शायद लडाई की जरूरतें ही, जिनकी अब सबसे ज्यादा अहमियत थी, उन्हे यह मजूर करने के लिए मजबूर करें कि हिंदुस्तान की आजादी लाजिमी ही नही, बल्कि लडाई के लिहाज से भी जरूरी और मुनासिब है। मुझे याद आया कि जब अगस्त, १९३९ मे मैं चीन जा रहा था, तो एक दोस्त के जरिये उन्होंने इस युद्धग्रस्त देश के मेरे इस दौरे के लिए शुभ-कामनाए भेजी थी।

इसीलिए जब हमने अपने प्रस्ताव को पेश किया, तो हम उम्मीद से खाली नही थे। लेकिन हमे उम्मीद बहुत ज्यादा भी नही थी। जल्दी ही ब्रिटिश सरकार का जवाब आया। उस जवाब मे बिलकुल साफ इन्कार था, और यही नही, उसके लफ्ज भी ऐसे थे कि हमको इतमीनान हो गया कि इग्लेंड का हिंदुस्तान पर से अपनी ताक़त उठा लेने का कोई इरादा नही है। वह फूट बढाने और हर मध्ययुगीन विचारधारावाले और प्रति-क्रियावादी तत्वों को मजबूत बनाने पर तुला हुआ था। हिंदुस्तान मे अपना साम्राज्यवादी काबू छोड़ने से ज्यादा बेहतर बात तो उसे यह लगती थी कि यहा आपसी लडाई शुरू हो जाये और हिंदुस्तान बरबाद हो जाये।

हालाकि हम इस तरह के बरताव के आदी हो गये थे, फिर भी हमे एक धक्का लगा, और नाउम्मीदी की भावना बढी। मुझे याद है, मैंने उस वक्त एक लेख लिखा था, जिसे मैंने शीर्षक दिया था 'अलग-अलग रास्ते'। बहुत अरसे से मैं हिंदुस्तान की आजादी का हामी था, क्योकि मुझे पूरा यकीन था कि उसके बिना न तो हम सामूहिक रूप मे पूरी तरह उन्नति ही कर सकते हैं और न हमारा इग्लेंड से दोस्ताना रिश्ता या साथ ही हो सकता है। फिर भी मैंने इस दोस्ताना रिश्ते की उम्मीद की। अब अचानक ही मुझे यह महसूस हुआ कि जबतक इग्लेंड पूरी तरह न बदले, हमारे लिए कोई एक रास्ता नही था। हमारे रास्ते बिलकुल अलग थे।

५ : व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा

इस तरह आजादी के खयाल के उस नशे की जगह, जिससे हमारी शक्तियो का स्रोत खुलता और हम एक कौमी उत्साह के साथ दुनिया के सघर्ष में कूदते, हमको उस आजादी की इन्कारी की तकलीफदेह मायूसी

का तजुरबा हुआ। यह इन्कारी घमडभरी भाषा के साथ थी और ब्रिटिश राज्य और नीति की अपने मुह तारीफ और उन शर्तों के साथ थी, जिनके पूरा होने पर ही हिंदुस्तान आजादी की माग कर सकता था। वे ऐसी शर्तें थी, जिनमे से कुछ का पूरा होना नामुमकिन था। यह जाहिर हो गया कि यह सारी वात, इग्लैंड मे पार्लमेंट की बहस, चिकनी-चुपडी भाषा और शानदार ऐलान सिर्फ राजनैतिक चाले थी, जिनसे असली नीयत पर परदा डाला जाता था। इस नीयत के लिहाज से जबतक मुमकिन हो सके, हिंदुस्तान पर साम्राज्यवादी कब्जा बनाये रखना था। हिंदुस्तान के सजीव शरीर मे साम्राज्यवाद का पजा गहरा गडाये रखना था। और यह नमूना था उस आज़ादी और लोकतत्र का, जिसके लिए ब्रिटेन लडने का दावा कर रहा था!

इसके अलावा एक और बात से खास इशारा मिला। बरमा ने एक बहुत मामूली-सी माग पेश की थी कि उसे यह आश्वासन दिया जाय कि लडाई के बाद उसे डोमीनियन स्टेटस दे दिया जायेगा। यह बात प्रशात महासागर की लडाई शुरू होने से बहुत पहले की है, और किसी भी सूरत से इससे लडाई मे किसी तरह का हर्ज नही होता था, क्योंकि लडाई के खत्म होने के बाद ही उसको अमली शक्ल देनी थी। बरमा ने आज़ादी नही, सिर्फ डोमीनियन स्टेटस की माग की थी। पर जो बात हिंदुस्तान के साथ हुई, वही वहा हुई। उससे बार-बार कहा गया था कि ब्रिटिश नीति का आखिरी मकसद डोमीनियन स्टेटस है। हिंदुस्तान के बर-अक्स वहा बहुत कुछ यकसापन था और वे सब सच्ची और झूठी दलीलें, जो अग्रेजो द्वारा हिंदुस्तान के सिलसिले मे दी जाती थी, वहा लागू ही नही होती थी। 'डोमीनियन स्टेटस' एक सुदूर भविष्य मे होता। वह एक धुधला, महज दिमागी नकशा था, जिसका ताल्लुक किसी दूसरी दुनिया से और किसी दूसरे युग से था। वह तो, जैसा मि० विन्स्टन चर्चिल ने जताया था, सिर्फ़ थोथी दिखावटी बात थी, जिसका वर्तमान या निकट भविष्य से कोई सबध नही था। इसी तरह वे आपत्तिया, जो हिंदुस्तान की स्वाधीनता के विरुद्ध उठाई गई थी, सिर्फ थोथी बाते ही थी, जिनमे न कोई सचाई थी और न कोई मतलब ही था। जो सचाई थी, वह तो यह थी कि इग्लैंड का हर मुमकिन ढग से हिंदुस्तान को जकडे रखने का पक्का इरादा है और दूसरी तरफ, जैसे भी बन पडे, इस बधन को तोडने का हिंदुस्तान का पक्का इरादा है। इसके अलावा बाकी सब बातें गप्पें थी या वकीली बातें थीं या कूट-नीतिज्ञो की चालबाजिया थी। इन दो कट्टर विरोधियो के झगडे का क्या

परिणाम होगा, यह तो सिर्फ भविष्य ही बता सकता था।

भविष्य ने फौरन ही बरमा मे ब्रिटिश नीति का नतीजा दिखाया। हिंदुस्तान मे भी धीरे-धीरे वह भविष्य खुलने लगा और उसके साथ झगडा, कडवाहट और तकलीफ आई।

ब्रिटिश सरकार के असभ्य आघात के बाद हिंदुस्तान मे जो कुछ हुआ, उसके लिए सिर्फ दर्शक बनकर, जिसके हाथ-पाव बधे हो, रहना नामुमकिन हो गया। जब एक भयकर लडाई के बीच उस सरकार का यह रुख था, तो इस सकट के टल जाने पर और लोकमत के दबाव के कम हो जाने पर क्या रुख होगा? दुनिया के करोडो आदमी आजादी के आदर्श मे विश्वास करके ही तो उसके नाम पर बडी-बडी कुरबानी कर रहे थे इस बीच मे हमारे आदमियो को देश-भर मे एक-एक करके, चुनकर जेलो मे भेजा गया। हमारे मामूली काम-काजो मे दखल दिया जाने लगा और उन पर पाबदिया लगा दी गई। यहा यह बात याद रखने की है कि हिंदुस्तान मे ब्रिटिश सरकार राष्ट्रीय और मजदूर आंदोलनो से बराबर लडाई लडती रही है, वह सविनय अवज्ञा के शुरू होने का तो इतजार ही नही करती। कभी-कभी उस लडाई की लपट बाहर आ गई है और उसमे सरकार ने सब मोर्चों पर चारो तरफ से हमला किया है, या वह कभी-कभी कुछ घट गई है, लेकिन हमेशा वह बनी जरूर रही है।[1] हा, प्रातो मे काग्रेसी सरकारो की हुकूमत के छोटे-से अरसे मे उसमे कुछ खामोशी आ गई थी। लेकिन उनके इस्तीफे के बाद फौरन ही यह फिर शुरू हो गई। स्थायी सेवाओवालो को काग्रेसियो और असेंबली के मेबरो को गिरफ्तार

---

[1] लड़ाई के शुरू होने के पहले से ही बहुत-से आदमी बराबर जेल मे रहे हैं। मेरे कुछ नौजवान साथियो के जेल मे १५ बरस बीत चुके हैं, और वे अब भी वहीं हैं। जब उनको सजा दी गई थी, तो वे लडके थे, शायद ही बीस बरस से ऊपर रहे हों। अब उनके बाल सफेद पडने लगे हैं, और वे प्रौढ हो गये हैं। बार-बार यू० पी० की जेलों मे पहुचने की वजह से मुझे उनसे मिलने का मौका मिला है। मैं जेल मे पहुचा, कुछ वक़्त रहा और फिर बाहर आ गया; लेकिन वे वहीं बने रहे हैं। हालाकि वे लोग यू० पी० के हैं, और कुछ सालों से यू० पी० मे रह रहे हैं, लेकिन उन लोगो को सजा पंजाब मे दी गई थी, और इसलिए पंजाब सरकार के हुक्म से यहा हैं। यू० पी० की कांग्रेसी सरकार ने उनको छोड़ने की सिफारिश की, लेकिन पंजाब सरकार को यह बात मंजूर नहीं हुई।

करने के लिए हुक्म देने या जेल भेजने मे एक अजीब तरह की खुशी होती थी।

अब सीधी कार्रवाई लाज़िमी हो गई, क्योंकि कभी-कभी नाकामयाबी काम न करने की वजह से ही होती है। वह कार्रवाई हमारी निश्चित नीति के मुताबिक, सविनय अवज्ञा की तरह ही हो सकती थी। लेकिन इस बात की सावधानी रखी गई कि जनता का उभार न हो और वह सविनय अवज्ञा कुछ चुने हुए व्यक्तियो तक ही सीमित कर दी गई। सामूहिक सविनय अवज्ञा के मुकाबले मे यह तो वह चीज थी, जिसे व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा कहा जा सकता था। यह दरअसल एक बडे नैतिक विरोध की शक्ल मे थी। राजनीतिज्ञ के नज़रिये से यह मुनासिब नही मालूम होता कि हम जान-बूझकर हुकूमत को पलट देने की कोशिश से बचें और उसके लिए यह आसान कर दें कि वह उत्पात मचानेवालों को जेल भेज दें। इन्कलाब या झगडा करनेवाली राजनैतिक कार्रवाई का यह रवैया और कही नहीं रहा है। लेकिन यह गाधीजी का ढग था कि इन्कलाबी राजनीति को नैतिकता से मिला दिया जाये, और जब कभी ऐसा आदोलन हुआ, वह लाज़िमी तौर पर उसके नेता हुए। यह दिखाने का उनका यह अपना ढग था कि हालाकि हमारा मकसद झगडा करने का नही है, फिर भी ब्रिटिश नीति के आगे हम सिर नही झुका सकते और इस सिलसिले मे अपनी नाराजी और पक्का इरादा दिखाने के लिए हम अपने-आप तकलीफो को गले लगायेंगे।

यह व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आदोलन एक बहुत छोटे पैमाने पर शुरू हुआ। उसमे हिस्सा लेने से पहले हर सत्याग्रह करने की ख्वाहिश रखनेवाले को इजाजत लेनी पडती थी और उसके लिए एक तरह का इम्तिहान पास करना पडता। जो छाटे जाते थे, वे किसी मामूली से कानून को तोडते थे, गिरफ्तार होते थे और जेल भेज दिये जाते थे। जैसा हमारा तरीका है, चोटी के आदमी सबसे पहले छाटे गये, यानी काग्रेस कार्यसमिति के अध्यक्ष, भूतपूर्व सरकारी मत्री, असेंबली के मेंबर, काग्रेस महासमिति के और प्रातीय काग्रेस कमेटी के मेबर। धीरे-धीरे यह घेरा बढता गया, यहातक कि पच्चीस और तीस हजार के बीच मे आदमी और औरते जेलो मे पहुच गये। इन लोगो में सूबो की विधान-सभाओ के, जिन्हें सरकार ने स्थगित कर दिया था, अध्यक्ष और बहुत-से मेबर शामिल थे। इस तरह हमने यह बात जताई कि अगर हमारी चुनी हुई विधान-सभाओ के सदस्यो को काम नही करने दिया जाता, तो वे मनमाने राज्य के आगे सिर न झुकाकर जेल जाना पसद करेंगे।

उन लोगो के अलावा, जिन्होने महज नाम के लिए कोई आज्ञा शाति-पूर्वक तोडी, और कई हजार आदमी व्याख्यान देने के नाम पर या और किसी वजह से गिरफ्तार करके जेल भेज दिये गये, और बिना किसी जुर्म लगाये ही उनको रोक रखा गया। करीब-करीब शुरू मे ही मैं भी गिरफ्तार हुआ और एक व्याख्यान के लिए मुझे चार साल जेल की सजा हुई।

अक्तूबर, १९४० से ये सब लोग एक साल से ऊपर जेलो मे रहे। जो कुछ खबरे हमको मिल सकती थी, उनकी मदद से हम लडाई का रुख, हिंदुस्तान की और सारी दुनिया की घटनाओ को समझने की कोशिश करते रहे। हमने प्रेसीडेंट रूजवेल्ट की चार आजादियो की बात पढी, अटलाटिक चार्टर की बात सुनी और फिर कुछ ही वक्त बाद मि० चर्चिल की यह शर्त जानी कि यह चार्टर हिंदुस्तान पर लागू नही होता।

जून, १९४१ मे सोवियत रूस पर हिटलर के अचानक हमले से हम लोग हिल गये, और हम चिंता और उत्सुकता के साथ लडाई की हालत मे तेजी से होनेवाली तब्दीलियो पर आख लगाये रहने लगे।

४ दिसबर, १९४१ को हममे से बहुत-से लोग छोड दिये गये। उसके तीन दिन बाद ही पर्ल हार्बर पर हमला हुआ और प्रशात महासागर की लडाई शुरू हो गई।

६ : पर्ल हार्बर के बाद : गांधीजी और अहिंसा

जिस वक्त हम जेल से बाहर आये, राष्ट्रवादियो का रुख तथा हिंदुस्तान और इग्लैंड के झगडे का सवाल ज्यो-का-त्यो था। जेल का लोगो पर तरह-तरह का असर होता है, कुछ कमजोर हो जाते हैं, या कुचले जाते हैं, कुछ दूसरे लोग पक्के हो जाते हैं, और अपनी धारणाओ के बारे मे कट्टर हो जाते हैं। आमतौर पर पिछली बात ही होती है और उसका आम जनता पर बहुत असर होता है। हालाकि कौमी नजरिये से हम जहा-के-तहा थे, फिर भी पर्ल हार्बर के बाद एक नया तनाव आया और उसमे एक दूसरा नजरिया पैदा हुआ। इस तनाव के नये वातावरण मे कार्य-समिति की बैठक फौरन ही हुई। उस वक्त तक जापानी बहुत आगे नही बढ पाये थे। लेकिन जो कुछ बडा और सदमा देनेवाला विध्वस हो चुका था, वही क्या कम था! लडाई अब दूर की चीज नही थी, और वह हिंदुस्तान के ज्यादा नजदीक आने लगी और उस पर गहरा असर डालने लगी। इस खतरे की हालत मे अपना-अपना पार्ट अदा करने की हर काग्रेसी की ख्वाहिश तेज हुई और इस नई हालत मे जेल जाना एक बेकार-सी बात

मालूम दी, लेकिन जबतक सम्मानपूर्ण सहयोग के लिए दरवाज़ा न खुले, हम कर ही क्या सकते थे? इस तरह के सहयोग के समय ही जनता में काम करने के लिए निश्चित प्रेरणा हो सकती थी। मडराते हुए खतरे का डर काफी नही था।

पिछले इतिहास और पिछली घटनाओ के बावजूद हम लडाई मे साथ देने और खासतौर से हिंदुस्तान की हिफाज़त करने के ख्वाहिशमद थे। लेकिन उसके लिए लाज़िमी शर्त यह थी कि सरकार कौमी हो। मुल्क के दूसरे हिस्सो के साथ मिलकर काम करने मे हमे उससे मदद मिलती। वह सरकार जनता को यह महसूस करा देती कि यह कोशिश सचमुच कौमी है, न कि उन परदेशियो के हुक्म से, जिन्होने हमे गुलाम बना रखा है। इस नज़रिये मे काग्रेसियो और उनके अलावा और बहुत-से आदमियो मे कोई फर्क नही था, लेकिन अचानक एक बहुत बडा उसूली सवाल उठ खडा हुआ। दूसरे देशो से लडाई के वक्त भी गाधीजी अहिंसा के बुनियादी उसूल को छोडने को तैयार नही थे। लडाई की निकटता ही उनके लिए एक चुनौती बन गई, और अब उनके विश्वास की जाच का मौका था। अगर इस नाजुक घडी मे वह फिसलते, तो उसके दो ही मानी हो सकते थे—या तो अहिंसा वह बुनियादी और व्यापक सिद्धात और कार्य-प्रणाली ही नही, जिसे उन्होंने समझ रखा है, और या उसे छोडने या उससे समझौता करने मे वह गलती कर रहे हैं। अपने ज़िंदगी-भर के विश्वासो को वह छोड नही सकते थे। उनकी बुनियाद पर ही उन्होंने सारे कामकाज किये थे। उन्हे ऐसा मालूम हुआ कि उनको अहिंसा के नतीजो और उसकी परेशानियो का सामना करने को तैयार होना चाहिए।

एक इसी ढग की मुश्किल और ऐसा ही झगडा पहली बार उस वक्त उठा था, जब १९३८ मे म्यूनिख-सकट के साथ लडाई के आने के आसार दिखाई दिये थे। मैं उस वक्त यूरोप मे था और बहस के वक्त मौजूद नही था। लेकिन सकट के टलने और लडाई के मुल्तवी होने के साथ ही यह मुश्किल भी हट गई। जब सितबर, १९३९ मे लडाई शुरू हुई, तो न तो कोई ऐसा सवाल ही उठा और न उस पर बहस हुई। यह तो १९४० की गरमियो के आखिर की बात है कि गाधीजी ने फिर इस बात को स्पष्ट किया कि वह हिंसात्मक लडाई मे साथ नही दे सकते और वह काग्रेस को भी यही सलाह देना चाहेगे कि उस सिलसिले मे उसका भी यही रुख हो। वह नैतिक और हर दूसरे ढग की मदद के लिए राजी थे, लेकिन हिंसात्मक, हथियारबद लड़ाई में खुद शामिल होने के लिए वह तैयार नही थे। वह चाहते थे कि

कांग्रेस आज़ाद हिंदुस्तान मे भी अहिंसा बनाये रखने का अपना ऐलान करे। हा, उन्हे यह मालूम था कि देश मे, यहातक कि खुद कांग्रेस मे भी, ऐसे लोग हैं, जिनका अहिंसा मे भी इतना विश्वास नही है। वह इस बात को अनुभव करते थे कि जब आज़ाद हिंदुस्तान में फौजी, समुद्री और हवाई ताकत का सवाल उठेगा, या जब प्रतिरक्षा का सवाल होगा, तो उसकी सरकार अहिंसा को एक तरफ हटा देगी। लेकिन वह चाहते थे कि अगर मुमकिन हो सके, तो कम-से-कम कांग्रेस तो अहिंसा के झडे को ऊचा उठाये रखे, और इस तरह आदमियो को सिखाये और उनके ऐसे विचार बनाये कि वे दिन-ब-दिन ज्यादा शातिपूर्ण उपायो को सोचें। हथियारबद हिंदुस्तान का ध्यान करके वह सहम जाते थे। वह उस हिंदुस्तान का सपना देखते थे, जो अहिंसा का नमूना और प्रतीक होगा और जो अपनी मिसाल से बाकी दुनिया को लडाई और हिंसा से ऊपर उठा देगा। अगर पूरे हिंदुस्तान ने इस विचार को नही अपनाया, तो कम-से-कम इस परख के मौके पर कांग्रेस को उसे छोड नही देना चाहिए।

बहुत अरसे पहले, कांग्रेस ने अहिंसा के उसूल और अमल को अपनाया था कि उससे अपनी आज़ादी की लड़ाई लडी जायेगी और कौम के एके को बनाये रखा जायेगा। किसी वक्त भी वह इस हद से आगे नही बढी थी और उसे बाहर के हमले या अदरूनी अराजकता के लिए कभी लागू नही किया था। सच तो यह है कि हिंदुस्तानी फौज के मामलो मे उसने बहुत दिलचस्पी ली थी और अक्सर यह माग की थी कि उसमे अफसरो की जगहें भारतीयो को ही दी जायें। केंद्रीय असेंबली की कांग्रेस पार्टी ने अक्सर इस मामले मे तजवीज़ पेश की थी या उस पर बहस के मौको मे हिस्सा लिया था। १९२०-३० के बीच मे पार्टी के नेता की हैसियत से, मेरे पिताजी ने स्कीन कमेटी की मेंबरी को मजूर किया। इस कमेटी को हिंदुस्तानी फौज के पुनर्संगठन और भारतीयकरण पर विचार करने के लिए बनाया गया था। उन्होंने बाद मे इससे इस्तीफा दिया। लेकिन उसकी वजह राजनैतिक थी और उसका अहिंसा से कोई ताल्लुक नही था। १९३७-३८ मे सूबो की सरकारों से सलाह लेकर कांग्रेस पार्टी ने केंद्रीय असेंबली मे एक प्रस्ताव रखा। इसमे हिंदुस्तानी फौज को बढाने, उसको ज्यादा-से-ज्यादा वैज्ञानिक ईजादो का फायदा उठाकर हथियारबद बनाने और उसकी न के बराबर हवाई और समुद्री ताक़त को बढाने और जल्दी-से-जल्दी ब्रिटिश फौजो की जगह हिंदुस्तानी फौजो को रखने की बाबत कहा गया था। चूकि हिंदु-स्तान मे ब्रिटिश फौजियो पर हिंदुस्तानी फौजियो के मुकाबले मे चौगुना खर्च

था, इसलिए ऊपर के प्रस्ताव को अमल मे लाने के लिए किसी बाहरी खर्च की ज़रूरत न होती। म्यूनिख के सकट के दौरान मे फिर हवाई ताकत को बढाने की अहमियत बताई गई, लेकिन सरकारी जवाब मे कहा गया कि विशेषज्ञो की इस मामले मे अलग-अलग राये थी। १९४० मे काग्रेस पार्टी ने खासतौर पर केंद्रीय असेंबली की कार्रवाइयो मे हिस्सा लिया और ऊपर की मागो को फिर दुहराया और बताया कि हिंदुस्तान की हिफाज़त के लिए इतज़ाम करने मे सरकार और फौजी महकमे कितने निकम्मे हैं।

जहातक मुझे याद पडता है, फौज, समुद्री और हवाई ताकत के सवाल पर, या पुलिस के सवाल पर भी अहिंसा को ध्यान मे रखते हुए कभी भी नही सोचा गया। यह बात तो मानी हुई थी कि वह तो सिर्फ हमारी आज़ादी की लडाई के दायरे मे ही लागू थी। यह सच है कि हमारे सोच-विचार करने के ढग पर उसका काफी असर था और इसी वजह से काग्रेस दुनिया-भर के निश्शस्त्रीकरण की ज़ोरो से हामी करती थी और चाहती थी कि राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय झगडो का शातिपूर्वक हल किया जाय।

जिस वक्त सूबो मे काग्रेसी सरकारें काम कर रही थीं, उस वक्त उनमे से ज़्यादातर यूनिवर्सिटियो और कालेजो मे फौजी शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए ख्वाहिशमद थी। इस मामले मे भारत-सरकार ने अडचनें डाली, उसने इस चीज़ को नामजूर किया।

इसमे शक नही कि गाधीजी इस वहाव को पसद नही करते थे, लेकिन उन्होने कोई दखल नही दिया। उनको तो दगे दबाने के लिए भी हथियार-बद पुलिस का इस्तेमाल पसद न था और उस सिलसिले मे उन्होंने अपनी परेशानी ज़ाहिर की। लेकिन मुकाबले मे कम बुरी बात समझकर उन्होने उसे बरदाश्त किया और उम्मीद ज़ाहिर की कि उनकी सीख धीरे-धीरे हिंदुस्तान मे अपनी जड जमा लेगी। काग्रेस के ऐसे झुकाव को नापसद करने की ही वजह से उन्होने १९३४ मे काग्रेस की सदस्यता से भी नाता तोड लिया, हालाकि इसके बाद भी वह काग्रेस के सलाहकार और उसके निर्विवाद अगुआ बने रहे। हम सबके लिए यह एक अजीब-सी, एक असतोष की स्थिति थी, लेकिन शायद इससे उन्होने यह महसूस किया कि निजी तौर पर काग्रेस के विभिन्न फैसलो के लिए वह जिम्मेदार नही थे—उन फैसलो के लिए—जो उनके उसूल और उनके खयालो से मेल नही खाते थे। उनके दिल मे बराबर एक द्वद्व चलता रहा है। हमारी राष्ट्रीय राजनीति भी हिंदुस्तान तक सीमित नही रही, बल्कि वह दुनिया के लिए, सारे मानव-समाज के लिए रही है। उसके सामने गाधीजी के दो स्वरूप रहे हैं, एक राष्ट्रीय नेता

का रूप और दूसरा दुनिया को सदेश देनेवाले का रूप। इसीलिए यहा कौमी राजनीति मे भी एक द्वंद्व चलता रहा है। पूर्ण सत्य के अक्षरश पालन मे और जीवन मे उसके व्यवहार मे मेल करना कभी भी आसान नही है और वह भी खासतौर पर राजनैतिक जीवन मे। आमतौर पर लोगो को इस बारे मे कोई परेशानी नही होती। अगर सत्य कुछ थोडा-बहुत हो भी, तो उसे वे दिमाग के एक कोने मे रख देते हैं, और और रास्ता अख्तियार करते हैं, जिससे कामयाबी हासिल हो सके। राजनीति मे तो यह आम रवैया है। उसकी वजह सिर्फ यही नही है कि बदकिस्मती से राजनीतिज्ञ एक अजीब किस्म के मौकापरस्त होते हैं, बल्कि इसलिए कि वे सिर्फ जाती तौर पर कुछ नही कर सकते। उनको दूसरो से काम लेना होता है, इसलिए उन्हें दूसरो की कमियो और उनकी सचाई को समझ सकने की ताक़त का खयाल रखना पडता है। इसकी वजह से उन्हे थोडा-सा सत्य छोड़कर भी समझौता करना पडता है और परिस्थिति के अनुकूल बनना पड़ता है। यह चीज लाज़िमी हो जाती है, लेकिन उसके साथ हमेशा खतरा मिला रहता है। सत्य को छोड सकने की बात बढती जाती है और आगे चलकर सिर्फ़ कामयाबी ही अकेली कसौटी रह जाती है।

कुछ उसूलो मे चट्टान-जैसा दृढ विश्वास होते हुए भी गाधीजी मे दूसरे आदमियो के या बदलती हालतो के अनुकूल होने की, उनकी खासतौर से आम जनता की ताकत और कमजोरियो का खयाल रखने की, और यह देख पाने की कि उनके सत्य मे वह जनता कितना साथ देगी, एक बहुत बडी सामर्थ्य है। लेकिन समय-समय पर वह सावधान हो जाते हैं, मानो उन्हे यह डर हुआ हो कि समझौते मे वह जरूरत से ज्यादा आगे निकल गये हैं, और फिर वह अपनी जगह वापस आ जाते हैं। काम के बीच में भी वह जनता के दिमाग के सुर को पहचान सकते हैं, उसकी उचित प्रतिक्रिया उनमे होती है और इस तरह कुछ हदतक उसके अनुकूल हो सकते हैं, और असली बातो से दूर मालूम होते हैं। उनके कामो और उनके लेखो मे भी वही फर्क दिखाई पडता है। इससे उनके अपने आदमी भी उलझन मे पड जाते हैं। यह उलझन उन लोगो के लिए और भी ज्यादा होती है, जो बाहर के हैं और हिंदुस्तान की पृष्ठभूमि को नही समझते।

एक अकेला आदमी एक कौम के विचारो को और उसके आदर्शों को कितना बदल सकता है, यह कहना मुश्किल है। इतिहास मे कुछ लोगो ने बहुत जोरदार असर डाला है, लेकिन यह हो सकता है कि जो कुछ उन्होंने कहा, वह यहा पहले से मौजूद था, या हो सकता है कि उन्होंने इस युग के

धुधले विचारो को स्पष्ट और निश्चित रूप मे रख दिया। वर्तमान युग मे हिंदुस्तान के दिमाग़ पर गाधीजी का बहुत बडा असर हुआ है; किस शक्ल मे और कबतक यह असर रहेगा, यह तो भविष्य ही बता सकता है। यह असर उन लोगो तक ही सीमित नही है, जो उनसे सहमत हैं या उनको कौमी का नेता मानते हैं। यह असर तो उन लोगो मे भी फैला हुआ है, जो उनसे मतभेद रखते हैं और उनकी नुक्ताचीनी करते हैं। हिंदुस्तान मे बहुत कम लोग ही उनकी अहिंसा के उसूल या उनकी आर्थिक विचारधारा से पूरी तरह सहमत हैं, लेकिन किसी-न-किसी शक्ल मे ज्यादातर लोगो पर उनका असर ज़रूर है। आमतौर पर धार्मिक भाषा मे बोलते हुए उन्होने रोज़मर्रा की ज़िंदगी के सवालो और राजनैतिक सवालो पर नैतिक ढग से सोचने के लिए ज़ोर दिया है। धार्मिक पृष्ठभूमि का उन पर असर खासतौर पर हुआ, जिनका इस तरफ झुकाव था, लेकिन नैतिक ढग का असर और लोगो पर भी हुआ। बहुत-से लोगो के कामो मे नैतिकता का दर्जा ऊचा उठ गया है और उससे भी ज्यादा लोग उसे निगाह मे रखते हुए सोच-विचार करते हैं और उन खयालो का अपने-आप ही, काम मे और व्यवहार मे कुछ-न-कुछ असर होता है। राजनीति सिर्फ़ मौकापरस्ती और कामयाबी ही नही रह जाती, जैसी वह आमतौर मर सब जगह रही है। और हर काम और खयाल के पहले एक नैतिक द्वद्व रहता है। कामयाबी या जल्दी से सफलता पाने की बात कभी भी भुलाई नही जा सकती, लेकिन दूर की और चारो तरफ की बातो को ध्यान मे रखकर उसमे मुलायमियत ज़रूर आ जाती है।

इन अलग-अलग दिशाओ मे गाधीजी का असर समा गया है और उसकी छाप मौजूद है। लेकिन यह अहिंसा का उसूल या आर्थिक विचार-धारा की वजह नही है कि वह हिंदुस्तान के सबसे बडे और प्रमुख नेता हो गये है। हिंदुस्तान की बहुत बड़ी आबादी के लिए वह हिंदुस्तान के आज़ाद होने के पक्के इरादे के, उसकी प्रबल राष्ट्रीयता के, अक्खडपन के आगे सिर न झुकाने के, और राष्ट्रीय अपमान से मिली हुई किसी चीज़ के लिए राज़ी न होने के प्रतीक हैं। सैकडो मामलो मे बहुत-से लोग उनसे सहमत न हो, वे उनकी आलोचना करें और किसी खास सवाल पर उनसे अलग हो जायें, लेकिन जब लडाई का वक्त आता है और जब हिंदुस्तान की आज़ादी का दाव लगा होता है, तो लोग उनके पास दौडकर आते है और उन्हे अपना ऐसा नेता मानते हैं, जिसके बिना कुछ हो ही नही सकता।

जब १९४० मे लड़ाई और आज़ाद हिंदुस्तान के सिलसिले मे गाधी-

जी ने अहिंसा का सवाल उठाया, तो काग्रेस कार्यसमिति ने झिझक छोडकर बहस की। समिति ने यह साफ कर दिया कि वह उनके साथ उस हद तक जाने मे असमर्थ है, और न समिति बाहरी मामलो मे इस उसूल को लागू करने के लिए हिंदुस्तान को या काग्रेस को बाध सकती है। इस सवालपर खुले और निश्चित रूप मे उनसे नाता टूट गया। दो महीने बाद और ज्यादा बहस का नतीजा यह हुआ कि दोनो का मान्य एक नीति निकल आई और वह काग्रेस-महासमिति के प्रस्ताव मे पास हो गई। उस नीति मे गाधीजी का रुख पूरी तरह से नही आया था। उसमे तो सिर्फ उतनी ही बात थी, जिसको गाधीजी ने काग्रेस को आगे बढने देने के लिए आधे मन से मजूर कर लिया था। उस वक्त ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय सरकार की बुनियाद पर काग्रेस के लडाई मे साथ देने के सबसे ताजे प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। किसी-न-किसी ढग की लडाई नजदीक आती जा रही थी और वह लाजिमी हो गई थी। गाधीजी और काग्रेस, दोनो एक-दूसरे की तरफ देख रहे थे, और उनकी बराबर यह ख्वाहिश थी कि उनके बीच की अडचन को दूर करने का कोई रास्ता निकल आये। इस आपसी समझौते मे लडाई का कोई जिक्र नही था, क्योंकि लडाई मे साथ देने के हमारे प्रस्ताव को हाल ही मे पूरी तरह ठुकरा दिया गया था। उसमे अहिंसा के सिलसिले मे काग्रेस के विचारो की बाबत जिक्र था और उसमे पहली बार यह कहा गया था कि भविष्य मे आजाद हिंदुस्तान के बाहरी मामलो मे उसे किस तरह लागू करना होगा। नीचे उस प्रस्ताव का एक हिस्सा दिया जाता है

"अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी अहिंसा की नीति और अमल मे पूरी तरह विश्वास करती है, आजादी की लडाई मे ही नही, बल्कि जहा-तक मुमकिन हो, आजाद हिंदुस्तान के मामलो मे भी। कमेटी को पक्का इत्मीनान है और हाल की दुनिया की घटनाओ ने यह बात साफ कर दी है कि दुनिया-भर का निश्शस्त्रीकरण जरूरी है। और साथ ही अगर दुनिया को अपने-आपको बरबाद होने से बचाना है और फिर जहालत की हालत को नही पहुचना है, तो यह भी जरूरी है कि एक नया, इन्साफपसद राज-नैतिक और आर्थिक ढाचा सारी दुनिया-भर के लिए कायम हो। इस-लिए आजाद हिंदुस्तान दुनिया-भर के निश्शस्त्रीकरण की हिमायत मे अपना पूरा जोर लगायेगा और दुनिया को इस दिशा मे बढाने के लिए उसे सबसे पहले आगे बढने को तैयार रहना चाहिए। लाजिमी बात है कि आगे कदम उठाना बाहरी बातो और अदरूनी हालतो पर निर्भर होगा, लेकिन सरकार इस निश्शस्त्रीकरण की नीति को अमल मे लाने के लिए भरसक कोशिश

करेगी। सफल निश्शस्त्रीकरण और दुनिया मे शाति की स्थापना के लिए कौमी लडाइया खत्म करनी होगी और उसके लिए असली जरूरत इस बात की है कि लडाई की जड और झगडो के कारण हट जाये। एक मुल्क या एक समुदाय पर दूसरे मुल्क या दूसरे समुदाय का कब्ज़ा और शोषण खत्म करके इन कारणो को जड से उखाड फेंकना चाहिए। उस उद्देश्य के लिए हिंदुस्तान शातिपूर्वक काम करेगा और इसी चीज़ को ध्यान मे रखते हुए हिंदुस्तान की जनता स्वतत्र और स्वावलबी होना चाहती है। दुनिया की शाति और तरक्की के लिए आज़ाद राष्ट्रो के सब के अदर और देशो से मिल-जुलकर काम करने के लिए पहले ऐसी आज़ादी का होना ज़रूरी है।" इस ऐलान से यह ज़ाहिर है कि काग्रेस ने शातिपूर्ण काम और निश्शस्त्रीकरण की जोर से हिमायत करते हुए कई जरूरी बातो और शर्तों पर भी ज़ोर दिया था।

काग्रेस का अदरूनी सकट १९४० मे हल हो गया। उसके बाद हममे से बहुत-से लोगो के लिए एक साल जेल का आया। १९४१ के दिसबर मे फिर वह सकट खडा हो गया, जब गाधीजी ने पूरी अहिसा के लिए ज़ोर दिया। फिर फूट हुई और खुला मतभेद हुआ और काग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और दूसरे लोग गाधीजी के नज़रिये को स्वीकार नही कर सके। यह बात साफ हो गई कि कुल मिलाकर काग्रेस और खुद गाधीजी के कुछ विश्वास-पात्र अनुयायी भी इस मामले मे गाधीजी से इत्तिफाक न करते थे। परिस्थितियो के बहाव और घटनाओ के तेज़ ताते ने हम सब पर (गाधीजी भी हम सबमे शामिल थे) असर डाला, और वह (गाधीजी) काग्रेस पर अपने नज़रिये के लिए ज़ोर देने मे बचते रहे। अगरचे उन्होने काग्रेस के मत को पूरी तरह कुबूल नही किया था, गाधीजी ने इस सवाल को काग्रेस मे और किसी दूसरे मौक़े पर नही उठाया। बाद मे, जब अपनी तजवीज़ो को लेकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स आये, अहिसा का कोई सवाल ही नही था। उनके प्रस्ताव तो सिर्फ राजनैतिक नज़रिये से देखे गये। बाद के महीनो में, धीरे-धीरे अगस्त ,१९४२ तक गाधीजी की राष्ट्रीय भावनाओ और स्वतत्रता की तीव्र इच्छा ने गाधीजी से यह भी मजूर करा लिया कि अगर हिंदुस्तान को आज़ाद देश की तरह काम करने की हैसियत हो, तो काग्रेस लडाई मे शामिल हो सकती है। उनके लिए एक बहुत बडा आश्चर्यजनक परिवर्तन था, जिसमे मानसिक पीडा थी, और एक आत्मिक कराह थी। एक तरफ अहिसा का सिद्धात था, जो उनकी रग-रग मे समाया हुआ था और ज़िंदगी मे जिसे वह पकडे हुए थे, और दूसरी तरफ हिंदुस्तान

की आजादी थी, जो उनकी प्रबल और प्रमुख कामना थी। इन दोनो की आपसी खीचा-तानी मे पलडा आजादी की तरफ झुक गया। इसके मानी ये नही हैं कि अहिंसा मे उनकी निष्ठा कम हो गई। लेकिन इसके मानी ये जरूर थे कि वह इस बात के लिए तैयार हो गये कि काग्रेस उसे इस लडाई मे लागू न करे। यथार्थवादी राजनीतिज्ञ ने कट्टर पैगबर पर जीत हासिल की।

गाधीजी के मन मे जब-तब होनेवाली इस कश-मकश को मैंने देखा है, और उस पर सोचने की कोशिश की है। उसमे बहुत-से आपस मे अत-विरोध दिखाई देते हैं। मुझ पर और मेरे काम पर उसका गहरा असर पडा है। और तब मुझे लिडेल हार्ट की एक किताब का उद्धरण याद आया है—"जहा एक दिमाग का दूसरे दिमाग पर असर डालने का मौका होता है, वहा घुमा-फिराकर हल पेश करने का खयाल बरबस आता है, और इन्सान के इतिहास मे यह एक बहुत बडा असर रखनेवाली बात है। लेकिन इसका एक दूसरे खयाल से मेल बिठाना मुश्किल हो जाता है, और वह यह कि सही नतीजे उसी वक्त मुमकिन हैं, जब सत्य की तलाश नतीजो की तरफ से लापरवाह होकर की जाये।

"इन्सान की तरक्की के लिए जो बडे-बडे काम पैगबरो ने किये हैं, इतिहास उनका गवाह है। यह गवाही असली व अमली अहमियत रखती है, जिसमे सत्य को बिला झिझक सामने रखा गया है। फिर भी यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि उस दिमागी नकशे को मानने और फैलाने का काम एक दूसरी किस्म के लोगो पर निर्भर रहा है, जिनको नेता कहा जाता है। इनको दार्शनिक होते हुए अपनी लडाई लडनी थी। इनको आदमी की ग्राह्य शक्ति और सत्य दोनो का ध्यान रखते हुए सफलता पानी थी। अक्सर उसका असर उनकी सत्य को देख पाने की अपनी कमियो और उस सत्य का प्रचार करनेवाली व्यवहार-बुद्धि पर निर्भर होता था।

"पैग़बरो पर पत्थर फेंके जाने चाहिए, उनकी किस्मत मे यही लिखा है, और उनकी निजी तरक्की की यही कसौटी है। लेकिन अगर किसी नेता पर पत्थर पडें, तो उससे सिर्फ यही साबित होता है कि वह अक्ल की कमी से, अपने काम को पैग़बरो से उलझा लेने की वजह से, नाकामयाब रहा है। यह तो वक्त ही बता सकता है कि ऐसी कुरबानी के असर से वह जाहिरा नाकामयाबी से आजाद हो जाता है। यह नाकामयाबी उसकी एक नेता की हैसियत से है, नही तो एक आदमी के नाते तो उसकी इज्जत ही हुई है। कम-से-कम नेताओ की आम गलती से वह बचता है, यानी उस

गलती से, जिसमे मकसद को आखिर मे कोई फायदा पहुचाये विना ही सत्य को उसी वक्त की कामयावी के लिए कुरवान कर दिया जाता है, क्योंकि मसलहत के लिए जो सत्य को आदतन कुचलता है, उसके विचार-गर्भ से एक विकृत पदार्थ का सृजन होगा।

"क्या कोई ऐसा अमली रास्ता है, जिसमे सत्य को पाने और उसके मानने मे मेल हो सके? और उसूलो पर सोच-विचार करने से समस्या का हल दिखाई पडता है। यह उसूल इस वात के महत्व का इशारा करता है कि मकसद को वरावर एक मिलसिले मे रखा जाये और उसके लिए कोशिश करते हुए परिस्थितियो के अनुकूल रखा जाये। सत्य का विरोध होना लाजिमी है, और खासतौर पर उस वक्त, जव वह एक नये खयाल की शक्ल मे आता है। लेकिन इस खिलाफत की तेजी कम की जा सकती है—मकसद पर ध्यान देकर ही नही, वल्कि उसको पाने के ढग पर भी ध्यान देकर। एक लवे अरसे से कायम हालत पर सामने से हमला नही करना चाहिए, वल्कि उसकी जगह वगल से हमला होना चाहिए, ताकि सत्य को अदर ले जाने के लिए एक ऐसा रास्ता खुल जाये, जिसमे कम-से-कम रुकावट हो। लेकिन किसी भी ऐसी कोशिश मे, जो घुमा-फिराकर की गई है, इसकी सावधानी रखनी है कि कही सत्य से विछोह न हो जाये, क्योकि उसकी असली तरक्की मे झूठ से ज्यादा खतरनाक और कोई चीज नही है। . विभिन्न नये विचार जिस तरह माने गये हैं, उन स्तरो की ओर देखते हुए यह देखा जा सकता है कि जव वे एक आमूलचूल विचार की जगह वहुत अरसे से मान्य सिद्धातो या अमल को, जो भुला दिये गये थे, मौजूदा जमाने के नये वाने मे लिपटे विचारो की तरह पेश किये गये, तो यह प्रक्रिया आसान हो गई। इसमे जरूरत धोखे की नही थी, वल्कि जरूरत थी सववो को सावधानी से खोज निकालने की, क्योंकि 'सूरज के नीचे कोई चीज नई नही है'।"[1]

७ : तनाव

१९४२ के उन शुरू के महीनो मे हिंदुस्तान मे तनाव वढा। युद्धक्षेत्र दिन-व-दिन ज्यादा नजदीक आ रहा था और अव हिंदुस्तान के शहरो पर हवाई हमलो की समावना थी। जहा लडाई पूरे जोरो से चल रही थी, उन पूर्वी देशो मे क्या होगा? हिंदुस्तान और इग्लिस्तान के रिश्ते मे क्या नया फर्क आयेगा? क्या हम एक-दूसरे की तरफ घूरते हुए, पुराने ही ढग से वढे चलेगे? क्या हम पिछले इतिहास की तीखी याद से लिपटे हुए एक-

[1]: 'स्ट्रेटजी ऑव इनडायरेक्ट एप्रोच' (१९४१) भूमिका।

दूसरे से अलहदा रहेंगे? क्या हम एक ऐसी बदकिस्मती के शिकार बने रहेंगे, जिसको कोई मिटा नहीं सकता? क्या आपस का खतरा हमारे बीच की खाई को पाट देगा? यहांतक कि बाजारों में भी उत्तेजना की एक लहर दौड़ गई और तरह-तरह की अफवाहें फैलने लगीं। पैसेवाले लोगों को भविष्य से, जो तेजी से उनकी तरफ बढ़ता आ रहा था, डर मालूम होता था, क्योंकि चाहे और जो कुछ हो, उस भविष्य में सामाजिक नक्शा पलट जायगा, यह बात बहुत मुमकिन थी। उस ढांचे के वे आदमी थे। उसके पलटते ही उनके स्वार्थ, उनकी खास हैसियत खतरे में पड़ जाती। किसान या मजदूर को ऐसा कोई डर नहीं था, क्योंकि उसके पास खोने को था ही क्या! अपनी मौजूदा दुखभरी हालत में उनके लिए हर एक तब्दीली अच्छी ही होती।

हिंदुस्तान में चीन के लिए बराबर हमदर्दी रही थी और इसीलिए जापान से नाराजी रही थी। शुरू में यह खयाल किया गया कि प्रशांत महासागर की लड़ाई में चीन को कुछ राहत मिलेगी। साढ़े चार साल से चीन जापान से अकेला ही लड़ रहा था, अब उसके साथ बहुत ताकतवर देश थे और लाजिमी था कि इससे उसका बोझ कुछ हल्का होता और उसका खतरा कम होता। लेकिन उन साथियों पर एक के बाद दूसरी भारी चोटें हुईं और एक आश्चर्यजनक तेजी से बढ़ती हुई जापानी फौजों के सामने ब्रिटिश साम्राज्य तहस-नहस होने लगा। तब क्या यह शानदार ढांचा सिर्फ एक कागजी इमारत थी, जिसकी न कोई बुनियाद थी, न कोई अदरूनी मजबूती? लाजिमी तौर से इसके साथ, करीब-करीब आजकल की लड़ाई के साधनों के अभाव में एक लंबे अरसे तक, जो चीन ने जापान का मुकाबला किया था, उसका ध्यान आया। लोगों की निगाह में चीन की कद्र बढ़ गई और हालांकि जापान के लिए कोई हमदर्दी नहीं थी, फिर भी एक एशियाई हथियारबंद ताकत के सामने पुराने, जमे हुए, यूरोपीय ढंग के साम्राज्य के ढांचे को टूटते देखकर संतोष हुआ। जातीय भेद-भाव या पूरबी और एशियाई का खयाल ब्रिटिश लोगों में था। हार और विध्वंस एक तो वैसे ही बुरे लगते, लेकिन इस वाकये से कि एक पूरबी और एशियाई ताकत ने उन पर जीत पाई, उस हार और बेइज्जती का कड़ापन और तीखापन बढ़ गया। एक ऊंचे ओहदेवाले अंग्रेज ने कहा कि अगर 'प्रिंस ऑव वेल्स' और 'रिपल्स' को डुबोनेवाले इन पीले जापानियों की जगह जर्मन होते, तो उसे कहीं कम मलाल होता।

चीनी नेताओं—जनरल लिस्सिमो और मदाम च्यांग काई-शेक का हिंदुस्तान में दौरा एक महत्व की बात थी। सरकारी रवैये से और हिंदुस्तान-सरकार की मर्जी की वजह से, वे आम जनता से मिल-जुल नहीं सके। लेकिन इस

सकट के मौके पर हिंदुस्तान मे उनकी मौजूदगी और हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए उनकी ज़ाहिरा हमदर्दी ने हिंदुस्तान को राष्ट्रीय खोल के बाहर आने मे मदद दी और इस वक्त जिन अतर्राष्ट्रीय सवालो पर दाव लग रहा था, उनकी जानकारी बढी। हिंदुस्तान और चीन को एक करनेवाले धागे और ज्यादा मज़बूत हुए। और इसी तरह चीन और दूसरे मुल्को के साथ मिलकर उससे—जो सभीका दुश्मन था—लडने की ख्वाहिश भी तेज़ हो गई। हिंदुस्तान पर छाये हुए इस खतरे ने राष्ट्रीयता और अतर्राष्ट्रीयता को पास-पास ला दिया, और अब जो कुछ फर्क बाकी था, उसकी वजह थी ब्रिटिश सरकार की नीति।

हिंदुस्तान की सरकार आनेवाले खतरो को पूरी तरह समझती थी, उसके दिमाग मे जल्दी से कुछ-न-कुछ करने की परेशानी और फिक्र रही होगी, लेकिन हिंदुस्तान मे अंग्रेज़ो का ऐसा रवैया था, वे अपनी आदतो के चक्कर मे ऐसे फसे थे, सरकारी लाल फीते से ऐसे बधे हुए थे कि उनके नज़रिये या कामो मे कोई खास फर्क दिखाई नही पडा। उनके ढर्रे मे किसी तनाव की, किसी जल्दी की या कुछ करने की बात ही महसूस नही होती थी। जिस ढाचे के वे नुमाइदे थे, वह किसी दूसरे युग का था और किसी दूसरे मकसद के लिए था। चाहे अंग्रेज़ो की फौज हो या सिविल सर्विस, उनका मकसद तो हिंदुस्तान मे बने रहने और हिंदुस्तानियो की आज़ादी की लडाई को कुचलने का था। इस काम के लिए वे काफी होशियार थे। लेकिन एक ताकतवर दुश्मन के साथ आधुनिक ढग से लडाई एक बिलकुल ही दूसरी चीज़ थी। उनके लिए अपने-आपको उसके अनुकूल बनाना बहुत मुश्किल मालूम हुआ। दिमागी सतह पर इसके लिए वे नामोज़ू ही नही थे, बल्कि उनकी ज्यादातर शक्तिया हिंदुस्तान की राष्ट्रीयता को दबाने मे खत्म हो जाती थी। बरमा और मलाया की हुकूमतो का खत्म होना एक बहुत बडी और आखें खोलनेवाली बात थी, लेकिन उससे इन्होने कोई सबक नही सीखा। बरमा पर भी हिंदुस्तान की तरह सिविल सर्विस की हुकूमत थी। असलियत तो यह है कि कुछ साल पहले तक वह हिंदुस्तान की हुकूमत का ही हिस्सा था। वहा की सरकार का ढर्रा बिलकुल वही था, जो हिंदुस्तान की सरकार का था और बरमा ने यह साफ बता दिया था कि इस तरीके मे अब बिलकुल दम नहीं रहा है। फिर भी बिना किसी परिवर्तन के वह ढर्रा चालू रहा, वाइसराय और बडे-बडे अफसर पहले की तरह काम करते रहे। उन्होने अपने दल मे उन कितने ही बडे अफसरो को शामिल कर लिया, जो बरमा मे बुरी तरह नाकामयाब साबित हुए थे. एक और महामहिम शिमला मे पहाड की चोटिया पर थे।

लदन मे निर्वासित सरकारो की तरह हम पर भी एक ऐसी सरकार की इनायत की गई, जो ब्रिटिश नौआबादियो के निर्वासित अफसरो से बनी थी। हाथ के दस्ताने की तरह वे हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार के ढाचे पर चुस्त हो गये।

रगमच की छायाओ की तरह ये बडे अफसर अपने पुराने तौर-तरीको पर चलते रहे। अपने लबे-चौडे शाही ढर्रे, दरबारी रस्मो, दरबारो, कवायदो, दावतो और लबी-चौडी बातो से उन्होने हम पर रोब डालने की कोशिश की। नई दिल्ली मे वाइसराय का घर वह खास मदिर था, जहा सबसे बडा पुजारी बैठा था, लेकिन उसके अलावा कई मदिर और कई पुजारी और थे। यह सारी शान और शाही दिखावा हमारी हिंदुस्तानी जनता पर रोब डालने के लिए था और पहले वक्तो मे इसका असर भी हुआ, क्योकि खुद हिंदुस्तानी रस्म और सजावट के आदी हैं। लेकिन अब नया मापदड हो गया था, चीजो की हैसियत मे फर्क आ गया था और अब यह सरकारी तमाशा एक हसी की, एक मजाक की चीज मालूम दी। हिंदुस्तानियो को धीरे-धीरे बदलनेवाला, तेजी और जल्दबाजी को नापसद करनेवाला कहा जाता है, लेकिन उनमे भी अपने काम के लिए एक तेजी और ताकत आगई थी और उसकी वजह यह थी कि काम को पूरा करने की उनकी ख्वाहिश बेहद तेज हो उठी थी। काग्रेसी सूबाई सरकारो मे, चाहे उनकी कमिया कुछ भी रही हो, कुछ करने की उत्सुकता थी और उन्होने बराबर मेहनत से काम किया और पुराने ढर्रों की परवाह नही की। हिंदुस्तान की सरकार और उसके एजेंटो की भयकर सकट और खतरे के सामने सुस्ती और चुप्पी देखकर बडी झुझलाहट होती थी।

और तब अमरीकी लोग आये। वे काफी जल्दी कर रहे थे और काम को पूरा करने की फिक्र मे थे। वे हिंदुस्तान-सरकार के रवैये और ढर्रों से अपरिचित थे और साथ ही उनको सीखने के लिए उनकी इच्छा भी नही थी। देर को बरदाश्त न कर सकने की वजह से उन्होने अडचनो और चापलूसियो को एक तरफ हटा दिया, यहातक कि नई दिल्ली की जिदगी का बहाव भी बिलकुल बदल गया। उन्हे इस बात के लिए फुरसत नही थी कि किस वक्त कौनसी पोशाक पहनी जाये, और कभी-कभी सरकारी ढग मे और अदाज मे इससे बहुत बडा धक्का पहुचा और उससे शिकायतें हुईं। जो मदद वे दे रहे थे, उसका तो स्वागत बहुत था, लेकिन सबसे ऊपर के अफसरी हलको मे उससे चिढ थी और इस तरह रिश्तो मे कुछ तनाव आ गया। कुल मिलाकर हिंदुस्तानियो को उनकी बातें पसद थी। काम के लिए उनका जोश और उनकी कुव्वत तो बेहद असर डालनेवाली चीज थी। इसका

मिलान हिंदुस्तान के ब्रिटिश पदाधिकारियो मे इसके अभाव से किया गया। उनके खुले और सीधे ढग को और गैर-हुक्कामी तरीको को पसद किया गया। सरकारी हलको और इन आगतुको के बीच इस तनाव पर मन-ही-मन मुस्कराहट थी और इस बारे मे बहुत-सी झूठी और सच्ची कहानिया दुहराई गई।

लडाई के नजदीक आने से गाधीजी भी बहुत परेशान हुए। उनकी अहिसा की नीति और उसके कार्यक्रम मे इन नई घटनाओ का मेल बिठाना आसान नही था। यह बात साफ थी कि देशपर हमला करनेवाली फौज की मौजूदगी मे या आपस मे लडती हुई फौजो की हालत मे सविनय अवज्ञा का कोई सवाल ही नही था। निष्क्रियता या हमले के लिए सिर झुकाना भी मुमकिन नही था। तब क्या हो ? उनके निजी साथी भी और काग्रेस खासतौर से, इस मौके के लिए या हमले की सशस्त्र खिलाफत की जगह अहिसा को नामजूर कर चुकी थी। और तब आखिरकार उन्होने इस बात को माना कि काग्रेस को ऐसा करने का अधिकार था। लेकिन फिर भी वह परेशान थे और निजी तौर पर किसी हिसात्मक कारंवाई मे साथ नही दे सकते थे। लेकिन वह सिर्फ एक व्यक्ति ही नही थे। राष्ट्रीय आदोलन मे कानूनी तौर पर उनका कोई पद न हो, लेकिन उनकी स्थिति सबसे ऊपर और सबसे ज्यादा असर रखनेवाली थी और उनके शब्दो का बहुत लोगो पर बडा असर था।

गाधीजी हिंदुस्तान को, खासतौर से उसकी जनता को, जानते थे—इतनी अच्छी तरह, जितना शायद ही कोई और आदमी पिछले वक्त मे या मौजूदा वक्त मे उसे समझता हो। सिर्फ यही बात नही थी कि वह सारे हिंदुस्तान मे बहुत घूमे थे और करोडो आदमियो के सपर्क मे आये थे, बल्कि कुछ और भी ऐसी बात थी कि जिसकी वजह से वह जनता की भावनाओ के सपर्क मे आ सके। वह अपने-आपको जनता मे घुला-मिला सकते थे, और उसके दुख-सुख को महसूस कर सकते थे और चूकि जनता इस बात को जानती थी, इसलिए उसकी श्रद्धा और सहयोग गाधीजी को हासिल थे। फिर भी हिंदुस्तान की बाबत उनके दिमाग़ के नक्शे मे उस नजरिये की भी झलक थी, जो उन्होंने शुरू के दिनों में गुजरात मे बना लिया था। गुजराती खासतौर से शातिपूर्वक व्यापार करनेवाले सौदागर लोग थे, और उनपर जैन-धर्म के अहिसा के सिद्धात का असर था। हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सो पर उसका बहुत कम असर था और कुछ पर तो बिलकुल ही नही था। चारो तरफ क्षत्रियो मे इसका बिलकुल असर नही था और लडाई मे या जगली जानवरो के शिकार मे कोई रुकावट नही थी। और दूसरे समुदायो मे, जिनमे ब्राह्मण भी शामिल थे, कुल मिलाकर इसका बहुत कम असर हुआ। किंतु गाधीजी

ने हिंदुस्तान के इतिहास और विचारधारा का वह नज़रिया अपनाया, जिसमे अच्छी चीज़ो को छाट लिया गया था और बुरी चीज़ो को छोड दिया गया था। उनका विश्वास था कि अहिंसा का सिद्धात इस नज़र से बुनियादी था, हालाकि उसमे बहुत-से अपवाद थे। कुछ लोगो को यह एक खीचातानी से निकाला हुआ नतीजा मालूम दिया और वे इसको मानने को तैयार नही हुए। मानव जाति के मौजूदा दौर मे अहिंसा की उपयोगिता से इसका कोई सरोकार न था। लेकिन हा, उससे यह पता ज़रूर लगता था कि गाधीजी के दिमाग मे क्या ऐतिहासिक पूर्वाग्रह थे।

भूगोल के इत्तिफ़ाको ने कौमी इतिहास और विशेषताए निश्चित करने मे काफ़ी असर डाला है। यह वाकया कि हिंदुस्तान हिमालय की बडी भारी दीवार से और समुद्र की वजह से बाहर से कटा रहा, एक ख़ास असर लाया। उसकी वजह से इस लंबे-चौडे प्रदेश मे एक इकाई की, एक अलग सत्ता की, भावना पैदा हुई। इस विस्तृत प्रदेश मे एक सजीव और मिली-जुली सभ्यता फली-फूली, जिसमे फैलाव और तरक्की के लिए बहुत बडी गुजाइश थी, और जिसमे एक सुदृढ सास्कृतिक एका बराबर बना रहा। फिर भी उस एके मे भूगोल ने विभिन्नता ला दी। उत्तर मे और मध्य मे हिंदुस्तान के मैदानो मे और दक्खिन के पठारी इलाको मे एक फ़र्क था। और अलग-अलग हिस्सो मे रहनेवाले आदमियो मे अलग-अलग विशेषताए पैदा हुई। इतिहास का बहाव भी उत्तर और दक्षिण मे अलग-अलग रहा। हा, कभी-कभी वे एक दूसरे से मिल गये और एक हो गये। रूस की तरह उत्तरी हिंदुस्तान मे ज़मीन के सपाट होने की वजह से और खुली जगह होने से एक ताकतवर मरकज़ी सरकार की ज़रूरत हुई, ताकि बाहरी दुश्मनो से हिफ़ाज़त हो सके। उत्तर और दक्खिन, दोनो ही मे, साम्राज्य रहे, लेकिन असल मे साम्राज्य का केंद्र उत्तर मे रहा और उसकी हुकूमत दक्खिन मे भी रही। पुराने वक्तो मे ताकतवर मरकज़ी सरकार के मानी थे एक आदमी की हुकूमत। यह सिर्फ़ इतिहास मे एक सयोग की ही बात नही है कि मुग़ल-साम्राज्य को कुछ और वजहो के साथ ख़ासतौर मे मराठो ने तोड दिया। मराठे दक्खिन के पठारी प्रदेशो मे रहनेवाले थे और उनमे उस वक्त भी कुछ आज़ादी की बू बची हुई थी, जब उत्तर के मैदानो मे रहनेवाले ग़ुलाम हो चुके थे और सिर झुकाने लगे थे। अंग्रेज़ो की बगाल मे आसानी से जीत हुई और उन उपजाऊ मैदानो के आदमी एक असाधारण दब्बूपन के साथ सिर झुकाने लगे। अंग्रेज़ अपने-आपको वहा जमाकर और तरफ़ फैलने लगे।

भूगोल का असर अब भी है और आगे भी रहेगा। लेकिन अब कुछ

और ऐसी चीजें हैं, जिनका बहुत ज्यादा असर होता है। पहाड और समुद्र अब रुकावटें नही हैं, लेकिन उनसे वहा के निवासियो की विशेषताओ और देश की राजनैतिक और आर्थिक हैसियत का फैसला अब भी होता है। बट-वारे, अलहदा होने या एक होने की योजनाओ मे हम उन्हे आखो से ओझल नही कर सकते, जबतक कि योजनाए सारी दुनिया के पैमाने पर न बनें।

हिंदुस्तान और हिंदुस्तान के आदमियो की बाबत गाधीजी की जान-कारी बहुत गहरी और बहुत ज्यादा है। हालाकि मामूली तौर पर उन्हे इति-हास मे कोई दिलचस्पी नही और न इतिहास के लिए या उसे जाचने और समझने के लिए उनमे वह भावना ही है, जो कुछ लोगों मे होती है, लेकिन उन बुनियादी इतिहास की बातो को, जिनका हिंदुस्तानियो पर असर है, वह पूरी तरह से और अच्छी तरह से जानते हैं। मौजूदा घटनाओ के बारे मे उन्हे बहुत अच्छी जानकारी रहती है, और उनपर उनका ध्यान बराबर रहता है। लेकिन लाज़िमी तौर पर मौजूदा हिंदुस्तान के सवालो पर उनका सारा ध्यान रहता है। किसी सवाल का, किसी उलझन का, बेकार की बातो को छोडकर तत्त्व छाट लेने की उनमे बडी सूझ है। जिसे वह नैतिक पहलू कहते हैं, उसकी कसौटी पर जाचकर वह चीज को चारो तरफ से देख पाते हैं और उसकी असलियत को पकड पाते हैं। बर्नार्ड शॉ ने कहा है कि वह (गाधीजी) चाल मे चाहे कैसी ही ग़लती कर बैठें, लेकिन उनका असली तरीका बराबर सही बना रहा है। लेकिन ज्यादा लोगो की दूर की चीज़ो मे दिलचस्पी नही होती, उनकी खास नज़र वक्ती फायदे पर रहती है।

८ : सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स का हिंदुस्तान में आना

पेनाग और सिगापुर के पतन के बाद, और ज्यो-ज्यो जापानी मलाया मे बढते गये, वहा से हिंदुस्तानी और दूसरे लोग भागे और सब हिंदुस्तान मे आये। उनको एकदम ही भागना पडा था और इसलिए अपने बदन के कपडो के अलावा उनके पास कुछ नही था। फिर बरमा से हिफाज़त के लिए भाग-कर आये लाखो आदमियो की बाढ आई, और उनमे ज्यादातर हिंदुस्तानी थे। यह कहानी कि किस तरह से मुल्की अधिकारियो ने और दूसरे अफसरो ने उनका ऐन मौके पर साथ छोड दिया और न उनके लिए भागने और न वहा से हटने का कोई इतज़ाम था, हिंदुस्तान मे चारो तरफ फैल गई। उन्होंने सैकडो मीलो का पहाडो का घने जगलो का रास्ता पार किया। दुश्मन से वे घिरे हुए थे। रास्ते मे बहुत-से लोग मर गये—कुछ छुरो से, कुछ बीमारी से और कुछ भूख से। लडाई का यह भयानक नतीजा था और कोई चारा नही था। लेकिन यह वजह लडाई की नही थी कि हिंदुस्तानी भागनेवालो मे और

ब्रिटिश भागनेवालो मे भेद-भाव किया गया। ब्रिटिश लोगो की जितनी मुमकिन हो सकती थी, मदद की गई और उनके लिए रेल और जहाज़ी सफर का इतज़ाम किया गया। बरमा की एक जगह से, जहा बहुत-से लोग इकट्ठे थे, हिंदुस्तान के लिए दो सडके थी। जो ज्यादा अच्छी था, ब्रिटिश लोगो और यूरोपीयो के लिए कर दी गई और उसका नाम 'व्हाइट रोड' (गोरे लोगो की सडक) पड गया।

जातीय भेद-भाव और लोगो की तकलीफ की दर्दभरी कहानिया हम लोगो तक आईं और जो ज़िंदा बचे वहा से भागे लोग हिंदुस्तान-भर मे फैले, तो उनके साथ ही वे कहानिया थी, और हिंदुस्तानी दिमाग पर उसका गहरा असर था।

ठीक उसी मौके पर सर स्टैफर्ड क्रिप्स हिंदुस्तान मे ब्रिटिश वार कैबिनेट (ब्रिटिश युद्ध-मत्रिमडल) के प्रस्ताव लेकर आये। उन प्रस्तावो पर पिछले ढाई साल मे पूरी तरह बहस हो चुकी है और वे प्रस्ताव एक बीते ज़माने की-सी चीज़ मालूम पडते हैं। एक ऐसे आदमी के लिए, जिसने उस समझौते की कोशिश मे काफी हिस्सा लिया, उस पर कुछ विस्तार से चर्चा करते हुए कुछ बातो को न कहना और किसी आगे के मौके के लिए छोड देना आसान नही है। असल मे उस सिलसिले के खास-खास सवाल और खयालात आम जनता के सामने आ चुके हैं।

मुझे याद है, जब मैंने इन प्रस्तावो को पहली बार पढा, तो मुझे बहुत मायूसी हुई। उस मायूसी की खास वजह यह थी कि मैंने सर स्टैफर्ड क्रिप्स से उस वक्त की नाज़ुक हालत देखते हुए कुछ ज्यादा तत्त्व की चीज़ की उम्मीद की थी। लेकिन जितनी बार मैंने उन प्रस्तावो को पढा और उन पर गहराई से सोच-विचार किया, मेरी मायूसी उतनी ही ज्यादा होती गई। हिंदुस्तान की हालत से बेखबर आदमी को तो ऐसा मालूम होता कि उन प्रस्तावो मे हमारी मागो को पूरा करने की काफी कोशिश की गई है। लेकिन जब छान-बीन की गई, तब इतनी खामिया नज़र आईं और शर्तों को देखा, तो उसमे आत्मनिर्णय के अधिकार की स्वीकृति इस तरह जकडी हुई और सकुचित घेरे मे दबी हुई थी कि सारे भविष्य को खतरे मे डालनेवाली थी।

उन प्रस्तावो मे भविष्य का, लडाई खत्म होने के बाद के वक्त का, ही खासतौर से ज़िक्र था। हा, बाद मे एक ऐसा टुकडा और था, जिसमे बहुत अस्पष्ट रूप मे मौजूदा वक्त में सहयोग मागा गया था। उस भविष्य मे आत्म-निर्णय के सिद्धात पर सूबो को हिंदुस्तानी सघ से अलग एक नया आज़ाद सघ कायम कर सकने का अधिकार था। इसके अलावा हिंदुस्तानी

संघ से अलहदा हो सकने का हक हिंदुस्तानी रियासतो को भी दिया गया था। यह बात खयाल रखने की है कि हिंदुस्तान मे ६०० से ज्यादा ऐसी रियासतें है। इनमे कुछ तो बडी हैं, लेकिन ज्यादातर तो बहुत छोटी है। ये रियासतें और ये सूबे सविधान बनाने मे हिस्सा लेते, सविधान पर असर डालते और बाद मे उससे बाहर निकल सकते थे। सारी पष्ठभूमि मे अलहदा होने की बू थी, और राजनैतिक और आर्थिक समस्याओ को एक गौण स्थान मिलता। प्रतिक्रियावादी तत्त्व, जिनमे बहुत-से आपसी फर्क होते, एक बार मिलकर मजबूत, उन्नतिशील और एक कौमी सरकार की तरक्की को कुचल देते। अलहदा होने की लगातार धमकियो की वजह से सविधान मे बहुत-सी बेजा पाबदिया लग जाती। केंद्रीय सरकार कमजोर और निकम्मी बना दी जाती, लेकिन इतने पर भी वे फिर अलग हो सकते थे और तब बाकी रियासतो और सूबो के लिए फिर एक अमली आईन बनाना मुश्किल होता। सविधान बनानेवाली सस्था के लिए चुनाव मौजूदा साम्प्रदायिक क्षेत्रो से होते। वह एक बदकिस्मती की चीज थी, क्योंकि उसमे पुरानी बटवारे की भावना बनी रहती, लेकिन फिर भी उन परिस्थितियो मे वह लाजिमी थी, लेकिन रियासतो मे चुनाव की बाबत कोई जिक्र नही था, और उनकी नौ करोड की आबादी का बिलकुल भी खयाल नही किया गया था। रियासतो के सामती शासक अपनी आबादी के अनुपात से अपने नुमाइदो को नियुक्त कर देते। इन आदमियो मे कुछ काबिल मत्री हो सकते थे, लेकिन कुल मिलाकर उनमे लाजिमी तौर पर जनता की जगह सामतवादी स्वेच्छाचारी राजा के नुमाइदे होते। सविधान बनानेवाली सभा की करीब चौथाई जगहो पर वे कब्जा करते और अपनी सख्या से उसके फैसलो पर काफी असर डालते। इस असर मे एक चीज और उनकी मदद करती, वह थी उनकी सामाजिक प्रगति के लिहाज से पिछडी हुई हालत और उनकी अलहदा होने की धमकी। सविधान बनानेवाली सस्था चुने हुए और ग़ैर चुने लोगो की एक अजीब खिचडी होती। चुने हुए आदमी साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रो से आते और उनमे कुछ निहित स्वार्थोवाले लोग भी होते, और दूसरे लोग रियासती राजाओ और नवाबो के तैनात किये हुए होते। इसमे भी एक चीज और थी कि आपस मे मिलकर तय की हुई बातो को भी मनवाने के लिए बाद मे कोई दबाव नही डाला जा सकता था। वह असलियत और समझ, जो आपस मे मिल-जुलकर फैसला करने मे होती है, गायब होती। उसके बहुत-से मेबरो का झुकाव बिलकुल ग़ैर-जिम्मेदार होकर काम करने की तरफ होता, क्योंकि उन्हें यह लगता कि वे कभी भी अलग

हो सकते हैं, और मिल-जुलकर किये हुए फैसलों की भी-जिम्मेदारी लेने से इन्कार कर सकते हैं।

हिंदुस्तान को हिस्सो मे बाटने का कोई भी सुझाव सोचना दुखद होता। यह तो उन सारी भावनाओ और धारणाओ के ही खिलाफ होता, जो जनता मे एक प्रबल प्रेरणा करती हैं। हिंदुस्तान की सारी कौमी तहरीक हिंदुस्तान के एके की बुनियाद पर थी, हालाकि यह एके की भावना राष्ट्रीयता के मौजूदा पहलू से बहुत ज्यादा पुरानी और गहरी थी। उसकी जड तो हिंदुस्तान के इतिहास के एक बहुत पुराने वक्त मे थी। वह यकीन, वह भावना, मौजूदा घटनाओं से और ज्यादा मजबूत हो चुकी थी। इस तरह होते-होते वह हिंदुस्तान की एक बहुत बडी जनता के लिए विश्वास की एक बुनियादी बात हो गई—एक ऐसी चीज, जिसको न कोई चुनौती दी जा सकती थी और न जिसके विषय मे कोई दो रायें हो सकती थी। मुस्लिम लीग की तरफ से एक चुनौती दी गई थी, लेकिन उस पर किसीने ध्यान नही दिया। इसके अलावा मुसलमानो की खुद एक बहुत बडी तादाद थी, जो उसके खिलाफ थी। उस चुनौती की बुनियाद भी कोई प्रादेशिक नही थी। हा, उसमे कुछ धुवला-सा, अनिश्चित इशारा उन हिस्सो के बटवारे की तरफ था। उसकी बुनियाद तो मध्ययुगीन विचारो पर थी, जिसमे राष्ट्र का आधार धर्म पर था। इस तरह हिंदुस्तान के हर गाव मे दो या उससे भी ज्यादा कौमे बसती थी। हिंदुस्तान के बटवारे से भी, चारो तरफ फैले हुए, एक-दूसरे से लिपटे हुए, धार्मिक भेद-भाव को पार नही किया जा सकता था। बटवारे से तो मुश्किले बढ जाती। उससे तो वे सवाल भी, जिनका हल बटवारा बताया जाता था, बढ जाते।

भावना के अलावा बटवारे के खिलाफ ठोस दलीलें थी। हिंदुस्तान की सामाजिक व आर्थिक समस्याओ की उलझन हद दर्जे पर पहुच गई थी। इसकी खास वजह थी ब्रिटिश सरकार की नीति। और अब अगर भयकर-से-भयकर सर्वनाश से बचना था, तो उसके लिए जरूरी था कि चौतरफा प्रगति का कदम उठाया जाय और तरक्की की जाय। यह तरक्की उसी वक्त मुमकिन थी, जब सारे और पूरे हिंदुस्तान के लिए, अखड भारत के लिए अमली और कार-आमद योजनाए बनाई जायें। सारे-समूचे हिंदुस्तान के लिए—क्योंकि अलग-अलग हिस्से एक-दूसरे की कमियो को पूरा करते थे। कुल मिलाकर हिंदुस्तान बहुत हद तक एक ताकतवर और स्वावलबी इकाई था। लेकिन अलग-अलग करके उसके हिस्से कमजोर थे और दूसरो पर निर्भर थे। अगर ये और इनके साथ दूसरी दलीलें पहले वक्तो मे लागू

थी और काफी थी, तो मौजूदा राजनैतिक और आर्थिक घटनाओ की वजह से उनकी अहमियत अब दुगुनी हो गई थी। सभी जगह छोटी सरकारो की अलग-अकेली हैसियत खत्म होती जा रही थी। वे बडी-बडी रियासतो मे या तो शामिल होती जाती थी या उनसे आर्थिक रूप मे जुड़ गई थी। बडे-बडे सघ बनाने का या राज्यो के आपस मे मिलकर काम करने का रुझान बढता जा रहा था। कौमी सरकार के विचार की जगह अब अनेक कौमो-वाली सरकार ने ले ली थी और दूर भविष्य मे दुनिया भर में एक सघ का नक्शा नजर आ रहा था। ऐसी हालत मे हिंदुस्तान के बटवारे की सोचना सारी आर्थिक और ऐतिहासिक घटनाओं के बहाव के खिलाफ था। असलियत से यह बेहद दूर मालूम होता था।

फिर भी सख्त जरूरत की मार से, या विध्वस के दबाव से, आदमी बहुत-सी नापसद चीजो के लिए रजामद हो जाता है। हालतो की मजबूरी से उस चीज का बटवारा हो सकता है, जिसको कायदे से या सही ढग से एक बनाये रखना चाहिए। लेकिन ब्रिटिश सरकार की तरफ से पेश किये हुए प्रस्तावो मे हिंदुस्तान के किसी खास बटवारे का जिक्र न था। उसमे सूबो और रियासतो के अनगिनत बटवारो के लिए सिर्फ रास्ता खुला हुआ था। उन्होंने सारे प्रतिक्रियावादी, सामती और समाजी-तरक्की के लिहाज से पिछडे हुए लोगो को बटवारे के हक के लिए उकसाया। शायद उनमे से कोई भी बटवारा नही चाहता था, क्योकि वे अपने पैरो पर अकेले खडे नही रह सकते थे। लेकिन वे काफी उत्पात मचा सकते थे और हिंदुस्तान की आजाद सरकार के बनने मे रोडा अटका सकते थे और देर करा सकते थे। अगर उनको ब्रिटिश नीति से मदद मिलती, जैसा शायद होता भी, तो उसके मानी ये होते कि बहुत वक्त तक रत्ती-भर भी आजादी न हासिल होती। उस नीति का हमारा अनुभव बहुत कडुआ था और हर मौके पर हमने यह पाया था कि वह फूट डालनेवाली प्रवृत्तियो को बढावा देती है। इस बात की क्या गारटी थी कि वह आगे भी ऐसा नही करेगी, या आगे चलकर यह कह दे कि वह अपना वायदा पूरा नही कर सकती, क्योकि उसकी शर्तें पूरी नही हुई ? असल मे इसी की सभावना थी कि वह नीति आगे भी उसी तरह जारी रहे।

इसलिए इस प्रस्ताव का मतलब सिर्फ पाकिस्तान या किसी खास बटवारे को मजूर करना नही था, (हालाकि यह चीज भी कोई कम बुरी न होती) बल्कि वह उससे भी बदतर था। उसके लिहाज से दरवाजा खोल दिया जाता और उसमे अनगिनत बटवारो की सभावना रहती। हिंदुस्तानी

आजादी के लिए वह बराबर एक सकट बना रहता और खास उसी वायदे को, जो किया गया था, अमल मे लाने के लिए एक अडगा होता।

हिंदुस्तानी रियासतो के भविष्य के बारे मे फैसला उन रियासतो की जनता द्वारा नही होता। यह फैसला जनता के नुमाइदो की जगह वहा के मनमाने शासक करते। इस उसूल को कुबूल करने के मानी ये होते कि हम अपनी पक्की और बार-बार दुहराई गई नीति को पलट देते और रियासतो की जनता से दगा करते। उस हालत मे उन लोगो को बहुत अरसे के लिए मनमाने शासन मे ढकेल दिया जाता। हम राजाओ से ज्यादा-से-ज्यादा नरमी से व्यवहार करने को तैयार थे, ताकि लोकतत्र के लिए रद्दोबदल मे उनका सहयोग मिल सके। और अगर उस मौके पर ब्रिटिश ताकत—एक तीसरी पार्टी—न होती, तो हमे शक नही है कि हम कामयाब हो गये होते। लेकिन रियासतो के मनमाने शासन को ब्रिटिश सरकार का सहारा मिलने पर यह सभावना थी कि राजा लोग हिंदुस्तानी सघ से बाहर रहे और अपनी जनता के खिलाफ लडाई मे अपने बचाव के लिए ब्रिटिश फौज का सहारा लें। असल मे हमे यह बता दिया गया था कि अगर ऐसी हालत पैदा हुई, तो रियासतो मे विदेशी हथियारबद फौज रहेगी। और चूकि इस बात की सभावना थी कि ये रियासतें हिंदुस्तानी सघ के क्षेत्र मे बीच-बीच मे टापुओ की तरह होगी, इसलिए यह सवाल उठा कि ये विदेशी फौजें वहा कैसे पहुचेंगी और किस तरह अलग-अलग रियासतो मे मौजूद विदेशी फौजें अपना आना-जाना कायम रखेंगी। उसके मानी ये होते कि भारतीय सघ की जमीन पर होकर विदेशी फौज को आने जाने का रास्ता दिया जाता।

गाधीजी ने बराबर ऐलान किया था कि वह राजाओ के कोई दुश्मन नही हैं। यह सच है कि राजाओ से बराबर उनका व्यवहार दोस्ताना रहा, हालाकि अक्सर उन्होने उनके शासन के ढग की आलोचना की और इस बात की भी आलोचना की कि उनकी जनता को मामूली अधिकारो की भी आजादी नही थी। कितने ही सालो से उन्होने काग्रेस को रोक रखा था कि वह रियासती मामलो मे सीधे तौर पर दखल न दे। उनकी यह ख्वाहिश थी कि रियासतो की जनता खुद आगे बढे और इस तरह अपने अदर आत्म-विश्वास और ताकत बढाये। हममे से बहुत-से लोगो को उनकी यह नीति नापसद थी। लेकिन इस सबके पीछे एक पक्का विश्वास था। उन्हीके शब्दो मे—'मेरी नीति की एक बुनियादी बात यह है कि रियासती जनता के अधिकारो को बेच देने मे मैं साथ नही दूगा, (चाहे) इससे ब्रिटिश हिंदु-

स्तान की जनता को आज़ादी ही क्यो न मिलती हो।" प्रोफेसर बैरीडेल कीथ, जो ब्रिटिश कामनवेल्थ और हिंदुस्तान के सविधान पर अधिकारी और प्रामाणिक माने जाते हैं, गाधीजी के दावे का (जो दावा खुद काग्रेस का भी है) समर्थन करते हैं। कीथ ने लिखा है—"सम्राट के सलाहकारो का यह सोचना नामुमकिन है कि रियासती जनता को वे अधिकार नही दिये जायेंगे, जो हिंदुस्तानियो को ब्रिटिश सूबो मे हासिल हैं। सम्राट को यह सलाह देने का उनका फर्ज़ है कि राजा लोगो को सविधान मे इसलिए शामिल किया जाय कि अपनी रियासतो मे वे जनता की सरकार जल्दी ही कायम करें और इसके लिए सम्राट को अपने अधिकारो का उपयोग करना चाहिए। कोई भी सघ हिंदुस्तान के हित मे नही होगा, अगर इसमे सूबो के नुमाइदे गैर-ज़िम्मेदार राजाओ के तैनात किये हुए आदमियो के साथ काम करने को मजबूर किये गये। असल मे गाधीजी के दावे का यह जवाब नही है कि जनता को अधिकार हस्तातरित करने के बाद राजा लोग लाज़िमी तौर पर सम्राट के मुताबिक चलेगे।" प्रो० कीथ ने अपनी यह राय ब्रिटिश सरकार के एक पहले प्रस्ताव के सिलसिले में दी थी, जिसमे सघ की चर्चा थी। लेकिन सर स्टैफर्ड क्रिप्स के प्रस्तावो पर तो यह और भी ज्यादा लागू थी।

जितना ज्यादा इन प्रस्तावो पर सोचा गया, उतने ही वे असलियत से दूर मालूम हुए। हिंदुस्तान एक शतरज का तख्ता-जैसा बन गया, जिसमे नाममात्र के लिए आज़ाद या नीम आज़ाद बीसियो रियासतें थी, जिनमे से ज्यादातर अपने स्वेच्छाचारी शासन को चलाने या अपनी हिफाज़त के लिए ब्रिटिश फौज पर निर्भर थी। इस तरह इन छोटी-छोटी रियासतो के ज़रिये, जिन पर वह काबू रखता, ब्रिटेन राजनैतिक और आर्थिक दोनो तरह का ही नियत्रण जारी रखता।[1]

ब्रिटिश वार-कैबिनेट के दिमाग़ मे हिंदुस्तान के भविष्य के बारे मे क्या खयाल था, मुझे नही मालूम। मेरे खयाल से सर स्टैफ़र्ड हिंदुस्तान का भला चाहते थे और हिंदुस्तान की आज़ादी और कौमी एकता की उम्मीद

[1] ब्रिटिश ताकत और बचाव पर हिंदुस्तानी रियासतो की पूरी निर्भरता पर सर ज्योफ़े डि मौंटमोरेन्सी ने अपनी पुस्तक 'दि इडियन स्टेट्स एड इडियन फेडरेशन' में जोर दिया हैं। रियासतें "हिंदुस्तान में इतनी ज्यादा हैं कि वे हिंदुस्तान की तरक्की के लिए एक विकट पहेली हैं और उसके लिए अभी कोई हल नहीं दिखाई देता. . . जहातक हिंदुस्तान का सवाल है, ब्रिटेन का कब्जा हटने के बाद उनका मिटना या दूसरे बड़े हिस्से से मिलना लाज़िमी हो जायेगा।"

हर अडचन डालनेवाले समूह के लिए रास्ता साफ किया जा रहा था और हिंदुस्तान मे बराबर बटवारे के डर का दरवाजा खुला था। एक अनिश्चित भविष्य के लिए इस इतजाम पर हमसे साथ देने के लिए वायदा कराया जा रहा था। यह एक ऐसा भविष्य था, जिसमे झगडे के अकुर फूटते। काग्रेस ने ही नही, बल्कि राजनैतिक नजर से नरम-से-नरम दलवाले राजनीतिज्ञो ने भी, जिन्होंने हमेशा ब्रिटिश सरकार का साथ दिया था, ऐसा करने से अपनी लाचारी जाहिर की।

हिंदुस्तान के एके के लिए सारे जोश और ख्वाहिश के होते हुए भी काग्रेस ने अल्पसख्यको और दूसरे दलो का सहयोग लेने की दिल से कोशिश की, और वह यहातक आगे बढ गई कि उसने ऐलान किया कि कोई भी प्रादेशिक इकाई हिंदुस्तानी सघ मे उसकी जनता की घोषित इच्छा के खिलाफ मजबूरन नही रखी जायेगी। अगर और कोई चारा न हो, तो बटवारे के उसूल को उसने मान लिया। लेकिन किसी तरह वह इस चीज को बढावा नही देना चाहती थी। काग्रेस-कार्यसमिति ने क्रिप्स-प्रस्तावो के सिलसिले पर अपने प्रस्ताव मे कहा —"काग्रेस हिंदुस्तान की आजादी और उसके एके के मकसद से बधी हुई है और उसके टूटने से, और खासतौर से आज की दुनिया मे, जब लोग लाजिमी तौर पर बडे-बडे सघो की बाबत सोचते है, सभी को बहुत नुकसान होगा और इसलिए उसके खयाल से ही बेहद तकलीफ होती है। फिर भी कमेटी यह नही सोच सकती कि वह किसी खास हिस्से के लोगो को उनकी ऐलानिया ख्वाहिश के खिलाफ हिंदुस्तानी सघ मे रहने को मजबूर करे। इस उसूल को मानते हुए भी कमेटी यह चाहती है कि ऐसी हर कोशिश की जाये, जिससे ऐसी हालत पैदा हो कि अलग-अलग हिस्सो के आदमी मिल-जुलकर एक कौमी जिंदगी बना सकें। इस उसूल को मानने के लाजिमी मानो ये हैं कि अब ऐसी कोई रद्दोबदल न की जाये कि नये झगडे पैदा हो या उन हिस्सो के दूसरे बडे-बडे समुदायो पर जबरदस्ती की जाये। देश के हर हिस्से को सघ के अदर ज्यादा-से-ज्यादा स्थानीय स्वायत्तता होनी चाहिए और साथ ही एक मजबूत कौमी सरकार होनी चाहिए। ब्रिटिश वार-कैबिनेट की मौजूदा तजवीजें ऐसा बढ़ावा दे रही हैं कि उनकी वजह से बटवारे की पूरी कोशिश होगी। यह सब सघ स्थापित करने के मौके पर हो रहा है। इस तरह तो आपसी झगडे होगे, ठीक ऐसे मौके पर, जब ज्यादा-से-ज्यादा सहयोग और सद्-भावनाओ की जरूरत है। यह प्रस्ताव शायद साप्रदायिक माग को पूरा करने के लिए है और इसके दूसरे नतीजे भी होगे। राजनैतिक दृष्टि से

प्रतिक्रियावादी और अलग सम्प्रदायो के अडगा डालनेवाले लोग झगडा शुरू करेगे और इस तरह देश की बडी-बडी समस्याओ की तरफ से जनता का ध्यान हट जायेगा।"

कमेटी ने आगे चलकर कहा कि "आज की सकट की हालतो मे तो सिर्फ मौजूदा वक्त के ही कुछ मानी है। भविष्य के प्रस्तावो का सिर्फ उतना ही महत्व है, जितना मौजूदा वक्त पर उनका असर है।" हालाकि भविष्य के इन प्रस्तावो को वह मजूर नही कर सकी, फिर भी किसी-न-किसी समझौते पर वह पहुचने को बहुत उत्सुक थी, ताकि, जैसा वह कहती थी, हिंदुस्तान अपनी हिफाज़त के भार को ठीक तरह से अपने कधो पर ले सके। इसमे अहिंसा का कोई सवाल नही था और न किसी जगह उसका कोई ज़िक्र ही किया गया था। हा, एक सवाल, जिस पर बहस हुई, वह यह था कि प्रतिरक्षा-विभाग का मत्री हिंदुस्तानी हो।

इस मौके पर काग्रेस की स्थिति यह थी कि हिंदुस्तान पर मडराते हुए युद्ध-सकट के कारण वह भविष्य की चीज़ो को एक तरफ रख देने के लिए तैयार थी। उसकी सारी निगाह एक क़ौमी सरकार बनाने की तरफ थी, जो लडाई मे पूरी तरह साथ दे सके। वह भविष्य के सिलसिले मे ब्रिटिश सरकार के उक्त प्रस्तावो को मानने को तैयार नही थी, क्योकि इसमे हर तरह की खतरनाक पाबदिया थी। जहातक उनका सवाल था, ये प्रस्ताव वापस लिये जा सकते थे और इसके साथ ही ब्रिटिश नीयत को दिखाने के लिए कायम रखे जा सकते थे। लेकिन यह बात बिलकुल साफ थी कि काग्रेस को वे मजूर नही थे। लेकिन इसकी वजह से मौजूदा वक्त मे सहयोग का रास्ता निकालने के लिए कोई रुकावट नही थी।

जहातक मौजूदा वक्त का सवाल था, ब्रिटिश वार-कैबिनेट के प्रस्ताव अस्पष्ट थे, अधूरे थे। हा उनमे एक चीज़ ज़रूर साफ थी कि हिंदुस्तान की प्रतिरक्षा पूरी तरह से ब्रिटिश सरकार की ज़िम्मेदारी रहेगी। सर स्टैफर्ड क्रिप्स के बार-बार के बयानो से ऐसा मालूम होता था कि प्रतिरक्षा विभाग को छोडकर बाकी सब विषयो का इतजाम हिंदुस्तानी हाथो मे दे दिया जायेगा। इसका भी ज़िक्र था कि वाइसराय सिर्फ सवैधानिक प्रमुख की तरह होगा, ठीक उसी तरह, जैसे इग्लैंड का बादशाह था। इससे हमने यह समझा कि अब सिर्फ प्रतिरक्षा के प्रश्न पर ही सोच-विचार करना है। हमारी दलील यह थी कि लडाई के जमाने मे अक्सर ऐसा होता है, और बाद मे ऐसा हुआ भी कि उसके (प्रतिरक्षा के) अदर ज्यादातर कौमी कारगुज़ारिया समा जाती हैं। अगर प्रतिरक्षा को राष्ट्रीय सरकार के

कार्य-क्षेत्र से बिलकुल अलहदा कर दिया जाय, तो शायद ही कुछ बाक़ी बचे। यह बात मजूर थी कि ब्रिटिश सेनापति हथियारबद फौज पर और फौजी कार्रवाइयो पर अपना पूरा काबू बनाये रहे। यह बात भी मजूर थी कि लडाई की नीति सम्राट के अधिकारो द्वारा तय हो। लेकिन इसके अलावा यह माग की गई थी कि प्रतिरक्षा-मत्री का काम राष्ट्रीय सरकार के हिंदुस्तानी सदस्य को मिलना चाहिए।

कुछ बहस के बाद सर स्टैफर्ड तैयार हो गये कि एक हिंदुस्तानी मेबर के अधीन प्रतिरक्षा-विभाग हो। लेकिन जो काम इस विभाग के ज़िम्मे सौंपे गये, वे ये थे—लोक-सपर्क, पेट्रोल, कैंटीन, लिखाई और छपाई का सामान, विदेशी शिष्ट-मडलो के लिए सामाजिक प्रबध, फौजो के आराम का इतज़ाम वगैरह। यह एक ध्यान देने लायक फहरिस्त थी और उससे प्रतिरक्षा-मत्री का पद एक मज़ाक की चीज़ बन गया। आगे बहस मे एक दूसरा ही पहलू सामने आया। इन दोनो नज़रियो मे अब भी काफी फर्क था। लेकिन ऐसा महसूस हुआ कि हम एक-दूसरे के करीब आते जा रहे है। पहली बार मुझे ऐसा लगा और यही बात दूसरो को महसूस हुई कि अब समझौता मुमकिन है। लडाई की हालत मे बढता हुआ सकट बराबर एक अकुश था कि हम सभी किसी समझौते पर पहुचना चाहते थे।

लडाई और हमले का खतरा बडा था और उसका जैसे भी हो, मुक़ाबला करना था। फिर भी कई तरीके हो सकते थे। लेकिन मौजूदा वक्त के लिए और उससे भी ज्यादा भविष्य के लिए सिर्फ एक ही कारगर तरीक़ा हो सकता था। हमको ऐसा मालूम पडा कि मनोवैज्ञानिक अवसर हाथ से निकल सकता है और उसके बाद मौजूदा खतरे ही नही आयेंगे, बल्कि भविष्य के बडे भारी खतरे और भी ज्यादा बढ जायेंगे। पुराने और नये सभी हथियारो की ज़रूरत थी। और ज़रूरत थी उनको इस्तेमाल करने के लिए एक नये ढग की, नये जोश की, नये क्षितिज की, भविष्य में—भूतकाल से बिलकुल भिन्न भविष्य मे—एक नये विश्वास की। और उसका सबूत मौजूदा वक्त की तब्दीलियो मे था। शायद हमारी उत्सुकता से हमारी आशावादिता बढ गई और हम कुछ देर के लिए भूल गये और यह चीज़ धुधली हो गई कि ब्रिटिश शासको के और हमारे बीच की खाई बहुत चौडी है और बहुत गहरी है। खतरे और विध्वस के होते हुए भी सदियो पुराने झगडे का हल हो जाना ऐसा आसान नही था। किसी भी शाही ताकत के लिए साम्राज्य को जकडे हुए अपने पजे को ढीला करना कभी भी आसान नही होता। ऐसा सिर्फ जबरदस्ती ही कराया जा सकता था। क्या परिस्थितियो मे वह

ताकत या दृढ़ता आ गई थी ? हमे पता नही था, लेकिन हमने मान लिया कि शायद ऐसा ही हो !

और तब, ठीक उस वक्त, जब मुझे सबसे ज्यादा उम्मीद थी, अजीब चीजें होने लगी। लॉर्ड हेलीफेक्स ने सयुक्त राज्य अमरीका मे कही व्याख्यान देते हुए काग्रेस पर जोरदार आक्षेप किये। दूर अमरीका मे ठीक उसी वक्त उन्होने यह क्यो किया, यह समझ मे नही आया। लेकिन यह साफ था कि काग्रेस के साथ समझौते की बात-चीत चल रही थी, वह ऐसा उस वक्त तक नही कर सकते थे, जबतक वह ब्रिटिश सरकार की नीति और विचारो को ही प्रकट न कर रहे हो। यह बात दिल्ली में अच्छी तरह मालूम थी कि वाइसराय लॉर्ड लिनलिथगो और सिविल सर्विस के बडे-बडे अफसर समझौते के सख्त खिलाफ थे। वे अपनी ताकतो को घटाने के लिए तैयार नही थे। बहुत-सी बातें गुप-चुप ढग से हुई और उनके बारे मे पूरी जानकारी नही हुई।

जब हम सर स्टैफर्ड क्रिप्स से प्रतिरक्षा-मत्री के काम-काज की बाबत एक नया समझौता निकालने और सोच-विचार करने के लिए फिर मिले, तो यह बात जाहिर हुई कि हमारी पिछली बातो का असली चीज से कोई ताल्लुक नही था। न कोई नये मत्री बनने थे और न उन्हे कोई अधिकार ही दिये जाने थे। वाइसराय की मौजूदा कार्यकारिणी बदस्तूर बनी रहेगी और इरादा सिर्फ यह था कि राजनैतिक दलो के कुछ और हिंदुस्तानियो को उसमे नियुक्त कर दिया जाय। यह कौन्सिल किसी भी मानी मे कैबिनेट नही हो सकती थी। उसके मेबर तो अपने-अपने विभागो के अध्यक्ष या मत्री होते, लेकिन सारी ताकत वाइसराय के हाथो मे ही रहती। हमने महसूस किया कि कानून के रद्दो-बदल मे वक्त लगता है और इसलिए हमने उसके लिए जोर नहीं दिया था। लेकिन हमने इस बात पर जरूर जोर दिया था कि वाइसराय एक ऐसा ढर्रा अपनायें कि अमली तौर पर कौन्सिल कैबिनेट की तरह हो और वाइसराय उसके फैसलो को माने। अब हमको बताया गया कि यह मुमकिन नही है और वाइसराय की ताकत ज्यो-की-त्यो बनी रहेगी—कानूनी तौर से भी और अमली तौर से भी। यह एक अजीब तब्दीली थी, जिस पर यकीन करना मुश्किल था, क्योंकि पहले मौको पर हमारी बातो की बुनियाद ही बिलकुल दूसरी थी।

हमने सोच-विचार किया कि हमले को रोकने के लिए किस तरह हिंदुस्तान की ताकत को बढाया जा सकता है। हम हिंदुस्तानी फौज को यह महसूस कराना चाहते थे कि वह एक कौमी फौजें है और इस तरह हम

लड़ाई मे देशभक्ति की भावना को मिलाना चाहते थे। इसके साथ ही नई फौज बनाते और होम गार्ड आदि तेज़ी से बनाते, ताकि हमले के मौक़े पर घर-घर मे बचाव हो सके। यह ठीक है कि ये सब चीज़ें सेनापति के अधीन होतीं। हमसे कहा गया था कि हमको ऐसा नही करने दिया जायेगा। हिंदुस्तानी फौज तो असल मे ब्रिटिश फौज का ही एक हिस्सा थी और उसे किसी भी मानी मे कौमी फौज नही कहा जा सकता था। इसमे शक है कि होम गार्ड या मिलीशिया-जैसे नये हथियारबद दस्तो और जत्थो के सगठन की हमको इजाज़त मिलती।

इस तरह इस सबके मानी ये निकले कि मौजूदा ढाचा ज्यो-का-त्यो बना रहेगा, वाइसराय के मनमाने अधिकार बराबर बने रहेगे और हममे से कुछ उनके वर्दीपोश अनुयायी होकर नाचते और चाय-पानी या इससे मिलती-जुलती चीज़ो की देख-भाल कर सकते थे। इस प्रस्ताव मे और अठारह महीने पहले के मि० एमरी के प्रस्ताव मे रत्ती-भर भी फर्क नहीं था। मि० एमरी का प्रस्ताव उस वक्त हिंदुस्तान की बेइज्ज़ती करता हुआ मालूम दिया था। यह ठीक है कि इस सबसे एक मनोवैज्ञानिक अतर होता और कुछ व्यक्तियों के परिवर्तन का भी असर होता है। वाइसराय के सिंहासन को चारो तरफ घेरे रखनेवाले जी-हूज़ूरो की जगह इरादेवाले और काबिल लोग एक दूसरे ही ढग से काम करते।

हमारे लिए किसी भी मौके पर, ख़ासतौर से इस वक्त, इस स्थिति को मजूर करना खयाल के बाहर था, नामुमकिन था। अगर हमने ऐसा करने की हिम्मत की होती, तो हमारे ही आदमी हमारा साथ छोड देते हमारे ख़िलाफ हो जाते। सच तो यह है कि बाद मे जब सारी बातें जनता के सामने आई, तो उन रियायतो के लिए, जो समझौते के दौरान मे हमने मजूर कर ली थी, बडी भारी नाराज़ी हुई।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स से बातचीत के सारे दौरान मे अल्पसख्यको के मामले पर या साप्रदायिक कहे जानेवाले सवालो पर न तो कोई सोच-विचार हुआ और न उनका जिक्र ही उठा। असल मे उस वक्त यह सवाल ही नही उठा। भविष्य के सवैधानिक परिवर्तन के सिलसिले मे यह एक सवाल था, लेकिन ब्रिटिश प्रस्तावो पर हमारी पहली प्रतिक्रिया के बाद इनको जान-बूझकर एक तरफ हटा दिया गया था। अगर कौमी सरकार को असली हुकूमती ताकत सौंप देने का उसूल मान लिया था, तो यह बात लाज़िमी तौर से उठती कि मुख्तलिफ समुदायो के नुमाइदे किस औसत मे होगे। और चूकि हम उस स्थिति तक ही नही पहुचे, इसलिए दूसरा सवाल न तो

उठा और न उस पर सोच-विचार ही किया गया। जहातक हमारा ताल्लुक़ है, हम खास पार्टियों के विश्वास पर बनी एक सच्ची कौमी सरकार के लिए इतने उत्सुक थे कि हमको ऐसा महसूस होता था कि आपसी अनुपात के सवाल पर कोई खास परेशानी नहीं होगी। कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आजाद ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को एक खत में लिखा "हम इस बात पर आपका ध्यान दिलायेंगे कि जो प्रस्ताव हमने पेश किये हैं, वे सिर्फ हमारी ही नहीं, बल्कि हिंदुस्तान की जनता की एकमत माग कहे जा सकते हैं। इन मामलों पर अलग-अलग समुदायों और पार्टियों में कोई मतभेद नहीं है, फर्क तो कुल मिलाकर हिंदुस्तानी जनता और ब्रिटिश सरकार में है। हिंदुस्तान में जो कुछ मतभेद है, वह तो सिर्फ भविष्य के सवैधानिक परिवर्तन के बारे में है। हम इस सवाल को मुल्तवी करने के लिए तैयार हैं, ताकि हिंदुस्तान की रक्षा के लिए मौजूदा सकट में ज्यादा-से-ज्यादा एकता हो सके। इस वक्त जब हिंदुस्तान में इस बारे में सिर्फ एक ही राय है कि एक ऐसी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो, जो हिंदुस्तान के आदर्श के लिए काम करते हुए उन करोड़ों आदमियों की भी सेवा करे, जो आज मौत और तकलीफ का सामना कर रहे हैं। यह तो बिलकुल सर्वनाश की ही बात होगी, अगर ब्रिटिश सरकार ऐसी सरकार की स्थापना को रोक रखे।"

बाद में कांग्रेस-सभापति के आखिरी खत में यह कहा गया था—"हमारी दिलचस्पी इसमें नहीं है कि सिर्फ कांग्रेस को ही ताकत मिले, बल्कि हमारी दिलचस्पी इसमें है कि हिंदुस्तान की सारी जनता को आज़ादी और ताकत मिले। हमको विश्वास है कि अगर ब्रिटिश सरकार अपनी फूट डालनेवाली नीति को बढ़ावा न दे, तो हम सब, चाहे हम किसी पार्टी या दल के हों, आपस में मिल सकते हैं और काम करने का ऐसा रास्ता निकाल सकते हैं, जो सबको मजूर होगा। लेकिन अफसोस कि इस भारी खतरे के मौके पर भी ब्रिटिश सरकार अपनी फूट डालनेवाली नीति को छोड़ने को तैयार नहीं है। इससे हमको मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुचना पड़ा है कि हिंदुस्तान की मडराते हुए हमले से हिफाजत की जगह, हिंदुस्तान में जबतक मुमकिन हो सके, अपना राज्य कायम रखने की उसके दिमाग में ज्यादा अहमियत है और उसी मकसद से वह यहा फूट और झगड़ा बढ़ाये जाती है। हमारे लिए और सभी हिंदुस्तानियों के लिए हिंदुस्तान की हिफाजत और प्रतिरक्षा का ही खास खयाल है और उसी कसौटी को हम सबसे ऊपर मानते है।"

इस खत मे प्रतिरक्षा के बारे मे भी हमारी स्थिति को उन्होंने साफ कर दिया। "किसीने भी सेनापति की आम ताक़तों को कम करने का सुझाव नही दिया है। यही नही, हम तो और भी आगे बढे, और युद्ध-मंत्री के नाम से और भी नई ताकत उन्हे देने को तैयार थे। लेकिन ज़ाहिर है कि प्रतिरक्षा के मामले में ब्रिटिश सरकार के और हमारे खयाल मे बहुत बडा फ़र्क़ है। हमारे लिए तो उसके मानी ये हैं कि उसको राष्ट्रीय स्वरूप दे दिया जाय और हिंदुस्तान के हर मर्द और औरत से उसमे हिस्सा लेने को कहा जाय, उसके मानी है, अपनी जनता का विश्वास करना और इस बडी भारी कोशिश मे उनका पूरा-पूरा साथ लेना। ब्रिटिश सरकार के नज़रिये की बुनियाद हिंदुस्तानियो का बिलकुल विश्वास न करने पर है और वह उनसे असली ताकत को रोक रखना चाहती है। आपने प्रतिरक्षा के मामले मे शाही सरकार के अहम कर्तव्य और ज़िम्मेदारी का ज़िक्र किया है। उस कर्तव्य और ज़िम्मेदारी का पूरा-पूरा पालन पूरे ढग से तबतक नही हो सकता, जबतक हिंदुस्तानियो को खुद ज़िम्मेदारी न मिले और उन्हे उसका अनुभव न हो। इधर हाल की ही बाते उसकी गवाह हैं। हिंदुस्तान-सरकार इस बात को महसूस नही करती कि लडाई जनता के सहयोग से ही लडी जा सकती है।"

कांग्रेस-सभापति के इस आखिरी खत के कुछ ही बाद सर स्टैफर्ड क्रिप्स हवाई जहाज़ से इंग्लैंड वापस लौट गये। लेकिन इससे पहले और फिर इंग्लैंड पहुचने के बाद उन्होंने जनता के सामने ऐसे बयान दिये, जो असलियत से उलटे थे। उनसे हिंदुस्तान मे बेहद नाराज़ी हुई। हिंदुस्तान मे ज़िम्मेदार आदमियो के विरोध और शिकायत के बाद भी सर स्टैफर्ड और दूसरे आदमी उन बयानो को दुहराते रहे।

ब्रिटिश प्रस्तावो को सिर्फ कांग्रेस ने ही रद्द नही किया था, बल्कि हर पार्टी और दल ने उन्हें रद्द कर दिया था। हमारे यहा के सबसे उदार राजनीतिज्ञो तक ने उन्हें नामंजूर किया था। मुस्लिम लीग को छोडकर और सबकी वजहे भी करीब-करीब वही थी। अपने ढर्रे के मुताबिक मुस्लिम-लीग ने इतज़ार किया कि और लोग अपनी राय ज़ाहिर करें, तब उसने अपनी अलग वजहें देकर प्रस्तावो को रद्द कर दिया।

ब्रिटिश पार्लमेंट मे और दूसरी जगहो पर यह कहा गया कि कांग्रेस की रद्द करने की वजह तो गांधीजी का वह रुख था, जो समझौता चाहता ही नही था। यह बात बिलकुल गलत है। गांधीजी ने और लोगो के साथ इस बात को नापसद किया था कि प्रस्ताव की वजह से भविष्य मे अनगिनत बंटवारे करने पडते और साथ ही हिंदुस्तानी रियासतो की नौ

करोड जनता की अवहेलना की गई थी। उन्हे अपने भविष्य के बारे मे कुछ कहने का अधिकार नही दिया गया था। समझौते की सारी बात-चीत, जिसमे भविष्य का नही, बल्कि मौजूदा हालत मे रद्दो-बदल का ही जिक्र था, गाधीजी की गैरहाजिरी मे हुई। अपनी पत्नी की बीमारी की वजह से उन्हे लौट जाना पडा था। उनका इस सबसे कोई ताल्लुक ही नही था। पिछले कितने ही मौको पर काग्रेस-कार्यसमिति अहिसा के मामले मे उनसे असहमत रही है। वह तो लडाई मे और खासतौर से हिंदुस्तान की रक्षा मे साथ देने के लिए और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए बहुत उत्सुक थी।

लोगो के दिमागो मे लडाई का खयाल था और वही अहम सवाल था। हिंदुस्तान पर हमला साफ दिखाई पड रहा था। समझौते ने लडाई मे रुकावट नही पेश की, क्योकि उसका नियत्रण तो विशेषज्ञ ही करते, न कि आम आदमी। लडाई की नीति के सिलसिले मे किसी फैसले पर पहुचना मुश्किल नही था। असली सवाल तो कौमी सरकार को ताकत सौंपने का था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता का यह पुराना झगडा था। उस मामले मे चाहे लडाई हो या न हो, हिंदुस्तान और इग्लैंड में हुक्मरान तबका उस सबको हाथ मे रखने पर तुला हुआ था, जो अभी हाथ मे था। इन सबके पीछे मि० विन्स्टन चर्चिल की बडी हस्ती थी।

९ : मायूसी

क्रिप्स सधि-चर्चा का अचानक खात्मा और सर स्टैफर्ड की यकायक वापसी, इन दोनो बातो से अचभा हुआ। जहातक मौजूदा वक्त का सवाल था, क्या इसी तुच्छ तजवीज के लिए, जैसी वह आगे चलकर साबित हुई और जिसमे पहले कई बार कही बातो को ही दुहराया गया था, ब्रिटिश वार-कैबिनेट का एक मेबर हिंदुस्तान आया था? या यह सब सयुक्त राज्य अमरीका की जनता मे प्रचार के खयाल से किया गया था? उसकी प्रतिक्रिया, तेज और तीखी हुई। ब्रिटेन के साथ समझौते की कोई उम्मीद नही थी। हिंदुस्तानियो को अपनी मर्जी के मुताबिक अपने देश को बाहरी हमलों से बचाने का भी मौका नही दिया जाना था।

इस बीच उस हमले की सभावना बढ रही थी और भूखे हिंदुस्तानी शरणार्थियो के झुड-के-झुड हिंदुस्तान की पूर्वी सीमा से अदर आ रहे थे। पूर्वी बगाल मे, घबराहट मे, हमले के डर की वजह से, दसियो हजार नावो को बरबाद कर दिया गया। (बाद मे यह कहा गया कि एक सरकारी हुक्म के गलत मानी लगाने की वजह से ऐसा किया गया था)। उस विस्तृत

प्रदेश मे जल-मार्ग बहुत है और वहां आना-जाना इन्ही नावो से मुमकिन था। इनके बरबाद कर देने की वजह से बड़े-बड़े समुदाय एक दूसरे से अलहदा हो गये। उनकी रोजी छिन गई। एक जगह से दूसरी जगह आने-जाने का साधन नही रहा और यह बंगाल के अकाल की एक काफी बडी वजह हुई। एक बड़े पैमाने पर यहां से हटने की तैयारिया की गई। दक्खिन बरमा मे और रंगून मे जो शुरू हुआ था, उसके दुहराये जाने के आसार दिखाई पडने लगे। मद्रास शहर में एक अस्पष्ट और अनिश्चित अफवाह उडी (बाद मे यह झूठी निकली)। इसमें कहा गया कि एक जापानी जहाजी बेड़ा आ रहा है। इसका नतीजा यह हुआ कि बड़े-बड़े सरकारी अफसर वहां से अचानक हटे और साथ ही कुछ हद तक वहा का बदरगाह भी बिगाड दिया गया। ऐसा मालूम होता था कि हिंदुस्तान की मुल्की हुकूमत की हिम्मत टूट चुकी थी। उनकी बहादुरी हिंदुस्तान की कौमियत कुचलने मे ही थी।

हम क्या करते? हम इस बात को बरदाश्त नही कर सकते थे कि हिंदुस्तान का कोई भी हिस्सा हमले के सामने चुपचाप सिर झुका दे। जहांतक कि हथियारबद विरोध का सवाल है, उनसे (जैसी कुछ वह थी) फौज का और हवाई ताकत का ताल्लुक था। अमरीका से मदद आ रही थी—खासतौर से हवाई जहाजो की शक्ल मे, और उससे सारी फौजी स्थिति धीरे-धीरे बदल रही थी। जिस ढग से हम मदद कर सकते थे, वह था घरेलू मोर्चे के सहारे वातावरण मे परिवर्तन। लोगो मे जोश पैदा करते, किसी भी सूरत से हमला रोकने की तीव्र इच्छा जगा देते। इसके लिए नागरिकों का सगठन करते और गृह-रक्षक जत्थे बनाते। ब्रिटिश नीति ने हमारे लिए यह चीज बेहद मुश्किल बना दी थी। खास हमले के मौके पर फौज के बाहर किसी भी हिंदुस्तानी पर इतना भरोसा नही था कि उसे बदूक दी जाती। यही नही, बल्कि गावो मे निजी हिफाजत के लिए गैर-हथियारबद जत्थो को तैयार करने की कोशिश भी नापसद की गई और अक्सर वह दबा दी गई। ब्रिटिश अधिकारी जन-रक्षा-सगठन को बढावा देने की जगह उससे डरते थे। उसकी वजह थी। वे इन सार्वजनिक रक्षा के सगठनो मे ब्रिटिश राज्य के प्रति विद्रोह और खतरा देखने के आदी हो गये थे। उनको अपनी पुरानी नीति पर ही चलना था। उसकी जगह दूसरा रास्ता सिर्फ यही था कि हिफाजत के लिए सार्वजनिक सगठन पर भरोसा करनेवाली कौमी सरकार कायम हो। इस रास्ते को उन्होने पहले ही साफ-तौर पर नामजूर कर दिया था। अब बीच का कोई रास्ता नही था। लाजिमी तौर पर वह जनता को जायदाद की तरह इस्तेमाल करना चाहते

थे। लोगो की अपनी निजी प्रेरणा या सूझ नही होती। अधिकारी वर्ग बिलकुल अपनी इच्छा के मुताबिक उससे काम लेना या फायदा उठाना चाहता था। कांग्रेस-महासमिति ने अपनी अप्रैल, १९४२ की बैठक मे इस नीति और व्यवहार पर अपनी भारी नाराजगी का ऐलान किया। उसने कहा कि वह किसी ऐसी स्थिति को मजूर करने को तैयार नही है, जिसमे जनता को विदेशी सत्ता के गुलाम की हैसियत से काम करना पडे।

फिर भी इस आनेवाले सर्वनाश के लिए हम मौन और बेबस तमाशबीन होकर नही रह सकते थे। हमे जनता को सलाह देनी थी—उस बडी भारी आबादी को सलाह देनी थी कि हमले की हालत मे उन्हे क्या करना है। हमने उससे कहा कि ब्रिटिश नीति के लिए नफरत होते हुए भी उन्हे ब्रिटिश या मित्र राष्ट्रो की फौजो के काम मे कैसा भी दखल नही देना चाहिए, क्योकि इस तरह तो हम हमला करनेवाले दुश्मन की ही मदद करेंगे। लेकिन साथ ही किसी भी सूरत मे उन्हे आक्रमणकारी के आगे न तो सिर झुकाना चाहिए और न उसकी किसी इनायत को ही मजूर करना चाहिए। अगर आक्रमणकारी सेनाए उनके घरो और खेतो पर कब्जा करे, तो उन्हें मरते दम तक उनको रोकना चाहिए। यह विरोध शातिपूर्वक हो। दुश्मन से सोलहो आने पूरा असहयोग होना चाहिए।

बहुत-से लोगो ने काफी व्यग के साथ इसकी आलोचना की। आक्रमणकारी फ़ौज का इस अहिंसात्मक असहयोग से विरोध करना एक बिलकुल वाहियात खयाल मालूम दिया। लेकिन वाहियात होने की जगह जनता के पास यही एक कारगर रास्ता बाकी था। यह तो एक बहुत बहादुराना ढग था। हथियारबद फौजो को यह सलाह नही दी गई थी और न यही कहा गया था कि शातिपूर्ण विरोध से काम चल जायेगा। यह सलाह निहत्थी नागरिक जनता को दी गई थी। सशस्त्र फौजो के हट जाने या हार जाने पर यह जनता हमेशा ही आक्रमणकारी के आगे सिर झुका देती है। खास हथियारबद फौज के अलावा, दुश्मन को परेशान करने के लिए छोटे-छोटे छापामार जत्थो का सगठन किया जा सकता है। लेकिन हमारे लिए यह मुमकिन नही था। इसके लिए शिक्षा की और हथियारो की जरूरत होती है। इसमे फौज का पूरा साथ चाहिए। और अगर कुछ छापामार जत्थो को शिक्षा भी दे दी जाती, तब भी सारी जनता बाकी बच रहती। आमतौर पर यह उम्मीद की जाती है कि सारी नागरिक जनता दुश्मन के कब्ज़े के बाद सिर झुका देगी। यही नही, ब्रिटिश अधिकारियो द्वारा उन हिस्सो मे हिदायतें जारी की गई थी—जहा खतरा था—कि बडे-बडे अफसरो

के हटने के बाद वहाँ की जनता और यहाँतक कि छोटे अफसर और अहलकार, दुश्मन की मातहती मान लें।

हम अच्छी तरह जानते थे कि शांतिपूर्वक असहयोग से आगे बढ़ती हुई दुश्मन की फौज रोकी नहीं जा सकती। हम यह भी जानते थे कि ज्यादातर जनता के लिए, इच्छा होते हुए भी, उस फौज को रोकना मुश्किल होगा। फिर भी हमें उम्मीद थी कि दुश्मन के जीते हुए गांवों और क़सबों मे ऐसे प्रमुख व्यक्ति निकल आयेंगे, जो न उनका हुक्म मानेंगे और न उन्हें खाने-पीने के इन्तजाम मे मदद देंगे। उसकी वजह से उन्हें फौरन सजा मिलती—यहां [illegible] मौत की सजा मिलती, वरना उनका सब-कुछ जब्त तो हो ही जाता। [illegible] खयाल था कि कुछ गिने-चुने आदमियों द्वारा भी सिर न झुकाने और मरते दम तक विरोध करने का आम आबादी पर, सिर्फ उन हिस्सों में ही नहीं, बल्कि सारे हिंदुस्तान मे, जोरदार असर होगा। इस तरह हमें उम्मीद थी कि विरोध के लिए राष्ट्रीय भावना बढ़ाई जा सकती थी।

पिछले कुछ महीनों से हम संगठन कर रहे थे—खाने का इंतजाम करनेवाली कमेटियों का और गांवों और कसबों में आत्म-रक्षा-इकाइयों का। अक्सर यह हमें सरकारी विरोध होते हुए भी करना पड़ा। खाने-पीने की चीजों की समस्या हमें परेशान कर रही थी। लड़ाई की वजह से यातायात की दिन-ब-दिन बढ़ती हुई मुश्किल से और लड़ाई के सिलसिले में और दूसरी बातों से हमें खाने-पीने की चीजों के संकट का डर था। इस मामले में सरकार करीब-करीब कुछ भी नहीं कर रही थी। हमने स्वय-पर्याप्त इकाइयों की सभी जगह और खासतौर से गांवों में संगठन करने की कोशिश की। हमने नये साधनों के अभाव मे आने-जाने के पुराने साधनों—बैलगाड़ी आदि के लिए बढ़ावा दिया। इस बात की भी बहुत संभावना थी कि अगर पूरब की तरफ से हमला हुआ तो, बहुत बड़ी संख्या में शरणार्थी और भागे हुए लोग एकदम पच्छिम की ओर दौड़ेंगे। यही बात चीन में हुई थी। हमने अपने-आप इस बात की तैयारी की कि उस वक्त उन लोगों के खाने और रहने का इंतजाम हो सके। सरकारी मदद के बिना यह बहुत मुश्किल था, शायद मुमकिन भी नहीं था, फिर भी हमने हर मुमकिन कोशिश की। आत्म-रक्षा इकाइयों का उद्देश्य इस काम में मदद करना था। उन्हें अपने-अपने हलक़ों में व्यवस्था रखनी थी और घबराहट को रोकना था। काफी दूर, किसी भी जगह फौजी हमले या हवाई हमले की खबर से यह घबराहट या भगदड़ हो सकती थी और इसे रोकना बहुत जरूरी था। इस

मामले में सरकार की तरफ से इंतजाम बिलकुल नाकाफी था। वहा जनता पर अविश्वास था। गावो मे चोरिया और डकैतिया दिन-ब-दिन बढ़ रही थी।

हमने ये छोटी-छोटी योजनाए बनाई और कुछ हद तक उन्हे अमल मे लाने की कोशिश की। लेकिन जाहिर था कि हमारे सामने जो बहुत बड़ी समस्या थी, उसमे हम सिर्फ थोड़ा काम कर पा रहे थे। सरकारी ढाचे और जनता के पूरे-पूरे सहयोग से ही इस समस्या का हल हो सकता था। लेकिन सहयोग असभव पाया गया। इस हालत को देखकर दिल टूटता था। जिस समय सकट मे हमारी जरूरत थी और काम करने के लिए हमारा जोश उमड़ा पड़ता था, कुछ कर दिखाने के लिए रुकावट थी, इजाजत नही थी। सकट और विध्वस लबे डग भरते हुए आगे बढ़ते आ रहे थे और हिंदुस्तान, बेबस और हाथ-पर-हाथ रखे बैठा हुआ था, उसमे नाराजी और गुस्सा था और वह प्रतिद्वद्वी विदेशी शक्तियो का रण-स्थल बना हुआ था।

लड़ाई के लिए नफरत होते हुए भी हिंदुस्तान पर जापानी हमले के खयाल से मुझे किसी तरह का डर नही हुआ। हिंदुस्तान पर आती हुई लड़ाई की बाबत सोचकर मेरे मन मे एक तरह का आकर्षण पैदा हुआ। यह ठीक है कि लड़ाई एक भयकर चीज है। ब्रिटेन ने हमारे ऊपर मरघट की शांति लाद रखी थी। मै चाहता था कि हमारे करोड़ो आदमी उससे बाहर खीच लिये जाये, उन्हें निजी अनुभव हो और साथ ही उन्हें अच्छी तरह झकझोर दिया जाये। यह एक ऐसी बात होती, जो उन्हे गुजरे जमाने की चीजो से, जिनसे वे बुरी तरह चिपटे हुए थे, ऊपर उठा देती और जो उन्हें जबरदस्ती मौजूदा असलियत के सामने ला देती। इससे वे छोटी-छोटी राजनैतिक समस्याओ से और बढ़-चढ़कर बोलनेवाले छोटे-छोटे झगड़ो से, जो उनके दिमाग मे घर किये हुए थे, बाहर निकल आते। उससे उनकी जिंदगी की लय बदल जाती और उनका सुर मौजूदा वक्त और भविष्य से मिल जाता। लड़ाई की भारी कीमत चुकानी पड़ती, उसके नतीजे का कुछ ठीक भी नही था। हमने नही चाहा था कि लड़ाई हो, लेकिन अब, जब वह आ ही गई थी, उससे कौम की रग मजबूत की जा सकती थी। उससे ऐसे महत्वपूर्ण अनुभव हो सकते थे, जिनसे नये जीवन का अकुर फूटे। बहुत बड़ी तादाद मे लोग मरेगे, यह बात साफ थी, लेकिन अकाल से मरने से लड़ाई मे मरना बेहतर है। दुर्गत, बेकार जिंदगी से मर जाना बेहतर है। मौत से नई जिंदगी आती है। वे व्यक्ति और राष्ट्र, जो मरना नही जानते, जीना भी नही जानते। "सिर्फ वही, जहा कब्रे है, पुनरुत्थान होता है।"

हालाकि लडाई हिंदुस्तान तक आ पहुची थी, लेकिन उससे हममे कोई जोश नही आया था, किसी बडी कोशिश मे हमारी ताकत खुशी से फूटी नही पडती थी—किसी ऐसी कोशिश मे, जिसमे तकलीफ और मौत का ध्यान नही होता, जहा खुद अपनी अहमियत भुला दी जाती है, जिसमे आजादी के निशाने की ओर दूसरी पार भविष्य के नक्शे की ही कीमत होती है। हमारे लिए तो सिर्फ तकलीफ और मुसीबतें ही थी। इसके अलावा उस आते हुए सर्वनाश का खयाल था, जिसको हम टाल नही सकते थे, जिससे हमारे दर्द की तेजी बढती और हमारी चेतना सजग होती। अनिवार्य दुर्दशा की चिंता बढती गई। यह दुर्दशा जाती भी थी और कौमी भी।

इसका लडाई की हार-जीत से कोई ताल्लुक नही था और न इस बात से कि कौन हारे और कौन जीते। हम धुरी राष्ट्रो की जीत नही चाहते थे; क्योकि उससे लाज़िमी तौर पर सर्वनाश होता। हम नही चाहते थे कि जापानी हिंदुस्तान मे घुसें और उसके किसी हिस्से पर क़ब्ज़ा करें। उसको जैसे भी हो सके, रोकना था और हमने बार-बार इस बात पर जनता का ध्यान दिलाया। लेकिन यह सब नकारात्मक कोशिश थी। लडाई का असली मकसद क्या था? उससे आनेवाले ज़माने का नक्शा कैसे बनेगा? क्या यह पहली गलतियो और पहले विध्वसो को दुहराना भर था, जिसमे प्रकृति की अचेतन शक्तिया काम करती थी और वे इन्सान की ख्वाहिशों और आदर्शों का कोई खयाल ही नही करती थी? हिंदुस्तान का भविष्य क्या होगा?

एक ही साल पहले मृत्यु-शैया से दिये हुए श्री रवीद्रनाथ ठाकुर के आखिरी सदेसे का हमे ध्यान आया। "बर्बरता के पिशाच न सारे आवरण हटा दिये है। सहार के ताडव मे मानवता को चीरकर फेंकने के लिए वह अपने बडे-बडे दातो को खोले हुए बाहर आया है। दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक नफरत के जहरीले धुए ने सारे वातावरण को काला कर दिया है। हिंसा की भावना, जो शायद पश्चिम की मनोवृत्ति मे छिपी पडी थी, अब आखिरकार बाहर आई है और उसने मानव-आत्मा को कलकित कर दिया है।

"किसी दिन भाग्य-चक्र अग्रेजो को हिंदुस्तानी साम्राज्य छोडने के लिए मजबूर करेगा। लेकिन वह कैसा हिंदुस्तान छोडकर जायेंगे? कितना दुख-भरा! जब उनकी हुकूमत की सदियो पुरानी धारा सूख जायगी, तो कितनी दलदल, कितनी कीचड वे छोड जायेंगे! किसी समय मेरा

विश्वास था कि यूरोप के हृदय से विभिन्न सस्कृतियो के स्रोत फूटेगे। किंतु आज जब मैं दुनिया को छोडनेवाला हू, इस विश्वास का विलकुल दिवाला पिट गया है।

"चारो तरफ देखने पर मुझे एक गर्वीली सभ्यता के भग्न-अवशेष दिखाई दे रहे हैं, मानो एक बहुत वडा, विलकुल बेकार का ढेर तितर-बितर पडा हो। फिर भी मानव मे विश्वास खोने का भारी पाप नही करूगा। मैं उसके इतिहास मे एक नये अध्याय को देखना चाहूगा, जो इस तूफान के बाद, वायुमडल साफ होने के बाद, सेवा और बलिदान की भावना से शुरू होगा। शायद वह प्रभात, इसी क्षितिज पर होगा—पूर्व मे—जहा सूर्योदय होता है। एक ऐसा दिन आयेगा, जब अपराजित मानव सारी रुकावटो के होते हुए अपने विजय-मार्ग पर वापस लौटेगा, ताकि वह अपनी खोई हुई मानवीय पैतृक सपत्ति को पा सकें।

"आज हम उन खतरो को देख रहे हैं, जो शक्ति की उद्दडता के साथ होते हैं। एक दिन ऋषियो द्वारा घोषित यह पूर्ण सत्य प्रकट होगा

"असत्याचरण से मनुष्य की समृद्धि होती है, शत्रुओ पर विजय प्राप्त होती है, चाही हुई चीज मिलती है, लेकिन जड मे उसका नाश हो जाता है।"

नही, मानव मे किसीका विश्वास नष्ट न हो। ईश्वर को हम अस्वीकार कर सकते हैं, लेकिन अगर हम मानव मे विश्वास मिटा दें, तब हमारे लिए क्या आशा रहेगी, क्योकि तब सभी कुछ बेकार हो जायेगा? फिर भी, किसी चीज़ मे या इसमे कि सत्याचरण हमेशा ही विजयी होगा, विश्वास करना मुश्किल था।

थके तन और बेचैन मन से अपने इस वातावरण से बचने के लिए, मैंने हिमालय की भीतरी घाटियो मे स्थित कुल्लू की यात्रा की।

१० : चुनौती : 'भारत छोड़ो'-प्रस्ताव

एक पखवाडे की गैरहाजिरी के बाद, कुल्लू से लौटने पर, मैंने अनुभव किया कि देश की अदरूनी हालत तेजी से बदल रही थी। समझौते की पिछली कोशिश की असफलता की प्रतिक्रिया बढ गई थी, और अब ऐसी धारणा थी कि उस तरफ कोई उम्मीद नही है। पार्लमेट मे ब्रिटिश अधिकारियो के बयानो ने इस धारणा को पक्का कर दिया था, और लोगो मे उसकी वजह से नाराजी थी। हिंदुस्तान मे अधिकारियो की नीति हमारे राजनैतिक और सार्वजनिक कामो को दबाने का पक्का इरादा कर रही

थी और चारो तरफ दबाव बढ़ता जा रहा था। हमारे बहुत-से साथी कि संवार्ता के दौरान मे जेल मे थे। अब मेरे सबसे करीबी और खास दोस्त और साथी भारत-रक्षा कानून के मातहत गिरफ्तार कर जेल भेज दिये गये थे। शुरू मई मे रफी अहमद किदवई गिरफ्तार हुए। उसके कुछ ही बाद संयुक्त-प्रातीय काग्रेस कमेटी के सभापति श्रीकृष्णदत्त पालीवाल का नबर आया और इसी तरह और बहुत-से लोगो का नबर आया। ऐसा मालूम होता था कि हममे से ज्यादातर को इस तरह छाटकर गिरफ्तार कर लिया जायेगा और कार्य-क्षेत्र से हटा दिया जायेगा। हमारे राष्ट्रीय आदोलन का इस तरह काम रोका जायेगा और धीरे-धीरे वह आदोलन छिन्न-भिन्न हो जायेगा। क्या हम इसे चुपचाप सिर झुकाकर सह लेगे? हमको ऐसी शिक्षा नही मिली थी। इस बरताव के खिलाफ विद्रोह करने को हमारा निजी और राष्ट्रीय अभिमान उठ खड़ा हुआ।

गभीर युद्ध-सकट और हमले की सभावना का खयाल करते हुए आखिर हम क्या कर सकते थे? लेकिन हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने से इस मकसद को मदद न मिलती। उसकी वजह से ऐसी सभावनाए बढ रही थी कि उनको सोचकर चिता होती, डर होता। इतने बडे देश मे और ऐसे सकट के समय, जैसाकि कुदरती था, जनता मे तरह-तरह की राये थी। जापानियो की हिमायत का भावनाए करीब-करीब बिलकुल नही थी। कोई भी नही चाहता था कि एक विदेशी मालिक की जगह दूसरा आ जाये। चीनियो की तरफदारी मे चारो तरफ बहुत जोरदार भावनाए थी। लेकिन एक ऐसा छोटा-सा समूह भी था, जो एक लिहाज से जापानियो के पक्ष मे था। उसका अदाज था कि जापानी हमले का हिंदुस्तान की आजादी के लिए फायदा उठाया जा सकता है। उस पर सुभाषचद्र बोस के ब्राडकास्टो का असर था। बोस पिछले साल गुप्त रूप से हिंदुस्तान से बाहर निकल गये थे। हा, ज्यादातर आदमी सिर्फ निष्क्रिय थे और चुपचाप घटनाओ को देख रहे थे। अगर बदकिस्मती से हालत ऐसी बदलती कि हिंदुस्तान के किसी हिस्से पर आक्रमणकारी का कब्जा हो जाता, तो उसको ऐसे आदमी, खास-तौर से बडी आमदनीवाले आदमी जरूर मिलते, जो उसका साथ देते। उनकी सबसे बडी ख्वाहिश अपनी जायदाद की और अपने को बचाने की थी। इस नस्ल के और इस मनोवृत्ति के साथ देनेवालो को हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार बहुत चाहती थी और पिछले वक्त मे अपना काम लेने के लिए उसने उनको बहुत बढावा दिया था। बदलती हुई हालतो के साथ ये लोग भी बदल सकते थे और हमेशा अपने निजी लाभ को ध्यान मे रखते। फ्रान्स,

बेलजियम, नार्वे और यूरोप के और बहुत-से अधिकृत देशो मे, विरोध के ज़ोरदार आदोलन के होते हुए भी, आक्रमणकारी का साथ देनेवालो की भी बाढ हमने देखी थी। हमने देखा था कि किस तरह (पर्तीनैक्स के शब्दो मे) विशी के आदमियो ने "अपने दिमाग को धोखा देकर शर्म को इज्ज़त बताया, कायरता को हिम्मत बताया, खोखलेपन और बेखबरी को अक्लमदी बताया, अपमान को गुण बताया और जर्मनी की जीत को दिल से मजूर कर लेने को नैतिक पुनर्जन्म बताया।" अगर यह चीज क्राति-कारी देशभक्ति से प्रज्वलित फ्रान्स मे हुई, तो उसी किस्म के लोगो का हिंदुस्तान मे ऐसा होना नामुमकिन नही था, क्योकि यहा ऐसा साथ देने की मनोवृत्ति बहुत अरसे से फल-फूल रही थी। उस पर ब्रिटिश सरकार की इनायत थी और तरह-तरह के इनाम मिले थे। असल मे इस बात की ही ज्यादा सभावना थी कि दुश्मन का साथ देनेवाले लोग ज्यादा-तर वही होगे, जो ब्रिटिश-राज्य का साथ दे रहे थे और उस राज्य के प्रति अपनी निष्ठा का गला फाड-फाडकर ऐलान कर रहे थे। इस साथ देने के हुनर मे वे बहुत मज गये थे और अब ऊपरी ढाचा बदलने के बाद ठीक उसी ढग से काम करने मे उन्हें कोई मुश्किल नही होती। और बाद मे अगर फ़िर ऊपरी ढाचा दुबारा बदलता, तो वे फिर दुबारा बदल सकते थे, ठीक उसी तरह, जैसे यूरोप मे उनकी नस्ल के आदमी कर रहे थे। जब ज़रूरत होती, तो क्रिप्स-समझौते की नाकामयाबी से बढी हुई ब्रिटिश-विरोधी भावनाओ का वे फायदा उठा सकते थे। ऐसा ही और लोग भी करते, मौकापरस्ती और जाती फायदे के लिए नही, बल्कि और दूसरी प्रेरणाओ से। उसमे न चारो तरफ का ही ख़याल होता और न बडे-बडे और अहम सवालो का। इन घटनाओ से हम भौचक्के रह गये और हमे महसूस हुआ कि हिंदुस्तान मे ब्रिटिश नीति के लिए ज़बरदस्ती और चुप-चाप सिर झुकाने से हर तरह के खतरनाक नतीजे हो सकते हैं और उससे यहा की जनता का पूरी तरह पतन होगा।

चारो तरफ काफी हद तक यह ख़याल था कि अगर हमला हुआ और देश के पूरबी हिस्सो पर दुश्मन का कब्ज़ा हुआ, तो दूसरी जगहो के ज्यादातर हिस्सो मे सिविल हुकूमत टूट जायेगी और उसके सबब से अराज-कता फैल जायेगी। मलाया और बरमा मे जो कुछ हुआ था, वह हमारे सामने था। इस बात का शायद ही किसीको ख़याल था कि देश के बहुत बडे हिस्से पर दुश्मन कब्ज़ा करेगा, चाहे लडाई उसके माफिक ही क्यो न हो। हिंदु-स्तान बहुत बडा देश है और हम चीन मे देख चुके थे कि विस्तार से एक

लाम है। लेकिन विस्तार से लाभ उसी समय होता है, जब उसका फायदा उठाने के लिए पक्का इरादा हो और दबने या सिर झुकाने की जगह पूरी तरह रोकने की कोशिश हो। जाहिरा विश्वसनीय खबरें थी कि मित्र-राष्ट्रो की हथियारबद फौजें शायद पीछे हटकर रक्षा के दूसरे मोर्चों पर रुकेंगी। बडे-बडे हिस्से दुश्मन के कब्जे के लिए खुले छोड दिये जायेंगे, हालाकि ज्यादा मुमकिन यह था कि चीन की तरह दुश्मन शायद यहा भी कब्जा न करे। इस तरह ये सवाल उठे कि सिविल हुकूमत के खत्म होने के बाद इन हिस्सो मे और दूसरे हिस्सो मे इस हालत का मुकाबला कैसे किया जाये? जहातक मुमकिन था, हमने दिमागी तौर से या और दूसरे तरीको से इस सकट का सामना करने के लिए कोशिश की। हमने ऐसे मुकामी सगठनो को बनाया और बढावा दिया, जो काम कर सकते थे, अमन रख सकते थे और साथ ही आक्रमणकारी को हर मुमकिन ढग से रोकने के लिए जोर दे सकते थे।

पिछले बहुत-से बरसो से चीनी किसलिए इतने जोरो से लड रहे थे? और सबके मुकाबले मे रूसी लोग और सोवियत सघ के लोग इतनी हिम्मत, इतनी मजबूती और इतने जी-जान से किसलिए लड रहे थे? और दूसरी जगहो मे भी लोग बहादुरी से लड रहे थे, क्योकि उनको देश-प्रेम की प्रेरणा थी, हमले का डर था और उनमे अपनी जीवन-शैली को बनाये रखने की ख्वाहिश थी। फिर भी रूस की लडाई के लिए जी-जान से कोशिश और दूसरे देशो की कोशिश में एक फर्क मालूम होता था। दूसरे लोग भी डकर्क के मौके पर या दूसरे मौको पर बडे जोरों से लडे थे, लेकिन सकट आने के कुछ ही बाद कोशिश मे एक नैतिक शिथिलता आ गई है। ऐसा मालूम होता था कि भविष्य के बारे मे लोगो के दिल मे शक है। हा, यह बात जरूर थी कि किसी-न-किसी तरह लडाई जीती जानी चाहिए। जहा-तक सोवियत सघ का सवाल है, वहां भविष्य और मौजूदा वक्त, दोनो के ही बारे मे पूरा विश्वास है और न वहा कोई शक है न कोई विवाद। (हा, यह बात सच है कि वहा विवाद को बढावा नही दिया जाता)। कम-से-कम, जो खबरें मिलती हैं, उनसे रूस के बारे मे यही अदाज होता है।

लेकिन हिंदुस्तान मे? मौजूदा हालत के लिए सख्त नफरत थी, और भविष्य भी अंधेरे से पूरी तरह भरा मालूम देता था। जनता मे देश-भक्ति की भावना की कोई प्रेरणा नही थी। सिर्फ हमले से हिफ़ाजत की ख्वाहिश थी। उससे भी शायद दुर्दशा बढ़ती। थोडे-से लोगो की प्रेरणा

अतर्राष्ट्रीय बातो को ध्यान मे रखते हुए थी। इस सबके साथ विदेशी साम्राज्यवादी ताकत के हाथो शोषण के खिलाफ, कुचले जाने के खिलाफ, और हुक्म पाने के खिलाफ नाराजी की भावनाए भरी हुई थी। इस ढाचे मे बुनियादी गलती थी। इसमे सारी बातें एक स्वेच्छाचारी की इच्छा और सनक पर निर्भर थी। आज़ादी सभी को प्यारी होती है और उन लोगो को तो खासतौर से, जिनकी आज़ादी छिन गई है, या जिनकी आज़ादी छिनने का डर है। आज की दुनिया मे आज़ादी पर बहुत-सी पाबदिया हैं और उसके लिए कितनी ही शर्तें है। लेकिन जिनके पास आज़ादी नही है, वे इन पाबदियो का खयाल नही करते। आज़ादी उनका आदर्श बन जाती है, यहातक कि उसकी भूख इतनी ज़बरदस्त हो जाती है कि उस ख्वाहिश के लिए सब कुछ कुरबान किया जा सकता है। अगर कोई चीज़ इस इच्छा से मेल नही खाती या उसमे अडचन डालती है, तो लाज़िमी बात है कि उस चीज़ को नुक़सान उठाना पडेगा। आज़ादी की ख्वाहिश को, जिसके लिए हिंदुस्तान मे बहुत-से लोगो ने मेहनत की थी और तकलीफे सही थी, सिर्फ धक्का ही नही पहुचा, बल्कि ऐसा मालूम हुआ कि उसकी गुजाइश भी पीछे हटकर किसी सुदूर धुधले भविष्य मे पहुच गई है। असल मे दुनिया की आज़ादी की लडाई मे उस ख्वाहिश को जोडने और उसकी शक्ति के विस्तृत भडार का हिंदुस्तान और दुनिया की आज़ादी और हिंदुस्तान की हिफ़ाज़त के लिए फायदा उठाने की जगह हिंदुस्तान को लडाई से अलहदा कर दिया गया था और उस सिलसिले मे अब कोई उम्मीद नही थी। किसी भी जन-समूह को, यहातक कि दुश्मनो को भी, नाउम्मीद छोडना कभी भी अक्लमदी नही है।

हिंदुस्तान मे कुछ ऐसे लोग भी थे, जिनकी निगाह मे यह लडाई लडनेवाले देशो के राजनीतिज्ञो की छोटी-छोटी आकाक्षाओ से कही ज्यादा बडी चीज़ थी। उनको उसमे एक इन्कलाबी सचाई दिखाई दी। वे ऐसा महसूस करते थे कि उसका आखिरी नतीजा राजनीतिज्ञो के बयानो, समझौतो और फौजी जीत से कही ज्यादा बडी चीज़ होगा और दुनिया में कही ज्यादा रद्दो-बदल होगी। ऐसे आदमी लाजिमी तौर से गिनती मे बहुत थोडे थे। दूसरे देशो की तरह यहा भी ज्यादातर लोगो का सकुचित दृष्टि-कोण था। इसको वे असलियत कहते थे और उन पर तात्कालिक नतीजो का ज्यादा असर होता था। कुछ लोग, जो मौकापरस्त थे, उन्होंने अपने-आपको ब्रिटिश नीति के अनुकूल बना लिया और वे उसके मुताबिक चलने लगे। अगर ब्रिटेन की जगह और किसीकी हुकूमत होती, तो भी वे इसी तरह

साथ देते और उस हुकूमत की नीति के मुताबिक चलते। कुछ लोगो में इस नीति के खिलाफ बहुत जोरो की प्रतिक्रिया हुई। उनको ऐसा मालूम पडा कि इस नीति के आगे सिर झुकाने के मानी हिंदुस्तान या दुनिया के उद्देश्य के साथ विश्वासघात था। बहुत-से आदमी तो सिर्फ निष्क्रिय थे, खामोश थे—यह हिंदुस्तानियो की वही पुरानी कमी थी, जिसके खिलाफ हम इतने अरसे से लडे थे।

जिस वक्त हिंदुस्तान के दिमाग मे द्वंद्व चल रहा था और नाउम्मीदी की भावना बढ रही थी, गाधीजी ने कितने ही लेख लिखे, जिनसे अचानक जनता के अस्पष्ट विचारो को एक नई दिशा मिली, या जैसा अक्सर होता है, जनता के अस्पष्ट विचारो को उन्होने एक शक्ल दे दी। उस नाजुक मौके पर निष्क्रियता या उस वक्त की घटनाओ के सामने चुपचाप सिर झुकाने की बात उन्हें बरदाश्त नहीं हुई। इस हालत का मुकाबला करने के लिए सिर्फ यही रास्ता था कि हिंदुस्तान की आजादी को मजूर कर लिया जाये। तब मित्र-राष्ट्रो के सहयोग के साथ आजाद हिंदुस्तान हमले का मुकाबला करता। अगर यह मजूरी नही मिलती, तो मौजूदा ढाचे को चुनौती देने के लिए कुछ कार्रवाई करनी चाहिए और जनता को उस काहिली से, जो उसे पगु बना रही है और उसे हर तरह के हमले का शिकार बना रही है, जगाना चाहिए।

इस माग मे कोई नई बात नही थी, क्योकि इसमे सिर्फ उसी बात को दुहराया गया था, जो हम बराबर कहते आये थे, लेकिन उनके लेखो और व्याख्यानो मे एक नया जोश था और एक नई तेजी थी। और उनमे काम करने के लिए इशारा था। इसमे शक नही था कि उस वक्त हिंदुस्तान मे जो भावना चारो तरफ छाई हुई थी, उसे वह जाहिर करते थे। दोनो की आपसी लडाई मे राष्ट्रीयता ने अतर्राष्ट्रीयता पर जीत पाई और गाधीजी के नये लेखों ने सारे हिंदुस्तान मे हलचल मचा दी। फिर भी इस राष्ट्रीयता का अतर्राष्ट्रीयता से कभी भी विरोध नही था और वह भरसक कोशिश कर रही थी कि व्यापक हितो से मेल खाने का कोई रास्ता निकल आये। लेकिन यह तभी मुमकिन था, जब उसको इसके लिए एक सम्मानपूर्ण और प्रभावपूर्ण मौका मिले। दोनो के बीच मे कोई लाजिमी झगडा नही था, क्योकि यूरोप की आक्रामक राष्ट्रीयता की तरह यहा की राष्ट्रीयता मे दूसरो से छेडखानी करने की कोशिश नही थी। यहा तो असली फायदे के लिए सहयोग की ही कोशिश थी। सच्ची अतर्राष्ट्रीयता के लिए राष्ट्रीय आजादी जरूरी और बुनियादी मालूम होती थी और इसलिए अतर्राष्ट्रीयता के लिए और

पर ज्यादा व्यापक हितो को ध्यान मे रखते हुए सोचा। लेकिन उनका बुनियादी रुख बराबर बना रहा, हिंदुस्तान मे ब्रिटिश स्वेच्छाचारी और कुचलनेवाले शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाना उन्हें मजूर नही था और उसको चुनौती देने के लिए उनकी बहुत जोरदार ख्वाहिश थी। उनके लिहाज से उस वक्त सिर झुकाने के मानी ये थे कि हिंदुस्तान की आत्मा टूट जायेगी और लडाई की चाहे जो शक्ल हो, और उसका चाहे जो नतीजा हो, उसकी जनता गुलामो की तरह काम करेगी और बहुत अरसे तक उसे आजादी हासिल नही होगी। साथ ही उसके मानी ये होगे कि आक्रमणकारी का भी विरोध नही होगा और उसके सामने सिर झुका दिया जायेगा और यह तो उस वक्त भी होगा, जब एक अस्थायी फौजी हार हुई हो, या कुछ वक्त के लिए पीछे हटकर नया मोर्चा बनाया गया हो। इसके मानी ये होगे कि जनता की पूरी-पूरी नैतिक गिरावट होगी, और पिछली एक चौथाई सदी से आजादी की लडाई बराबर लडते हुए जो ताकत जनता ने हासिल की थी, वह उसे भी खो देगी। इसके मानी ये भी होगे कि दुनिया हिंदुस्तान की आजादी की माग को भूल जायेगी और लडाई के बाद समझौते मे पुरानी साम्राज्यवादी आकाक्षाओ और प्रवृत्तियो का ही खास असर होगा। हिंदुस्तान की आजादी के वह जी-जान से इच्छुक थे। उनके लिए हिंदुस्तान मात्र प्यारी जन्मभूमि से भी कही ज्यादा बडी चीज थी। दुनिया की सारी सताई हुई और गुलाम जनता का हिंदुस्तान एक प्रतीक था और वह ही एक ऐसी अचूक कसौटी था, जिस पर किसी भी सारी दुनिया के ताल्लुक रखनेवाली नीति की सही जाच हो सकती थी। अगर हिंदुस्तान गुलाम रहता, तो सारी नौआबादिया और गुलाम देश भी अपनी मौजूदा गुलामी की हालत मे बने रहते और तब तो यह लडाई बिलकुल ही बेकार लडी गई होती। यह जरूरी था कि लडाई की नैतिक बुनियाद को बदल दिया जाये। फौजें, समुद्री बेडे और हवाई फौजें अपने-अपने दायरो मे काम करती और हिंसा के बेहतर तरीको से वे लडाई जीत सकती थी, लेकिन उस जीत का आखिरी क्या नतीजा? और इसके अलावा खुद हथियारोंवाले युद्ध मे भी नैतिक सहारे की जरूरत होती है, क्या नेपोलियन ने नही कहा था कि लडाई मे "नैतिक और भौतिक पहलुओ मे तीन और एक का अनुपात है"? दुनिया-भर के करोडो गुलाम और सताये हुए लोगो का यह भरोसा और यह यकीन कि यह लडाई आजादी के लिए है, एक ऐसा नैतिक जोश लाता, जो खुद लडाई के सकरे नजरिये से भी बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण होता और उसका उससे भी ज्यादा महत्व आने-

वाली शाति के लिए होता। इसी बात से कि लडाई की गति में एक सकट उठ खडा हुआ था, यह जरूरत जाहिर होती थी कि उसकी नीति और इस नजरिये मे रद्दोबदल होनी चाहिए और इन करोडो सुस्त और शक से भरे लोगो को जोश के साथ मदद देनेवाला बना लेना चाहिए। अगर यह जादू हो जाता, तो धुरी-राष्ट्रो की सारी फौजी ताकत बेकार रहती और उनका पतन निश्चित हो जाता। खुद धुरी-राष्ट्रीय देशो के बहुत-से लोगो पर दुनिया-भर मे छाई हुई इस जोरदार भावना का असर होता।

जनता की काहिली से भरी इस निष्क्रियता को मुकाबले की, सिर न झुकाने की भावना मे बदल देना हिंदुस्तान मे एक बहुत अच्छी बात होती। हालाकि चुपचाप सिर न झुकाने की बात, ब्रिटिश अधिकारियो के मनमाने हुक्म के खिलाफ शुरू होती, लेकिन आगे चलकर उसे आक्रमण-कारी के मुकाबले के लिए बदला जा सकता था। एक के सामने गुलामी और दब्बूपन से दूसरे के सामने भी वही गिरावट और बेइज्जती की हालत होती।

इन सब दलीलो को हम जानते थे। हम उनमे विश्वास करते थे और अक्सर उनसे हमने काम लिया था। लेकिन बडे दुख की बात, तो यह थी कि ब्रिटिश सरकार ने यह जादू नही चलने दिया, यहातक कि सिर्फ लडाई के दौरान के लिए भी हिंदुस्तान की समस्या को सुलझाने की हमारी सारी कोशिशें नाकामयाब रही और लडाई के उद्देश्यो का ऐलान करने की हमारी सारी प्रार्थनाए भी नामजूर हुई। यह बात तय थी कि इस ढग की कोशिश आगे भी नाकामयाब रहेगी? तब क्या हो? अगर यह एक सघर्ष होता, तो चाहे नैतिक और दूसरी बुनियादो से वह कितना ही न्याय्य क्यो न हो, इसमे कोई शक नही था कि हिंदुस्तान की लडाई की कोशिश मे और वह भी खासतौर से ऐसे वक्त मे, जब हमले का बहुत बडा खतरा हो, वह सघर्ष बहुत ज्यादा गडबड करता। इस तथ्य को हम भुला नही सकते थे। और फिर भी, एक अजीब-सी बात है, इसी खतरे की ही वजह से तो हमारे दिमाग मे यह सकट उठा था। हमारे देश मे बदइतजामी होती और वे लोग, जिनको हम अयोग्य समझते थे और जो अवसर के अनुरूप सार्वजनिक विरोध के सगठन का भारी बोझ सभालने के बिलकुल भी काबिल नही थे, हमारे देश को बरबाद करते। हम इस सबके लिए सिर्फ एक तमाशबीन की तरह चुप नही रह सकते थे। अपनी सारी दबी भावना और रुके जोश के लिए हमको एक निकास की, कुछ सक्रियता की, जरूरत थी।

गाधीजी की उम्र बढ रही थी, वह सत्तर के ऊपर थ। एक लबी और

उत्तेजना और उम्मीदी आ गई। घटनाए कांग्रेस के फैसले और प्रस्ताव का इतजार नही कर रही थी। गाधीजी की बातो से वे आगे बढ गई थी और अब उनका खुद का बहाव उन्हे आगे बढाये ले जा रहा था। यह बात जाहिर थी कि चाहे गाधीजी सही हो या गलत, उन्होने जनता के उस वक्त के मिजाज को एक रूप-रेखा दे दी है। उसमे एक लाचारी भरी हुई थी और उसमे एक ऐसी भावुकता का जोर था कि तर्क, दलील, ठडे दिमाग से सोच-विचार या काम के नतीजे का खास खयाल नही था। उन नतीजो को आखो मे ओझल नही किया गया था। यह महसूस किया जाता था कि चाहे कुछ हासिल हो या न हो, इन्सानी तकलीफ की शक्ल मे बहुत भारी कीमत चुकानी होगी। लेकिन रोजाना दिमाग की हद दर्जे की परेशानी की शक्ल मे जो कीमत देनी पड रही थी, वह भी बहुत ज्यादा थी और उससे छुटकारे की कोई उम्मीद नही थी। दुर्भाग्य के सामने चुपचाप सिर झुकाने की बनिस्बत यह ज्यादा बेहतर था कि सक्रियता के बडे समुदर मे कूद पडा जाये। यह कोई राजनीतिज्ञो का फैसला नहीं था, यह तो उस जनता का था, जो लाचार हो चुकी थी और अब जिसे नतीजो की परवाह नही थी। फिर भी हमेशा दलील का अपना असर था। आपस मे विरोध रखनेवाली भावनाओ के बीच से रास्ता निकालने की कोशिश थी, ताकि मानव-स्वभाव की बुनियादी विषमताओ मे कोई सतुलन हो सके। लडाई काफी लबी होती और कितने ही बरसो तक जारी रहती। कितने ही बार विनाश हो चुका था और आगे और भी ज्यादा होता। लेकिन इन सबके होते हुए भी लडाई जारी रहती, जबतक खुद वह जोश ही खत्म न हो जाता, जिसने इस लडाई को शुरू किया और अब जिस जोश को लडाई ने बढा दिया था। लडाई मे इस बार अधूरी कामयाबी नही होनी चाहिए थी। अक्सर ना-कामयाबी से अधूरी कामयाबी ज्यादा तकलीफ देती है। लडाई की दिशा सिर्फ फौजी-क्षेत्र मे ही गलत नही थी, बल्कि उससे भी ज्यादा गलती उन बुनियादी उद्देश्यो मे थी, जिनके लिए लडाई लडी जा रही थी। शायद हमारी कार्रवाई से इस पिछली गलती की तरफ दुनिया का ध्यान जाता और शायद उसमे एक नई और वाछित दिशा मे तब्दीली होती और चाहे फौरन सफलता न मिलती, लेकिन आगे चलकर मकसद की हिफाजत होती और इस तरह भविष्य मे फौजी काम मे भी बहुत भारी मदद मिलती।

अगर एक तरफ जनता का मिजाज बिगड रहा था, तो दूसरी तरफ सरकार का भी मिजाज बिगड़ रहा था। उसके लिए किसी भावुकता की

या किसी मजबूरी की जरूरत नही थी। यह तो उसकी आदत थी और इसी ढंग से सरकार काम करती थी। किसी गुलाम देश पर कब्जा करने के बाद विदेशी हुकूमत का यही ढग होता है। ऐसा महसूस होता था कि दिल से वह एक ऐसा मौका चाहती थी कि हमेशा के लिए देश मे विरोध की हिम्मत करनेवालो को कुचल दिया जाये। और इसके लिए उसने बाक़ायदा तैयारी की।

घटनाए होती रही। फिर भी, अजीब-सी बात थी कि गाधीजी ने, जो हिंदुस्तान की इज्जत बचाने के लिए और उसकी आजादी के अधिकार पर ज़ोर देने के लिए (जिससे वह एक आज़ाद राष्ट्र की तरह लड़ाई मे हमले के खिलाफ पूरा सहयोग दे सके) किसी-न-किसी कार्रवाई के लिए कह रहे थे, यह बात नही बताई कि वह कार्रवाई किस ढग की हो। शातिपूर्ण तो वह होती ही, लेकिन उसके आगे ? उन्होंने ब्रिटिश सरकार से समझौते की सभावना पर ज्यादा ज़ोर दिया। उन्होंने अपना यह इरादा ज़ाहिर किया कि वह फिर सरकार से इस मामले पर बातचीत शुरू करेंगे और कोई-न-कोई रास्ता निकालने की भरसक कोशिश करेंगे। आल इडिया काग्रेस कमेटी की बैठक की उनकी आखिरी स्पीच मे समझौते के लिए दिली दरख्वास्त थी और इस मामले मे वाइसराय से मिलने का उनका पक्का इरादा ज़ाहिर किया गया था। न तो सार्वजनिक रूप मे और न आपसी बातचीत मे ही, उन्होंने काग्रेस-कार्यसमिति को यह बताया कि उनके दिमाग मे किस ढग की कार्रवाई का खयाल था। सिर्फ एक बात ज़रूर ज़ाहिर थी। बातचीत मे उन्होंने इशारा किया था कि समझौते के नाकामयाब होने पर किसी ढग के असहयोग की, विरोध मे एक दिन की हड़ताल की, देश में सारे काम-काज को रोकने की, वह सलाह देंगे। एक ढग से वह एक दिन के लिए आम हड़ताल होगी और राष्ट्र के विरोध का प्रतीक होगी। यह भी एक धुधला-सा इशारा था, और इस पर उन्होंने विस्तार से कुछ नही कहा। जबतक समझौते की पूरी-पूरी कोशिश न कर ली जाये, वह आगे कोई योजना भी नही बनाना चाहते थे। इसलिए न तो उन्होंने, और न काग्रेस-कार्यसमिति ने ही, कोई हिदायतें जारी की—न सार्वजनिक रूप मे और न आपसी तौर पर। हा, यह ज़रूर कहा गया कि जनता को हर नई परिस्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए और हर हालत मे उसका काम शातिपूर्ण और अहिंसात्मक होना चाहिए।

हालाकि इस विकट उलझन से निकलने की गाधीजी को अब भी उम्मीद थी, लेकिन उनके अलावा और बहुत थोड़े-से ही लोग थे, जिन्हें अब

उम्मीद वाकी वची थी। घटनाओ के वहाव से और सारे चढाव-उतारो से यह वात लाजिमी मालूम होती थी कि झगडा होगा। जव ऐसी हालत आ जाती है, तो वीच की जगह का कोई महत्व नही रहता, और हर आदमी को यह तय कर लेना पडता है कि उसे किस तरफ रहना है। काग्रेसियो के लिए या उन लोगो के लिए, जो इसी ढग से सोचते थे, तय करने का कोई सवाल ही न था। यह वात तो सोची भी नही जा सकती थी कि जव सरकार अपनी पूरी ताकत से जनता को कुचलने की कोशिश करे, तव हममे से कुछ लोग अलग खडे हुए तमाशा देखते रहे। यह तो ऐसी लडाई थी, जिसमें हिंदुस्तान की आजादी का सवाल मिला हुआ था। हा, वहुत-से ऐसे लोग है, जो सहानुभूति के होते हुए भी एक तरफ खडे रहते हैं। अपनी पिछली कार्रवाइयो के नतीजे से अपने-आपको वचाने की ऐसी कोई भी कोशिश किसी भी मशहूर काग्रेसी के लिए शर्म और वेइज्जती की वात होती। लेकिन इसके अलावा भी उनके सामने रास्ता तय करने का कोई सवाल नही था। हिंदुस्तान के सारे पुराने इतिहास ने, उसकी मौजूदा तकलीफ ने, भविष्य की आशा ने, उनको आगे वढाया और उनके लिए एक ही रास्ता रह गया। "गुजरे वक्त पर गुजरे वक्त की तह अपने-आप वरावर जमती जाती है"—यह वात वर्गसन ने अपने 'क्रिएटिव इवोल्यूशन' मे कही है। साथ ही असल मे "भूतकाल तो स्वय अपनी रक्षा करता है। पूरे मानो मे तो वह हर मिनट हमारा पीछा करता है। वेशक अपने भूतकाल के थोडे-से हिस्से को ही ध्यान मे रखकर हम सोचते हैं। इसमे हमारी आत्मा की, मन, वचन और कर्म की, वुनियादी प्रवृत्ति भी शामिल होती है।"

ववई मे ७ और ८ अगस्त, १९४२ को अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी ने खुली सभा मे उस प्रस्ताव पर, जो अव 'भारत-छोडो'-प्रस्ताव के नाम से मशहूर है, वहस की और सोच-विचार किया। वह एक लवा और विशद प्रस्ताव था, "खुद हिंदुस्तान और सयुक्त राष्ट्रो के मकसद की कामयावी की खातिर" हिंदुस्तान की आजादी की फौरन मजूरी और भारत मे व्रिटिश हुकूमत के खात्मे के लिए एक तर्कसगत दलील था। "इस हुकूमत का जारी रहना हिंदुस्तान को गिरा और कमजोर कर रहा है और उसे दिन-व-दिन अपनी हिफाजत करने और दुनिया की आजादी के मकसद मे साथ देने मे असमर्थ वनाता जा रहा है।" "साम्राज्य पर अधिकार से शासक शक्ति की ताकत नही वढी, वल्कि वह उसके लिए एक वोझ और एक अभिशाप हो गया है। हिंदुस्तान, जो आधुनिक साम्राज्य का खास शिकार है, अव इस सवाल की कसौटी वन गया है। हिंदुस्तान की आजादी से ही व्रिटेन

और सयुक्त राष्ट्रो की जाच होगी। इसीसे एशिया और अफरीका के लोगो मे उम्मीद और जोश आ सकता है।" प्रस्ताव मे यह सलाह दी गई कि अस्थायी सरकार की स्थापना हो, जो मिली-जुली होगी और जिसमे जनता के सभी खास दलो और वर्गो के प्रतिनिधि होगे। इस सरकार का "सबसे पहला काम यह होगा कि मित्र-शक्तियो से मिलकर, अपनी सारी हथियार-बद फौजो और गैर-हथियारबद ताकतो का फायदा उठाकर हिंदुस्तान की हिफाजत की जाये और हमले को रोका जाये।" यह सरकार सविधान बनानेवाली सभा की योजना तैयार करेगी और यह सभा हिंदुस्तान की जनता के सभी समुदायो का मान्य एक सविधान बनायेगी। सविधान सघीय होगा और सघ मे शामिल होनेवाले हिस्सो को ज्यादा-से-ज्यादा स्वायत्तता होगी और कुछ खास बातो को छोडकर सारे अधिकार उन हिस्सो की सरकारो को होगे। "आजादी हिंदुस्तान को इस योग्य बनायेगी कि जनता के दृढ निश्चय और उसकी शक्ति के साथ वह हमले का प्रभावपूर्ण ढग से मुकाबला कर सके।"

हिंदुस्तान की आजादी दूसरी एशियाई कौमो की आजादी का प्रतीक और पेशकदम होगी। इसके अलावा आजाद कौमो के एक दुनिया भर के सघ का प्रस्ताव था, जिसकी शुरुआत सयुक्त राष्ट्रो से हो सकती थी।

कमेटी ने कहा कि वह "चीन और रूस की हिफाजत के हक मे किसी तरह परेशानी न पैदा करने के लिए उत्सुक है। उनकी आजादी बहुमूल्य है, और उसे बनाये रखना है। और कमेटी सयुक्त राष्ट्रो की हिफाजत की ताकत को छिन्न-भिन्न न करने के लिए भी उत्सुक है।" (उस वक्त चीन और रूस के लिए सबसे ज्यादा खतरा था)। "लेकिन हिंदुस्तान के लिए और इन राष्ट्रो के लिए खतरा बढता जा रहा है। इस मौके पर निष्क्रियता और विदेशी हुकूमत के सामने सिर झुकाना हिंदुस्तान के लिए सिर्फ बेइज्जती ही नही है, बल्कि उससे अपनी रक्षा के लिए उसकी सामर्थ्य घट रही है और न तो यह दब्बूपन उस खतरे का ही जवाब है और न इससे सयुक्त राष्ट्रो की जनता की ही सेवा हो सकती है।"

कमेटी ने "दुनिया की आजादी के हित मे" फिर ब्रिटेन और सयुक्त राष्ट्रो से अपील की, लेकिन (और यहा प्रस्ताव की खास चोट थी) "अब कमेटी साम्राज्यवादी और स्वेच्छाचारी सरकार के खिलाफ अपने अधिकार के लिए दबाव डालने की राष्ट्र की प्रवृत्ति को रोकना न्यायसगत नही समझती। यह सरकार उस पर कब्जा किये हुए है, और उसको अपने और सारी दुनिया के फायदे मे काम करने से रोकती है। इसलिए हिंदुस्तान

की आज़ादी के निर्विवाद अधिकार की पुष्टि के लिए कमेटी इस बात की इजाजत देना तय करती है कि गाधीजी के लाजिमी नेतृत्व मे अहिसात्मक ढग से एक व्यापक सघर्ष शुरू किया जाये।" यह इजाजत उसी वक्त लागू होती, जब गाधीजी ऐसा फैसला करते। आखिर मे कमेटी ने कहा कि वह "काग्रेस के लिए ताक़त नही हासिल करना चाहती है। जब ताकत आयेगी, तो वह हिंदुस्तान की सारी जनता की होगी।"

अपने आखिरी व्याख्यानो मे काग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और गाधीजी ने यह साफ कर दिया कि उनका अगला कदम वाइसराय से, जो ब्रिटिश सरकार के नुमाइदा हैं, मिलना है। इसके अलावा खास-खास सयुक्त राष्ट्रो के सबसे बडे पदाधिकारियो से अपील की जायेगी कि एक सम्मानपूर्ण समझौता हो। इससे हिंदुस्तान की आज़ादी को मजूर करने के साथ-साथ हमलावर धुरी राष्ट्रो के खिलाफ सयुक्त राष्ट्रो की लडाई का मक़सद भी आगे बढेगा।

८ अगस्त, १९४२ को काफी रात गये यह प्रस्ताव आखिरी तौर पर मजूर हुआ। चद घटो बाद, ९ अगस्त को सुबह बबई मे और देश मे और दूसरी जगहो से बहुत-सी गिरफ्तारिया हुई। और इस तरह हम अहमदनगर के किले मे आये।

: १० :

फिर अहमदनगर का क़िला

१ : घटनाओं का क्रम

अहमदनगर का क़िला : तेरह अगस्त : उन्नीस सौ बयालीस

हमे यहा आये हुए दो साल हो गये। एक सपने-सी ज़िदगी के ये दो साल एक ही जगह बीते हैं—वही गिने-चुने आदमी, वही छोटा-सा पडोस, वही रोजमर्रा का ढर्रा। भविष्य मे किसी वक्त हम इस सपने से जग पडेंगे और ज़िदगी और काम-काज की बडी दुनिया मे जायेंगे, और वह दुनिया हमको बदली हुई मिलेगी। आदमी और चीजें नई-सी मालूम पडेंगी। हमको फिर उनकी याद आयेगी, पिछली स्मृतिया घेरेंगी, लेकिन फिर भी वे चीजें पहले-जैसी न होगी, और न हम ही पहले-जैसे होंगे, और शायद उनसे मेल खाना हमारे लिए मुश्किल हो। तब किसी वक़्त हमको ताज्जुब हो सकता है कि कही यह अनुभव और रोजमर्रा की ज़िदगी खुद एक नींद और सपना तो नही है, और शायद हम अचानक उस नींद और सपने से जाग पडे। इन दोनो मे कौनसी हालत जगने की है और कौनसी सपने की? क्या ये दोनों ही सच हैं, क्योंकि हमको उनका पूरी तरह अनुभव होता है और हम पर उनका असर होता है, या इन दोनो मे ही कोई असलियत नही है और ये दोनो ही सपने हैं, जो आते हैं और जाते हैं और उनके पीछे धुंधली-सी याद बाकी रह जाती है?

जेल और उसके अकेलेपन और बेकारी की वजह से सोच-विचारकी तरफ झुकाव होता है और ज़िदगी की खाली जगह को अपनी ज़िदग़ी और इन्सान के काम-काजो के इतिहास के लम्बे सिलसिले की पिछली स्मृतियो से भरने की कोशिश होती है। इस तरह पिछले चार महीनो मे लिखने के दौरान मे मैंने अपने दिमाग को हिंदुस्तान के पिछले तजुरबो और पिछले इतिहास से घेर रखा है और विचारो के झुड मे से, जो मेरे दिमाग़ मे आया, मैंने कुछ विचारो को छाट लिया और उनसे एक किताब तैयार कर दी। जो कुछ मैंने लिखा है, उस पर नजर डालते हुए ऐसा महसूस होता है कि वह अधूरा है, बे-तरतीब है और उसमे कोई ऐक्य नही है, और उसमे बहुत-

सी चीज़ो का मिश्रण है। उसमे अपने नज़रिये की बहुत अहमियत है और इसकी वजह से सारी बातो मे उसकी झलक दिखाई पडती है, हालाकि इरादा तो यह था कि सारी बातें एक विश्लेषण के रूप मे होती और उसमे सारी चीज़ो को ज्यो-का त्यो रख दिया जाता। यह व्यक्तिगत माद्दा बहुत हद तक मेरी इच्छा के खिलाफ अपने-आप आ गया है। अकसर मैंने उसे रोकने की कोशिश की और उसे रोक रखा, लेकिन कभी-कभी मैंने लगाम ढीली कर दी और उसे अपनी कलम से बाहर आने की और कुछ हद तक अपने दिमाग का प्रतिबिंब डालने की इजाज़त दी।

गुज़रे ज़माने के बारे मे लिखकर मैंने अपने-आपको गुज़रे ज़माने से आज़ाद करने की कोशिश की है। लेकिन मौजूदा वक्त अपनी सारी उलझनो और बेतरतीबियो के साथ ज्यो-का-त्यो बना रहता है, उसी तरह वह अधियारा भविष्य है, जो सामने है और इन दोनो का बोझ गुज़रे वक्त के बोझ से कुछ कम नही है। घुमक्कड दिमाग को कही ठहरने का जगह नही मिलती, और इसी वजह से यह अब भी बेचैनी से इधर-उधर घूम रहा है और इससे उसके मालिक को और दूसरे लोगो को तकलीफ होती है। इन अछूते दिमागो से, जिन पर विचारो का हमला नही हुआ और जिन पर शक की छाया नही पडी है और न कोई रेखा ही अकित हुई है और जो किसी तरह मैले नही हुए हैं, एक तरह की हसद होती है। कभी-कभी होनेवाली ज़िदगी की चोट और दर्द के बावजूद, उनके लिए ज़िदगी कितनी आसान है!

एक के बाद दूसरी बाते होती हैं और घटनाओ का अनत और बेरोक प्रवाह जारी रहता है। किसी खास घटना को समझने के लिए हम उसको अलग कर लेते हैं और सिर्फ उसीको देखते हैं, मानो वही आदि और अत दोनो हो, और उससे ठीक पहले की किसी बात का नतीजा हो। फिर भी उसका शुरू का कोई सिरा नही है, और वह एक अनत क्रम मे सिर्फ एक कडी है। और वह तो पहले की सारी बातो का नतीजा है और अनगिनत आदमियो के इरादो, इच्छाओ और झुकावों का आखिरी नतीजा है। ये इरादे, इच्छाए और झुकाव आपस मे लडते हैं, साथ देते हैं और उनसे एक ऐसी बिलकुल नई चीज़ बनती है, जो किसी भी आदमी की चाही हुई चीज़ से अलग होती है, लेकिन साथ ही जो उन सबकी इच्छाओ वगैरह का मिला-जुला नतीजा है। इन इच्छाओ, इरादो और झुकावो पर खुद बहुत-सी पहली घटनाओ और पहले अनुभवों की पाबदिया लगी हैं और यह नई घटना खुद भविष्य पर पाबदिया लगायेगी। खुशकिस्मत आदमी या ऐसा नेता, जो बहुत लोगो पर असर डालता है, इस क्रम मे निस्सदेह एक बहुत बडा हिस्सा लेता

है, लेकिन वह खुद भी पिछली घटनाओ और पिछली ताक़तो की उपज और खुद उसके असर पर उनकी पाबंदिया लगी हुई हैं।

२ : दो पृष्ठभूमियां : हिंदुस्तानी और ब्रिटिश

हिंदुस्तान मे, अगस्त १९४२ की सारी घटनाए अचानक ही नहीं हुईं, बल्कि वे पिछली सारी घटनाओ का नतीजा थी। इनके बारे मे बहुत-कुछ लिखा जा चुका है—कुछ हमले की शक्ल मे, कुछ नुक्ताचीनी की शक्ल मे, और कुछ बचाव और सफाई के रूप मे। फिर भी इन लेखो मे बहुत हद तक असलियत ला-पता है। उसकी वजह यह है कि इन लेखो मे एक चीज़ को सिर्फ राजनैतिक पहलू से देखा गया है, जबकि वह चीज़ राजनीति से कहीं ज्यादा गहरी है। सबसे पीछे वह ज़ोरदार भावना थी कि अब आगे विदेशी मनमाने राज्य मे रहना या उस राज्य को बरदाश्त करना मुमकिन नहीं है। इसके सामने और सारे सवाल फीके पड गये। ऐसे सवाल कि इस राज्य के अदर किसी दिशा मे कोई सुधार या कोई तरक्की सभव है या नही, या चुनौती का नतीजा कही ज्यादा खतरनाक और नुकसानदेह न हो, अब गौण हो गये। सिर्फ इस राज्य से छुटकारा पाने की बहुत ज़ोरदार ख्वाहिश थी, और उस छुटकारे के लिए कोई भी कीमत दी जा सकती थी। सिर्फ़ यही भावना थी कि और चाहे जो कुछ हो, यह राज्य अब बरदाश्त नहीं किया जा सकता।

इस भावना मे कोई नया अनुभव नही था, यह कितने ही सालो से थी। लेकिन पहले इसे कई ढंग से रोक रखा गया था और घटनाओ के मुताबिक उन पर काबू रखा गया था। लडाई के खुद दो असर हुए—रुकावट भी हुई, निकास भी मिला। उससे बडी-बडी घटनाओ और इन्कलाबी तब्दीलियो के लिए हमारे दिमाग खुल गये। निकट भविष्य मे अपनी उम्मीदों के पूरे होने की सभावना दिखाई दी। मदद करने की ख्वाहिश की वजह से, और कम-से-कम धुरी राष्ट्रो के खिलाफ लडाई मे कोई अडचन न डालने की वजह से, बहुत-से ऐसे कामो पर रोक लग गई, जिन्हे हम करते।

लेकिन ज्यो-ज्यो लडाई आगे बढी, यह बात दिन-ब-दिन ज्यादा साफ़ होती गई कि पच्छिमी लोकतत्री सरकारें किसी रद्दो-बदल के लिए नही लड रही थी, बल्कि वे पुराने ढर्रे को ही बनाये रखना चाहती थीं। लडाई से पहले उन्होंने फासिस्तवाद को खुश करने की कोशिश की थी, सिर्फ नतीजा के डर की ही वजह से नही, बल्कि कुछ हद तक एक-से आदर्श होने के नाते, आपसी हमदर्दी की वजह से, और इसके दूसरी तरफ जो मुमकिन रास्ते थे, वे उन्हे सख्त नापसद थे। नात्सी और फासिस्त मत कुछ अचानक ही नही पैदा

हुए। यह नही कहा जा सकता कि उनकी वजह इतिहास का सयोग है। पिछली घटनाओं के ताते की वजह से, यानी साम्राज्यवाद के बहाव से, जातीय भेद-भाव से, राष्ट्रीय सघर्षों से, ताकत के केंद्रीयकरण से, वैज्ञानिक प्रणालियो की ऐसी तरक्की से, जिसको समाज के ढाचे मे फलने-फूलने की जगह नही मिली, लोकतत्री आदर्श और उसके खिलाफ समाज के ढाचे की आपसी लडाई से नात्सी और फासिस्त मतो का जन्म स्वाभाविक था। पच्छिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका मे राजनैतिक लोकतत्र ने कौमी और व्यक्तिगत तरक्की का दरवाज़ा खोलकर ऐसी नई ताकतो और ऐसे नये खयालो का सोता खोल दिया, जिनका बहाव लाज़िमी तौर पर आर्थिक बराबरी की तरफ था। उस हालत के भीतर ही झगडे की जड थी। या तो राजनैतिक लोकतत्र का फैलाव बढेगा, या उसको कुचलने और खत्म करने की कोशिश होगी। बराबर रुकावटो के होते हुए भी लोकतत्र का फैलाव बढा और उसमे जनता की अहमियत धीरे-धीरे बढी। आगे चलकर वह राजनैतिक सगठन का ऐसा आदर्श बन गया, जो सबको मजूर था। लेकिन एक ऐसा वक्त आया, जब उसके फैलाव से और ज्यादा बढने से सामाजिक ढाचे की बुनियाद को खतरा हुआ, और तब उस ढाचे के हिमायतियो ने शोर मचाना शुरू किया, वे लडने को तैयार हो गये और रद्दो-बदल का विरोध करने के लिए उन्होने अपना सगठन बनाया। उन मुल्को मे, जहा हालत ऐसी थी कि यह सकट ज्यादा तेज़ी से बढ गया, लोकतत्र को खुले तौर पर जान-बूझकर कुचल दिया गया और नात्सी और फासिस्त मत सामने आये। पच्छिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका मे भी यही ढर्रा चालू था, लेकिन कई और ऐसी वजहें थी कि उस सकट मे रुकावटें हुई और वह तेज़ी से नही बढ पाया। शायद शातिपूर्ण और लोकतत्री सरकार की रवैया भी एक ऐसी वजह थी कि जिसने सकट को टालने मे मदद दी। इन लोकतत्री सरकारो के कब्ज़े मे साम्राज्य थे और वहा बिलकुल भी लोकतत्र नही था। वहा वही तानाशाही, जो फासिस्तवाद मे होती है, चल रही थी। फासिस्त देशो की तरह वहा भी हुकूमत ने प्रतिक्रियावादियो, मौकापरस्तो और सामतशाही के अवशेषो से आज़ादी की माग को दबा देने के लिए मेल कर लिया। वहा उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि हालाकि लोकतत्र एक अच्छा आदर्श है और उनके अपने देश मे वह वाछनीय है, फिर भी नौआबादियो को अपनी खास हालतो मे वह मौज़ू नही था। इस तरह यह एक कुदरती नतीजा था कि पच्छिमी लोकतत्रो का फासिस्तवाद के साथ आदर्श के नाते एक क़रीबी रिश्ता हो। हा, वे उसकी बेरहमी और बहुत-सी भद्दी बातो को नापसद करते थे।

जब अपने बचाव के लिए उनको मजबूर होकर लडना पडा, तो उन्होंने उसी ढाचे को फिर से कायम करने का विचार किया, जो इस बुरी तरह नाकामयाब हुआ था। लडाई को इसी निगाह से देखा गया और यही कहा गया कि यह बचाव की लडाई है और एक तरह से यह सही था। लेकिन लडाई का एक दूहरा पहलू भी था। यह नैतिक पहलू था, और यह फ़ौजी मकसद से कही ज्यादा बडा था। और इसने फासिस्त विचारधारा और नजरिये पर जोरदार हमला किया, क्योंकि जैसा कहा गया था, यह लडाई दुनिया की जनता की आत्मा की हिफाजत के लिए थी। उसमे न सिर्फ फासिस्त मुल्को के, बल्कि सयुक्त राष्ट्रो के लिए भी रद्दो-बदल के बीज थे। लडाई के इस नैतिक पहलू को जोरदार प्रचार से ढक दिया गया और बचाव पर और गुजरे ढर्रे को कायम रखने पर जोर दिया गया। एक नया भविष्य बनाने की बात का कोई जिक्र ही नही था। पच्छिम मे भी ऐसे बहुत-से लोग थे, जो इस नैतिक पहलू मे दिल से यकीन करते थे और वे एक ऐसी नई दुनिया बनाना चाहते थे, जिसमे इन्सानी समाज की कामिल नाकामयाबी के खिलाफ, जो महायुद्ध से जाहिर हो गई थी, अब कोई बचाव हो। सभी जगह ऐसे लोगो की एक बहुत बडी तादाद थी। इनमे खासतौर से वे लोग शामिल थे, जो लडाई के मैदान मे लडे और मरे थे। इन लोगो को इस रद्दो-बदल की धुवली-सी, लेकिन पूरी उम्मीद थी। इसके अलावा करोडो ऐसे सताये हुए लोग थे, जो लुटे हुए थे और जिनके साथ जातीय भेद-भाव बरता गया था। ऐसे लोग यूरोप और अमरीका मे थे, लेकिन उनसे कही ज्यादा एशिया और अफरीका मे थे। ये लोग लडाई की पिछली यादो को मौजूदा तकलीफो से अलहदा नही कर सकते थे। चाहे उनकी उम्मीद बेजा ही क्यो न हो, फिर भी उन्हे बहुत भारी उम्मीद थी कि लडाई से किसी-न-किसी तरह से वह बोझ, जो उन्हे कुचल रहा था, हट जायेगा।

लेकिन सयुक्त राष्ट्रो के नेताओं की आखें दूसरी तरफ थी। उनकी निगाह गुजरे वक्त की तरफ थी, आगे भविष्य की तरफ नही। कभी-कभी भविष्य के बारे मे, लोगो की भूख मिटाने के लिए वे सुदर व्याख्यान देते थे। लेकिन उनकी नीति का इन सुदर शब्दो से कोई ताल्लुक नही था। मि० विन्स्टन चर्चिल के लिए यह लडाई खोये हुए को फिर से पाने के लिए थी। चर्चिल के लिए लडाई मे इससे ज्यादा कुछ नही था। उनका मकसद इग्लैंड के सामाजिक ढाचे को और उसके साम्राज्य के साम्राज्यवादी ढाचे को मामूली रद्दो-बदल के साथ जैसा-का-तैसा बनाये रखना था। प्रेसीडेंट रूजवेल्ट की बातें ज्यादा भरोसा दिलानेवाली थी, लेकिन उनकी नीति

मे कोई खास फ़र्क नही था। फिर भी सारी दुनिया के लोगो की निगाह उनकी तरफ़ थी। उन्हें उम्मीद थी कि इस आदमी मे ऊचे दर्जे की राजनैतिक योग्यता है और उसका नजरिया बडा और समझदारी का है।

इस तरह जहातक ब्रिटिश राज्य के वस की बात थी, हिंदुस्तान का और बाक़ी दुनिया का भविष्य गुज़रे ज़माने से मिलता-जुलता होता और मौजूदा वक्त को भी लाज़िमी तौर पर उसीके मुताबिक होना पडता। उसी मौजूदा वक्त में इस भविष्य के बीज बोये जा रहे थे। क्रिप्स-प्रस्तावो ने, सारो मालूम पडनेवाली तरक्की के होते हुए भी, हमारे लिए नये और खतरनाक मसले पैदा कर दिये। इन मसलो से हमारी आजादी के लिए अलघ्य दीवारें बन जाने का बहुत बडा डर था। कुछ हद तक उनका यह असर हो चुका है। हिंदुस्तान मे ब्रिटिश सरकार की तानाशाही और सबकुछ समेटनेवाली मनमानी लडाई की आड मे, और उसी दौरान मे, आखिरी हद पर पहुच गई और मामूली शहरी हक़ और आजादी, दोनों ही, चारो तरफ़ पूरी तरह कुचल दिये गये। मोजूदा पीढी मे किसीको भी ऐसा अनुभव नहीं हुआ था। ये बातें बराबर हमारी गुलामी की हालत और लगातार बेइज्ज़ती की याद दिलानेवाली थी। साथ ही ये बाते भविष्य की ओर आनेवाली चीज़ो की शक्ल जताती थी, क्योंकि इस मौजूदा वक्त से ही तो भविष्य का जन्म होता। इस गिरावट के सामने सिर झुकाने के मुकाबले दूसरी हर चीज़ बेहतर मालूम दी।

हिंदुस्तान के करोडो आदमियो में से कितने इस तरह अनुभव करते थे, यह बताना नामुमकिन है। उन करोडो आदमियो में से ज्यादातर के लिए सारे चेतन अनुभव ग़रीबी और तकलीफ की वजह से जड हो गये हैं। दूसरे लोगो मे वे आदमी थे, जिनको ओहदो, रियायतो या निहित स्वार्थों ने बिगाड दिया था, या वे लोग थे, जिनका दिमाग़ विशेष अधिकारो की माग की वजह से दूसरी तरफ़ लगा हुआ था। फिर भी उक्त भावना चारो तरफ थी—कहीं उसकी तेजी कम थी, कही ज्यादा थी और कही-कही पर वह दूसरी भावनाओ से ढकी हुई थी। उस भावना मे बहुत-से दर्जे थे। इसमे एक सिरे पर ऐसे लोग थे, जिनका उसमे पक्का यक़ीन था और जिनमे सारी मुश्किलो का सामना करने की जोरदार ख्वाहिश थी, और इसका लाज़िमी नतीजा कुछ-न-कुछ कार्रवाई होती। दूसरी तरफ ऐसे लोग भी थे, जिनमें थोडी-सी, धुधला-सी हमदर्दी थी, और वे महफ़ूज़ जगह पर रहना चाहते थे। इन दोनो के बीच मे तरह-तरह के लोग थे। कुछ लोगो को इस कुचलनेवाले वातावरण मे, जो चारो तरफ था, आजादी की सास लेना मुश्किल जान

पडा और उनका दम-सा घुटने लगा, दूसरे लोग ऐसे थे, जिनका दिमाग़ मामूली और उथली बातो पर रहता था और ग़ैर-पसद हालतो के अनुरूप होने की ज्यादा सामर्थ्य थी।

हिंदुस्तान मे हुकूमत करनेवाले ब्रिटिश लोगों की पृष्ठभूमि बिलकुल दूसरी थी। असल मे वह खाई, जो हिंदुस्तानियो और अग्रेज़ो के दिमाग़ को अलग करती है, इतनी बडी है कि वह साफ ज़ाहिर हो जाती है और उनमे चाहे जो भी सही हो, हिंदुस्तान मे ब्रिटिश लोगों की शासन करने की अयोग्यता का इस अकेली बात से ही पता लग जाता है, क्योंकि अगर कुछ तरक्की करनी है, तो सरकार मे और प्रजा मे कुछ मेल, कुछ यकसा नज़रिया होना ज़रूरी है, वरना सिर्फ झगडा ही होगा, चाहे वह खुला हो या छिपा हुआ हो। हिंदुस्तान के अग्रेज़ हमेशा ब्रिटेन के सबसे ज्यादा प्रगति-विरोधी दल के ही नुमाइदे रहे हैं। उनमे और इग्लैंड के उदार दल मे शायद ही कुछ यकसा-पन हो। हिंदुस्तान मे उनके जितने ज्यादा साल बीतते जाते है उनका नज़रिया उतना ही ज्यादा सख्त होता जाता है और जब नौकरी खत्म करने के बाद वे इग्लैंड वापस जाते हैं तो वे विशेषज्ञ बन जाते हैं और हिंदुस्तानी मसलो पर सलाह देते हैं। अपने सही होने का, हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य की ज़रूरत और उसके फायदे का उन्हे पूरा और पक्का यकीन है। उनको यह यकीन भी है कि साम्राज्यवादी तरीके के नुमाइदे होने के नाते वे एक बहुत ऊचे मकसद के लिए काम कर रहे हैं। चूकि राष्ट्रीय काग्रेस ने इस राज्य की सारी बुनियाद को ही चुनौती दी है और वह हिंदुस्तान को उससे आज़ाद करना चाहती है, इसलिए वह उनकी निगाह में जनता की सबसे बडी दुश्मन बन गई। हिंदुस्तान-सरकार के उस वक्त के गृह-सदस्य सर रेजीनाल्ड मैक्सवैल ने १९४१ मे केंद्रीय असेबली मे बोलते हुए अपने दिमाग़ की साफ झलक दी। जिस शिकायत के खिलाफ अपने बचाव मे वह बोल रहे थे, वह यह थी कि काग्रेसियो, समाजवादियो और कम्युनिस्टो के साथ, जो बिना मुकदमा चलाये ही जेल मे बद कर दिये गये थे, जैसा ग़ैर-इन्सानी व्यवहार किया जा रहा था, वह जर्मन और इटालियन लडाई के कैदियो के साथ किये गये बर्ताव से भी बदतर था। उन्होंने कहा कि जर्मन और इटालियन कम-से-कम अपने देश के लिए तो लड रहे हैं, लेकिन ये लोग तो समाज के दुश्मन थे और मौजूदा ढाचे को उलट देना चाहते थे। ज़ाहिर है, उन्हे यह बात बेजा मालूम दी कि हिंदुस्तानी भी अपने मुल्क के लिए आज़ादी की ख्वाहिश करें, या हिंदुस्तान के आर्थिक ढाचे को बदलना चाहें। हालाकि उनका खुद का मुल्क जर्मनो और इटालियनो के खिलाफ एक भयकर लड़ाई

लड रहा था, फिर भी हिंदुस्तानियो के मुकावले उनकी हमदर्दी साफ तौर पर जर्मनो और इटालियनो के लिए थी। यह वात रूस के लडाई मे शामिल होने से पहले की है और दुनिया का ढाचा वदलने की कोशिश की निंदा करने मे कोई खतरा नही था। दूसरे महायुद्ध के शुरू होने से पहले फासिस्त हुकूमतो की अकसर तारीफ की गई थी। क्या खुद हिटलर ने अपने 'मीन कैंफ' मे और फिर वाद मे यह नही कहा कि वह चाहता है कि व्रिटिश साम्राज्य कायम रहे?

धुरी राष्ट्रो के खिलाफ लडाई मे हर तरह से मदद करने के लिए हिंदुस्तान की सरकार सचमुच सचित थी। लेकिन उसकी निगाह मे वह जीत अधूरी रहती, अगर साथ-ही-साथ एक जीत और न हो। और वह थी हिंदुस्तान की कौमी तहरीक को (जिसकी नुमाइंदगी खासतौर से काग्रेस करती थी) कुचल डालने की जीत। क्रिप्स-वार्ता से उसको परेशानी हुई थी और उसकी नाकामयावी पर उसको खुशी हुई। अव काग्रेस और उसका साथ देनेवालो पर आखिरी चोट करने के लिए रास्ता साफ था। मौका वहुत अच्छा था, क्योकि पहले कभी भी केंद्र और सूवो, वाइसराय और उसके खास सहकारियो को इतनी मनमानी और वेरोक ताकत नही मिली थी। लडाई की हालत नाजुक थी और यह दलील वहुत आसान थी कि किसी तरह का विरोव या झगडा वरदाश्त नही किया जा सकता। हिंदुस्तान मे दिलचस्पी रखनेवाले इग्लिस्तान और अमरीका के उदार खयालोवाले लोग क्रिप्स-चर्चा और उसके वाद के प्रचार से अव चुप कर दिये गये थे। हिंदुस्तान के सवव मे भले दिखने की हमेशा मौजूद रहनेवाली भावना इग्लिस्तान मे वढ गई थी। वहा पर ऐसा महसूस किया गया कि हिंदुस्तानी या उनमे से ज्यादातर लोग जिद्दी और झगडालू किस्म के हैं, उनका नजरिया सकरा है, वे इस मौके के खतरो को नही समझते और शायद उनकी जापानियो के साथ हमदर्दी है। यह कहा जाता था कि गाधीजी के लेखो और वयानो ने सावित कर दिया है कि उनको खुश करना असभव है और अब जो रास्ता वाकी वचा है, वह सिर्फ यही है कि एक वार, हमेशा के लिए गाधी और काग्रेस को कुचल दिया जाय।

३ : व्यापक उथल-पुथल और उसका दमन

९ अगस्त, १९४२ को, तडके ही, सारे हिंदुस्तान मे वहुत-सी गिरफ्तारिया हुई। तव क्या हुआ? कितने ही हफ्तो वाद धीरे-धीरे थोडी-सी खवरें हम तक पहुच पाई, और हम आज भी जो कुछ हुआ, उसकी सिर्फ एक अधूरी तस्वीर बना सकते हैं। सारे प्रमुख नेता आचनक ही अलग दिये गये थे

और जान पडता है किसीकी समझ मे न आता था कि क्या करना चाहिए। विरोध तो होता ही और अपने-आप ही उसके प्रदर्शन हुए। इन प्रदर्शनों को कुचला गया, उन पर गोली चलाई गई, आसू-गैस इस्तेमाल की गई और सार्वजनिक भावना को प्रकट करनेवाले सारे तरीके रोक दिये गये। और तब ये सारी दबी हुई भावनाए फूट पडी, और शहरो मे और देहाती हलको मे भीडें इकट्ठी हुई और पुलिस और फौज के साथ खुली लडाई हुई। उन्होंने खासतौर से उन चीजो पर, जो ब्रिटिश हुकूमत और ताकत की प्रतीक मालूम पडी, हमला किया। ये चीजें थी थाने, डाकखाने और रेल के स्टेशन। उन्होंने तार और टेलीफोन के तारो को काट दिया। इन निहत्थे बिना नेताओ के झुडो ने पुलिस और फौजो का सामना किया। सरकारी बयानो के मुताबिक ५३८ मौको पर गोलिया चली और साथ ही नीचे उडनेवाले हवाई जहाजो से मशीन-गनो से भी गोलिया चलाई गई। देश के अलग-अलग हिस्सो मे एक या दो महीने या इससे भी ज्यादा वक्त तक यह लडाई चलती रही, और तब वह धीरे-धीरे धीमी पड गई और उसकी जगह छुटपुट घटनाए होती रही। हाउस ऑव कॉमन्स मे मि० चर्चिल ने कहा—"सरकार की पूरी ताक़त से ये उपद्रव कुचले गये।" उन्होंने "बहादुर हिंदुस्तानी पुलिस की और साथ ही आमतौर पर सरकारी अफ़सरो की वफ़ादारी और दृढता की" तारीफ की और कहा—"इनका बरताव ज्यादा-से-ज्यादा तारीफ के काबिल है।" इसके अलावा "काफी सहायक सेना हिंदुस्तान मे पहुच गई है और उस देश मे इस वक्त जितनी गोरी फौज है, उतनी ब्रिटिश इतिहास में हिंदुस्तान मे पहले कभी नही थी।" इन विदेशी फौजो ने और हिंदुस्तानी पुलिस ने निहत्थे किसानो के खिलाफ कितनी ही लडाइया लडी थी और जीती थी और उनके विद्रोह को कुचला था, और हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य की एक खास बुनियाद (यानी अफसरो की जमात) ने खुले तौर पर या छिपे तौर पर, इस सारी कारंवाई मे मदद की।

— देश मे, गावो और कसबो, दोनो मे ही यह प्रतिक्रिया असाधारण रूप से व्यापक थी। करीब-क़रीब हर सूबे मे और ज्यादातर हिंदुस्तानी रियासतो मे, सरकारी रोक के बावजूद भी अनगिनत प्रदर्शन हुए। हडतालें हुई, दूकानें और बाज़ार बद हुए, सभी जगह काम-काज रोक दिया गया। कुछ जगहो पर ये बातें कुछ दिनो तक रही, कही कुछ हफ्तो तक और थोडी-सी जगहो पर ये बातें एक महीने से भी ज्यादा चलती रही। इसी तरह मजदूरो ने भी काम बद किया। वे लोग ज्यादा सगठित थे, मिलकर एक साथ काम करने का उनमे अनुशासन था। इन कारखानो के मजदूरो ने बहुत-सी खास-

खास जगहो मे अपने-आप हड़ताल का ऐलान किया। यह सब सरकार द्वारा कौमी नेताओ की गिरफ्तारी के विरोध मे हुआ। जमशेदपुर के लोहे और फौलाद के बडे शहर मे इसकी एक खास मिसाल देखने को मिली। यहा के हुनरमद कारीगर मुल्क के अलग-अलग हिस्सो के रहनेवाले थे। वे एक हफ्ते तक काम पर नही गये और सिर्फ इस शर्त पर वापस जाने को तैयार हुए कि कारखाने के व्यवस्थापक काग्रेसी-नेताओ को छुडाने और कौमी सरकार कायम कराने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा कोशिश करने का वायदा करें। यह वायदा किया गया और तब वे वापस गये। सूती कारखानो के बडे केंद्र अहमदाबाद मे एकदम, बिना ट्रेड यूनियन की खास पुकार के, सारे कारखानो मे पूरी तरह काम रोक दिया गया।[1] यह आम हड़ताल रोकने

[1] बड़े सरकारी अफसरो ने यह कहा है और यह बात दूसरे लोगों ने अकसर दुहराई है कि इन हड़तालो को, खासतौर से जमशेदपुर और अहमदाबाद की हड़तालों को, मिल-मालिकों ने बढावा दिया। इस बात पर विश्वास करना बहुत मुश्किल है, क्योंकि इन हड़तालों से मिल-मालिको को बहुत भारी नुक़सान हुआ। मुझे तो अभी ऐसे बड़े उद्योगपतियों से मुलाक़ात करनी बाक़ी है, जो अपने निजी लाभ के खिलाफ इस ढंग से काम करते हैं। यह सच है कि बहुत-से उद्योगपति हिंदुस्तान की आज़ादी चाहते हैं, और उससे हमदर्दी रखते हैं। लेकिन लाज़िमी तौर से हिंदुस्तान की आज़ादी का उनके दिमाग़ में वही नक़शा है, जिसमे उनके लिए हिफाजत की जगह हो। इन्क़लाबी कारवाई और सामाजिक ढाचे मे कोई भी बड़ी तब्दीली उन्हें नापसद है। हा, यह मुमकिन है कि अगस्त और सितबर १९४२ की चारों तरफ छाई हुई गहरी सार्वजनिक भावनाओ का, उन पर असर हुआ और पुलिस के साथ मिलकर उन्होने वह आक्रमक और इतक़ामी ढग नहीं अपनाया, जो वे आमतौर पर हड़तालों के होने पर अपनाते हैं।

एक दूसरी बात अकसर जोर देकर कही जाती है। वह यह है कि बड़े उद्योगपतियों द्वारा कांग्रेस को भारी माली मदद दी जाती है। यह बात ब्रिटिश हलकों मे और ब्रिटिश अखबारो मे क़रीब-क़रीब पूरी तरह मानी जाती है। यह बिलकुल ग़लत बात है। मैं कितने ही सालों तक उसका प्रधान मत्री या सभापति रहा हू और अगर ऐसी बात होती, तो कम-से-कम मुझे उसका पता जरूर होता। कुछ उद्योगपतियों ने समय-समय पर गाधीजी की समाज-सुधार की कार्रवाइयों मे आर्थिक सहायता दी है। ये समाज-सुधार के काम ग्रामोद्योग, प्रारंभिक या बुनियादी शिक्षा, दलित जातियो को उठाना, छूत-छात को मिटाना आदि बातों से ताल्लुक़ रखते हैं। काग्रेस के राजनैतिक

को सारी कोशिशो के होते हुए भी अहमदाबाद मे तीन महीने तक शाति-पूर्वक चलती रही। मजदूरो की यह प्रतिक्रिया अपने-आप हुई और इसकी बुनियाद सिर्फ राजनैतिक थी। मजदूरो को बहुत भारी नुकसान हुआ, क्योकि इस वक्त मजदूरी पहले के मुकाबले मे काफी बढी हुई थी। इस लबे अरसे मे उन्हे बाहर से कोई माली मदद न मिली। दूसरी जगहों मे काम थोडे अरसे के लिए रोका गया और कही-कही पर तो सिर्फ कुछ दिनो के ही लिए। सूती कारखानो के दूसरे बडे केंद्र कानपुर मे, जहातक मुझे पता है, कोई बडी हडताल नही हुई। उसकी वजह यह थी कि यहा कम्यु-निस्ट नेता उस हडताल को हटवा देने मे कामयाब हुए। रेलो मे भी, जिन पर सरकार का काबू है, आमतौर पर कोई काम नही रोका गया। हा, उपद्रवो की वजह से रेलो का काम जरूर रुका और बडे पैमाने पर रुका।

सूबो मे शायद पजाब मे सबसे कम असर था, हालाकि वहा भी बहुत-सी हडताले हुई और बहुत जगह काम रोका गया। सरहदी सूबे मे, जिसमे करीब-करीब सारी आबादी मुस्लिम है, एक अजीब बात हुई। अव्वल तो वहां बडे पैमाने पर गिरफ्तारिया ही नहीं हुई, और न दूसरे सूबो की तरह वहा सरकार ने कोई दूसरी उत्तेजित करनेवाली छेडखानी की। इसकी कुछ

काम मे वे उससे साधारण समय मे भी अलग रहे हैं और फिर सरकार से कांग्रेस के झगडे के दौरान मे तो वे खासतौर से अलग रहे हैं। उनकी कभी-कभी हमदर्दी भले ही रही हो, लेकिन बहुत ज्यादा समझदार लोगो की तरह उन्हें अपनी हिफाजत का ज्यादा खयाल है। कांग्रेस का काम तो करीब-करीब पूरी तरह से उसके मेंबरो के चदे और दान से चलता है। इन मेबरो की संख्या बहुत बड़ी है। उसका ज्यादातर काम सेवा के रूप मे होता है और अवैतनिक है। कभी-कभी शहरो मे व्यापारियो ने थोडी-सी मदद कर दी है। इसमे शायद एक ही अपवाद रहा है और वह मौक़ा था १९३७ के आम चुनाव का। उस वक्त उद्योगपतियों ने भी केंद्रीय चुनाव फड मे मदद की। हमारे सारे काम के फैलाव को देखते हुए यह फड भी बहुत छोटा था। यह एक ताज्जुब की बात है और पच्छिमी लोगों को शायद यक़ीन भी न हो कि हम बहुत थोड़े से रुपयो से पिछले पच्चीस बरसो से कांग्रेस का काम चला रहे हैं। इस दौरान मे हिंदुस्तान को बार-बार राजनैतिक कार्र-वाइयो के और आंदोलनो के झटके बरदाश्त करने पडे हैं। सयुक्त प्रांत मे, जो हमारे देश का एक बहुत क्रियाशील और सुसगठित सूबा है, जिसके बारे मे मुझे ज्यादा जानकारी है, क़रीब-करीब हमारा सारा खर्च हमारे चवन्नीवाले मेंबरो के चंदे पर चलता है।

हद तक तो यह वजह थी कि सरहदी आदमी बहुत जल्दी उत्तेजित होनेवाले समझे जाते है, और कुछ हद तक यह वजह भी थी कि सरकारी नीति यह दिखाना चाहती थी कि कौमी उभार से मुसलमान अलहदा थे। लेकिन जब हिंदुस्तान की और जगहो से वहा की घटनाओ की खबरे इस सूबे मे पहुची, तो यहा भी बहुत-से प्रदर्शन हुए और ब्रिटिश हुकूमत को एक ज़ोरदार चुनौती दी गई। प्रदर्शको पर गोली चलाई गई और सार्वजनिक कामो को रोकने के सभी आम तरीके इस्तेमाल किये गये। हज़ारो लोगो को गिरफ्तार किया गया। यही नही, पठानो के महान नेता बादशाह खान को (इसी नाम से अब्दुल गफ्फार खा मशहूर हैं) पुलिस की मार ने बुरी तरह घायल कर दिया। उत्तेजना के लिए यह बहुत बडी बात थी, फिर भी ताजुब्ब की-सी बात है कि अब्दुल गफ्फार खा ने अपने आदमियो को जो बढिया अनुशासन सिखाया था, वह इस वक्त भी बना रहा। वहा पर देश की और बहुत-सी जगहो की तरह कोई हिंसात्मक कार्रवाई नही हुई।

जनता की तरफ से अचानक असगठित प्रदर्शन, जिनका अत हिंसात्मक झगडो और विनाश मे हुआ, बहुत बडी और हथियारबद फौजो का विरोध होते हुए भी चलते रहे। इनसे जनता की भावनाओ की गहराई और तेज़ी का पता लगता है। नेताओ की गिरफ्तारी से पहले भी ये भावनाए मौजूद थी। लेकिन इन गिरफ्तारिया ने और उनके बाद अकसर होनेवाले गोला-काडो ने जनता के गुस्से को बढा दिया और उन्होने उसी रास्ते को अपनाया, जो एक नाराज़ गिरोह अपनाया करता है। कुछ वक्त तक इस बारे मे एक अनिश्चितता-सी रही कि क्या किया जाना चाहिए। कोई हिदायतें नही थी, कोई कार्य-क्रम नही था। कोई ऐसा मशहूर आदमी भी नही था, जो उन्हे बता सकता कि क्या करना चाहिए या जो उनकी रहनुमाई कर सकता। लेकिन वे इतने ज्यादा नाराज थे, इतने उत्तेजित थे कि खामोश नही रह सकते थे। एसे मौको पर जैसा अकसर होता है, मुकामी नेता आगे आये और कुछ वक्त तक उनकी हिदायतो के मुताबिक काम हुआ। लेकिन जो-कुछ हिदायतें उन्होने दी, वे बहुत नाकाफी थीं। लाजिमी तौर से जनता का उभार तो अपने-आप हुआ था। सारे हिंदुस्तान मे १९४२ मे नई पीढी ने, खासतौर से विश्व-विद्यालयो के विद्यार्थियो ने, उग्र और शातिपूर्ण दोनो ही तरह की कार्रवाइयो मे बहुत ज्यादा काम किया। बहुत-से मुकामी नेताओ ने शातिपूर्ण ढग से कार्रवाई की और सविनय अवज्ञा आदोलन को चलाने की कोशिश की। लेकिन उस वक्त के वातावरण मे यह बात मुश्किल थी। पिछले बीस बरसो से जो अहिंसा का पाठ पढाया जा रहा था, जनता उसे

भूल गई। फिर भी किसी तरह से सरासर हिंसा के लिए वह बिलकुल भी तैयार न थी। उस अहिंसात्मक ढग की शिक्षा ने कुछ झिझक और कुछ शक पैदा किया और हिंसात्मक कार्रवाई के लिए हिचकिचाहट पैदा हुई। अगर अपनी धारणा के खिलाफ काग्रेस ने पहले हिंसात्मक काम के लिए थोडा-सा भी इशारा कर दिया होता, तो इसमे शक नही कि जितनी हिंसा और उग्रता असल मे हुई, उससे कम-से-कम सौ गुनी ज्यादा हुई होती।

लेकिन इस ढग का कोई इशारा नही दिया गया था। सच तो यह है कि काग्रेस ने अपने आखिरी सदेसे मे अहिंसात्मक कार्रवाई की ही अहमियत पर ज़ोर दिया था। फिर भी एक बात का जनता के दिमाग पर असर हुआ। अगर, जैसा हमने कहा था, किसी हमलावर दुश्मन के खिलाफ हथियार के ज़रिये हिफाज़त करना जा और वाजिब था, तो यही बात मौजूदा आक्रमण के लिए क्यो लागू नही थी? हमले और बचाव के हिंसात्मक ढग से एक बार रोक हटाने के अनिच्छित परिणाम हुए और ज्यादातर लोगो के लिए उनके बारीक भेदो को समझना आसान नही था। सारी दुनिया मे हद दर्जे की हिंसा छाई हुई थी और लगातार प्रचार से उसको बचाव मिल रहा था। उस वक्त जल्दी कामयाबी का और गहरी भावना का सवाल था। इसके अलावा काग्रेस मे और काग्रेस से बाहर ऐसे भी लोग थे, जिनका अहिंसा मे कभी भी यकीन नही रहा था और हिंसात्मक कार्रवाई के सिलसिले मे उन्हे कभी भी कोई दुविधा नही हुई थी।

लेकिन वक्ती उत्तेजना मे बहुत ही कम लोग सोचते हैं। वे तो बहुत अरसे से दबे हुए अपने रुझान के मुताबिक काम करते हैं और यह बहाव उन्हे आगे बढा ले जाता है। इस तरह १८५७ के ग़दर के बाद बहुत बडी जनता हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य के ढाचे को चुनौती देने के लिए पहली बार बल-पूर्वक उठ खडी हुई। (लेकिन इस शक्ति के पास हथियार नही थे)। यह चुनौती बेमानी और बेमौके थी, क्योकि दूसरी तरफ़ सुसगठित हथियारबद ताकत थी। यह हथियारबद ताक़त इतिहास मे पहले किसी मौके पर इतनी ज्यादा नही थी। चाहे भीड मे आदमियों की तादाद कितनी भी ज्यादा हो, शक्ति और सशस्त्र शक्ति के द्वद्व मे वह ठहर नही सकती। वह लाजिमी तौर पर नाकामयाब होती। हा, यह बात दूसरी थी कि खुद इन हथियारबद फ़ौजो की वफादारी ही पलट जाये। लेकिन इन भीडो ने न तो इस लडाई की तयारी ही की थी और न उसके लिए मौका ही तलाश किया था। यह लडाई तो उन पर अनजाने ही आ गई और उसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया मे चाहे वह कितनी हैं। गलत हो या नासमझी से भरी हो, उन्होंने हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए

अपना प्रेम जताया और साथ ही विदेशी सरकार के लिए अपनी नफरत ज़ाहिर की।

हालांकि उस वक्त अहिंसा की नीति दब गई, लेकिन उसके अनुसार उन्हें जो शिक्षा लंबे अरसे से मिली थी, उसका एक खास और अच्छा नतीजा हुआ। गुस्से और जोश के होते हुए भी कौमी भेद-भाव की भावना अगर थी, तो बहुत थोडी थी और कुल मिलाकर जनता ने खुद यह कोशिश की कि दुश्मनों को कोई जिस्मानी चोट न पहुँचे। सरकारी सामान की आमद-रफ्त के साधनों की बहुत भारी बरबादी हुई थी, लेकिन इस बरबादी के बीच भी इस बात का खयाल रखा गया था कि लोगों की जानें न जायें। न तो यह हमेशा मुमकिन था और न हमेशा इसकी कोशिश की गई, खासतौर से उस वक्त, जब पुलिस से और हथियारबंद फौज से खुली हुई लडाई हुई। जहांतक मुझे याद आता है, सरकारी बयानों के मुताबिक सारे हिंदुस्तान मे और झगडे के सारे दौरान मे, भीडो ने कुल १०० आदमियो की जानें ली। झगडे के क्षेत्रों का फैलाव और पुलिस के साथ लडाइयो को ध्यान मे रखते हुए यह सख्या बहुत कम है। एक घटना खासतौर से बेरहमी की हुई और उससे तकलीफ हुई। वह यह थी कि बिहार मे किसी जगह पर भीड ने कनाडा देश के दो हवाई उडाको को कत्ल कर दिया। लेकिन आमतौर पर उस वक्त जातीय भेद-भाव का अभाव एक खास चीज थी।[1]

[1] क्लाइव ब्रन्स के पत्रो मे, जो 'ब्रिटिश सोल्जर लुक्स एट इंडिया' नाम से प्रकाशित हुए, एक खास घटना का उल्लेख है। ब्रन्स एक कलाकार था और कम्युनिस्ट था। अंतर्राष्ट्रीय ब्रिगेड मे उसने स्पेन मे काम किया था। १९४४ मे वह रायल आर्मर्ड कोर मे शामिल हो गया और उसमे वह एक सार्जेंट था। अपनी रेजीमेंट के साथ १९४२ मे उसको हिंदुस्तान भेजा गया। १९४४ मे बरमा मे, अराकान मे, लडते हुए वह मारा गया। अगस्त, १९४२ में वह बंबई में था। उस वक्त नेताओ की गिरफ्तारी हो चुकी थी और बंबई की जनता गुस्से और जोश से पागल हो रही थी और उस पर गोलियां चलाई जा रही थीं। ब्रन्स ने एक मौके पर कहा है—"तुम्हारी राष्ट्रीयता कितनी स्वस्थ और अकलुष है! मैंने लोगो से कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर का रास्ता पूछा। मैं वर्दी मे था। मुझ जैसे लोग निहत्थे हिंदुस्तानियो पर गोलियां चला रहे थे। क़ुदरती तौर पर मुझे फिक्र हुई। मुझे ताज्जुब हो रहा था कि न मालूम मेरे साथ कैसा बरताव किया जायेगा'। लेकिन जिस किसीसे मैंने पूछा, वह मेरी मदद करने को तैयार था—किसीने भी न तो मेरी बेइज्जती की और न किसीने मुझे ग़लत रास्ता बताया।

'१९४२ के झगडो मे पुलिस और फौज की गोलियो से मारे हुए और घायल किये हुए आदमियो की गिनती सरकारी अदाज से यह है—१०२८ मरे और ३२०० घायल हुए। ये आकडे निश्चय ही बहुत ज्यादा घटाकर रखे गये हैं, क्योकि सरकारी बयानो के ही मुताबिक कम-से-कम ५३८ मौको पर गोलिया चली। इसके अलावा पुलिस और फौज की पहरा देनेवाली लारिया अकसर लोगो पर गोली चला देती थी। करीब-करीब सही तादाद पर पहुचना बहुत मुश्किल है। जनता का अदाज से क़रीब २५,००० आदमी मारे गये, लेकिन शायद यह तादाद भी बढ़ाकर दी गई है। शायद १०,००० आदमियो के मारे जाने का अनुमान ज्यादा सही होगा।

यह एक असाधारण बात थी कि बहुत-से हलको मे, गावो और क़सबो दोनो मे, ब्रिटिश हुकूमत खत्म हो गई, और उन हिस्सो को 'दुबारा जीतने मे' (आमतौर पर उसको यही कहा गया था), कई दिन और कही-कही तो कई हफ्ते लगे। यह बात खासतौर से बिहार मे, बगाल के मिदनापुर जिले मे और सयुक्त प्रात के दक्खिनी-पूरबी हिस्सो मे हुई। यह बात ध्यान रखने की है कि सयुक्त प्रात के बलिया जिले मे (जिसको "दुबारा जीतना" पडा था) भीडो के खिलाफ किसी शारीरिक हिंसा या लोगो को किसी तरह की चोट पहुचाने की शिकायत नही है। बाद मे जो बहुत-से मुकदमे चलाये गये और जो जाच हुई, कम-से-कम उससे तो ऊपर की ही बात जाहिर होती है। उस हालत का मुकाबला करने मे मामूली पुलिस निकम्मी साबित हुई। शुरू १९४२ मे एक नया सगठन—एस० ए० सी० (स्पेशल आर्म्ड कास्टेबुलरी)—तैयार किया गया था और इसको खासतौर से सार्वजनिक प्रदर्शनो और उपद्रवो का मुकाबला करने की शिक्षा दी गई थी। इसने जनता को कुचलने और दबाने मे एक खास काम किया और अकसर इसके काम करने का ढग वही था, जो आयरलैड मे 'ब्लैक एड टैन्ज' का था। इस सिलसिले मे कुछ खास समुदायो या वर्गो को छोडकर हिंदुस्तानी फौज आमतौर पर इस्तेमाल नही की गई। अकसर ब्रिटिश सिपाहियो से या गुरखो से ही काम लिया जाता था। कभी-कभी हिंदुस्तानी फौज या स्पेशल पुलिस को अपनी जगह से बहुत दूर भेज दिया जाता था और वहा वे करीब-क़रीब अजनबियो की तरह ही काम करते, क्योकि वे लोग वहा की भाषा ही नही समझ पाते थे।

अगर भीड की प्रतिक्रिया कुदरती थी, तो उन हालतो मे सरकार की प्रतिक्रिया भी कुदरती थी। उसे जनता के अचानक विस्फोट और उसकी शातिपूर्ण कार्रवाई, दोनो को ही कुचलना था। अपने निजी बचाव के लिए और अपने दुश्मनो को मिटा देने के लिए उसका ऐसा करना जरूरी था।

अगर उसमे यह समझ होती या समझने की ख्वाहिश होती कि जनता मे यह तेज़ी कैसे आ गई, तो यह संकट आता ही नही और हिंदुस्तान की समस्या हल हो सकती थी। सरकार ने अपनी हुकूमत के खिलाफ किसी भी चुनौती को हमेशा-हमेशा के लिए कुचल देने की सावधानी से तैयारी की थी। उसने शुरुआत की, और पहली चोट के लिए उसने ही मौका चुना। कौमी, मजदूर और किसान आदोलनो मे खास काम करनेवाले हजारो स्त्री-पुरुषो को उसने जेल भेज दिया था। लेकिन देश मे जो अचानक उभार आया, उससे उसको अचभा हुआ और एक धक्का पहुचा, और कुछ देर के लिए जनता को चारो तरफ कुचल सकनेवाली मशीन अस्त-व्यस्त हो गई। लेकिन उसके पास तो बेहद साधन थे, और उसने विद्रोह के हिंसात्मक और अहिंसात्मक प्रदर्शनो को कुचल डालने के लिए उन सबका इस्तेमाल किया। बहुत-से बड़े और मालदार आदमी, जिनमे कौम के लिए बहुत थोड़ी हिम्मत थी, और जो डरते-डरते सिर्फ कभी-कभी सरकार की आलोचना की हिम्मत करते थे, अखिल भारतीय पैमाने पर जनता की कार्रवाइयो का रूप देखकर सहम गये। इन कार्रवाइयो मे निहित स्वार्थों की भलाई का रत्ती-भर भी खयाल न था और इनमे राजनैतिक परिवर्तन की ही नही, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की भी झलक दिखाई देती थी। ज्यो ही इस विद्रोह को कुचलने मे सरकार की कामयाबी नज़र आने लगी, ये डावाडोल मौकापरस्त सरकार से मिल गये, और उन लोगो की, जो उसकी हुकूमत को चुनौती देने की हिम्मत करते थे, जी भरकर बुराई की।

विद्रोह के बाहरी स्वरूप को कुचलने के बाद उसकी जड़ो को खोदना था और इसलिए सारी सरकारी मशीन को इस काम मे लगा दिया गया, ताकि ब्रिटिश हुकूमत के सामने पूरी तरह सिर झुकवा लिया जाये। वाइस-राय के आर्डिनेन्स या विशेष अधिकारो से रातो-रात नये कानून तैयार हो सकते थे, लेकिन इनकी पाबदिया भी कम-से-कम कर दी गई। फैडरल कोर्ट के और हाई कोर्ट के (जो ब्रिटिश हुकूमत ने ही कायम किये थे और जो उसी-के प्रतीक थे) फैसलो की काम करनेवाले लोग परवाह ही नही करते थे, या उन फैसलो से बचाव के लिए एक नया आर्डिनेन्स पास कर दिया जाता था। स्पेशल अदालतो मे (जिनको बाद मे न्यायालयो ने बेकायदा बताया) गवाही का या काम करने के आम तरीको का कोई खयाल ही नही था और इन अदालतो ने हजारो आदमियो को लबी सजाए दी, और बहुतो को तो मौत की भी सजा दी। पुलिस (खासतौर से स्पेशल आर्म्ड कास्टेबुलरी) और विभाग को तो पूरी (के खास अग बन गये थे

ढग की बेकायदा बेरहमी की हरकतें कर सकते थे। उसके लिए न कोई रुकावट थी और न उसकी हरकतो की नुक्ताचीनी। भ्रष्टाचार बेहद बढ गया। स्कूलो और कालेजो के विद्यार्थियो की बहुत बडी तादाद को तरह-तरह से सज़ा दी गई। हज़ारो नौजवानो को पीटा गया। सरकार के माफ़िक जो काम थे, उनको छोडकर हर ढग से सार्वजनिक कामो पर रोक लगा दी गई।

लेकिन सबसे ज्यादा तकलीफ सरल-हृदय गरीबी के मारे गाववालो को भुगतनी पडी। पीढियो से वे लोग तकलीफ का बिल्ला लगाये हुए थे। उन्होंने ऊपर की तरफ उम्मीद के साथ अच्छे वक्तो के सपने देखने की हिम्मत की और उन्होंने काम भी किया। इन्होंने बेवकूफी या ग़लती की हो या न की हो, लेकिन हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए अपनी वफादारी ज़रूर साबित कर दी। वे नाकामयाब रहे और इस नाकामयाबी का बोझा उनके झुके हुए कधो और टूटे हुए जिस्मो पर था। ऐसी बातो की खबर मिली है कि कितनी ही जगह पूरे गाव को सजा मिली और उसकी सारी आबादी की जानें कोडो से मारकर ले ली गई। बगाल सरकार की तरफ़ से यह बयान दिया गया था कि "सरकारी फौजो ने १९४२ के समुदरी बवडर से पहले और उसके बाद मे तामलुक और कोताई की तहसीलो मे १९३ काग्रेसी डेरे या मकान जलाये।" उक्त बवडर से भयकर विनाश हुआ था और उस हिस्से मे बहुत बरबादी हुई थी, लेकिन उससे सरकारी नीति मे कोई फर्क नही पडा।

समूचे गावो पर सजा के तौर पर बडी-बडी रकमो के जुरमाने किये गये। हाउस ऑव कॉमन्स मे दिये गये मि० एमरी के बयानो के मुताबिक जुरमाने की रकम कुल मिलाकर नब्बे लाख रुपये थी, और इसमे से ७८,५०,००० रुपये की वसूली हुई। इन भूखे गरीबो से ये बडी रकमे किस तरह वसूल की गई, यह एक अलग बात है। १९४२ या उसके बाद की सारी बातो से पुलिस की गोलियो से और उसके गावो मे आग लगाने से, इतनी ज्यादा तकलीफ नही हुई थी, जितनी इस रकम को वसूल करने मे ज़बरदस्ती से हुई। इसके अलावा सिर्फ यह जुरमाना ही वसूल नही किया गया, बल्कि अकसर उससे बहुत ज्यादा रुपया वसूल किया गया और इस ज्यादा रकम को वसूल करनेवाले लोग हडप कर गये।

वे सारे कायदे और बहाने, जिनसे सरकारी कार्रवाइया ढकी रहती हैं, एक तरफ हटा दिये गये, और एक और अकेली हुकूमत की निशानी सिर्फ पाशविक शक्ति थी, जो नग्न रूप मे सामने थी। इस वक्त किसी बहाने की ज़रूरत नही थी, क्योंकि ब्रिटिश ताकत कामयाब हो चुकी थी। कम-से-

कम उस वक्त राष्ट्रीय शक्ति के जरिये उसकी जगह ले लेने की सारी हिंसात्मक और अहिंसात्मक कोशिशें कुचली जा चुकी थी और अब ब्रिटिश ताकत का ही बोलबाला था। इस आखिरी इम्तिहान में, जिसमे शक्ति और बल का ही मूल्य है और बाकी सब चीजे सिर्फ बेकार की बातें हैं, हिंदुस्तान नाकामयाब हुआ था। उसकी नाकामयाबी की वजह ब्रिटिश हथियारबद ताकत और लड़ाई की हालत से लोगो की दिमागी उलझन ही नही थी, बल्कि यह भी थी कि ज्यादातर आदमी आजादी के लिए जरूरी आखिरी कुरबानी के लिए तैयार नही थे। इस तरह ब्रिटिश लोगो ने महसूस किया कि हिंदुस्तान मे उनका राज्य फिर मजबूती से जम गया और अपना चगुल फिर ढीला करने की उन्हे कोई वजह महसूस नही हुई।

४ : दूसरे देशों में प्रतिक्रिया

खबरो पर कडी रोक की वजह से हिंदुस्तान की घटनाओ पर एक बहुत मोटा परदा पड गया। जो कुछ हो रहा था, उसकी बाबत खबरें देने की हिंदुस्तानी अखबारो को भी इजाजत नही थी, और दूसरे देशो को जानेवाली खबरो पर कही और भी ज्यादा निगरानी और रोक थी। साथ ही सरकारी प्रचार विदेशो मे जोरो से काम कर रहा था और झूठी और बेबुनियाद बातो का प्रचार किया जा रहा था। सयुक्त राज्य अमरीका मे यह प्रचार खासतौर मे किया गया, क्योकि वहा के लोकमत की अहमियत थी, और इसलिए सैकडो व्याख्यानदाता और प्रचारक, जिनमे अग्रेज भी थे और हिंदुस्तानी भी, उस देश मे दौरा करने के लिए भेजे गये।

इस प्रचार के अलावा इग्लैंड पर लडाई का दबाव था और उसकी फिक्र थी। इसलिए वहा पर हिंदुस्तानियो के खिलाफ और खासतौर से उन लोगो के खिलाफ, जो इस सकट के मौके पर उनकी परेशानियो को बढा रहे थे, नाराजी होना कुदरती था। इस पर इकतरफा प्रचार का असर हुआ, और इससे भी ज्यादा असर ब्रिटिश जनता का अपनी नेकनीयती मे यकीन की वजह से हुआ। दूसरो की भावनाओ से बेखबरी ही तो उनकी मजबूती की जड थी और इसलिए इस सिलसिमे मे उन्होंने अपनी हर कारंवाई को सही समझा, और उन्होंने किसी भी दुर्घटना या असाम्य का दोष उन लोगा पर डाल दिया, जो ब्रिटिश लोग्रो के स्पष्ट गुणो को भी नही देख सकते थे। हिंदुस्तान मे जिन लोगो ने उन गुणो मे शक किया, उनको कुचलने मे ब्रिटिश ताकत और हिंदुस्तानी पुलिस की कामयाबी ने फिर उन गुणो को न्याय्य साबित कर दिया था। साम्राज्य ने ठीक किया था और मि० विन्स्टन चर्चिल ने खासतौर से हिंदुस्तान की

बाबत ऐलान किया—"ब्रिटिश साम्राज्य को खत्म करनेवाली कार्रवाई की सदारत करने के लिए मैं बादशाह का प्रधान मंत्री नहीं बना हूं।" इसमें कोई शक नहीं कि यह कहते हुए मि० चर्चिल अपने देश की बहुत-बड़ी आबादी के नजरिये की नुमाइंदगी कर रहे थे। इस बड़ी आबादी मे वे लोग भी शामिल थे, जिन्होंने पहले साम्राज्यवाद के उसूलों और उसके काम की आलोचना की थी। ब्रिटिश मजदूर दल के नेताओ ने, यह दिखाने के लिए कि शाही परंपरा की वफादारी मे वे किसी और दल से पीछे नहीं हैं, मि० चर्चिल के बयान का समर्थन किया और "ब्रिटिश जनता के इस पक्के इरादे पर जोर दिया" कि "लड़ाई के बाद वह अपने साम्राज्य को ज्यों-का-त्यों रखेगी।"

अमरीका मे जिन लोगो को सुदूर हिंदुस्तान की समस्याओं मे दिलचस्पी थी, उनकी राय अलग-अलग थी। ब्रिटिश शासको के गुणो पर उनको अंग्रेजों की तरह यकीन नहीं था और दूसरे लोगों के साम्राज्यों को वे अच्छी नजर से नहीं देखते थे। वे हिंदुस्तान की सद्भावनाओं को हासिल करने के लिए उत्सुक थे। जापान के खिलाफ लड़ाई मे वे उसके साधनो का पूरा-पूरा फायदा उठाना चाहते थे। फिर भी इकतरफा और झूठे प्रचार का लाजिमी असर हुआ और उनमे यह खयाल जमने लगा कि हिंदुस्तान की समस्या तो बहुत ज्यादा उलझी हुई है और उनके लिए उसको सुलझाना मुमकिन नहीं है। इसके अलावा अपने साथी ब्रिटेन के मामले मे उनका दखल देना मुश्किल था।

रूस मे सरकारी अफसरों के या आम जनता के हिंदुस्तान की बाबत क्या खयाल थे, यह कह सकना नामुमकिन था। वे अपने जबरदस्त युद्ध-प्रयासों मे ही जुटे हुए थे। उनका ध्यान अपने देश से हमलावर को बाहर निकालने मे लगा हुआ था। उस वक्त उन मामलो पर, जिनका उनसे कोई क़रीबी ताल्लुक़ नहीं था, सोचने की उनके पास फ़ुरसत नहीं थी। फिर भी वे चीजों पर काफी दूरदर्शिता से सोचने के आदी हैं और यह मुमकिन नहीं था कि सोच-विचार के वक्त हिंदुस्तान, जो उनकी एशियाई सरहद से मिला हुआ है, उनकी आंखों से ओझल हो गया हो। भविष्य मे उनकी क्या नीति होगी, यह कोई नहीं बता सकता। हां, यह बात तय है कि उसमे असलियत का खयाल होगा और सोवियत संघ की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति को और भी मजबूत बनाने का खास खयाल होगा। वे होशियारी से हिंदुस्तान की बाबत कुछ कहने से बचते रहे, लेकिन सोवियत इन्क़लाब के पच्चीसवें सालाना जलसे पर स्तालिन ने घोषणा की कि उनकी आम

नीति यह है कि "जातीय भेद-भाव मिट जाये, राष्ट्रो की बराबरी की हैसियत हो और उनके क्षेत्रो का एका बना रहे, गुलाम कौमे आजाद हो और उनको उनके सारे अधिकार वापस हो, क़ौमो को अपने-अपने मामलो का अपनी इच्छा के मुताबिक इतज़ाम करने की आज़ादी हो, जिन कौमो ने नुक़सान उठाया है, उनकी माली मदद हो और अपनी माली खुशहाली हासिल करने की उनकी कोशिश मे उनको मदद दी जाये, लोकतन्त्री आज़ादिया वापस आये और हिटलरी निज़ाम का खात्मा हो।"

चीन मे यह बात ज़ाहिर थी कि हमारे किसी खास काम की चाहे जो प्रतिक्रिया हो, उनकी हमदर्दी पूरी तरह हिंदुस्तान की आजादी की तरफ थी। उस हमदर्दी की बुनियाद ऐतिहासिक थी लेकिन इससे भी ज्यादा गहरी बात यह थी कि जबतक हिंदुस्तान आजाद नही होगा, चीन की आज़ादी को भी खतरा बना रहेगा। यह बात सिर्फ चीन मे ही नही थी, बल्कि सारे एशिया मे, मिस्र मे और मध्य पूर्व मे हिंदुस्तान की आज़ादी और दूसरे गुलाम मुल्को की भी आज़ादी की प्रतीक बन गई थी। उसकी आज़ादी की कसौटी पर मौजूदा वक्त की या आनेवाले वक्त की जाच की जा सकती थी। अपनी किताब 'वन वर्ल्ड' मे मि० वेंडेल विल्की ने कहा है—"बहुत-से स्त्री-पुरुषो ने, जिनसे मैंने अफरीका से लेकर अलास्का तक बातचीत की, एक सवाल पूछा, जो एशिया मे तो हर जगह ही किया गया और जो वहा व्यापक था:—'हिंदुस्तान का क्या होगा ?' काहिरा के बाद हर जगह मेरे सामने यही सवाल था। चीन के सबसे ज्यादा अक्लमद आदमी ने मुझसे कहा—'जब हिंदुस्तान की आज़ादी की ख्वाहिश को भविष्य के लिए टाल दिया जाता है, तो सुदूर पूर्व मे जनता की निगाहो मे ग्रेट ब्रिटेन नही गिरता, बल्कि सयुक्त राज्य अमरीका गिर जाता है'।"

हिंदुस्तान मे जो कुछ हुआ, उसने युद्ध-सकट के होते हुए भी दुनिया को थोडी देर के लिए हिंदुस्तान की तरफ देखने को और पूर्व के बुनियादी मसलो पर गौर करने को मजबूर कर दिया। एशिया के हर देश मे जनता का दिल और दिमाग हिल उठा। हालाकि उस वक्त हिंदुस्तानी बेबस मालूम देते थे और वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मज़बूत शिकजो मे बुरी तरह फसे हुए थे, लेकिन उन्होने यह जता दिया था कि जबतक हिंदुस्तान आज़ाद नही होता, हिंदुस्तान मे या एशिया मे शाति नही हो सकती।

५ : हिंदुस्तान में प्रतिक्रिया

विदेशी हुकूमत को किसी सभ्य जाति पर हुकूमत करने मे बहुत-

सी असुविधाए होती हैं और साथ ही कितनी ही बुराइया पैदा होती हैं। इनमे से एक नुकसान तो यह है कि आबादी के अवाछनीय तत्त्वो पर उसको निर्भर होना पडता है। आदर्शवादी, स्वाभिमानी, सजग और गर्वीले लोग, जो आज़ादी की काफी परवाह करते हैं, जो विदेशी हुकूमत के सामने ज़बरदस्ती सिर झुकाकर अपने-आपको गिराने के लिए तैयार नही होते, या तो एक तरफ रहते हैं या उनका उस सरकार से झगडा होता है। विदेशी हुकूमत के दल मे पदलोलुप और मौकापरस्त लोगो की तादाद आज़ाद देशो के मुकाबले बहुत ज्यादा होती है। आज़ाद मुल्को मे भी, जहा पर एकतंत्री सरकार होती हैं, भले आदमी सरकारी कार्रवाइयो मे साथ देने मे अकसर असमर्थ होते हैं और वहा किसी नई प्रतिभा के प्रकट होने का क़रीब-क़रीब बिलकुल मौका नही होता। एक विदेशी सरकार मे, जो लाज़िमी तौर पर तानाशाही ढर्रे की होगी, ये सब बुराइया होती हैं और ये बढती जाती हैं, क्योकि उसको हमेशा विरोध के और आतक स्थापित करने के वातावरण मे काम करना होता है। सरकार और जनता दोनो को ही हमेशा डर लगा रहता है और सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण सरकारी विभाग पुलिस और खुफिया विभाग बन जाते हैं।

जिस वक्त सरकार और जनता मे खुली लडाई होती है, जनता के इन अवाछनीय तत्त्वो पर भरोसा करने और उनको बढावा देने का रुझान और ज्यादा साफ शक्ल मे ज़ाहिर होता है। बहुत-से भले आदमियो को, चाहे वे इसे पसद करते हो या नही, परिस्थितियो की मजबूरी से सरकारी ढाचे मे काम करना पडता है। लेकिन जो लोग चोटी पर पहुचते हैं और जिनको बडे-बडे ओहदे दिये जाते हैं, उनका चुनाव उनकी अराष्ट्रीयता, जी हुज़ूरी, अपने देशवासियो की बेइज्ज़ती करने और उनको कुचलने की योग्यता पर होता है। कभी-कभी आपसी होड या नाउम्मीदी से वे ज्यादातर जनता की भावनाओ और धारणाओ का विरोध करते हैं। जितना ही ज्यादा विरोध वे कर पाते है, उतनी ही ज्यादा उनकी काबलियत समझी जाती है। इस विकृत और अस्वस्थ वातावरण मे किसी आदर्शवाद या किसी ऊचे विचार को जगह नही मिलती। जो इनाम दिये जाते हैं, वे हैं ऊचे ओहदे और ऊची तनख्वाहें। सरकार के मददगारो का निकम्मापन और साथ ही उनकी बडी-से-बडी कमिया बरदाश्त कर ली जाती हैं, क्योकि हर एक चीज़ को नापने का एक पैमाना है कि सरकार के विरोधियो को कुचलने मे उन्होंने कितनी सरगरमी से सहायता दी है। इसकी वजह से सरकार का बडी अजीब जमातो से और बहुत वाहियात लोगो से गठ-बधन हो जाता है।

रिश्वतखोरी, बेरहमी, बेदर्दी और लोक-कल्याण की बिलकुल अवहेलना होती है और उनसे सारा वायुमडल ज़हरीला हो जाता है।[1]

सरकार की ज्यादातर कार्रवाइयो पर सख्त नाराजी होती है, लेकिन उससे भी ज्यादा नाराजी उसके हिंदुस्तानी मददगारो की हरकतो से होती है। ये लोग बादशाह से भी ज्यादा बादशाहत के हामी बन जाते हैं। उनके इस बरताव से औसत हिंदुस्तानी को सख्त नफरत और झुझलाहट होती है। उनकी निगाह मे इन लोगो का मुकाबला विशी के आदमियो से या जर्मनो और जापानियो के जरिये कायम हुई कठपुतली सरकारो से किया जा सकता है। यह खयाल और ऐसी भावनाए सिर्फ काग्रेस मे ही नही हैं, बल्कि मुस्लिम लीग के मेबरो मे भी हैं और हमारे ज्यादा-से-ज्यादा नरमदली राजनीतिज्ञ भी इस बात को जाहिर कर चुके हैं।[2]

---

[1] बगाल की हुकूमत की जाच कमेटी ने, जिसके सर आर्चीबाल्ड रोलैड्स सभापति थे मई १९४५ मे प्रकाशित अपनी रिपोर्ट मे कहा—"रिश्वतखोरी चारों तरफ इतनी ज्यादा फैल गई है और उसको दूर करने के लिए इतने बेमन से कार्रवाई की गई है कि हमारी राय है कि इस बुराई को दूर करने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा सख्ती बरती जानी चाहिए। इस बुराई ने सरकारी नौकरों और जनता के नैतिक पहलू को बिल्कुल बिगाड दिया है।" कमेटी को जब यह गवाही मिली कि मुल्की नौकरीवालो के जनता के प्रति बरताव मे बहुत-सी खराबिया हैं, तो उसको ताज्जुब हुआ और साथ ही अफसोस भी। यह कहा गया था कि "वे अपनी श्रेष्ठता की भावना की वजह से अलहदा रहते हैं, एक निर्जीव मशीन के ढर्रे को चालू रखने पर उनकी ज्यादा निगाह रहती है और उनको जनता की भलाई का ध्यान नहीं रहता। वे अपने-आपको जनता का सेवक नहीं, बल्कि उसका मालिक समझते हैं।"

[2] हिटलर, जो अपनी मातहती मे दूसरो को जबरदस्ती लाने में होशियार है, अपनी 'मीन कैम्फ' मे लिखता है—"हमको यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि ये चरित्रहीन सिर झुकानेवाले आदमी अचानक ही अक्ल या दुनिया के अनुभवों की वजह से पछताकर अपना पहला ढर्रा छोड़कर नये ढग से काम करने लगेंगे। उसके बरखिलाफ यही लोग, जब-तक या तो सारा राष्ट्र हमेशा के लिए अपनी गुलामी के जुए का आदी नहीं हो जाता, या जबतक ज्यादा श्रेष्ठ शक्तियां ऊपर आकर इन बदनाम चरित्रहीनो से ही सत्ता को नहीं छीन लेतीं, ऐसे सारे सबक़ो से अपने को दूर ही रखेंगे। पहली हालत मे इन लोगो को कुछ भी बुरा नहीं मालूम

लडाई ने खासी छूट दे दी और सरकार की जोरदार राष्ट्रविरोधी कार्रवाइयो को और प्रचार के नये-नये तरीको को एक आड मिल गई। 'मजदूरो का साहस बनाये रखने के लिए' सैकडो छोटे-छोटे मजदूर गुटो की सरकार ने रुपये से मदद की, गाधीजी और काग्रेस को गालिया देनेवाले अखबार चलाये गये और उनकी आर्थिक मदद की गई। अखबारी कागज की उस वक्त कमी थी और पुराने अखबारो के काम मे भी हर्ज होता था, लेकिन ये अखबार चलाये गये। सरकारी विज्ञापन, जिनका लडाई की तैयारियो से सबध बताया गया, इस काम मे लाये गये। विदेशो मे समाचार देनेवाले केंद्र खोले गये, जो हिंदुस्तान-सरकार की तरफ से बराबर प्रचार करते थे। सरकार द्वारा सगठित शिष्टमडलो मे साधारण योग्यता के और अकसर अपरिचित व्यक्तियो के झुड-के-झुड खासतौर से अमरीका को भेजे गये। ये लोग केंद्रीय असेबली के विरोध के होते हुए भेजे गये और इनको वहा ब्रिटिश सरकार के प्रोपेगेंडा-एजेंटो की तरह काम करने के लिए या उसके सिखाये हुए सबको को दुहराने के लिए भेजा गया था। ऐसे शख्स को, जिसकी स्वतत्र विचारधारा थी और जो सरकारी नीति का आलोचक था, बाहर जाने का कोई मौका नही था। न तो उसको पासपोर्ट ही मिलता और न उसको सफर की ही सुविधा दी जाती।

पिछले दो बरसो मे "जनता को खामोश" करने के लिए सरकार ने ऐसी ही और दूसरी तरकीबो से भी फायदा उठाया है। राजनैतिक और सार्वजनिक कामो मे निष्क्रियता आ जाती है। एक देश मे, जहा करीब-करीब फौजी कब्जा या फौजी राज्य हो, यह निष्क्रियता लाज़िमी तौर पर आती है। लेकिन इन लक्षणो को जबरदस्ती दबाने से तो बीमारी सिर्फ बढ ही सकती है और हिंदुस्तान बहुत बीमार मुल्क है। प्रमुख अनुदार हिंदुस्तानी, जो हमेशा सरकार का साथ देते रहे हैं, इस ज्वालामुखी की वजह से, जिसका फिलहाल मुह बद कर दिया गया है, फिक्र मे पड गये हैं। इसी वजह से वे कहते हैं कि ब्रिटिश सरकार के खिलाफ इतना तीखापन, इतनी कटुता, हमने कभी नही देखी या सुनी।

जबतक मैं अपनी जनता से न मिल लू, न तो मुझे यह मालूम ही होगा और न मैं बता ही सकता हू कि इन दो सालो के दौरान मे उनमे

देता, क्योंकि अकसर विजेता उन्हें गुलाम निरीक्षक बना देता है। इस काम को ये चरित्रहीन लोग दुश्मन द्वारा तैनात किसी विदेशी हैवान के मुक़ाबले ज्यादा निर्दयतापूर्वक कर सकते हैं।"

क्या तब्दीलिया हुई हैं और आज उनके दिल मे क्या है। लेकिन मुझे कोई शक नही है कि इन हाल के अनुभवो ने उनको कई ढग से बदल दिया होगा। मैंने, जब-तब खुद अपने दिमाग को परखने की कोशिश की है और इस बात की छान-बीन की है कि इन घटनाओ की खुद-ब-खुद क्या प्रतिक्रिया हुई। गुज़रे वक्त मे मैं हमेशा इंग्लैंड जाने की सोचता था, क्योकि वहा मेरे बहुत-से दोस्त हैं और पुरानी स्मृतिया मुझे वहा की तरफ खीचती हैं। लेकिन अब ऐसी कोई ख्वाहिश नही मालूम दी और अब उसका खयाल भी बुरा मालूम पडा। अब मैं इंग्लैंड मे ज्यादा-से-ज्यादा दूर रहना चाहता हू और अग्रेजो से हिंदुस्तान की समस्याओ पर बातचीत करने की भी कोई ख्वाहिश नही है। तब मुझे कुछ दोस्तो का खयाल आया और मेरी सख्ती कम हुई और मैंने अपने-आपको समझाया कि सारी जनता के बारे मे इस तरह राय बनाना कितना गलत है। मुझे उन विकट अनुभवो का खयाल आया, जो लडाई के दौरान मे अग्रेजो को हुए। फिर उस खिचाव का ध्यान आया, जिसमे वे बराबर इस बीच मे रहे हैं और उनके बहुत-से आत्मीयो की मौत का भी मुझे ध्यान आया। इन सबसे भावनाओ का तीखापन कुछ कम हुआ, लेकिन बुनियादी प्रतिक्रिया बनी रही। शायद समय और भविष्य इसको कुछ कम कर दे और एक नया नजरिया पैदा हो सके। लेकिन अगर मैं, जिनका इंग्लैंड और अग्रेजो से इतना नाता था, इस तरह महसूस कर सकता हू, तब और लोगो मे, जिनका उनसे कोई सपर्क नही है, किस तरह की प्रतिक्रिया हुई होगी?

६ : हिंदुस्तान का मर्ज : अकाल

हिंदुस्तान बहुत बीमार था—शरीर से भी, और मन से भी हालाकि कुछ लोग लडाई से खुशहाल हो गये थे, लेकिन दूसरे लोगो पर बोझ हद दर्जे पर पहुच गया था और इसकी डरावनी याद अकाल ने आकर दिलाई। इस अकाल का बडा विस्तार था। उसका मैदान बगाल मे और हिंदुस्तान के पूरबी और दक्खिनी हिस्से मे था। ब्रिटिश हुकूमत के पिछले १७० बरसो मे यह सबसे ज्यादा बडा और विनाशकारी अकाल था। इसकी तुलना १७६६ से १७७० के बगाल और बिहार के भयकर अकालों से ही की जा सकती है, जो ब्रिटिश राज्य के कायम होने के कुछ ही बाद हुए। महामारिया, खासतौर से हैजा और मलेरिया की बीमारिया, फैली और वे दूसरे सूबो मे भी फैल गई और आज भी हज़ारो आदमी उनके शिकार हो रहे हैं। लाखो आदमी अकाल और बीमारी से मर चुके हैं।

फिर भी वही दृश्य हिंदुस्तान मे चारो तरफ मडरा रहा है और जानें ले रहा है।[1]

इस अकाल ने चोटी के थोडे-से आदमियो की खुशहाली के नीचे हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य की कई पीढियो की हुकूमत से जो गरीबी और गदगी, इन्सानी गिरावट और बरबादी की तस्वीर तैयार हुई थी, खोलकर रख दी। हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य का यह नतीजा था और यही उसकी कामयाबी थी। यह कोई प्रकृति का कोप नही था कि अकाल पडा और न इसकी वजह लडाई की कारंवाई थी और न यह दुश्मन के घेरे की वजह से ही हुआ। हर जानकार दर्शक इस बात से सहमत है कि यह अकाल आदमी का बनाया था। इसको पहले से देखा जा सकता था और इसको टाला जा सकता था। हर शख्स इस बात से सहमत है कि सबधित अधिकारियो ने आश्चर्यजनक अवहेलना, निकम्मापन और बेफिक्री दिखलाई। आखिरी वक्त तक, जबतक हजारो आदमी रोजाना सडको पर मरने नही लगे, अकाल की मोजूदगी को माना ही नही गया, और उस सिलसिले मे अखबारो मे चर्चा सेंसर के जरिये दबा दी गई। जब कलकत्ते के 'स्टेट्समैन' अखबार ने कलकत्ते की गलियो मे भूख से मरती हुई औरतो और बच्चो की दर्दनाक और डरावनी तस्वीरें छापी, तो हिंदुस्तान-सरकार के एक प्रवक्ता ने सरकारी तौर पर केंद्रीय असेंबली मे बोलते हुए परिस्थिति को 'नाटकीय' बनाने का विरोध किया। जाहिर है, उनके लिए हिंदुस्तान मे भूख से हजारो आदमियो का रोजाना मर जाना मामूली-सी बात थी। लदन मे इडिया ऑफिस

[1] १९४३-४४ के बंगाल के अकाल की मौतों के बारे मे अलग-अलग अदाज हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के एथ्रोपोलोजी विभाग ने वैज्ञानिक ढंग से अकाल के क्षेत्रो मे नमूने के टुकड़े लेकर विस्तृत छान-बीन की। उनके लिहाज से बगाल के अकाल मे कुल ३४,००,००० मौतें हुई। यह भी पाया गया कि १९४३-४४ के दौरान मे बगाल के ४६ फी-सदी लोगों को बडी बीमारिया हुई। बगाल सरकार की सरकारी खबरों के लिहाज से, जो ज्यादातर पटवारी, मुखिया आदि की अविश्वसनीय खबरों पर निर्भर थीं, मौतो की गिनती काफी कम है। सरकारी अकाल जाच कमीशन, जिसकी सदारत सर जान वुडहेड ने की, इस नतीजे पर पहुचा कि बंगाल मे "अकाल और उससे सबधित महामारियों के ही कारण" १५,००,००० मौतें हुई। ये आकड़े सिर्फ बगाल के ही हैं। देश के और कई हिस्सों में भी अकाल की वजह से या उसके साथ आनेवाली बीमारियो की वजह से बहुत बरबादी हुई।

के मि० एमरी ने अपने बयानो से और अपनी इन्कारी से अपने-आपको ला-सानी बना दिया। और जब इस व्यापक अकाल की मौजूदगी पर न तो कोई परदा ही डाला जा सका और न उसकी मौजूदगी को नामजूर ही किया जा सका, तो हर हुक्मरान गुट ने किसी दूसरे गुट को दोष दिया। हिंदुस्तान-सरकार ने कहा कि कुसूर सूबे की सरकार का है। सूबे की सरकार खुद एक कठपुतली सरकार थी, जो गवर्नर के मातहत, सिविल अधिकारियो के जरिये काम करती थी। सभी का कुसूर था और लाज़िमी तौर पर सबसे ज्यादा उस तानाशाही सरकार का, जिसका वाइसराय खुद अकेला प्रतिनिधि है। वह हिंदुस्तान में किसी भी जगह जो चाहता, कर सकता था। किसी भी लोकतत्री या अर्ध-लोकतत्री देश मे ऐसी बरबादी की वजह से उससे सबधित सारी सरकार मिट गई होती। लेकिन हिंदुस्तान मे ऐसा नही हुआ और यहा सारी चीज़ें ज्यो-की-त्यो चलती रही।

लडाई के नज़रिये से देखते हुए भी यह अकाल ऐसी जगह पडा, जो लडाई के सबसे ज्यादा करीब थी और जहा हमला होना मुमकिन था। व्यापक अकाल और आर्थिक ढाचे की बरबादी से हिफाज़त और बचाव की सामर्थ्य लाज़िमी तौर पर कुचली जायेगी और हमला करने की ताकत तो और भी कम हो जायेगी। इस तरह हिंदुस्तान की हिफाज़त और जापानी आक्रमणकारियों के खिलाफ लडाई की तैयारी के सिलसिले मे हिंदुस्तान-सरकार ने अपनी जिम्मेदारी निबाही। सरकारी नीति का निशान साधनो की बरबादी और फुकी हुई जमीन नही थी (ताकि दुश्मन उसका कोई फायदा न उठा सके), बल्कि लडाई के अहम हल्के मे लाखो की तादाद मे फुके हुए, भूखे और मरे हुए आदमी थे।

सारे देश मे हिंदुस्तानी गैर-सरकारी सस्थाओ और साथ ही न्सानियत-परस्त इग्लैंड के क्वेकरो ने सहायता पहुचाने की काफी कोशिश की। आखिर मे मरकज़ी और सूबाई सरकारें भी जगीं और उन्होंने सकट की भयकरता को महसूस किया और सहायता पहुचाने के लिए फौज की मदद ली गई। उस वक्त अकाल के फैलाव को रोकने की और उसके बुरे नतीजो को कम करने की कोशिश की गई। लेकिन सहायता अस्थायी थी और उसके बुरे नतीजे अब भी चल रहे हैं और किसीको पता नही कि कब फिर इससे भी बदतर पैमाने पर अकाल आ जाये। बगाल तहस-नहस हो चुका है, उसका आर्थिक और सामाजिक जीवन बरबाद हो चुका है और नई पीढी के लिए कमज़ोर लोग बाकी बच रहे हैं।

जब ये घटनाए हो रही थी और कलकत्ते की सडको पर लाशें बिछी

हुई थी, कलकत्ते के ऊपरी वर्ग के दस हज़ार आदमियों के सामाजिक जीवन मे कोई फर्क नही आया। वहा नाच-गाने हो रहे थे, दावतें दी जाती थी, विलास का बाज़ार गरम था और जीवन विनोदमय था। काफी अरसे के बाद तक वहा कोई राशनिंग नही थी। कलकत्ते मे घुड़दौड़ बराबर होती रही और फैशनेबल लोग वहा पर जाते रहे। खाद्य सामग्री के लिए यातायात का कोई इंतज़ाम नही था, लेकिन घुड़दौड़ के घोड़े रेल के डिब्बों मे देश के दूसरे हिस्से से आते रहे। इस शानदार ज़िंदगी मे अंग्रेज़ और हिंदुस्तानी दोनों ही समृद्ध हुए थे और अब रुपये की बहुतायत थी। कभी-कभी तो वह रुपया खाने-पीने के पदार्थों पर बढ़े-चढ़े दामो की शक्ल मे कमाया गया होता था—वही खाने की चीज़े, जिनके अभाव से दसियों हज़ार आदमी रोज़ाना मर रहे थे।

अक्सर यह कहा जाता है कि हिंदुस्तान एक ऐसा देश है, जहा कई बड़े अंतर्विरोध हैं। कुछ लोग बहुत मालदार हैं, बहुत-से लोग बहुत ज्यादा गरीब है, यहा आधुनिकता भी है, मध्ययुगीनता भी है, शासक हैं, शासित है, ब्रिटिश हैं और हिंदुस्तानी हैं। १९४३ के पिछले छ महीनो मे, भयकर अकाल के महीनो मे, कलकत्ते मे जितने विरोधाभास देखने को मिले, इतने पहले कभी नही दिखाई दिये। दो दुनियाए—आमतौर से अलग-अलग रहनेवाली, एक-दूसरे से बेखबर—अचानक ही सामने आई, और दोनो साथ-साथ एक ही जगह मौजूद थी। यह असाम्य हैरतअंगेज़ था और इससे भी ज्यादा बड़ी बात यह थी कि बहुत-से लोगो ने इस भयकरता को, इस आश्चर्यजनक असाम्य को, महसूस भी नही किया, और वे अपनी पुरानी लीक पर ज्यों-के-त्यो चलते रहे। उनको क्या अनुभव हुआ, यह नही कहा जा सकता, उनके बारे मे राय तो उनके व्यवहार को देखकर ही दी जा सकती है। शायद ज्यादातर अंग्रेज़ो के लिए यह आसान था, क्योंकि उनका जीवन अलग बीतता था और उनमे वर्गीय भावना थी। चाहे उनमे से कुछ आदमियो का इस तरफ झुकाव ही क्यो न हुआ हो, लेकिन वे अपना पुराना ढर्रा बदल नही सकते थे। लेकिन वे हिंदुस्तानी, जो इस ढग से काम करते थे, उस बड़ी खाई को दर्शाते थे, जो उनको बाकी जनता से अलग किये हुए थी और जिसको भद्रता या मानवता या किसी भी ख़याल से पाटा नही जा सकता था।

हर बड़े सकट की तरह अकाल मे भी हिंदुस्तानी जनता के अच्छे गुण और उसकी कमज़ोरिया देखने को मिली। उनमे से बहुत-से आदमी, जिनमे वे लोग भी थे, जिनकी सबसे ज्यादा अहमियत थी, जेल मे थे और किसी

ढग से मदद नही कर सकते थे। फिर भी ग़ैर-सरकारी ढग से सगठित किये हुए सहायता के काम मे हर वर्ग के मर्द और औरतें थी। इन्होंने जी तोडनेवाली हालतो मे महनत की काबलियत दिखाई, आपसी मदद की भावना दिखाई और सहयोग और आत्म-बलिदान दिखाया। उन लोगो मे, जो छोटी-छोटी बातो पर झगडो मे फसे हुए थे, जिनमे आपसी जलन थी, जो निष्क्रिय थे और जिन्होंने दूसरो की मदद के लिए कुछ नही किया, और उन थोडे-से आदमियो मे, जो इतने राष्ट्रविरोधी हो गये थे और जिनमे से इन्सानियत इतनी गायब हो गई थी कि उन्होंने इन सब घटनाओ की बिलकुल भी परवाह नही की, हमको कमज़ोरिया नज़र आई।

अकाल लडाई की हालतो का सीधा-सादा नतीजा था और उसकी दूसरी वजह थी हुकूमत मे दूरदेशी की कमी और उसकी लापरवाही। देश की खाद्य-समस्या के बारे मे इन अधिकारियो की अवहेलना समझ मे नही आती, क्योंकि हर समझदार आदमी को, जिसने इस मामले पर ध्यान दिया, यह मालूम था कि इस ढग का सकट आ रहा है। लडाई के शुरू सालो से ही खाद्य-स्थिति का ठीक ढग से इतज़ाम करने से अकाल टाला जा सकता था। हर दूसरे देश मे, जिस पर लडाई का असर हुआ, युद्धकालीन इन्तज़ामत के इस पहलू पर पूरी तरह ध्यान दिया गया था। यह काम उन्होने लडाई छिडने के पहले शुरू कर दिया था। हिंदुस्तान मे हिंदुस्तान की सरकार ने यूरोप मे लडाई छिडने के सवा तीन साल बाद और जापान से लडाई छिडने के एक साल बाद एक खाद्य-विभाग खोला। और इसके अलावा यह आम जानकारी की बात थी कि बरमा पर जापानियो के कब्ज़े से बगाल को खाद्य सामग्री के मिलने पर असर हुआ था। खाने के सामान के बारे मे हिंदुस्तान-सरकार की १९४३ के छ महीने बाद तक कोई नीति नही थी, और उस वक्त अकाल का भयकर ताडव शुरू हो चुका था। यह एक बेहद असाधारण बात है कि हुकूमत को चुनौती देनेवालो को कुचलने के अलावा सरकार और दूसरे कामो मे कितनी सुस्त और निकम्मी है। शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि जिस ढग से वह बनी है, उसके लिहाज़ से उसका दिमाग अपने-आपको बराबर कायम रखने के खास काम मे पूरी तरह घिरा रहता है। जब कोई सकट खुद आ ही जाता है, तब उसका ध्यान दूसरी बातो पर जाता है। और यह सकट सरकार की योग्यता और उपयुक्तता मे विश्वास के अभाव से और ज्यादा दृढ हो जाता है।'

'अकाल-जाच कमीशन, जिसके सर जॉन वुडहेड अध्यक्ष थे (जिसकी

हालाकि अकाल निस्सदेह लडाई की हालतो की वजह से था और उसको रोक सजा सकता था, लेकिन साथ ही यह बात भी है कि उसकी ज्यादा गहरी वजह उस बुनियादी नीति मे थी, जो हिंदुस्तान को दिन-ब-दिन ज्यादा गरीब बनाती जा रही थी और जिसकी वजह से करोडो आदमी करीब-करीब भूखे रहते थे। १९१३ मे इडियन मैडीकल सर्विस के डायरेक्टर मेजर जनरल सर जॉन मीगा ने हिंदुस्तान मे सार्वजनिक स्वास्थ्य

रिपोर्ट मई, १९४५ में प्रकाशित हुई), दबी हुई सरकारी भाषा मे उन सरकारी गलतियो के ताते और जाती लालच का जिक्र करता है, जिनकी वजह से बंगाल का अकाल पडा। "हमारे लिए बगाल के अकाल की वजहो की छानबीन करना एक बहुत दुख और दर्द से भरा काम रहा है। हमारे ऊपर भयकर विनाश की गहरी भावना छाई रही है। बगाल के अकाल मे पद्रह लाख आदमी उन हालतो के शिकार हुए, जिनके लिए वे खुद जिम्मेदार नहीं थे। समाज अपने संगठन के होते हुए भी अपने कमजोर सदस्यो की हिफाजत करने मे नाकामयाब रहा। असल मे नैतिक, सामाजिक और साथ ही सरकारी ढाचा टूट गया।" सूबे की आर्थिक कमियो की तरफ, जमीन पर गुजर करनेवालो की तादाद की बढती पर, जिसमे उद्योग-धधों की तरक्की से कोई कमी नहीं हुई, उन्होंने इशारा किया। उन्होंने यह भी बताया कि आबादी का बहुत बडा हिस्सा सिर्फ किसी तरह गुजर ही कर रहा था और वह और ज्यादा आर्थिक तनाव बरदाश्त नहीं कर सकता था, स्वास्थ्य की हालत बहुत बिगडी हुई थी और पोषण का मापदंड बहुत नीचा था, तदुरुस्ती और आर्थिक दशा दोनों मे ही हिफाजत और बचाव की गुंजाइश नहीं थी। इसके बाद उन्होंने और ज्यादा करीबी वजहो पर गौर किया; उस मौसम की बुरी फसल, बरमा की हार और उसकी वजह से बरमा से आनेवाले चावल का न आना, सरकार की 'नामजूरी' की नीति, उससे कुछ गरीब जमातो की बरबादी होना, खाने के सामान और यातायात के लिए फौजी माग और सरकार मे विश्वास की कमी। उन्होंने हिंदुस्तान-सरकार की और बगाल-सरकार की नीति की, या अकसर नीति के अभाव की या अकबर बदलनेवाली नीति की, निंदा की; उनकी दूरदर्शिता की कमी और आनेवाले खतरो के लिए इतजाम की कमी की भी उन्होंने आलोचना की, अकाल के आ जाने के बाद भी उसकी मौजूदगी को न मानने या उसकी बाबत ऐलान न करने के रवैये की भी उन्होंने आलोचना की साथ ही परिस्थिति का सामना करने के लिए बिलकुल अधूरे इतजाम थे। उन्होंने आलोचना

पर अपनी रिपोर्ट मे एक जगह लिखा है—"कुल मिलाकर हिंदुस्तान में, सरकारी अस्पतालो के डाक्टरो के लिहाज से ३९ फी-सदी का ठीक पोषण होता है, ४१ फी-सदी का पोषण पूरी तरह नही होता और २० फी-सदी का पोषण बहुत कम होता है। सबसे ज्यादा खराब हालत का ज़िक्र बगाल के डाक्टरो न किया है। उनके लिहाज से उस सूबे की आबादी के सिर्फ २२ फी-सदी भाग को पर्याप्त पोषण मिलता है और वहा ३१ फी-सदी का पोषण बहुत नाकाफी है।"

की। आगे चलकर वह कहते हैं—"सारी हालतों पर ग़ौर करते हुए हम इस नतीजे को टाल नहीं सकते कि बगाल सरकार के लिए यह मुमकिन था कि वह हिम्मत से, पक्के इरादे से, ठीक वक्त पर सोच-समझकर इतजाम से, अकाल की भयकर बरबादी को बहुत हदतक रोक सकती थी और अकाल इस हदतक न पहुच पाता, जैसा वह असल मे पहुच गया।" इसके अलावा हिंदुस्तान-सरकार ने काफी जल्दी ही यह बात महसूस नहीं कि कि खाने के यातायात के लिए एक योजना और एक ढंग की जरूरत है. . .।" "बगाल सरकार के साथ ही हिंदुस्तान-सरकार भी मार्च, १९४३ मे कट्रोल तोडने के लिए जिम्मेवार है। बाद मे हिंदुस्तान-सरकार का हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से में मुक्त-व्यापार चालू करने का प्रस्ताव बिलकुल बेजा था और ऐसा प्रस्ताव होना ही नहीं चाहिए था। अगर बहुत-से प्रातों और रियासतो का विरोध कामयाब न हुआ होता, तो आज उसके लागू करने से हिंदुस्तान के बहुत-से हिस्सों मे भारी बरबादी हुई होती।" केंद्र और सूबे, दोनो ही जगहो मे सरकारी मशीन की बदइतजामी और हृदयहीनता की चर्चा के बाद कमीशन ने कहा कि "बंगाल की जनता या कम-से-कम उसके कुछ हिस्से भी कुसूरवार हैं। हमने डर और लालच के उस वातावरण का जिक्र किया है, जिसने कट्रोल के हटने के बाद मंहगाई को तेजी से बढा दिया। इस भयंकर सकट के वक्त बेहद मुनाफा-खोरी हुई, और इन परिस्थितियों मे कुछ लोगों के मुनाफे के मानों दूसरे लोगो की मौत थी। बहुत-से लोगो के पास बहुतायत थी और दूसरी तरफ लोग भूखो मर रहे थे। तकलीफ को अपनी आखों से देखकर भी बहुत-से लोगो पर कोई असर नहीं हुआ और उनकी उपेक्षा बनी रही। सूबे में चारो तरफ भ्रष्टाचार का राज था और वह समाज के कितने ही हिस्सों मे था।" भूख और मौत के कारबार मे कुल मिलाकर १५० करोड रुपये का मुनाफा हुआ। इस तरह से अगर पन्द्रह लाख मौतें हुईं, तो हर मौत के ऊपर १००० रुपये का मुनाफा हुआ!

हिंदुस्तान मे ब्रिटिश राज्य पर बगाल की भयकर बरबादी ने, उडीसा, मलाबार और दूसरी जगहो के अकालो ने, आखिरी फैसला कर दिया है। ब्रिटिश लाज़िमी तौर पर हिंदुस्तान छोडेंगे और उनके हिंदुस्तानी साम्राज्य की याद रह जायेगी। लेकिन जब वे जायेंगे, तो वे क्या छोडेंगे—कितनी इन्सानी गिरावट और कितना सचित दुख? तीन साल पहले मृत्यु-शैया पर पडे हुए रवीद्रनाथ ठाकुर के सामने यह चित्र आया था—"लेकिन कैसा हिंदुस्तान वे छोडेंगे, कितना दुख-भरा? जब सदियो पुरानी उनकी शासन की धारा अत मे सूख जायेगी, तो अपने पीछे वे कितनी कीचड और कितनी दलदल छोडेंगे।"

७ : हिंदुस्तान की सजीव सामर्थ्य

अकाल और लडाई चाहे हो या न हो, लेकिन अपने जन्म-जात अत-विरोधो से पूर्ण और उन्ही विरोधो और उनसे प्रतिफलित विनाशो से पोषण पाती हुई जीवन की धारा बराबर चालू रहती है। प्रकृति अपना काया-कल्प करती है और कल के लडाई के मैदान को आज फूलो और हरी घास से ढक देती है, और पहले जो खून गिरा था, वह अब जमीन को सीचता है और नये जीवन को रग, रूप और शक्ति देता है। इन्सान, जिसमे याद-दाश्त का गैर-मामूली गुण होता है, गुजरे हुए ज़माने की कहानियो और घटनाओ से चिपटा रहता है। वह शायद ही कभी मौजूदा वक्त के साथ चलता हो, जिसमे वह दुनिया है, जो हर रोज नई ही दिखाई देती है। मौजूदा वक्त, इससे पहले कि हमको उसका पूरा होश हो, गुज़रे ज़माने मे खिसक जाता है, आज, जो बीती हुई कल का बच्चा है, खुद अपनी जगह अपनी सतान, आनेवाली कल को दे जाता है। मार्के की जीत का खात्मा खून और दलदल मे होता है, मालूम पडनेवाली हार की कडी जाच मे से तब उस भावना का जन्म होता है जिसमे नई ताकत होती है और जिसके नज़रिये मे फैलाव होता है। कमज़ोर भावनावाले झुक जाते है, और वे हटा दिये जाते हैं, लेकिन बाकी लोग प्रकाश-ज्योति को आगे ले चलते हैं और उसे आनेवाले कल के मार्ग-दर्शको को सौंप देते हैं।

हिंदुस्तान के अकाल ने हिंदुस्तान की समस्याओ के भयकर और तेज़ बहाव को कुछ हदतक महसूस करा दिया। उसने देश पर मडराते हुए भयकर सर्वनाश की याद दिला दी। इग्लैंड मे लोगो ने उसके बारे मे क्या महसूस किया, मुझे पता नही, लेकिन उनमे से कुछ लोगो ने अपनी आदत के मुताबिक सारा कुसूर हिंदुस्तान और उसकी जनता का बताया। खाने की कमी थी, डाक्टरो की कमी थी, सफाई के इतज़ाम की कमी थी, डाक्टरी

सामान की कमी थी, आमद-रफ्त के साधनो की कमी थी, इन्सान को छोडकर हर चीज की कमी थी। आबादी बढ गई थी और आगे भी बढती हुई मालूम दे रही थी। कुसूरवार थी एक ग़ैर-दूरदेश जाति की यह बढती हुई आबादी, जो बगैर इलाज किये हुए बढ रही थी और जो एक नेक सरकार की योजना या योजनाहीनता को गडबडा रही थी। इस तरह आर्थिक मसलो की अचानक ही अहमियत बढ गई। हमसे कहा गया राजनीति और राजनैतिक मसलो को एक तरफ रख देना चाहिए, मानो जबतक उस वक्त के अन्य मसलो को वह सुलझा न सके, राजनीति का कोई महत्व ही न हो। दुनिया मे 'लैसेज फ़ेअर' (उद्योग और व्यापार मे सरकारी हस्त-क्षेप से स्वतत्रता) की तरफदारी करनेवाली गिनी-चुनी सरकारो मे से हिंदुस्तान-सरकार भी एक थी; अब वह योजनाओ की सोचने लगी, लेकिन सगठित योजना के बारे मे उसे कुछ भी पता नही था। वह तो अपने मौजूदा ढाचे को बनाये रखने की बाबत ही सोच सकती थी। वह निहित स्वार्थों या वैसी ही बातो को बनाये रखने के सिलसिले में ही ध्यान दे सकती थी।

हिंदुस्तान की जनता में प्रतिक्रिया जोरदार और ज्यादा गहरी हुई। लेकिन भारत रक्षा कानून या उसके नियमो के चारो तरफ फैले हुए चगुल की वजह से उसका कोई खुला इजहार नही हुआ। बगाल का आर्थिक ढाचा बिलकुल टूट गया था और करोडो आदमी बिलकुल कुचल दिये गये थे। हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सो मे जो कुछ हो रहा था, बगाल की मिसाल उसमे एक हद पर पहुच गई थी और ऐसा मालूम होता था कि फिर अच्छा इतजाम होना मुश्किल है। उद्योग-धधो के मालिक भी, जो लडाई के दौरान मे मालामाल हो गये थे, झकझोर दिये गये और अपने सकरे घेरे के बाहर देखने को मजबूर हुए। कुछ राजनीतिज्ञो के आदर्शवादसे उन्हे डर तो लगता था, लेकिन वे अपने ढग से यथार्थवादी थे, और उस यथार्थ-वाद से वे जिन नतीजो पर पहुचे, वे बहुत गहरे और व्यापक असरवाले थे। बबई के उद्योगपतियो ने, खासतौर से टाटा कारबारवालो ने, हिंदु-स्तान की तरक्की के लिए एक पद्रह साल की योजना बनाई। वह योजना अभी पूरी नही हुई है और उसमे कई जगह खोखलापन है। लाजिमी तौर पर बडे-बडे कारखानेवालो ने उस पर अपने ही ढग से सोचा है और उसमें इन्कलाबी तब्दीलियो से बचने की ज्यादा-से-ज्यादा कोशिश की गई है। फिर भी हिंदुस्तान की घटनाओ के दबाव ने उनको ज्यादा बडे पैमाने पर सोचने के लिए मजबूर किया और जिस घेरे मे सोचने के वे आदी थे,

उससे अब उन्हे बाहर आना पडा है। उस योजना के भीतर ही इन्क़लाबी तब्दीली है—चाहे खुद योजना बनानेवाले उसे न पसद करते हो, लेकिन फिर भी वह है। इस योजना के बनानेवालो में से कुछ नेशनल प्लानिंग कमेटी के मेबर थे, और उन्होंने उस कमेटी के थोडे-से काम का फायदा उठाया है। बेशक इस योजना मे रद्दोबदल करनी होगी और उसमे कितनी ही बातें जोडनी पडेंगी और कई ढग से उसका इतजाम करना होगा। लेकिन यह बात ध्यान मे रखते हुए कि वह योजना अनुदार वर्ग की है, वह स्वागत के योग्य है और उससे बढावा और इशारा मिलता है कि हिंदुस्तान को किधर जाना है। उसकी बुनियाद आजाद हिंदुस्तान और हिंदुस्तान के राजनैतिक और आर्थिक एके पर है। इस योजना में पूजी के मामले मे अनुदार साहूकार को महत्व या काबू नही दिया गया है और इस बात पर ज़ोर दिया है कि देश की असली पूजी उसके साधनो में, उसकी माली शक्ति और उसकी जन-शक्ति मे है। इस योजना की या और किसी दूसरी योजना की कामयाबी लाज़िमी तौर पर सिर्फ उत्पादन पर ही नही निर्भर होगी, बल्कि उसके लिए पैदा की हुई सारी राष्ट्रीय सपत्ति का उचित और समान वितरण जरूरी होगा। साथ ही खेती और ज़मीन मे सुधार बुनियादी और सबसे पहली ज़रूरत है।

योजना-निर्माण और योजनाबद्ध समाज का खयाल अब कमोबेश सभी लोग मानते हैं। लेकिन खुद योजना के कोई मानी नही, और यह लाज़िमी नहीं है कि उससे अच्छे नतीजे हो। हर एक चीज़ योजना के उद्देश्य पर निर्भर होती है। किसका उस पर काबू होगा, सरकार का क्या रवैया होगा, इन दोनो बातो की भी बहुत अहमियत है। क्या उस योजना मे सारी जनता की तरक्की और बेहतरी का मकसद लाज़िमी तौर पर है? क्या उस योजना मे हर एक को आज़ादी, सहकारिता, सुसंगठन और काम के लिए मौका है? पैदावार को बढाना ज़रूरी है, लेकिन सिर्फ़ इतने ही से कोई फायदा नही है और शायद उससे हमारी उलझनें और बढ जायें। पुरानी जमी हुई रियायतो और निहित स्वार्थों को बनाये रखने की कोशिश योजना की जड को काट देती है। सच्ची योजना को यह बात माननी होगी कि सारी जनता की बेहतरी के लिए किसी भी कार्यक्रम में इन खास रिया-यतो को अडचन डालने का मौका नही दिया जायेगा। सभी तरफ सूबो मे काग्रेसी सरकारो को इन बुनियादी बातो से रुकावट हुई कि वे ज़्यादातर निहित स्वार्थों पर हाथ नही उठा सकती थी। पार्लमेंट के कानून के मुताबिक उनकी हिफाज़त होती थी। काश्तकारी कानून में थोडी-सी

रद्दोवदल करने की कोशिश और खेती पर की आमदनी पर इनकम-टैक्स लगाने की उनकी कोशिश को भी आदलतो मे फैसले के लिए भेजा गया कि वे कानूनी हैं या नही।

अगर योजनाओ पर वडे-वडे उद्योगपतियो का ही कावू हो, तो कुदरती तौर पर उसका ढाचा वही होगा, जिसके वे आदी है और लाज़िमी तौर पर उसकी वुनियाद मुनाफे की नीयत पर होगी, जो इस अपने-अपने फायदे की ही सोचनेवाले समाज मे चारो तरफ है। वे लोग कितने ही नेकनीयत क्यो न हो, और उनमे कितने ही सचमुच बहुत नेकनीयत हैं भी, लेकिन विल-कुल नये ढग से सोचना उनके लिए मुश्किल है, यहा तक कि जिस वक्त वे उद्योगधधो पर सरकारी कब्जे की वात कहते हैं, तो सरकार की जो शक्ल उनके दिमाग मे होती है, उसमे और मौजूदा सरकार मे करीव-करीव कोई फर्क नही है।

हमको कभी-कभी यह वताया जाता है कि मौजूदा हिंदुस्तान-सरकार, जो रेलो की मालिक है और उनका इतज़ाम करती है और जिसका उद्योग, पूजी और आम ज़िदगी पर दखल और कावू दिन-व-दिन वढता जा रहा है, समाजवादी दिशा मे आगे वढ रही है। इस वात को छोडकर भी कि यह खासतौर से विदेशी नियत्रण है, एक वात और है, और वह यह है कि मौजूदा सरकार के नियत्रण मे और लोकतत्री सरकार के नियत्रण मे बहुत वडा फर्क है। हालाकि कुछ पूजीवादी कार्रवाइयो पर रोक है, लेकिन सारा ढाचा रियायतो की हिफाज़त की वुनियाद पर खडा है। पुराने तानाशाही औपनिवेशिक ढाचे मे सिवाय कुछ खास स्वार्थों के आर्थिक मसलो पर ध्यान ही नही दिया जाता था। नई परिस्थिति का 'लैसेज़ फेअर' ढग से मुकावला करने मे अपनी असमर्थता को देखकर अपनी तानाशाही को बनाय रखने के पक्के इरादे से लाजिमी तौर पर वह नीति फासिस्त दिशा मे जाती है और आर्थिक जीवन पर फासिस्त ढग से कब्ज़ा करने की कोशिश करती है, मौजूदा नागरिक अधिकारो को कुचल देती है और मामूली रद्दोवदल के वाद नई हालत मे अपनी एकतत्री सरकार और अपने पूजीवादी ढाचे को जमा लेती है। इस तरह फासिस्त देशो के ढग पर एक आदमी की सरकार वनाने की कोशिश होती है। उद्योग-धधो पर और राष्ट्रीय ज़िदगी पर काफी कब्ज़ा होता है और आज़ादी से व्यापार और काम-काज पर पावदिया होती हैं और पुरानी वुनियाद ज्यो-की-त्यो वनाई रखी जाती है। यह तो समाजवाद से बहुत दूर की चीज़ है, असल मे, जहा विदेशी हुकूमत हो, वहा पर समाजवाद की वात ही विलकुल वेमानी है। अस्थायी

रूप में भी ऐसी कोशिश कामयाब हो सकती है, इस बात में भी बहुत शक है, क्योंकि उसमें तो मौजूदा मसले और ज्यादा बढ़ते जाते हैं। लेकिन लड़ाई की हालत में उसे काम करने के लिए उपयुक्त वातावरण मिल जाता है। उद्योग-धंधों के पूरे राष्ट्रीयकरण से, जिसमें साथ-ही-साथ राजनैतिक लोकतंत्र नहीं है, एक दूसरे ढंग का शोषण शुरू हो जायेगा, क्योंकि उस वक्त उद्योग-धंधे तो सरकार के जरूर होंगे, लेकिन सरकार जनता की नहीं होगी।

हिंदुस्तान में हमारी बड़ी-बड़ी मुश्किलों की वजह यह है कि हम—राजनैतिक या सामाजिक या उद्योग-धंधों की या साम्प्रदायिक या खेती-बाड़ी की या हिंदुस्तानी रियासतों की—अपनी समस्याओं पर मौजूदा हालत के ढांचे में ही सोच-विचार करते हैं। उसी ढांचे में उन रियायतों और खास अधिकारों को, जो उसमें चिपटे हुए हैं, बनाये रखकर उन समस्याओं का हल करना नामुमकिन है। अगर परिस्थिति के दबाव से कहीं छोटी-मोटी मरम्मत कर दी जाये, तो वह न ज्यादा रुक सकती है और न रुकती ही है। पुराने मसले बने रहते है और नये मसले या पुराने मसले एक नई शक्ल में आकर खड़े हो जाते हैं। हमारा यह ढंग हमारी आदत और पुराने डर की वजह से है, लेकिन उसकी सबसे बड़ी और खास वजह ब्रिटिश सरकार का वह 'फौलादी ढांचा' है, जो इस टूटी इमारत को संभाले हुए है।

लड़ाई ने हिंदुस्तान के मौजूदा अंतर्विरोधों को—राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों के अंतर्विरोधों को—बढ़ा दिया है। राजनैतिक नजर से हिंदुस्तान की आजादी की, पूरी स्वतंत्रता की, बहुत चर्चा है, लेकिन शायद उसकी जनता अपने इतिहास के किसी समय में भी इतने स्वेच्छाचारी शासन और इतने व्यापक और गहरे दमन से दबी हुई नहीं रही, जितनी मौजूदा वक्त में है, और इस 'आज' से ही तो लाजिमी तौर पर 'कल' का जन्म होगा। आर्थिक नजर से भी अभी अंग्रेजों का काबू है, फिर भी हिंदुस्तानी अर्थ-व्यवस्था में फैलाव जाहिर है और वह बराबर अपने बंधनों को तोड़ देने की कोशिश कर रही है। अकाल है और चारों तरफ हाहाकार है, और साथ ही दूसरी तरफ कुछ लोगों के पास पूंजी बेहद बढ़ रही है। गरीबी और अमीरी निर्माण और नाश, विच्छेद और ऐक्य, मृत विचारधारा और नई विचारधारा—दोनों ही पहलू साथ-साथ मौजूद हैं। इन सब परेशान करनेवाले पहलुओं के पीछे एक नई ताकत है, जिसको कुचला या दबाया नहीं जा सकता।

ऊपरी तौर पर लड़ाई ने हिंदुस्तान की औद्योगिक प्रगति और उसकी

उत्पादन शक्ति को बढ़ाया है। फिर भी इसमे शक है कि इसकी वजह से कितने नये उद्योग चालू हुए हैं, या सिर्फ पुराने उद्योग ही बढ़ गये हैं, और उन्हे ही किसी दूसरे काम मे लगा दिया गया है। लड़ाई के दौरान मे हिंदुस्तानी उद्योग-धंधो की गतिविधि को बतानेवाले आंकड़ो मे वही माप मालूम होता है और उससे यह नतीजा निकलता है कि बुनियादी तौर पर कोई तरक्की नही हुई। असल मे कुछ योग्य आदमियो की यह राय है कि लड़ाई ने और उस दौरान मे ब्रिटिश नीति ने हिंदुस्तान के उद्योग-धंधो की तरक्की मे रुकावट डाली है। डा० जान मथाई ने, जो एक प्रमुख अर्थशास्त्री हैं और टाटा कारबार मे डायरेक्टर है, हाल ही मे कहा था—"यह आम खयाल कि लड़ाई ने हिंदुस्तान के उद्योग-धंधो की तरक्की की रफ्तार को बेहद तेज कर दिया है, एक ऐसी बात है कि जिसके लिए अभी बहुत-से प्रमाणो की आवश्यकता होगी। हा, यह सच है कि कुछ पुराने उद्योग-धंधो ने लड़ाई की माग की वजह से अपना उत्पादन बढ़ा दिया है, लेकिन कई नये उद्योग-धंधे जिनको देश के लिए बुनियादी अहमियत है और जिनको चालू करने की बाबत लड़ाई से पहले इरादा किया जा रहा था, लड़ाई की हालतो की वजह से या तो अधूरे छोड दिये गये, या उनको चालू करने का इरादा ही छोड दिया गया। मेरी निजी राय यह है कि हिंदुस्तान मे कनाडा और आस्ट्रेलिया आदि दूसरे देशो की उलटी बात हुई है, और लड़ाई का असर तेजी लाने के बजाय उसकी रफ्तार को कम करनेवाला हुआ है। हा, मैं इस बात से जरूर सहमत हू कि हिंदुस्तान मे अपनी बुनियादी कारबारी जरूरत को पूरा करने की काफी बड़ी सामर्थ्य है।" औद्योगिक गतिविधियो के बारे मे जो कुछ आंकड़े मिलते हैं, वे इस राय का समर्थन करते है और उनसे यह जाहिर होता है कि लड़ाई से पहले जिस रफ्तार से तरक्की हो रही थी, अगर वह जारी रहती, तो सिर्फ नये उद्योग-धंधे ही न कायम हुए होते, बल्कि कुल मिलाकर यहा उत्पादन बहुत ज्यादा बढ़ जाता।[1]

[1] ३० मई, १९४५ को लदन मे बोलते हुए श्री जे० आर० डी० टाटा ने भी इस बात को नामजूर किया कि हिंदुस्तान को अपने उद्योग या उनकी सामर्थ्य बढ़ाने मे लड़ाई से काफी मदद मिली है। "कहीं-कहीं पर किसी उद्योग मे कुछ बढ़ती हुई हो, लेकिन कुल मिलाकर, अगर हथियारो के कारखाने या कुछ खास कारखानो को छोड़ दिया जाये, तो कोई भी तरक्की नहीं हुई। अगर लड़ाई न होती, तो कई नये काम शुरू हो गये होते। मै अपने निजी तजुरबे से जानता हू कि ये नये बड़े-बड़े काम सिर्फ इसलिए छोड दिये गये कि ईंट, फौलाद और मशीन हासिल करना नामुमकिन हो

लड़ाई से एक बात जरूर जाहिर हुई और इसमें कोई शक नहीं रहा कि अगर मौका मिले, तो हिंदुस्तान बहुत तेजी के साथ अपनी शक्ति और अपने साधनों से इस सामर्थ्य को व्यवहार में ला सकता है। एक आर्थिक इकाई की तरह से काम करते हुए, लड़ाई के इन पाच सालों में, सारी रुकावटों के होते हुए भी उसने बहुत बड़ी पूंजी और संपत्ति इकट्ठी कर ली है। उसकी यह संपत्ति 'स्टर्लिंग सिक्यूरिटी' के रूप में है, जो उसे मिल नहीं रही और जो भविष्य में रोक दी जायेगी। हिंदुस्तान-सरकार ने ब्रिटिश सरकार या संयुक्त राज्य अमरीका के लिए जो अपनी तरफ से खर्च किया, वही स्टर्लिंग सिक्यूरिटी है। साथ ही यह स्टर्लिंग सिक्यूरिटी हिंदुस्तान की भूख, अकाल, महामारी, कमजोरी, बुजदिली, रुकी हुई बढ़वार, मौत—भूख और बीमारी से बड़ी तादाद में मौत—की निशानी है।

इस पूंजी और संपत्ति के इकट्ठे होने से हिंदुस्तान ने इंग्लैंड का कर्ज चुका दिया और अब वह साहूकार देश बन गया है। बेहद लापरवाही और बदइंतजामी से हिंदुस्तान की जनता को बेहद तकलीफ हुई है, लेकिन एक बात जरूर जाहिर हुई है कि हिंदुस्तान बहुत थोड़े-से वक्त में इतनी बड़ी रकमें इकट्ठी कर सकता है। पिछले सौ से ज्यादा साल के दौरान में हिंदुस्तान में जितनी ब्रिटिश पूंजी लगी है, उसके मुकाबले लड़ाई के पांच सालों में हिंदुस्तान का उस पर खर्च कहीं ज्यादा है। इस तथ्य से यह बात साफ और सही तौर पर जाहिर हो जाती है कि इन पिछले सौ बरसों में ब्रिटिश हुकूमत के दौरान में रेल में, सिंचाई के साधनों में या और चीजों में, जिनके बारे में इतना हल्ला मचाया जाता है, कितनी कम तरक्की हुई है। इससे यह बात भी जाहिर होती है कि हिंदुस्तान में तेजी से चौतरफ़ा तरक्की करने की कितनी जबरदस्त ताक़त है। अगर इतनी ज्यादा तरक्की जी तोड़नेवाली हालतों में हो सकती

गया। जो लोग लड़ाई के दौरान में हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों की और उसकी आर्थिक दशा की बेहतरी या तरक्की की बात करते हैं, वे असलियत से बेखबर हैं।" इसके अलावा श्री टाटा ने कहा—"मैं इस बुलबुले को फोड़ना चाहता हूं। यह कहना कि लड़ाई की वजह से हिंदुस्तान में काफी तरक्की हुई है, बिलकुल नासमझी है। किसी-न-किसी वजह से हिंदुस्तान में कोई खास तरक्की या बढ़ती नहीं हुई है। बल्कि असलियत यह है कि हालत बदतर हो गई है। जो कुछ हुआ है, यह है कि लड़ाई की वजह से और उसमें हिंदुस्तान की मदद की वजह से बंगाल में अकाल में हमारे लाखों आदमी मर गये। हमारे यहां कपड़े का भी अकाल है। इस तरह यह जाहिर है कि आर्थिक उन्नति का भान तो उसकी अनुपस्थिति विशेष से ही होता है।"

है और वह भी एक विदेशी हुकूमत के मातहत, जो हिंदुस्तान मे उद्योग-धधो की तरक्की नापसद करती है, तो यह बात साफ है कि आज़ाद कौमी सरकार की देखभाल मे योजनाबद्ध तरक्की से चद बरसो मे ही हिंदुस्तान की शक्ल बदल जायेगी। मौजूदा हिंदुस्तान की आर्थिक और सामाजिक तरक्की के बारे मे, पिछले ज़माने की किसी भी जगह की सामाजिक तरक्की की कसौटी पर उसे एक ढग से जाचते हुए, ब्रिटिश लोगो मे तारीफ करने की एक अजीब-सी आदत हो गई है। कई सदियो पहले जो रद्दोबदल की रफ्तार थी, उससे अपने पिछले सौ साल की रद्दोबदल का मुकाबला करते हुए उन्हे खुद बडा सतोष होता है। लेकिन जिस वक्त वे हिंदुस्तान की बाबत सोचते हैं, यह बात कि औद्योगिक क्राति ने, और खासतौर से पिछले पचास साल की ज़बरदस्त वैज्ञानिक तरक्की ने, ज़िदगी की चाल और रफ्तार बिलकुल बदल दी है, उनकी नज़र से किसी तरह हट जाती है। वे इस बात को भी भूल जाते हैं कि जिस वक्त वे यहा आये थे, हिंदुस्तान बजर उजडा हुआ या जगली देश नही था, बल्कि वह एक बहुत तरक्कीयाफ्ता और सुसस्कृत राष्ट्र था, जो अस्थायी रूप से वैज्ञानिक प्रगति मे निष्क्रिय था या पिछड गया था।

इस ढग का मुकाबला करते हुए हम किस तरह चीज़ो का मूल्याकन करे या हमारा मापदड क्या हो? जापानियो ने अपने फायदे के लिए आठ साल मे ही मचूरिया मे बेहद औद्योगिक उन्नति कर दिखाई। अग्रेज़ो की पीढियो कोशिश के बाद हिंदुस्तान मे इतना कोयला नही निकाला जाता, जितना इन आठ सालो के बाद मचूरिया मे। कोरिया मे उनके माली खुश-हाली के रिकार्ड की और औपनिवेशिक साम्राज्यो मे तुलना करने योग्य है।[1]

[1] हैलेट एबेंड, जो सुदूर पूर्व मे कई बरस तक 'न्यूयार्क टाइम्स' के सवाददाता थे, अपनी किताब 'पैसिफिक चार्टर' मे कहते हैं—"जापानियो के साथ इसाफ करते हुए यह बात माननी होगी कि कोरिया मे उन्होने बहुत शानदार काम किया है। जब उन्होने वहां पर क़ब्ज़ा किया था, तो वह जगह गदी थी, अस्वास्थ्यकर थी और यहां बेहद ग़रीबी थी। पहाडो पर जगल उजड गये थे, घाटियों मे बराबर बाढ आती रहती थी, अच्छी सडको का नाम-निशान भी नहीं था, चारों तरफ निरक्षरता थी और हर साल मोतीझरा, चेचक, हैज़ा, पेचिश, प्लेग की महामारी आती थी। आज वहां के पहाडों पर जगल आबाद हैं। रेलवे, टेलीफोन और तार का इतज़ाम बहुत बढ़िया है, अच्छी सडको की बहुतायत, बाढ को रोक और सिचाई के माकूल इतज़ाम से वहा की खाद्य पैदावार बेहद बढ़ गई है। बहुत बढ़िया बदरगाह बनाये गये हैं और उनका बहुत ही बढ़िया इतज़ाम है।

और फिर भी इस हालत के पीछे गुलामी, क्रूरता, बेइज्जती, शोषण और जनता की आत्मा को मिटा देने की कोशिश है। नात्सियो और जापानियो ने अधिकृत जनता और जातियो को बेरहमी के साथ कुचल देने के नये नमूने पेश किये हैं। हमको अकसर इसकी याद दिलाई जाती है और हमसे कहा जाता है कि अंग्रेजो ने इतना बुरा बरताव तो नही किया। क्या मुकाबले के लिए और फैसले के लिए यही मापदंड और नजरिया होगा?

आज हिंदुस्तान मे बहुत ज्यादा निराशा छाई हुई है, यहा एक ढग की बेबसी है, और ये दोनो बातें समझ मे आती हैं, क्योकि घटनाओ ने हमारी जनता को बुरी तरह कुचला है और भविष्य आशापूर्ण नही है। लेकिन साथ ही सतह के नीचे हलचल है, आगे बढने की कोशिश है, नई जिंदगी और नई ताकत के चिह्न हैं और अज्ञात शक्तिया काम कर रही हैं। नेतागण चोटी पर काम करते है, लेकिन वे उस जगती हुई जनता की, जो भूतकाल को पारकर आगे बढ गई है, अस्पष्ट और अचेतन इच्छा की दिशा मे बहे चले जाते हैं।

८ : हिंदुस्तान की बाढ़ मारी गई

आदमी की तरह राष्ट्र के भी कई व्यक्तित्त्व होते है और जिंदगी के अनेक नजरिये होते हैं। अगर इन मुखालिफ नजरियो मे एक आपस का गहरा सबंध होता है, तो ठीक है, वरना ये व्यक्तित्व अलग-अलग हो जाते हैं और इससे बरबादी और परेशानी होती है। आमतौर पर एक ऐसी प्रक्रिया चलती रहती है कि उनमे आपस मे मेल बैठ जाता है और समतौल पैदा हो जाता है। लेकिन अगर स्वाभाविक बाढ रोक दी जाये, या कोई रद्दोबदल इतनी तेजीसे हो कि उसको आसानी से अपनाया न जा सके, तो इन अलग-अलग नजरियो मे आपस मे सघर्ष पैदा हो जाता है। हिंदुस्तान के दिल और दिमाग मे, हमारे ऊपरी झगडो और भेद-भावो की सतह के नीचे, बहुत अरसे से बाढ पर रोक की वजह से यह बुनियादी सघर्ष रहा है। अगर किसी समाज को मजबूत और प्रगतिशील होना है, तो उसकी एक कमोबेश निश्चित उसूली बुनियाद होनी चाहिए और साथ ही उसका एक जिंदा नजरिया होना चाहिए। इस जिंदा

यह देश इतना समृद्ध और स्वास्थ्यकर हो गया है कि १९०५ मे इसकी आबादी १,१०,००,००० थी और अब आबादी २,४०,००,००० है। पिछली सदी के अत मे जो रहने की हैसियत थी, उसके मुकाबले आजकल का रहना-सहना बेहद बेहतर है।" लेकिन मि० एड्रेंड ने बताया है कि यह माली खुशहाली कोरिया के निवासियो के फायदे के लिए नहीं हुई, बल्कि इसलिए कि जापानी उससे ज्यादा-से-ज्यादा मालामाल हो सकें।

नज़रिये के बगैर सड़न और बरबादी होती है। उसूलो की निश्चित बुनियाद के बिना विच्छेद और विनाश का इमकान रहता है।

आदिकाल से ही हिंदुस्तान मे उन बुनियादी उसूलो की—अपरिवर्तनशील, विश्व-व्यापी और पूर्ण की—खोज हुई। साथ ही गतिशील नज़र थी और दुनिया की तब्दीली और ज़िदगी की जानकारी थी। इन दो बुनियादो पर हर मजबूत और प्रगतिशील समाज बनाया गया, हालाकि हमेशा ही ज़ोर मज़बूती और हिफाज़त और जाति को बनाये रखने पर दिया गया। बाद मे गतिशील नज़र फीकी पडने लगी और सनातन उसूलो पर सामाजिक ढाचा ऐसा बनाया गया, जिसमे न तो लचीलापन था और न रद्दोबदल की गुजाइश। असल मे वह बिलकुल सख्त तो नही था और उसमे धीरे-धीरे बराबर रद्दोबदल हुई, लेकिन उसके पीछे जो आदर्श था, उसका ढाचा आमतौर से ज्यो-का-त्यो बना रहा। इस के खास खमे थे गाव की सामूहिक और खुदमुख्तार ज़िदगी, सयुक्त परिवार और करीब-करीब स्वाधीन जातिया। इन सब मे समुदाय की भावना थी। ये खमे इतने अरसे तक इसलिए बने रहे कि कुछ खामिया के होते हुए भी उनसे मानव-स्वभाव और समाज की कुछ खास ज़रूरते पूरी होती थी। उस ढाचे मे हर समुदाय की हिफाजत थी, मज़बूती थी और साथ ही एक ढग से सामुदायिक स्वतन्त्रता थी। वर्ण-व्यवस्था इसलिए बनी रही कि उसमे समाज के साधारण शक्ति-सबध का प्रतिनिधित्व होता रहा और वर्ग-विशेषाधिकार इसलिए बने रहे कि न सिर्फ उस वक्त का आदर्श ही उनके अनुकूल था, बल्कि उनको ताकत, अक्ल, काबलियत और इनके साथ ही आत्म-बलिदान का सहारा मिला। उस आदर्श की बुनियाद अधिकारो के सघर्ष पर नही थी, बल्कि उसकी बुनियाद एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य पर, उस कर्तव्य को पूरी तरह निभाने पर, उस समुदाय मे सहयोग पर और अलग-अलग समुदायो के आपसी मेल पर और खासतौर से लडाई पर नही, बल्कि शाति बनाये रखने पर थी। हालाकि सामाजिक ढाचे मे लचीलापन नही था, फिर भी दिमागी आजादी पर किसी तरह की पाबदी नही थी।

हिंदुस्तानी सभ्यता बहुत हद तक अपने मकसद पर पहुच गई, लेकिन उस तरक्की के दौरान मे ज़िदगी गायब होने लगी, क्योकि ज़िदगी तो इतनी ज्यादा गतिशील है कि वह बहुत अरसे तक ऐसे घेरे मे नही रह सकती, जो न तो लचीली हो और न जिसमे रद्दोबदल की गुजाइश हो, यहातक कि अगर उन बुनियादी उसूलो को, जिन्हे अपरिवर्तनशील कहा जाता है, पूरी तरह मान लिया जाये और उनके लिए खोज बद हो जाये, तो उनकी ताज़गी और उनकी सचाई खत्म हो जाती है। सत्य, सुदरता और आज़ादी के खयाल भी मुरझाते

हैं और किसी निर्जीव ढर्रे से चिपटे रहने से हम गुलाम बन जाते हैं।

ठीक वही चीज़, जिसकी हिंदुस्तान के पास कमी थी, पच्छिम के पास मौजूद थी, और वहा वह मौजूद थी जरूरत से ज्यादा तादाद में। उसका नजरिया गतिशील था। बदलती हुई दुनिया मे उसकी दिलचस्पी थी। न बदलनेवाले और व्यापक आखिरी उसूलो की उसे परवाह नही थी। उसने फर्ज़ और जिम्मेदारियो पर करीब-करीब बिलकुल ध्यान नही दिया, बल्कि उसने अधिकारो पर ज़ोर दिया। वह सक्रिय थी, आक्रामक थी और वह ताकत, हुकूमत और कब्ज़ा चाहती थी। मौजूदा वक्त पर उसकी निगाह थी और भविष्य मे उसके कार्यों का क्या नतीजा होगा, उसे इसकी परवाह नही थी। चूकि वह गतिशील थी, इसीलिए उसमे प्रगति थी, ज़िदगी थी, लेकिन उस ज़िदगी मे एक बुखार था और उसकी तेज़ी बराबर बढती गई।

अगर हिंदुस्तानी सभ्यता इस वजह से मुरझाई कि उसमे गतिहीनता थी, उसका सारा ध्यान अपने मे ही था और उसकी अपने आपसे बहुत ममता थी, तो दूसरी तरफ आधुनिक पच्छिमी सभ्यता कई दिशाओ मे बहुत ज्यादा तरक्की के होते हुए भी खासतौर से कामयाब नही हुई और न वह अबतक ज़िदगी के बुनियादी मसलो को ही हल कर पाई है। सघर्ष उसमे शुरू से है, और जब-तब बहुत बडे पैमाने पर वह सभ्यता अपनी बरबादी के काम मे जुट जाती है। ऐसा महसूस होता है कि उसमे किसी ऐसी चीज़ की कमी है, जो उसे पायदारी दे। उसमे ज़िदगी को सार्थक बनानेवाले किन्ही बुनियादी उसूलो की कमी है। लेकिन ये उसूल कौनसे हैं, मैं खुद नही कह सकता। फिर भी चूकि वह गतिशील है, उसमे ज़िदगी है, जिज्ञासा है, इसलिए उसके लिए कुछ उम्मीद है।

हिंदुस्तान और साथ ही चीन को भी पच्छिम से सबक सीखना चाहिए। आधुनिक पच्छिम के पास सिखाने को बहुत कुछ है और इस युग की भावना की पच्छिम नुमाइदगी करता है। लेकिन ज़ाहिर है, पच्छिम को भी बहुत-कुछ सीखने की ज़रूरत है। अगर पच्छिमी ज़िदगी की गहरी बातो को, जिन पर हर युग मे हर देश के विचारको का दिमाग़ बराबर ग़ौर करता रहा है, नही सीखता, तो उसको अपनी सारी वैज्ञानिक तरक्की से भी कोई खास आराम नही मिलेगा।

हिंदुस्तान गतिहीन बन गया था, फिर भी यह खयाल बिलकुल ग़लत होगा कि उसमे तब्दीली नही हुई। बिलकुल तब्दीली न होने के मानी हैं मौत। एक बहुत उन्नत राष्ट्र की हैसियत से उसका बना रहना यह बताता है कि उसमें अपने को परिस्थितियो के अनुकूल बनाने की कोई-न-कोई प्रक्रिया

बराबर चलती रही। जिस वक्त अंग्रेज हिंदुस्तान मे आये, वह तकनीकी तरक्की मे कुछ पिछडा हुआ जरूर था, फिर भी दुनिया की बहुत बडी तिजारती कौमो मे से एक था। यकीनी तौर पर तकनीकी तब्दीलिया भी हुई होती, और पच्छिमी देशो की तरह हिंदुस्तान भी बदल जाता, लेकिन ब्रिटिश ताकत से उसकी बाढ रुक गई। औद्योगिक तरक्की रुकी और उसकी वजह से समाजी तरक्की मे भी रुकावट आई। समाज के स्वाभाविक शक्ति-सबध आपस मे मेल नही खा सके और समतौल नही हो सका, क्योकि सारी ताकत तो विदेशी हुकूमत के हाथो मे थी और उसने अपनी बुनियाद ताकत पर बनाई और उसने उन वर्गों और समुदायो को, जिनकी अब कोई खास अहमियत नही रह गई थी, बढावा दिया। हिंदुस्तानी जिदगी इस तरह दिन-ब-दिन ज्यादा अस्वाभाविक हो गई, क्योकि उन व्यक्तियो और समुदायो के लिए, जिनका उसमे खास हाथ था, अब कोई खास काम तो बाकी नही रहा, फिर भी विदेशी हुकूमत के सहारे वे बने रहे। इतिहास मे उनका काम तो बहुत पहले खत्म हो चुका था और अगर उन्हे विदेशी मदद न मिली होती, तो नई ताकतो ने उनको एक तरफ हटा दिया होता। वे विदेशी हुकूमत के निर्जीव प्रतीक बन गये, जो मशीन की तरह बिलकुल उसीके इशारो पर थे। इस तरह राष्ट्र की गतिशील धाराओ से वे और ज्यादा अलहदा हो गये। आम हालत मे तो इन्कलाब के जरिये या किसी लोकतत्री प्रक्रिया से वे या तो जड से मिटा दिये जाते, या उनको मुनासिब जगह पर पहुचा दिया जाता, लेकिन जबतक विदेशी तानाशाही हुकूमत मौजूद थी, ऐसी कोई तब्दीली नही हो सकती थी। इस तरह गुजरे जमाने की निशानियो का हिंदुस्तान मे एक जमघट बना दिया गया और जो असली तब्दीली हो रही थी, वह ऊपरी गैर-कुदरती तह के नीचे दबा दी गई। कोई भी सामाजिक समतौल या समाज मे आपस का शक्ति-सबध इस तरह न तो बढ सकता था और न प्रकट हो सकता था। झूठे मसलो की अहमियत बेहद बढ गई।

आज हमारे ज्यादातर मसले इस रुकी हुई बाढ और ब्रिटिश हुकूमत द्वारा सहज स्वाभाविक व्यवस्था पर रोक की वजह से हैं। अगर बाहरी दखल न हो, तो हिंदुस्तानी रजवाडो का मसला बहुत आसानी से हल हो सकता है। अल्पसख्यको का मसला और जगहो के अल्पसख्यको के मसले से बिलकुल अलग ढग का है, असल मे वह अल्पसख्यको का मसला ही नही है। उसके कई पहलू हैं और बेशक गुजरे वक्त मे या मौजूदा वक्त मे हम उसके दोष से बच नही सकते, लेकिन इन मसलो के या और दूसरे मसलो के पीछे ब्रिटिश

सरकार की, जहांतक मुमकिन हो सके, हिंदुस्तानी जनता के मौजूदा राजनैतिक संगठन और अर्थ-व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों बनाये रखने की ख्वाहिश है। इसी गरज से वह समाज के पिछड़े हुए लोगों को उनकी मौजूदा हालत में बनाये रखना चाहती है और इसके लिए बढ़ावा देती है। राजनैतिक और आर्थिक तरक्की सिर्फ खुले तौर पर ही नही रोकी गई, बल्कि उसके लिए यह लाजिमी कर दिया गया है कि प्रतिक्रियावादी गुटों और निहित स्वार्थों से पहले उसका समझौता हो। अगर भविष्य के इंतजाम में इन पिछड़े हुए लोगों को अहमियत दे दी जाये या उनके विशेषाधिकारों या रिआयतों को ज्यों-का-त्यों बनाये रखा जाये, सिर्फ तभी यह तरक्की खरीदी जा सकती है। इसके मानी ये होंगे कि असली रद्दोबदल या तरक्की के रास्ते में हम जबरदस्त अड़चनें खड़ी कर ले। एक नये संविधान में मजबूती और असर के लिए सिर्फ अधिकांश जनता की इच्छाओं की ही नुमाइंदगी होना जरूरी नही है, बल्कि उसमें सामाजिक शक्तियों और उनके आपसी संबंधों की भी साफ झलक होनी चाहिए। हिंदुस्तान की खास मुश्किल यह रही है, कि भविष्य के बारे में जो संवैधानिक इंतजाम अंग्रेजों या बहुत-से हिंदुस्तानियों ने सुझाये हैं, उनमें इन मौजूदा सामाजिक शक्तियों की और खासतौर से उन बढ़ती शक्तियों की, जो बहुत अरसे से रोक दी गई हैं, और जो बाहर फूटी पड़ रही हैं, अवहेलना की गई है। इसके अलावा उस संवैधानिक इंतजाम में एक ऐसे ढांचे को लादा जा रहा है, जिसमें लचीलापन नही है, जिसकी बुनियाद गुजरे वक्तों के संबंध पर है, जो अब गायब होता जा रहा है और जो असल में अब बेकार है।

हिंदुस्तान में जो बुनियादी सचाई है, वह यह है कि यहां ब्रिटिश फौज है, और एक ऐसी नीति है, जो उस फौज के सहारे चलती है। कई ढंग से उसे जाहिर किया जा चुका है। अकसर उसको अस्पष्ट शब्दावली की पोशाक पहनाई गई है, लेकिन इधर एक फौजी वाइसराय ने उसे साफ कर दिया है। जहांतक ब्रिटिश लोगों का बस चलेगा, यह फौजी कब्जा बना रहेगा। लेकिन हैवानी ताकत के इस्तेमाल की भी आखिर हद है। उससे न सिर्फ विरोधी ताकतों की तरक्की होती है, बल्कि उसके कई ऐसे नतीजे और होते हैं, जिनके बारे में उन लोगों ने, जो उस ताकत के भरोसे रहते है, पहले कभी सोचा भी नही था।

हिंदुस्तान की तरक्की को जबरदस्ती कुचलने और रोकने के नतीजे हमारे सामने हैं। सबसे ज्यादा जाहिर बात तो यह है कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश शासन निर्जीव है और उससे हिंदुस्तान की जिंदगी कुचल दी गई है। विदेशी राज्य

अधिकृत जनता की सृजनात्मक शक्ति से बिलकुल अलहदा रहता है। जिस समय इस विदेशी राज्य का आर्थिक और सांस्कृतिक केंद्र गुलाम देश से बहुत दूर होता है, और साथ ही अगर उसमे जातीय भेद-भाव मौजूद हो, तो यह अलगाव पूरा हो जाता है और गुलाम जनता की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मौत हो जाती है। राष्ट्र की रचनात्मक शक्ति को अगर कोई सच्चा मैदान मिलता है, तो वह शासन के खिलाफ किसी विरोध के सिलसिले मे होता है। फिर भी वह मैदान सकरा होता है और नज़रिया इकतरफा और तग होता है। वह विरोध तो उस चेतन या अचेतन कोशिश की निशानी है, जो सीमित करनेवाले खोल को तोडने के लिए हो रही है। इस तरह यह एक प्रगतिशील और अनिवार्य प्रवृत्ति है, लेकिन यह विरोध इतना नकारात्मक और इकतरफा होता है कि हमारी जिंदगी की सचाई के कई पहलू उससे अलग रहते हैं। भेद-भाव, पूर्वाग्रह और शक बढ जाते हैं और दिमाग पर अपनी छाया डालते हैं। असली मसलो के हल और उनकी छान-बीन की जगह वर्ग या जाति की भावना आ जाती है और खास नारे या बधे फिकरे दिमाग़ मे घर कर लेते हैं। बजर विदेशी हुकूमत के ढाचे मे कोई कारगर हल मुमकिन नही हैं। हल न किये जाने की वजह से राष्ट्रीय मसलो का तीखापन और भी ज्यादा हो जाता है। हम हिंदुस्तान मे एक ऐसी हालत मे पहुच गये है कि अधूरी रद्दोबदल से हमारे मसले हल नही हो सकते और किसी एक पहलू की तरक्की काफी नही हो सकती। एक बहुत बडा कदम उठाने की जरूरत है और हर तरफ आगे बढना होगा, वरना इसका नतीजा होगा भयकर सर्वनाश।

सारी दुनिया की तरह हिंदुस्तान मे भी एक दौड चल रही है। यह दौड शातिपूर्ण प्रगति और निर्माण की शक्तियो मे और विध्वस और बरबादी की ताकतो मे है। और हर नई बरबादी पहली बरबादी से कही बडी होती है। अपने दिमागी गठन या अपने स्वभाव के अनुसार हम इस दृश्य को आशावादी और निराशावादी ढग से देख सकते हैं। जिनको विश्व की घटनाओ के ईश्वरीय सचालन मे विश्वास है और जिनके लिहाज़ से अत मे सत्य की ही जीत होगी, वे सौभाग्य से ईश्वर पर ज़िम्मेदारी डालकर दर्शक या सहायक हो सकते हैं। दूसरे लोगो को तो यह बोझ अपने कमज़ोर कधो पर ढोना होगा—अच्छे-से-अच्छे नतीजे की उम्मीद रखनी और बुरे-से-बुरे नतीजे को झेलने के लिए तैयार रहना होगा।

९ : मजहब, फ़िलसफा और विज्ञान

हिंदुस्तान को बहुत हद तक बीते हुए ज़माने से नाता तोडना होगा और

वर्तमान पर उसका जो आधिपत्य है, उसे रोकना होगा। इस गुज़रे ज़माने के बेजान बोझ से हमारी ज़िंदगी दबी हुई है। जो मुर्दा है और जिसने अपना काम पूरा कर लिया है, उसे जाना ही होता है। लेकिन इसका मतलब यह नही कि गुज़रे ज़माने की उन चीज़ो से हम नाता तोड दें या उनको भूल जायें, जो ज़िंदगी देनेवाली हैं और जिनकी अपनी अहमियत है। हम उन आदर्शों को नही भूल सकते, जिन्होने हमारी जाति को प्रेरित किया है। हिंदुस्तानी जनता के युगो से चले आनेवाले सपनो को, पुराने लोगों के ज्ञान को, ज़िंदगी और प्रकृति मे अपने पुरखो के प्रेम और उमग को, उनकी मानसिक खोज और जिज्ञासा की भावना को, उनके विचार की साहसिकता को, साहित्य, कला और सस्कृति मे उनकी प्रतिभा को, सचाई, खूबसूरती और आज़ादी के लिए उनकी मुहब्बत को, उनके बुनियादी मूल्य-निर्धारण को, ज़िंदगी के रहस्य के उनके ज्ञान को, दूसरो के प्रति उनकी रवादारी को, दूसरे व्यक्ति और उनकी सस्कृति को अपनाने की सामर्थ्य को, समन्वय करके एक बहु-अगी मिली-जुली सस्कृति बनाने की उनकी क्षमता को, हम अपनी आखो से ओझल नही कर सकते। और न हम उन अनगिनत अनुभवो को ही भुला सकते हैं, जिन्होने हमारी प्राचीन जाति को बनाया और जो हमारे उपचेतन मन मे जमे हुए हैं। हम उन्हे कभी नही भूलेंगे और अपनी इस ऊची परपरा के सबब मे हमारा गर्व हमेशा बना रहेगा। अगर हिंदुस्तान उन्हे भूल जायेगा, तो हिंदुस्तान वह चीज़ नही रहेगा, जिससे हमे उस पर खुशी और शान महसूस होती है।

हमको नाता इससे नही तोडना है, बल्कि युगो पुरानी उस धूल और मिट्टी से, जिसने उसे ढक दिया है और जिसने उसकी अदरूनी खूबसूरती और सच्चाई को छिपा दिया है, उस फालतू या विकृत हिस्से को, जिसने उसकी भावना को जड बना दिया और उसे भ्रष्ट कर दिया है, सख्त ढाचो मे कस दिया है और उसकी तरक्की को रोक दिया है—हमको इन फालतू हिस्सो को अलग करना है, पुराने ज्ञान को एक बिलकुल नये सिरे से अपनाना है और मौजूदा हालतो से उसका मेल बिठाना है। सोचने और रहने के परपरागत ढर्रों से हमे बाहर आना है। इन ढर्रों ने गुज़रे ज़माने में जो भी फायदा पहुचाया हो—तब इनमे सचमुच बहुत अच्छाई थी—लेकिन आज उनमें अहमियत नही है। सारी मानव जाति की उपलब्धियो को हमे अपनाना है, दूसरो के साथ मानव के दिलचस्प अन्वेषण और साहसिक प्रयत्नो में शरीक होना है। शायद पुराने ज़माने के मुकाबले मे ये अन्वेषण अब ज़्यादा दिलचस्प हैं, क्योकि यह याद रखना है कि अब उनमे क़ौमी सीमाए या पुराने

विभाजन नहीं रहे और अब उस खोज में सभी जगह के आदमी शरीक हैं। सचाई, खूबसूरती और आज़ादी के लिए उस भूख को हमें फिर जगाना है, जिससे ज़िंदगी में सार्थकता होती है। हमें फिर से गतिशील नज़रिये और खोज की उस भावना को बढ़ाना है, जिसने हमारी उस जाति को प्रमुख बनाया, जिसके सदस्यों ने पुराने ज़माने में हमारी इमारत को मज़बूत और स्थायी बुनियाद पर खड़ा किया। हम लोग पुराने हैं और मानव-इतिहास और प्रयत्न के आदि-काल तक हमारी स्मृतियां फैली हुई हैं। हमको मौजूदा वक्त के सुर-से-सुर मिलाते हुए, मौजूदा वक्त में जवानी के उठते हुए जोश और उल्लास के साथ और भविष्य में यकीन के साथ, फिर से जवान बनना है।

आखिरी असलियत की शक्ल में अगर कोई सचाई है, तो वह सनातन, अमर और अपरिवर्तनशील होगी, लेकिन उस अपरिवर्तनशील, शाश्वत और अनंत सत्य का मनुष्य का सीमित मस्तिष्क पूरी तरह ज्ञान नहीं कर सकता। वह तो ज़्यादा-से-ज़्यादा उसके किसी ऐसे छोटे-से पहलू को समझ सकता है, जो समय और स्थान से सीमित हो, और जिसे समझने में उसे दिमाग़ की तरक्की के दर्जे और उस ज़माने के आदर्श के लिहाज़ से आसानी हो। ज्यों-ज्यों दिमाग़ तरक्की करता जाता है और उसका मैदान फैलता जाता है, ज्यों-ज्यों आदर्श बदलता जाता है और सत्य को जताने के लिए नये प्रतीक आते जाते हैं, उसके नये पहलुओं पर रोशनी पड़ती जाती है। ऐसा मुमकिन है कि अब भी उसकी बुनियाद वही हो, जो पहले थी। इसीलिए सत्य की हमेशा खोज करनी होती है, उसको नया करना होता है, उसको नई शक्ल देनी होती है और उसे बढ़ाते रहना होता है, ताकि वह विचारधारा की बढ़वार और इन्सानी ज़िंदगी की रद्दोबदल के अनुरूप रह सके। सिर्फ़ उसी तरह वह मानवता के लिए सजीव सत्य बन सकता है और उसकी उस लाज़िमी ज़रूरत को पूरा कर सकता है, जिसके लिए वह तड़पती है। तभी वह मौजूदा वक़्त में या भविष्य में पथ-प्रदर्शन कर सकता है।

अगर पुराने ज़माने में किसी अंधविश्वास ने सत्य का कोई पहलू निर्जीव बना दिया गया, तो न वह बढ़ता है और न वह मानवता की बदलती हुई ज़रूरतों के अनुरूप हो पाता है। उसके दूसरे पहलू छिपे रहते हैं; और वह बाद के ज़माने में अहम सवालों का जवाब नहीं दे पाता। अब वह गतिशील नहीं, बल्कि गतिहीन हो जाता है। अब उसमें ज़िंदगी देनेवाली ताकत नहीं होती, बल्कि वह एक मुर्दा ख़याल या मुर्दा रिवाज रह जाता है। दिमाग़ और समाज की तरक्की के लिए वह अब एक रुकावट बन जाता है।

शायद असलियत यह है कि जिस जमाने में वह पैदा हुआ था और जिस जमाने की भाषा और निशानियों की उसे पोशाक पहनाई गई थी, उस जमाने में वह जिस रूप में समझा जाता था, अब नहीं समझा जाता। बाद के जमाने में उसका मतलब बिलकुल अलग होता है, मानसिक वातावरण बदला हुआ होता है। नई सामाजिक रीतियां या परंपराएं पैदा हो जाती हैं, और अक्सर उस पुराने लेख के मतलब को और रामनाद ने उसकी भावना को समझने में मुश्किल होती है। इसके अलावा, जैसाकि अरविंद घोष ने कहा है, हर सत्य, चाहे उसमें कितनी ही सचाई क्यों न हो, उन दूसरी सचाइयों से अलहदा करने पर, जो उसे फौरन ही सीमित कर देती है और जो उसे पूरा करती है, दिमाग को गुलाम बनानेवाला फंदा हो जाता है, और वह ऐसा यकीन होता है, जो गलत रास्ते पर ले जाता है। असल में वह अकेला सत्य एक ताने-बाने के जटिल धागों में से एक है और उस ताने-बाने से किसी भी धागे को अलहदा नहीं निकालना चाहिए।

मानवता की तरक्की में मजहबों ने बहुत मदद की है; उन्होंने चीजों की कीमत तय की है, मापदंड बनाये हैं और जिंदगी में रास्ता दिखानेवाले उसूलों को बनाया है। लेकिन जो-कुछ भलाई उन्होंने की है, उसके साथ ही खास शक्ल या पक्के यकीनों में उन्होंने सत्य को क़ैद करने की भी कोशिश की है। उन्होंने ऊपरी रस्म-रिवाज और ढर्रे को बढ़ावा दिया है। कुछ ही अरसे में इन ढर्रों का असली मतलब गायब हो जाता है और तब सिर्फ एक ढंग की खाना-पूरी बाकी रह जाती है। आदमी के चारों तरफ जो अज्ञात शक्ति है, मजहब ने उसके रहस्य और अचमे की आदमी को अहमियत जताई है। लेकिन साथ ही उसने न सिर्फ उस अज्ञात को समझने की कोशिश की, बल्कि सामाजिक प्रयत्न को समझने की कोशिश को रोका भी है। जिज्ञासा और विचार को बढ़ावा देने की जगह उसने प्रकृति के सामने, स्थापित सम्प्रदाय के सामने, और सारी मौजूदा व्यवस्था के सामने सिर झुकाने के फिलसफे का प्रचार किया है। इस यकीन से कि कोई गैबी ताकत सारी चीजों का इंतजाम करती है, एक ढंग की गैर-जिम्मेदारी-सी आ गई है। तर्कसंगत विचार और खोज की जगह भावुकता ने ले ली है। हालांकि इसमें शक नहीं कि अपने मूल्यांकन से धर्म ने अनगिनत लोगों को आराम पहुंचाया है और समाज को स्थायी बनाया है, लेकिन उसने मानव-समाज की जन्म-जात उन्नति और रद्दोबदल की प्रवृत्ति को रोका है।

फिलसफा इनमें से ज्यादातर खाइयों से अलहदा रहा है और उसने खोज और विचार को बढ़ावा दिया है। लेकिन आमतौर से वह एक हवाई महल

मे रहा है। ज़िंदगी और उसके रोज़मर्रा के सवालो से उसका कोई नाता नही है। उसकी सारी निगाह आखिरी मकसद पर है और आदमी को ज़िंदगी के और उसके बीच मे कोई जोडनेवाली कडी नही है। तर्क और बुद्धि उसके निर्देशक थे और उसे कई दिशाओ मे काफी दूर ले गये, लेकिन वह तर्क ज़रूरत से ज्यादा दिमाग़ी था और उसका असलियत से कोई ताल्लुक नही था।

विज्ञान ने आखिरी मकसदो पर ध्यान नही दिया और सिर्फ असलियत पर ही ग़ौर किया। उसकी वजह से दुनिया लम्बी छलाग भरकर आगे बढ गई, एक नइकीली सभ्यता बन गई, जानकारी बढाने के अनगिनत रास्ते खुल गये और उसने आदमी की ताकत इस हद तक बढा दी कि पहली दफा यह सोचना मुमकिन हुआ कि अपने भौतिक वातावरण को इन्सान जीत सकता है और उसमे रद्दोबदल कर सकता है। आदमी एक ढग से ऐसी भूगर्भिक शक्ति बन जाता है, जो जमीन की शक्ल को रासायनिक, भौतिक और कई दूसरे ढगो से बदल सकता है। लेकिन ठीक जिस वक्त चीज़ो की यह दुखद योजना करीब-करीब उसके काबू मे मालूम हुई और ऐसा महसूस हुआ कि वह दिली ख्वाहिश के मुताबिक चीज़ो को ढाल सकता है, किसी बुनियादी चीज की कमी, किसी खास चीज़ की ग़ैर-हाज़िरी खटकी। आखिरी मकसद की कोई जानकारी नही थी, यहातक कि मौजूदा मकसद का भी कुछ पता नही था। विज्ञान ने ज़िंदगी के उद्देश्य के बारे मे तो कुछ बताया ही नही था। साथ ही उस आदमी ने, जिसमे कुदरत पर काबू पाने की जबरदस्त ताकत थी, अपने पर काबू करने की ताकत नही थी और अब यह राक्षस, जिसको उसने तैयार किया था, चारो तरफ बरबादी करने लगा। शायद प्राणीशास्त्र, मनोविज्ञान या ऐसे ही और विज्ञान के नये विकास से और प्राणीशास्त्र और भौतिक विज्ञान की व्याख्या से आदमी को अपने को समझने और अपने पर काबू पाने मे पहले के मुकाबले ज्यादा मदद मिले। यह भी मुमकिन है कि इसके पहले कि ऐसी तरक्कियो से आदमी की ज़िंदगी पर काफी असर पडे, वह अपनी बनाई हुई सभ्यता को बरबाद कर डाले और उसे फिर नये सिरे से शुरू करना पडे।

अगर विज्ञान को आगे बढने का मौका दिया जाये, तो जाहिरा उसकी उन्नति की कोई हद नही दिखाई देती। फिर भी ऐसा हो सकता है कि चीज़ो को देखने का वैज्ञानिक ढग हर तरह के मानव-अनुभव के लिए लागू न हो सके और वह हमारे चारो तरफ के अनजाने समुदर को पार न कर सके। फिलसफे की मदद से वह कुछ और आगे जा सकता है और जब विज्ञान और फिलसफा दोनो ही आगे न चल सके, तो हमको ऐसी दूसरी ज्ञान-शक्तियो का सहारा

लेना होगा, जो हमारे लिए मुमकिन हो। ऐसा मालूम होता है कि एक ऐसी आखिरी हद है, जिसके आगे अक्ल (कम-से-कम जैसी वह आजकल है) नही जा सकती। पैस्कल का कहना है कि "तर्क का आखिरी कदम यह है कि वह जान ले कि उसके परे अनत चीजें हैं। अगर वह उन तक नही पहुच सकता, तो वह कमजोर है।"

दलील और विज्ञान के तरीके की इन खामियो को जानते हुए भी हमको उन्हें अपनी सारी ताकत से पकडे रहना है, क्योंकि बिना उस मजबूत पृष्ठ-भूमि या बुनियाद के हम किसी भी सत्य या असलियत को पकड नही सकते। सत्य के थोड़े से हिस्से को ही समझना और जिंदगी मे उसे अमल मे लाना कुछ न समझने और अस्तित्व के रहस्य को खोज पाने की बेकार कोशिश मे इधर-उधर भटकने के मुकाबले मे बेहतर है। हर देश के लिए और हर जाति के लिए आज विज्ञान का इस्तेमाल लाजिमी और जरूरी है। वैज्ञानिक ढग मे साहसपूर्ण खोज है, फिर भी साथ ही आलोचना और छान-बीन है, उसमे सत्य की और नये ज्ञान की तलाश है, लेकिन बिना जाच के, बिना प्रयोग के किसी चीज को मान लेने से इन्कार है, उसमे नये प्रमाणो के मिलने पर पिछले नतीजो को बदल सकने की सामर्थ्य है। उसमे प्रत्यक्ष सत्य पर भरोसा है, न कि दिमागी या काल्पनिक बातो पर। इन सब चीजो की सिर्फ विज्ञान मे ही जरूरत नही होती, बल्कि खुद जिंदगी और उसके बहुत-से मसलो को हल करने के लिए भी उनकी जरूरत है। बहुत-से वैज्ञानिक, जो अपने-आपको विज्ञान का पुजारी समझते हैं, अपने खास दायरो के बाहर उसके बारे में सब-कुछ भूल जाते हैं। वैज्ञानिक ढग या स्वभाव जीवन का ढग है या कम-से-कम उसे ऐसा होना चाहिए। वह तो सोचने का, काम करने का और अपने साथियो से सहयोग का एक ढग है। यह एक बहुत बडी चीज है और निस्सदेह बहुत ही कम लोग शायद ऐसे निकल सकेंगे, जो थोडी हद तक भी इस ढग से काम कर सकें। लेकिन यह आलोचना तो पूरी तौर से या बहुत ज्यादा हद तक उन प्रवचनो या आदेशो के लिए लागू होनी है, जो हमको दर्शन और धर्म ने दिये हैं। वैज्ञानिक स्वभाव उस मार्ग की ओर सकेत करता है, जिसकी दिशा मे आदमी को चलना चाहिए। वह एक आजाद आदमी का स्वभाव है। हम विज्ञान के युग मे रहते हैं। कम-से-कम हमसे कहा यही जाता है। लेकिन उस स्वभाव की किसी भी जगह की जनता मे या उनके नेताओ मे भी थोडी-सी झलक दिखाई नही देती।

विज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षेत्र से ताल्लुक है, लेकिन जो स्वभाव उसे बनाना चाहिए, वह इस क्षेत्र के भी आगे चला जाता है। इन्सान के आखिरी

मकसद सत्य की अनुभूति, ज्ञान-प्राप्ति, भलाई और खूबसूरती की समझ कहे जा सकते हैं। प्रत्यक्ष छान-बीन का वैज्ञानिक ढग इन सबमे लागू नही हो सकता। ऐसा मालूम होता है कि बहुत-सी चीजें, जिनकी ज़िंदगी में अहमियत है, विज्ञान की पहुच से बाहर हैं। कला और काव्य के प्रति चेतना, उनमे उत्पन्न सौंदर्य और भावुकता, और भलाई की अदरूनी अनुभूति उसके क्षेत्र के परे हैं। वनस्पति-विज्ञान के और प्राणिशास्त्र के बहुत-से आचार्य, यह मुमकिन है, प्रकृति के सौंदय और आकर्षण को कभी भी अनुभव न कर पायें। समाज-विज्ञान के आचार्यों मे मानवता के प्रति प्रेम का अभाव हो सकता है। लेकिन जहा विज्ञान के तरीके काम नही देते और जहा फिलसफा है और ऊचे दर्जे की भावुकता है और जहा हम आगे के विस्तृत प्रदेश को देखते हैं, उस जगह भी वैज्ञानिक स्वभाव और वैज्ञानिक प्रवृत्ति की ज़रूरत है।

धर्म का ढग बिलकुल दूसरा है। प्रत्यक्ष छान-बीन की पहुच के परे जो प्रदेश है, धर्म का मुख्यत उसीसे सबध है और वह भावना और अतर्दृष्टि का सहारा लेता है। सगठित धर्म धर्म-शास्त्रो से मिलकर ज्यादातर निहित स्वार्थों से सबधित रहता है और उसे प्रेरक भावना का ध्यान नही होता। वह एक ऐसे स्वभाव को बढावा देता है, जो विज्ञान के स्वभाव से उलटा है। उससे सकीर्णता, गैर-रवादारी, भावुकता, अधविश्वास, सहज-विश्वास और तर्क-हीनता का जन्म होता है। उसमे आदमी के दिमाग को बद कर देने का, सीमित कर देने का, रुझान है। वह ऐसा स्वभाव बनाता है, जो गुलाम आदमी का, दूसरो का सहारा टटोलनेवाले आदमी का, होता है।

वोल्तेयर ने कहा था कि अगर ईश्वर का अस्तित्व नही भी है, तो उसका आविष्कार करना जरूरी होगा। शायद यह सच है। असल मे इन्सान का दिमाग हमेशा ऐसी किसी मानसिक मूर्त्ति या विचार को बनाने की कोशिश करता रहा है, जिसकी दिमाग के साथ ही तरक्की होती रही। लेकिन इसके उलटे विचार मे भी कुछ असलियत है। अगर यह माना जाये कि ईश्वर है, तो भी यह वाछनीय हो सकता है कि न तो उसकी तरफ ध्यान ही दिया जाये और न उस पर निर्भर हो रहा जाये। दैवी शक्तियो मे ज़रूरत से ज्यादा भरोसा करने से अकसर ऐसा हुआ भी है और अब भी हो सकता है कि आदमी का आत्म-विश्वास घट जाये और उसकी सृजनात्मक योग्यता और सामर्थ्य कुचल जाये। फिर भी ऐसा मालूम देता है कि हमारे भौतिक जगत की पहुच के बाहर जो सूक्ष्म चीज़ें हैं, उनमे किसी-न-किसी ढग का विश्वास ज़रूरी है। नैतिक, आध्यात्मिक और आदर्शवादी विचारो पर कुछ भरोसा करना ज़रूरी है, वरना न तो जीवन मे कोई उद्देश्य होगा, न

कोई लक्ष्य होगा और न कोई स्थिरता होगी। हम ईश्वर मे विश्वास करें या न करें, लेकिन किसी-न-किसी चीज़ मे विश्वास न करना नामुमकिन है। उसे सृजनात्मक ज़िदगी देनेवाली ताक़त कह सकते हैं या पदार्थ मे अतर्निहित वह प्रमुख शक्ति कह सकते हैं, जो पदार्थ को जीव बनाती है, उसको बदलने और बढने की सामर्थ्य देती है। हम उसे चाहे कोई भी नाम दें, लेकिन एक ऐसी चीज़ है, जिसकी सत्ता है, जिसमे असलियत है, उसी तरह, जैसे ज़िदगी मौत के मुकाबले मे एक असलियत है, हालाकि उसका प्रत्यक्ष पता नही लगता। हमको उसका होश हो या न हो, हममें से ज्यादातर उस अदृश्य वेदी पर किसी-न-किसी ईश्वर की उपासना करते हैं और उसे भेंट चढाते हैं। वह कोई भी आदर्श हो सकता है—व्यक्तिगत, राष्ट्रीय या अतर्राष्ट्रीय। वह कोई सुदूर लक्ष्य है, जो हमको खीचे जाता है। हा, बुद्धि को उसके समर्थन की सामग्री नही मिल सकती। वह पूर्ण मनुष्य और उन्नत ससार की एक अस्पष्ट धारणा है। पूर्णता पाना नामुमकिन हो सकता है, लेकिन हमारे अदर कोई शक्ति, कोई भूत हमको बलात आगे बढाता है और एक के बाद दूसरी पीढी मे हम उसी रास्ते पर चलते जाते हैं।

ज्यो-ज्यो ज्ञान बढता जाता है, सकीर्ण मानो मे जो धर्म का क्षेत्र है, वह सिकुडता जाता है। ज़िदगी और प्रकृति को हम जितना ज़्यादा समझते जाते हैं, उतना ही दैवी शक्तियो की तरफ हम कम ध्यान देते हैं। जो कुछ हम समझ सकते हैं और जिस पर हम नियत्रण कर सकते हैं, वह रहस्य नही रह जाता। खेती का काम, हमारा खाना, हमारे कपडे, हमारे समाजी रिश्ते— किसी वक्त ये सभी बातें धर्म के और उसके बडे महतो के दायरे मे थीं। धीरे-धीरे वे उसके काबू से बाहर निकल आई हैं और वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन गई है। फिर भी इनमे से बहुत-सी बातो पर धार्मिक खयालो और उनसे चिपटे हुए अधविश्वासो का अब भी जबरदस्त असर होता है। अब भी आखिरी रहस्य आदमी के दिमाग की पहुच से बहुत दूर है, और शायद इसी तरह आगे भी दूर बने रहेगे। लेकिन ज़िदगी के और बहुत-से रहस्यो का हल हो सकता है और उसको सख्त ज़रूरत है, इसलिए अतिम रहस्य पर इस वक़्त ज़िद करना न तो जा ही मालूम होता है और न ज़रूरी। अब भी ज़िदगी मे सिर्फ़ दुनिया की खूबसूरती ही नही है, बल्कि उसमे ताज़ी, हिम्मत-भरी, दिलचस्प, कभी खत्म न होनेवाली खोजों की बराबर गुजाइश है। अब भी ज़िदगी मे नया ढर्रा लानेवाले ऐसे नये दृश्य हैं जो दुनिया को ज्यादा धनी और ज्यादा भरा-पूरा बना सकते हैं।

इसलिए वैज्ञानिक ढग और स्वभाव को फिलसफ़े से मिलाकर और ज़ो

कुछ परे है, उसके लिए श्रद्धा रखते हुए हमको ज़िंदगी का सामना करना चाहिए। इस तरह से हम ज़िंदगी का एक संगठित ढांचा तैयार कर सकते हैं, जिनके बडे फैलाव मे पिछले और मौजूदा वक्त शामिल हैं, उनकी सारी ऊंचाइयां और गहराइयां मौजूद है और तब हम शांति से, गंभीरता से, भविष्य पर दृष्टि डाल सकते हैं। वहां गहराइयां है और उन्हे भुलाया नही जा सकता, और उस ख़ूबसूरती के साथ-ही-साथ, जो हमारे चारो तरफ है, दुनिया का दुख-दर्द भी है। ज़िंदगी मे, आदमी के सफर मे, दुख-सुख का एक अजीब मिलाव है। सिर्फ इसी तरह वह सीख सकता है और आगे बढ सकता है। आत्मा की मेहनत एक दुखद और रूखा व्यापार है। बाहरी घटनाओ से और उनके नतीजो से हम पर जबरदस्त असर होता है, लेकिन हमारे दिमाग को सबसे बडे धक्के अदरूनी डर या द्वंद्व से पहुचते है। जिस वक्त हम ऊपरी सतह पर आगे बढते हैं (और अगर हमको बना रहना है तो यह ज़रूरी भी है), हमको अपने अदर, अपने पडोस और अपने बीच मे शांति पानी है। यह एक ऐसी शांति होनी चाहिए, जो हमारी भौतिक और पार्थिव ज़रूरतो को ही पूरा न करे, बल्कि जो हमारी उन अदरूनी, कल्पनात्मक और साहसिक भावनाओ की भूख को बुझाये, जिन्होने आदमी को अपनी यात्रा के आरंभ से दिमाग़ और काम-काज मे प्रमुख बनाया है। उस यात्रा का कोई आखिरी उद्देश्य है या नही, हमको नही मालूम, फिर भी उसके अपने फायदे हैं और वह उन करीबी मकसदो की तरफ इशारा करता है, जो पहुच के अदर मालूम होते हैं और जहां से फिर आगे के लिए एक नई कोशिश शुरू हो सकती है।

विज्ञान का पच्छिमी दुनिया पर आधिपत्य है और वहां सब उसको सिर झुकाते हैं, लेकिन फिर भी पच्छिम ने असली वैज्ञानिक स्वभाव को करीब-करीब बिलकुल नही अपनाया। उसको आत्मा और शरीर मे सृजनात्मक समतोल कायम करना अभी बाकी है। कई ज़ाहिरा तरीको से हमको हिंदुस्तान मे एक ज्यादा लबी मजिल तय करनी है। लेकिन फिर भी हमारे रास्ते मे बडी-बडी मुश्किलें मुकाबले मे कम होगी, क्योकि हिंदुस्तानी विचार-धारा की गुज़रे ज़मानो मे लाज़िमी बुनियाद वैज्ञानिक ढग और स्वभाव और साथ ही अतर्राष्ट्रीयता के अनुरूप है। इधर बाद की विकृतियो से हमको मतलब नही। जिस हिंदुस्तानी विचारधारा की बाबत हम कह रहे हैं, वह कई युगो तक शुरू मे थी। उसकी बुनियाद सत्य की भयरहित खोज पर, आदमी की मज़बूती पर, हर सजीव पदार्थ की दैविकता पर, व्यक्ति और समुदाय की स्वतंत्र और सामूहिक प्रगति पर, और व्यक्ति

तथा प्राणियो के स्वतत्र तथा समयोगितापूर्ण विकास की अधिकाधिक स्वतत्रता और मानविक वृद्धि की उच्चातिउच्च ऊचाइयो मे है।

१० : क़ौमियत के विचार की अहमियत : हिंदुस्तान के लिए जरूरी तब्दीलियां

पिछली बातो के लिए अधी भक्ति बुरी होती है। साथ ही उनके लिए नफरत भी उतनी ही बुरी है। उसकी वजह यह है कि इन दोनो मे से किसी पर भविष्य की बुनियाद नही रखी जा सकती। वर्तमान का और भविष्य का लाज़िमी तौर से भूतकाल से जन्म होता है और उन पर उसकी छाप होती है। इसको भूल जाने के मानी हैं इमारत को बिना बुनियाद के खड़ा करना और कौमी तरक्क़ी की जड को ही काट देना। उसके मानी हैं इन्सान पर असर रखनेवाली एक सबसे बडी ताकत को भुला देना। राष्ट्रीयता असल मे पिछली तरक्की, परपरा और अनुभवो की एक समाज के लिए सामूहिक याद है। आज राष्ट्रीयता जितनी ताकतवर है, उतनी वह पहले कभी नही थी। बहुत-से लोगो का खयाल था कि राष्ट्रीयता का जमाना बीत गया और अब लाज़िमी तौर पर दिन-ब-दिन बढती हुई दुनिया की अतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति उसकी जगह ले लेगी। समाजवाद ने, जिसकी पृष्ठ-भूमि मे सर्वहारा वर्ग है, कौमी सस्कृति का मजाक उडाया है, क्योकि उसकी समझ मे इस सस्कृति का ताल्लुक उस मध्य-वर्ग से है, जिसका ज़माना अब खत्म हो गया है। पूजीवाद खुद अधिकाधिक अतर्राष्ट्रीय हो गया। उसमे कारटेल (पूजीवादी कारबारो के सघ) और सयुक्त सस्थाए बनने लगी और वे राष्ट्रीय सीमाओ को पार कर गई। व्यापार, आने-जाने मे आसानी और तेज़ रफ्तार की सवारिया, रेडियो, सिनेमा—इन सबने मिलकर एक अतर्राष्ट्रीय वातावरण बनाने मे मदद दी, और एक ऐसा गलत खयाल पैदा कर दिया कि राष्ट्रीयता का अब कोई भविष्य नही है।

लेकिन जब कोई संकट आया है, राष्ट्रीयता उठ खडी हुई है और उसी का बोल-बाला रहा है और लोगो ने पुरानी परपराओं मे ही ताकत और आराम को ढूढा है। मौजूदा जमाने की एक बहुत अहम घटना यह है कि गुज़रे हुए जमाने और राष्ट्र की दुबारा खोज हुई है और उसका एक नया रूप सामने आया है। राष्ट्रीय परपराओ में वापस लौटने की बात मजदूरो की जमात मे और महनत का काम करनेवालो मे खासतौर से दिखाई दी है। और पहले यही लोग अतर्राष्ट्रीय कार्रवाई के सबसे बडे समर्थक माने जाते थे। लडाई या ऐसे ही किसी सकट से उनकी अतर्राष्ट्रीयता ग़ायब हो जाती है, और इन लोगो मे दूसरे समुदायो के मुक़ाबले ज्यादा राष्ट्रीय

घृणा और डर वग़ैरह आ जाते हैं। इसकी सबसे ज्यादा साफ मिसाल सोवियत सघ की हाल की घटनाओ मे है। उसका बुनियादी सामाजिक और आर्थिक ढाचा ज्यो-का-त्यो बना रहा है, फिर भी अतर्राष्ट्रीय सर्वहारा-वर्ग की पुकार के मुक़ाबले जन्मभूमि रूस की पुकार ज्यादा ज़ोरदार है और वह आज खासतौर से राष्ट्रीयता की भावना से भरा हुआ है। राष्ट्रीय इतिहास के महापुरुषो को फिर से इज्ज़त हुई है और सोवियत जनता के लिए वे आदर्श और साहस और वीरता की प्रतिमा बन गये हैं। इस लडाई मे सोवियत जनता का शानदार काम, उसकी मजबूती और उसका एका बेशक उस सामाजिक और आर्थिक ढाचे की वजह से है, जिससे बेहद समाजी तरक्की हुई है, योजनाबद्ध उत्पादन और उपभोग हुआ है, विज्ञान और उसके इस्तेमाल का क्षेत्र बढा है, नई प्रतिभा और नये नेतृत्व को, और शानदार नेतृत्व को, मौका मिला है। लेकिन कुछ हद तक उसकी वजह यह भी है और उन पिछली चीज़ो की, जिनसे मौजूदा बातें मिली हुई है, एक नई जानकारी हुई है। यह सोचना ग़लत होगा कि रूस के इस कौमी नज़रिये मे और पुराने कौमी नज़रिये मे कोई फर्क नही है। ऐसा सोचना बिलकुल ग़लत होगा। क्रांति और उसके बाद के अनगिनत अनुभव भुलाये नही जा सकते। उसकी वजह से सामाजिक ढाचे और मानसिक गठन मे जो रद्दोबदल हुई, वह बनी रहेगी। इस सामाजिक ढाचे से लाज़िमी तौर पर एक अतर्राष्ट्रीय नज़रिया पैदा होता है। फिर भी राष्ट्रीयता एक ऐसी शक्ल मे वापस आई है कि वह नये वातावरण के अनरूप हो सके और जनता की ताकत बढा सके।

सोविय त सत्ता की रद्दोबदल और दूसरे देशो की कम्युनिस्ट पार्टियो की किस्मत के चढाव-उतार की तुलना से कुछ सबक सीखा जा सकता है। सोवियत क्रांति के बाद ही सभी देशो मे बहुत-से-आदमियो मे, खासतौर से सर्वहारा वर्ग की कतारो मे पहली बार जोश उमडा। उससे कम्युनिस्ट पार्टियो या गुट स्थापित हुए। तब इन गुटो मे और राष्ट्रीय मजदूर दलो मे झगडे खडे हुए। सोवियत पचवर्षीय योजनाओ के दौरान मे फिर दिलचस्पी बढी और जोश उमडा और मजदूरो के मकाबले इसका ज्यादा असर बीच के दर्जे के पढे-लिखे लोगो मे हुआ। फिर सोवियत सघ को विरोधी तत्त्वो को मिटा देने की कोशिश के वक्त प्रतिक्रिया हुई। कुछ देशो मे कम्युनिस्ट पार्टिया दबा दी गईं और कुछ देशो मे उन्होंने तरक्की की। लेकिन करीब-करीब हर जगह सगठित राष्ट्रीय मजदूर दलो से उनके झगडे हुए। कुछ हद तक तो इसकी वजह यह थी कि ये दल प्रगति-विरोधी थे, लेकिन असली

वजह यह थी कि ये कम्युनिस्ट पार्टिया एक विदेशी गुट की प्रतिनिधि थीं, और उनकी नीति रूस से तय होती थी। मजदूर दलो की सहज राष्ट्रीयता को कम्युनिस्ट पार्टी का सहयोग लेने मे अडचन हुई, हालाकि वैसे उनमे से बहुत-से लोगो का साम्यवाद की तरफ झुकाव था। सोवियत नीति मे बहुत-सी तब्दीलिया हुईं। रूस की हालतो को खयाल मे रखते हुए वे समझ मे आती थी, लेकिन जब और जगहो पर कम्युनिस्ट पार्टियो ने उनको अपनाया, तो वे समझ मे नही आ सकी। हा, इस बुनियाद पर कि जो कुछ रूस के भले मे है, वह सारी दुनिया के लिए भी भला होगा, वे शायद समझी जा सकती थी। इन कम्युनिस्ट पार्टियो मे हालाकि कुछ योग्य और सच्ची लगनवाले आदमी थे, लेकिन जनता की राष्ट्रीय भावनाओ से सपर्क टूट जाने की वजह से वे कमजोर होने लगी। जिस वक्त राष्ट्रीय परपरा से सोवियत सघ घुल-मिल रहा था, दूसरे देशो की कम्युनिस्ट पार्टिया उससे दूर हटती जा रही थी।

और दूसरी जगहो मे क्या हुआ, उसके बारे मे मुझे ज्यादा पता नही, लेकिन मै जानता हू कि हिंदुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी उस कौमी परपरा से, जो जनता के दिमाग मे घर किये हुए है, बिलकुल अलग है, और उससे बेखबर है। उसका यह विश्वास है कि साम्यवाद मे लाज़िमी तौर से पिछली चीज़ो के लिए नफरत होती है। जहातक उसका ताल्लुक है, दुनिया का इतिहास सन १९१७ के नवबर से शुरू हुआ और इससे पहले जो कुछ हुआ, वह तो इसके लिए तैयारी थी। आमतौर पर हिंदुस्तान-जैसे देश मे, जहा बहुत बडी तादाद मे लोग भूखे रहते हैं और जहा आर्थिक ढाचा चटख रहा है, लोगो का साम्यवाद की तरफ झुकाव होना चाहिए। एक ढग से धुधला-सा झुकाव तो है, लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी उसका फायदा नही उठा सकती, क्योकि उसने अपने-आपको कौमी भावना की धारा से अलहदा कर लिया है और वह एक ऐसी भाषा बोलती है, जिसकी जनता के दिलो में कोई गज नही होती। वह एक मजबूत, लेकिन छोटी-सी पार्टी है, जिसकी असल मे कोई बुनियाद नही है।

हिंदुस्तान मे सिर्फ यह कम्युनिस्ट पार्टी ही नही, जो इस मामले मे नाकामयाब रही है। ऐसे और लोग भी हैं, जो आधुनिकता और आधुनिक ढग के बारे मे लबी-चौडी बाते करते है, लेकिन उनमे आधुनिक भावना और सस्कृति की असल मे जरा भी समझ नही है। यही नही, वे खुद अपनी स्कृति से भी बेखबर हैं। कम्युनिस्टो के पास कम-से-कम एक आदर्श या ेरणा-शक्ति तो है, लेकिन इन लोगो के पास न कोई आदर्श है और न कोई

ऐसी शक्ति है, जो उन्हे आगे बढाये। वे पच्छिम के ऊपरी ढर्रे और जाल को अपना लेते हैं (और अकसर उनके काम वाछनीय पहलू), और यह समझते हैं कि वे एक प्रगतिशील सभ्यता के अगुआ हैं। वे नौसिखिया हैं, फिर भी अपने-आपको बहुत काबिल समझते हैं। वे कुछ बडे-बडे शहरो मे ही खासतौर से रहते हैं और उनका जीवन ऐसा अस्वाभाविक है कि पूर्व या पश्चिम की सस्कृति से उसका कोई सजीव सपर्क नही है।

इसलिए राष्ट्रीय तरक्की न तो गुज़री चीज़ो को दुहराने से हो सकती है और न उनसे आखे फेर लेने से ही हो सकती है। लाज़िमी तौर से अब नये नक़शो की ज़रूरत है, लेकिन साथ ही उसमे पुराने का मेल होना भी ज़रूरी है। जो कुछ नया है, उसमे अगरचे पहले के मुकाबले मे बहुत फर्क मिलता है, फिर भी पुराने निशानात मिलते हैं और इस तरह एक तरक्की का सिलसिला बना रहता है और यह नयापन कौमी इतिहास की ज़जीर की एक कडी-जैसा होता है। हिंदुस्तानी इतिहास मे इस तरह की तब्दी-लिया खासतौर से मिलती हैं। पुराने विचारो का नई परिस्थितियो मे मेल बिठाने और पुराने नकशो का नये से सामजस्य करने की बराबर कोशिश उसमे ज़ाहिर होती है। इसकी वजह से उसमे कोई सास्कृतिक विच्छेद नही मालूम देता। मोहनजोदडो के अति प्राचीन समय से आजतक बराबर तब्दीलियो के होते हुए भी उसमे एक सिलसिला है। पुरानी चीज़ो और परपराओ के लिए श्रद्धा थी, लेकिन साथ ही आज़ादी थी, दिमाग का लचीलापन था और रवादारी थी। इस तरह से ढाचे के बने रहने पर भी उसका अदरूनी तथ्य बराबर बदलता रहा। किसी दूसरे ढग से वह समाज हज़ारो बरस तक ज़िदा नही रह सकता था। सिर्फ ज़िदा, बढता हुआ, दिमाग़ ही रिवाजो की ऊपरी शक्ल की सख्ती को जीत सकता था। सिर्फ वही शक्ल बराबर कायम रह सकती थी।

फिर भी यह समतौल नाज़ुक हो सकता है और उसका एक पहलू दूसरे पहलू को ढक या कुचल सकता है। हिंदुस्तान मे कुछ सख्त सामाजिक ढाचो के साथ ही दिमाग की बेहद आज़ादी थी। आगे चलकर इस ढाचे का असर हुआ और दिमागी आज़ादी अमली तौर पर दिन-ब-दिन ज़्यादा सख्त और महदूद होने लगी। पच्छिमी यूरोप मे दिमाग की ऐसी आज़ादी न थी और वहा समाजी ढाचो मे भी ऐसी सख्ती न थी। दिमाग़ की आज़ादी के लिए यूरोप को एक लबी लडाई लडनी पडी और इस वजह से उसकी समाजी शक्ल भी बदलती रही।

चीन मे दिमाग का लचीलापन हिंदुस्तान से भी ज़्यादा था। परपरा

के लिए मुहब्बत और मोह होते हुए भी उस दिमाग ने अपना लचीलापन या अपनी रवादारी, इन दोनों मे से किसीको नही खोया। परपरा की वजह से कभी-कभी रद्दोबदल मे देरी हुई, लेकिन उस दिमाग को रद्दोबदल का डर नही था। हा, उसके पुराने नक्शे बने रहे। चीनी समाज ने हिंदुस्तान से भी ज्यादा सतुलन स्थापित किया। वह हज़ारो बरसो की रद्दोबदल के बाद भी कायम है। दूसरे देशो के मुकाबले चीन को एक बात का खास फायदा रहा है। वह अधविश्वास से सकरे छोटे धार्मिक नज़रिये से, बिलकुल आज़ाद रहा है। उसने तर्क और सहज बुद्धि पर भरोसा किया। चीन मे और देशो के मुकाबले सस्कृति की बुनियाद धर्म पर कम है। उसका आधार नैतिकता और औचित्य पर ज्यादा है। उस सस्कृति मे इन्सान की जिंदगी के विभिन्न पहलुओ की समझदारी है।

हिंदुस्तान मे इस दिमागी आज़ादी को मान लेने से (चाहे वह असली तौर पर कितनी ही कम क्यो न रही हो) नये विचारो का अपनाना बद नही हुआ है। दूसरे देशो के मुकाबले, जहा जीवन का नज़रिया ज्यादा सख्त और अधविश्वासी है, हिंदुस्तान मे इन विचारो पर ज्यादा हद तक ग़ौर किया जा सकता है और उन्हे मजूर भी किया जा सकता है। हिंदुस्तानी सस्कृति के असली आदर्शों की बुनियाद बहुत चौडी है और उनको किसी भी वातावरण के अनुरूप किया जा सकता है। उन्नीसवी सदी मे धर्म और विज्ञान के जिस भयकर सघर्ष ने यूरोप को झकझोर दिया, वह हिंदुस्तान मे नही हो सकता और न यहा विज्ञान के उपयोग की बुनियाद पर किसी रद्दोबदल से ही उन आदर्शों का विरोध होगा। बेशक, ऐसी तब्दीलिया हिंदुस्तान के दिमाग को हिला देगी और ऐसा हो भी रहा है, लेकिन हिंदुस्तान का दिमाग उनसे लडने या उन्हे नामजूर करने की जगह अपने आदर्श के नजरिये मे उन्हे तर्कसगत रूप मे मिला लेगा, और अपने मानसिक ढाचे मे खपा लेगा। ऐसा मुमकिन है कि इस प्रक्रिया मे पुराने नजरिये मे बहुत-सी अहम तब्दीलिया करनी पडे। लेकिन यहा एक फर्क होगा। ये तब्दीलिया बाहर से लादी हुई नही होगी, बल्कि वे समाज की सास्कृतिक पृष्ठभूमि मे कुदरती तौर पर पैदा होती हुई मालूम देगी। पहले के मुकाबले इस काम मे अब ज्यादा मुश्किल है। वजह यह है कि बहुत अरसे से तरक्की रुकी रही है और अब बडी और बुनियादी तब्दीलियो की सख्त ज़रूरत है।

हा, बुनियादी आदर्शों के चारो तरफ जो ऊपरी ढाचा खडा हो गया है, जो आज मौजूद है और जो हमे तबाह कर रहा है, उस ढाचे से झगडा

जरूर होगा। इस ढांचे को लाजिमी तौर पर जाना ही होगा, क्योकि एक तो खुद उसका ज्यादातर हिस्सा खराब है, दूसरे वह इस जमाने की भावना के खिलाफ है। जो उसको बनाये रखने की कोशिश करते हैं, वे हिंदुस्तानी सस्कृति के बुनियादी आदर्शों की कुसेवा करते हैं, क्योकि भले और बुरे दोनो को मिलाकर, वे भले के लिए खतरा पैदा कर देते हैं। दोनो को अलग करना आसान नही है। उनका निश्चित विभाजन बहुत मुश्किल है और इस बारे मे रायें अलग-अलग हैं। लेकिन किसी ऐसी काल्पनिक या तार्किक रेखा के खीचने की जरूरत नही है। परिवर्तनशील जीवन और घटना-क्रम का तर्क धीरे-धीरे हमारे लिए यह रेखा खीच देगा। हर ढग की तरक्की (चाहे वह वैज्ञानिक हो या दार्शनिक) खुद जिंदगी के साथ सपर्क जरूरी बना देती है। इस सपर्क की कमी से सडन पैदा होती है और रचनात्मक प्रतिभा और जीवन-शक्ति का नाश होता है। लेकिन अगर हम ये सपर्क बनाये रहे और उनका स्वागत करें, तो हम जिंदगी के मोड के साथ-साथ चल सकते हैं और उन विशेषताओ को, जिनकी हमने वकत की है, हम नही खोयेंगे।

पिछले वक्त मे ज्ञान पाने की हमारी कोशिश मे समन्वय था, लेकिन वह कोशिश हिंदुस्तान तक सीमित थी। वह सीमा बनी रही, और धीरे-धीरे समन्वय के स्थान पर विश्लेषण आने लगा। अब हमको समन्वय-कारी पहलू को ज्यादा अहमियत देनी है और सारी दुनिया ही हमारे अध्ययन का मैदान होगी। हर राष्ट्र के लिए और हर व्यक्ति के लिए, जिसको बढना है, काम-काज और सोच-विचार के उन सकरे घेरो को, जिनमे ज्यादातर लोग बहुत अरसे से रहते आये हैं, छोडना होगा और समन्वय पर खास ध्यान देना होगा। विज्ञान और उसके आविष्कारो की तरक्की ने हमारे लिए यह मुमकिन बना दिया है। साथ ही इस नये ज्ञान की ज्यादती ने इस मुश्किल को बढा भी दिया है। विशेषज्ञता ने अलग-अलग हलक़ो मे व्यक्तिगत जीवन को सकरा कर दिया है। मसलन, एक बहुत बडे कारखाने मे एक आदमी उस लबी प्रक्रिया के एक छोटे-से-काम मे ही हाथ बटाता है। ज्ञान और काम-काज मे विशेष जानकारी की कोशिश जारी रहेगी, लेकिन अब इस बात की पहले के मुकाबले ज्यादा जरूरत है कि हर जमाने के मानव-जीवन को और मानव-खोज को एक समन्वय कारी दृष्टिकोण से देखा जाये और उसको प्रोत्साहन दिया जाये। इस दृष्टि-कोण मे गुजरे जमाने और मौजूदा वक्त का खयाल होगा और उसके अदर सारे देश और सारे राष्ट्र होगे। शायद इस ढग से अपनी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि

और संस्कृति के अलावा हमको दूसरों की भी सही जानकारी होगी और इस तरह दूसरे देशों के लोगों को समझने या उनके साथ काम करने की सामर्थ्य बढ़ेगी। इस तरह आज के ऐसे व्यक्तियों की जगह (जो किसी एक दिशा में तो बहुत काबिल हैं और दूसरी दिशाओं में उनको साधारण ज्ञान भी नहीं है) हम कुछ हद तक सर्वतोमुखी प्रतिभावाले व्यक्तित्व बनाने में सफलता पायेंगे। प्लेटो के शब्दों में हम शायद "हर समय के हर प्राणी और हर पदार्थ के द्रष्टा" बन सकें। हमारा पोषण उस भंडार से होगा, जो मानवता ने एकत्रित किया है। हम उस भंडार को बढ़ायेंगे और भविष्य-निर्माण में उसका उपयोग करेंगे।

यह एक खास, लेकिन अजीब-सी, बात है कि सारी आधुनिक वैज्ञानिक तरक्की और अंतर्राष्ट्रीयता की बातचीत के होते हुए भी जातीय भेद-भाव और दूसरी फर्क डालनेवाली बातें आज जितनी नजर आ रही हैं, उतनी वे इतिहास में पहले कभी नहीं थी। इस सारी तरक्की में किसी ऐसी चीज की कमी है, जिसकी वजह से आदमी की आत्मा में और अलग-अलग राष्ट्रों में मेल नहीं हो पाता। शायद समन्वय और पिछले जमाने के ज्ञान के प्रति विनम्रता से (आखिर यह ज्ञान सारी मानव जाति का संचित अनुभव ही तो है) हमें एक नया दृष्टिकोण और ज्यादा सामंजस्य स्थापित करने में मदद मिले। इसकी खासतौर से उन लोगों के लिए जरूरत है, जिनकी बीमार जिंदगी का सिर्फ मौजूदा वक्त से ही ताल्लुक है और जो गुजरी हुई चीजों को करीब-करीब भूल गये हैं। लेकिन हिंदुस्तान-जैसे देश के लिए दूसरी चीज की जरूरत है। हमारे पास पिछला तो बहुत है, लेकिन हमने वर्तमान की अवहेलना की है। हमको तो संकीर्ण धार्मिक दृष्टिकोण से छुटकारा पाना है और दैवी कल्पनाओं, मजहबी कार्रवाइयों और रहस्यभरी भावुकता की वजह से बिगड़े हुए मानसिक अनुशासन से आजाद होना है। ये चीजें अपने-आपको समझने में या दुनिया के समझने में हमारे लिए रुकावटें डालती हैं। हमको तो मौजूदा वक्त से, इस जिंदगी से, इस दुनिया से, इस प्रकृति से, जो अनगिनत शक्लों में हमारे चारों तरफ़ है, मुकाबला करना है। कुछ हिंदू वेदों के युग को वापस जाना चाहते हैं, और कुछ मुसलमान इस्लामी धार्मिक राज्य का सपना देखते हैं। ये व्यर्थ की कल्पनाएं हैं, क्योंकि पीछे लौटा नहीं जा सकता, अगर यह अच्छा भी होता, तो भी ऐसा मुमकिन नहीं है। समय के क्षेत्र में हम एक ही दिशा में चल सकते हैं।

इसलिए हिंदुस्तान को अपनी मजहबी कट्टरता कम करनी चाहिए

और विज्ञान की तरफ ध्यान देना चाहिए और उसे अपने विचारो और सामाजिक स्वभावों की अलहदगी से छुटकारा पाना चाहिए। यह अलहदगी उसके लिए जेलखाना बन गई है और यह हिंदुस्तान की भावना को कुचल रही है और इसकी तरक्की को रोक रही है। लोकाचार की पवित्रता के खयाल ने सामाजिक सबधो मे दीवार खडी कर दी हैं और सामाजिक कारंवाइयो का क्षेत्र सकीर्ण हो गया है। कट्टर हिंदू का रोजाना की जिंदगी की आध्यात्मिक बातो के मुकाबले इस बात से ज्यादा ताल्लुक है कि क्या खाना चाहिए और किसको अलहदा रखना चाहिए। उसके सामाजिक जीवन मे रसोई घर के नियम-उपनियमो की हुकूमत है। खुशकिस्मती से इस्लाम इन पाबदियो से आजाद है, लेकिन उसके अपने सकरे रस्म-रिवाज हैं और उनका अपना तरीका है, जिसके मुताबिक वह बडी कट्टरता से काम करता है और उस भाई-चारे के सबक को, जो उसके मजहब ने सिखाया, वह भूल जाता है। हिंदुओ के मुकाबले जिंदगी का उसका नजरिया शायद और भी ज्यादा सकरा और बजर है। हा, आज का औसत हिंदू सही हिंदू नजरिये का सच्चा नुमाइदा नही है। वजह यह है कि परपरागत विचार-स्वातत्र्य उसने खो दिया है और अब वह पृष्ठभूमि, जो जिंदगी को कई ढग से भरी-पूरी बनाती है, गायब हो गई है।

हिंदुओ की अलहदगी की साकार तस्वीर और उसका प्रतीक वर्ण-व्यवस्था है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि वर्ण-व्यवस्था का बुनियादी खयाल बना रहे और बाद मे उसमे जो नई नुकसानदेह चीजें जुड गई, वे हट जायें और उसका निश्चय जन्म से नही बल्कि योग्यता से हो। यह दलील बिल्कुल बेतुकी है और इससे सवाल ज्यादा उलझ जाता है। ऐतिहासिक सदर्भ मे वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के अध्ययन का कुछ मूल्य है, लेकिन यह बात साफ है कि हम उस जमाने मे वापस नही जा सकते, जिसमे वर्ण-व्यवस्था कायम हुई थी, मौजूदा सामाजिक ढाचे मे उसके लिए कोई जगह बाकी नही है। अगर योग्यता ही कसौटी है और हर एक को आगे बढने का बराबर मौका है, तो वर्ण-व्यवस्था की कोई खास शक्ल ही नही रहेगी और वह खत्म हो जायेगी। पिछले समय मे वर्ण-व्यवस्था से सिर्फ कुछ समुदाय दबाये ही नही गये, बल्कि विद्वत्ता और खोज और कारीगरी के मैदान से अलग हो गये, फिलसफे मे और असली जिंदगी और उसके सवालों मे कोई रिश्ता न रहा। यह तो ऊचे वर्गवालो का एक नजरिया था, जो परपरा के आधार पर कायम था। इस नजरिये को पूरी तरह बदलना होगा क्योंकि वह मौजूदा हालतो और लोकतत्र के आदर्श के खिल-

कुल खिलाफ है। हिंदुस्तान मे सामाजिक समुदायो का कारबारी आधार पर सगठन जारी रह सकता है, लेकिन ज्यो-ज्यो आधुनिक उद्योग-धधो मे नये काम शुरू होंगे और पुराने काम खत्म होंगे, उसमे भारी रद्दोबदल करनी होगी। सभी जगह आजकल कारबारी आधार पर सगठन की तरफ झुकाव है और अव्यक्त अधिकारो की धारणा की जगह अब काम या पेशे ने ले ली है। इस सबमे और पुराने हिंदुस्तानी आदर्श मे मेल है।

इस युग की भावना बराबरी की तरफ है, हालाकि अमली तौर पर उसको कही बरता नही जाता। इन तग मानो मे कि आदमी किसी दूसरे की जायदाद नही बन सकता, हम गुलामी से छुटकारा पा गये हैं। लेकिन सारी दुनिया मे उसकी जगह एक नई गुलामी आ गई है, जो पहली गुलामी से भी बदतर है। व्यक्तिगत आज़ादी के नाम से राजनैतिक और आर्थिक ढाचे आदमियो का नाजायज़ फायदा उठाते हैं और उनको इस तरह बरतते हैं, मानो वे सौदे की चीज़ें हो। और फिर, हालाकि एक आदमी दूसरे आदमी की जायदाद नही हो सकता, लेकिन एक देश या राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की जायदाद हो सकता है, और इस तरह सामूहिक गुलामी बरदाश्त की जाती है। जातीय भावना भी हमारे युग की एक खास चीज़ है और अधि-पति राष्ट्रो की तरह अधिपति जातिया भी हैं।

फिर भी युग की भावना की जीत होगी। कम-से-कम हिंदुस्तान मे हमारा ध्यान बराबरी की ओर होना चाहिए। इसके ये मानी नही कि सब लोग शरीर से, बुद्धि से और आध्यात्मिक दृष्टि से बराबर है। ऐसा हो भी नही सकता। हा, इसके ये मानी ज़रूर हैं कि सबके लिए बराबर मौका हो और किसी आदमी या किसी समुदाय को राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक रुकावट का सामना न करना पडे। उसके मानी हैं मानवता मे विश्वास और साथ ही इस बात मे विश्वास कि कोई ऐसी जाति या ऐसा समुदाय नही है, जो तरक्की नही कर सकता और मौका मिलने पर अपने ढग से आगे नही बढ सकता। इसके मानी हैं इस सचाई को महसूस करना कि किसी समुदाय का पिछडापन या उसकी गिरावट उसकी निजी खामियो की वजह से नही है, बल्कि उसकी खास वजह यह है कि उसको बढने का मौक़ा नही मिला और बहुत अरसे तक किसी दूसरे समुदाय का उस पर दबाव रहा। उससे यह समझ आनी चाहिए कि आधुनिक दुनिया मे असली तरक्की, चाहे वह राष्ट्रीय तरक्की हो या अतर्राष्ट्रीय हो, बहुत हद तक एक मिला-जुला व्यापार है और हर एक पिछडा हुआ समुदाय दूसरो को भी पीछे घसीटता है। इसलिए सबको सिर्फ बराबर मौका ही नही मिलना

चाहिए, बल्कि पिछड़े हुए लोगों को पढ़ाई-लिखाई, आर्थिक और सांस्कृतिक तरक्क़ी के लिए ख़ास सुविधा देनी चाहिए, ताकि वे जल्दी से दूसरे लोगों के बराबर आ सकें। हिंदुस्तान में सबको तरक्क़ी के लिए इस तरह मौक़ा देने की किसी भी कोशिश से बेहद कार्य-शक्ति और योग्यता सामने आयेगी और बड़ी तेज़ी से देश का हुलिया बदल देगी।

अगर युग की भावना बराबरी चाहती है, तो उसके लिए लाज़िमी तौर पर ऐसे आर्थिक ढांचे की भी ज़रूरत होगी, जो उसके अनुरूप हो और उसको बढ़ावा दे। हिंदुस्तान में मौजूदा नौआबादियों का-सा तरीक़ा इससे बिलकुल उलटा है। निरंकुशता की बुनियाद सिर्फ़ ग़ैर-बराबरी पर ही नहीं होती, बल्कि यह उसको जीवन के हर क्षेत्र में स्थायी कर देती है। वह राष्ट्र की सृजनात्मक और फिर से ज़िंदा करनेवाली ताक़तों को कुचल देती है, प्रतिभा और सामर्थ्य पर ताला लगा देती है और ज़िम्मेदारी की भावना को मिटा देती है। जो उसके अधीन रहते हैं, उनका स्वाभिमान और आत्म-विश्वास मिट जाता है। हिंदुस्तान के मसले बहुत उलझे हुए मालूम देते हैं, लेकिन उसकी ख़ास वजह यह है कि यहां पर राजनैतिक और आर्थिक ढांचे को ज्यों-का-त्यों रखते हुए तरक्क़ी की कोशिश की जाती है। राजनैतिक तरक्क़ी के साथ मौजूदा ढांचे और निहित स्वार्थों को बनाये रखने की शर्त है। दोनों चीज़ें एक साथ नहीं चल सकतीं।

राजनैतिक तब्दीली तो होनी ही चाहिए, लेकिन आर्थिक तब्दीली भी उतनी ही ज़रूरी है। यह तब्दीली लोकतंत्री योजनाबद्ध समष्टिवाद की दिशा में होगी। आर० एच० टॉनी का कहना है—"प्रतियोगिता और एकाधिकार में छांट का सवाल नहीं है, बल्कि यह छांट होगी, उस एकाधिकार में, जो ग़ैर-ज़िम्मेदार है और ज़ाती है और उस एकाधिकार में, जो ज़िम्मेदार और सार्वजनिक है।" पूंजीवादी राज्यों में भी सार्वजनिक एकाधिकार बढ़ रहे हैं और वे आगे भी बढ़ते रहेंगे। उनमें और ज़ाती एकाधिकार के विचार में जो झगड़ा है, वह उस वक़्त तक चलता रहेगा, जबतक कि उनमें से एक, यानी ज़ाती एकाधिकार, का ख़ात्मा नहीं हो जाता। एक लोकतंत्री समष्टिवाद के मानी ये नहीं हैं कि व्यक्तिगत संपत्ति नहीं रहेगी, बल्कि इसके मानी हैं बड़े-बड़े और बुनियादी उद्योग-धंधों पर आम लोगों का अधिकार का होना। उसके मानी होंगे ज़मीन पर सामूहिक या मिला-जुला नियंत्रण हो। ख़ासतौर से हिंदुस्तान में बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के अलावा, सहकारी-सभाओं द्वारा संचालित ग्रामोद्योगों की ज़रूरत होगी। इस ढंग के लोकतंत्री समष्टिवाद के लिए बराबर सावधानी से

योजनाएं बनानी होंगी और बराबर ऐसी कोशिश करनी पड़ेगी कि जनता की बदलती हुई जरूरतों के मुताबिक रद्दोबदल हो। हर मुमकिन ढग से राष्ट्र की उत्पादन-शक्ति को बढाने का इरादा होना चाहिए। साथ ही यह कोशिश भी होनी चाहिए कि देश की सारी कार्य-शक्ति का उपयोग हो, हर एक आदमी किसी-न-किसी काम मे लगा हुआ हो और बेकारी न हो। जहातक मुमकिन हो सके, हर किसी को अपना पेशा चुनने की आजादी होनी चाहिए। इसका नतीजा यह नही होगा कि सब की आमदनी बराबर हो जायेगी, लेकिन हर एक को अपना-अपना हिस्सा तो जरूर मिलेगा और बराबरी की तरफ रुझान होगा। हर हालत मे आज जो बहुत ज्यादा फर्क दिखाई देता है, वह बिलकुल गायब हो जायेगा और वर्ग-भेद, जो खासतौर से आमदनी के फर्क की वजह से है, दिन-ब-दिन कम होने लगेगा।

ऐसी रद्दोबदल से मौजूदा समाज, जो मुनाफे की नीयत पर बना है, बिलकुल अस्त-व्यस्त हो जायेगा। मुनाफे की भावना कुछ हदतक फिर भी बनी रह सकती है, लेकिन न तो उसकी इतनी अहमियत ही होगी और न उसका इतना बडा क्षेत्र ही होगा। यह कहना तो बिलकुल गलत होगा कि मुनाफे की भावना एक हिंदुस्तानी को अच्छी नही लगती। हा, यह जरूर सच है कि हिंदुस्तान मे उसको इतनी अच्छी नजर से नही देखा जाता, जितना पच्छिम मे। मालदार आदमी से जलन हो सकती है, लेकिन उसकी कोई खास इज्जत या तारीफ नही होती। इज्जत या तारीफ अब भी उसी स्त्री या पुरुष की होती है, जिसे अच्छा या अक्लमद समझा जाता है और खास तौर से उन लोगो की, जिन्होंने आम भलाई के लिए अपनी या अपने माल की कुरबानी की है। हिंदुस्तानी नजरिये ने, यहातक कि आम जनता के नजरिये ने भी, बटोरने या काबू मे कर लेने की भावना को कभी पसद नहीं किया।

समष्टिवाद मे सामूहिक जिम्मेदारी होती है, मिल-जुलकर कोशिश होती है। इस बात मे और पुरानी हिंदुस्तानी सामाजिक धारणाओ मे यहा भी पूरा मेल है। वे धारणाए सामुदायिक विचार की बुनियाद पर थी। ब्रिटिश हुकूमत के दौरान मे सामुदायिक प्रणाली, खासतौर से खुदमुख्तार गावो की बरबादी, से हिंदुस्तानियो को बहुत को बहुत गहरी चोट पहुची, यह आर्थिक तो है, लेकिन उससे भी ज्यादा मनोवैज्ञानिक है। उसकी जगह कोई निश्चित चीज नही आई और उनकी आजादी की भावना, उनकी जिम्मेदारी का खयाल और आपसी फायदे के लिए उनकी सहयोग की सामर्थ्य, ये सब बातें नष्ट हो गई। गाव, जो पहले एक सजीव, सुदृढ इकाई था, अब धीरे-धीरे उजडने लगा और सिर्फ कुछ मिट्टी की झोपडियों और गलत ढग

के आदमियो की बस्ती बन गया। फिर भी किसी अदृश्य कडी से गाव बना हुआ है और पुरानी बातो की याद आती है। सदियो पुरानी परपराओ का आसानी से फायदा उठाया जा सकता है, और खेती-बारी मे और छोटे कारबारो मे सामूहिक सहकारी सस्थाए बनाई जा सकती हैं। गाव अब स्वावलबी आर्थिक इकाई नही रह सकता (हा उसका सामूहिक या सहकारी कृषि से बहुत करीबी रिश्ता रह सकता है) लेकिन वह अब सरकारी इतजाम की या चुनाव की इकाई बखूबी बन सकता है। बडे राजनैतिक ढाचे मे हर एक ऐसी इकाई खुदमुख्तार रह सकती है और वह गाव की खास ज़रूरतो का इतज़ाम करेगी। अगर कुछ हद तक उसको चुनाव की इकाई बना लिया जाये, तो उससे सूबाई और अखिल भारतीय चुनावो मे काफी सादगी और आसानी आ जायेगी। वजह यह है कि उससे प्रत्यक्ष निर्वाचको की सख्या काफी कम हो जायेगी। गाव के हर बालिग मर्द और औरत की चुनी हुई गाव की पचायत खुद बडे चुनावो के लिए निर्वाचको का काम करेगी। परोक्ष चुनावो मे कुछ खामिया हो सकती है, लेकिन हिंदुस्तान की हालतो का खयाल रखते हुए मैं यही मुनासिब समझता हू कि गाव को एक इकाई की तरह बरता जाये। इस तरह नुमाइदगी ज्यादा सच्ची और ज्यादा ज़िम्मेदार होगी।

इस प्रादेशिक नुमाइदगी के अलावा ज़मीन और उद्योग-धधो की सहकारी सभा और सामूहिक सस्थाओ की भी प्रत्यक्ष नुमाइदगी होनी चाहिए। इस तरह राज्य के लोकतत्री सगठन मे प्रादेशिक और पेशेवर, दोनो तरह की, नुमाइदगी होगी और उसकी बुनियाद मुक़ामी स्वराज्य पर होगी। इस तरह का इतजाम हिंदुस्तान के गुज़रे ज़माने और साथ ही उसकी मौजूदा ज़रूरतो से पूरी तरह मेल खायेगा। उसमे विच्छेद की भावना नही होगी (सिवाय उन हालतो के, जो ब्रिटिश राज्य के दौरान मे आई) और जनता का दिमाग इसे उस अनवरत क्रम का ही अग समझेगा, जिसके सुदर भूतकाल की उसे अब भी याद आती है और जिसके लिए उसके दिल मे मुहब्बत है।

हिंदुस्तान मे इस ढग की रद्दोबदल राजनैतिक और आर्थिक अतर्राष्ट्रीयता के अनुरूप होगी। उसमे दूसरे राष्ट्रो से झगडे नही होगे और एशिया मे और दुनिया मे शाति के लिए उसका ज़बरदस्त असर होगा। वह उस "एक दुनिया" को साकार करने मे मदद करेगा, जिसकी तरफ हम लाज़िमी तौर से बढ रहे हैं। हमारी बलवती प्रवृत्तिया हमको धोखे मे डाले रहती हैं और हमारा दिमाग उस बहाव को समझ नही पाता। दबाव और

मायूसी के चगुल से आजाद होकर हिंदुस्तानी जनता फिर अपना पूरा बड़प्पन हासिल करेगी और उनकी सकरी राष्ट्रीयता और अलहदगी मिट जायेगी। अपनी हिंदुस्तानी विरासत पर गर्व करते हुए वे दूसरे आदमियो और दूसरी कौमो के लिए अपना दिल और दिमाग़ खोल देंगे और खूबसूरत और बड़ी दुनिया के नागरिक बन जायेंगे, और दूसरे लोगो के साथ उस सनातन खोज मे शरीक होगे, जिसमे उनके पुरखे सबसे आगे थे।

११ : हिंदुस्तान : विभाजन या मजबूत क़ौमी रियासत या राष्ट्रोपरि राज्य का केंद्र ?

जिस तरह किसी व्यक्ति की आशाओ और शकाओ के बीच सही समतौल पा लेना मुश्किल है, उसी तरह किसी आदमी के खयालो पर उसकी ख्वाहिशो की छाप रोकना भी मुश्किल है। हमारी ख्वाहिशें ऐसी दलीलो की तलाश मे रहती हैं, जो उनके माफिक हो और वे उन सचाइयो या दलीलो की, जो उनसे मेल नही खाती, अवहेलना की कोशिश करती हैं। मैं उस समतौल को हासिल करने की कोशिश करता हू, ताकि मैं चीज़ो को सही ढग से देख सकू और काम के लिए सही बुनियाद पा लू, फिर भी मैं जानता हू कि मैं कामयाबी से कितनी दूर हू और मैं उन विचारो या भावनाओ से, जिन्होंने मुझे बनाया है और जो अपने अदृश्य सीखचो से मुझे घेरे हुए हैं, छुटकारा नही पा सकता। इसी तरह दूसरे लोग भी विभिन्न दिशाओ मे गलती कर सकते हैं। दुनिया मे हिंदुस्तान की क्या जगह है, इसके बारे मे हिंदुस्तानी और अंग्रेज़ के नजरियो मे लाज़िमी तौर से बहुत फर्क होगा। उसकी वजह यह है कि दोनो की अपनी अलग-अलग कौमी और शख्सी तारीख है। व्यक्ति और राष्ट्र अपने-अपने कामो से अपना भविष्य बनाते हैं। उनकी मौजूदा हालत उनके पिछले कामो का नतीजा है, और आज वे जो कुछ करते हैं, उससे उनके भविष्य की बुनियाद तैयार होती है। हिंदुस्तान मे इसको, कार्य-कारण नियम को, कर्म कहा गया है, जिसमें हमारा काम हमारी किस्मत बनाता चलता है। ऐसा नही है कि यह किस्मत बदल नही सकती। और भी कई ऐसी बातें हैं, जिनका इस पर असर होता है और ऐसा खयाल है कि व्यक्तिगत मन शक्ति का भी कुछ असर होता है। अगर पिछले कामो के नतीजो को बदलने की यह आजादी न होती, तब तो हम सब क़िस्मत के मज़बूत चगुल मे लाज़िमी तौर से सिर्फ कठपुतली होते। फिर भी व्यक्ति को या राष्ट्र को बनाने मे पिछले कर्म का ज़बरदस्त असर होता है और राष्ट्रीयता खुद उसकी छाया है, जिसमे गुजरे जमाने की सारी अच्छी और बुरी यादगारें गुथी हैं।

शायद इस पिछली विरासत का राष्ट्रीय समुदाय पर व्यक्ति के मुकाबले ज्यादा असर होता है, क्योंकि ज्यादातर इन्सान अचेतन और गैर-जाती बहावों में बह जाते है। व्यक्ति के साथ यह चीज बहुत कम होती है। इसलिए लोगों के सामूहिक रुख को बदलना ज्यादा मुश्किल होता है। नैतिक खयालों का व्यक्ति पर असर होता है, लेकिन समुदाय पर उनका असर बहुत कम होता है, और वह समुदाय जितना ज्यादा बड़ा होता है, उस पर उतना ही कम असर होता है। समुदाय पर परोक्ष रूप से प्रचार से असर डालना (खासतौर से मौजूदा दुनिया में) आसान है। और फिर भी कभी-कभी (हालांकि ऐसे मौके बहुत कम होते हैं) समुदाय आप ही नैतिक व्यवहार में ऊंचा उठता है और व्यक्ति को अपने सकरे और स्वार्थी ढंग छोड़ने को मजबूर करता है। वैसे आमतौर पर समुदाय व्यक्तिगत नैतिक स्तरसे बहुत नीचे रहता है।

लड़ाई में दोनों प्रतिक्रियाएं होती हैं, लेकिन आधिपत्य उस झुकाव का होता है, जो नैतिक जिम्मेदारी में छुटकारा चाहता है और उन सारे आदर्शों को, जिन्हें सभ्यता ने बड़ी महनत से तैयार किया था, खत्म करना चाहता है। लड़ाई में कामयाबी और आक्रामक ढंग का नतीजा यह होता है कि इस नीति को न्याय्य ठहराया और जारी रखा जाता है और फिर उसकी वजह से साम्राज्यवादी आधिपत्य और अधिपति-जाति की भावना पैदा होती है। हार से मायूसी होती है और बदला लेने की भावना पनपती है। दोनों ही सूरतों में नफरत और हिंसा की आदत बढ़ती है। बेरहमी और बेदर्दी होती है और दूसरे के नजरिये को समझने की कोशिश से भी इन्कार कर दिया जाता है। और इस तरह एक ऐसे भविष्य की नींव पड़ती है, जिसमें लड़ाई और संघर्ष बराबर बढ़ते हैं और उनके अपने खतरनाक नतीजे होते है।

हिंदुस्तान और इंग्लैंड के बीच पिछले दो सौ बरसों के मजबूरी के रिश्ते ने दोनों ही के लिए यह कर्म, यह किस्मत, तैयार की है। उनके आपसी रिश्ते अब भी उसीसे तय होते हैं। कर्म के जाल में हम फंसे हुए हैं। इस पिछली विरासत से छुटकारा पाकर एक नई बुनियाद की तलाश में हमारी अबतक की सारी कोशिशें बेकार हुई हैं। बदकिस्मती से लड़ाई के पिछले पांच सालों ने इस पिछले कर्म की बुराई को बढ़ा दिया है और इस वजह से समझौता और स्वाभाविक रिश्ता अब ज्यादा मुश्किल हो गया है। पिछले दो सौ बरसों के इतिहास में, जैसाकि हमेशा होता है, भलाई और बुराई दोनों की ही मिलावट है। अंग्रेज के लिहाज से बुराई के मुकाबले भलाई ज्यादा है, और हिंदुस्तानी की निगाह में बुराई इतनी ज्यादा है कि दो सौ साल का

सारा ज़माना बिलकुल काला है। भलाई और बुराई का कैसा भी सतुलन क्यो न हो, यह बात साफ है कि कोई भी रिश्ता, जो ज़बरदस्ती लादा जाता है, एक-दूसरे के लिए सख्त नफरत और नापसदगी पैदा करता है और इन भावनाओ के सिर्फ बुरे नतीजे हो सकते हैं।

हिंदुस्तान मे राजनैतिक और आर्थिक दोनो ही तरह की इन्कलाबी तब्दीली ज़रूरी ही नही, बल्कि लाज़िमी भी मालूम देती है। लडाई शुरू होने के कुछ वक्त बाद, १९३९ के आखिर मे, और फिर अप्रैल, १९४२ मे, इस बात की थोडी-सी सभावना हुई कि शायद इग्लैंड और हिंदुस्तान दोनो को रज़ामदी से ऐसी तब्दीली हो जाये। चूकि हर बुनियादी तब्दीली से डर था, इसलिए वे सभावनाए और वे मौके बीत गये। लेकिन तब्दीली होगी। क्या रज़ामदी का मौका अब खत्म हो गया? जब खतरा दोनो के ही लिए होता है, तो गुज़रे ज़माने का तीखापन कुछ कम हो जाता है और मौजूदा वक्त पर भविष्य के लिहाज़ से ग़ौर किया जाता है। अब गुज़री याद फिर आ गई है और उसका तीखापन बढ गया है। उदारता की जगह अब सख्ती और कडवापन आ गया है। वैसे कोई-न-कोई समझौता होगा ज़रूर, चाहे जल्दी हो या देर मे, चाहे ज्यादा सघर्ष के बाद हो या बिना सघर्ष के, लेकिन अब इस बात की गुजाइश बहुत ही कम है कि वह समझौता सच्चा और दिली होगा। उसमे अब आपसी सहयोग की बहुत कम सभावना रह गई है। ज्यादा मुमकिन यह है कि हालतो की मजबूरी से दोनो ही बेमन से झुकेंगे और अविश्वास और दुर्भावनाए बनी रहेगी। किसी भी ऐसे हल के, जो हिंदुस्तान को ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बनाये रखने के उसूल को मानता हो, मजूर किये जाने का रत्ती-भर भी मौका नही है। कोई भी हल, जिससे हिंदुस्तान मे सामती अवशेष बनाये रखने का इरादा हो, चल नही सकता है

हिंदुस्तान मे ज़िदगी सस्ती है। इसके साथ ही यहा ज़िदगी खोखली है, भद्दी है, उसमे पैबद लगे हुए हैं और ग़रीबी का दर्दनाक खोल उसके चारो तरफ है। हिंदुस्तान का वातावरण बहुत कमज़ोर बनानेवाला हो गया है। उसकी वजहें कुछ बाहर से लादी हुई हैं, और कुछ अदरूनी हैं, लेकिन वे सब बुनियादी तौर पर गरीबी और कमी का नतीजा हैं। हमारे यहा के रहन-सहन का दर्जा बेहद नीचा है और हमारे यहा मौत की रफ्तार बहुत तेज़ है। उद्योग-धधो से सजे हुए और मालदार देश गरीब मुल्को की तरफ़ ठीक उसी तरह से देखते हैं, जिस तरह मालदार आदमी ग़रीब और बद-किस्मत आदमियो की तरफ देखते हैं। अपने विस्तृत साधनो और मौको की वजह से धनी आदमी अपना मापदड ऊचा कर लेते हैं और उनके बडे

गर्वीले शौक होते हैं। वे गरीबों को उनकी आदतों के लिए, उनकी असभ्यता के लिए, दोष देते हैं। अपने-आपको बेहतर बनाने के लिए एक तो उन्हें मौका नहीं दिया जाता, और फिर गरीबी और उससे लगी हुई बुराइयों को, आगे भी उन्हें महरूम रखने के लिए, उनके खिलाफ दलील बनाया जाता है।

हिंदुस्तान गरीब देश नहीं है। किसी देश को धनी बनानेवाली जितनी चीजें होती हैं, उनकी उसके पास बहुतायत है, फिर भी उसके निवासी बहुत ग़रीब हैं। संस्कृति के विविध अंगों की हिंदुस्तान के पास भारी विरासत है, और उसकी सामर्थ्य संस्कृति की दिशा में बहुत बड़ी है, लेकिन कई नई बातों की ओर संस्कृति के उपकरणों की कमी है। इस कमी की भी कई वजहें हैं, लेकिन उसकी खास वजह यह है कि उसको उन उपकरणों से जबरदस्ती वंचित किया गया है। जब ऐसा होता है, तो जनता की जीवन-शक्ति को इन अड़चनों को पार करना चाहिए और कमियों को पूरा करना चाहिए। हिंदुस्तान में आज यही हो रहा है। अब यह सत्य बिलकुल स्पष्ट हो गया है कि हिंदुस्तान के पास तरक्की करने के लिए साधन हैं, अक्ल है, चतुराई है और सामर्थ्य है। उसके पास कितने ही युगों के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक अनुभवों की निधि है। वह वैज्ञानिक सिद्धांत और व्यावहारिक विज्ञान दोनों ही में तरक्की कर सकता है और एक बड़ा औद्योगिक राष्ट्र बन सकता है। हालांकि उसके सामने कितनी ही मुश्किलें हैं और उसके नौजवान स्त्री-पुरुषों को वैज्ञानिक काम करने के मौके नहीं मिलते, फिर भी उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियां महत्त्व-पूर्ण हैं। इस देश का फैलाव और उसकी संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए वे उपलब्धियां बहुत नहीं हैं, लेकिन उनसे यह पता जरूर लगता है कि मौका दिया जाने पर और राष्ट्र की शक्तियों का सोता खोल देने पर क्या होगा।

रास्ते में सिर्फ दो अड़चनें हो सकती हैं—अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति और हिंदुस्तान पर बाहरी दबाव और देश के ही अंदर एक आम मकसद की कमी। आखिर में पिछली बात की ही अहमियत होगी। अगर हिंदुस्तान को दो या इससे ज्यादा हिस्सों में तोड़ दिया जायेगा, अगर वह एक आर्थिक और राज-नैतिक इकाई की तरह काम न कर सकेगा, तो उसकी तरक्की पर जबरदस्त असर होगा। एक तो खुद ही कमज़ोरी आयेगी, लेकिन इससे बदतर चीज यह मनोवैज्ञानिक लड़ाई होगी, जो हिंदुस्तान को अखंड बनाये रखनेवालों और उसके विरोधियों में होगी। नये निहित स्वार्थ पैदा हो जायेंगे, जो रद्दोबदल और तरक्की को रोकेंगे। नये दुष्कर्म भविष्य में हमारा पीछा करेंगे। एक ग़लती से हम दूसरी पर जा पहुंचते हैं। यही बात पहले हुई है और ऐसा ही भविष्य में हो सकता है। फिर भी कभी-कभी ज्यादा बड़ी बुराई से बचने के

लिए छोटी बुराई को अपनाना पड़ता है; राजनीति की यही एक अजीब उलटी बात है। कोई भी आदमी यह नहीं कह सकता कि आगे चलकर मौजूदा ग़लती से उस खतरे के मुक़ाबले में, जिसका डर है, कम नुक़सान होगा या ज्यादा। फूट के मुक़ाबले में एका हमेशा बेहतर है, लेकिन जबरदस्ती लादा हुआ एका एक धोखा है और उससे खतरा होता है और यह विस्फोट की संभावनाओं से भरा होता है। एका तो दिल और दिमाग में होना चाहिए। उसके लिए अपनेपन की, संकट का मिलकर सामना करने की, भावना होनी चाहिए। मुझे पक्का यक़ीन है कि हिंदुस्तान में यह बुनियादी एका है, लेकिन इस वक्त कुछ हद तक दूसरी ताक़तों की वजह से उस पर परदा पड़ गया है, वह छिपा दिया गया है। ये ताक़तें फ़र्ज़ी और अस्थायी हो सकती हैं, लेकिन आज उनकी अहमियत है, और कोई भी आदमी उन्हें नजरअंदाज नहीं कर सकता।

दरअसल यह हमारा ही क़ुसूर है, और अपनी ग़लतियों का नतीजा हमको भुगतना पड़ेगा। लेकिन हिंदुस्तान में इरादतन फूट डालने का ब्रिटिश अधिकारियों ने जो काम किया है, मैं उसके लिए उनको माफ़ नहीं कर सकता। और सारी चोटें अच्छी हो जायेंगी, लेकिन इसकी बेहद तकलीफ बहुत अरसे तक बनी रहेगी। जब मैं हिंदुस्तान की बाबत सोचता हूं, तो मुझे अक्सर चीन और आयर्लैंड की याद आ जाती है। गुज़री और मौजूदा समस्याओं की बाबत उनमें और हिंदुस्तान में बहुत फ़र्क़ है, फिर भी उनमें कई जगह यकसांपन है। क्या भविष्य में हम सबका रास्ता एक-सा ही होगा?

जिम फेलन ने अपनी किताब 'जेल जरनी' में मानव-स्वभाव पर जेल के असर की बाबत बताया है और हर वह आदमी, जिसने जेल में काफी वक्त गुज़ारा है, उसकी सचाई को जानता है—"जेल मानव-स्वभाव के लिए उस शीशे की तरह काम करती है, जिसमें चीज़ें बड़ी दिखाई देती हैं। हर छोटी-सी कमजोरी जाहिर हो जाती है, उस पर जोर दिया जाता है, उसको उकसाया जाता है, यहांतक कि आखिर में वह क़ैदी नहीं रह जाता, जिसमें कमजोरियां हैं, बल्कि सिर्फ कमजोरियां रह जाती हैं, जो क़ैद का जामा पहने हुए रहती हैं।" क़ौमी स्वभाव पर विदेशी हुकूमत का कुछ ऐसा ही असर होता है। सिर्फ यही असर नहीं होता। अच्छे गुण भी बढ़ते हैं और विरोध से धीरे-धीरे शक्ति भी जमा होती है। लेकिन विदेशी हुकूमत पहली चीज़ को बढ़ावा देती है और दूसरे असर को कुचलने की कोशिश करती है। जिस तरह जेल में क़ैदी-चौकीदार होते हैं, जिनकी खास काबलियत अपने जेली साथियों पर खुफिया का काम करने में समझी जाती है, उसी तरह गुलाम देश में ऐसे चापलूस और कठपुतले आदमियों की भी कमी नहीं होती, जो

हुकूमत करनेवालों की वर्दी पहन लेते हैं और उनके इशारो पर काम करते हैं। दूसरे लोग ऐसे हैं, जो जान-बूझकर इस तरह तो काम नही करते, लेकिन हुकूमत की नीतियों और जालसाजियो का उन पर असर जरूर होता है।

हिंदुस्तान के बटवारे के उसूल को, या यो कहा जाये कि इस उसूल को कि मजबूरी से एका न लादा जाये, मान लेने से उसके नतीजों पर निष्पक्षता और गभीरता से विचार करने का मौक़ा मिलता है और इस तरह महसूस होगा कि एके से सभी को फायदा है। लेकिन यह बात जाहिर है कि अगर एक बार गलत कदम उठा लिया जाये, तो बहुत-सी गलतिया इसके साथ खुद-ब-खुद हो जायेंगी। किसी मसले को ग़लत ढग से हल करने की कोशिश से नये मसले पैदा हो सकते हैं। अगर हिंदुस्तान दो या इससे ज्यादा हिस्सो मे बाटा जाता है, तो बडी हिंदुस्तानी रियासतो को हिंदुस्तान मे खपाना ज्यादा मुश्किल हो जायेगा। उस वक्त उन रियासतो को अलग रहने की और अपनी निरकुश हुकूमत बनाये रखने की एक और दलील मिल जायेगी, जो उन्हें वैसे नही मिल सकती।[1]

---

[1] 'यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर हिंदुस्तानी रियासतें मज़बूत हिंदुस्तानी सघ बनाये रखने की ख्वाहिशमद हैं। हां, अपनी अंदरूनी स्वाधीनता को वे बनाये रखने की इच्छुक हैं। हिंदुस्तान के बटवारे के प्रस्ताव का रियासतों के प्रमुख राजनीतिज्ञों और मत्रियों ने जोरदार विरोध किया है और उन्होंने यह बात साफ कह दी है कि अगर ऐसा बटवारा होता है, तो वे अलग ही रहना ज्यादा पसद करेंगे और विभाजित हिंदुस्तान के किसी भी हिस्से से वे अपने-आपको नहीं बाधेंगे। त्रावणकोर के दीवान और रियासतों के सबसे ज्यादा क़ाबिल और तजुरबेकार मत्रियों मे से एक सर सी० पी० रामास्वामी ऐयर रियासतो की अदरूनी स्वाधीनता के कट्टर हिमायती हैं (हालांकि अपनी निरंकुश नीति और जिनको पसद नहीं करते, उनको कुचलने की नीति की वजह से वह काफी बदनाम हैं)। साथ ही पाकिस्तान या बटवारे के किसी भी प्रस्ताव के वह जोरदार और पक्के विरोधी हैं। इडियन कौन्सिल ऑव वर्ल्ड एफेअर्स की बबई शाखा मे ६ अक्तूबर, १९४४ को व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा—"रियासतो को ऐसी योजना मे आना चाहिए और मेरे लिहाज से वे ऐसी ही योजना मे आयेंगी, जिसमे हिंदुस्तान की सारी राजनैतिक और हुकूमती इकाइयो को वे केंद्रीय विधिकारी और कार्यकारी संगठन बनाने और उसको चलाने मे सहयोग देंगी। ऐसा सगठन हिंदुस्तान मे और विदेशों मे क़ौमी और नुमाइदा हैसियत से कारगर तौर पर काम करेगा। हिंदुस्तान के अंदर इकाइयो का आपसी रिश्ता बराबरी का होगा और उसमे किसीके बड़प्पन का सवाल नहीं होगा; हालाकि केंद्र के बचे हुए और अन्य सारे

मजहबी बुनियाद पर हिंदुओ और मुसलमानो के बीच हिंदुस्तान का बटवारा, जैसाकि मुस्लिम लीग सोचती है, इन दो खास धर्मों के माननेवालो को अलग-अलग नही कर सकता, क्योकि वे सारे देश मे फैले हुए हैं। अगर उन हिस्सो को भी अलहदा किया जाये, जहा एक वर्ग का बहुमत है, तो उन हिस्सो मे अल्पसख्यक बहुत बडी तादाद मे बाकी बचे रहते है। इस तरह अल्पसख्यको की समस्या को हल करने मे हम एक की जगह कई समस्याए खडी कर लेते है। दूसरे धार्मिक वर्ग, मसलन सिख अपनी इच्छा के खिलाफ दो अलग सरकारो मे बट जायेगे। एक वर्ग को अलग होने की आजादी देने से दूसरे वर्गों को, जो उन हिस्सो मे अल्पसख्यक है, अलग होने की आजादी नही मिलती। उनको उनकी मरजी के सख्त खिलाफ मजबूर किया जाता है कि वे अपने-आपको बाकी हिंदुस्तान से अलहदा कर ले। अगर यह कहा जाये

अधिकारो को पूरी तरह स्वीकार किया जायेगा।" आगे चलकर वह कहते हैं—"मेरा विचार यह है कि पुराने सधि-अधिकार हो या न हो, लेकिन किसी भी ऐसी हिंदुस्तानी रियासत को बने रहने का अधिकार नहीं होगा, जो ऐसी योजना मे शामिल नहीं होती, जिससे हिंदुस्तानी रियासतो और ब्रिटिश हिंदुस्तान का उन सभी से ताल्लुक रखनेवाले मामलो मे केंद्रीय नियत्रण या इतजाम हो, या जो ईमानदारी से उस राजनैतिक इतजाम के मुताबिक़ अमल नहीं करती, जिसको सबने बराबरी की हैसियत से मिलकर, सोच-विचारकर आपस मे तय किया हो।" "मै इस बात पर खासतौर से जोर देना चाहता हूं और मैं जानता हू कि यह एक विवादास्पद बात होगी कि किसी भी हिंदुस्तानी रियासत का बने रहने का अधिकार नहीं है, अगर वह जनता की खुशहाली के मामले मे ब्रिटिश भारत से आगे नहीं, तो कम-से-कम उसके बराबर भी नहीं है।"

एक दूसरी बात, जिस पर रामास्वामी ऐयर ने जोर दिया है, यह है कि ६०१ रियासतो से बराबरी दर्जे पर बरताव नामुमकिन है। उनका खयाल है कि हिंदुस्तान के नये सविधान मे ६०१ रियासतें घटाकर १५-२० कर दी जायेंगी और वे बाक़ी प्रातो या बडी रियासतो की इकाइयों मे मिला ली जायेंगी।

रामास्वामी ऐयर जाहिरा तौर पर रियासतो में अदरूनी राजनैतिक तरक्क़ी को कोई खास अहमियत नहीं देते हैं या कम-से-कम उसे एक गौण बात समझते हैं। लेकिन इसकी कमी से रियासतो मे चाहे और दिशा में कितनी ही तरक्क़ी क्यो न हो, जनता मे और हुकूमत मे बराबर सघर्ष चलता रहेगा।

कि जहातक अलहदगी का सवाल है, हर हिस्से मे (धार्मिक) बहुसख्यको की की बात मानी जाये, तो फिर कोई वजह नही कि समूचे हिंदुस्तान के सवाल को भी बहुसख्यको के नजरिये से क्यो न तय किया जाये। या हर छोटा-सा हिस्सा अपनी निजी हैसियत को अपने-आप तय करे और इस तरह छोटी-छोटी रियासतो की एक बहुत बडी तादाद हो जायेगी—यह एक अजीब और मजाक की बात होगी। इसके अलावा किसी ढग से यह हो ही नही सकता, क्योकि सारे देश मे अलग-अलग मजहब के आदमी हर जगह फैले हुए हैं और हर हिस्से की आबादी मे घुले-मिले हैं।

जहा कौमियतो का सवाल है, इस तरह के मामलो को बटवारे से हल करना बहुत मुश्किल होता है, लेकिन जहा कसौटी मजहब की हो, वहा इन्साफ की बुनियाद पर उसको हल करना नामुमकिन है। यह तो मध्य-युगीन धारणाओ की तरफ वापस लौटना है और आज की दुनिया मे उसका मेल नही बिठाया जा सकता।

अगर बटवारे के आर्थिक पहलू पर गौर किया जाये, तो यह बात साफ है कि अखड हिंदुस्तान मजबूत और बहुत हद तक एक अपने मे पूरी आर्थिक इकाई होगा। किसी भी बटवारे से कुदरती तौर पर वह कमजोर होगा और एक हिस्से को दूसरे हिस्से का सहारा लेना होगा। अगर बटवारा इस तरह किया जाये कि बहुसख्यक हिंदू या मुस्लिम हिस्से अलग-अलग कर दिये जायें, तो हिंदुओ के पास ज्यादातर खनिज साधन के और उद्योग-धधो के हिस्से पहुच जायेंगे। दूसरी तरफ मुसलमान हिस्से आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए होगे और अकसर उनके पास जरूरतो के लिहाज से चीजो की कमी बनी रहेगी और बिना बाहरी मदद के वे अपना अस्तित्त्व भी नही रख सकेंगे। इस तरह से यह कडवी सचाई सामने आती है कि आज जो लोग बटवारा चाहते हैं, वही सबसे ज्यादा नुकसान मे रहेंगे। कुछ हद तक इस सचाई को महसूस करने की वजह से अब वे यह कहने लगे हैं कि बटवारा इस ढग से हो और उन्हे ऐसा हिस्सा मिले कि आर्थिक समतौल हो सके। मुझे नही मालूम कि किन्ही परिस्थितियो मे ऐसा मुमकिन भी हो सकता है, लेकिन मुझे उस पर जरूर शक है। हर सूरत मे ऐसी कोशिश के मानी ये होगे कि विभाजित भाग से हिंदू और सिखो की बहुत बडी आबादी को जबरन बाध दिया जाये। आत्म-निर्णय के उसूल को अमल मे लाने का यह एक अजीब तरीक़ा होगा। मुझे उस आदमी की कहानी याद आती है, जिसने अपने मां-बाप को मार डाला, और फिर अदालत के सामने यह फरियाद की कि वह अनाथ है!

एक और अजीब विरोधाभास सामने आता है। आत्म-निर्णय के उसूल की दुहाई दी जाती है, लेकिन इसको तय करने के लिए वहा की जनता का मत लेने की बात नही मानी जाती, यह कहा जाता है कि अगर राय लेनी है, तो सिर्फ उन हिस्सो के मुसलमानो की ही राय ली जाये। बगाल और पजाब मे मुसलमानी आबादी ५४ फी-सदी या इससे भी कम है। उनकी राय के मानी ये हुए कि ५४ फी-सदी के वोट से बाक़ी ४६ फी-सदी या इससे भी ज्यादा लोगो की किस्मत का फैसला हो और इन ४६ फ़ी-सदी आदमियो को उस मामले में कुछ भी कहने का हक नहीं होगा। इसका नतीजा यह हो सकता है कि हिंदुस्तान के २८ फी-सदी आदमी बाक़ी ७२ फी-सदी आदमियो की भी किस्मत का फैसला करें।

समझ मे नही आता कि किस तरह कोई समझदार आदमी ऐसा प्रस्ताव पेश कर सकता है और यह उम्मीद कर सकता है कि दूसरे लोग उसे मान लेंगे? मुझे नही मालूम, और जबतक इस सवाल पर वोट नही लिये जाते, किसीको मालूम हो भी नही सकता कि उन हिस्सो के कितने मुसलमान बटवारा चाहते हैं। मेरा ऐसा खयाल है कि बहुत काफी लोग, शायद ज्यादातर लोग, उसके खिलाफ वोट देंगे। कई मुसलमान सस्थाए उसके खिलाफ हैं। हर एक गैर-मुस्लिम, चाहे वह हिंदू, सिख, ईसाई या पारसी हो, उसके खिलाफ है। खासतौर से बटवारे की भावना उन हिस्सो मे पैदा हुई है, जहा मुसलमानो की आबादी बहुत कम है—ऐसे हिस्सो मे, जो हर सूरत मे बाक़ी हिंदुस्तान से अलहदा नहीं होगे। जिन हिस्सो में मुसलमान बहु-सख्यक हैं, वहा इसका कोई असर नही है, कुदरती बात है कि वे खुद अपने पैरो पर खड़े हो सकते हैं और उन्हे दूसरे समुदायो का डर नही है। सरहदी सूबे मे उसका असर सबसे कम है, जहा मुसलमान ९५ फी-सदी हैं। वहा के पठान बहादुर हैं, उन्हें अपने ऊपर भरोसा है और उन्हे किसी तरह का डर नही है। इस तरह यह एक अजीब-सी बात है कि मुस्लिम लीग के प्रस्ताव का समर्थन उन हिस्सो मे बहुत कम है और उसका असर तो सिर्फ उन हिस्सो मे है, जहा मुसलमान अल्पसख्यक हैं और जहां बटवारे का कोई भी असर नही होगा। फिर भी यह वाक़या जरूर है कि उसके नतीजे पर ग़ौर किये बिना मुसलमान काफी बडी तादाद मे इस बटवारे के ख़याल की तरफ भावुकता से खिच गये हैं। असल मे अभी तो यह प्रस्ताव बहुत धुधली शक्ल मे सामने आया है और बार-बार पूछने पर भी अबतक उसकी रूप-रेखा निश्चित करने की कोशिश नही की गई।

मेरे खयाल से यह भावना अस्वाभाविक तौर पर पैदा की गई है और

होगा या दो राष्ट्र, क्योकि कौमियत का मौजूदा विचार राज्य से क़रीब-करीब अलग हो गया है। आज राष्ट्रीय राज्य एक बहुत छोटी इकाई है और छोटे-छोटे राज्यो का कोई स्वतत्र अस्तित्व नही हो सकता—यहातक कि कुछ बडी राष्ट्रीय सरकारो की अलग और स्वतत्र सत्ता होगी, अब इसमे भी शक है। राष्ट्रीय सरकारो की जगह अब बहु-राष्ट्रीय सरकारो या बडे-बडे सघो को मिल रही है। सोवियत सघ इसका एक ख़ास नमूना है। सयुक्त राज्य अमरीका, राज्यो के एक मज़बूत बधन से जुडे होने पर भी, बुनियादी तौर पर एक बहुराष्ट्रीय राज्य है। यूरोप मे हिटलर के हमलों के पीछे नात्सियो की विजय लालसा के अलावा भी कुछ और बात थी। नई ताकतें यूरोप मे छोटी-छोटी सरकारो का ढाचा ख़त्म करना चाहती थी। हिटलर की फौजे अब तेज़ी से वापस लौट रही हैं या ख़त्म की जा रही हैं, लेकिन बडे-बडे सघो का ख़याल बना हुआ है।

पुराने पैंगबरो के-से उत्साह के साथ मि० एच० जी० वेल्स सारी दुनिया, को बताते रहे हैं कि मानवता का एक युग ख़त्म हो रहा है—एक ऐसा युग, जिसमे दुनिया के मामलो का प्रबध विभाजन द्वारा होता है। राजनैतिक नज़र से ये टुकडे अलग-अलग बिलकुल स्वतत्र सरकारें हैं और आर्थिक नज़र से वे निरकुश व्यापारी सस्थाए हैं, जिनमे मुनाफे के लिए प्रतियोगिता चल रही है। वेल्स का कहना है कि राष्ट्रीय व्यक्तिवाद और पृथक, स्वतत्र उद्योग का ढाचा ही दुनिया की बीमारी है। हमको राष्ट्रीय सरकार को ख़त्म करना होगा और एक ऐसा समष्टिवाद चालू करना होगा, जो न किसीको गिरायेगा न गुलाम बनायेगा। पैग़बरो की, उनके जीवन-काल मे, अवहेलना होती है, और कभी-कभी तो उनको पत्थर खाने पडते हैं। इसी तरह मि० वेल्स, की या और लोगो की चेतावनी नक्कारखाने मे तूती की आवाज़ की तरह है, और जहातक हुकूमतो का सवाल है, उन पर कोई भी असर नही है। फिर भी वे अनिवार्य प्रवृत्तियो की तरफ तो इशारा करती ही हैं। इन प्रवृत्तियो की रफ्तार बढाई या घटाई जा सकती है या जिन लोगो के हाथ मे ताकत है, अगर वे बिलकुल अधे हैं, तो शायद उन्हे एक और बडे विध्वस का भी इतज़ार करना पड और तभी शायद इन प्रवृत्तियों को सफलता मिले।

दूसरी जगहो की तरह हिंदुस्तान मे भी हम लोग पिछली घटनाओ या आदर्शों से पदा हुए नारो और उद्घोषो के बधन मे बधे हैं। वे आजकल बिलकुल बेतुके हैं और उनका ख़ास काम मौजूदा मसलो पर ग़ैर-जानिबदारी के और तर्कसगत विचार को रोकना है। धुधले आदर्शों और धुधली कल्पनाओ की तरफ़ भी एक झुकाव है। इनसे भावुकता पैदा होती है, जो अपने ढग से

अच्छी हो सकती है, लेकिन उससे भी दिमाग़ मे एक ढग की काहिली आती है, और हमारे सामने एक ग़लत नकशा आता है। पिछले कुछ सालो मे हिंदुस्तान के बटवारे और एके के बारे मे बहुत-कुछ लिखा और कहा जा चुका है। फिर भी यह हैरत अंग्रेज वाकया हमारे सामने है कि जिन लोगो ने 'पाकिस्तान' या बटवारे का प्रस्ताव पेश किया है, उन्होंने अपना मतलब समझाने या उसके नतीजों पर ग़ौर करने से इन्कार कर दिया है। वे सिर्फ भावुकता की ही सतह पर काम करते हैं। यही हाल उनके ज्यादातर विरोधियो का भी है। जिस सतह पर वे रहते हैं वह खयाली है, धुधली-सी ख्वाहिशो की है और इन सबके पीछे कुछ कल्पित फायदे हैं। लाजिमी तौर से, भावुकता या खयाली बातो पर निर्भर इन दो नज़रियो के बीच कोई भी समझौते का रास्ता नही निकल सकता। और इस तरह 'पाकिस्तान' और 'अखड हिंदुस्तान' के नारे सब जगह एक-दूसरे के मुकाबले मे उठाये जा रहे हैं। यह बात साफ है कि साम्प्रदायिक भावनाओ और चेतन और अचेतन प्रवृत्तियो की अहमियत होती है और उनका खयाल रखना होगा। उसी तरह यह बात भी साफ है कि भावना की चादर से ढक देने या छिपा देने से असलियत या सचाई गायब नही हो सकती, वह बेमौके और अनजाने ढग से बाहर फूट पडती है। इन भावनाओ की ही बुनियाद पर अगर कोई फैसले किये जायें या इन फैसलो मे समझ के मुकाबले भावना का ही ज्यादा जोर हो, तो इस बात की सभावना है कि वे ग़लत होगे और उनके नतीजे खतरनाक होगे।

यह बात बिलकुल साफ है कि हिंदुस्तान का भविष्य चाहे जो हो, और चाहे बटवारा ही क्यो न हो, लेकिन हिंदुस्तान के अलग-अलग हिस्सो को सैकडो बातो मे मिल-जुलकर काम करना पडेगा। बिलकुल आज़ाद राष्ट्रो को भी एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर काम करना पडता है। हिंदुस्तान के सूबो को या उन हिस्सो को, जो बटवारे से बनेंगे और भी ज्यादा हद तक आपसी सहयोग की ज़रूरत होगी, क्योंकि इन सबका एक आपसी करीबी रिश्ता होगा, और उन्हे या तो साथ-साथ रहना होगा या गिरना और बरबाद होना पड़ेगा और अपनी आज़ादी खोनी होगी। इसलिए सबसे पहला अमली सवाल यह है कि अगर हिंदुस्तान को आज़ाद रहना है और तरक्की करनी है, तो उसके विभिन्न हिस्सो को जोडे रखनेवाले बधन कौनसे होगे, जिनकी ज़रूरत खुद उन हिस्सो की आज़ादी और सास्कृतिक उन्नति के लिए भी होगी। हिफाज़त की बात सबसे बडी है और ज़ाहिर है। उस हिफाज़त के पीछे उसको ज़िंदगी देनेवाले बडे-बडे कारखाने हैं, आनेजाने के ज़रिये हैं और कुछ हद तक आर्थिक योजना भी है। इसके अलावा चुगी,

मुद्रा और विनिमय और हिंदुस्तान को अदरूनी तौर पर मुक्त व्यापार का क्षेत्र बनाये रखने के सवाल हैं, क्योंकि देश के अदर तिजारती टैक्स लगने से तिजारती तरक्की मे जबरदस्त रुकावट होगी। इसी तरह और भी सवाल हैं, जिनका समूचे हिंदुस्तान और उसके हिस्सो, दोनो ही के लिहाज़ से मिलाजुला केंद्रीय नियत्रण होना ज़रूरी है। चाहे हम पाकिस्तान के हक मे हो या न हो, लेकिन हम इन बातो से अलग नही हो सकते। हा, यह बात दूसरी है कि हम वक्ती जोश मे आकर और सब चीज़ो की तरफ से आखें बद कर लें। हवाई सफर की बहुत ज्यादा बढती की वजह से उसके अतर्राष्ट्रीयकरण की या उसमे किसी ढग के अतर्राष्ट्रीय नियत्रण की माग की गई है। मुखालिफ मुल्क इसको मानने की अक्लमदी दिखायेंगे, इसके बारे मे अभी शक है। लेकिन यह बात बिलकुल तय है कि हिंदुस्तान मे हवाई तरक्की सिर्फ सारे हिंदुस्तान की बुनियाद पर हो सकती है, यह बात तो खयाल के भी बाहर है कि विभाजित हिंदुस्तान के हिस्से उस सलसिले मे अलग-अलग तरक्की करें। यही बात कई और ऐसी कार्रवाइयो के लिए लागू होती है, जिनके लिए राष्ट्रीय सीमाओ का क्षेत्र बहुत छोटा है। कुल मिलाकर हिंदुस्तान काफी बडा है और उसमे तरक्की के लिए जगह है, लेकिन यह बात विभाजित हिस्सो मे नही होगी।

इस तरह हम इस लाज़िमी नतीजे पर पहुचते हैं कि चाहे पाकिस्तान हो या न हो, सरकार के कई अहम और बुनियादी काम कुल हिंदुस्तान की बुनियाद पर करने होगे। कम-से-कम, अगर हिंदुस्तान को एक आज़ाद सरकार की तरह रहना है और अगर उसे तरक्की करनी है, तो यह बात ज़रूरी होगी। दूसरी तरफ सडन, बरबादी और राजनैतिक और आर्थिक आज़ादी का नुकसान सिर्फ हिंदुस्तान का ही नही होगा, बल्कि उसके सभी विभाजित हिस्सा का होगा। एक मशहूर और काबिल आदमी ने कहा है—"ज़माना मुल्क के सामने दो बिलकुल अलग रास्ते पेश करता है—एके और आज़ादी का या बटवारे और गुलामी का।" उस एके की क्या शक्ल होगी, उसको क्या नाम दिया जायेगा, इसकी कोई खास अहमियत नही है। वैसे नामो का अपना असर होता है और उसका एक मनोवैज्ञानिक मूल्य होता है। असली बात यह है कि बहुत-से काम कारगर तरीके पर सिर्फ कुल हिंदुस्तानी बुनियाद पर ही हो सकते हैं। शायद इनमे से बहुत-से कामो पर जल्दी ही अतर्राष्ट्रीय सस्थाओ का नियत्रण हो जायेगा। दुनिया सिकुडती जाती है और उसके मसले सभी जगहो के लिए एक होते जा रहे हैं। हवाई जहाज़से दुनिया को पार करने मे और किसी एक जगह से दूसरी जगह जाने मे अब पूरे तीन दिन

भी नही लगते और भविष्य मे स्ट्रैटोस्फीयर (ज़मीन से दस मील से ज्यादा ऊचाई पर की हवा की परत) मे आने-जाने के विज्ञान मे तरक्की होने पर और भी कम वक्त लगेगा। हिंदुस्तान दुनिया के हवाई सफर का एक बडा केंद्र ज़रूर बनेगा। रेल के ज़रिये हिंदुस्तान एक तरफ तो पच्छिमी एशिया और यूरोप से और दूसरी तरफ चीन और बरमा से मिलेगा। हिमालय के दूसरी तरफ हिंदुस्तान से कुछ दूर, सोवियत एशिया मे, एक बहुत उन्नत औद्योगिक प्रदेश है और भविष्य मे उसके बेहद बढने की गुजाइश है। हिंदुस्तान पर इसका असर होगा और उसमे कई प्रतिक्रियाए होगी।

इसलिए एके या पाकिस्तान की समस्या पर हमारी निगाह भावुकता से भरी हुई नही होनी चाहिए, बल्कि उस पर अमली बातो को निगाह मे रखते हुए, मौजूदा दुनिया को निगाह मे रखते हुए, गौर करना चाहिए इस ढग से हम कुछ निश्चित और स्पष्ट नतीजो पर पहुचते हैं—कुछ अहम कामो या मामलो के लिए सारे हिंदुस्तान को साबित बनाये रखना ज़रूरी है। इसके अलावा शामिल होनेवाली इकाइयो को पूरी आज़ादी हो सकती है और होनी चाहिए। इसके अलावा कुछ चीज़ें हो सकती हैं, जिनमे केंद्र और ये इकाइया, दोनो ही मिलकर काम करें। इस मसले मे अलग-अलग रायें हो सकती हैं कि हमारा कार्य-क्षेत्र कहा खत्म होता है या कहा शुरू होता है, लेकिन अमली तौर से इन फर्कों को काफी आसानी से समझौता करके दूर किया जा सकता है।

लेकिन एक बात लाज़िमी है। वह यह है कि इस सबकी बुनियाद रज़ामदी से मिल-जुलकर काम करने की भावना पर हो, उसमे दबाव या ज़बरदस्ती की भावना न हो, और उसमे हर इकाई और हर आदमी आज़ादी महसूस करे। पुराने निहित स्वार्थ मिटेंगे और यह बात भी साफ है कि नये स्वार्थ पैदा भी नही किये जायेंगे। कुछ ऐसे प्रस्ताव हैं, जो वर्गों का आधि-भौतिक धारणाओ की बुनियाद पर हैं और वे वर्ग के व्यक्तियो को भुलाकर एक आदमी को दूसरे के दो या तीन आदमियो के बराबर राजनैतिक अधिकार दिलाना चाहते हैं और इस तरह नये स्वार्थों की स्थापना करते हैं। ऐसी बातो से बेहद असतोष होगा और उनमे पायदारी नही होगी।

हिंदुस्तानी फेडरेशन या सघ से किसी ढग से शामिल हुए हिस्से के अलहदा होने के अधिकार की बात अकसर पेश की गई है और उस सिलसिले मे समर्थन के लिए सोवियत सघ की दलील असल मे लागू ही नही होती, क्योकि वहा की हालतें बिलकुल दूसरी हैं और उस अधिकार की अमलीतौर पर कोई कीमत नही है। हिंदुस्तान के मौजूदा भावुक वातावरण मे भविष्य के लिए इसको

मान लेना वांछनीय हो सकता है, ताकि दबाव से आज़ादी की भावना, जो बहुत ज़रूरी है, बनी रहे। अमली तौर पर कांग्रेस ने उसे मान लिया है। लेकिन उस अधिकार को इस्तेमाल करने के लिए यह ज़रूरी है कि पहले ऊपर कही हुई उन सारी समस्याओ पर गौर कर लिया जाये, जिनका सभी से ताल्लुक है। साथ ही शुरू मे अलहदगी की संभावना से एक बड़ा भारी खतरा है। वजह यह है कि ऐसी कोशिश से खुद आज़ादी की शुरूआत और आज़ाद राष्ट्रीय सरकार के निर्माण को चोट पहुंचेगी। दुश्वार मसले उठ खड़े होंगे और सारे अमली सवालो पर परदा पड़ जायेगा। चारो तरफ विच्छेद का ही वातावरण होगा। हर ढंग के समुदाय, जो वैसे तो मिलकर रहने को तैयार हैं, अलग-अलग अपनी सरकार कायम करने की मांग करेंगे या ऐसे खास अधिकार मांगेंगे, जिनसे दूसरो के अधिकारो पर हमला होता हो। हिंदुस्तानी रियासतो का मसला हल करना बेहद मुश्किल हो जायेगा और मौजूदा रियासती ढांचे को एक नई ज़िंदगी हासिल हो जायेगी। सामाजिक और आर्थिक मसलो को हल करना और भी ज्यादा मुश्किल हो जायेगा। असल मे ऐसी अशांति मे किसी आज़ाद सरकार का कायम करना मुमकिन नही होगा और अगर कोई ऐसी सरकार बन भी गई, तो वह दयनीय और उपहास्य होगी और वह अंतर्विरोधो और उलझनो से भरी हुई होगी।

इससे पहले कि अलहदा होने के अधिकारो को इस्तेमाल किया जाये, यह ज़रूरी है कि एक ठीक ढंग से बनी हुई आज़ाद सरकार पूरी तरह काम करने लगे। जब बाहरी असर हट जायेंगे और देश के असली मसले सामने होंगे, तो उस वक्त मौजूदा भावुकता से हटकर, ग़ैर-जानिबदारी के साथ, इन मसलो पर अमली नज़रिये से गौर करना मुमकिन होगा। इस भावुकता से तो बहुत खतरनाक नतीजे होंगे, जिनसे आगे चलकर हम सभी को मलाल हो सकता है। इसलिए आज़ाद हिंदुस्तानी सरकार के कायम होने के बाद (मसलन दस बरस बाद) कोई वक्त तय कर देना ज्यादा मुनासिब हो सकता है। उस अरसे के बाद उचित संवैधानिक ढंग से संबंधित हिस्सो की साफ ज़ाहिर की हुई ख्वाहिश के बमूजिब ही अलग होने के अधिकार का इस्तेमाल हो सकता है।

हम मे से बहुत-से लोग हिंदुस्तान की मौजूदा हालतो से बेहद परेशान हो गये हैं और कोई-न-कोई रास्ता निकालने के लिए जी-जान से ख्वाहिशमंद हैं। कुछ लोग तो इस धुंधली आशा से कि उन्हे कुछ थोड़ी-सी राहत मिलेगी, दम घोटनेवाले ढांचे से बाहर कुछ सांस लेने का मौका मिलेगा, उस दिशा मे बहनेवाले तिनके को भी पकड़ने के लिए तैयार हैं। यह बहुत स्वाभाविक है;

लेकिन इस ढग की कोशिशो मे हमेशा खतरा होता है। ये मसले बहुत अहम हैं और उनका असर करोडो आदमियो की खुशहाली पर और भविष्य मे दुनिया की शाति पर होता है। हिंदुस्तान मे हम बराबर विध्वस के नज़दीक रहते हैं और कभी-कभी विध्वस हमको कुचल डालता है। हिंदुस्तान मे, बगाल मे और दूसरी जगहो मे, हम पिछले साल यह देख चुके हैं। बगाल के अकाल और उसके बाद जो कुछ हुआ, वह कोई दुखद अपवाद नही था। उसकी कोई असाधारण या अचानक वजह नही थी, जिसका नियत्रण या इतज़ाम न किया जा सकता हो। हिंदुस्तान पीढियो से तकलीफ पा रहा है। उसकी बीमारी उसके शरीर मे गहरी पैठी हुई है और उसके बदन के हिस्सो को खाये जा रही है। उस अकाल मे इस हिंदुस्तान की भयकर और साफ तस्वीर सामने आई। अगर हम अपनी सारी शक्तियो को इस बीमारी की जड खोदने और उस बीमारी को दूर करने मे न लगाये, तो यह बीमारी दिन-ब-दिन ज्यादा खतरनाक और विध्वसकारी होती जायेगी। बटे हुए हिंदुस्तान से, जिसमे हर हिस्सा सिर्फ अपनी ही फिक्र करेगा और उसे न दूसरो की परवाह होगी और न वह दूसरो से मिल-जुलकर काम करेगा, यह बीमारी बढ जायेगी, और हम नाउम्मीदी, बेबसी और तकलीफ की दलदल मे फस जायेंगे। इस वक्त भी हम बहुत ज्यादा पिछडे हुए हैं, और हमे खोये हुए वक्त की कमी को पूरा करना है। क्या बगाल के अकाल के सबक का भी हम पर असर नही होगा? अब भी ऐसे बहुत-से लोग हैं, जो आबादी के राजनैतिक आकडो, सुरक्षाधिकारो, समतोल, रोक और विशेषाधिकारी गुटो या ऐसे ही नये गुटो के मानो मे ही सोच सकते हैं। वे लोग दूसरे लोगो को आगे बढने से रोकना चाहते हैं, क्योकि या तो वे खुद बढना नही चाहते या खुद बढ ही नही सकते। उनका दिमाग निहित स्वार्थों को और मामूली रद्दोबदल को छोडकर मौजूदा हिंदुस्तान की तस्वीर को ज्यो-का-त्यो बनाये रखने की बातें सोचता है। वे लोग व्यापक सामाजिक और आर्थिक तब्दीलियो को टालना चाहते हैं। ऐसा करना बडी भूल होगी।

वक्ती मसले बडे मालूम देते हैं और हमारा सारा ध्यान उधर ही है। लेकिन मुमकिन है कि ज्यादा दूरदेशी से काम लेने पर उनकी खास अहमियत न रहे और इन ऊपरी घटनाओ की सतह के नीचे ज्यादा बडी ताकतें काम कर रही हो। मौजूदा मसलो को कुछ देर के लिए एक तरफ रखकर, आगे ध्यान देने पर मजबूत साबित हिंदुस्तान की तस्वीर सामने आती है, जिसमे आज़ाद इकाइयो का सघ होगा, जिसके अपने पडोसियो से बहुत गहरे रिश्ते होगे, और जिसकी दुनिया के मामलो मे एक अहमियत होगी। ऐसे बहुत ही

कम मुल्क हैं, और हिंदुस्तान उनमे से एक है, जो अपने साधनो और अपनी सामर्थ्य के बल पर अपने पैरो पर खडे हो सकते हैं। आज शायद ऐसे देश सिर्फ सयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत सघ हैं। ग्रेट ब्रिटेन की भी उन देशो मे गिनती हो सकती है, बशर्ते कि उसके अपने साधनो के साथ उसके साम्राज्य के साधन हो, फिर भी दूर तक फैला हुआ और असतुष्ट साम्राज्य कमजोरी की जड होता है। चीन और हिंदुस्तान मे उस दल मे शामिल होने के बहुत बडे साधन-सामर्थ्य हैं। दोनो ही भौगोलिक दृष्टि से सुगठित हैं, दोनो ही सम हैं, और दोनो ही प्राकृतिक सपत्ति, जन-शक्ति, कारीगरी और सामर्थ्य से भरपूर हैं। शायद हिंदुस्तान के औद्योगिक वसीले चीन से भी ज्यादा हैं, उनका फैलाव और वैभिन्य भी। इसी तरह हिंदुस्तान की निर्यात की चीजें भी ज्यादा हैं और आवश्यक आयात के लिए इनकी जरूरत होगी। इन चार देशो के अलावा, अकेले किसी और देश के वसीले ऐसे नही हैं। हा, यह मुमकिन है कि यूरोप मे और दूसरी जगहो मे राष्ट्र-समुदाय या बडे सघ मिलकर बहुत बडे बहुराष्ट्रीय राज्य बनायें और उनकी स्थिति भी ऐसी ही हो।

भविष्य मे दुनिया का सचालन-केंद्र एटलांटिक से हटकर पैसिफिक (प्रशात महासागर) में आ जायेगा, ऐसी समावना है। हालाकि हिंदुस्तान पैसिफिक तट का राज्य नही है, फिर भी लाजिमी तौर पर उसका वहा बहुत अहम असर होगा। हिंद महासागर, दक्खिनी-पूरबी एशिया और मध्य-पूर्व के इलाको मे हिंदुस्तान आर्थिक और राजनैतिक कार्रवाइयों का बहुत बडा केंद्र हो जायेगा। भविष्य मे दुनिया का जो हिस्सा तेजी से तरक्की करेगा, उसमे हिंदुस्तान की स्थिति का एक आर्थिक और फौजी महत्व है। अगर हिंद महासागर के किनारे के देशो का प्रादेशिक सघ बने, तो उसमे ईरान, इराक, अफगानिस्तान, हिंदुस्तान, सीलोन (लका), बरमा, मलाया, स्याम, जावा आदि होंगे और मौजूदा अल्पसख्यको का सवाल ग़ायब हो जायेगा या कम-से-कम उस पर एक बिलकुल दूसरे सदर्भ मे गौर करना पडेगा।

मिस्टर जी० डी० एच० कोल के खयाल से हिंदुस्तान खुद एक राष्ट्रोपरि क्षेत्र है और उनका ख़याल है कि आगे चलकर वह एक शक्तिशाली राष्ट्रोपरि राज्य का केंद्र बन जायेगा। इसमे पूरा मध्य-पूर्व होगा और यह क्षेत्र या तो एक चीनी-जापानी सोवियत गणराज्य या मिस्र अरब और तुर्की के मेल से बने एक नये राज्य और उत्तर मे सोवियत सघ के बीच में होगा। यह सब अभी कोरी कल्पना है और कोई आदमी अभी यह नही कह सकता कि इस ढगकी तब्दीली होगी। जहातक मेरा सवाल है, मुझे यह पसद नही है

कि दुनिया को कुछ बडे-बडे राष्ट्रोपरि इलाको मे बाट दिया जाये। हा, अगर वे सब सारी दुनिया के सघ से मजबूती से बधे हो, तो बात दूसरी है, लेकिन अगर लोग दुनिया के एके को और दुनिया के सघ को अपनी बेवकूफी से कायम नही होने देंगे, तो ये विशाल राष्ट्रोपरि राज्य, जिनमे स्थानीय स्वायत्तता होगी, बन जायेंगे। छोटे राष्ट्रीय राज्य का कोई भविष्य नही है। सास्कृतिक रूप से वह एक स्वाधीन इकाई रह सकता है, लेकिन अब वह स्वतत्र राजनैतिक इकाई नही रह सकता।

चाहे जो हो, लेकिन अगर हिंदुस्तान अपना असर महसूस करा सके, तो यह बात दुनिया की भलाई के हक मे होगी। वजह यह है कि वह असर हमेशा सुलह के हक मे और जबरदस्ती के खिलाफ होगा।

१२ : यथार्थवाद और भू-राजनीति : विश्व विजय या विश्व-सघ : सयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत सघ

यूरोप मे लडाई अब अपनी आखिरी मजिल पर पहुच गई है और पूरब और पच्छिम से बढती हुई फौजो के सामने नात्सी ताकत चकनाचूर हो रही हैं। वह खूबसूरत और शानदार शहर पेरिस, जिसका आजादी की लडाई से इतना ताल्लुक रहा, अब खुद आजाद हो गया है। शाति की समस्याए, जो लडाई की समस्याओ से ज्यादा मुश्किल होती हैं, अब उठ रही हैं और लोगो के दिमागो को परेशान कर रही हैं। उनके पीछे पहले महायुद्ध के बाद के सालो की भारी नाकामयाबी की छाया है। कहा जाता है—अब फिर यह बात न होनी चाहिए। लेकिन १९१८ मे भी तो यही कहा गया था!

पद्रह साल पहले, १९२९ मे, मि० विन्स्टन चर्चिल ने कहा था—"यह एक कही हुई कहानी है, जिससे भविष्य के लिए जरूरी ज्ञान और सबक निकाला जा सकता है। राष्ट्रो के झगडो मे और उन झगडो की वजह से लडाइयो की तकलीफ मे बेहद नामुनासिब अनुपात है। रणभूमि के ऊचे प्रयत्नो मे और उनके छोटे और निस्तत्त्व पुरस्कारो मे भी वैसा ही भेद है। लडाई की जीत जल्दी से गायब हो जाती है, पुनर्निर्माण धीरे-धीरे होता है और उसमे बहुत वक्त लगता है, महनत, तकलीफ और खतरे की बातें ही इस सिलसिले में होती है, कभी-कभी सर्वनाश सिर्फ बाल बराबर दूरी पर ही रह जाता है, जो किसी सयोग से ही टल जाता है। इन सब बातो से मानव-समाज का सारा ध्यान आगे किसी दूसरे महायुद्ध को रोकने मे लग जाना चाहिए।"

लडाई और अमन दोनो ही के जमाने मे मि० चर्चिल ने बडा काम किया है, खतरे और परेशानी के मौके पर अपने देश का असाधारण हिम्मत से

आजादिया, जो पहले ही धुंधली थी और जिनका दायरा सीमित था, अब पृष्ठभूमि मे खिसक गई है और भविष्य मे पिछली चीजो को ज्यो-का-त्यो बनाये रखने का इरादा है। लडाई का हुलिया अब सिर्फ फौजी रह गया है और उसमे पाशविक बल का पाशविक बल से मुकाबला है। उसमे नात्सियो और फ़ासिस्तो के उसूलो की खिलाफत अब नही रही। जनरल फ्रैंको और दूसरे छोटे और होनहार तानाशाहो को यूरोप मे बढावा दिया गया है। मि० चर्चिल अब आलीशान साम्राज्य की सोचते है। जार्ज बर्नार्ड शॉ ने हाल ही मे कहा था कि "दुनिया मे कोई भी ऐसी ताकत नही है, जो ब्रिटिश साम्राज्य की तरह पूरी तौर से अपनी हुकूमत के खयाल से भरी हुई हो। यहातक कि जब मि० चर्चिल 'साम्राज्य' शब्द कहते हैं, तो वह हर बार उनके गले मे अटक जाता है।"[1]

इग्लैंड, अमरीका और दूसरी जगहो मे ऐसे बहुत-से लोग हैं, जो भविष्य का एक बिलकुल नया नकशा चाहते है। उनको डर है कि अगर ऐसा नही हुआ, तो मौजूदा लडाई के बाद नई लडाइया और नई बरबादी और भी

[1]यह बात साफ है कि ब्रिटिश शासक वर्ग साम्राज्यवाद के युग को खत्म करने की नहीं सोचता। ज्यादा-से-ज्यादा वह औपनिवेशिक राज्य के ढाँचे को नई शक्ल दे सकता है। उनके लिए उपनिवेशो का कब्जा 'बड़प्पन और संपत्ति के लिए जरूरी' है। लदन का 'इकॉनामिस्ट' ब्रिटेन की प्रभावशाली जनता का नुमाइदा है। १६ सितबर, १९४४ को उसने लिखा—"साम्राज्यवाद के खिलाफ अमरीकी तरफदारी से, चाहे वह साम्राज्य अग्रेजी, फ्रान्सीसी या डच हो, बहुत-से युद्धोत्तर योजना बनानेवाले इस धारणा पर पहुचे हैं कि दक्खिनी-पूरबी एशिया मे फिर से पुरानी हुकूमतें कायम नहीं होंगी और किसी शक्ल मे या तो अतर्राष्ट्रीय नियत्रण होगा, या अधिकार वहाँ की स्थानीय आबादी को सौंप दिये जायंगे और पच्छिमी राष्ट्रो से पुरानी हुकूमतें ले ली जायेंगी; चूकि यह रुख बराबर बना हुआ है और कुछ प्रमुख अमरीकी अखबार उसका समर्थन करते हैं, इसलिए अभी तो वक्त है कि ब्रिटिश, फ्रेंच और डच अपने इरादो को पूरी और साफ तौर से जाहिर कर दें, चूकि उनमे से किसीका भी इरादा अपने औपनिवेशिक साम्राज्य को छोडने का नहीं है, बल्कि उसके विपरीत जापान के सह-समृद्धि क्षेत्र को पूरी तरह कुचलने के लिए वे यह जरूरी समझते हैं कि मलाया ब्रिटिश को, हिंद-चीन फ्रेंच को, और पूर्वी हिंदेशिया डच को वापस करना जरूरी है। इसलिए इससे बहुत खतरनाक गलतफहमी फैलेगी और यह एक विश्वासघात होगा, अगर ये तीनो राष्ट्र अपने अमरीकी साथी के दिमाग मे इस तरह का शक बना रहने दें।"

ज्यादा बड़े पैमाने पर होगी। लेकिन जिनके पास ताकत या हुकूमत है, उन पर इन खयालो का असर नही मालूम होता। या शायद वे खुद ऐसी ताकतो के चगुल मे फसे हैं, जो उनके काबू से बाहर हैं। इग्लैंड, अमरीका और रूस मे बल-राजनीति की पुरानी शतरज फिर बड़े पैमाने पर नज़र आ रही है। उसको यथार्थवाद या अमली राजनीति कहा जाता है। भू-राजनीति के एक अमरीकी विद्वान प्रोफ़ेसर एन० जे० स्पाइकमैन ने अपनी एक हाल की किताब मे लिखा है—"वह राजनीतिज्ञ, जो विदेश-नीति का सचालन करता है, न्याय, औचित्य और सहिष्णुता से उसी हद तक सबधित है, जहातक वे उसके शक्ति-प्राप्ति के उद्देश्य के लिए सहायक होते हैं या कम-से-कम उसके लिए विघ्न नही होते। ताकत हाथ मे करने के लिए नैतिक समर्थन की नज़र से उनका औज़ारो की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है, लेकिन जिस क्षण यह महसूस हो कि उनके इस्तेमाल से कमज़ोरी आ रही है, उनको फौरन एक तरफ हटा देना चाहिए। ताकत की तलाश नैतिक मूल्य को पाने के लिए नही की जाती। ताकत हाथ में करने की सहूलियत के लिए ही नैतिक मूल्य का इस्तेमाल किया जाता है।"[1]

अमरीका की विचारधारा की इससे नुमाइंदगी न होती हो, लेकिन निश्चित रूप से उसके एक ताकतवर हिस्से की नुमाइंदगी ज़रूर होती है। मि० वाल्टर लिपमैन की सारी दुनिया की तीन-चार परिधियो की तस्वीर—एटलांटिक, रूसी, चीनी और दक्खिन एशिया मे हिंदू-मुस्लिम परिधियो की तस्वीर—ज्यादा बड़े पैमाने पर बल-राजनीति जारी रखने की नीति दिखाई देती है, और यह समझना मुश्किल है कि उससे किस तरह सहयोग होगा और किस तरह दुनिया मे शाति होगी। अमरीका अनुदार यथार्थवाद और धुधले-से आदर्शवाद और मानवतावाद का एक अजीब सम्मिश्रण है। इनमे से आगे चलकर कौनसी प्रवृत्ति जीतेगी या उन दोनो के मेल का क्या नतीजा होगा? अधिकाश जनता चाहे जो सोचे, लेकिन विदेशनीति तो विशेषज्ञो के हाथ मे रहेगी और वे आमतौर से पुरानी परपराओ को बनाये रखना चाहते हैं और किसी ऐसे नये इतज़ाम से, जिससे उनका देश किसी नई ज़िम्मेदारी मे पड़ जाये, उन्हे डर लगता है। यथार्थवाद तो होना चाहिए, क्योकि कोई भी देश अपनी विदेश या घरेलू नीति सद्भावनाओ पर या कल्पित आशकाओ पर नही बना सकता, लेकिन यह तो एक अजीब यथार्थ-वाद है, जो पुराने खोखले खोल से चिपटा हुआ है और जो मौजूदा वक्त की उन कड़वी सचाइयो को समझने से इन्कार कर देता है, जो सिर्फ़ राज-

[1] एमेरिकाज स्ट्रेटेजी इन वर्ल्ड पॉलिटिक्स।

नैतिक या आर्थिक ही नहीं हैं, बल्कि जो जनता की एक बडी तादाद की भावनाओ और प्रवृत्तियो को जाहिर करती हैं। इस तरह का यथार्थवाद खयाली ज्यादा है और आज की और आगे की समस्याओ से बहुत-से लोगो के कहे जानेवाले आदर्शवाद के मुकाबले बहुत ज्यादा अलग है।

भू-राजनीति अब यथार्थवादी का लगर बन गई है और ऐसा खयाल किया जाता है कि उसके 'हृद-प्रदेश' और 'तटवर्ती-प्रदेश' के शब्द-जजाल से राष्ट्रीय तरक्की और बरबादी के रहस्य पर रोशनी पडेगी। इग्लैंड मे (या स्काटलैंड मे ?) उसकी पैदाइश हुई और बाद मे वह नात्सियो के लिए मार्ग-दर्शक बन गई। उसने नात्सियो के दुनिया जीतने के सपनो और इरादो को पाला और उन्हे बरबादी की तरफ ले गई। कभी-कभी झूठ के मुकाबले आशिक सत्य ज्यादा खतरनाक होता है। एक ऐसा सत्य, जिसका जमाना खत्म हो गया, बने रहने पर मौजूदा असलियत के लिए आखें बद कर देता है। एच० जे० मैकिंडर के भू-राजनीति के उसूल की बाद मे जर्मनी मे तरक्की हुई। उसकी बुनियाद इस बात पर थी कि सभ्यता की तरक्की महाद्वीपो के (यूरोप और एशिया के) समुद्र-तटो पर हुई, जिसकी 'हृद-प्रदेश' से (जो यूरेशियन जातियो का आदि-स्थान था) आये हमलावरो से हिफाजत की जानी थी। इस 'हृद-प्रदेश' पर काबू के मानी थे दुनिया की हुकूमत लेकिन अब सभ्यता सिर्फ़ समुद्री-तटो पर ही सीमित नही है और वह अपने फैलाव और तत्त्व मे दिन-ब-दिन ज्यादा विश्व-व्यापी होती जा रही है। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका की बढती से यह बात कट जाती है कि यूरेशियन 'हृद-प्रदेश' की दुनिया पर हुकूमत होगी और हवाई ताकत से अब जल-शक्ति और थल-शक्ति का समतौल बिलकुल मिट गया है।

जर्मनी के सपने सारी दुनिया को जीतने के थे, लेकिन चारो तरफ से घिर जाने का डर भी छाया हुआ था। सोवियत रूस को यह डर था कि उसके दुश्मन आपस मे एक हो जायेंगे। बहुत अरसे से इग्लैंड की राष्ट्रीय नीति की बुनियाद यूरोप के शक्ति-ज्ञतुलन पर रही है। वह नीति यूरोप की सबसे ज्यादा बढ़ती हुई ताकत के खिलाफ रही है। वहा हमेशा ही दूसरो का डर रहा है और इस डर की वजह से आक्रामक ढग रहा है और हमेशा जाल-साज़िया होती रही हैं। मौजूदा लडाई के बाद एक बिलकुल नई स्थिति होगी—सयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत सघ दुनिया की दो अहम ताकतें होगी और बाक़ी सब ताकतें उनसे बहुत पिछडी हुई होगी। हा, अगर वे मिलकर किसी तरह का सघ बना लें, तो बात दूसरी होगी। अब सयुक्त राज्य अमरीका से भी प्रोफ़ेसर स्पाइकमैन, अपने सबसे नये वसीयतनामे मे

कहते हैं कि उन्हें भी घिर जाने का खतरा है और उनको किसी 'तटवर्ती प्रदेश' से मिल जाना चाहिए और हर सूरत मे उन्हें 'हृद-प्रदेश' को (जिसका मतलब अब सोवियत सघ से है) तटवर्ती प्रदेश से मिलने से नही रोकना चाहिए।

यह सब बडी चतुराई की और यथार्थवादी बात मालूम देती है, लेकिन यह हद दर्जे की बेवकूफी से भरी है। वजह यह है कि इसकी बुनियाद फैलाव, साम्राज्य और शक्ति-सतुलन की पुरानी नीति पर है और उससे लाजिमी तौर पर सघर्ष और लडाई होती है। चूकि दुनिया गोल है, हर एक देश दूसरे देशो से घिरा हुआ है। दल-राजनीति के ऐसे घेरो से बचने के लिए समझौते हो, जीत हो या फैलाव हो, लेकिन किसी भी देश का राज्य या असर का हलका कितना ही बडा क्यो न हो, घिरने का खतरा हमेशा बना रहता है। जो ताकतें बाहर बच रही हैं, वे घेर सकती हैं। लेकिन ये बची ताकतें इस बेहद बडी प्रतिद्वद्वी सरकार की तरफ से सशकित रहती हैं। इस खतरे से बचने का रास्ता सिर्फ यही है कि या तो सारी दुनिया को जीत लिया जाये या सारी प्रतिद्वद्वी ताकतो को ही मिटा दिया जाये। दुनिया को जीतने की सबसे ताजी कोशिश हमारे सामने नाकामयाब हो रही है। क्या यह सबक सीखा जायेगा या अभी ऐसे और लोग भी होगे, जो हविस, जाति या ताकत के घमड से इस खतरनाक हलके मे अपनी किस्मत आजमायेंगे?

असल मे दुनिया को जीतने और दुनिया के सघ के बीच कोई रास्ता नही दिखाई देता। पुराने बटवारे या दल-राजनीति पर चलने की आज कोई कीमत नही है और वे हमारे वातावरण से बे-मेल हैं, फिर भी वे जारी हैं। राज्यो के स्वार्थ और उनकी कार्रवाइया उनकी सीमाओ को पार कर गई हैं, और वे अब सारी दुनिया मे फैली हुई हैं। कोई भी राष्ट्र न तो अपने-आपको दूसरे राष्ट्रो से अलहदा ही कर सकता है और न उनकी आर्थिक और राजनैतिक नियति की अवहेलना ही कर सकता है। अगर सहयोग नही होता, तो सघर्ष होगा और उसके लाजिमी नतीजे होगे। सहयोग की बुनियाद बराबरी और पारस्परिक भलाई पर होगी। उस बुनियाद के लिहाज से पिछडी हुई जातियो को दूसरी जातियो की सास्कृतिक तरक्की और खुशहाली की सतह तक आना होगा। उस बुनियाद के लिहाज से जातीय भेद-भाव या कब्जा खत्म हो जायेगा। चाहे उसको कितना ही खूबसूरत नाम क्यो न दे दिया जाये, कोई भी राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र की हुकूमत या उसके हाथो अपने शोषण को बरदाश्त नही कर सकता। जिस वक्त दुनिया के दूसरे हिस्से फल-फूल रहे हो, उस वक्त भी राष्ट्र अपनी गरीबी और अपनी तकलीफ की अवहेलना नही कर सकता। यह तो सिर्फ उसी वक्त मुमकिन था,

जब दूसरी जगह के परिवर्तनो के बारे मे बेखबरी थी।

यह सब बिलकुल साफ जाहिर होता है, फिर भी पिछली घटनाओ के लबे इतिहास से यह पता लगता है कि आदमी का दिमाग तब्दीलियो से बहुत पीछे रहता है और वह बहुत धीरे-धीरे ही अपने-आपको उनसे मिला पाता है। भविष्य मे तबाही से बचने के लिए और अपने लाभ की नजर से भी, राष्ट्रो को इस व्यापक सहयोग के लिए तैयार होना चाहिए। लेकिन पिछले यकीनो और पिछली धारणाओ की वजह से 'यथार्थवादी' का निजी स्वार्थ कही ज्यादा सीमित हो जाता है और उसके लिहाज से एक युग के लिए उपयुक्त विचार और सामाजिक ढाचा मानव-स्वभाव और मानव-समाज के लिए स्थायी और अपरिवर्तनशील हैं। वह इस बात को भूल जाता है कि मानव-प्रकृति और मानव-स्वभाव से ज्यादा परिवर्तनशील और कोई चीज नही है। मज़-हबी बात और सवाल जड पकड लेते हैं, सामाजिक सस्थाए जड हो जाती हैं, लडाई को जिंदगी के लिए ज़रूरी समझा जाता है, साम्राज्य और फैलाव को उन्नतिशील और सजीव राष्ट्र की विशेषता समझा जाता है, मुनाफे की नीयत को इन्सानी रिश्तो की एक खास चीज समझा जाता है, राष्ट्रीय अहम्मन्यता को जातीय बडप्पन का खयाल समझा जाता है और उस पर धीरे-धीरे विश्वास जमता जाता है और कुछ समय मे वह स्वय-सिद्ध जान पडने लगता है। ऐसे कुछ विचार पूरब और पच्छिम दोनो की ही सभ्यता मे थे। उनमे से कितने ही विचार उस आधुनिक पच्छिमी सभ्यता की पृष्ठभूमि मे हैं, जिससे फासिस्त और नात्सी मतो का जन्म हुआ है। नैतिक दृष्टि से उनमें और फ़ासिस्त उसूलो मे कोई फर्क नही है, हालाकि यह सच है कि मानव-जीवन और मानवता के लिए फासिस्त उसूलो मे बहुत ज्यादा नफरत थी। असल मे मानववाद, जिसका यूरोप मे बहुत अरसे तक असर रहा, अब धीरे-धीरे गायब हो रहा है। पच्छिम के राजनैतिक और आर्थिक ढाचे मे फासिस्तवाद के बीज मौजूद थे। अगर पिछला आदर्श छोडा नही जाता, तो लडाई की जीत से कोई खास तब्दीली नही आयेगी और अगर पुरानी बाते ज्यो-की-त्यो चलती रही ,तो हमको फिर उसी चक्कर मे पडना होगा।

इस लडाई से दो खास बातें सामने आई हैं। सयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत सघ की ताकत बहुत ज्यादा बढ गई है। इसके अलावा दोनो देश प्रकट-सपत्ति और निहित साधन-सपत्ति से भरपूर हैं। वैसे लडाई से पहले के मुकाबले मे सोवियत सघ शायद अब कुछ निर्धन हो गया है। वजह यह है कि उसकी बेहद बरबादी हुई है। लेकिन उसकी साधन-सामर्थ्य विराट है। इसी कारण वह जल्दी ही कमी पूरी कर लेगा और आगे बढ जायेगा। यूरेशियाई

महाद्वीप पर भौतिक और आर्थिक ताकत मे उसे कोई चुनौती नही देगा। फैलाव की तरफ उसका झुकाव जाहिर हो रहा है और करीब-करीब ज़ार के साम्राज्य की ही बुनियाद पर वह अपना क्षेत्र बढा रहा है। यह सिलसिला किस हद तक जायेगा, यह कहना मुश्किल है। उसकी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के लिए फैलाव जरूरी नही है, क्योकि वह स्वय-पर्याप्त हो सकती है। लेकिन दूसरी ताकतें और पुराने शक काम कर रहे हैं और फिर वही घिर जाने का डर नज़र आ रहा है। हा, फिलहाल कई साल तक सोवियत सघ लडाई की बरबादी को दूर करने और पुनर्निर्माण मे लगा रहेगा। फिर भी फैलने का झुकाव (प्रादेशिक फैलाव न हो, और ढग का हो) जाहिर हो रहा है। सोवियत सघ के अलावा और किसी देश मे राजनैतिक दृष्टि से ठोस और आर्थिक दृष्टि से सतुलित तस्वीर नही दिखाई देती, अगरचे इधर हाल की उसकी कार्रवाइयो से, उसके बहुत-से पुराने प्रशसको को भी धक्का पहुचा है। उसके मौजूदा नेताओ की हैसियत पर वहा अगुली भी नही उठाई जा सकती और भविष्य की हर चीज़ उनके दृष्टिकोण पर निर्भर है।

सयुक्त राज्य अमरीका ने अपने विराट उत्पादन और अपनी सगठन-शक्ति से दुनिया को हैरत मे डाल दिया है। इस तरह उसने सिर्फ लडाई मे ही खास हिस्सा नही लिया, बल्कि उसने अमरीकी अर्थ-व्यवस्था की जन्म-जात प्रक्रिया को तीव्रतर कर दिया है और अपने लिए एक ऐसी समस्या खडी कर ली है, जिसमे भविष्य मे उसको अपनी पूरी ताकत और अक्ल लगानी पडेगी। बिना ज़बरदस्त अदरूनी और बाहरी कश-म-कश के अपने मौजूदा आर्थिक ढाचे को बनाये रखते हुए वह उसको किस तरह हल करेगा, यह समझ मे नही आता। यह कहा जाता है कि अब उसका अलग रहने का (यूरोप या दूसरी जगह के झगडो से अलग रहने का) खयाल नही है। यह लाज़िमी है, क्योकि अब उसे कुछ हद तक विदेशो मे निर्यात पर निर्भर रहना होगा। लडाई से पहले उसकी अर्थ-व्यवस्था मे जो एक मामूली-सी बात थी, यहातक कि उसकी अवहेलना की जा सकती थी, अब वह बहुत अहम बात हो गई है। जब शाति के लिए उत्पादन युद्ध-उत्पादन की जगह ले लेगा, तो बिना झगडा या रगड पैदा किये ये निर्यात कहा खपाये जायेंगे ? करोडो हथियारबद आदमी जब घर लौटेंगे, तो उन्हे किस तरह काम मे लगाया जायेगा ? हर लडनेवाले देश के सामने यह समस्या होगी, लेकिन जिस हद तक यह अमरीका के सामने होगी, उस हद तक यह और किसीके सामने नही होगी। जो बहुत बडे तकनीकी परिवर्तन हुए हैं, उनकी वजह से उत्पादन बेहद बढ जायेगा और जनता मे बेकारी फैलेगी या शायद दोनो

ही बातें होगी। बडे पैमाने पर बेकारी से जनता मे सख्त नाराज़ी होगी और सयुक्त राज्य अमरीका की सरकार की ऐलानिया नीति यह है कि ऐसा मौका नही आयेगा। लौटते हुए सिपाहियो को काम देने के बारे मे काफी सोच-विचार किया जा रहा है। इस पर गौर किया जा रहा है कि किस तरह काम फायदेमद हो और बेकारी दूर रहे। इसका अमरीका के लिए अदरूनी पहलू कुछ भी हो (और अगर बुनियादी रद्दोबदल न हुई, तो वह काफी गभीर हालत होगी), लेकिन इसका अतर्राष्ट्रीय पहलू भी उतना ही अहम है।

इस विराट उत्पादन की मौजूदा अर्थ-व्यवस्था की ऐसी अजीब हालत है कि सबसे ज्यादा मालदार और सबसे ज्यादा ताकतवर मुल्क—अमरीका—भी उन दूसरे देशो पर निर्भर है, जो उसके जरूरत से ज्यादा उत्पादन को खपाते हैं। लडाई के बाद कुछ सालो तक यूरोप मे, चीन मे और हिंदुस्तान मे मशीनो की और तैयार माल की बहुत माग होगी। अपनी फालतू पैदावार की व्यवस्था करने मे इससे अमरीका को बहुत मदद मिलेगी। लेकिन हर एक देश तेज़ी से अपनी ज़रूरत की चीज़ो को खुद ही तैयार करने की अपनी सामर्थ्य को बढायेगा और धीरे-धीरे निर्यात मे ऐसी खास चीजे रह जायेगी, जो उन देशो मे पैदा नही की जा सकती। जनता की क्रय-शक्ति को बढाने के लिए बुनियादी आर्थिक तब्दीलियो की ज़रूरत होगी। यह बात समझ मे आती है कि दुनिया-भर मे रहन-सहन का माप काफी ऊचा उठ जाने पर अतर्राष्ट्रीय व्यापार और वस्तु-विनिमय बढेगा और खूब तरक्की करेगा। लेकिन खुद इस माप को ऊचा उठाने के लिए नौआबादियो और पिछडे हुए देशो के उत्पादन से राजनैतिक और आर्थिक बेडियो को हटाना ज़रूरी है। लाज़िमी तौर पर इसके मानी हैं बहुत बडी रद्दोबदल, जिसमे सारी चीजे उलट-पुलट जायेगी, और एक नये ढाचे से मेल बिठाना होगा।

गुज़रे ज़माने मे इंग्लैंड की अर्थ-व्यवस्था की बुनियाद बहुत बडे निर्यात-व्यापार पर विदेशो मे लगी हुई पूजी पर रही है। लदन शहर का आर्थिक नेतृत्व था और साथ ही भारी जहाजी भारवाही का व्यापार भी था। लडाई से पहले इंग्लैंड की लगभग ५० फी-सदी खाद्य-सामग्री बाहर से मगानी पडती थी। शायद अब इतने बडे खाद्य-आयात के लिए वह निर्भर नही होगा, क्योकि वहा पर खाद्य-उत्पादन बढाने की बडी ज़बरदस्त कोशिश हुई है। खाने के सामान और कच्चे माल के आयात का तैयार माल के निर्यात मे, पूजी से, माल की जहाजी भारवाही से, वित्तीय सेवाओ से और उन चीज़ो से, जिन्हे 'अदृश्य' निर्यात कहा जाता है, भुगतान होता था, इस तरह से विदेशी व्यापार और खासतौर से बहुत बडा निर्यात ही ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था की खासियत

और अहम बात थी। नौआबादियो मे एकाधिकार पर काबू से या साम्राज्य मे किसी-न-किसी ढग का सतुलन बनाये रखने के इतजाम से वह अर्थ-व्यवस्था कायम रखी जाती थी। उस एकाधिकार नियन्त्रण से और उन इतजामो से नौआबादियो को या गुलाम देशो को बहुत नुकसान था और भविष्य मे उन्हे इन पुरानी शक्लो मे बनाये रखना मुमकिन नही है। ब्रिटेन की विदेशो मे लगी हुई पूजी अब गायब हो गई है और उसकी जगह उस पर बहुत बडा कर्ज़ है और लदन की आर्थिक प्रधानता अब खत्म हो गई है। इसके मानी ये हैं कि लडाई के बाद ब्रिटेन को पहले से भी ज्यादा हद तक निर्यात-व्यापार और जहाजी मारवाही के व्यापार पर निर्भर रहना होगा। लेकिन निर्यात वढाने की, यहा तक कि उसको ज्यो-का-त्यो रखने की, सभावना भी अब बहुत कम है।

लडाई से पहले १९३६-३८ मे इग्लैंड का आयात (पुन निर्यात घटाकर) औसतन ८,६०,००,००० पौंड था। उसका इस तरह भुगतान किया गया।

निर्यात	४७८०	लाख	पौंड
विदेशी पूजी से आमदनी	२०३०	लाख	पौंड
जहाजी मारवाही का काम	१०५०	लाख	पौंड
वित्तीय सेवाए	४००	लाख	पौंड
घाटा	४००	लाख	पौंड
कुल	८६६०	लाख	पौंड

विदेशी पूजी से बहुत बडी आमदनी की जगह अब विदेशी कर्ज़ का बहुत बडा बोझ होगा। यह विदेशी कर्ज़ हिंदुस्तान, मिस्र, अर्जेंटाइना और दूसरे देशो से (अमरीकी उधार-पट्टे के अलावा) सामान और काम उधार लेने की वजह से है। लॉर्ड कीन्स का अदाज़ यह है कि लडाई के खात्मे पर यह कर्ज़ इकट्ठा होकर ३०,००० लाख पौड हो जायेगा। ५ फी-सदी के हिसाब से इसका सालाना पडता १,५०० लाख पौंड होगा। इस तरह अगर लडाई से पहले के सालो का औसत लिया जाये, तो ब्रिटेन को हर साल ३,००० लाख पौड से ज्यादा का घाटा रहेगा। अगर निर्यात से या और दूसरे ज़रियो से आमदनी न बढी और इस घाटे को पूरा न किया गया, तो रहन-महन का स्तर काफी गिर जायेगा।

ब्रिटेन की युद्ध के बाद की नीति की यह सबसे अहम बात मालूम होती है और अगर उसे मौजूदा आर्थिक दर्जा बनाये रखना है, तो वह यह महसूस करता है कि ऐसी छोटी-मोटी रद्दोबदल को छोडकर, जिसे टाला ही नही जा

सकता, उसे अपने औपनिवेशिक साम्राज्य पर कब्ज़ा वनाये रखना चाहिए। सिर्फ कई देशो (नौआबादियो और गैर-नौआबादियो) के गुट का नेता वनकर ही उन्हे अपनी हैसियत वनाये रखने की उम्मीद है और उसी सूरत मे राजनैनिक और आर्थिक दृष्टि से वह दो वडी ताकतो (सयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत सघ) के वेहद वडे साधनो का सतुलन कर सकेगा। इसलिए साम्राज्य को—जो कुछ है उसको—वनाये रखने की इच्छा है और साथ ही नये हलको पर, मसलन थाइलैंड पर, अपना असर वढाने की कोशिश है। इसलिए ब्रिटिश नीति का इरादा डोमिनियनो से और पच्छिमी यूरोप के छोटे-छोटे देशो से करीवी रिश्ता वनाये रखने का है। आमतौर से फ्रान्सीसी और डच औपनिवेशिक नीति नौआवादियो और गुलाम देशो के प्रति ब्रिटिश नज़रिये का समर्थन करती है। डच साम्राज्य असल मे एक पुछल्लगा साम्राज्य है और वह ब्रिटिश साम्राज्य के विना टिक नही सकता।

ब्रिटिश नीति के इस रुख को समझना आसान है, क्योकि उसकी वुनियाद गुज़रे हुए नज़रिये से और पैमाने पर है और यह नीति उन लोगो की वनाई हुई है, जो गुज़रे ज़माने से वधे हुए है। फिर भी उन्नीसवी सदी की अर्थ-व्यवस्था के सदर्भ मे भी आज ब्रिटेन के सामने जो मुश्किले हैं, वे वहुत वडी हैं। भविष्य के लिहाज़ से उसकी स्थिति कमज़ोर है, उसकी अर्थ-व्यवस्था मौजूदा हालतो के लिए अनुपयुक्त है, उसके आर्थिक साधन वहुत सीमित हैं और उसकी फौजी और औद्योगिक ताकत पहले जैसी नही रह सकती। उस पुरानी अर्थ-व्यवस्था को वनाये रखने के लिए जो ढग वताये जाते है, उनमे एक वुनियादी स्थायित्वहीनता है, क्योकि उनकी वजह से तो वरावर झगडे होते रहेगे, सुरक्षा की कमी होगी, गुलाम देशो मे दुर्भावनाए वढती रहेंगी, जिनकी वजह से ब्रिटेन का भविष्य और भी ज्यादा खतरनाक हो सकता है। अग्रेज़ो की ख्वाहिश समझी जा सकती है। वे अपने रहन-सहन का माप पुरानी सतह पर वनाये रखना चाहते हैं, अगर हो सके, तो उसे उठाना चाहते हैं। लेकिन इसकी वुनियाद ब्रिटिश-निर्यात के सरक्षित वाजारो पर, सस्ता खाने का सामान और कच्चा माल देनेवाले औपनिवेशिक या दूसरे गुलाम प्रदेशो पर है। इसके मानी ये हैं कि चाहे करोडो आदमियो के लिए एशिया और अफरीका मे ज़िदगी की ज़रूरतें भी पूरी न हो, उनके लिए ज़िदा रहना भी मुश्किल हो, लेकिन उन्हीके साधनो के सहारे अग्रेज़ो की रहन-सहन की हैसियत ऊची बनी रहे। कोई भी यह नही चाहता कि ब्रिटिश मापदड गिरा दिया जाये, लेकिन यह वात साफ है कि एशिया और अफरीका की जनता इस वात के लिए राज़ी नही हो सकती कि उनको इन्सान से भी बदतर हालत

मे रखकर यह औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था कायम रखी जाये। (लडाई से पहले) इग्लैंड मे फी आदमी की सालाना क्रय-शक्ति ९७ पौंड बताई जाती है (अमरीका की इससे भी अधिक है), हिंदुस्तान मे ६ पौंड से भी कम है। इस बहुत बडे अतर को बरदाश्त नही किया जा सकता। असलियत यह है कि औपनिवेशिक अर्थ-तत्र के क्रियागत ह्रास का अत में अधिकारी शक्ति के लिए भी बुरा असर होता है। सयुक्त राज्य अमरीका मे यह बात साफ़ तौर पर महसूस की जाती है और इसी वजह से उन लोगो की ख्वाहिश यह है कि उद्योग-धधे बढाकर और साथ ही खुदमुख्तारी देकर औपनिवेशिक आबादी की क्रय-शक्ति को बढा दिया जाये, यहातक कि ब्रिटेन मे भी कुछ हद तक हिंदुस्तान के उद्योग-धधो के बढानेकी ज़रूरत महसूस की जाती है और बगाल के अकाल की वजह से बहुत-से लोगो ने इस विषय पर खास-तौर से ध्यान दिया है। लेकिन ब्रिटिश नीति का इरादा यह है कि हिंदुस्तान मे उद्योग-धधो की तरक्की तो हो, लेकिन उस पर ब्रिटिश नियत्रण हो और साथ ही उसमे ब्रिटिश कारबार के विशेषाधिकार हो। एशिया के और दूसरे देशो की तरह हिंदुस्तान का भी औद्योगीकरण ज़रूर होगा। सवाल सिर्फ़ रफ्तार का है। लेकिन इस बात मे बेहद शक है कि औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था से या विदेशी नियत्रण से उसका मेल बैठ सकता है।

मौजूदा हालत मे ब्रिटिश साम्राज्य भौगोलिक इकाई नही है और न वह कारगर आर्थिक या फौजी इकाई है। वह तो एक ऐतिहासिक और भावुकतामय इकाई है। भावुकता और पुराने बधनो की अब भी अहमियत है, लेकिन यह मुमकिन नही है कि आगे चलकर और ज्यादा बडी बातों से भी उन की अहमियत ज्यादा हो जाये। और फिर यह भावुकता तो उन कुछ जगहो तक ही सीमित है, जहा ब्रिटिश-जनता जैसी जातीय आबादिया हैं। निश्चित रूप से वह हिंदुस्तान मे या बाकी गुलाम औपनिवेशिक आबादियो मे बिलकुल भी लागू नही होती—असल मे यहा तो इससे उलटी बात है। जहातक बोअरो का सवाल है, वह दक्खिनी अफरीका मे भी लागू नही होती। बडे-बडे डोमिनियनो मे ऐसी बारीक तब्दीलिया हो रही हैं, जिनका झुकाव ब्रिटेन से परपरागत रिश्तो को कमजोर करने की तरफ है। कनाडा लडाई के दौरान मे औद्योगिक कद मे बेहद बढ गया है, अब एक बडी ताकत है और वह सयुक्त राज्य अमरीका से कुछ करीबी तौर पर बधा हुआ है। उसकी अर्थ-व्यवस्था ऐसी हो गई है, जो दिन-ब-दिन फैलती जायेगी और यह बात ब्रिटिश उद्योग-धधो के रास्ते मे अडचन डालेगी। आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड की भी अर्थ-व्यवस्था फैलती जा रही है और वे महसूस कर रहे हैं कि

वे ग्रेट ब्रिटेन की यूरोपीय परिधि मे नही हैं, बल्कि वे प्रशात महासागर की एशियाई-अमरीकी परिधि मे हैं, जहा पर सयुक्त राज्य अमरीका का एक खास हिस्सा होगा। जहातक सस्कृति का सवाल है, कनाडा और आस्ट्रेलिया दोनो ही दिन-ब-दिन अमरीका से ज्यादा प्रभावित होते जा रहे हैं।

आज का औपनिवेशिक दृष्टिकोण अमरीका की नीति और फैलाव की प्रवृत्तियो से मेल नही खाता। सयुक्त राज्य अमरीका अपने निर्यात के लिए खुला बाजार चाहता है और दूसरी ताकतो की उन बाजारो को सीमित करने की या उन पर नियत्रण रखने की कोशिशें उसे पसद नही है। वह चाहता है कि एशिया की करोडो की जनता मे उद्योग-धधे खूब बढें और सभी जगह रहन-सहन की हैसियत ऊची उठे। इसकी वजह भावुकता नही है—अपने फालतू माल को खपाने के लिए अमरीका को इसकी जरूरत है। अमरीकी और ब्रिटिश निर्यात-व्यापार मे और जहाजी मारवाही मे सघर्ष लाजिमी मालूम देता है। अमरीका दुनिया-भर मे हवाई मामले मे अपनी बडाई कायम रखना चाहता है और इसके लिए उसके पास अटूट साधन हैं। लेकिन यह बात इग्लैंड मे खलती है। शायद अमरीका थाइलैंड को आजाद रखना पसद करे, लेकिन अग्रेजो की ख्वाहिश उसे अर्ध-उपनिवेश बनाने की है। ये बातें एक-दूसरे के खिलाफ हैं। इनकी बुनियाद अपनी-अपनी वाछित अर्थ-व्यवस्था पर है और ये बातें सारे नौआबादी हलको मे दिखाई देती हैं।

उन अजीब हालतो मे, जिनमे आज ब्रिटेन आ गया है, ब्रिटिश नीति का इरादा कामनवेल्थ और साम्राज्यवाद को ज्यादा सुगठित करने का है, और यह बात समझ मे आती है। लेकिन सचाइयो की, दुनिया के झुकावो की, दलील उसके खिलाफ है। साथ ही डोमिनियनो मे राष्ट्रीयता की तरक्की और औपनिवेशिक साम्राज्य को तोडनेवाली प्रवृत्तिया भी उसके खिलाफ हैं। पुरानी बुनियाद पर इमारत खडी करने की कोशिश, एक गुजरे जमाने के ढाचे की ही सोचना, अब भी दुनिया-भर मे फैले हुए साम्राज्य और विशेषाधिकारो की बाते करना या उनके सपने देखना—ये सब बातें दूसरे देशो के मुकाबले ब्रिटेन के लिए और भी ज्यादा गलत और अदूरदर्शी नीति से भरी हुई हैं, क्योकि वे कारण, जिन्होंने उसे राजनैतिक, औद्योगिक और आर्थिक प्रधानता दी, अब गायब हो गये हैं। फिर भी गुजरे जमाने मे, और अब भी, ब्रिटेन मे कुछ खास खूबिया है—हिम्मत के साथ और मिलकर काम करने का गुण, वैज्ञानिक और रचनात्मक योग्यता, और परिस्थिति के अनुकूल होने की सामर्थ्य। ये गुण और दूसरे गुण, जो उसके पास हैं, किसी भी कौम को बहुत हद तक बडा बनाते हैं और उसको इस योग्य बनाते हैं कि वह अपने

खतरो और सकटो को जीतकर पार कर जाय। इसलिए ऐसा हो सकता है कि वह इन बडी और अहम समस्याओ का सामना कर सके और वह किसी दूसरे ज्यादा सतुलित आर्थिक ढाचे से अपना मेल बिठा ले। लेकिन अगर वह अपने पुराने ढग से अपने साम्राज्य को अपने साथ बाधे रखकर चलने की कोशिश करता है, तो उसकी कामयाबी की सभावना बहुत ही कम है।

लाज़िमी तौर से ज्यादातर बात अमरीकी और सोवियत नीति पर और उन दोनो के ब्रिटेन से सघर्ष या सहयोग पर निर्भर होगी। हर आदमी ज़ोर-ज़ोर से कहता है कि दुनिया की शाति और उसमे सहयोग के लिए यह जरूरी है कि तीनो बडे (अमरीका, सोवियत सघ और ब्रिटेन) मिलजुलकर काम करें। फिर भी हर मौके पर, यहातक कि लडाई के दौरान मे भी, मतभेद दिखाई देते हैं। चाहे भविष्य मे कुछ भी हो, यह बात साफ मालूम देती है कि लडाई के बाद अमरीकी अर्थ-व्यवस्था खासतौर से विस्तारवादी होगी और उसके नतीजे करीब-करीब विस्फोटक होगे। क्या इससे किसी नये ढग का साम्राज्यवाद पैदा होगा? अगर ऐसा हुआ, तो यह एक और सर्वनाश की बात होगी, क्योकि भविष्य का ढर्रा ठीक करने के लिए अमरीका के पास ताकत है और मौका है।

सोवियत सघ की भावी नीति अभी एक रहस्य बनी हुई है, लेकिन उसकी कुछ साफ झलक मिल गई है। उसका इरादा अपनी सरहद के किनारे ज्यादा-से-ज्यादा देशो को मित्रतापूर्ण और निर्भर या अर्ध-निर्भर रखने का है। हालाकि वह और ताक़तो के साथ मिलकर सारी दुनिया के सगठन के लिए काम कर रहा है, फिर भी उसे अपनी ताकत को मजबूत बुनियाद पर खडी करने पर ज्यादा भरोसा है। जहातक दूसरे राष्ट्रो का बस चल सकता है, वे भी इसी तरह ही काम करते हैं। सारी दुनिया के सहयोग की यह शुरुआत आशापूर्ण नही है। सोवियत सघ या दूसरे देशो के बीच निर्यात बाजार के लिए उस तरह लडाई नही है, जैसी ब्रिटेन और अमरीका के बीच मे है। लेकिन फर्क ज्यादा गहरे हैं, उनके नजरियो मे ज्यादा फर्क है, और लडाई मे मिल-कर काम करने के बाद भी उनके आपसी शक कम नही हुए। अगर ये फर्क ज्यादा बढते गये, तो अमरीका और ब्रिटेन एक-दूसरे के ज्यादा करीब आते जायेंगे और सोवियत सघ के दल के खिलाफ एक-दूसरे की मदद करेंगे।

इस नक्शे मे एशिया और अफरीका के करोडो आदमियो की जगह कहा होगी? उनको अपने-आपका और अपनी किस्मत का ज्यादा होश हो गया है, और साथ ही उन्हें दुनिया का भी होश है। उनमे से बहुत बडी तादाद में लोगो की दुनिया की घटनाओ मे दिलचस्पी है। लाज़िमी तौर पर उनके लिए

हर घटना एक कसौटी है—क्या इससे हमारी आज़ादी को मदद मिलेगी ? क्या इससे एक देश का दूसरे देश पर कब्ज़ा खत्म होगा ? क्या इससे राष्ट्रो को और उनके अतर्गत समुदायो को बराबरी के अवसर मिलेंगे ? क्या इसमे गरीबी और निरक्षरता के जल्दी खत्म होने की उम्मीद है ? क्या इससे रहने की हालतें बेहतर होगी ? वे राष्ट्रवादी हैं, लेकिन उनकी राष्ट्रीयता न दूसरो पर काबू चाहती है और न किसी तरह की छेड़खानी। वे दुनिया के सहयोग और अतर्राष्ट्रीय ढाचा कायम करने की हर कोशिश का स्वागत करते है, लेकिन उन्हे ताज्जुब होता है और शक होता है कि कही पुराने काबू को बनाये रखने की यह कोई नई तरकीब न हो। एशिया और अफरीका के ज्यादातर हिस्से जग गये हैं, असतुष्ट हैं, बेचैन हैं और मौजूदा हलतो को अब और ज्यादा बरदाश्त नही कर सकते। एशिया के विभिन्न देशो मे हालतो और समस्याओ मे बहुत फर्क है, लेकिन इस सारे विस्तृत क्षेत्र मे, चीन और हिंदुस्तान मे, दक्खिनी-पूरबी एशिया मे, पच्छिमी एशिया मे और अरब जगत मे भावनाओ के एक-से धागे फैले हुए हैं और ऐसी अदृश्य कड़िया हैं, जो उन्हे एक साथ मिलाये हुए है।

एक हज़ार साल या इससे कुछ ज्यादा वक्त तक, जिस वक्त यूरोप पिछड़ा हुआ था और अध-युग मे फसा हुआ था, एशिया मनुष्य की प्रगतिशील आत्मा की नुमाइंदगी करता था। शानदार सस्कृति के एक के बाद दूसरे युग फलते-फूलते रहे और सभ्यता और शक्ति के बड़े-बड़े केंद्र पैदा हुए। क़रीब पाच सौ वर्ष पहले यूरोप सभला और धीरे-धीरे पूरब और पच्छिम की तरफ फैला, और इन सदियो के दौरान मे दुनिया की ताकत, सपत्ति और सस्कृति का प्रमुख महाद्वीप बन गया। क्या इस तब्दीली का कोई चक्र था, और क्या अब वह प्रक्रिया उलट रही है ? वह निश्चय ही अमरीका की तरफ ज्यादा हट गई है, जो बहुत दूर पच्छिम मे है और साथ ही वह यूरोप के उस पूरबी हिस्से मे पहुच गई है, जो यूरोपीय विरासत का हिस्सा नही था। पूरब मे भी साइबेरिया मे बेहद तरक्की हो गई है। पूरब के दूसरे मुल्क भी रद्दोबदल के लिए और तेजी से आगे बढने के लिए तैयार हो चुके हैं। भविष्य मे सघर्ष होगा, या पूरब और पच्छिम मे एक नया समतोल कायम होगा ?

सुदूर भविष्य ही इसका फैसला कर सकेगा और इतनी ज्यादा दूर की बातो पर सोचने से कोई फायदा नही। फिलहाल हमको बोझ को ढोना है और उन मसलो का सामना करना है, जो हमारे सामने हैं। दूसरे देशो की तरह हिंदुस्तान मे भी इन मसलो के पीछे असली सवाल है—यह महज़ उन्नीसवी सदी के यूरोप के नमूने का लोकतत्र क़ायम करने का ही नही है,

बल्कि गहरी सामाजिक क्रांति का है। लोकतंत्र खुद इस जाहिरा लाज़िमी रद्दोबदल मे शामिल हो गया है, इसलिए जो लोग इस तब्दीली को नापसद करते हैं, उन्हे लोकतंत्र की उपयोगिता के बारे मे शक और इन्कारी पैदा होती है और इससे फासिस्त मनोवृत्ति पैदा होती हैं और साम्राज्यवादी नज़रिया बना रहता है। हिंदुस्तान में हमारे सारे मौजूदा मसले—साम्प्रदायिक या अल्पसख्यक समस्या, रजवाडे, मज़हबी जमातो और बडे ज़मींदारो के निहित स्वार्थ और हिंदुस्तान मे ब्रिटिश हुकूमत और उद्योग-धधो के जमे हुए स्वार्थ—अत मे सामाजिक तब्दीली का विरोध करते हैं। चूकि असली लोकतंत्र से ऐसी तब्दीली की सभावना है, इसलिए खुद लोकतंत्र का विरोध होता है और कहा जाता है कि हिंदुस्तान की अपनी परिस्थितियों मे वह अनुपयुक्त है। इस तरह चाहे उनमे कैसे ही फर्क मालूम पडते हो, लेकिन हिंदुस्तान के मसलो की भी बुनियाद वही है, जो चीन, स्पेन या दुनिया के और दूसरे देशो के मसलो की है और जिसको लडाई ने ऊपर सतह पर ला दिया है। यूरोप के बहुत-से नात्सी-विरोधी आदोलनो मे इन झगडो की झलक दिखाई देती है। हर जगह सामाजिक शक्तियो का पुराना सतुलन बिगड गया है और जबतक एक नया सतुलन कायम नही हो जाता, कश-मकश होगी और सघर्ष चलता रहेगा। इन मौजूदा समस्याओ से हम अपने ज़माने की केंद्रीय समस्याओ पर पहुच जाते हैं, यानी लोकतंत्र और समाजवाद को किस तरह मिलाया जाये? राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय सतह पर जनता के योजनाबद्ध आर्थिक जीवन को कायम रखते हुए और साथ ही केंद्रित सामाजिक नियत्रण रखते हुए किस तरह व्यक्तिगत आज़ादी और व्यक्तिगत प्रयत्न को बनाये रखा जाये?

१३ : आज़ादी और सल्तनत

ऐसा मालूम होता है कि भविष्य मे अमरीका और सोवियत सघ का एक खास हिस्सा होगा। जितना फ़र्क़ किन्ही दो उन्नत देशो मे हो सकता है, उतना फर्क उन दोनो मे है, यहातक कि उनकी कमिया भी विरोधी दिशाओ मे दिखाई देती है। राजनैतिक लोकतंत्र के अभाव की सारी बुराइया सोवियत सघ मे मौजूद हैं। फिर भी उनमे बहुत-सी एक-सी बातें हैं—एक गतिशील नज़रिया, बेहद साधन, सामाजिक लचीलापन, मध्ययुगीन पृष्ठभूमि का अभाव, विज्ञान और उसके आविष्कारो मे विश्वास, जनता के लिए व्यापक शिक्षा और आगे बढने का मौका। आमदनी मे बहुत बडा असाम्य होते हुए भी अमरीका मे बहुत-से और मुल्को की तरह वर्ग-भेद नही हैं और बराबरी की भावना है। रूस मे पिछले बीस सालो की सबसे बडी घटना वहा की

जनता मे शिक्षा और सस्कृति की बेहद तरक्की है। इस तरह दोनो ही देशो मे प्रगतिशील लोकतत्री समाज की ज़रूरी बुनियाद मौजूद है, क्योकि ऐसे किसी समाज की बुनियाद अपढ और उदासीन जनता पर थोडे-से बुद्धि-जीवियो की हुकूमत पर नही हो सकती।

सौ साल पहले, उस वक्त के अमरीकियो की चर्चा करते हुए दि तोक-विले ने कहा था—"अगर एक तरफ लोकतत्री सिद्धात लोगो को विज्ञान को महज़ इल्म की ख़ातिर अपनाने के लिए प्रेरित नही करता, तो दूसरी तरफ वह उन लोगो की तादाद को, जो उसे अपनाते हैं, बेहद बढा देता है। . . लोगो के रहन-सहन की हालतो की स्थायी असमानता से आदमी अमूर्त्त सत्यो की बेहूदा और निष्प्रयोजन खोज मे घिर जाते हैं, जबकि लोकतंत्र की सस्थाए और सामाजिक परिस्थितिया विज्ञान के फौरी और उपयोगी अमली नतीजो को तलाश करने के लिए तैयार करती हैं। यह रुझान कुदरती और लाज़िमी है।" तब से अमरीका बदल गया है और तरक्की कर गया है और उसमे कई जातिया घुल-मिल गई हैं, लेकिन उसकी बुनियादी विशेषताए वही हैं।

अमरीकियो और रूसियो की एक और समान विशेषता है। उन पर गुज़रे ज़माने का वह भारी बोझ नही है, जिससे एशिया और यूरोप दबे हुए हैं और जिसने बहुत हद तक उनके काम-काजो और झगडो पर असर डाला है। लेकिन जिस तरह और लोग नही बच सकते, उसी तरह मौजूदा पीढी के बोझ से वे भी नही बच सकते। लेकिन दूसरो के मुकाबले मे उनका गुज़रा हुआ ज़माना ज्यादा साफ और कम बोझल है और भविष्य की यात्रा भार से कम दबी हुई है।

इसकी वजह से वे दूसरे लोगो के पास इस तरह पहुच सकते हैं कि उनके पीछे आपसी शक की वह पृष्ठभूमि नही होगी, जो सुस्थापित साम्राज्यवादी राष्ट्रो मे और दूसरो मे हुआ करती है। यह बात नही कि उनका गुज़रा हुआ ज़माना धब्बो और शक्को-शुबाह से पाक और साफ है। अमरीकियो की अपनी नीग्रो समस्या रही है, जो उनके लोकतत्र और बराबरी के दावे के लिए शर्मनाक चीज़ है। रूसियो को पूरबी यूरोप मे पुरानी नफरतो की याद को हटाना है, लेकिन मौजूदा लडाई उस याद को बढा रही है। फिर भी अमरीकियो की दूसरे देशो से आसानी से दोस्ती हो जाती है। रूसियो मे जातीय भेद-भाव करीब-करीब बिलकुल नही है।

यूरोप के ज्यादातर राष्ट्र आपसी नफरत और पुराने झगडो और बेइन्साफियो के ख़याल से भरे हैं। लाज़िमी तौर से साम्राज्यवादी ताक़तो ने

शासित जनता की सख्त नफरत को इसमे और जोड दिया है। लबे अरसे से साम्राज्यवादी हुकूमत की वजह से इग्लैंड का बोझ सबसे ज्यादा है। इसकी वजह से या जातीय विशेषताओ की वजह से अग्रेज एक तरफ अलग रहते हैं और वे आमतौर पर दूसरो से आसानी से दोस्ती नही करते। बदकिस्मती से उनके बारे मे हम राय उन सरकारी नुमाइदो को देखकर कायम करते हैं, जो आमतौर पर उनकी उदारता और सस्कृति के सही अलमबरदार नही होते और जिनमे अकसर अहम्मण्यता और बनावटी चरित्रशीलता के भाव दिखाई देते हैं। दूसरे लोगो का विरोध करने का इन सरकारी अधिकारियो मे एक अजीब हुनर होता है। कुछ महीने पहले हिंदुस्तान-सरकार के एक सचिव ने गाधीजी को (जब वह नजरबद थे) एक खत लिखा। वह खत इरादतन बदतमीजी का नमूना था और बहुत बडी तादाद मे लोगो ने उसे हिंदुस्तान की जनता की बेइज्जती समझा, क्योकि गाधीजी हिंदुस्तान के प्रतीक हैं।

भविष्य मे कौनसा युग आयेगा—साम्राज्यवाद का दूसरा युग, या दुनिया की कामनवेल्थ का युग, या अतर्राष्ट्रीय सहयोग का युग? पलडा सबसे पहले युग की तरफ झुका हुआ है। पुरानी दलीलें दुहराई जाती हैं, लेकिन अब उनमे पुरानी साफगोई नही मिलती। इन्सान के नैतिक रुझान और उनकी कुरबानिया ओछे कामो के लिए इस्तेमाल की जाती हैं और हुकूमत करनेवाले आदमी की अच्छाई और भलमनसाहत का नाजायज फायदा उठाते हैं और जनता के शक, डर और उसकी झूठी आकाक्षाओं का उपयोग करते हैं। पुराने वक्त मे साम्राज्य के बारे मे लोगो को इतनी झिझक नही थी। एथेन्स के साम्राज्य का जिक्र करते हुए थ्यूसिडाइडिस ने लिखा था—"साम्राज्य के अपने अधिकार के लिए हमको सफाई पेश नही करनी है, क्योकि जगलियो को हमने अकेले ही हराया और अपनी प्रजा के लिए, अपनी सभ्यता के लिए हमने अपनी जान जोखिम मे डाली। व्यक्ति की तरह राज्य को अपनी माकूल हिफाजत का इतजाम करने के लिए दोष नही दिया जा सकता। यह डर है, जो हमको अपने यूनान के साम्राज्य से चिपटे रहने के लिए मजबूर करता है, और यह डर ही हमको यहा लाया है, जहा हम अपने साथियो की मदद से सिसली के मामलो मे हुक्म दे सकते हैं।" बाद मे उसने एथेन्स की नौआबादियो की देन का जिक्र किया है—"उसको जीतना बुरी बात मालूम हो सकती है, लेकिन अब हम अगर उसे हाथ से निकल जाने दें, तो निश्चय ही बहुत बडी गलती होगी।"

एथेन्स का इतिहास लोकतत्र और साम्राज्य के असामजस्य की मिसालो से भरा हुआ है। उसमे उपनिवेशो पर लोकतत्री सरकार के अत्याचार की

कहानी है और उस साम्राज्य के तेजी से गिरने की तस्वीर है। साम्राज्य और आजादी का कोई भी समर्थक अपनी बात को ऐसे जोरदार लफ्जो मे नही कह सकता, जैसे थ्यूसिडाइडिस ने कहे हैं—"हम सभ्यता के नेता हैं और मानव-जाति के अगुआ हैं। मनुष्य जो ज्यादा-से-ज्यादा बडा आशीर्वाद दे सकता है, वह हमारा साथ और सपर्क है। हमारे असर के हलके मे आने के मानी गुलामी नही, खुशकिस्मती है। पूर्व की सारी सपत्ति मिलकर भी उस धन का, जो हम देते हैं, भुगतान नही कर सकती। इसलिए हम खुशी के साथ काम कर सकते हैं। सारा धन और सारे साधन जो हमारे पास हैं, हम उनका इस्तेमाल उस काम मे कर सकते हैं और हमको यह भरोसा रखना चाहिए कि हालाकि हमारी इसमे जाच होगी, लेकिन हम जीतेंगे। वजह यह है कि कोशिश से, कितनी ही जगहो पर तकलीफ से, हमने इन्सान की ताकत का रहस्य जान लिया है और यही इन्सान की खुशी का रहस्य है। लोगो ने अलग-अलग नामो से उसका अनुमान किया है, लेकिन सिर्फ हमने ही उसको जाना है और उसका अपने शहर मे आसानी से इस्तेमाल किया है। जिस नाम से हम उसे जानते हैं, वह है आजादी। उसने हमको सिखाया है कि सेवा करने के मानी आजाद होने के हैं। क्या तुम्हे इस बात पर ताज्जुब है कि मानव जाति मे हम ही अकेले ऐसे आदमी क्यो है, जो अपने उपहारो को निजी लाभ की शर्त पर नही देते, बल्कि उन्हे आजादी के पक्के भरोसे पर देते हैं?"

आज जब लोकतत्र और आजादी के बारे मे इतना शोर है, हालाकि वह कुछ ही लोगो तक सीमित है, उक्त बातो की गूज कुछ परिचित सी मालूम देती है। उसमे सचाई है, लेकिन उससे इन्कार भी किया गया है। थ्यूसिडाइडिस को बाकी दुनिया के बारे मे जानकारी नही थी और उसकी नजर तो सिर्फ भूमध्य-सागर के देशो तक ही सीमित थी। उसको अपने मशहूर शहर की आजादी पर गर्व था। इस आजादी को उसने इन्सान की ताकत और खुशी का रहस्य बताया। फिर भी उसने यह महसूस नही किया कि और लोगो को भी इस आजादी की ख्वाहिश थी। आजादी के प्रेमी एथेन्स ने मेलोस को हराया और बरबाद किया, वहा के सब बालिग आदमियो को कत्ल कर दिया और वहा की औरतो और बच्चो को गुलामो की तरह बेच दिया। उस वक्त भी, जब थ्यूसिडाइडिस साम्राज्य और आजादी की बाबत लिख रहा था, वह साम्राज्य गिर चुका था, और उस आजादी का, जिसका वह जिक्र करता है, वजूद न था।

वजह यह है कि बहुत अरसे तक आजादी को हुकूमत और गुलामी

से मिलाना मुमकिन नही है। एक चीज दूसरी पर हावी हो जाती है और साम्राज्य की शान और घमड मे और उसकी बरबादी मे थोडे-से ही वक्त का फर्क होता है। पहले किसी भी वक्त के मुकाबले मे अब आज़ादी ज्यादा हद तक अविभाज्य है। पेरिक्लीज को अपने प्रिय शहर की शानदार तारीफ के कुछ वक्त बाद ही वह शहर बरबाद हो गया और स्पार्टा की फ़ौजो ने एक्रोपोलिस पर कब्ज़ा कर लिया। फिर भी उसके लफ्जो मे खूबसूरती, आजादी, अक्ल और हिम्मत के लिए वह मुहब्बत जाहिर होती है, जो हमको अब भी हिला देती है। वे उस वक्त के एथेन्स के लिए ही लागू नही होते, बल्कि दुनिया के ज्यादा बडे सदर्भ मे भी लागू होते हैं। "हम खूबसूरती से मुहब्बत करते है, लेकिन ज्यादती के साथ नही, हम अक्ल के कद्रदा हैं, लेकिन हममे गैरमर्दानगी नही। सपत्ति हमारे लिए महज शान की चीज नहीं है, बल्कि उससे उपलब्धि के लिए अवसर मिलता है, गरीबी को मजूर करने मे हमारे लिहाज से शान नही घटती, लेकिन उसको दूर करने की कोशिश के न होने को हम सचमुच गिरावट समझते हैं। हमारी प्रेरणा सिर्फ उन दोहराई हुई दलीलो मे नही होनी चाहिए कि लडाई मे हिम्मत दिखाना एक बहुत ऊची और बढिया चीज है, बल्कि वह प्रेरणा उस बडे शहर के कार्य-व्यस्त जीवन मे, जो हमारे सामने रोज़ाना आता है, होनी चाहिए। उसको देखते ही हम उस पर मुग्ध हो जाते हैं, और हमको याद आती है कि उसकी महानता का श्रेय योद्धाओ की हिम्मत को, अक्लमदो की समझ और कर्तव्यनिष्ठा को और भले आदमियो के स्व-अनुशासन को है। वह श्रेय उन आदमियो को है, जो चाहे नाकामयाब ही रहे हो, लेकिन जिन्होंने इस शहर को अपनी सेवाए अर्पण की और अपनी सबसे बडी भेंट—अपनी जिदगी—बलि पर चढाई। इस तरह उन्होंने कामनवेल्थ के लिए अपना शरीर निछावर कर दिया और उसके बदले मे उन्हे ऐसी याद, ऐसी तारीफ़ मिली है, जो हमेशा बनी रहेगी। साथ ही उनको वह शानदार स्मारक मिला है—वह नही, जिसमे उनकी पार्थिव अस्थिया रखी हुई हैं—बल्कि वह, जो लोगो के दिमाग मे है और जहा उनका गौरव सजीव बना रहता है और अवसर के अनुसार बडे काम के लिए, बडी बातो के लिए प्रेरणा करता है। महापुरुषो के लिए सारी दुनिया ही एक स्मारक है और उनकी कहानी उनकी जन्मभूमि मे ही पत्थरो पर खुदी हुई नही है, बल्कि इससे भी आगे जाती है, इस तरह कि उसका कोई दिखाई पडनेवाला प्रतीक नही होता, वह तो दूसरे लोगो की जिंदगी मे समाई हुई है। अब तुम्हारे लिए यह बाकी है कि तुम उनके बराबर ऊचे उठो। यह जान लो कि खुशी की कुजी आज़ादी है और आज़ादी

का रहस्य एक बहादुर दिल है, जो दुश्मन को आते देखकर एक तरफ अलग नही रह सकता।"[1]

१४ : आबादी का सवाल : पैदाइश की गिरती हुई औसत और राष्ट्रीय ह्रास

लडाई के पाच सालो मे आबादी के बडे उलट-फेर हुए हैं और उसमे तब्दीलिया आई हैं। शायद पहले किसी ज़माने मे इतने बडे पैमाने पर ऐसा नही हुआ था। लडाई की वजह से खासतौर पर चीन, रूस, पोलैंड और जर्मनी मे होनेवाली करोडो आदमियो की मौतो के अलावा बहुत बडी तादाद मे लोग अपने घरो से, अपने मुल्को से अलहदा हो गये है। फौजी जरूरते रही हैं, मज़दूरो की माग रही है और साथ ही मजबूरी की हालत मे अपना घर और मुल्क छोडकर भागना पडा है। हमलावर फौजो के आने के पहले शरणार्थी बहुत बडी तादाद मे अपनी जगहो को खाली कर गये हैं। लडाई से पहले भी, नात्सी-नीति की वजह से, यूरोप मे इन भागे हुए लोगो की समस्या काफी बडे पैमाने पर पहुची हुई थी। लेकिन लडाई के वक्त की इस समस्या के सामने लडाई से पहले की समस्या पीछे पड जाती है। लडाई की ज़ाहिरा वजूहात के अलावा यूरोप की रद्दोबदल खासतौर से नात्सियो की जातीय नीति के सबब से है। उन्होंने खुलेतौर पर लाखो यहूदियो को मार दिया और उससे उन कई देशो की आबादी का, जहा यहूदी रहते थे, नकशा ही पलट गया। सोवियत सघ मे लाखो आदमी पूरब की तरफ हट गये हैं और उन्होंने यूराल पहाड के दूसरी तरफ बस्तिया बसा ली हैं और शायद ये बस्तिया स्थायी हो जायेंगी। चीन के बारे मे यह अदाज है कि करीब पाच करोड आदमी अपनी जगह से हट गये हैं।

बेशक, इन आदमियो को या लडाई से बचे हुए आदमियो को वापस लाने और फिर से बसाने की कोशिश होगी, हालाकि यह काम बेहद उलझा हुआ है। बहुत-से लोग अपने पुराने घरो को वापस आ जायंगे और बहुत-से लोग अपने नये पडोस मे ही रहना पसद करेंगे। साथ ही इसकी भी सभावना है कि यूरोप मे राजनैतिक रद्दोबदल की वजह से आबादी की अदल-बदल और लौट-पलट और भी ज़्यादा होगी।

इससे भी ज्यादा और गहरी अहमियत उन तब्दीलियो की है, जिनका प्राणीशास्त्र और शरीर-विज्ञान से ताल्लुक है और जिनकी वजह से दुनिया

[1] थ्यूसिडाइडिस के उद्धरण अल्फ्रेड जिमर्न की पुस्तक 'दि ग्रीक कॉमनवैल्थ' (१९२४) से लिये गये है।

की आबादी तेजी से बदल रही है। औद्योगिक क्रांति और आधुनिक तकनीक की तरक्की की वजह से यूरोप की आबादी तेजी से बढ गई। यह बात खासतौर से उत्तरी-पच्छिमी और मध्य यूरोप मे हुई। ज्यो-ज्यो यह तकनीकी जानकारी पूरब की तरफ, सोवियत सघ की तरफ बढी है, इन हिस्सो की आबादी और भी ज्यादा तेजी से बढी है और इसमे नये आर्थिक ढाचे का और कुछ दूसरी बातो का भी असर रहा है—विज्ञान की जानकारी का, शिक्षा का, सफाई का, सार्वजनिक स्वास्थ्य का। पूरब की तरफ फैलाव अभी चल रहा है और उसमे एशिया के कई देश आ जायेगे। इनमे से कुछ देशो को, मसलन हिंदुस्तान को, आबादी की बढती की जरूरत नही होगी, क्योकि दरअसल वह मौजूदा आबादी से कम मे ही ज्यादा खुशहाल हो सकेगा।

इस दौरान मे यूरोप मे आबादी के सिलसिले में एक उलटी प्रक्रिया चल रही है। वहा पैदाइश की औसत गिरने की समस्या ज्यादा अहम होती जा रही है। यह प्रवृत्ति चारो तरफ है और उसका असर दुनिया के बहुत-से देशो पर है। इसमे कुछ खास अपवाद हैं, जैसे चीन, हिंदुस्तान, जावा और सोवियत सघ। उद्योग-धधो के लिहाज से उन्नत देशो मे वह खासतौर से जाहिर होती है। कई साल पहले फ्रान्स की आबादी की बढती खत्म हो गई, और अब आबादी धीरे-धीरे कम होती जा रही है। इग्लैड मे पिछली सदी के उत्तरार्द्ध के बाद पैदाइश की रफ्तार बराबर कम होती रही है और फ्रान्स को छोडकर वह अब यूरोप मे सबसे कम है। जर्मनी और इटली मे पैदाइश की रफ्तार बढाने की हिटलर और मुसोलिनी की कोशिशो का नतीजा सिर्फ अस्थायी हुआ। उत्तरी, पच्छिमी और मध्य यूरोप मे दक्खिनी-पूरबी यूरोप के मुकाबले (सोवियत सघ को छोडकर) पैदाइश की रफ्तार ज्यादा तेजी से गिर रही है, लेकिन इन सभी हिस्सो मे प्रवृत्ति एक-सी है। मौजूदा प्रवृत्तियो के लिहाज से (सोवियत सघ को छोडकर) यूरोप की आबादी सन् १९५५ मे सबसे ज्यादा होगी और उसके बाद फिर उसमे कमी आ जायेगी। इसका लडाई की क्षति से कोई ताल्लुक नही है, लेकिन उस क्षति से गिरावट की तरफ झुकाव बढ जायेगा।

दूसरी तरफ, सोवियत सघ की आबादी बराबर बढती जा रही है और यह सभावना है कि सन् १९७० तक वह पच्चीस करोड से ज्यादा हो जायेगी। लडाई के नतीजे से जो प्रादेशिक रद्दोबदल होगी, उसकी बढ़वार इसमे शामिल नही है। इस आबादी की बढवार से और साथ ही तकनीकी और और तरह की तरक्की से वह यूरोप और एशिया मे लाज़िमी तौर पर एक बडी ताकत बन जायेगा। एशिया मे ज्यादातर बाते चीन और हिंदुस्तान की

औद्योगिक तरक्की पर निर्भर हैं। उनकी बडी आबादियां एक बोझ और कमज़ोरी हैं। हा, अगर उचित और उपयोगी ढंग से उनका सगठन हो सके, तो दूसरी बात हैं। ऐसा मालूम होता है कि यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतो के विस्तारवादी और आक्रामक ढग का ज़माना निश्चित रूप से खत्म हो चुका। ऐसा हो सकता है कि राजनैतिक सगठन से और उनकी जनता की योग्यता और कुशलता की वजह से दुनिया के मामलो मे उनकी अहम जगह रहे। लेकिन धीरे-धीरे उनकी गिनती बडी ताकतो मे नही रहेगी। अगर वे सामुदायिक ढग पर काम करे, तो शक्ल दूसरी होगी। "ऐसी सभावना नही मालूम देती कि उत्तरी-पच्छिमी या मध्य यूरोप का कोई राष्ट्र फिर दुनिया को चुनौती देगा। तेज़ी से तरक्की करती सभी देशो की जनता मे तकनीकी सभ्यता समा जाने की वजह से अपने पच्छिमी पडोसियो की तरह जर्मनी भी अब उस युग को पार कर गया है, जिसमे वह दुनिया की प्रधान ताकत हो सकता था।"[1]

कई पच्छिमी देशो और कौमो को वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति से बडी ताकत हासिल हुई है। इसकी बहुत ही कम सभावना है कि ताकत के इस सोते पर कुछ राष्ट्रो का ही एकमात्र अधिकार रहेगा। इसलिए दुनिया के एक बहुत बडे हिस्से पर यूरोप की आर्थिक और राजनैतिक हुकूमत लाज़िमी तौर से तेज़ी से घटेगी और वह यूरेशियाई महाद्वीप और अफरीका का सचालन-केंद्र नही रहेगा। इस बुनियादी सबब की वजह से पुरानी यूरोपीय ताकते शाति और अतर्राष्ट्रीय सहयोग के बारे मे अब ज्यादा सोच-विचार करेंगी और जहातक मुमकिन हो सकेगा, लडाई को टालेगी। जब ज़बरदस्ती के तरीको से महज़ तबाही दिखाई पडती हो, तो उनमे कशिश नही रह जाती। लेकिन दुनिया की उन ताकतो मे, जिनकी आज अहमियत है, दूसरो से सहयोग करने की प्रवृत्ति नही है। यह प्रवृत्ति नैतिक होनी चाहिए, लेकिन ताकत और नैतिकता का साथ बहुत कम होता है।

चारो तरफ पैदाइश के औसत के गिरने की वजह क्या है? सतति-निग्रह के उपायो के उपयोग और छोटे और सुनियन्त्रित परिवार बनाये रखने की इच्छा का कुछ असर तो हो सकता है, लेकिन आमतौर पर यह बात मानी जाती है कि इसकी वजह से बहुत ज्यादा फर्क नही पडा। आयरलैंड

[1] अमरीका के 'फॉरिन अफेयर्स' पत्र के अप्रैल, १९४४ अक मे फ्रैंक डबल्यू० नोटेस्टीन का 'पोपुलेशन एड पॉवर इन पोस्ट वार यूरोप' लेख। इटरनेशनल लेबर आफिस ने ई० एम० कुलिशेर का लिखा हुआ एक अध्ययन 'दि डिस्प्लेसमेंट ऑव पोपुलेशन इन यूरोप' (१९४३) प्रकाशित किया है।

एक कैथलिक देश है और शायद वहा सतति-निग्रह के साधनो का उपयोग नही है। लेकिन वहा पर पैदाइश की रफ्तार दूसरे देशो से पहले ही कम होनी शुरू हुई थी। शायद पच्छिम मे शादी को ज्यादा बडी उम्र मे करने की आदत भी एक वजह है। आर्थिक बातो का कुछ असर हो सकता है, लेकिन यह कोई खास असर नही है। यह आम जानकारी है कि अमीरो के मुक़ाबले आमतौर पर ग़रीबो मे सतानोत्पत्ति-सामर्थ्य ज्यादा है। इसी तरह शहरी हलको के मुकाबले यह सामर्थ्य देहाती हलको मे ज्यादा है। छोटे-से समुदाय के लिए ऊची हैसियत बनाये रखना आसान है और व्यक्तिवाद की तरक्क़ी से समुदाय या जाति की अहमियत कम हो जाती है। प्रोफेसर जे० बी० एस० हॉल्डेन का कहना है कि आमतौर पर बहुत-से सभ्य समाजो मे ऐसे लोगो मे, जिन्हे इज्ज़त हासिल है, आम जनता के मुकाबले उत्पादन-सामर्थ्य कम होती है। इस तरह ऐसा मालूम होता है कि जीव विज्ञान के लिहाज से ऐसे समाज पायदार नही हो सकते। बडे परिवारो मे अकसर अपेक्षाकृत नीचे दर्जे की बुद्धि पाई गई है। ऐसा समझा जाता है कि आर्थिक कामयाबी प्राणिशास्त्रिक वृद्धि के विपरीत चलती है।

गिरती हुई पैदाइश की रफ्तार की बुनयादी वजहों के बारे मे कोई खास जानकारी नही है। हा, कुछ वजहो का अदाज किया जाता है। ऐसा मुमकिन है कि उसके पीछे कुछ शरीर-विज्ञान के और प्राणिशास्त्र सबधित कारण हो। साथ ही औद्योगिक जातिया जिस ढग की जिंदगी बिताती हैं और जिस वातावरण मे उन्हे रहना होता है, इन दोनो बातो का भी असर मालूम देता है। अपूर्ण भोजन, शराबखोरी, बुरी शारीरिक और मानसिक तदुरुस्ती, अस्वास्थ्यकर परिस्थितिया—इन सबका जनन-शक्ति पर असर होता है। फिर भी बीमार और अधभूखी जातियो में, मसलन हिंदुस्तान में, पैदाइश की रफ्तार बहुत ज्यादा है। शायद आधुनिक जिंदगी की लगातार कश-मकश, फिक्र और प्रतियोगिता से भी उत्पादन-सामर्थ्य कम होती है। जिंदगी देनेवाली भूमि के छोडने से शायद काफी असर पडता है। अमरीका तक मे खेती से ताल्लुक रखनेवाले मजदूरो की उत्पादन-सामर्थ्य नौकरीपेशा लोगो के मुकाबले दूने से भी ज्यादा है।

ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक सभ्यता से, जो पच्छिम मे पैदा हुई और जो बाद मे और जगहो मे फैल गई, और साथ ही उस शहरी जिंदगी की वजह से, जो इस सभ्यता की विशेषता है, एक ग़ैर-पायदार समाज बनता है और धीरे-धीरे अपनी शक्ति खोता जाता है। जिंदगी कई हलको मे तरक्क़ी करती है, लेकिन उसकी बुनियाद ग़ायब होती जाती है, वह ज्यादा अस्वा-

भाविक हो जाती है और उसमे उतार आने लगता है। दिन-ब-दिन उत्तेजक चीज़ो की ज़रूरत बढती जाती है। सोने के लिए या और दूसरे मामूली कामो के लिए दवाइयो की ज़रूरत होती है। ऐसी खाने-पीने की चीज़ो का शौक होता है, जो जीभ को अच्छी महसूस होती हैं और थोडी देर को तबीयत खुश हो जाती है, लेकिन जिनसे शरीर का ढाचा कमज़ोर होता जाता है। क्षणिक उत्तेजना और खुशी की तरकीबो को काम मे लाया जाता है, लेकिन बाद मे उनकी प्रतिक्रिया होती है और खोखलापन महसूस होता है। चाहे उसकी कितनी ही शानदार शक्ल क्यो न हो और उसके कारनामे जो भी हो, लेकिन जो सभ्यता हमने बनाई है, वह जाली-सी मालूम देती है। हम उत्तेजक खादो से पैदा किये हुए उत्तेजक खाने को खाते हैं, हम उत्तेजक भावनाओ मे डूबे रहते है और हमारे इन्सानी रिश्ते ऊपरी सतह के नीचे शायद ही जाते हो। विज्ञापक हमारे युग के प्रतीको मे से एक हैं और उनकी लगातार और कर्कश कोशिशो से हम धोखे मे पड जाते हैं। वे कोशिशें हमारी चेतना-शक्ति को धुंधला कर देती हैं और हमको बे-ज़रूरी और कभी-कभी नुकसानदेह चीज़ो को खरीदने के लिए फुसलाती हैं। इस हालत के लिए मैं दूसरो को दोष नही दे रहा हू। हम सब इसी युग की उपज हैं और हममे इस पीढी की विशेषताए है। हम सब पर इस दोष या श्रेय की ज़िम्मेदारी है। यकीनी तौर पर मैं खुद इस सभ्यता का एक हिस्सा हू, जिसकी मैं आलोचना या तारीफ करता हू और दूसरे लोगो की तरह मेरे खयालो और कामो पर इसका असर है।

इस आधुनिक सभ्यता मे ऐसी क्या खराबी है, जिसकी वजह से जड मे जातियो के ज़वाल और बाझपने के चिह्न दिखाई देते हैं? लेकिन यह कोई नई चीज़ नही है। ऐसा पहले भी हुआ है और इतिहास ऐसी मिसालो से भरा हुआ है। अपने पतन के समय शाही रोम की हालत कही बदतर थी। क्या इस भीतरी ज़वाल का कोई चक्कर है? क्या हम उसका कारण खोजकर उसका उपाय कर सकते हैं? आधुनिक उद्योगवाद और समाज का पूजीवादी ढाचा—यही उसके एकमात्र कारण नही हो सकते, क्योंकि उनसे पहले अकसर ज़वाल आया है। हा, यह मुमकिन है कि उनकी मौजूदा शक्ल से एक उपयुक्त वातावरण बनता हो, एक ऐसी दुनियावी और दिमागी आबो-हवा बनती हो, जिसमे इन कारणो को पनपने मे आसानी होती हो। अगर बुनियादी कारण आध्यात्मिक हो या ऐसा हो, जिसका ताल्लुक़ आदमी की आत्मा और उसके मन से होता हो, तो हालाकि हम उसे समझने की कोशिश कर सकते हैं, लेकिन उसका पकड पाना मुश्किल

है। हा, उसका एहसास जरूर हो सकता है। लेकिन एक बात जरूर जाहिर है, जमीन से रिश्ता तोडना व्यक्ति और जाति दोनो के ही लिए बुरा है। जमीन और सूरज दोनो जिदगी के सोते हैं और अगर बहुत अरसे तक हम उनसे अलहृदा रहे, तो जिदगी ढलने लगती है। आधुनिक उद्योग-धर्वो में उन्नत जातियो का जमीन से कोई लगाव नही रहा है और वे उस आनद को महसूस नही करती, जो प्रकृति देती है और न उन्हे वह खूबसूरत तदुरुस्ती ही हासिल होती है, जो धरती-माता के सपर्क से मिलती है। लोग प्रकृति की खूबसूरती की बाते करते है और हफ्ते के आखिर मे कभी-कभी फ़ुरसत निकालकर उसकी तलाश मे जाते हैं और अपनी अस्वाभाविक ज़िदगी की देन को देहातो मे बिखेर आते हैं, लेकिन वे प्रकृति से घुल-मिल नही सकते और न वे अपने-आपको उसका हिस्सा ही महसूस कर सकते हैं। प्रकृति ऐसी चीज है, जिसको देखना चाहिए और जिसकी तारीफ करनी चाहिए—क्योकि ऐसा उनसे कहा जाता है—इसलिए उसे देखकर, वे एक चैन की सास लेते हुए अपने रोजमर्रा के ढर्रे पर आ जाते हैं। यह सब ठीक उसी तरह होता है, जैसे वे किसी सनातन-साहित्य के कवि या लेखक की तारीफ करने की कोशिश करें और फिर उस कोशिश से थककर अपनी तबीयत के उपन्यास या जासूसी कहानी पर वापस आ जायें, जहा दिमाग को मेहनत नही करनी पडती। पुराने हिंदुस्तानियो या यूनानियो की तरह वे प्रकृति की सतान नही हैं, बल्कि वे तो ऐसे अजनबी-जैसे हैं, जो जैसे दूर के किसी रिश्तेदार के न्योते की बला टालते हो। उन्हें प्रकृति के सपन्न जीवन और अनत रूप का आनद अनुभव नही होता और न उस सजीव जीवन की ही अनुभूति होती है, जो हमारे पुरखो के लिए सहज थी। तब उसमे क्या ताज्जुब है कि प्रकृति उनको सौतेली सतान की तरह बरते?

हम उस पुराने नजरिये पर, जो इस सारे ससार को ब्रह्ममय मानता है, वापस नही जा सकते। फिर भी हम प्रकृति के रहस्य का अनुभव कर सकते हैं, उसके जिदगी और खूबसूरती के गाने को सुन सकते हैं और उससे शक्ति सन्चय कर सकते हैं। वह गाना सिर्फ किन्ही खास जगहो पर ही नही गाया जाता है और अगर हममें योग्यता हो, तो हम उस गाने को हर जगह सुन सकते हैं। लेकिन कुछ ऐसी जगहे हैं, जहा प्रकृति उन लोगो को भी मुग्ध कर देती है, जिनमे उसकी योग्यता नही है और उसका स्वर किसी दूर के साज-सगीत की गभीर ध्वनि-जैसा लगता है। ऐसी इनी गिनी जगहो में से काश्मीर एक है, जहा खूबसूरती बसी हुई है, और जहा चेतन-शक्ति पर चुपचाप मोहिनी पड़ जाती है। फ्रान्सीसी विद्वान एम० फूशर ने काश्मीर

के बारे मे अपने लेख मे कहा है—"मेरी दृष्टि मे काश्मीर की विशेष मोहिनी की जो असली वजह है, मैं उसे कहना चाहता हू—उस मोहिनी की, जिसकी हर एक को तलाश है, यहातक कि उसको भी, जो उसका विश्लेषण नही करता। वह मोहिनी सिर्फ इस वजह से नही हो सकती कि वहा के जगल खूबसूरत हैं, वहा की झीलें निर्मल जल से भरी हुई हैं, उसकी बर्फीली पहाडी चोटिया शानदार है या वहा की ठडी धीमी हवा मे उसके अनगिनत झरनो की प्यारी आवाज़ समाई हुई है। न उसकी वजह पुरानी इमारतो की शान या उनका वैभव है, यद्यपि करेवा की अग्रभूमि पर मार्तंड के खडहर उसी गर्व के साथ खडे हुए हैं, जिस तरह पहाडी के अग्रभाग पर खडा कोई यूनानी मदिर हो, या जैसे दस पत्थरो के कटाव पर बना हुआ पयार का छोटा-सा मडप है, जिसमे लाइसिक्रेटीज़ की प्रमुख मूर्त्तियो मे सर्वोच्च श्रेणी का अनुपात है। कोई यह भी नही कह सकता कि इस मोहिनी की वजह कला और वातावरण का मिलाप है, क्योकि कई दूसरे देशो मे भी सुरम्य स्थानो मे खूबसूरत इमारतें बनी हुई हैं। लेकिन जो चीज़ सिर्फ काश्मीर मे ही मिलती है, वह यह है कि ये दोनो सुषमाए एक साथ ऐसी जगह पाई जाती हैं, जहा प्रकृति मे अब भी रहस्यमयी जीवन की प्रेरणा है, जहा प्रकृति हमारे अतरग से बात करना जानती है और हमारे नास्तिक ततुओ को भी हिला देती है और चेतन या अचेतन रूप मे हमे उस विगत काल मे, जिसका कवियो को मलाल है, ले जाती है, जब दुनिया का शैशव था और 'जब देवभूमि मे स्वर्ग और धरती साथ-साथ विचरण करते थे और सास लेते थे'।"

लेकिन काश्मीर की तारीफ करना मेरा मकसद नही है, हालाकि कभी कभी इसके प्रति मेरा पक्षपात मुझे भटका देता है। न मेरा इरादा दुनिया के ब्रह्ममय होने के हक मे दलील पेश करने का ही है—मैं तो इस हद तक नास्तिक ज़रूर हू कि मैं यकीन करता हू कि नास्तिकता का सपुट शरीर और मन के फायदे मे होता है। मैं ऐसा ज़रूर सोचता हू कि वह ज़िदगी, जो ज़मीन से पूरी तरह अलहदा है, आखिरकार मुरझा जायेगी। ठीक है, इस ढग से पूरी तरह विच्छेद कभी नही होता और प्रकृति की प्रक्रियाओ मे समय लगता है। लेकिन आधुनिक सभ्यता की यह कमज़ोरी है कि वह दिन-ब-दिन ज़िदगी देनेवाले सोतो से अलहदा होती जा रही है। आधुनिक पूजीवादी समाज की प्रतियोगिता और अधिग्रहण की विशेषताओ से सपत्ति को सब चीज़ो से ऊपर जगह देने की वजह से दिमागी तदुरुस्ती खराब होती है, और एक ऐसी हालत हो जाती है कि नाडियो मे एक अस्वाभाविक उत्तेजना आ जाती है। एक ज़्यादा अक्लमद और समतोलवाले आर्थिक ढाचे से ही

इन हालतो मे सुधार होगा। फिर भी यह जरूरी होगा कि जमीन और प्रकृति से ज्यादा जीता-जागता सपर्क हो। इसके मानी ये नही कि पुराने सकरे मानी मे हम जमीन और खेती पर वापस आयेंगे, या हमारी ज़िंदगी का ढर्रा वैसा ही हो जायेगा, जैसा आदि-काल मे था। इस तरह का इलाज तो बीमारी से भी बदतर होगा। आधुनिक उद्योग का सगठन इस ढग का होना चाहिए कि मर्द और औरतें जमीन से ज्यादा-से-ज्यादा निकट सपर्क मे हो, और साथ ही देहाती हलको का सास्कृतिक दर्जा ऊचा हो। शहरो और देहातो दोनो मे ही ज़िंदगी की सहूलियतें होनी चाहिए, ताकि दोनो मे ही शारीरिक और मानसिक तरक्की का पूरा मौक़ा हो और दोनो ही जगह ज़िंदगी के हर पहलू की तरक्की हो सके।

मुझे इसमे शक नही है कि यह किया जा सकता है। बस जरूरत इस बात की है कि लोगो मे करने की ख्वाहिश हो। मौजूदा वक्त मे, ज्यादा लोगो मे इस ढग की ख्वाहिश नही है। हमारी ताकत (एक-दूसरे की जान लेने के अलावा) उत्तेजक पदार्थ और उत्तेजक मनोरजन की चीजें बनाने मे लगी हुई हैं। इनमे से ज्यादातर के खिलाफ मुझे कोई बुनियादी ऐतराज नही है और कुछ को तो मैं अच्छा भी समझता हू, लेकिन उनमे जो वक्त लगता है, उसका बेहतर इस्तेमाल हो सकता है। हा, एक बात और है कि उन चीजो से ज़िंदगी का नजरिया गलत बन जाता है। कारखाने मे बनी हुई खादो की बहुत माग है, और मेरा खयाल है कि अपने ढग से वे फायदेमद भी हैं। लेकिन यह बात मुझे अजीब-सी मालूम होती है कि इन खादो के जोश की वजह से लोग कुदरती खाद को भुला दें, यहातक कि उसे बरबाद कर दें और फेंक दें। जहातक राष्ट्र का सवाल है, सिर्फ चीन ने ही इतनी समझ दिखाई है और कुदरती खाद का पूरा-पूरा इस्तेमाल किया है। कुछ विशेषज्ञो का कहना है कि कृत्रिम खाद से असर तो बहुत तेजी से दिखाई देता है, लेकिन उससे जमीन कमजोर हो जाती है और इस तरह वह बजर हो जाती है। जो बात हमारी व्यक्तिगत जिंदगी के साथ है, वह जमीन के साथ है। हम मोमबत्ती को दोनो सिरो से जला रहे हैं। हम उसकी दौलत को तेजी से ले रहे हैं और बदले मे करीब-करीब कुछ नही दे रहे हैं।

रासायनिक प्रयोगशाला मे करीब-करीब हर एक चीज़ को बनाने की हमारी योग्यता बढती जा रही है और हमको इसका गर्व है। भाप के युग से हम बिजली के युग पर आये, और अब हम प्राणदा-प्रक्रिया के और इलेक्ट्रानिक-युग तक आ गये है। सामाजिक-विज्ञान का युग भविष्य मे दिखाई देता है, और हमे ऐसी उम्मीद मालूम पडती है कि वह उन गहरे मसलो

को, जो हमें परेशान कर रहे हैं, हल कर सकेगा। हमको यह भी बताया जाता है कि हम लोग मैगनेशियम-अल्युमिनियम युग के प्रवेश द्वार पर हैं, और चूंकि ये दोनों धातुएं हर जगह बेहद तादाद में पाई जाती हैं, इसलिए इनकी किसीको भी कमी न होगी। नया रसायन-शास्त्र मनुष्य-जाति के लिए एक नया जीवन तैयार कर रहा है। हम एक ऐसे युग में हैं, जब मानव जाति का शक्ति-स्रोत बेहद बढ़नेवाला है। हर ढंग के युगांतरकारी आविष्कार निकट भविष्य में प्रकट होने के लिए मंडरा रहे हैं।

इन सबसे बड़ी तसल्ली होती है, लेकिन मेरे दिमाग में एक शक पैदा होता है। हमारी तकलीफ ताकत की कमी की वजह से नहीं है, बल्कि वह उस ताकत के, जो हमारे पास है, इस्तेमाल की वजह से है। विज्ञान ताकत देता है, लेकिन उसका खुद कोई मकसद नहीं है. वह अव्यक्तिगत है और उसका इस बात से कोई ताल्लुक नहीं कि हम उसके दिये हुए ज्ञान का किस तरह इस्तेमाल करते हैं। उसकी जीत आगे भी जारी रह सकती है, लेकिन अगर वह कुदरत की बहुत ज्यादा अवहेलना करता है, तो कुदरत उससे बदला ले सकती है। जिस वक्त जिंदगी बाहरी कद में बढ़ती मालूम देती है, वह अंदर-ही-अंदर किसी ऐसी चीज की कमी की वजह से मुरझा सकती है, जिसकी खोज विज्ञान अभीतक नहीं कर पाया है।

१५ : एक पुरानी समस्या के लिए नया तरीका

इस जमाने का दिमाग, यानी आज का ऊंचे दर्जे का दिमाग, व्यवहारिक है और कौशल-युक्त है, नैतिक है और सामाजिक है, परोपकारी है और मानववादी है। उसका संचालन सामाजिक उन्नति के अमली आदर्शवाद से होता है। उसके पीछे काम करनेवाले आदर्श जमाने की रविश की—युग-धर्म की—नुमाइंदगी करते हैं। पुराने लोगों के दार्शनिक ढंग को, उनकी अंतिम सत्य की खोज को, बहुत हद तक छोड़ दिया गया है। साथ ही मध्य युग का भक्तिवाद और रहस्यवाद भी छोड़ दिया गया है। उसका ईश्वर है मानवता, और उसका धर्म है समाज-सेवा। यह धारणा भी अपूर्ण हो सकती है, क्योंकि हर युग का मस्तिष्क अपने वातावरण में सीमित रहता है और हर युग ने आंशिक सत्य को ही संपूर्ण सत्य की कुंजी समझा है। हर पीढ़ी में, हर जनता में, यह झूठा खयाल रहा है कि सिर्फ उसीका नजरिया बिलकुल सही है या ज्यादा-से-ज्यादा सही है। हर संस्कृति का एक अपना मूल्यांकन होता है, जो उस संस्कृति से सीमित होता है और उससे बना हुआ होता है। उस संस्कृति को माननेवाले लोग इस कीमत को पत्थर की लकीर समझने लगते हैं और उसको एक स्थायी महत्ता दे देते हैं। इसी तरह शायद हमारी वर्तमान

संस्कृति का मूल्यांकन स्थायी और अंतिम न हो। फिर भी हमारे लिए उसकी एक खास अहमियत है, क्योंकि वह हमारे युग की भावना की नुमाइंदगी करता है। कुछ दूरदर्शी और मेधावी लोगों के सामने मानव-जाति का और विश्व का ज्यादा पूरा नकशा हो सकता है। वे उस तत्त्व के बने हुए होते हैं, जिससे सारी सच्ची तरक्की होती है। जनता का अधिकांश मौजूदा मूल्यांकन को समझ नहीं पाता। हालांकि वह उसके बारे में उस वक्त की हवा की वजह से बातें बहुत करता है, लेकिन वह गुज़रे ज़माने की बातों में फंसा रहता है।

इसलिए हमको अपने युग के सबसे ऊंचे आदर्शों के बमूजिब काम करना चाहिए। हां, हम उनमें अपने राष्ट्रीय संस्कारों को जोड़ सकते हैं, या उन आदर्शों को उनके अनुरूप बना सकते हैं। उन आदर्शों का वर्गीकरण, दो शीर्षकों में हो सकता है—मानववाद और वैज्ञानिक स्वभाव। इन दोनों के बीच में ज़ाहिरा काफी झगड़ा रहा है, लेकिन आजकल विचारों की उस जबरदस्त उथल-पुथल से, जिसमें सारे मूल्यांकन कसौटी पर कसे जा रहे हैं इन दोनों की पुरानी सरहदें हट रही हैं। इसी तरह विज्ञान की बाहरी दुनिया में और अन्तर्दृष्टि की अंदरूनी दुनिया में उस उथल-पुथल की वजह से सीमाएं टूट रही हैं। मानववाद और वैज्ञानिक स्वभाव—दोनों में समन्वय बढ़ रहा है, और एक ढंग का वैज्ञानिक मानववाद पैदा हो रहा है। विज्ञान, हालांकि प्रकट सचाइयों से चिपटा हुआ है, दूसरे क्षेत्रों में भी घुसने की तैयारी में है, कम-से-कम अब अवहेलना के साथ उनको नामंजूर नहीं करता। हमारी पांच इंद्रियां और उनके ज्ञान-क्षेत्र में, ज़ाहिर है, यह सारा विश्व नहीं आता। पिछले पच्चीस बरसों में भौतिक दुनिया के बारे में वैज्ञानिक के दिमागी नक़शे में काफ़ी तब्दीली हुई है। विज्ञान की दृष्टि में मनुष्य और प्रकृति क़रीब-क़रीब दो अलग चीजें थीं। लेकिन अब सर जेम्स जीन्स बताते हैं कि विज्ञान का सार यह है कि "मनुष्य अब प्रकृति को अपने से पृथक नहीं देखता।" और तब वही पुराना सवाल, जो उपनिषद के विचारकों के मन में उठा था, सामने आता है—ज्ञाता को किस तरह जाना जा सकता है? बाह्य जगत को देखनेवाली आंखें अपने-आपको कैसे देख सकती हैं? बाह्य आंतरिक का ही हिस्सा है, और जो कुछ हम देखते हैं या सोचते हैं, वह सब हमारे मस्तिष्क का ही प्रकटीकरण है और विश्व और प्रकृति और आत्मा और मन और शरीर, अंतरंग और बहिरंग सब बुनियादी तौर पर एक ही चीज है, तो हम अपने दिमाग के संकीर्ण घेरे में इस विशाल योजना को किस तरह समझेंगे! विज्ञान ने इन समस्याओं पर ध्यान देना शुरू कर दिया है और चाहे वे उससे हल न हो पायें, फिर भी आज का

जिज्ञासु वैज्ञानिक पुराने युग के दार्शनिक और धार्मिक व्यक्तियो की ही प्रतिमूर्त्ति है। प्रोफेसर एल्बर्ट आइन्स्टीन कहते हैं—"हमारे इस जडवाद के युग मे सिर्फ जिज्ञासु वैज्ञानिक अन्वेषको मे ही गहरी धार्मिकता है।"[1]

इस सबसे विज्ञान मे एक पक्का विश्वास मालूम देता है, फिर भी यह जरूर है कि उद्देश्यहीन और प्रकट सचाइयो से ही सबधित विज्ञान काफी नही है। क्या जीवन के उपकरण देते समय विज्ञान जीवन के लक्ष्य की अवहेलना कर रहा था? प्रकट सचाइयो की दुनिया मे सामजस्य पाने की कोशिश हो रही है, क्योकि धीरे-धीरे यह बात ज्यादा साफ होती जा रही थी कि पहली चीज़ पर ज़रूरत से ज्यादा ध्यान देने की वजह से आदमी की आत्मा कुचली जा रही है। जिस सवाल ने पुराने दार्शनिको को परेशान किया था, वह एक नई शक्ल मे और एक नये सदर्भ मे फिर सामने आ गया है। दुनिया के बाह्य जीवन, का व्यक्ति के आतरिक आध्यात्मिक जीवन से किस तरह मेल बिठाया जाये? अब चिकित्सक इस नतीजे पर पहुच गये हैं कि व्यक्ति के या समूचे समाज के शरीर का इलाज ही काफी नही है। इधर कुछ बरसो से, उन डाक्टरो ने जो मानसिक शरीर-विज्ञान से परिचित हैं, कर्मकी और कायिक बीमारियोकी विषमता पर ज़ोर देना छोड दिया है और अब वे मनोवैज्ञानिक पहलू पर ज्यादा ज़ोर देते हैं। प्लेटो ने लिखा था—"बीमारी के इलाज मे सबसे बडी खामी यह है कि शरीर की चिकित्सा करनेवाले भी हैं और मनकी भी, फिर भी दोनो ही एक हैं और अविभाज्य हैं।"

सबसे ज्यादा मशहूर और बडे वैज्ञानिक आइन्स्टीन हमको बताते हैं कि "आज पहले युगो की अपेक्षा आदमी का भाग्य नैतिक शक्ति पर अधिक निर्भर है। हर जगह आनद और आह्लाद का साधन है त्याग और आत्मसयम।" विज्ञान के इस गर्वीले युग से वह अचानक हमको पुराने दार्शनिको के युग मे ले पहुचते हैं। शक्ति की कामना और मुनाफे की नीयत से वह हमको उस परित्याग की भावना पर पहुचा देते है, जिससे हिंदुस्तान सुपरिचित है। शायद आज के बहुत-से वैज्ञानिक उनकी बात को नही मानेंगे, और न वे उनके इस कथन से ही सहमत होगे कि "मुझे पक्का यकीन है कि दुनिया की कोई भी दौलत मानवता को आगे नही बढा सकती, चाहे वह दौलत आदर्श के लिए जी-जान से काम करनेवालो के ही हाथो मे क्यो न हो। पवित्र और महान व्यक्तियो के उदाहरण से ही सुदर विचारो या श्रेष्ठ

[1] पचास बरस पहले स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि आधुनिक विज्ञान सच्ची धार्मिक भावना का प्रकटीकरण है, क्योकि उससे सत्य को सच्ची लगन से समझने की कोशिश है।

कामो की प्रेरणा हो सकती है। धन तो सिर्फ स्वार्थ को रचता है और वह मालदार आदमियो मे उसके दुरुपयोग का जबरदस्त लोभ जगाता है।"

यह सवाल सभ्यता के सामने आदिकाल से रहा है। आज इसका सामना करने मे विज्ञान को कई ऐसी सहूलियतें हैं, जो पहले दार्शनिको को नही थी। उसके पास सग्रहीत ज्ञान का भडार है और एक ऐसा ढग है, जो उचित रूप से कारगर है। उसने कई ऐसे प्रदेशो का नकशा बनाया है और उनकी खोज की है, जिनसे पुराने लोग परिचित नही थे। चूकि उसने आदमियो की समझ को और चीजो पर उसके नियत्रण को बढा दिया है, इसलिए वे अब उसके लिए रहस्य नही रह गई, और उनकी वजह से धर्म के पुजारी उनका नाजायज फायदा नही उठा सकते। लेकिन उसकी कई कमिया भी हैं। सग्रहीत ज्ञान के ही बाहुल्य के कारण मनुष्य के लिए सपूर्ण का समन्वयकारी दृष्टिकोण बनाना कठिन हो गया है और वह खुद अपने-आप को उनके किसी हिस्से मे खो बैठता है। वह उसका विश्लेषण करता है, उसका अध्ययन करता है, कुछ हद तक उसे समझता है, लेकिन सपूर्ण से उसका सबध देख पाने मे नाकामयाब रहता है। विज्ञान ने जो बेहद ताकत व्यक्त की है, उसकी वजह से मनुष्य घबरा जाता है, वह ताकत उसे आगे बढाये ले जाती है और अकसर वह अपनी अनिच्छा से अनजाने किनारे पर पहुच जाता है। आधुनिक जिंदगी की रफ्तार से, लगातार एक के बाद दूसरे सकट से सत्य के शात अनुसधान मे रुकावट होती है। अक्ल खुद इधर-उधर धकेल दी जाती है और वह आसानी से उस गभीरता को और उस अनासक्त दृष्टिकोण को नही खोज पाती, जो सच्ची समझ के लिए बहुत जरूरी है। "क्योकि ज्ञान का मार्ग गभीर है और उसके स्वभाव मे उद्वेग नही है।"

शायद हम मानव-जाति के एक महायुग मे रह रहे हैं, और इस सौभाग्य की हमको कीमत देनी होगी। हर महायुग मे सघर्ष और अस्थिरता की भरमार होती है, पुरानी व्यवस्था को छोडकर नई के लिए कोशिश होती है। पायदारी, हिफाजत, अपरिवर्तनशीलता-जैसी कोई चीज नही है, क्योकि तब तो खुद जिंदगी ही खत्म हो जायेगी। ज्यादा-से-ज्यादा हम एक सापेक्षिक स्थिरता और गतिशील सतुलन की तलाश कर सकते हैं। जिंदगी मनुष्य की मनुष्य के खिलाफ, मनुष्य की अपने वातावरण के खिलाफ लगातार लडाई है। यह लडाई भौतिक, बौद्धिक और नैतिक सतह पर है और इसमे नई चीजो का नकशा बनता है और नये विचार उगते हैं। रचना और बरबादी साथ-साथ चलते हैं और प्रकृति के दोनो पहलू हमेशा दिखाई देते हैं। जिंदगी तो तरक्की का ही सिद्धात है, निश्चलता का नही। उसमे गति-

शीलता बराबर बनी रहती है और उसमे गतिहीन हालत का मौका नही है।

आज राजनीति और अर्थ-शास्त्र की दुनिया मे ताक़त की तलाश है, लेकिन जब ताकत आ जाती है, तो दूसरी चीजे, जिनकी बहुत कीमत है, हट जाती है। आदर्शवाद की जगह राजनैतिक चाले और दाव-पेच आ जाते हैं। निस्स्वार्थ हिम्मत की जगह बुज़दिली और खुदगरजी आ जाती है। तत्त्व की जगह ऊपरी शक्ल रह जाती है और ताकत, जिसके लिए इतनी उत्सुक तलाश थी, अपने मकसद पर पहुचने मे नाकामयाब होती है। वजह यह है कि ताकत की अपनी खामिया हैं और शक्ति अपने ऊपर ही आ टूटती है। दोनो मे से कोई आत्मा का नियत्रण नही कर सकती। हा, वे उसे सख्त या खुरदरा बना सकती हैं। कनफ्यूशस ने कहा है—"तुम फौज मे सेनापति को अलग कर सकते हो, लेकिन छोटे-से-छोटे आदमी को उसकी इच्छा शक्ति से अलग नही कर सकते।"

अपनी आत्म-कथा मे जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा—"मुझे अब पक्का यकीन है कि मानव-जाति की हालत मे अब कोई खास सुधार मुमकिन नही है। अगर उनके खयाल के ढग के बुनियादी ढाचे मे कोई बडी तब्दीली हो जाये, तो बात दूसरी है।" फिर भी सोचने के ढग मे बुनियादी तब्दीली जिंदगी की लगातार की लडाई के साथ जो दर्द और तकलीफ होती है, उससे, और बदलते हुए वातावरण से होती है। और इस तरह हालाकि हम इस सोचने के ढग मे सीधी तौर पर तब्दीली कर सकते हैं, लेकिन उससे भी ज्यादा जरूरी उस वातावरण मे परिवर्तन है, जिसमे वे ढग पैदा हुए और पनपे। दोनो एक-दूसरे पर निर्भर हैं और एक दूसरे पर असर डालते हैं। हर आदमी का दिमाग अलग-अलग ढग का है और हर एक दिमाग सत्य को अपने ढग से देखता है और वह अक्सर दूसरे के नजरिये को समझ नही पाता। उसी वजह से झगडा होता है। उस आपसी रगड का एक दूसरा नतीजा भी है और वह यह कि उससे ज्यादा भरा-पूरा और ज्यादा व्यवस्थित सत्य सामने आता है। वजह यह है कि हमको यह महसूस करना है कि सत्य के कई पहलू हैं और उस सत्य पर किसी एक आदमी या किसी एक राष्ट्र का ही एकमात्र अधिकार नही है। यही बात काम करने के ढग के बारे मे है। अलग-अलग हालतो मे अलग-अलग आदमियो के लिए अलग-अलग ढग हो सकते हैं। हिंदुस्तान ने, चीन ने और साथ ही कई दूसरे राष्ट्रो ने अपने जीवन की अपनी शैली बनाई और उसको एक मजबूत बुनियाद पर खडा किया। उनका ऐसा खयाल था और अब भी बहुत-से लोगो का ऐसा निरर्थक खयाल है कि सिर्फ उनकी शैली ही सही थी। आज यूरोप और अमरीका ने अपने जीवन की एक निजी शैली बनाई है और यह शैली आज की दुनिया मे प्रमुख है।

वहा के लोगो का खयाल है कि सिर्फ यही सही ढग है। शायद इनमे से कोई भी शैली अकेली ही सही या वाछनीय नही है और उनमे से हर एक शैली हर दूसरी से कुछ-न-कुछ सीख सकती है। यकीनन हिंदुस्तान को और चीन को बहुत-कुछ सीखना है, क्योकि वे गतिहीन हो गये थे, और पच्छिम सिर्फ युग-भावना का ही प्रतिनिधि नही है, बल्कि वह गतिशील है, परिवर्तनशील है और उसमे उन्नति की सामर्थ्य है। हा, यह बात जरूर है कि इस उन्नति का रास्ता आत्म-विध्वस और मानव-बलिदान के बीच मे से होकर है।

हिंदुस्तान मे और शायद दूसरे देशो मे भी आत्म-वैभव और आत्म-दैन्य की प्रवृत्तिया क्रम से दिखाई देती हैं। दोनो ही अवाछनीय हैं और हेय हैं। भावुकता से जिंदगी को नही समझा जा सकता। उसके लिए जरूरी यह है कि बिना हिचकिचाहट के हिम्मत के साथ असलियत का मुकाबला किया जाये। हम अपने-आपको ऐसे मसलो की तलाश मे, जिनका जिंदगी से कोई ताल्लुक नही है, छोड नही सकते। वजह यह है कि घटनाए होती जाती है और वे हमारी फुरसत का इतजार नही करती। न यही मुमकिन है कि हमारा नाता सिर्फ बाहरी चीजो से रहे और हम आदमी की अदरूनी जिंदगी की, अहमियत को भुला दे। एक समतोल की जरूरत है—एक ऐसी कोशिश की जो दोनो मे सामजस्य स्थापित कर दे। सत्रहवी सदी मे स्पिनोजा ने लिखा था—"मन का सारी प्रकृति मे जो सम्मिलन है, उसका ज्ञान ही सर्वोत्तम हित है। . उसको मन जितना ज्यादा जानता जाता है, उतनी ही ज्यादा आसानी उसको अपनी ताकतो और प्रकृति के ढर्रे को समझने मे होती है, प्रकृति के ढर्रे को वह जितना ज्यादा समझता जाता है, उतनी ही आसानी उसे अपने-आपको बेकार की चीजो से आजाद करने मे होगी। यही सारी प्रक्रिया है।"

अपनी व्यक्तिगत जिंदगी मे भी हमको शरीर और आत्मा मे और उस मनुष्य मे, जो प्रकृति का अग है और उस मनुष्य मे, जो समाज का अग है, सतुलन खोजना पडता है। रवीद्रनाथ ठाकुर ने कहा है—"अपनी पूर्णता के लिए हमको पूरी तरह जगली होना पडता है और मन से परिष्कृत होना पडता है, हममे यह कौशल होना चाहिए कि हम प्रकृति के साथ प्राकृतिक हो सके और मानव-समाज मे मानव हो।" पूर्णता हमसे परे की चीज है, क्योकि उसके मानी होते हैं अत। हम तो बराबर सफर कर रहे हैं और हम बराबर ऐसी चीज तक पहुचने की कोशिश कर रहे है, जो बराबर पीछे हटती जा रही है। हममे से हर एक मे कई मानव हैं—अलग-अलग और परस्पर विरोधी। सब अलग-अलग दिशाओ मे खीचते हैं। जिंदगी से मुहब्बत भी है, झुझलाहट

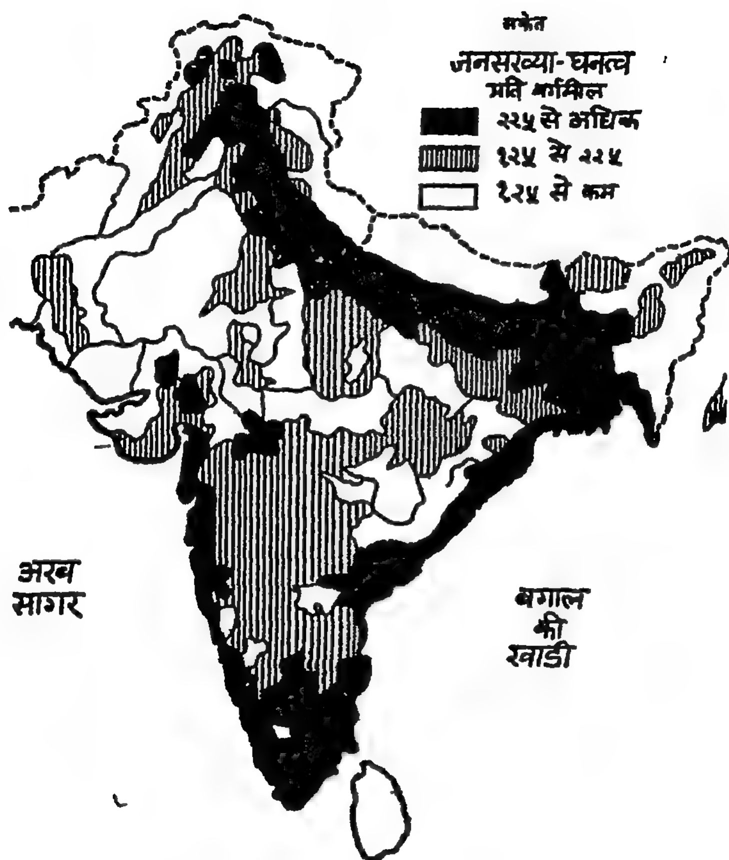
भी है। ज़िंदगी की सारी चीजों की मंजूरी भी है और उसकी ज्यादातर चीजों से इन्कार भी है। इन विरोधी प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करना मुश्किल है, और कभी एक हावी होती है, तो कभी दूसरी। लाओत्से ने कहा है—"अक्सर मनुष्य जीवन का रहस्य देखने के लिए अपने-आपको कामना से पृथक कर लेता है और अकसर कामना के बहु-अंगी परिणामों को देखने के लिए वह जीवन और कामना को मिला लेता है।"

संग्रहीत ज्ञान, अनुभव, समझ और तर्क की सारी ताकतों के होते हुए भी हम जिंदगी के रहस्य के बारे में करीब-करीब कुछ नहीं जानते और उस की रहस्यभरी प्रक्रियाओं की सिर्फ कल्पना ही किया करते हैं। लेकिन उसकी खूबसूरती को हम समझ सकते हैं और कला के जरिये हम ईश्वर के ही ढंग से सृजनात्मक काम कर सकते हैं। हम कमजोर और गलती करनेवाले इन्सान हो सकते हैं, जिनकी ज़िंदगी का फैलाव छोटा और अनिश्चित है, फिर भी हममें देवताओं का भी कुछ अंश है। इसलिए अरस्तू ने कहा है—"जो हमको इसलिए विवश करते हैं कि हम इन्सान हैं, मर्त्यलोक के प्राणी हैं और हमारी विचारधारा इन्सानों की-सी है, तो हमको उनकी आज्ञा का पालन नहीं करना चाहिए। जहां तक मुमकिन हो सके, हमको अमरत्व बरतना चाहिए और अंतर्निहित सर्वोत्तम के अनुसार जीवन बिताने की कोशिश में कोई कसर बाकी नहीं रखनी चाहिए।"

१६ : उपसंहार

इस लेख-माला को शुरू किए हुए करीब पांच महीने हो गये, और मैंने अपने दिमाग में भरे हुए खयालों से लिखावट के हजार सफे भर दिये हैं। पांच महीनों मैंने गुजरे जमाने की सैर की है और भविष्य में झांका है, और कभी-कभी "उस बिंदु पर, जहां समय का अनंत से मेल होता है", मैंने अपने को टिकाने की कोशिश की है। इन महीनों में दुनिया में बड़ी-बड़ी घटनाएं हुई हैं और जहांतक फौजी जीत का सवाल है, लड़ाई जीत की मंजिल की तरफ तेजी से बढ़ गई है। मेरे अपने देश में भी काफी घटनाएं हुई हैं और मैं उनके लिए सिर्फ एक तमाशबीन था, और कभी-कभी दूर की लहरें थोड़ी देर के लिए मेरे ऊपर आ गईं और फिर आगे बढ़ गईं। विचार करने और अपने विचारों को किसी रूप में प्रकट करने के व्यापार की मदद से मैंने अपने-आपको मौजूदा वक्त की चुभती हुई धार से अलहदा रखा है और मैं भूत और भविष्य के विस्तृत क्षेत्र में घूमता रहा हूं।

लेकिन, इस सैर का कहीं खात्मा होना चाहिए। चाहे इसके लिए कोई दूसरी वजह काफी न होती, लेकिन अब तो एक असली दिक्कत सामने है



भारत—जनसंख्या का घनत्व

और उसको भुलाया नही जा सकता। बडी मुश्किल से जितने कागज़ का मैं इतज़ाम कर पाया था, अब वह करीब-करीब खत्म हो चुका है और अब कागज़ मिलना आसान नही है।

हिंदुस्तान की खोज—मैं क्या खोज कर पाया हू ? यह कल्पना करना कि मैं उसे परदे से बाहर ला सकूगा और उसके वर्तमान और अति प्राचीन युग के स्वरूप को देख पाऊगा, एक अनाधिकार चेष्टा थी। आज उसमे चालीस करोड अलग-अलग स्त्री और पुरुष हैं। सब एक दूसरे से भिन्न हैं और हर एक व्यक्ति विचार और भावना की अपनी दुनिया मे रहता है। जब मौजूदा ज़माने मे ही यह बात है, तब उस गुज़रे ज़माने की गिरफ्त कर पाना तो कही ज्यादा मुश्किल होगा, जिसमे अनगिनत इन्सानो और अनगिनत पीढियो की कहानी है। फिर भी किसी चीज़ ने उन सबको एक साथ बाध रखा है और वह उन्हे अब भी बाधे हुए है। हिंदुस्तान की भौगोलिक और आर्थिक सत्ता है, उसमे विभिन्नता मे एक सास्कृतिक ऐक्य है और बहुत-सी परस्पर विरोधी बातें सुदृढ, किंतु अदृश्य धागो से, एक साथ गुथी हुई हैं। बार-बार आक्रमण होने पर भी उसकी आत्मा कभी जीती जा नही सकी और आज भी—जब वह एक अहकारी विजेता का क्रीडा-स्थल मालूम होता है—उसकी आत्मा अपराजित है, अविजित है। एक पुरानी किंवदती की तरह उसमे एक पकड मे न आने का गुण है। ऐसा मालूम होता है कि कोई जादू उसके दिमाग़ पर छाया हुआ है। वह तो असल मे एक विचार है और एक गाथा है, एक कल्पनाचित्र है और स्वप्न है, किंतु है सच्चा सजीव और व्यापक। कुछ अधियाले पहलुओ की डरावनी झलक भी दिखाई देती है और हमको आरभिक युग की याद आती है, लेकिन साथ ही सपन्न और उजले पहलू भी हैं। उसका एक गुज़रा ज़माना है और कही-कही उससे शर्म महसूस होती है या नफरत होती है, उसमे ज़िद है और गलती भी है और कभी-कभी उसमे भावुक उद्विग्नता भी दिखाई देती है। फिर भी वह बहुत प्रिय है और उसके बच्चे, चाहे वे कही भी हो और चाहे वे कैसी भी परिस्थितियो में क्यो न हो, उसको भुला नही सकते। वजह यह है कि वह उन सबसे सबधित है और उसकी महानता और खामियो का उनसे ताल्लुक है। वे सब, जिन्होंने बेहद बडे परिमाण मे ज़िंदगी की कामना, खुशी और गलती को देखा है और जिन्होंने ज्ञान-कूप की थाह ली है, उसकी उन आखो से प्रतिबिंबित होते हैं। उनमे से हर एक उसकी ओर आकर्षित है, लेकिन हर एक के आकर्षण का सबब शायद जुदा-जुदा है और कभी-कभी तो उनके पास इसका कोई खास सबब भी नही है। हर एक को उसके बहुअगी व्यक्तित्त्व का एक


काश्मीरी
पंजाबी
सिंधी
राजस्थानी
गुजराती
हि न्दी
बंगला
उड़िया
मराठी
तेलगू
कन्नड़
मलयालम
तमिल
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
हिन्द महा सागर

भारत—प्रमुख भाषाएं

ालग पहलू दिखाई देता है। हर युग मे उसमे बडे आदमी और बडी स्त्रिया दा हुई है। सभी पुरानी परपरा को आगे ले चले हैं, लेकिन साथ ही न्होने उसे समय के अनुरूप बना लिया है। इस महान क्रम मे रवीद्रनाथ ाकुर भी थे। हालाकि वह मौजूदा ज़माने के स्वभाव और प्रवृत्तियो से रे हुए थे, लेकिन उनकी बुनियाद हिंदुस्तान के पुराने ज़माने मे थी। उन्होने ़द अपने अदर पुराने और नये का समन्वय किया। उन्होंने कहा—"मैं ़िदुस्तान से प्रेम करता हू। इसलिए नही कि मैं भौगोलिक आकार की पासना करता हू, न इसलिए कि सयोग से मेरी उसकी ज़मीन मे पैंदाइश ई, बल्कि इसलिए कि उसने अपनी श्रेष्ठ सतान को, ज्योतिर्मयी चेतना मे निकले हुए सजीव शब्दो को, समय की उथल-पुथल से सुरक्षित रखा है।" हुत-से लोग यही बात कहेगे, लेकिन दूसरे लोग उसके लिए अपने प्रेम का ोई दूसरा सबब बतायेंगे।

ऐसा मालूम होता है कि पुराना जादू अब हट रहा है और हिंदुस्तान ारो तरफ देख रहा है और मौजूदा वक्त के लिए सजग हो रहा है। उसमे ब्दीली होगी। लेकिन चाहे जो तब्दीली हो, पुराना जादू बना रहेगा और सके लोगो के दिलो पर अपना काबू बनाये रहेगा। उसकी पोशाक बदल ाकती है, लेकिन वह ज्यो-का-त्यो रहेगा। इस कडी, प्रतिकारवादी और सानेवाली दुनिया मे जो कुछ अच्छी, खूबसूरत और सच्ची है, उसे अपनाने ा उसको अपने ज्ञान-भडार से मदद मिलेगी।

आज की दुनिया ने बहुत कुछ हासिल किया है, लेकिन मानवता के ाति प्रेम की घोषणा के होते हुए भी उनकी बुनियाद उन खूबियो की जगह, ो आदमी को इन्सान बनाती हैं, नफरत और हिंसा पर ज्यादा रही है। ़डाई सचाई और इन्सानियत से इन्कार है। कभी-कभी ऐसा हो सकता ै कि लडाई का टालना मुमकिन न हो, लेकिन उसके नतीजे बहुत खतरनाक ़ोते हैं। उसमे सिर्फ आदमियो की जान ही नही ली जाती, बल्कि जान-ूझकर लगातार नफरत और झूठ का प्रचार किया जाता है और धीरे-धीरे े बातें लोगो की आम आदत हो जाती हैं। अपनी जिंदगी के बहाव मे नफरत और झूठ के इशारो पर चलना बहुत खतरनाक होता है। उससे ाक़त की बरबादी होती है, दिमाग सकरा और विकृत हो जाता है और सचाई को देखने मे रुकावट होती है। दुख की बात है कि आज हिंदुस्तान मे बहुत सख्त नफ़रत है। गुज़रा ज़माना हमारा पीछा करता है और मौजूदा ज़माना उससे भिन्न नही है। एक स्वाभिमानी जाति की शान पर जो बार-बार चोट की गई है, उसको भूलना आसान नहीं है। लेकिन खुशकिस्मती से

हिंदुस्तानियो मे नफरत की आदत नही है और जल्दी ही उनकी सद्वृत्तिया ऊपर आ जाती हैं।

जैसे ही आजादी के नये क्षितिज दिखाई देंगे, हिंदुस्तान फिर अपने स्वरूप मे आ जायेगा। उस वक्त भविष्य का आकर्षण इतना होगा कि ये पिछली मायूसिया और बेइज्जतिया निगाह से हट जायेंगी। आत्म-विश्वास के साथ वह आगे बढेगा और अपने-आप मे निष्ठा रखते हुए भी वह दूसरो से सीखने और उनके साथ मिल-जुलकर काम करने को उत्सुक होगा। आजकल वह पुराने रिवाजो की अध-भक्ति और विदेशी शैली के अधानुकरण के बीच मे लटका हुआ है। इनमे से किसी भी ढग से न तो उसे चैन ही मिल सकता है, और न तरक्की या जिंदगी ही हासिल हो सकती है। यह बात साफ है कि उसे अपने खोल से बाहर आना होगा और मौजूदा जमाने की कार्रवाइयो मे पूरा-पूरा हिस्सा लेना होगा। साथ ही यह बात भी बिलकुल साफ होनी चाहिए कि नकल की बुनियाद पर सच्ची आध्यात्मिक या सास्कृतिक उन्नति नही हो सकती। यह नकल तो उन थोडे-से लोगो तक ही महदूद रहेगी, जो कौमी जिंदगी के सोते से और जनता से अलग हो जायेंगे। सच्ची संस्कृति को दुनिया के हर कोने से प्रेरणा मिलती है, लेकिन वह अपनी ही जगह पर उगती है और उसकी जडें सारी जनता मे समाई रहती हैं। बराबर विदेशी साचो की सोचते रहने से कला और साहित्य निर्जीव हो जाते हैं। छोटे-से-समुदायो की सकीर्ण संस्कृति का जमाना अब गुजर चुका। अब हमको आम जनता के नजरिये से सोचना है। उनकी सस्कृति पिछले बहाव के क्रम मे ही होनी चाहिए और साथ ही उसमे उनके नये झुकावो की ओर उनकी सृजनात्मक प्रवृत्तियो की नुमाइदगी होनी चाहिए।

करीब सौ साल पहले इमर्सन ने अमरीका के अपने देशवासियों को चेतावनी दी कि उनको सास्कृतिक उन्नति के लिए न तो यूरोप का अनुकरण करना चाहिए और न उस पर निर्भर ही रहना चाहिए। एक नई क़ौम होने के नाते इमर्सन चाहता था कि वे लोग अपने यूरोपीय भूतकाल की ओर ज्यादा ध्यान न दें, बल्कि वे अपने नये देश के सपन्न जीवन से प्रेरणा लें।" हमारी निर्भरता का दिन, दूसरे देशो की विद्या को सीखने की हमारी लबी कोशिश का वक्त अब खत्म होता है। हमारे चारो तरफ़ जो लाखो आदमी जिंदगी मे दौडधूप कर रहे हैं, उनका पोषण विदेशी फसलो के सूखे हिस्से से नही हो सकता। ऐसी घटनाएं, ऐसे कर्म सामने आते हैं, जिनको लयबद्ध करना चाहिए और जो स्वय लयबद्ध होगे। . . उनमे सृजनात्मक शैली है, सृजनात्मक कर्म है और सृजनात्मक शब्द है, . . अर्थात वे किसी रिवाज या किसी

सत्ता को नही जताते, बल्कि उनका जन्म स्वय ही मस्तिष्क की भली और सुदर भावना से होता है।" फिर 'आत्म-निर्भरता' शीर्षक अपने निबंध मे वह कहता है—"स्व-परिष्कृति के अभाव की ही वजह से सारे पढे-लिखे अमरीकियो पर घूमने का वह फितूर सवार है, जिसके आदर्श इटली, इग्लैंड और मिस्र है। जिन लोगो ने इग्लैंड, इटली या यूनान को सम्माननीय बनाया, वे अपनी जगह पर दुनिया की कीली की तरह मज़बूती से जमे रहे। अपनी कर्मशीलता की घडियो मे हम यह अनुभव करते हैं कि सिर्फ कर्तव्य ही हमारी जगह है। आत्मा कोई यात्री नही है, अक्लमद आदमी घर पर ही रहता है और जब जरूरत और फर्ज़ किसी मौके पर उसे घर से बाहर, विदेशी मैदान मे बुलाते हैं, तब भी वह जैसे घर पर ही बना रहता है। अपनी मुख-मुद्रा से वह लोगो को यह जता देता है कि वह ज्ञान और गुण के पुजारियो के मार्ग पर चलता है और जब वह शहरो और आदमियो को देखने जाता है, तो वह नौकर या बिचौलिया की तरह नही, बल्कि बादशाह की तरह जाता है।'

आगे चलकर इमर्सन ने कहा है—"कला, अध्ययन और परोपकार के उद्देश्य से दुनिया की सैर करने के मैं खिलाफ नही हू। शर्त यह है कि मानव को पहले व्यवस्थित कर दिया जाये और उसे यह बता दिया जाये कि उसे किसी नई चीज़ को पाने के लिए विदेश-यात्रा नही करनी है। जो मनोरजन के लिए या किसी ऐसी चीज़ को पाने के लिए घूमता है, जो उसके पास नही है, वह अपने से ही दूर चला जाता है और पुराने वातावरण मे जवानी मे ही बुड्ढा हो जाता है। थेब्रीज़ या पालमाइरा के शहरो मे जाने पर उसके दिमाग़ और उसकी इच्छाशक्ति मे वही बुढ़ापा आ जाता है, जो उन शहरो मे है। वह खडहरो मे खडहर ले जाता है।

"लेकिन घूमने की धुन एक गहरे खोखलेपन का लक्षण है, जिसका असर सारी दिमागी कार्रवाइयो पर होता है। हम नकल करते हैं. . हमारे घर विदेशी रुचि पर बने हुए हैं। हमारी प्रतिभा दूर की चीज़ो का, गुज़रे ज़माने का अनुसरण करती है और उसका झुकाव उन्हीकी तरफ है। जहा कही कला की उन्नति हुई है, स्वय आत्मा ने ही उस कला का सृजन किया है। कलाकार ने अपने साचे को अपने ही दिमाग मे तलाश किया है। जो चीज़ की जानी थी और जिन नियमो का पालन करना था, उन पर उसने अपने विचारो को ही इस्तेमाल किया। अपने-आप पर ही ज़ोर दो, कभी अनुकरण न करो। जीवन के सारे सस्कारो की एकत्रित शक्ति से तुम हर मिनट अपना उपहार भेंट कर सकते हो। लेकिन दूसरो की प्रतिमा के अनुकरण से तुम्हारे पास अधूरी चीज़ ही आती है और वह निखरी हुई नही होती।"

हम हिंदुस्तानियो को 'सुदूर' और 'प्राचीन' की तलाश मे देश से बाहर नही जाना है। उसकी हमारे पास बहुतायत है। अगर हमे विदेशो मे जाना है, तो वह सिर्फ वर्तमान की तलाश मे। यह तलाश जरूरी है, क्योंकि उससे अलहदा रहने के मानी हैं पिछडापन और क्षय। इमर्सन के वक्त की दुनिया बदल गई है और पुरानी दीवारें टूट रही है। जिंदगी अब ज्यादा अतर्राष्ट्रीय होती जा रही है। इस आनेवाली अतर्राष्ट्रीयता मे हमको भी अपना हाथ बटाना है और इस गरज से सफर करना है, दूसरो से मिलना है, उनसे सीखना और समझना है। लेकिन सच्ची अतर्राष्ट्रीयता कोई हवाई चीज नही है, जिसकी न बुनियाद हो और न जिसका कोई लगर हो। उसे राष्ट्रीय सस्कृतियो को पार करना होगा और आज वह सच्ची अतर्राष्ट्रीयता आजादी और बराबरी की बुनियाद पर ही हो सकती है। फिर भी इमर्सन की चेतावनी गुजरे जमाने की तरह आज भी लागू है और हमारी कोशिश उसके बताये हुए नियमो के अनुसार चलने पर ही सफल हो सकती है। किसी भी जगह हम बिचौलियो की हैसियत मे नही जायेगे। हम तो सिर्फ वही जायेंगे, जहा हम एक मिली-जुली कोशिश मे साथी हो, बराबर के हो और जहा हमारा स्वागत हो। ऐसे देश है और खासतौर से ऐसे ब्रिटिश डोमिनियन हैं, जो हमारे देशवासियो की बेइज्जती करने की कोशिश करते हैं। उनका हमारा साथ नही हो सकता। फिलहाल विदेशी जुए के नीचे हमे जबरदस्ती सिर झुकाकर तकलीफ सहनी पडती है और गुलामी के भारी बोझ को ढोना पडता है, लेकिन हमारी आजादी का दिन दूर नही हो सकता। हम किसी मामूली देश के नागरिक नही हैं, और हमको अपनी जन्मभूमि पर, अपनी जनता पर, अपनी सस्कृति पर और अपनी परपरा पर गर्व है। वह गर्व किसी ऐसे रोमाचकारी भूतकाल के लिए नही होना चाहिए, जिससे हम चिपटे रहना चाहते हैं। न इससे अलहदगी को ही बढावा मिलना चाहिए, और न इसकी वजह से और दूसरे लोगो के ढग को समझने मे रुकावट होनी चाहिए। उसकी वजह से हमे अपनी कमिया और खामिया भूल नही जानी चाहिए और न उनसे छुटकारा पाने की हमारी तीव्र इच्छा मे ही कुछ शिथिलता आनी चाहिए। हमे तो एक बहुत बडी मजिल तय करनी है और पहली कमी को पूरा करना है। हम मानव सभ्यता और प्रगति के उस काफिले मे, जो हमसे आगे निकल गया है, तेजी से बढकर ही अपनी सही जगह पर पहुच सकते हैं। हमको बहुत फुर्ती करनी होगी, क्योंकि हमारे पास वक्त बहुत थोडा है और दुनिया की रफ्तार दिन-ब-दिन ज्यादा तेज होती जा रही है। गुजरे जमाने मे हिंदुस्तान दूसरी सस्कृतियो का स्वागत करता था

और उन्हे अपने मे खपा लेता था। आज इस बात की और भी ज्यादा ज़रूरत है। वजह यह है कि हम उस "एक दुनिया" की तरफ बढ रहे हैं, जहा मानव जाति की अतर्राष्ट्रीय सस्कृति मे सारी राष्ट्रीय सस्कृतिया घुल-मिल जायेगी। इसलिए हमको जहा कही भी ज्ञान, विज्ञान, मित्रता और सहयोग या इनमे से एक भी चीज़ मिलेगी, हम उसको अपनायेगे और साथ ही हम दूसरो के साथ मिलकर ऐसे कामो को करेगे, जिनसे सबका हित हो। लेकिन हम दूसरो की कृपा या इनायत के भिखारी नही हैं। इस तरह हम सच्चे हिंदुस्तानी और एशियाई होगे और साथ ही हम भले अतर्राष्ट्रीयतावादी होगे और दुनिया के नागरिक होगे।

हिंदुस्तान मे और दुनिया मे मेरी पीढी के लोगो को काफी मुसीबते उठानी पडी है। हम थोडी देर तक इसी तरह और चल सकते हैं, लेकिन हमारा वक्त खत्म होगा और हम अपनी जगह दूसरी पीढी के लोगो को दे देंगे और वे अपनी ज़िदगी बितायेंगे और सफर की दूसरी मज़िल तक अपने बोझ को ढोयेंगे। अपने जीवन-युग मे, जो समाप्ति की ओर बढ रहा है, हमने विश्व-रगमच पर कैसा अभिनय किया है ? मैं नही जानता—अगले युग के लोग इसका फैसला करेंगे। लेकिन सफलता और असफलता को नापते किस मापदड से हैं ? वह भी मैं नही जानता। हम इस बात की शिकायत नही कर सकते कि ज़िदगी बहुत ज्यादा परेशानी से भरी रही है, क्योकि जहातक हमारा सवाल है, ऐसी ज़िदगी हमने खुद ही पसद की। इसके अलावा, ज़िदगी कोई ऐसी बुरी भी तो नही रही। सिर्फ वे ही लोग ज़िदगी का स्वाद ले सकते हैं, जो अकसर उसके बिलकुल छोर पर ही रहते है, जो मौत से खौफ नही खाते। चाहे जो भी गलतिया हमने की हो, लेकिन हम ओछेपन, बुज़दिली और अदरूनी शर्म से ज़रूर दूर रहे हैं। इसमे हमारे निजी व्यक्तित्व के लिए कुछ उपलब्धि ज़रूर हुई है। "आदमी की सबसे ज्यादा प्यारी दौलत ज़िदगी है, और चूकि आदमी को ज़िदगी सिर्फ एक बार ही मिलती है, इसलिए उसे यह ज़िदगी इस ढग से बितानी चाहिए कि उसको ओछेपन और बुज़दिली से भरे हुए गुज़रे ज़माने की शर्म की तपन न हो। उसे इस तरह रहना चाहिए कि बरसो तक उसे ज़िदगी मे उद्देश्य के अभाव की तकलीफ न हो, इस तरह रहना चाहिए कि मरते वक्त यह कह सके—'मैंने अपनी सारी ताकत, अपनी सारी ज़िदगी दुनिया के सबसे बडे आदर्श—मानव जाति की आज़ादी—के लिए निछावर कर दी।'"[1]

---

[1]लेनिन।

ताजा क़लम

इलाहाबाद : उनतीस दिसम्बर : उन्नीस सौ पैंतालिस

अहमदनगर किले की जेल मे नजरबद काग्रेस-कार्यसमिति के सदस्य सन् १९४५ की मार्च और अप्रैल मे तितर-बितर कर दिये गये और अपने-अपने सूबे भेज दिये गये। किला-जेल बद कर दी गई और शायद फौजी अधिकारियो को लौटा दी गई। हम तीनो आदमियो ने—गोविंदवल्लभ पत और नरेंद्रदेव और मैंने—२८ मार्च को अहमदनगर का किला छोडा और हम लोग नैनी सेंट्रल जेल लाये गये। यहा हमे कई पुराने साथी मिले, उनमे रफी अहमद किदवई भी थे। अगस्त, १९४२ मे अपनी गिरफ्तारी के बाद यहा हमको पहली बार १९४२ की घटनाओ के कुछ आखो-देखे बयान सुनने को मिले। वजह यह थी कि नैनी जेल के बहुत-से आदमी हमारी गिरफ्तारी के कुछ बाद गिरफ्तार किये गये थे। नैनी से हम तीनो बरेली के नजदीक इज्ज़तनगर सेंट्रल जेल ले जाये गये। तदुरुस्ती खराब होने की वजह से गोविंदवल्लभ पत को छोड दिया गया। इस जेल की एक बारक मे हम दोनो (नरेंद्रदेव और मैं) दो महीने से कुछ ज्यादा अरसे तक साथ-साथ रहे। जून के शुरू मे हम दोनो अल्मोडा के उस पहाडी जेल मे भेज दिये गये, जिससे दस बरस पहले मेरी बहुत करीबी जानकारी हो गई थी। अगस्त, १९४२ मे अपनी गिरफ्तारी के ठीक १०४१ दिन बाद हम दोनो १५ जून को छोड दिये गये। इस तरह मेरी नवी बार की और सबसे लबी कैद की मुद्दत खत्म हो गई।

तब से साढे छ महीने बीत चुके हैं। जेल के लबे एकात से मैं चहल-पहल मे आया, और मैं बेहद काम-काज और लगातार सफर मे लगा रहा। घर पर मैंने सिर्फ एक रात बिताई और मैं जल्दी से काग्रेस-कार्यसमिति की बैठक के लिए बबई चला गया। फिर वहा से शिमला कान्फ्रेंस मे, जिसे वाइसराय ने बुलाया था, गया। नये बदलते हुए वातावरण से अपना मेल बिठाने मे मुझे दिक्कत मालूम दी और मैं उसके अनुरूप नही हो सका। हालाकि हर एक चीज़ जानी-पहचानी थी और पुराने दोस्तो और साथियो से मिलना अच्छा था, फिर भी मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मैं अजनबी हू, बाहरी आदमी हू और मेरा दिमाग़ पहाडो और हिमाच्छादित चोटियो को

तरफ दौडने लगा। ज्योही शिमला का धधा खत्म हुआ, मैं फौरन ही काश्मीर चला गया। मैं घाटी मे नही ठहरा, बल्कि फौरन ही सवारी के जरिये ज्यादा ऊची जगहो और ज्यादा ऊचे दर्रों के लिए रवाना हो गया। काश्मीर मे मैं एक महीने रहा और तब फिर मैं भीड-भम्भड मे और रोज़मर्रा की उत्तेजना और थकसापन से भरी हुई ज़िंदगी मे वापस आ गया।

धीरे-धीरे पिछले तीन सालो की थोडी-सी तस्वीर मेरे दिमाग मे अपने-आप बनी। औरो की तरह मैंने भी देखा कि जो खुद हुआ था, वह हमारी कल्पना से कही ज्यादा था। इन तीन सालो मे हमारी जनता को बेहद तकलीफ उठानी पडी और हर शख्स के चेहरे पर, जिससे हम मिले, उस तकलीफ की छाप दिखाई दी। हिंदुस्तान बदल गया था और सतह पर दिखनेवाली खामोशी के नीचे शक था, सवाल था, मायूसी थी, नाराज़ी थी और दबा हुआ जोश और उफान था। हमारे छुटकारे से और घटनाओ के घटने से दृश्य-परिवर्तन हुआ, चिकनी ऊपरी सतह घटने लगी और दरारें नज़र आने लगी। देश मे उत्तेजना को लहर दौड गई और जनता अपने खोल को तोडकर बाहर आई। पहले मैंने ऐसी भीड नही देखी थी, ऐसी उन्मत्त उत्तेजना नही देखी थी और न जनता मे अपने-आपको आज़ाद करने की ऐसी तेज़ ख्वाहिश ही देखी थी। नोजवान मर्द और औरतें, लडके और लडकिया—सभी—कुछ-न-कुछ करने के इरादे से भरे हुए थे। लेकिन उन्हे क्या करना चाहिए, यह उनकी समझ मे नही आता था।

लडाई खत्म हुई और परमाणु-बम नये युग का प्रतीक बन गया। इस बम के इस्तेमाल से और राजनीति की चालो से आखे और ज्यादा खुल गईं। पुराने साम्राज्यवाद अब भी काम कर रहे थे और हिंदेशिया और हिंद-चीन की घटनाओ से दृश्य की भयकरता और बढ गई। इन दोनो देशो मे अपनी आज़ादी के लिए लडती हुई जनता के खिलाफ हिंदुस्तानी फौज के इस्तेमाल से हमको शर्मिंदा होना पडा, लेकिन कडएपन और नाराज़गी के होते हुए भी हमारी बेबसी थी। देश का पारा बराबर चढता रहा।

लडाई के बरसो के दौरान मे बरमा और मलाया मे बनी हुई आज़ाद हिंद फौज की कहानी सारे देश मे एकदम फैल गई और उससे आश्चर्यजनक जोश पैदा हुआ। उसके कुछ अफसरो पर फौजी अदालत मे मुकदमा चलाये जाने की वजह से देश इतना नाराज़ हो गया, जितना पहले वह किसी बात पर नही हुआ था। ये अफसर हिंदुस्तान की आज़ादी की लडाई के प्रतीक बन गये। साथ ही वे हिंदुस्तान के अलग-अलग धार्मिक समुदायो के एके के प्रतीक बन गये, क्योंकि उस फ़ौज मे हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई सभी

थे। उन्होंने आपस मे साम्प्रदायिक समस्या को हल कर दिया था। तब हम भी वैसा ही क्यो न करें!

अब कुछ वक्त मे हिंदुस्तान मे आम चुनाव होनेवाले हैं और सारा ध्यान इन चुनावो में लग गया है। लेकिन चुनाव तो कुछ वक्त मे खत्म हो जायेंगे—तब! सभावना यह है कि आनेवाला साल तूफान, उत्पात, सघर्ष और उथल-पुथल से भरा होगा। हिंदुस्तान मे या और जगहो मे आजादी के बिना शाति नही हो सकती।

निर्देशिका

नोट : 'टि.' टिप्पणी और 'उ.' उद्धरण के लिए प्रयुक्त हुआ है।